

GLSANS294.59215

TRI



125362
LBSNAA

श्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

अवाप्ति संख्या

Accession No.

वर्ग संख्या

Class No.

पुस्तक संख्या

Book No.

125362

~~125362~~

GL Sans

294.59215

त्रिवेदी

TRI

ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत्त शुद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रियं मां देव कर्तो देव, तथा राज समाज में ।

प्रियं सारं दृष्टि वान्ते, ओ शुद्र और आर्य में ॥

अथर्ववे-भाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-वैतत्यादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहानुखमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
मयाजीराज गायकवाडाधिष्ठित बड़ोवेपुरीमन भावगुमास-

दक्षिणापरीक्षाध्याम ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु

लब्धदक्षिणम्

श्री परिडित जेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,

beloved among the Princes, make

Me dear to everyone who sees, to

Sudra and to Aryan man,

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अथ ग्रन्थः पारुषेय बड़ोरीप्रसाद शुर्मा प्रबन्धेन

प्रयामनगरै ना । पश्य यन्त्राख्ये मुद्रितः ।

लक्षणाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वीयः यद रक्षितः ।

प्रितीयादृती,
१००० काकाज ।

संस्कृत १६५२ वि०
संस्कृत १६५२ ई० ।

मुद्रणम् १(=)

प्रथम काण्ड की आवृत्ति ॥

प्रथम बार, दिसंबर १९१२, १००० पुस्तक । आंकार प्रेस, प्रयाग ।

द्वितीय बार, नोवेंबर १९२५, १००० पुस्तक, नारायण प्रेस, प्रयाग ।

विज्ञापन ॥

शीघ्र मंगाइये, पुस्तक थोड़े हैं ।

१—अथर्ववेद भाष्य—सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य, विषय सूची, मन्त्र सूची, पदसूची आदि सहित पूरा २३ भाग—बोझ लगभग ६० तोला वा ७॥ सेर, मूल्य ४७॥) वी० पी० व्यय ४॥॥)

२—गोपथ ब्राह्मण भाष्य—अथर्ववेद के ब्राह्मण का सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य, अनेक टिप्पणियों, व्याकरणादि और विषय सूची आदि सहित सम्पूर्ण—मूल्य ७ ।) वी० पी० व्यय ॥३॥)

३—हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित, गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों में प्रचलित संशोधित, पांचवीं बार मूल्य १-), डाक महसूल -)

४—रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत हिन्दी और अंग्रेजी में मूल्य १-), डाक महसूल -)

५—रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य ७॥, डाक महसूल ७॥

६—वेदविद्यार्ये—कांगड़ी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान । वेदों में विमान, वीका, अस्त्र शस्त्र, व्यापार, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन, मूल्य ७॥, डाक महसूल ७॥

मार्गशीर्ष संवत् १९८२
नोवेंबर १९२५

पता—पं० खेमकरान दास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग ।

Address—Pt. Khem Karan Das Trivedi.

५२, LUKERGANJ, ALLAHABAD.

बड़ा विज्ञापन पुस्तक के अन्त में देखिये ।

श्री३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यन्त उत शुद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सारं दृष्टि नाले, औ शुद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् :

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाङ्महिष्ठिन वडोदेपुरीगण भावणमास-
वृद्धिगणपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धवृद्धिगण

श्री पण्डित जेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मित प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Aryan man,

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पाण्डेय बदरीप्रसाद शर्मा प्रबन्धेन
प्रयागनगरे नारायण चन्द्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वाधीन एव रक्षितः ।

द्वितीयावृत्तौ ।	} संवत् १९८२ वि० ।
१००० पुस्तकादि ।	
	} सन् १९२४ ई० ।

विषय सूची ।

विषय।	पृष्ठ ।	विषय।	पृष्ठ ।
भाष्यकार का चित्र ।		अथर्ववेद पुस्तकें और	
अथर्ववेद भाष्य भूमिका ।		अज्ञाता भाष्य ।	१०
१-ईश्वर स्तुति प्रार्थना ।	१	६-ऋषि, देवता, छन्द ।	११
२-वेद ।	२	१०-निवेदन ।	११
३-अथर्ववेद ।	६	११-सूक्त, मन्त्र, चक्र ।	१२
४-अथर्ववेद विस्तार ।	७	सूक्त विवरण काण्ड १	१७
५-सूक्त भेद ।	८	अथर्ववेद काण्ड १ के मन्त्र अन्य	
६-अनुदात्त ।	८	वेदों में ।	१८
७-सायणभाष्य असंपूर्ण है ।	८	अथर्ववेदभाष्य काण्ड १ ।	१-१७८

सङ्केत सूची ।

सङ्केत	सङ्केत विषय	सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व = अथर्ववेद काण्ड, सूक्त, मन्त्र ।		पु० = पुंलिङ्ग ।	
अव्य० = अव्यय ।		पृषो० = पृषोदगादि ।	
आ० प० = आत्मने पदी ।		य०, यजुः = यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र ।	
उ० = उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित) ।		श० क० दु० = शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा राधाकान्तदेवबहादुर विरचित ।	
ऋ० = ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र ।		श० स्तो० म० नि० = शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित ।	
क्रि० = क्रिया ।		सा० वे० = सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र । उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच ।	
त्रि० = त्रिलिङ्ग (विशेषण) ।		(), इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं ।	
न० = नपुंसकलिङ्ग ।		[], ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं ।	
नि०, निरु० = निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।		०—... = अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद कहें, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ ।	
निघ० = निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्क-मुनि कृत) ।			
प० प० = परस्मैपदी ।			
पा० = पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र ।			



पं० चेमकरणदास त्रिवेदी अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण आदि भाष्यकार
जन्म कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०२ वि०
मुद्रित कार्तिक शुक्ला ७ सं० १९८१ वि०

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥

१- ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।

स्व १^१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमात्मन् ! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं । हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।

तया मामुद्य मेधयान् मेधाविनं कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने वाले, (मेधाविनः) बड़

बुद्धि वाले, (आप्यः) वेद का तरय जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तथा) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अय) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसा धार्मिक ब्रियेकी, परीपकारी ऋषि महा-त्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उस का प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविद्वत्रं नो अस्तु
ज्योगेव दशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविद्वत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२-वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचुः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १०।६०।६, यजु० ३१।७, तथा अथर्व० १६।६।१३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये । (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मान्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

यस्मादृचो अयातन्नु यजुर्यस्मादृपाकयन् । सामानि
यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं तं ब्रूहि
कतुमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० का० १० । मृ० ७ । मन्त्र २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुण प्रकाशक मन्त्रों को (अप-अतत्तन्) उन्होंने [ऋषियों ने] स्तुत किया [श्रुति प्रकरण विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसाँटा, पर रक्खा, (सामानि) मान विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उनके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतुमः स्विन्) कीत सा है । [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह ॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं ।

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की मलानि के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया । यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहार का उपदेश करते हैं । संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मान की उन्नति का निर्भर है । इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं की भण्डार] कहते हैं, जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है ।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद-का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करना है । (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावन् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुँच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं-वैशेषिकदर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं ।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमाश्वरोक्त-
त्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ॥

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है । लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२॥१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मवर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का मदा, अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥१२।६७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र], तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥३॥ १२ । १०८ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।

इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४ ॥१२।१०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है। जर्मनी, इंग्लैंड देश आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न २ भागों के अनुवाद भी अंग्रेजी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। मरु ग्रिफ़िथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेजी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमदयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं।

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२—ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ॥

३—यजुर्वेदभाष्य ।

४—सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है । उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं । इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं । (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्व्यन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है । थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है । (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है । (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं । (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्मात्मा [ब्राह्मणों, ब्रह्म-ज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

(१) अथर्वानोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यार्त्तिपृथक्किभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ+थर्व चरणे—वनिप् । वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद् ज्ञाने—घञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढस्वभावस्य परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्देरांश्च छुः । उ० ४ । २१६ । इति चदि आह्लादे—असुन्, चम्य छुः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिखडागमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अग्नि गती—असि, इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः, येदः । अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) बृंहर्नोऽथ । उ० ४ । १४६ । इति बृहि बृद्धौ—मनिन् । नकारस्य अकारः, रत्वं च । बृंहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणा येदो ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डब्ल्यू० डी० विटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं। श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उस के चार वेटनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इससे बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है।

४-अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १-सायणभाष्य सहित बम्बई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २-पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३-अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित। हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है। विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है।

अथर्ववेद (ये त्रिषुप्ताः परियन्ति...) इस मन्त्र से लेकर [पुनार्यं तदश्विना कृतं वा...] इस मन्त्र तक है। इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,६७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं। यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चर्चा में वर्णित है।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद है।

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान।

उक्त पुस्तक में मन्त्र	अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
	काण्ड ८ ।	
सूक्त १० । पर्याय १ ।	मन्त्र १ से ७=७	= १३ — ६
" " ३ ।	म० १८ से २१=४	= ८ — ४
" " ४ ।	म० २२ से २५=४	= १६ — १२
" " ५ ।	म० २६ से २८=३	= १६ — १२
	<hr/>	<hr/>
योग	१६	५३ — ३४

काण्ड ६ ।

सूक्त ६ । पर्याय ४ ।	म० ४० से ४४ = ५	=	१०	—५
„ „ ५ ।	म० ४५ से ४८ = ४	=	६०	—६
योग	६		२०	—११

काण्ड १६ ।

सूक्त ३८ ।	म० १ से २ = २	=	३	—१
„ ४७ ।	म० १ से १० = १०	=	६	+१
„ ५४ ।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
„ ५५ ।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
„ ५७ ।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
योग	२७		२४	+३

काण्ड २० ।

सूक्त ६६ ।	म० १-२३ = २३	=	२४	—१
सूक्त १३१ ।	म० १-२३ = २३	=	२०	+३
योग	४६		४४	+२
महा योग	१०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि' क्रोमो हलीक्षणात् पार्श्वभ्याम् । यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहनो युक्तस्ते विवृहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ६६ का मन्त्र १६ उस में नहीं है । अन्य ३६ मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तौ मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,६७७-४० = ५,६३७ होते हैं ॥

(आ)—वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४६ तक आ चुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्रों के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्य में एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट त्रिफुलि के अँगरेजी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है । इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५-सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५६ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

काण्ड जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वाङ्कयन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
६	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	६	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६-अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इससे अनुवाकों की गणना को यहां नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७-सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बंबई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है—काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक], ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है—काण्ड ५, ८ [सूक्त ७-७५], ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २० (सूक्त ३८-१४३)] ॥

८—अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८९५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८९८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल, परिडित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित—बंबई, सन् १८९३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता, मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९५८ विक्रम-मीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेजी अनुवाद, महि प्रिफ़िथ साहिब कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८९५, वेष्टन २ सन् १८९६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री मद्दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, परिडित तुलसीराम कृत सामवेद भाष्य, यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१—देवता, छन्द, उपदेश ।

२—मूलमन्त्र—स्वरसहित ।

३—पदपाठ—स्वरसहित ।

४—सान्त्वय भावार्थ ।

५—भाषार्थ ।

६—आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण ।

७—शब्दार्थ व्याकरणानादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्याय आदि ।

सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दी गई है ।

६-ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्होंने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मिताक्षर वाक्य छन्द कहते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम वेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका । [टिप्पणी-द्वितीय आवृत्ति में अथर्ववेदीया वृहत्स-वर्णिकभणिका सम्पादित पं० रामगोपाल शास्त्री लाहौर मुद्रित संवत् १९७६ वि०, सन् १९२२ ई० से ऋषि भी लिख दिये हैं—ले० दा० त्रिवेदी, भाद्रपद संवत् १९८२ ।]

१०-निवेदन ।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प-मूल्य भाष्य एक एक पुरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूँ, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक जिज्ञासु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६६ वि०,
५ सितम्बर १९१२ ।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

जन्म, कार्तिकशुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र	सूक्त	मन्त्र
कारण्ड १		२८	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
		३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
१	४	३१	४	२२	५	१२	८	७	७	३७	१२
२	४	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
३	८	३३	४	२४	८	१४	६	८	१०	३९	१०
४	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
५	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२	४०	८
६	४			२७	७	१७	८	१२	७	४०	३२४
७	७	३५	१५३	२८	५	१८	६	१३	७	कारण्ड ५	
८	४	कारण्ड २		२९	७	१९	८	१४	८		
१०	४	१	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	१	८
११	६	२	५	३१	५	२१	१०	१६	८	२	८
१२	४	३	६	३२	६	२२	६	१७	८	३	११
१३	४	४	६	३३	७	२३	६	१८	८	४	१०
१४	४	५	७	३४	५	२४	७	१९	८	५	८
१५	४	६	५	३५	५	२५	६	२०	८	६	१४
१६	४	७	५	३६	८	२६	६	२१	७	७	१०
१७	४	८	५			२७	६	२२	७	८	८
१८	४	९	५	३६	२०७	२८	६	२३	७	९	८
१९	४	१०	८	कारण्ड ३		२९	८	२४	७	१०	८
२०	४	११	५	१	६	३०	७	२५	७	११	११
२१	४	१२	८	२	६	३१	११	२६	७	१२	११
२२	४	१३	५	३	६	३१	२३०	२७	७	१३	११
२३	४	१४	६	४	७	कारण्ड ४		२८	७	१४	१३
२४	४	१५	६	५	८	१	७	२९	७	१५	११
२५	४	१६	५	६	८	२	८	३०	७	१६	११
२६	४	१७	७	७	७	३	८	३१	७	१७	१८
२७	४	१८	५	८	६	४	७	३२	७	१८	१५
२८	४	१९	५	९	६	५	८	३३	८	१९	१५
				१०	६	६	८	३४	८	२०	१२

कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड		कारण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०२	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४३	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	कारण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
३१	३७६	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
कारण्ड ६		२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
१	३	२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
२	३	३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
३	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
४	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
५	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
६	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
७	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
८	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
९	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
१०	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
११	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१२	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
१३	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१४	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१५	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१६	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१७	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
५२	२	५२	२	५२	६	११६	२	(२)	१३	६	२३
२३	१	५३	७	५३	४	११७	१	(३)	६	७	२७
२४	१	५४	२	५४	३	११८	१	(४)	१०	८	३४
२५	२	५५	१	५५	१	११८	२८६	(५)	१०	९	२६
२६	८	५६	८	५६	१	काण्ड ८		(६)	१४	१०	२७
२७	१	५७	२	५७	१			७	२६		
२८	१	५८	२	५८	१	१	२१	८	२२		
२९	२	५९	१	५९	४	२	२८	९	२२	१०	३१३
३०	१	६०	७	६०	३	३	२६	१०	२८		
३१	१	६१	२	६१	१	४	२५	१०	३१३	काण्ड १२	
३२	१	६२	१	६२	१	५	२२			१	६३
३३	१	६३	१	६३	१	६	२६	काण्ड १०		२	५५
३४	१	६४	२	६४	१	७	२८			३	६०
३५	३	६५	३	६५	३	८	२४	१	३२	४	५३
३६	१	६६	१	६६	१	९	२६	२	३३	५	७३
३७	१	६७	१	६७	८	१०(१)	१३	३	२५		
३८	५	६८	३	६८	१	(२)	१०	४	२६	५	३०४
३९	१	६९	१	६९	१	(३)	८	५	५०		
४०	२	७०	५	७०	१	(४)	१६	६	३५	काण्ड १३	
४१	२	७१	१	७१	१	(५)	१६	७	४४		
४२	२	७२	३	७२	१	(६)	४	८	४४	१	६०
४३	१	७३	११	७३	१	१० २८३		९	२७	२	४६
४४	१	७४	४	७४	१			१०	३४	३	२६
४५	२	७५	२	७५	१	काण्ड ९		१०	३५०	४	५६
४६	३	७६	६	७६	३	१	२४	काण्ड ११			
४७	२	७७	३	७७	३	२	२५			४	१८८
४८	२	७८	२	७८	१	३	३१	१	३७	काण्ड १४	
४९	२	७९	४	७९	२	४	२४	२	३१	१	६४
५०	८	८०	४	८०	२	५	३८	३	५६	२	७५
५१	१	८१	६	८१	४	६(१)	१७	५	२६	२	१३६

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र ।

१५

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १५		काण्ड १७		१६	११	४६	१०	३	३	३३	३
				२०	४	५०	७	४	३	३४	१८
१	८	१	३०	२१	१	५१	२	५	७	३५	१६
२	२८	१	३०	२२	२१	५२	५	६	६	३६	११
३	११	काण्ड १८		२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
४	१८			२४	८	५४	५	८	३	३८	६
५	१६	१	६१	२५	१	५५	६	६	४	३९	५
६	२६	२	६०	२६	४	५६	६	१०	२	४०	३
७	५	३	७३	२७	१५	५७	५	११	११	४१	३
८	३	४	८६	२८	१०	५८	६	१२	७	४२	३
९	३	४	२८३	२९	६	५९	३	१३	४	४३	३
१०	११	काण्ड १९		३०	५	६०	२	१४	४	४४	३
११	११	१	३	३१	१४	६१	१	१५	६	४५	३
१२	११	२	५	३२	१०	६२	१	१६	१२	४६	३
१३	१४	३	४	३३	५	६३	१	१७	१२	४७	२१
१४	२४	४	४	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	६
१५	६	५	१	३५	५	६५	१	१९	७	४९	७
१६	७	६	१६	३६	६	६६	१	२०	७	५०	२
१७	१०	७	५	३७	४	६७	८	२१	११	५१	४
१८	५	८	७	३८	३	६८	१	२२	६	५२	३
१९	२२०	९	१४	३९	१०	६९	४	२३	६	५३	३
काण्ड १६		१०	१०	४०	४	७०	१	२४	६	५४	३
१	१३	११	६	४१	१	७१	१	२५	७	५५	३
२	६	१२	१	४२	४	७२	१	२६	६	५६	६
३	६	१३	११	४३	८			२७	६	५७	१६
४	७	१४	१	४४	१०	७२	४५३	२८	४	५८	४
५	१०	१४	१	४५	१०	काण्ड २०		२९	५	५९	४
६	११	१५	६	४६	७			३०	५	६०	६
७	१३	१६	२	४७	९	१	३	३१	५	६१	६
८	३३	१७	१०	४८	९	२	४	३२	३	६२	१०
९	१०३	१८	१०	४९	६						

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	६	७७	८	६१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	६२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	६३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	६
६६	३	८०	२	६४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	६५	४	११०	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	६६	२४	१११	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	६७	३	११२	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	६८	२	११३	२	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	६९	२	११४	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	१००	३	११५	३	१३२	१६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११६	२	१३३	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११७	३	१३४	६		
७५	३	८९	११	१०३	३	११८	४	१३५	१३		
७६	८	९०	३	१०४	४	११९	२	१३६	१६		
						१२०	२	१३७	१४		
						१२१	२	१३८	३		
						१२२	३	१३९	५		
								१४०	५	१४३	६५८

योगचक्र ।

काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	६	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२६३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३६	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	६५८
५	१७३	१२६०	५	२६०	१६६६	५	३६	११६४	५	२२६	१८२७

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ये त्रिषमा परियन्ति	वाचस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विष्वा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विष्वा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो गन्त्यध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	”	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	” ”
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्पत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वषट् ते पूषस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्त्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
१३	नमन्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्म रक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	मं संस्त्रवन्तु सिन्ध्रवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निल्लक्ष्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मानो विदन् वि व्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारस्तुद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	”
२३	नक्तं जातास्याषधे	ओषधि	रोग नाश	”
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अवहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरं ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृथाक्वस्	प्रजापति	”	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाहंवा अग्नी	अग्नि	”	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मरिणाना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	”
३०	विश्वे देवो वसवो	विश्वे देवा	”	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनास्तो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायै	त्रिष्टुप्
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध् = लता	विद्याप्राप्ति	त्रिष्टुप्
३५	यदावधन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप्

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से

क्र. सं.	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४।१	१।२३।१६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४।२	१।२३।१७		
३	अपो देवीरुप ह्वये	४।३	१।२३।१८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४।४	१।२३।१९	६।६	
५	आपो हि ष्ठा मथो	५।१	१०।६।१	११।५०-५२	उ० ६।२।१०
६	यो घः शिवतमो	५।२	१०।६।२	तथा	
७	तस्मा अरं गमाम बो	५।३	१०।६।३	३६।१४-१६	
८	ईशाना वार्याणां	५।४	१०।६।४		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६।१	१।२३।२०, २१	३६।१२	पू० १।३।१३
१०	अप्सु मे सीमो	६।२	१०।६।४, ६		
११	आपः पृणीत भेषजं	६।३	१०।६।७		
१२	यो नः स्वा यो अरणः	१६।३, ४	६।७५।१६		उ० ६।३।८
१३	वि महच्छर्म यच्छु	२०।३	१०।१५२।५		
१४	शास इत्या महान् असि	२०।४	१०।१५२।६		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१।१	१०।१५२।७		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१।२	१०।१५२।८		उ० ६।३।७
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१।३	१०।१५२।९		
१८	अपेन्द्र द्विषतो मने	२१।४	१०।१५२।१०		
१९	सुकेषु ते हरिमाणं	२२।४	१।५०।१२		
२०	अमी वर्तेन मणिना	२६।१	१०।१७४।१		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२६।२	१०।१७४।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२६।३	१०।१७४।३		
२३	उदसौमूर्या अगादुदिर्व	२६।४	१०।१५६।१		
२४	मपलक्ष्येणा वृषा	२६।६	१०।१७४।५		
२५	यदावधन् दाक्षायणा	३५।१	—	३४।५२	
२६	नैनं रक्षोसि न पिशाचाः	२५।२	—	३४।५१	

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः,
८×४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिषुताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।

वाचस्पतिर्वला तेषां तुन्वो अय दधातु मे ॥ १ ॥

ये । त्रि-सुताः । पुरि-यन्ति । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतः ।

वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तुन्वं । अय । दधातु । मे ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सुताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्धा, २-रक्षणीय जगत् [यद्धा—तीन से सम्बन्धी ३-तीनों काल भूत, वर्तमान और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्त्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

१-शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ये) पदार्थाः । (त्रि-सुताः) तरतेर्ङिः । उ० ५ । ६६ । इति तृ तरणे—ङि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति । यद्वा, तीन और सात=दस । ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की दिशा । ८-पाँच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका और पाँच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पाँव, पायु, उपस्थ । यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस । ६-महामृत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रिय ५+कर्म इन्द्रिय ५+अन्तःकरण १ इत्यादि] के सम्बन्ध में [वर्तमान] हो कर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं । (वाचस्पतिः) वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीर के (बला=बलानि बलों को (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे ॥ १ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेदवाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और

परमेश्वरो जगद्वा । संख्यावाची वा । सप्यशुभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च । सपति समवतीति सप्तन् संख्याभेदो वा । यद्वा, षप समवाये—क्त । त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः । यद्वा । त्रयश्च सप्त चेति त्रिषप्ता दश दिशाः । यद्वा । त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः । डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ५ । ४ । ७३ । इति समासे डच् । विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते (परि—यन्ति) इण् गतौ—लट् । परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति (विश्वा) अशुपुषिलटिकणिलटिविशिभ्यः कन् । उ० १ । १५१ । इति विश प्रवेशे—कन् । शेषेच्छन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शोर्लोपः । विश्वानि । सर्वाणि (रूपाणि) खण्डे शिखे शण्डे वण्डेरूपपर्यन्तत्वाः । उ० ३ । २८ । इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च । कृयते कीर्त्यते तद् रूपम् । यद्वा, रूप रूपकरणे—अच् । सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि (बिभ्रतः) डुमृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ । जुहोत्यादिरवात् शपः श्लुः । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति जुमः प्रतिषेधः । धारयन्तः । पोषयन्तः (वाचः) किब् वचिप्रच्छिभ्रि० । उ० २ । ५७ । इति वच् वाचि—किप् । दीर्घश्च । वाण्याः । वेदात्मिकायाः (पतिः) पातेर्ङितिः । उ० ४ । ५७ । इति पा रक्षणे—ङिति । रक्षकः । सर्वगुरुः परमेश्वरः (वाचस्पतिः)—षष्ठ्याः पति-पुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् (बला) बल हिंसे जीवने

उस अन्तर्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परापकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥ १ ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता ।

पुनरेहि' वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोष्पते नि रमयु मय्येवास्तु मयि' श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह ।

वसोः । पते । नि । रमयु । मयि' । एव । अस्तु । मयि' । श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) आ । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुण के रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमयु) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में [वर्तमान] (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को गुञ्ज करके सदा सुख भोगे ॥ २ ॥

च—पदाद्यच् । पूर्ववत् शेलोपः । बलानि (तेषाम्) त्रिसप्तानां पदार्थानाम् (तन्वः) भृमृशीङ् । उ० १ । ७ । इति तनु विस्तृतौ—उ प्रत्ययः । ततः क्रियाम् ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति विभक्तेः स्वरितः, उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते । तन्वाः शरीरस्य (अद्य) सद्यः परतुपरार्थेषामः । पा० ५ । ३ । २२ । इति इदम् शब्दस्य अशुभावः, घस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते । अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले (दधातु) दुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट् । जुहोत्यादिः । शपः श्लुः । धारयतु, स्थापयतु, ददातु (मे) मङ्गलम्, मदर्थम् ।

२—(पुनः) पनाय्यते स्तूयत इति । पन स्तुतौ—अर्, अकारस्य उत्त्वं पृथोदरादिस्वात् । अवधारणेन । वारंवारम् (आ+इहि) आ+इण् गतौ लोट् । आगच्छ (वाचः+पते) मं० १ । हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन् । वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पातयिता वा—नि० १० । १७ (देवेन) नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्क मुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ “वाचःपाता वा पालयिता वा”—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है—
निरु० १०। १७। और निरु० १०। १८। में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है।

पुनुरेहि' वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोऽपते निरामय मय्येव तुन्वं १' मम ॥ १ ॥

हे वाणी के स्वामी तू बारम्बार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ में ही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १-६ भी हृदयस्थ करने चाहिये ।

इहैवाभि वितनूमे आर्त्ता' इव ज्यया ।

वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि' श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आर्त्ता' इवेत्यार्त्ता'

इव । ज्यया । वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि' । एव ।

अस्तु । मयि' श्रुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारों ओर से (वि तनु)

पचादिभ्यो ल्युणिन्यच् । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच् । दिव्येन, द्योतकेन, प्रकाशमयेन (मनसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने असुन् । चित्तेन, अन्तःकरणेन (वसोः) शृङ्खस्तिहीति । उ० १ । १० । इति वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । श्वसो वसीयश्चेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य (पते) मं० १ । पालयितः, स्वामिन् (वसोऽपते) षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्ययोः । पा० ८ । ३ । ५६ । इति षत्वम् (नि) नियमेन, नितराम् (रमय) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति रमु क्रीडायाम्—णिच्—लोट् । णिच् वृद्धिप्राप्तौ । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ६२ । इति मित्रात् उपधाह्रस्वः । क्रीडय, आनन्दय माम् (मयि) ममात्मनि वर्त्तमानम् (श्रुतम्) श्रूयतेस्म यदिति । भु श्रुतौ—क्त । अधीतम्, वेदशास्त्रम् ॥

३—(इह) अत्र, अस्योपरि, अस्मिन् ब्रह्मचारिणि, ममोपरि (अभि)

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्क्षी) धनुष कोटियों (ज्यया) जय के साधन, चित्ता के साथ [तन जाती हैं] । (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नि यच्छतु) नियम में रखे, (मयि) मुझ में [वर्तमान] (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूरवीर धनुष की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर वाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझ में रहे ॥३॥

भगवान् यास्क के अनुसार-निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा वाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पति' ह्ययताम् ।

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ॥ ४ ॥

उप-हूतः । वाचः । पतिः । उप । अस्मान् । वाचः । पतिः ।

ह्ययताम् । सम् । श्रुतेन । गमेमहि । मा । श्रुतेन । वि । राधिषि ४

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को (उपह्वय-

अभितः सर्वतः (वितनु) तनु विस्तारे-लोद् अकर्मकः । वितनुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव (उभे) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति प्रगृह्यम् । द्वये (आर्क्षी) आङ्+ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम् । पूर्ववत् प्रगृह्यम् आर्क्षी, धनुकोटी, अटस्यौ, धनुःप्रान्ते । आर्क्षी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ६ । ३६ (ज्यया) ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा-निरु० ६ । १७ । अग्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति जि जये, वा ज्या वयोहानौ णिच्-वा, जु रंहसि गतौ, णिच्-यक् । निपातनात् साधुः । यद्वा । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ णिच्-ड । टाप् । धनुर्गुणेन, मौढ्या (वाचः+पतिः) म० १ । वाण्याः स्वामी (नि+यच्छतु) नियमतु, नियमे रक्षतु । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ।

४—(उप+हूतः) उप+ह्वे आह्वाने-क्त । समीपं कृतावाहनः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे । (भुतेन) वेद विज्ञान से (सं गमेमहि) हम मिले रहें ।
(भुतेन) वेद विज्ञान से (मा वि राधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्म-विद्या उन के हृदय में स्थिर हो कर यथावत् उपयोगी होवे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिस से वह शास्त्र उन के हृदय में दृढभूमि होवे ॥

सूक्तम् २ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्,
८ × ४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११ × ३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

विद्मः शरस्यं पितरं पर्जन्यं भूरि'धायसम् ।

विद्मो ध्वंस्य मातरं पृथिवीं भूरि'वर्षसम् ॥ १ ॥

विद्मः । शरस्यं । पितरंम् । पर्जन्यंम् । भूरि'—धायसम् ।

विद्मो इति । सु । अस्यु । मातरंम् । पृथिवीम् । भूरि'-वर्षसम् १

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रत्नक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरि'धायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः (वाचः+पतिः) म० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः (उप) समीपे । आदरेण (ह्यताम्) हेम्—तोद् । आह्वयतु स्मरतु (भुतेन) म० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन (सम्+गमेमहि) सम् पूर्वकात् गम् सं-गता-आशीर्लिङ् । समो गम्यच्छि प्रच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । इति आत्मनेपदम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । २२ इति समः क्रियापदेन सम्बन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म (मा+वि+राधिषि) राध संसिद्धौ । विराध वियोगे—लुङ्, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । नमाङ् योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तो मा भूयम् ।

१—(विद्मः) विद् ज्ञाने—तद् । अदादित्वात् शपो लुक् । द्रव्यस्योऽतस्तिङ् ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (अस्य) इस शूर की (मातरम्) माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्षसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भाँति (विद्म उ) हम जानते हो हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है । जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६ । १ । १३५ । इति सांहितिको दीर्घः । वयं जानीमः (शरस्य) शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति श्रृ हिंसे-अप् । शत्रुनाशकस्य वाणस्य । अथवा, शरो वाणः, तदस्यास्ति । अर्श आदिभ्यां ऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । वाणवतः शूरपुरुषस्य (पितरम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः । रक्षकम् । जनकम् । पातारं पालयितारं वा-निरु० ४ । १६ (पजन्यम्) पर्षति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः । पर्जन्यः । उ० ३ । १०३ । इति पृषु संचने-अन्यप्रत्ययः, पस्य जकारः । पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्राजयिता वा रसानाम्-निरु० १० । १० । संचकम् । मेघम् । मेघवद् उपकर्तारम् (भूरि-धायसम्) वहिहाधाभ्यश्चुन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति भूरि + डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० १७ । ३ । ३३ । इति युक् । बहुपदार्थधारयितारं सुष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम् (विद्मो इति) विद्म-उ । वयं जानीम एव (सु) सुष्टु (अस्य) शरस्य (मातरम्) मान्यते पूज्यते सा माता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच्, निपातः । माननीयाम् । जननीम् (पृथिवीम्) १ । ३० । ३ प्रथिर्नादिभ्रसृजां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । इति प्रथ प्रख्याने-कु । वातो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति । पृथु-डीप् । विस्तीर्णं प्रख्याता वा पृथिवी । अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी । प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च । उ० १ । १५० । इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे—षिवन्, संप्रसारणं च । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति डीप् । भूमिम् । भूमिवद् गुणवन्तम् (भूरिवर्षसम्) ब्रियते स्वीक्रियते तत् । वपो

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्षाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

ज्याके परि' णो नुमाश्मानं तन्वं कृधि ।

वीडुर्वरीयोऽरातीरपु द्वेष्यांस्या कृधि ॥ २ ॥

ज्याके । परि' । नः । नम । अश्मानम् । तन्वम् । कृधि ।

वीडुः । वरीयः । अरातीः । अप । द्वेषांसि । आ । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू भुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अश्मानम्) पत्थर सा [सुदृढ़] (कृधि) बनादे । (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप=अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आ कृधि) करदे ॥ २ ॥

अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नः परि) हमारी ओर (नम) तू भुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ॥ २ ॥

रूपम्—निघ० ३ । ७ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृङ् स्वीकरणे—असुन्, पुट् आगमः । भूरीणि वृद्धिं रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्षाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा—निरु० ६ । १७ । खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये—आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या—स्वार्थे कन्, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यौ]—स्त्रियां द्वितीयाद्विवचनम् (परि) परितः सर्वतः (नः) अस्मान् (नम) नमय, प्रह्नीकुरु (अश्मानम्) अशि शक्तिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशू व्याप्तौ, वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम—निघ० १ । १० । पाषाणं, पस्तरवद् दृढम् (तन्वम्) १ । १ । १ छन्दसि यण् । उदात्तस्वरतयोर्यणः स्वरतोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । तनूम्, शरीरम् (कृधि) डुकृञ् करणे—लाट् । कुरु (वीडुः) भूमृशीङ् । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे उ, लस्य डः । वील

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चित्ता । (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) भुक्त । हमारी समझ में यह असंगत है, सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद् गावः परिपस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम् ।
शरमुस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम् । यत् । गावः । परि-सस्वजानाः । अनु-स्फुरम् । शरम् ।
अर्चन्ति । ऋभुम् । शरम् । अस्मत् । युवयु । दिद्युम् । इन्द्र ३

भाषार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुरफुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्याति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्त्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) धाणधारी शूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें । [तव] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा, हे वायु !] (शरम्) वाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम—निघ० २ । ६ । वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ—निर० ५ । १६ । वीड्वी दृढा (वरीयः) प्रियस्थिरेत्यादिना । पा० ६ । ४ । १५७ । इति उरु—ईयसुन् वरादेशः । क्रियाविशेषणम् । उरुतरं दूरतरम् (अरातीः) न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः । किञ्चकौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दानं—किञ्च, नञ्समासः । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पूर्वसवर्णः । अरातीन् शत्रून् । यद्वा किन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभाषान्, विरोधान् (अप) अपहृत्य (द्वेषांसि) द्विष अप्रीती भावे—असुन् । द्वेषान् (आ) ईषदर्थे ।

३—(वृक्षम्) स्तुत्रश्चिकित्सीषिभ्यः कित् । उ० ३ । ६६ । इति ओ वश्चू छेदने—कस प्रत्ययः । वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो वश्चनात्—निर० २ । ६ । धनुर्दण्डम् । धनुः (यत्) यद्वा (गावः) गमेडोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लु गतौ—डो । ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्विदमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति—निर० २ । ५ । ज्याः, मौर्व्यः (परि-सस्वजानाः) स्वज परिस्वङ्गे, लिटः कानच्, नकारलोपे द्विर्बचनम् । आश्लिष्य धनुष्कोटी आरोपिताः (अनु स्फुरम्)

भावार्थ—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करवे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृत्त) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इस लिये है कि उस से वाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजंनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्जु इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजंनम् ।
एव । रोगंम् । च । आ-स्त्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु ।
मुञ्जः । इत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजंनम्) प्रकाश (द्यां च) मूर्त्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-प्रअर्थे कविधानम् । प्रनिस्फुरणम्, स्फूर्तिशुक्तम् (शरम्) म० १ । शत्रुछेदकम् । वाणधारकं शूम् (अर्चन्ति) पूजयन्ति, स्तुवन्ति । (ऋभुम्) ऋ गतौ-किप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ+भा दासी वा भू सत्ता-याम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु भान्तीति वत्तेन भान्तीति वत्तेन भवन्तीति वा-निरु० ११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-निघ० ३।१५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् (शरम्) शूस्वृस्तिहि० । उ० १ । १० । इति श्रु हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं वाणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (यवय) यु मिश्रणामिश्रणयाः-णिच्-लोट् । पृथक् कुरु (दिद्युम्) द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युन दीप्तौ-किप् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवलण्डने-किप् । द्यति खण्डयति शत्रून् । पृषोदरादिः, तलोपशृङ्खल्य सः । दिद्युत्, वज्रः—निघ० २ । २० । वज्रम् (इन्द्र) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमैश्वर्ये—रन् । भित्त्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति निस्त्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुश-त्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिकमिन्द्रद्वष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः—निरु० ७ । ५ । हे परमैश्वर्य-वन्, वायो, हे जीव ।

४—(यथा) येन प्रकारेण (द्याम्) गमेर्द्धोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम्) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है । (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्त्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं । अथवा जैसे सद्यैव (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्ग को [तेजनः] पुलिङ्ग मानकर [विष्णुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः
८×५, ६-६ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

विदुमा शुरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृषायम् ।

तेना ते तुन्वे ३' शं करं पृथिव्यां ते' निषेचनं

बुहिष्ठे अस्तु बालिति' ॥ १ ॥

लकात् द्युत दीप्तौ—डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् (पृथिवीम्) मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् (अन्तः) अम गतौ—अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये (तिष्ठति) वर्तते (तेजनम्) नपुंसकम् । तिज तीक्ष्णीकरणे—ल्युट् । तेजः प्रकाशः (एव) निपानस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा (रोगम्) पदरुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुज भंगे हिंसे च—घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभङ्गम् (आस्त्रावम्) । श्याऽऽद्वयधास्तु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ्+स्तु अत्रणे—ण प्रत्ययः । अचो ङिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । आस्त्रवम्, रुधिरादिस्त्रवणम् । आघातम् (मुञ्जः) गुञ्ज्यते मृज्यते अनेन । मुञ्जि मार्जने शोधने—अच् । परमेश्वरः । संशोधकः पदार्थो वा (इत्) एव । अपि ॥

विद्म। शूरस्यं । पितरंम् । पर्जन्यम् । शत-वृष्णयम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । कुरुम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शूरस्य) शत्रु नाशक [वा बाण धारी] शूर के (पितरम्) रक्षक,
पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्णयम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले
[परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर
के लिये (शम्) नीरोगता (कुरुम्) मैं करूँ, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा
(निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (बाल्) बैरी (बहिः)
बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ
अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्णय)
सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मबल बढ़ा
कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १ । २ । १ । देखो ।

१—(विद्म, शूरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्) इति पदानि व्याख्यातानि १ ।
२ । १ (शतवृष्णयम्) वर्षतीति वृषा । कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना । उ० १ ।
१५६ । इति वृषु सेचने-कनिन् । भवे क्न्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति वृषन्-
यत् । वृष्णि भवं वृष्ण्यं वीर्यं सामर्थ्यम् । बहुसामर्थ्यापेतं परमेश्वरम् (तन्वे)
१ । १ । १ । तत्रयत् सिद्धिः स्वरितश्च । शरीराय (शम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त ।
पा० ३ । २ । ७५ । इति शम् उपशमने-विच् । शान्तिम्, स्वास्थ्यम् । सुखम्-निघ०
३ । ६ (कुरुम्) डुकृञ् करणे-लेट् । अहं कुर्याम् (पृथिव्याम्) १ । २ । २ ।
प्रख्यातायां भूमौ (ते) तत्र (नि-सेचनम्) । नि+षिच् सेचने-भावे ल्युट् ।
आर्द्रीकरणं, वर्धनम्, वृद्धिः (बहिः) वह प्रापणे—इसुन् । बाह्यम् । वहिर्देशे
(बाल्) बल बधे-किप्, बलति हिनस्तीति बाल् बलः, असुरः, दैत्यः, बैरी (इति)
इण् गती-किच् । पर्याप्तम् । अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६ ॥

विद्मः शूरस्य पितरं मित्रं शतवृषायम् ।

तेना ते तुन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

बुहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्मः । शूरस्य । पितरंम् । मित्रम् । शत-वृषायम् । तेन । ते ।
तुन्वे । शम् । कुरुम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बुहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शूरस्य) शत्रु नाशक शूर [वा वाणधारी] के (पितरम्) रक्तक
पिता, (मित्रम्) सब के चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृषायम्)
सैकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] को (विद्मः) हम जानते हैं । तेन उस [जान]
से ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही पर-
मेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मः शूरस्य पितरं वरुणं शतवृषायम् ।

तेना ते तुन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

बुहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्मः । शूरस्य । पितरंम् । वरुणम् । शत-वृषायम् । तेन ।
ते । तुन्वे । शम् । कुरुम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् ।
बुहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—(मित्रम्) अमिचिमिशसिभ्यः कूः । उ० ४ । १६४ । इति डुमिञ्
प्रक्षेपणे—कू । मिनेति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-
स्नेह-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो
भगवता यास्कं न मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१-२२ । अहरभि-
मानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योजयम्,
मध्ये १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकने वाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वालों [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से ॥ ३ ॥

भावार्थ—आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है—इत्यादि ॥ ३ ॥

(वरुण) मध्यस्थान देवता—निरु० १०।३। इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं० १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है । सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्म शरस्यं पितरं चन्द्रं शतवृण्यम्
तेना ते तुन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बुहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्म । शरस्यं । पितरम् । चन्द्रम् । शत-वृण्यम् । तेन ।
ते । तुन्वे । शम् । कुरम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् ।
बुहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा वाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारा (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से ॥ ४ ॥

३—(वरुणम्) कृचृदाग्भ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृष् वरणे—उनन् । आवृणोति लोकान् । मध्यस्थानदेवतासु—वरुणा वृणोतीति सतः—निरु० १० । ३ । लोकानामावरकम् अन्तरिक्षम् आकाशं वा । वरणो रात्र्यभिमानी देवः—इति सायणः । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् मं० १ ।

४—(चन्द्रम्) स्फायितश्चीत्यादिना, उ० २ । १३ । इति चदि आह्लादने-रक् । चन्द्रश्चन्दतः कान्तिकर्मणः—निरु० ११ । ५ । आह्लादकं देवं, हिमांशुम् ।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है । उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मः शरस्य पितरं सूर्यं शतवृण्यम् ।

तेन ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं

बहिष्ठे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्मः शरस्य । पितरम् । सूर्यम् । शत-वृण्यम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ५ ॥

भावार्थ—(शरस्य, शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्मः) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूँ और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) बैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) वस यही ॥५॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है । वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है । उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम् । तद्वत् उपकारकम् । अन्यत्—यथा मं० १ ।

५—(सूर्यम्) राजस्यसूर्येत्यादिना । पा० ३ । १ । ११४ । इति सृ सरणे क्यप् । निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम् । सरत्याकाशे स सूर्यः । यद्वा, षू प्रेरणे, तुदादिः—क्यप्, रुट् आगमः । सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । यद्वा सु+ ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते । वायुना सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः । सूर्यः सत्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा । इति यास्कः—निरु० १२ । १४ । आदित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम् । शेषम्—व्याख्यातम् मं० १ ।

यदान्त्रेषु' गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रु'तम् ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बृहिर्बालति' सर्वकम् ॥ ६ ॥

यत् । आन्त्रेषु' । गवीन्योः । यत् । वस्तौ । अधि । सम्-श्रु'तम् ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बृहिः । बाल् । इति' । सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटना है] । (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) बैंगी (बहिः) बाहर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही बस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उम के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—(यत्) यथा (आन्त्रेषु) अमत्यनेन, अम गती—क्त । अति बन्धने—करणे षून्, उपधादीर्घः । आन्त्रेषु, उदरनाडीविशेषेषु । (गवीन्योः) दुर्दक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुङ् ध्वनौ-इनन् । ऊीप् । छान्दसा दीर्घः । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः (वस्तौ) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये (अधि) उपरि, मध्ये (सम्-श्रुतम्) श्रु अवशे गती च-क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् (एव) एवम्, तथा (मूत्रम्) मूत्र प्रस्रावे-घञ् । यज्ञा, सिविमुच्योष्टेरु च । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—षून् ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीना मलद्रवः (मुच्यताम्) मुच—कर्माणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु (सर्वकम्) अव्ययसवनान्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७९ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते भिनद्धमि मेहनं वत्रं वेशुन्त्या इव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्वालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र । ते । भिनद्धि । मेहनम् । वत्रंम् । वेशुन्त्याः—इव ।

एव । ते । मूत्रंम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ते) तरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्रभिनद्धि) में खोले देता हूँ,
(इव) जैसे (वेशुन्त्याः) भाल का पानी (वत्रम्) बन्ध को [खोल देता हूँ] । (एव);
वैसे ही..... म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सदैव लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को
भीत के पानी के समान खोलकर निकाल देता हूँ वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को
निकाल देवे ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्वालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वि-सितम् । ते । वस्ति-बिलम् । समुद्रस्य । उदधेः—इव ।

एवा । ते । मूत्रंम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्र मार्ग (विषितम्) खोल दिया

(प्र+भिनद्धि) भिद्विर् विदारण-लट् । व्यवहताश्च । पा० १ । ४ । ८२ ।
इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विवृणोमि, विवृतं करोमि (मेहनम्) मिह सेचन-
करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् (वत्रम्) सर्वधातुभ्यः ण् ।
उ० ४ । १५६ । वृत्तु वर्तनं-ण् । बन्धम् (वेशन्त्याः) जृविशिभ्यां भञ् । उ०
३ । १२६ । इति विश प्रवेश-भञ् । भोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति भस्य अन्ता-
वेशः, वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते
सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

—(वि-सितम्) वि+पो अन्तकर्मणि-क यद्वा, बिञ् बन्धे-क । विमुक्तम्
(वस्ति-बिलम्) म० १ । वस्ति+बिल स्तृत्वा-क । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग] । (एव) वैसे ही । म० ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका पुरापंतुदवंसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बृहर्बालिति' सर्वकम् ॥ ६ ॥

यथा । इषुका । पुरा-अपंतत् । अव-सृष्टा । अधि' । धन्वनः ।

एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बृहिः । बाल् । इति' ।

सर्वकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष से (अवसृष्टा) छुटा हुआ (इषुका) बाण (पुरा-अपंतत्) शीघ्र चला गया है । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह बस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ६ ॥

(समुद्रस्य) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम् + उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उनत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्रवन्त्यस्मादायः समभिद्रवन्त्येनमायः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुद्रको भवति समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः = अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । सागरस्य (उदधेः) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति उद वा उदक + बुधाञ् धारणपोषणयोः-किं । उदकपूर्णस्य । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

६—(इषुका) इषुरीषतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा । निरु० ६ । १८ । इति ईष गतौ वधे-उ प्रत्ययः । स्वार्थे-कन्, टाप् । इषुः, बाणः (परा-अपंतत्) पत गतौ—लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् (अवसृष्टा) सृज—विसर्गे—क । विमुक्ता (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (धन्वनः) कनिन् युवृषितक्षिराजि-धन्विद्युपनिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्, चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—४ । सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः १-३ गायत्री,
४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः—परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो युन्त्यध्वंभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।

पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः । युन्ति । अध्वं-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।

पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने वाली, बहिर्ने [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (युन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१—(अम्बयः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११६ । इति अम्ब गतौ-इन् । प्रापणीया मातरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्बितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके । य० ३४ । १८ (युन्ति) इण् गतौ-लट् गच्छन्ति (अध्वभिः) अस्ति, गमनेन चलं नाशयति स अध्वः । अर्धे च । उ० ४ । ११६ । इति अद् भक्षणे-कनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-कनिप्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः (जामयः) वसिर्वापयजिराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षणे-इष् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः (अध्वरि-यताम्) अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन्+रा-दानग्रहणयोः-क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा । न+ध्व कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मात्तत्प्रतिषेधः-निष्० १ । ८ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + क्यच् । शतृ । क्यच्चि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् (पृञ्चतीः) पृची सम्पर्क-शतृ । ऊीप् । वा कुन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहनों के समान, हितकारी होते हैं, वे सम्भागों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।

ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।

ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(अमूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप = उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माताओं और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्य का प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों को फैलाना ॥ २ ॥

१—जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वे तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः (मधुना) फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधनश्च । उ० १ । १८ ।
इति मन ज्ञाने-उ । धश्चान्नादेशः । रसभेदेन । मधुरगुणेन (पयः) सर्व-
धातुभ्याऽनुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीङ्ग पाने-असुन् । दुग्धम्, रसम् ॥

२—(अमूः) अदस्, स्त्रियां जस् । ताः परिदृश्यमानाः (याः) अम्बयो जामयश्च, म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ (उप) समीपे, उपेत्य । आधिक्येन । आदरेण (सूर्ये) १ । ३ । ५ । आदित्यलोके । सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे । सूर्यप्रकाशे (याभिः) अम्बि-
जामिभिः । अङ्गिः (वा) समुच्चये । विकल्पे (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सवितृ-
लोकः । तद्वद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः (सह) षड् क्षमायाम्-अच् । साहित्ये

२-जो (अमृः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबंध मंत्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तो यह भावार्थ है । पहिले जल मूर्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य, मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है । इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरुपं ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।

सिन्धु'भ्यः कर्त्व' हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उपं । ह्वये । यत्र । गावः । पिबन्ति । नः ।

सिन्धु'भ्यः । कर्त्व'म् । हविः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणों [वा गोयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्तव्यम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं । (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाना हूँ ॥ ३ ॥

(नः) अस्माकम् (हिन्वन्तु) द्विवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्रानाः । पा० ७ । १ । ५८ । इति इदिच्चात् नुम् । अथवा । हि वर्धने स्वादिः—लोट् । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु (अर्ध्वरम्) म० १ । सन्मार्गदात् हिसारदितं वा कर्म । यज्ञम् ॥

३—(अपः) आपोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्ल् व्याप्ती—क्विप् । इति अप् । अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जल-धाराः । जलवत् उपकारिणः पुरुषान् (देवीः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३ । १ । १२४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्न-कान्तिगतिषु—पचाद्यच् । ऊाप् । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा.....निरु० ७ । १५ । दिव्याः, द्योतमानाः (ह्वये) अहमाह्वयामि (यत्र) यासु अप्सु (गावः) १ । २ । ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत् । सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणाः । भूलोकाः (पिबन्ति) पात्रा० इत्यादिना । पा० ७ । ३ । ७८ । इति पा पाने—शपि पिबादेशः । पानं कुर्वन्ति (नः) अस्मदर्थम् (सिन्धुभ्यः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ ।

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणों समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है । अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी हाकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व १ न्तरमृमुप्सु भेषजम् ।

अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो

गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

**अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत ।
प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथु ।
वाजिनीः ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ा तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) हाते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

११ । इति स्यन्दू सवणे—उ प्रत्ययः, दम्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् (कर्त्वम्) डुक्कृञ् करणे—तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् (हविः) अर्चिशुचिहुसृणिछादिछुर्विभ्य इतिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इति । यद्वा ह्वेञ् आह्वाने—इति । ह्वयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अन्नम् । आवाहनम् । उदकम्—निघ० १ । १२ ॥

४—(अप्सु) मन्त्र ३ । जजधारासु (अन्तः) मध्ये (अमृतम्) रोगनिवारक रसम् (भेषजम्) भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्—अण्, निपातनात् एत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ङ । औषधम् (अपाम्) म० ३ । जलधाराणाम् (उत) अपि च (प्रशस्तिभिः) प्र+शंस स्तुती—किन् । उत्तमगुणैः (अश्वाः) हे तुरगाः (भवथ) भू—लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावार्थ—जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर का महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यद् मन्त्रं कुल्ल भेदं से ऋ० १ । २३ । १६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ० १ । ८ ॥

सो ऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उसमें बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-४ । सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः—बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नं ऊर्जे दधातन ।

मुहे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयुः-भुवः । ताः । नुः । ऊर्जे । दधातनु ।

मुहे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भावार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

(वाजिनः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वाज—भूमि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, बलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्—निरुः २ । २८ (गायः) १ । २ । ३ हे धेनवः (अश्वाः । गायः)—सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः (वाजिनीः) अन्नभ्यां ऊप् । पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन-ऊप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः ॥

१—(आपः) १ । ४ । ३ । हे व्यापयिष्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होने हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्ज) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम या रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधानन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल स्नान, पान, खेती, वाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उप-कारो होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करना चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १०।६।१—३ ॥ यजुर्वेद ११।५०—५२,
तथा ३६।१४—१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा० ६ अर्धप्र० २ सूक्त १० ॥

यो वः शिवतमो रसस्तम्य भाजयते ह नः ।

उशुतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वुः । शिव-तमः । रसः । तम्य । भाजयतु । इह । नः ।

उशुतीः-इव । मातरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [ससार में] (नः) हम को (तम्य) उस

पुरुषाः (हि) निश्चयेन (स्थ) अस सत्तायां-तट् । भवथ (मयः-भुघः) मयः + भू सत्तायां-क्विप् । मिञ् हिंसायाम्-अस्तुन् । मिनो त हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्-निघ० ३।६ । सुखस्य भावयित्रयः कर्त्तव्यः (ताः) आपो यूयम् (नः) अस्मन् (ऊर्ज) क्विप् च । पा० ३।२।७६ । इति ऊर्ज बलप्राप्तयोः-क्विप् । बलार्थम्, अन्नार्थं वा (दधानन) तप्तनतनथनाश्च । पा० ७।१।४५ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयन् (महे) मह पूजायां-क्विप् । महते । विशालाय (रणाय) रण रवे-घञ्प्रथे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेभ्यि-ल्युट् मकारलोपश्छान्दसः । रमणाय । क्राड्नाय । रणाय रमणीयाय-निङ० ६।२७, यत्राय मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः (चक्षसे) चक्षेर्बहुलं शिष्य । उ० ४।२३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे अस्तुन् । दर्शनाय ॥

२—(शिव-तमः) अतिशयने तमविठनौ । पा० ५।३।५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः (रसः) रस आश्वादे-अच् । सारः ।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतोः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य ज्ञयाय जिन्वथ ।

आपो जुनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै । अरम् । गुमाम् । वुः । यस्य । ज्ञयाय । जिन्वथ ।

आपः । जुनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम्) हम पहुँचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (ज्ञयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करने हो । (आपः) हे जलो [जल समान उपकारा लोगों] (नः) हम को (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

(भाजयत) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागितः कुरुत । सेवयत (उशतोः) वश कान्तो=अभिलाषे-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति डाण् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व-सवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः (मातरः) १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—(अरम्) अ गतो-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूषणे निवारणे-अनु । लस्य रत्वम् । अलम्, पर्याप्तं पूर्णतया (गमाम्) गम्य गतो णिच्-छान्दसे लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम (ज्ञयाय) एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति लि निवासे ऐश्वर्ये च—अच् । निवासा । ऐश्वर्यप्राप्तये (जिन्वथ) जिवि प्रीणने लट् । यूयं तर्पयथ । वर्धयथ । अनुग्रहीध्वम् (आपः) १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।

अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।

अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीनने वाले औषध को (याचामि) मांगता हूँ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं । सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० १० । ६ । ५ । है ॥

धाराः (जनयथ) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जना प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, साहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ (च) अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

४—(ईशानाः) ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः (वार्याणाम्) अद्भुतोर्णयत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति दृङ् संभक्तौ-णयत् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वर्याणानां, धनानाम् (क्षयन्तीः) क्षि निवासे, ऐश्वर्येच-लट् शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति डीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । (चर्षणीनाम्) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । आकर्षन्ति धशीकृष्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षण्यः=मनुष्याः-निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् (अपः) अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अंगादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः (याचामि) याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे प्रार्थयै । (भेषजम्) १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ सिन्धुद्रीपोऽथर्वाकृतिर्ऋषिः । आपो देवताः ।

१-३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यनोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो देवीरभिष्टयु आपो भवन्तु पीतये ।

शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टये । आपः । भवन्तु । पीतये ।

शम् । यः । अभि । स्रवन्तुः । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवीः) दिव्यगुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) हों। और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (यो) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करने रहें ॥ १ ॥

१—(शम्) १।३।१। सुखं, सुखकारिण्यः (देवः) १।४।३। वा छन्दसि । पा० ६।१। १०६। इति जसि पूर्वसवर्णानां । देव्यः । दिव्याः (अभिष्टये) अभि + इष्ट वाञ्छायाम्—क्तिन् । शकन्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६।१। ६४। इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये (आपः) १।४।३। जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (पीतये) घुमास्थापाजहातिसां हति । पा० ६।४। ६६। इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओष्यायी, ष्रेष्ठ वृद्धौ वा-क्तिन्, तिच् वा । यथा । पः क्तिच् । उ० १। ७१। इति पा-तु प्रत्ययः । पिबति पानि वा स पीतुः । क्तिवात् ईकारः । पानाय रक्षणाय, वृद्धये (शम्) १।३।१। रोगशमनाय (योः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३। २। ७५। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-विच्, सकाशञ्छान्दसः यद्वा । यु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १— ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ ।

तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।

अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्-सु । मे । सेऽमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।

अग्निम् । च । विश्व-शंभुवम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोम-लता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जनों में (विश्वानि) सब (भेषजा = ०-नि) ओषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [विजुली वा पाचनशक्ति] का (अब्रवीत्) बताता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा ओषधियों को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य ओषधि है । यह सब पदार्थ जैसे जल द्वारा ओषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, विजुली और पाचन शक्ति पहुँचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयाः.....शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भय-पृथक्कारणाय (अग्नि) सर्वतः (स्रवन्तु) स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—(अप्सु) १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणेषु मनुष्येषु-इत्यर्थः (सोमः) अर्निस्तुसुहु० । उ० । १ । १४० । इति षु प्रनवंश्वर्ययोः—मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता । सोमो व्याख्यातः—निरु० १४ । १२ (अब्रवीत्) ब्रून् व्यक्तायां वाचि—लङ् । उपदिष्ट-वान् । अकथयत् (अन्तः) मध्ये (विश्वानि) सर्वाणि (भेषजा) १ । ४ । ४ । शेषद्वन्द्वसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेलोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि (अग्निम्) अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अग्नि गतौ-ति, नलोपः । तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् (विश्व-शंभुवम्) किप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व + शम् + भू सत्तायां—किप्, उवङ्, आदेशः । विश्वस्य जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः पृणीत भेषजं वरुथं तुन्वे ३' मम ।

ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरुथम् तुन्वे मम ।

ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तुन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलते वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरुथम्) कवचरू (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध में याद्धा की रक्षा भिन्नम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परम्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं नु आपो धन्वन्या ३' शम् सन्त्वनुप्याः ।

शं नः खनित्रिमा आपः शम् याः कुम्भ आभृताः

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नु । आपः । धन्वन्याः । शम् । ऊं इति । सन्तु ।

अनुप्याः । शम् । नु । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति ।

३-(आपः) हे व्यापयितृणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः] । (पृणीत) पू पालनपूरणयोः—लोट् । पालयत, पूरयत (भेषजम्) १ । ४ । ४ । भयनिवारकम् । औषधम् (वरुथम्) जृवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति वृञ् वरणे—ऊथन्, त्रियते शरीरमनेन । तनुत्राणम्, कवचम् (तुन्वे) १ । १ । १ । तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च । तन्यते विस्तीर्यते तनूः । शरीराय । (मम) मदीयाय (ज्योक्) ज्यो नियमे—डोकि । चिरवाणम् (सूर्यम्) १ । ३ । ५ । जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् (दृशे) दृशे विद्ये च । पा० ३ । ४ । १ । इति द्विशर् प्रक्षणे—तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपात्यते । द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥४॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्व-याः) निर्जन देश के (आः) जल (शम्) सुखदायक, (उ) आर (अनू-याः) जलवाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होंगे । (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती या फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होंगे, (उ) आर (याः) जो (कुम्भे) बड़े में (आ-भृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुखदायी होंगे, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैत जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकार मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुँचाकर सुखी होता चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः

४—(शम्) १ । ३ । १ । सुखकारिण्यः (नः) अ-मभ्यम् (आपः) जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (धन्व-याः) कनिन् युवृषितन्निधन्वि-राजिद्युप्रतिदिधः । पा० १ । १०६ । इति धवि गती—कनिन् । इदिस्त्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दनि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८१ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः (ऊँ इति) ख (अनू-याः) अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरुषूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अनु + अप्—अकारः समासान्तः । ऊदनादेशः । पा० ६ । ३ । १८८ । इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊतारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे जलप्राय देशे भवा आपः (खनित्रिमाः) खनु अवधारणे—असाच्छान्वसः क्त् प्रत्ययः । आर्धधातुकस्येड् वलादेः । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्वे-र्मन्निरयम् । इति मप् खनित्रेण अत्रविशेषेण निवृत्ताः कृपाङ्गवाः (कुम्भे) कुं भूति उम्भति जलेन । उन्म पूरणे—अत्र । शकन्धादिस्त्वात् साधुः । घटे, कलशे (आ-भृताः) दृज् हरणे—क । दृप्रहोर्भः—इति भत्वम् । आहताः, आनीताः । (शिवाः) सुखदाय्यः (वार्षिकीः) छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । ११६ । इति वर्षा । ठञ् । ऊाप् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वार्षिक्यः वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ चातन ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप्
८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ।

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमग्नु आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।

त्वं हि देव वन्दितो हुन्ता दस्योर्बभूवि'थ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हुन्ता । दस्योः । बभूवि'थ ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी]
स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह
क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले लुतरे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि
(देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्योः)
चोर वा डाकू का (हुन्ता) हनन कर्ता (बभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—(स्तुवानम्) ष्टुञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० ।
पा० ६ । ४ । ७७ । इति उवङ् । त्वां प्रसशन्तं स्तुवन्तम् (अग्ने) १ । ६ । २ ।
अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधिं व्याख्यातः—निरु० ७ । १४ । हे वहने, हे पावक,
हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! (आ-वह) आनय (यातु-धानम्) कृवा-
पाजिमि० । उ० । १ । १ । इति यत ताडने—उण् । यातुं पीडां दधाति ददाति ।
डुधाञ् धारणपोषणदानेषु—युच् । पीडाप्रदं राक्षसम् (किमीदिनम्) किम् +
इदानीम् वा किम् + इदम्—इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भाषार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरो [चुगल खोरो] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्य में शान्ति फैलती है ॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुगलखोर का किया है—निरु० ६।११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।

अग्ने तौलस्यु प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । परमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।

अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान् । यातु-धानान् । वि । लापय ॥२॥

भाषार्थ—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! (तनूवशिन्) । शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन् ! तू (तौलस्य) ताल से पाये हुये (आज्यस्य) घृत का (प्र-अशान) भोजन कर । और (यातुधानान्) दुःखदायी राजसों से (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते—निरु० ६।११ । इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते—इति एवमन्वेपमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् (हि) यस्मात् । अवश्यम् (देव) १।४।३ । हे द्योतमान ! राजन् ! (वन्दितः) यदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त । स्तुनः । नमस्कृतः (हन्ता) हन—तृच् । हननकर्ता, घानयिता (दस्योः) यजिमनिशुन्धि-दसिजनिभ्यो युच् । उ० ३।२० । इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चौरस्य । शत्रोः (बभूविथ) भू सत्तायां प्राप्नो च—लिट् मध्य-मेकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२—(आज्यस्य) आङ् + अज्जमिश्रणे गतौ च—क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी, आ आज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् (परमे-स्थिन्) परमे कित् । उ० ४।१० । इति परमे + ष्टा गतिनिवृत्तौ—इति, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भावार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तैल वा परिमाण से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है ॥

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।

अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हयतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः । अथ ।
इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करनेवाले लुनरे [हैं], [वें] (वि लपन्तु)

पा० ६ । ३ । ६ । इत्यलुक् । स्थास्थिन्स्पृणाम् । वा० पा० ८ । ३ । ६७ । इति पत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् । (जात-वेदः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । इति जात+विद् ज्ञाने, वा विद्+ल लामे-असुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि वै न विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्यो वा जात-प्रज्ञानो वा—इति निरु० ७ । १६ । हे जातधन, हे जातप्रज्ञान (तनू-वशिन्) वशोऽस्त्यस्य—इनि । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः (अग्ने) म० १ । हे अग्निवत् तेजस्विन् (तैलस्य) तुल उन्माने—घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना इति तैलम् । तैल-अण् । कर्मणि षष्ठी । तैलम् । तैलेन परिमाणेन कृतम् (प्र+अशान) अश भोजने-लोट् । हलः शतः शानञ् भौ । पा० ३ । १ । ८३ । इति श्नाप्रत्ययस्य शानच् । है परतः । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय (यातु-धानान्) म० १ । पीडाप्रदान् राज्ञसान् (वि+लापय) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति वि विकृतं । लप भाषे-णिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान् कुरु ॥

३—(विलपन्तु) लप कथने—लोट् । विकृतं लपनं परिवेदनं कुर्वन्तु

विलाप करें । (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम सामग्री को (प्रति हर्यतम्) अङ्गीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नश करनी है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतबने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।

ब्रवीतु सर्वो यातुमानमयमुस्मीत्येत्यं ॥ ४ ॥

अग्निः । पूर्वः । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । बाहु-मान् ।

ब्रवीतु । सर्वः । यातु-मान् । अयम् । अस्मि । इति । आ-इत्यं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रु-ओं] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (प्रनुदतु) निकाल देवे । (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राजस (एत्यं) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूँ—(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

(यातु-धानाः) म० १ । पीडाप्रदाः राज्ञसाः (अस्त्रिणः) अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६८ । इति अद भक्षणे-त्रिनि । अदनशीलाः, उदरपोषकाः (किमी-दिनः) म० १ । विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः (अथ) अनन्तरम् । अपि च (इदम्) प्रस्तुतमुपस्थितम् (अग्ने) म० १ । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (हविः) १ । ४ । ३ । दानम् । हव्यं द्रव्यम् । आह्वानम् (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् (वायुः) वायुवद् वेगवान् राजा (प्रति+हर्यतम्) हर्य गतिकान्तयोः—लोद् । युवां कामयेथां, स्वीकृतम् ॥

४—(अग्निः) म० १ । अग्निवत् तेजस्वी राजा (पूर्वः) पूर्व निमन्त्रणे निवासे वा-अच् । पुरोगामी, मुख्यः (आरभताम्) रभ राभस्ये=उपक्रमे । आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोद् । स्पृशतु । निगृह्णातु (इन्द्रः) १ । २ । ३ । वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा (प्र+नुदतु) एद प्रेरणे तुदादिवात् शः । प्रेरयतु ।

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा-प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्
नृचक्षः । त्वया सर्वे परि'तप्ताः पुरस्तात् त आर्यन्तु
प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

पश्याम । ते । वीर्यं'म् । जातु-वेदः । प्र । नः । ब्रूहि ।
यातु-धानान् । नृ-चक्षुः । त्वया । सर्वे । परि'-तप्ताः । पुरस्तात् ।
ते । आ । युन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उपे । दम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान देने वाले वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने वाले ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राजाओं को (प्रब्रूहि) बतादे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (ते सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात् [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ युन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु (बाहुमान्) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ६४ । भूम-निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविचक्षायां भवन्ति मतुबा-दयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति बाहुशब्दान् प्रशंसायां मतुप् । प्रबलभुजः । महा-बली (ब्रवीतु) ब्रू—लोट् । कथयतु (सर्वः) निखिलः (यातु-मान्) कृवा पा० । ३० १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम् । यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान् पीडयान्, महापीडाकारी (अयम्) एतन्नामकोऽहम् (इति) एवम् (आ-इत्य) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । पा० ७ । १ । ३७ । इति आङ् + इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबा-देशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—(पश्याम) दृशिर् प्रेक्षणे-लोट् । पाद्माध्यास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम (वीर्यम्) वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भाषार्थ—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रखे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रखे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकथीय जज्ञिषे ।

दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ॥ रुभस्व । जातु-वेदुः । अस्माकं । अथीय । जुज्ञिषे । दूतः ।

नः । अग्ने । भूत्वा । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन् ! (आ रभस्व) [बैरियों को] पकड़ ले, (अस्माकं) हमारे (अथीय) प्रयोजन के लिये (जुज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है । (अग्ने) हे अग्ने [संनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (वि लापय) विलाप करा ॥ ६ ॥

यद्वा, धीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६८ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्, सामर्थ्यम् (जात-वेदः) म० २ । हे जातप्रज्ञान (नः) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति (प्र+ब्रूहि) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट्, द्विकर्मकः । प्रकथय (यातुधानान्) म० १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् (नृचक्षः) चष्टिः पश्यति कर्मा—निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नृन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक (त्वया) अग्निना, अग्निवत् तेजस्विना (परि-तप्ताः) सम्यग् दग्धाः (पुरस्तात्) अग्ने (ते) प्रसिद्धाः (आ + यन्तु) आगच्छन्तु (प्र-ब्रुवाणाः) ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः (इवम्) दृश्यमानम् स्थानम् ॥

६—(आ + रभस्व) म० ४ । आङ् + रभ स्पर्श-लोट् । निगृहाण (जात-वेदः) म० २ । जातप्रज्ञान ! (अस्माकं) अन्त्यलोपश्लान्दसः । अस्माकम् (अथीय) अथ याचने-घञ् । प्रयोजनाय, धनाय (जुज्ञिषे) जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वंजातवानसि (दूतः) दूतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ६० । इति दु

भावार्थ—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर सन्देश पहुंचाता है वैसे ही विजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपना प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥ ६ ॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धां इहा वह ।

अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चत ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातु-धानान् । उप-बद्धान् । इहा । आ । वह ।

अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप-बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राजाओं को (इहा) यहां पर (आ वह) लेआ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इन के (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु) काट डाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को संनानी, और लोभ,

गतौ-क । यद्वा दु दु उपतापे-क दीर्घश्च । दवति गच्छति दुनोत्युपतापयतीति दूतः । वार्ताहरः, सन्देशहरः । सन्तापकः । अग्निः (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (यातु-धानान्) म० १ । पीडाप्रदान् (विलापय) म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदध ।

७—(यातु-धानान्) म० १ पीडाप्रदान् (उप-बद्धान्) बन्ध बन्धने-क-दृढबन्धनयुक्तान् (इहा) निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । (अथ) च । तदनन्तरम् (एषाम्) यातुधानानाम् (इन्द्रः) १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् (वज्रेण) ऋज्जेन्द्रप्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ-रन् । कुलिशेन, कुठारेण (अपि) एव, अवश्यम् । (शीर्षाणि) शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दाय शीर्षं

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप्
८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि--सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।

य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातुधानान् । नदी । फेनम्-इव । आ ।

वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकरिः । इह । सः ।

स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भावार्थ--(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राजसों को (आ वहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकरिः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (इह) यहां (स्तुवताम्) [तेरा] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ--प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टों को पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अङ्गीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि (वृश्चतु) ओम्बश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१--(इदम्) प्रस्तुतं, क्रियमाणम् (हविः) १ । ४ । ३ दानम् । भक्तिः । आवाहनम् (यातुधानान्) १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राज्ञसान् (नदी) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणित्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णदध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नदद् इति पाठात् टित्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने हारी वा स्तुति योग्य, और [पुमान्] का अर्थ रत्नक वा पुरुषार्थी है ।

अयं स्तुवान् आगमदिमं स्म प्रति हयत ।

वृहस्पते वशे लब्ध्वाग्नीषोमा वि विध्यतम् ॥ २ ॥

अयम् । स्तुवानः । आ । अगमत् । इमम् । स्म । प्रति । हर्यत् ।
वृहस्पते । वशे । लब्ध्वा । अग्नीषोमा । वि । विध्यतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत्) तुम सब स्वागत करो । (वृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रत्नक राजन् ! [दूसरे बैगी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्तमान हो,] (अग्नीषोमा = ०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा ! तुम दोनों [अन्य बैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २ । २४ । नदनशीला, सरित्, तरङ्गिणी (फेनम्) फेनमीनौ । उ० ३ । ३ । इति स्फायी वृद्धौ-नक्, फेशब्दादेशः । स्फायते वर्धते स फेनः । हिण्डीरम्, समुद्रफेनम् (आ+वहत्) वह प्रापणे—लेट् । आनयेत् (स्त्रा) स्तायतेर्ङ् । उ० ४ । १६६ । इति स्त्यू संहतौ, ध्वनौ-ङ्, डाप् । स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा । यद्वा, ण्डुञ् स्तुतौ-ङ् । डीप् । स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री । नारी (पुमान्) पातेर्ङ्मसुन् । उ० ४ । १७८ इति पारत्नये डुमसुन् । डित्वात् टिलोपः । पातीति पुमस्=पुमान् मनुष्यः, पुरुषः (अकः) डुकृञ् करणे-लुङ् । हन्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० । पा० ६ । १ । ६८ । इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः । अकार्षीत् (स्तुवताम्) ण्डुञ् स्तुतौ-लोट् । छन्दसि शः । स्तुतिं करोतु (जनः) जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच् । जायते जनयति वा स जनः । लोकाः ॥

२—(अयम्) शत्रुः (स्तुवानः) ण्डुञ् स्तुतौ—शानच् । युष्मान् स्तुवन् (आ+अगमत्) गम्य गतौ—लुङ् । आगमवान् (इमम्) शत्रुम् (स्म) अवश्यम्, प्रीत्या (प्रति+हर्यत्) हर्य गतिकान्त्योः—लोट् । यूयं प्रतिकामय-ध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत (वृहस्पते) तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें । प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रखे । और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥ २ ॥

यातुधानस्य सोमप जुहि प्रजां नयस्व च ।

नि स्तुवानस्य पातय परमच्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातुधानस्य । सोम-प । जुहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।

निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अन्ति । उत । अवरम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) लेआ । (निःस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम् [हृदय]

सुट् तलोपश्च । वार्त्तिकम्, पा० ६।१। १५७। इति वृहत् + पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे वृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन् ! (वशे) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३।३। ५८। इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् (लब्ध्वा) लभ प्राप्नो—क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य-शत्रुं, तिष्ठ, इति शेषः] (अग्नीषोमा) अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६।३। २७। इति ईस्वम् । अग्नेः स्तुतस्तीमसोमाः । पा० ८।३। ८२। इति षत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७।१। ३६। इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । अर्त्तिस्तुसुहुसृधृलि० । उ० १। १४०। इति पु पेश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति पेश्वर्यहेतुर्भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौषधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् (वि) विविधम् (विध्यतम्) व्यध ताडने—लोद् । युषां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—(यातु-धानस्य) १। ७। १। पीड़ाप्रदस्य (सोम-प) आतोऽनुपस-गं कः । पा० ३। २। ३। इति सोम + पा पाने—क । हे अमृतस्य पातः ! (जहि)

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिः कां] (अक्षि) आंख को (पातय) निका-
ल दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(सोमप) अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी
राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे । निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी
शत्रु को नष्ट भ्रष्ट कर दे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और
बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़ दे ॥ ३ ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थु गुहा सुतामृत्रिणां
जातवेदः । तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जुह्वेषां
शतुतर्हमग्ने ॥ ४ ॥

यत्र । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सुताम् ।
अत्रिणाम् । जातु-वेदुः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । ववृधानः ।
जुहि । एषाम् । शतु-तर्हम् । अग्ने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले ! (अग्ने) अग्नि
[अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्तमान
(एषाम्) इन (अत्रिणाम्) उदर पोषकों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन हिंसागत्योः—लोट् । नाशय (प्र-जाम्) जनम् । मनुष्यान् (नयस्व)
आनय (निः) क्षेपेण, अपवादेन । निषेधेन (स्तुवानस्य) म० २ । स्तुवतः
शत्रोः (पातय) पत अधोगतौ—णिच् लोट् । अधोगमय, व्यावय (परम्)
अदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति पृ-पालने पूर्वौ च—अप् । भ्रष्टम् । उषम्
(अक्षि) अशोर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति अग्न्यव्याप्तौ—किस । यद्वा । अतू व्याप्तौ-
इन् । चक्षुः, नेत्रम् (अवरम्) अदिवृद्धनिश्चिगमश्च । पा० ३ । ३ । ५८ ।
इति न + वृञ् वरणे—अप् । न म्रियत इति । निकृष्टम्, नीचम् ॥

४—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (जनिमानि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् ।
उ० ४ । १५६ । इति जनी प्रादुर्भावे—इमनिन् । जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि ।

है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन] से (वावृ-
धानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (पषाम्) इनकी (शत-
तर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का
खोज करे और उनको यथानीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रखे ॥४॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४॥ अथर्वा ऋषिः । १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्नि-
देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ११ × ४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः—सर्व सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पुषा वरुणो
मित्रो अग्निः । इममादित्या उत विश्वे च देवा
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पुषा । वरुणः ।
मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः ।
उत्तरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ॥ १ ॥

(वेत्थ) विद ज्ञान—लट् । त्वं जानासि (गुहा) इगुपधज्ञाप्रोक्तिरः कः । पा० ३ ।
१ । १३५ । इति गुह संवर्णे—क, टाप् च । गूहति गृह्णीति । सुपां सुलुक्० । पा०
७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । गुहायाम्, गर्त्ते, गह्वरे, गुप्तस्थाने (सताम्)
अस सत्तायां—शतृ । विद्यमानानाम् । निवसताम् (अग्निणाम्) १ । ७ । ३ ।
अदनशीलानां, उदरपोषकणाम् (जात-वेदः) १ । ७ । २ । हे जातविद्य !
(ब्रह्मणा) वृहेर्नाऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ—मनिन्, नकारस्य
अकारः, रत्वं च । ब्रह्म अन्नम्—निघ० २ । ७ । तथा, धनम्—निघ० २ । १० ।
वेदन । वेदज्ञानेन । परमेश्वरेण (ववृधानः) वृधु वृद्धौ—लिट् कानच्,
छन्दसि दीर्घः । प्रवृद्धः (जहि) म० ३ । मारय (शत-तर्हम्) शतं बहुनाम—
निघ० ३ । १ । तृह हिंसायाम्—घञ् । बहुविधहिंसनम् ॥

भावार्थ—(वसवः) प्राणियों के बसाने वाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुझ में] (वसु) धन को (धारयन्तु) धारण करें । (आदित्याः) प्रकाश-वाले [बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष] (उत च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार जाननेहारे महात्मा (इमम्) इस को [मुझको] (उत्तरस्मिन्), अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं । अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—(अस्मिन्) उपासके, मयि, इत्यर्थः । म० ४ (वसु) शृम्बृस्तिहं-
त्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च—उप्रत्ययः ।
निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् (वसवः) पूर्ववत्, वस-उ । श्वसेवसीय-
शश्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची । प्राणिनां वासयितारः,
प्रकाशमानाः । प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः (धारयन्तु) धृञ् धारणे-
चुरादिः । स्थापयन्तु (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमेश्वरः । सूर्यः (पूषा)
श्वब्रुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति पुष पुष्टौ, पूष बृद्धौ—कतिन् प्रत्ययान्तो
निपात्यते । पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वाङ्मैः प्रजाः । पूषा
पृथिवीनाम-निघ० १ । १ (वरुणः) १ । ३ । ३ । वृणोति म्रियते वाऽसौ वरुणः ।
वृष्टिजलम् । मेघः (मित्रः) १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे-क् । वायुः ।
अहरभिमानी देवः—इति म्नायणः (अग्निः) १ । ६ । २ । और्वजाठरवैद्युतादि-
रूपः प्रकाशः । वह्निः (इमम्) उपासकम् (आदित्याः) अघ्न्यादयश्च ।
उ० ४ । ११२ । इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीप्ती दीप्तौ—यक् । निपातितः ।
यद्वा । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्यः । पा० ४ । १ । ८१ । इति अदिति-रय-
प्रत्ययः, अरत्यर्थे । अदितिः=पृथिवी-निघ० १ । १ । वाक्-निघ० १ । ११ ।
अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं
रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किञ्चित् प्रबलहितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा
वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः—निरु० ७ । ११ । आदातारः, प्रहीतारो गुणा-
नाम् । प्रकाशमानाः । भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः । सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः । सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करने हैं और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा
हिरण्यम् । सुपत्नी अस्मदधरे भवन्तु तमं नाकमधि
रोहयेमम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः ।
उत । वा । हिरण्यम् । सु-पत्नीः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु ।
उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इ-मम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार जानने वाले महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे । (सुपत्नीः) सब बैरी (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें । (उत्तमम्) अति ऊँचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इन को [मुझ को] (अधि) ऊपर (रोहय = ०—यत) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः (देवाः) १ । ४ । ३ । दिव्य व्यवहारे-अव् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्टे (ज्योतिषि) द्युतेरिसिद्धादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इति जः । तेजसि, प्रकाशे (धारयन्तु) स्थापयन्तु ॥

२—(अस्य) उपासकस्य (देवाः) म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा (प्रदिशि) सम्पदादिभ्यः क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्तिप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् (ज्योतिः) म० १ । तेजः, प्रकाशः (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः (अग्निः)

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय सुमभरुः पर्यास्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।

तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं संजातानां श्रेष्ठ्य आ

धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सुम्-अभरुः । पर्यासि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा ।

जातु-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् ।

सु-जातानाम् । श्रेष्ठ्यै । आ । धेहि । एनुम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः । पावकः (हिरण्यम्) हर्यतिः कान्तिकर्मा-निघ० २ । ६ । हर्यतेः कन्यन् हिर च । उ० ४ । ४४ । इति हर्यं गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृञ् हरणे-कन्यन् हिरच । ह्रियते जनाउजनं व्यवहरार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्यनामसु-निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः (स-पलाः) सह + पत् पतने पेश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह मत्तित्ववन्तः । शत्रवः (अधरे) न + धृञ्-अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अपकृष्टाः (उत्-तमम्) उत् + तमप्, अनिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत् + तमु इच्छायाम्-अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् (नाकम्) कं सुखम् अकं दुःखम्, तन्नास्त्यत्रति नाकः । नञ्ग्राण्णपाञ्चवेदानास्त्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । अथवा पिताकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति णी प्रापणे-आक-प्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां उयोतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् । आकाशम् । आदित्यलोकम् (अधि) उपरि (रोहय) रह जन्मनि, प्रादुर्भावे-णिच्-लोट् । एक वचनं बहुवचने । उन्नयत यूयम् (इमम्) उपासकम् ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादिरसों को (समभरः) भर रक्खा है। (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इनको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है। मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥ ३ ॥

(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है, इस में यह प्रमाण है—मनु १२। १२३।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके ऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥

इस को कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—(येन) ब्रह्मणा (इन्द्राय) १। २। ३। जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय। (सम्-अभरः) डुभृञ् भरणे, पापणे-लङि णिप्। सम्यग् भूतवानसि पोषितवानसि (पयांसि) १। ४। १। दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् (उत्तमेन) म० २। अतिश्रेष्ठेन (ब्रह्मणा) १। ८। ४। वेदज्ञानेन (जात-वेदः) १। ७। २। हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर (तेन) ब्रह्मणा (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इह) अत्र, अस्मिन् जन्मनि (वर्धय) वृधु-णिच्। समर्धय। (इमम्) उपासकं, माम् (स-जातानाम्) समान + जतीप्रादुर्भावे-क। जन-सतस्वनां सन्भूतोः। पा० ६। ४। ४२। इति आत्त्वम्। समानस्य छन्दस्य-मूर्ध०। पा० ६। ३। ८४। इति समासे समानस्य सभावः। समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये (श्रैष्ठ्ये) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। पा० ५। १। १२४। इति श्रेष्ठ-प्यञ्। श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे (आ) समन्तात्-यथाविधि। (धेहि) दुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्। धारय, स्थापय (एनम्) उपासकम् ॥

एषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-
न्यग्ने । सपत्नी अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि'
रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः ।
पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने । स-पत्नीः । अस्मत् । अधरे ।
भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि' । रोहय । इमम् ॥४॥

भावार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों के] दिये
(यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती
(उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आ ददे) ग्रहण करता
हूँ । (सपत्नीः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) हों, (उत्त-
मम्) अति ऊँच (नाकम्) सुख में (एनम्) इस को [मुझे] (अधि) ऊपर
(रोहय) बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये
उपकार, और सरकार के सधन्यवाद स्वीकार करे और विपत्तियों को नीचा
दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—(एषाम्) स्वपुरुषाणाम् (यज्ञम्) यजयाचयतविच्छ्रप्रच्छ्रक्तो नङ् । पा०
३।३। ६० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु-नङ् । पूजाम्, कीर्त्तिम्
(वर्चः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४। १८६ । इति वर्च दीप्तौ-असुन् । निच्वात्
आद्युदात्तः । वर्चः, अन्ननाम-निघ० २।७। रूपम् । तेजः (आ-ददे) आङ्
पूर्वात् हुदाङ् ग्रहणे-लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि (रायः) रातेडैः ।
उ० २। ६६ । इति रा दाने-डै प्रत्ययः, रै । धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ-घञ् ।
पोषणं वर्धनं समृद्धिम् (रायस्पोषम्) षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३। ५३ ।
इति विसर्गस्य सः (चित्तानि) चित्त ज्ञाने—क । मनांसि, मानसबलानि (अग्ने)
म० ३ । हे परमेश्वर (सपत्नीः.....इमम्) व्याख्यातं म० २ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् , ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या
वरुणस्य राज्ञः । ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान
उग्रस्य मुन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि ।
सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः ।
उग्रस्य । मुन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्रा-
णदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (वि राजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य)
वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या)
सत्य (हि) ही है । (ततः) इस लिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा
(शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मुन्योः) क्रोध से
(इमम्) इम को [अपने को] (उत् नयामि) लुड़ाता हूं ॥ १ ॥

१—(अयम्) पुरावर्ती (देवानाम्) १ । ४ । ३ । दिव्यगुणवतां विदुषाम्
(असुरः) असंहरन् । उ० १ । ४२ । इति असु क्षेपे—उरन् । दिनत्यादिर्नित्यम् ।
पा० ६ । १ । १६७ । इति निस्वाद् आद्युदान्तः । अस्म्यति शत्रून् । यद्वा, अस गति-
दीप्त्यादानेषु—उरन् । असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते
वा साधून् । यद्वा । अमुं प्राणं राति ददातीति, असु+रा दानादानयोः—क ।
मेघनाम—निघ० १ । १० । असुगत्वं प्रज्ञावत्त्वं चानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामा-
स्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्—निरु० १० । ३४ । क्षेप्ता । शूरः ।
व्यापकः । दीप्यामानः । ग्रहीता । प्राणदाता । प्रज्ञावान् । यद्वा, मेघवद् उदारः ।
वरुणविशेषणमेतत् (वि) विशेषेण (राजति) राज् दीप्ता । दीप्यते, ईष्टे
ईश्वरी भवति—निरु० २ । २१ (वशा) वशस्पृहि-अप्, टाप् । इच्छा, स्पृहा ।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रखें ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र
निचिकेषिं द्रुग्धम् । सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं
शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः । ते । राजन् । वरुण । अस्तु । मन्यवे । विश्वम् । हि ।
उग्र । नि-चिकेषिं । द्रुग्धम् । सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि ।
साकम् । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा,
(ते) तुझ (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) हेवे, (उग्र)
हे प्रचंड ! तू (विश्वम्) सब (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि)
सदा जानता है । [मैं] (सहस्रम्) सहस्र (अन्यान्) दूसरे जीवों को (साकम्)

(हि) अवश्यम् । यस्मात् (सत्या) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति
सत् + यत् टाप् । सद्भ्यो हिता, अविनथा (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । व्रियते
स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य (राज्ञः) राजति,
ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति
राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य (ब्रह्मणा)
१ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन (शाशदानः) शङ्ख शतने यङ्जुगन्ताद् छन्दसि
शानच् । शाशयमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । धिजयी (उग्रस्य)
ऋजोन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति उच्च समवाये-रक् । उच्यते क्रुधा सम्बध्यते ।
उरकटस्य, प्रचण्डस्य (मन्याः) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ०
३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृतौ च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्ति-
कर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २६ । क्रोधात् (उत् + नयामि)
उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२—(राजन्) म० १ । हे ऐश्वर्यवान् (वरुण) म० १ । हे परमेश्वर !
(मन्यवे) म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय (नि-चिकेषि) कि ज्ञाने—जट्,

एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूं, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदुवक्थानृतं जिह्या वृजिनं बहु ।

राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

यत् । उवक्थं । अनृतं । जिह्या । वृजिनम् । बहु ।

राज्ञः । त्वा । सत्य-धर्मणः । मुञ्चामि । वरुणात् । अहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हं आत्मा !] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्या) जिह्वा से (उवक्थं) तू बोला है । (अहम्) मैं (त्वा) तुझ को (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, (वरुणात्) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शयः श्लुः । त्वं नितरां जानासि (द्रुग्धम्) द्रुह जिघांसायाम्—भावे—क । द्रोहम्, अपराधम् (सहस्रम्) सहो बलमस्त्यस्मिन्, सहम् + रप्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम—निघ० ३ । १ । बहून्, अनेकान् (अन्यान्) माङ्गशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा (प्र + सुवामि) षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, ङित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं नयामि, उपकरोमि (साकम्) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति षो अन्तकर्मणि-कन् । सह, समम् (शतम्) बहुनाम, निघ० ३ । १ । वह्नीः (जीवाति) जीव प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । जीवेत् । (शरदः) श्रृद् भसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शृ हिंसायाम्—अदि । काला-ध्वनोरत्यसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मास-युक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—(यत्) वचनम् (उवक्थं) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लिट्, त्वम् उक्त-वानसि (अनृतम्) न ऋतम् । अत्ययं । मिथ्याभाषणम् (जिह्या)

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी हो कर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानुरादं ण्वा न्महत्स्परि ।

सुजातानुग्रहे वा वन्दु ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानुरात् । अण्वात् । महत् । परि ।

सुजातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अपं ।

चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (महत्) विशाल (अण्वात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ का (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर !] (सुजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आ वद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवाङ्गजिह्वाग्रीवाऽप्यामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जिज्ञये—वन, हुक् आ-
गमे निपातितः । जयति रसनया । रसनया (वृजिनम्) वृजैः किञ्च । उ० २ । ४७ ।
इति वृजी वर्जने—इत्, स च कित् । पापम् (बहु) अधिकम् (राज्ञः) म० १ । अथ-
क्षात् (त्वा) त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् (सत्य-धर्मणः) धर्मादिति क्वलात् ।
पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य+धर्म—अन्तिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात्
(मुञ्चामि) मुच्छ मोक्षे—लट् । मोचयामि, वियोजयामि (वरुणात्) म० १ ।
श्रेष्ठात् परमेश्वरात् (अहम्) उपासकः ॥

४—(परि+मुञ्चामि) म० ३ । सर्वथा मोचयामि (वैश्वानरात्)
नृ प्रापये—अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् ।
पा० ६ । ३ । १२६ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् ।
यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के वाप से मुक्त होते हैं । परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप्
६+१०+६+११=३६, २, ३ अतुष्टुप् ८×४, ४-६ पंक्तिः ८×५ ॥

सृष्टिविद्यावर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्सूतावर्युमा होता कृणीतु
वेधाः । सिस्त्रतां नार्युतप्रजाता वि पर्वाणि
जिहतां सूतवा उ' ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्युमा । होता ।
कृणीतु । वेधाः । सिस्त्रताम् । नारी । ऋत-प्रजाता । वि ।
पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । उं इति' ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि
वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः—निरु० ७ । २१।
सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् (अर्णवात्)
केशाद् वेऽन्तरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र । अर्णसालोपश्च । इति वार्ति-
कम् । अर्णस् + व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात्, समुद्र-
वद् गम्भीरस्वभावात् (महतः) वर्तमाने पृषद् बृहन्महज्जगच्छृत्वश्च । उ०
२ । ८४ । इति मह पूजायाम्—अति । बड्गात् । विशालात् (सजातान्) समान-
क्षमनः पुरुषान् (उग्र) म० १ । हे प्रचण्ड, महाकोधिन् वरुण ! (आ + वद्)
समन्तात् कथय, उपदिश (ब्रह्म) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् (अप)
आनन्दे—इति शब्दस्तोममहानिधौ (चिकीहि) म० २ । कि ज्ञाने—लोट ।
आर्नाहि ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) वह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतवै) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्याय कारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रखने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवती (नारी) नर का हित करने वाली स्त्री (सिन्नताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहाताम्) कोमल होजावे ॥ १ ॥

भावार्थ— प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनार्थ कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रखे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—(वषट्) वह प्राणो-उपटि । इति शब्दस्तोममहानिधौ । आहुतिः, हविर्दानम् । भक्तिः । स्वाहा (पूषन्) १ । ६ । १ । पुष्णातीति पूषा । हे सर्वपोषक, परमेश्वर (अस्मिन्) अस्मिन् काले, इदानीम् (सूतौ) बूढ़ प्राणिप्रसवे-क्तिन् । सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वार्त्तिकम्, पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयाथै सप्तमी । प्रसवकर्म, जन्म (अर्यमा) ऋ गतौ-यत् । अर्यः श्रेष्ठः । श्वनुत्तनपूषन् ० । उ० १ । १५६ । इति अर्य+मा माने-कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीति मानयतीति । अर्यमादित्याऽगीन् नियच्छति-निरु० ११ । २३ । यथार्थ-ज्ञाता, न्यायकारी (होता) नष्टुनेष्टृवष्टृ होत्रिति । उ० २ । ६६ । इति हु दानादानादानेषु । यद्वा ह्वेष् आह्वाने-तृन् । निस्वाद् आयुदासः । दाता । होम-कर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाता (कृणोतु) कृवि हिंसाकरणयोः—लोट् । भवान् पूषा उपकरोतु (वेधाः) विधाओ वेध च । उ० ४ । २२५ । वि+धाञ् धारण-पोषणदानेषु—असि, वेधादेशः । यद्वा विध विधाने-असुन् । विशेषेण दधा-तीति । ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता । मेधावी-निघ० ३ । १५ । विधाता, रचयिता (सिन्नताम्) सू गतौ—लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । अभ्यासस्य इत्थम् पुनरपि विकरणः शः । गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु (नारी) ऋताऽञ् । पा० ४ । ४ । ४६ । इति नृ नातौ-अञ् । नृणा-ति नयतीति नरः । नराञ्चेति वक्तव्यम् । तत्र वार्त्तिकम् । नर-अञ् । शाङ्गैर्वा-द्यो ङान् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् नुर्नरस्य वा धर्म्या नरधर्माचार-युक्ता । ओ, वधूः (ऋत-प्रजाता) अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उ॒त ।

दे॒वा गर्भं॑ समैर॒यन् तं व्यू॑र्णुवन्तु सू॒तवे ॥ २ ॥

चत॑स्रः । दि॒वः । प्र-दि॑शः । चत॑स्रः । भू॒म्याः । उ॒त । दे॒वाः ।
गर्भं॑म् । सम् । ऐ॒र॒यन् । तम् । वि । ऊ॒र्णुव॑न्तु । सू॒तवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः) आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप् । अतं मत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः । सत्य-प्रसवा, उचितसमयप्रमृता, जीवदपत्या (पर्वाणि) पर्व गतौ-कनिन् । यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृ पूत्तौ पालने च-वनिप् । शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः (वि+जिहताम्) ओहाङ् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहाट्यादिः । विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भवन्तु (सूतवै) तुमर्थे सेसेन्० पा० ३ । ४ । ६ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः । प्रसवार्थम् ॥

२—(चतस्रः) चित्रतुरोः स्त्रियां तिसृचतस्र् । पा० ७ । २ । ६६ । इति चतु-र्शब्दस्य जसि चतस्रादेशः । अचिर अतः । पा० ७ । २ । १०० । इति रेफादेशः । चतुः संख्याकाः (दिवः) १ । ११ । २ । आकाशस्य (प्र+दिशः)

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है । यजु-वेद १४ । २० में यह देवता कहे हैं ।

अग्निदेवता । वातो देवता । सूर्यो देवता । चन्द्रमा देवता ।
वसवो देवता । रुद्रो देवता । आदित्या देवता । मरुतो
देवता । विश्वे देवा देवता । बृहस्पतिदेवता । इन्द्रो
देवता । वरुणो देवता ॥

अग्नि १, वायु २, सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अन्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मार्गने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद बचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, पेश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं ॥

सुषा व्यू'र्णोतु वि योनि' हापयामसि ।

श्रुथया सूषणे त्वमव त्वं बि'ष्कले सृज ॥ ३ ॥

सुषा । वि । ऊर्णोतु । वि । योनि'म् । हापयामसि ।

श्रुथय । सुषणे । त्वम् । अव बि'ष्कले । सृज ॥ ३ ॥

१ । ६ । २ । प्रकृष्टा दिशः । प्राच्याद्याः प्रधानदिशः (भूम्याः) भुवः कित् ।
उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायां-मि । कृत्तिकागदितिनः । इति पक्षे ङीष् । पृथि-
व्याः, भूलोकस्य (देवाः) १ । ४ । ३ । दिव्यपदार्था अग्न्यादयः । विद्वांसश्च ।
(गर्भम्) अर्त्तिगृभ्णां भन् । उ० ४ । १५२ । इति गृ विज्ञापने, निगरणे च
भन् । गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिवलात् जठरगह्वरे
स्थाप्यते पुरुषशक्रयोगेण स गर्भः । भ्रूणम्, उदरस्थलन्तानम् (सम्) सम्यक्,
यथाविधि (पेरयन्) ईर गतौ लङ् । संगतमकुर्वन् (वि+ऊर्णुवन्तु)
ऊर्णुञ् आच्छादने-लोड् । विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु (सूतबे) तुमर्थे से सेन से० ।
पा० ३ । ४ । ६ । इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन् । निस्वात् आद्युदात्तः ।
प्रसवितुम् ॥

भाषार्थ—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यर्णेत्तु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हम प्रस्तुत करने हैं । (सूषणे) हे जन्म देने वाली माता ! (त्वम्) तू (अथय) प्रसन्न हो । (विष्कले) हे बीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [बालक को] उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रखें । माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है । प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रखें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और दृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

नेवं मांसे न पीवंसि नेवं मज्जस्वाहंतम् ।

अवैत्तु पृश्नि शेवंलं शुनें जुराय्वत्तवेऽवं जुरायु'

पद्यताम् ॥ ४ ॥

न-इंव । मांसे । न । पीवंसि । न-इंव । मज्ज-सु' । आ हंतम् ।
अवं । एतु । पृश्निं । शेवंलम् । शुनें । जुरायु' । अत्त'वे । अवं ।
जुरायु' । पद्यताम् ॥ ४ ॥

३—(सूषा) सूषति प्रसवताति । पूष, सूष वा प्रसवे—पच् . टाप् । सवित्री जननी, माता (वि + ऊर्णेत्तु) म० १ । अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु (योनिम्) वहिःश्रुयुदुःश्लाहात्वरिभ्यां नित् । उ० ४ । ५१ । इति यु विश्रगा मश्रगायोः—नि । योनिर्गृहनाम—निघ० ३ । ४ । गृहम् । प्रसूतिकागृहम् (वि + हापयामसि) ओ हाङ् गती—णिच् । अत्तिर्ही० । पा० ७ । ३ । ३६ । इति पुषागमः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इकारः । विहापयामः । विशेषेण गणयामः । प्रस्तुतं कुर्मः (अथय) अथ यत्ने प्रहर्षे च, सुरादिः । यतस्व । हृष्टा भव (सूषणे) संपदादिभ्यः क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति षूङ् प्रसवे—क्तिप् । सूः सवनम्, उत्पत्तिः । छन्दसि वनसनरत्तिमथाम् । पा० ३ । ३ । २७ इति सू + षण् दाने—इन् । सुवं सनोति ददातीति सूषाणि । तत्सम्बोधनम् । हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि ! (विष्कले) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः । टाप् । हे बीर, शूर । दर्शनीय (अव + सृज) उप-वर्गस्य व्यवधानम् । सृज विसर्गे । गर्भं बालकम् उत्पादय ॥

भावार्थ—[यह जरायु] (नेव) न तो (मांसं) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर का मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) दृष्टियों का मीग में (आहतम्) बंधी हुयी है । (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेता वा भिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अतवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जरायु एक भिल्ली होता है जिसे जेता वा जेरा कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिटा रहता है, कुछ उम में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे । यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाता है और मार गिरा होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में । शरीर में उम के रस जाने से रोग हो जाता है । इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नारोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

५—(न-इव) इव अवयाने । नैव (मांसं) मनेर्दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ । इति मन ज्ञान धृतो च सप्रत्ययः, दीर्घश्च । रक्तजयातुविशेषे (न) निषेधे (पीवसि) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीव स्थान्त्ये-असुन् । जित्यादिर्नित्यम् । पा० ५ । १ । १६७ । इति नित्वाद् आद्युदात्तः । स्थूलत्वे (मज्जसु) श्वनुत्तन पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति मस्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च । अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु (आ-हतम्) आङ्+हन बधे गतौ च—क । संबद्धम् (अव) अवाक्, अधस्तात् (एतु) गच्छतु, पततु (पृश्नि) घृणि-पृश्नीति । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश स्पर्शे-नि, सलोपः । स्खलपम् (शेवलम्) शौंङो धुकलक् चलञ् वालनः । उ० ४ । ३८ । इति शौङ् शयन-वालन्, ह्रस्वो वा, निच्वाद् आद्युदात्तः । जलस्यापरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा । तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु (शुने) श्वनुत्तनपूषन् । उ० १ । १५६ । इति श्व गतौ-कनिन् । कुक्कुराय (जरायु) किञ्जल्याः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-अण् । गर्भं वेष्टनचर्मं । उत्पम् । मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निःसरति (अतवे) तुमर्थे संसेन्० । पा० ३ । ४ । ६ । इति अद् भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः । भक्षितुम् (पद्यताम्) पद गतौ दिवादित्वात् श्यन् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गुवनिंके ।

वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणां जरायुं

पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिन्द्मि । मेहनम् । वि । योनिम् । वि । गुवीनिंके
इति । वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । कुमारम् । जरा-
युणा । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (यो-
निम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गुवीनिंके) पार्श्वस्थ दोनों नाडियों
को (वि) विशेष कर के (भिन्द्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्)
माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा)
जरायु से (वि वि) अलग अलग [करती हूं], (जरायु) जरायु (अव) नीचे
(पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में धात्रेयी [धात्री] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता
को उत्साहित करती है, अर्थात् धात्री बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता
के अंगों का आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—(वि + भिन्द्मि) भिद्भिर् विशेषकरणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक्
करोमि, विश्लेषयामि (मेहनम्) १ । ३ । ७ । गर्भमार्गम् । वि = विभिन्द्मि ।
एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् (योनिम्) म० ३ । गर्भाशयम् ।
(गुवीनिंके) १ । ३ । ६ । पार्श्ववर्तिन्यो नाड्यौ (मातरम्) १ । २ । १ । मान्यते
पूज्यते सा माता । जननीम् (पुत्रम्) पुत्रो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । इति पूज्
शोधे क् । ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रादीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुषायतं निपर-
णाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—इति यास्कः, निरु० २ । ११ । पुरु + ऋङ् रक्त-
णे—ड । यद्वा, पुत् ऋङ्—ड । यथा च रामयणे । २ । १०७ । १२ । पुत्राप्तो
नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितृन् यः पाति
सर्वतः ॥ अपत्यन् । सन्तानम् (कुमारम्) कुमार क्रीडने—अच् । क्रीडा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रखने और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।

एवा त्वं दशमास्य साकं जरायु'णा पुतावं जरायु'
पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः ।
एव । त्वम् । दश-मास्यु । साकम् । जरायु'णा । पुतु । अवं ।
जरायु' । पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलने हैं । (एव) वैसे ही (दशमास्य) हे दश महीने वाले [गर्भ के बालक !] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (अवं) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥ ६ ॥

शालम् । शिशुम् (जरायुणा) म० ४ । गर्भवेष्टनचर्मणा । अन्यत् गतम्—म० ४ ।

६—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) हसिमृगिण् वा० । उ० ३ । २६ ।
इति वा सुखाप्तिगतिसेवासु-तन् । निस्वाद् आद्युदात्तः । वायुः, पवनः
(मनः) १ । १ । २ । ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम् (पतन्ति) शीघ्रं गच्छन्ति
उड्डीयन्ते (पक्षिणः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इनि ।
विहगाः (एव) निपातस्य च । पा० । ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा
(दश-मास्य) तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।

एवा त्वं दग्मास्य सुहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसी ही तू है दस महीने जाने [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अश्रमे मामि याते च अग्नियोगः प्रवर्तते ।

मास तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमामि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास करने के कारण उस को वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्वितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो (साकम्) सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १६ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया (पत) अधो गच्छ (अथ) इत्यादि गतं म० ४ ।

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रागनिवृत्तिः । १-३ त्रिष्टुप् ११ × ४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४ रागनिवृत्तिः—१, २ ईश्वर के गुण और ३, ४ राग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उन्नियो वृषा वार्तभ्रजा स्तनय-
न्नेति वृद्ध्या । स नो मृडाति तुन्वं ऋजुगो रुजन्
य एकमोजंस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उन्नियः । वृषा । वार्त-भ्रजाः । स्तनयन् ।
एति । वृद्ध्या । सः । नुः । मृडाति । तुन्वे । ऋजु-गः ।
रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरायुजः) भिक्षी से [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहले से वर्तमान, (उन्नियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वार्तभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघ रूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृद्ध्या) बरसा के साथ (एति) चलता रहता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को]

१—(जरायुजः) पञ्चम्यामजानौ । पा० ३ । २ । ६८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः—ङ । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्प्रादयति सः । जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता (प्रथमः) प्रथेःरन्च् । उ० ५ । ६८ । इति

मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (मृडाति) सुख देवे, (घः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही (उस्त्रियः) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर (वानभ्रजाः) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालेश और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथं ख्यातौ—अमच् । आदिमः, जगतः पूर्व वर्तमानः (उस्त्रियः) स्फायितश्चि० । उ० २ । १३ । इति वम निवासे—रक् । वमत्येषु सूर्यादिपरतेजः, वमन्त्येषु रसाः इति उस्त्राः किरणाः, ततो मत्वर्याया घः । रश्मिवान्, हिरण्यगर्भः । पर-मेश्वरः (वृषा) कनिन् युवृषितत्ति० । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजन-श्रयोः—कनिन् । तित्वाद् आद्युरात्तः । वर्षः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्द् वर्तमानः (वानभ्रजाः) वान+भ्रज पाके वा भ्राज दाप्तौ—असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः (स्तनयन्) स्तन देव-शब्दे, चुरादिः—शतृ । गर्जयन् (पति) गच्छति (वृष्या) वृषु सेचने—किन् । वर्षणेन (मृडाति) मृड सुखने—लेट्, आडागमः । सुखयेत् (तन्वे) १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय (ऋजुगः) ऋजु+गम्ल-ड । सरलगामी (रुजन्) रुजो भङ्गे, तुदादिः—शतृ । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् (एकम्) इण् भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ—कन् । पति सर्वं व्यापेतातीति एकः । मुख्यम्, केवलम् (ओजः) उब्जेर्बले यलोपश्च । उ० ४ । १६२ । इति उब्ज आर्जवे-असुन् । बलम्, तेजः (त्रेधा) संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण, भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन (वि-चक्रमे) क्रमु पादविक्षेपे—लेट्, वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३ । ४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रै' भुतस्य जातः पतिरेकं
आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥

(हिरण्यगर्भ) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक
वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था । उस ने इस पृथिवी और
प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर
की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो—ऋ० १ । २२ । १७ ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुरे ॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्] में अनेक अनेक प्रकार से
पद को बढ़ाया, उस ने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं
से युक्त [संसार] में जमाया ॥

सायणभाष्य में (वातप्रजाः) के स्थान में (वातव्रजाः) शब्द और अर्थ
“वायु समान शीघ्रगामी” है ॥

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणां नमस्यन्तस्त्वा हविषा
विधेम । अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत्
पर्वस्या ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गे-अङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा ।
हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम-अङ्कान् । हविषा । विधेम ।
यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्य । ग्रभीता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्क अङ्क में

२—(अङ्गे-अङ्गे) अङ्क चिन्हकरणे-अच् । नित्यवीत्सयोः । पा० ८ । १ । ४

(शिश्नियानम्) ठहरे हुये (त्वा) तुझ को (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुये हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उस के] (अङ्गान्) पृथक् पृथक् चिन्हों को और (समङ्गान्) मिले हुये चिन्हों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराधें, (यः) जिस (प्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह (वृषा-म० १) परमात्मा हमारे और सब व्यस्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें। वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११६ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु (शोचिषा) अर्चिशुचिदुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे = शुद्धौ-इति । दोष्या, प्रकाशेन (शिश्नियानम्) क्षिप्तः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । शिञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्रुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इत्यङादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आभितम्, परिपूर्णम् (नमस्यन्तः) नमोवरिवश्चित्रिङः क्यच् । पा० ३ । १ । १९ । इति नमस्-क्यच् पूजायाम्, लटः शट् । पूजयन्तः (त्वा) त्वां वृषाणम् । (हविषा) १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या (विधेम) विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवे-महि (अङ्गान्) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः-कर्तरि घञ् । चजोः कुघ्रिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्जन-शीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् व्याप्तान् गुणान् (सम-अङ्गान्) सम्भूय यमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् (अग्रभीत्) ग्रह उपादाने-लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् (पर्व) स्नामदिपद्यत्तिपृशकि-भ्यां घनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृ पालने, पूर्तौ-घनिप् । प्रत्येकावयवम् । (प्रभीता) ग्रह उपादाने-लृच् । हस्य भः । ग्रहीता, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षक्या उत कास एनं परुषपरुषाविवे-
शा यो अस्य । यो अत्रजा वातजा यश्च शुष्मो
वनस्पतीन्सचतुं पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षक्याः । उत । कासः । एनम् । परुः-परुः । आ-
विवेशं । यः । अस्य । यः । अत्र-जाः । वात-जाः । यः । च ।
शुष्मः । वनस्पतीन् । सचतुम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

भावार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षक्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और
[उस खांसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खांसी ने (अस्य) इस पुरुष के
(परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है। (यः) जो खांसी (अत्रजाः)
मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी
[हावे और जा] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सच-
तुम्) संबंध वाला हावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खांसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है “लड़ाई का
घर हांसी और रोग का घर खांसी” । जैसे सर्व्वेद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—(मुञ्च) मुञ्च मोक्षणे । मोचय (शीर्षक्याः) शीर्ष + अञ्चु गतिपूज-
नयोः-क्तिन् । शीर्ष शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शार्शक्तिः, तस्याः शिरः-
पीडायाः सकाशात् (उत) अपि च (कासः) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ ।
इति कासु शब्दकुत्सनयोः—घञ् । रोगविशेषः । कासी वा खांसी
इति भाषा । क्षयथुः (परुः-परुः) अर्त्तिपृथपियजि० । उ० २ । ११७ ।
इति प पूर्तिपालनयोः—उसि । सर्वान् शरीरसन्धीन् (आ-विवेश) विश
प्रवेशने-लिट् । छान्दसो दीर्घः । प्रविष्टवान् (अत्रजाः) अप् + भृ-क्त । अपो
बिभर्त्तीति अर्घं मेघः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इतिअत्र +
जनी प्रादुर्भावे-विट् । विद्ध्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् ।
मेघस्य सम्बन्धाज्जातः (वातजाः) पूर्ववत् । वात + जनी-विट् । वायोर्जात
उत्पन्नः कासः (शुष्मः) अविंसविशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति

की पीड़ा और खांसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से लुटा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है । इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबन्ध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।

शं मे चतुर्भ्यः अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे ३' मम ॥४॥

शम् । मे । परस्मै । गात्राय । शम् । अस्तु । अवराय । मे ।

शम् । मे । चतुःभ्यः । अङ्गेभ्यः । शम् । अस्तु तन्वे । मम ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के [शरीर के] लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे । (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे—मन् स च कित् । शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः (वनस्प-
तीन्) १ । ३५ । ३ । वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः । वनति संवते अथवा
वन्यते संव्यते इति वनम् । वन संवने, याचने, उपकारे—अच् । पारस्करप्रभृतीनि
च संज्ञायाम् । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुडागमः । सर्ववृक्षान् (सचताम्)
षच समवाये—लोट् । सचन्ताम् = संसेव्यन्ताम्—निरु० ६ । ३३ । समवैतु, सम्ब-
धातु (पर्वतान्) भृमृद्भृशियाजिपर्विपचि । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे—
अतच् । शैलान् ॥

४—(परस्मै) १ । ८ । ३ । श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय (गात्राय) गमेराच । उ०
४ । १६६ । इति गम्ल-त्रन्, मस्य आकारः । गच्छति चेष्टतेऽनेन । अङ्गाय, शरी-
राय (अवराय) १ । ८ । ३ । निकृष्टाय, अवस्माद् वर्तमानाय (चतुःभ्यः)
चतुःसंख्येभ्यः । द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ—इति चत्वारि तेभ्यः (अङ्गेभ्यः) अङ्ग पदे =
गतौ—अच् । अङ्गयति चेष्टतेऽनेन । अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः (तन्वे) म० १ ।
शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग देा हाथ और देा पद हैं । मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रखे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ नुअष्टुप्,
३, ४ जगती १२ × ४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्वे ।

नमस्ते अस्त्वश्मने येना दुडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

नमः । ते । अस्तु । वि-द्युते । नमः । ते । स्तनयित्वे ।

नमः । ते । अस्तु । अश्मने । येन । दुः-दाशे । अस्यसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तुझ (विद्युते) कौंधा लेती हुयी, बिजुली समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे । (ते) तुझ (स्तनयित्वे) गड़-गड़ाते हुये, बादलसमान को (नमः) नमस्कार होवे । (ते) तुझ (अश्मने) पाषाण समान को (नमः) नमस्कार (अ तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दुडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू ढा देता है ॥ १ ॥

१—(विद्युते) आजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि + द्युत दीप्तौ—किप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रपाय । (स्तनयित्वे) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्त्वात् । उ० ३ । २६ । इति स्तन देवशब्दे—इत्त्वात् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः । अयाम-न्तात्वाय्येत्स्विष्णुषु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय (अश्मने) अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अश्रु व्याप्तिसंहृत्योः—मनिन् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय (दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अथर्वी पापियों को आधि-
दैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इस लिये सब मनुष्य
उस के कंठ से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भागें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतुस्तपः समूहंसि ।

मुडया नस्तु नूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्र-वतुः । नपात् । यतः । तपः । समू-ऊहंसि ।

मुडयं । नुः । तुनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ
को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को
(समूहंसि) संयुक्त करता है । (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये
(मुडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख
(कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे) दुर्+दाष्ट दाने-घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ ।
३ । १०६ । अत्र । दुरो दाशनाशश्मध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । इति वार्त्ति-
केन ऊत्वं डत्वं च । दुर् दुःखं दाशति ददातीति दूडाशः । सुपां सुपो भवन्ति ।
वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं
पुरुषम् (अस्यसि) असु क्षेपणे—श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—(प्रवतः) प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ = संवने, याचे च-किप् । गमः कौ ।
पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः ।
ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य संव-
कस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे (नपात्) नञ् पूर्वकात् पत
अधःपतने, णिच्-किप् । नभ्राण् नपात् ० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः
प्रकृतिभाषः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशां ! धारयितः ।
(नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पाता धर्मात् पतनं यस्य सः—इति भीमद्व-
यानन्दः (यनः) यस्मात् कारणात् (तपः) सर्वधातुभ्योऽस्तुन् । उ० ४ ।
१८६ । इति तप सन्तापे—अस्तुन् । सन्तापम् (समू + ऊहंसि) ऊहं वितर्कं ।

भावार्थ—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है ।
सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रवतो नृपान् नमं एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये
तपुषे च कृणुमः । विद्म ते धाम परमं गुहायत् समुद्रे
अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

प्र-वतः । नृपात् । नमः । एव । अस्तु । तुभ्यम् । नमः । ते ।
हेतये । तपुषे । च । कृणुमः । विद्म । ते । धाम । परमम् ।
गुहा । यत् । समुद्रे । अन्तः । नि-हि'ता । असि । नाभिः ॥ ३॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नृपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्)
तुझ को (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र
समान को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोप आदि अस्त्रसमान को (नमः) नमस्कार
(कृणुमः) हम करते हैं । (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊँचे (धाम)
धाम [निवास] को (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक
अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं । (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संग्रीकरणे । संहते कराणि, संयोजयणि (मृडय) मृड तोषणे ।
तोषय, अनुगृहाण (तनूभ्यः) १ । २ । १ । शरीरेभ्यः । तेषां हिताय (मयः)
मिष्ट हिंसायाम्-असुन् । मिनेति दुःखम् । सुखम् । निघ० ३ । ६ (तोकेभ्यः)
कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । इति तु वृद्धौ पूर्वौ-क प्रत्ययः । तौति
पूरयति गृहमिति तोकम् । अपत्यनाम-निघ० । २ । २ । अपत्येभ्यः (कृधि) कुरु ।
देहि (ताकेभ्यस्कृधि) कः । करत्करतिकृधितेष्वनदितेः । पा० ८ । ३ ।
५० । इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

३—(प्र-वतः नृपात्) म० २ । हे स्वभक्तस्य न पातयितः (हेतये)
ऊतियूतिज्जुनिहेतिकीर्तयश्च । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन वधे गतौ च
किन् । एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्येते । यद्वा हि वधने गतौ च—किन् निपाति-
तश्च । हन्यन्तेऽनया शब्दः । गम्यतेऽनया जयः, वर्ज्यते वैश्वर्यम् । हेतिः, वज्र-

(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस भक्त रत्नक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्त्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है । जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तर्गत् वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य आदि लाकों का धारण करने वाला केन्द्र है । विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्तु विश्व इषु कृण्वाना असंनाय
धुणुम् । सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो
अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम-निघ० ३ । २० । वज्राय, वज्ररूपाय (तपुषे) अर्त्तिपृवपियजितनिधनि-
तपिभ्यो-निन् । उ० २ । ११७ । इति तप ऐश्वर्यमन्तापदाहेषु-उसि । दाहकाय
अस्त्राय, तद्रूपाय (कृणुः) कृवि हिंसाकरणयोः—लट् । वयं कुर्मः (विद्म) विदो
लटो वा । पा० ३ । ४ । ८३ । इति विद ज्ञाने, मसो मादेशः । विद्मः । वयं जानीमः ।
(धाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धा-मनिन् । स्थानम्,
गृहम् । प्रभावम् (परमम्) आतोऽनुपसर्गं कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर+
मा माने—क । उत्कृष्टम् (गुहा) १ । ८ । ४ । सप्तम्या लुक् । गुहायाम्, गर्ते
हृदये । गुहायद् अगम्ये प्रदेशे (यत्) यस्मात् कारणात् (समुद्रे) १ । ३ । ८ ।
अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ-डप्रत्ययः,
यद्वा, स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । सम्+मुद हर्षे—अधिकरणे रक् ।
यद्वा, सम्+उन्दी त्क्लेदने-रक् । सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे-निघ० १ । ३ (अन्तः)
मध्ये (नि-हिता) दधातेर्हिः । पा० ७ । ४ । ४२ । इति नि पूर्वात् धाञः—क्त,
हितादेशः । स्थापिता (नाभिः) नहो भक्ष । उ० ४ । १२६ । इति णह बन्धने-
इञ् प्रत्ययः डिनग्यादिर्णित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । नह्यति
बध्नाति नाडीः । आलिङ्गता । तुन्दकूपी । नाभिचक्रवत् प्रथस्यः ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृण्वानाः ।
असनाय । धृष्णुम् । सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै ।
ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ [परमेश्वर] को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बना कर (असृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [दिव्य बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ ४ ॥

यजुर्वेद में लिखा है—यजु० १६ । ३ ॥

यामिषु' गिरिशन्तु हस्ते' विभर्ष्यस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु माहि'धंसीः पुरुषं जगत् ॥ १ ॥

४—(त्वा) प्रवृत्ता नपातम्, म० ३ (देवाः) विद्वान्सः (असृजन्त) सृज विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः (इषुम्) ईषेः कृष्ण । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने—उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ—उ । वाणम् । शक्तिनामायुधम् (कृण्वानाः) कृवि हिंसाकरणयोः—शानच् । कुर्वाणाः (असनाय) असु क्षेपणे—भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय (धृष्णुम्) असिमृधिमृषिपक्षिणेः क्तुः । पा० ३ । २ । १४० । इति अिधृषा प्रागल्भ्ये—क्तु । प्रगल्भाम्, निर्मयाम् सुदृढाम् (मृड) मृडय, सुखय (विदथे) रुचिदिभ्यां क्ति । उ० ३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्वत् लामे विद विचारणे, विद सत्तायाम्—अथ—प्रत्ययः । स च क्ति । विदथः, यज्ञनाम—निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि (गृणाना) गृ शब्दे—शानच् । शब्दायमाना, उपदिशन्ती (देवि) हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्ते ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बरछी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है । हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।

महाबुध इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वस्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव ।

स्रजम् । महाबुधः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैं ने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को । (महाबुधः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—यह वर का वचन है । विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुणवती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है । वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—(भगम्) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कुघ्रिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः, धननाम निघ० २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम्, कीर्त्तिम् (अस्याः) नवोढायाः स्त्रियाः सकाशात् (वर्चः) १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः (आ+अदिषि) आङ् पूर्वकात् ङुदाञ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढचित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्षी नेत्र जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २-४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कुन्या वधूर्नि धूयतां यम ।

सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कुन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम् । सा ।
मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति ।
पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कुन्या) कामना योग्य कुन्या (ते) तेरी (वधूः) बधू (नि) नियम से (धूयताम्) व्यवहार करे । (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (बध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

(वृत्तात् इव) १ । २ । ३ । इगुपधक्षाप्रीकिङ् । पा० ३ । १ । १३५ ।
इति वृत्त वर्ण-क । वृद्धयन् व्रियते संव्यते ल्यायाफलात्थम् । विटपान् यथा ।
(स्रजम्) ऋत्विग्दधृक्स्त्रिदिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति सृज विस्र्गे-
किन् । सृजति ददाति शोभामिति स्त्रक् । पुष्पमालाम् (महाबुधः) बन्धे-
र्ग्रन्थिबुधौ च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक् । बुधादेशश्च । विशालमूलः,
दृढमूलः (पर्वतः) १ । १२ । ३ । शैलः । भूधरः (उयाक्) १ । ६ । २ । चिर-
कालम् (पितृषु) १ । २ । १ । रत्नकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु
बन्धुषु (आस्ताम्) आस उपवेशने-लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—(राजन्) १ । १० । १ । हे ऐश्वर्यवान् जामातः (कुन्या) अन्या-
दयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कनप्रीती, द्युती, गती, -यक्, टाप् च । कन्यते काम्यते
दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री (वधूः) वहर्धश्च । उ० १ । ८३ ।
वह प्रापणे—ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखमतीति । यद्वा । बन्ध—ऊ,

भावार्थ—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को लौंगी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रखे और सुख भागे ॥ २ ॥

मनु जी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लोक २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बाली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ॥ १ ॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे ॥

नलोपः । बध्नाति प्रेम्णा या नवोढा स्त्री, भार्या (नि) नितराम्, नियमेन (धूयताम्) धूञ् कम्पने—कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् (यम) यम नियमने—अब् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीनि । यमा यच्छ्रुतीति सतः, मध्यस्थानदेवतासु—निरु० १० । १६ । द्युस्थानः—निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक वर ! (मातुः) १ । २ । १ । तव जनन्याः (बध्यताम्) बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमबद्धा भवतु (गृहे) गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने—क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे (अथो) अथ + उ । अपि च (भ्रातुः) नष्टनेष्टृत्वद्दोहोत् । उ० २ । ६५ । इति भ्राज दीप्तौ—तृन् । सहो-द्वरस्य (पितुः) म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामुं ते परि' दद्मसि ।

ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

एषा । ते । कुल-पाः । राजन् । ताम् । ऊं इति । ते । परि' ।
दद्मसि । ज्योक् । पितृषु' । आसातै । आ । शीर्णः । सम-
ओप्यात् ॥३॥

भावार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः)
कुल की रक्षा करने वाली है, (ताम्) उस को (उ) ही (ते) तेरे लिये (परि)
आदर से (दद्मसि) हम दान करते हैं । यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु)
तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आ शीर्णः) अपने
मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुँच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक
बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता
की विनती करते और आ धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम
में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—(कुलपाः) कुल + पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः । पातिवृत्येन
कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री (राजन्) हे पंश्वर्यवन् जामातः (ऊं इति)
अवश्यम् (परि + दद्मसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस
इदन्तत्वम् । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दद्मः, समर्पयामः (ज्योक्)
म० १ । दीर्घकालम् (पितृषु) म० १ । मातापित्रादिवन्धुषु (आसातै)
आस उपवेशने—लेटि आडागमः । टैः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ६६ ।
इति ऐकारः । आस्ताम्, निवसतु (आ-शीर्णः) १ । ७ । ७ । आङ् मर्या-
दावचने । पा० १ । ४ । ८६ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पञ्चम्यपाङ्-
परिमिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० ।
इति शिरः शब्दश्च शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्यन्तम्
(सम-ओप्यात्) सम + आ + उप्यात् । वष बीजवपने मुण्डने च—आशी-
लिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।

अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।

अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [सोम] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूँ । (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिने] (अन्तःकोशम्) मञ्जूषा वा पिटारं को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धश्चिष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४-(असितस्य) अञ्चिष्टुप्सिन्धुः कः । ३० ३ । ८६ । इति पिञ् बन्धने-क, नञ्ममासः । अबद्धस्य, मुक्तस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदज्ञानकारणेन (कश्यपस्य) कश्च शब्दे—बाहुलकात् करणे—यत् । कश्चि अनेनेति कश्यं सुख-करो रसः । कश्य+पा पाने—क । कश्यं सोमरसं पिबतीति कश्यपः । सोमपानशौलस्य (गयस्य) गै गाने—ग्रञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गयस्य कीर्तनीयस्य (अन्तःकोशम्)—अन्तः+कुश संश्लेषणे—अधिकरणे घञ् । वस्त्रादि-धारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् (जामयः) १ । ४ । १ । कुलस्त्रियाः, माता-भगिन्यादयः (अपि) अवधारणे, अवश्वम् (नह्यामि) एव बन्धने श्यन् । बध्नामि (भगम्) म० १ ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः । इमं
यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥
सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ।
इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्त्राव्येण ।
हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल
(स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी
(सम् सम्) बहुत अनुकूल [बहें] (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्)
इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार का (जुषन्ताम्) स्वाकार करें, (संस्त्राव्येण)
बहुत आर्द्रभाव [कामलता] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनके]
(जुहोमि) मैं स्वाकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों का योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयाना को, विमान
आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—(सम् सम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—तिरु० १० । ४२ । अत्यन्त-
सम्यक्, अत्यनुकूलाः (स्रवन्तु) खु गतौ, स्रवणे च-लोद् । गच्छन्तु, प्रव-
हन्तु (सिन्धवः) १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीताः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः
(सम्=स्रवन्तु) उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः
प्रवर्तन्ताम् (वाताः) १ । ११ । ६ । विविधपवनाः (सम्) सम्यग् अनुकू-
लाश्चरन्तु (पतत्रिणः) पतत्रं पक्षः । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ ।
इति पतत्र-इति मत्वर्थे । पक्षिणः (इमम्) प्रवृत्तमानम् (यज्ञम्) १ । ६ ।
४ । यागं विदुषां पूजतम् (प्र-दिवः) प्र+दिबु द्युतिस्तुतिगरयादिषु-किप् ।
प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वान्सः (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोद् ।
सेवन्ताम्, स्वीकुर्यन्तु (सम्-स्त्राव्येण) खु गतौ-ण । तस्येदम् । पा० ४ ।

पत्नी आदि सब जीवों को अनुकूल रखें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लें । और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रखें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्त्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।

इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रुयिः ॥ २ ॥

इह । एव । हवम् । आ । यात । मे । इह । सम-स्त्रावणाः ।

उत । इमम् । वर्धयतु । गिरः । इह । आ । एतु । सर्वः । यः ।

पशुः । अस्मिन् । तिष्ठतु । या । रुयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्त्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाव वाले [बड़े कोमल स्वभाव वाले] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो ! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आ यात) तुम पहुंचो, (उत) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे और (या रुयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (तिष्ठतु) ठहरा रहे ॥ २ ॥

३ । १२० । इति संस्त्राव-यत् । यद्वा । अचो यत् । पा० । ३ । १ । ६७ । इति सम् + स्त्रु-णिच्-यत् । संस्त्रावेण सम्यक् स्वयणेन आर्द्रभावेन युक्तं (हविषा) १ । ४ । ३ । आत्मदानेन, भक्त्या (जुहोमि) इह दानादानादनेषु-लट् । अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—(हवम्) भावेऽनुपसर्गस्य । पा ३ । ३ । ७५ । इति ह्वेष् आह्वाने, स्पर्धे च—अप् । आह्वानम्, आवाहनम् (आ + यात) या गतौ-लोट् । आगच्छत (इह) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव यक्ते (सम्-स्त्रावणाः) स्त्रु स्वयणे गतौ-णिचि-ल्युट् । युवारनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अन आदेशः । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । हे संस्त्रावेण सम्यक् स्वयणेन, अत्यार्द्रभावेन युक्ताः (इमम्) उपस्थितं माम् (वर्धयत) वृधु वृद्धौ णिचि लोट्, कृन्दसि दीर्घः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इस से मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू० ३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है ॥ १ ॥

ये नुदीनीं संस्त्रवन्त्युत्सासः सदमन्त्रिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रायामसि ॥ ३ ॥

ये । नुदीनीम् । सुम्-स्त्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अन्त्रिताः ।

तेभिः । मे । सर्वैः । सुम्-स्त्रावैः । धनम् । सम् । स्त्रायामसि ॥३॥

भाषार्थ—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अन्त्रिताः) अक्षय (उत्सासः) सोने (सदम्) सर्वदा (संस्त्रवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्त्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्त्रायामसि) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्धयत (गिरः) गृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३।५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३।१४ । गृ शब्दे—कर्मणि क्तिप् । गीर्यन्ते स्तूयन्ते इति गिरः । हे अर्चनीयाः; स्तुत्याः पुरुषाः (आ+एतु) आगच्छतु (पशुः) अर्जिदृशिकर्म्यमि० । उ० १।२७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यते—निरु० ३।१६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा १ गवाश्वगजादिरूपः (अस्मिन्) मयि, मदीये आत्मनि (तिष्ठतु) निवसतु (रयिः) अत्र इः । उ० ४।१३६ । इति रीङ् गतौ-इ प्रत्ययः, गुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः-इप्रत्ययः, युगागमो धातो-ह्रस्वश्च । धनम् ॥ २ ॥

३—(नदीनाम्) १।८।१ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् (सुम्-स्त्रवन्ति) सम्भूय प्रवहन्ति (उत्सासः) उन्दिगुधिकषिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उप-
कारिणा नदियें बनती हैं जो ग्रीष्म ऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम
सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल,
पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षय धन बढ़ावें । और उसे उत्तम
कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्त्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।

तेभिर्मे सवैः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रायामसि ॥ ४ ॥

ये । सर्पिषः । सम्-स्त्रवन्ति । क्षीरस्य । च । उदकस्य । च ।

तेभिः । मे । सवैः । सम्-स्त्रावैः । धनम् । सम् । स्त्रायामसि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और
(उदकस्य) जल की (ये) जो आगयें (संस्त्रवन्ति) मिलकर यह चलती हैं ।
(तैः सवैः) उन सब (संस्त्रावैः) आगयों के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को
(सम्) उत्तम रीति से (स्त्रायामसि) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आउजसंरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० ।
इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम—निघ० ३ । २३ । जलस्त्रवणस्था-
नानि, स्त्रोतांसि (सदम्) सर्वदा, ग्रीष्मादावपि (अक्षिताः) क्षि क्षये—क्त ।
अक्षीणाः (तेभिः) बहुलं ब्रुन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति मिस ऐसभावः ।
तैः (मे) मम=अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने (सम्-स्त्रावैः) श्याऽद्वय-
धास्तु संस्त्रवतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+स्त्रु स्त्रवणे—ण प्रत्ययः । अचो
ङिणति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः (धनम्) धन धान्ये—अच्
यद्वा, कृपवृजिमन्दिनिधाअः कयुः । उ० २ । ८१ । इति दुधाञ् धारणपोषणयोः
कयु । वित्तम्, सम्पदम् (स्त्रायामसि) स्त्रु स्त्रवणे—णिचि लट्, इदन्तो
मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्त्रायामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—(ये) संस्त्रावाः प्रवाहाः (सर्पिषः) अचिंशुचिदुसृपि० । उ० २ ।
१०८ । इति सृप गतौ=सर्पणे—इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य
(क्षीरस्य) घसं किञ्च । उ० ४ । ३४ । इति घस=अद भक्षणं—ईरन्, उपधातोपे
कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य (उदकस्य)—उदकं च । उ० । २ । ३६ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३-४ सीरुं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां ३ रात्रिमुदस्थुर्ब्राजमुत्त्रिणः ।

अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्युमधिं ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उत-अस्थुः । ब्राजम् ।
उत्त्रिणः । अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् ।
अधिं । ब्रवत् ॥ १ ॥

भाषा—(ये) वे जो (अत्रिणः) उदर पोषक [खाऊ लोग] (अमावा-स्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने वाली रात्रि को (ब्राजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं । (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने वाला (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने-क्वुन् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—(अमा-वास्याम्) अमा+वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासे यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमा-वस्यायां रात्रौ, महान्धकारे (रात्रिम्) राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानप्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति भ्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भावार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसायाध्याहु वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं मु इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आहु । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति । सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आहु) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, विजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) समीप रह कर (अवति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझ को (प्र-अयच्छत्) दिया है, (अङ्ग) हे भाई (तन्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़नाशक है ॥ २ ॥

संयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले (उत-अस्थुः) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः (व्राजम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति वृज-अण् समूहः, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् । अथवा । क्रिया विशेषणम् । वृजः=समूहः-अण् । अतिसमूहेन (अत्रिणः) १ । ७ । ३ । अदनश्रालाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः (अग्निः) १ । ६ । २ । अग्नियत् तेजस्वी राजा (तुरीयः) तुरो वेगः । यच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति तुर-छुः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् (यातुहा) कुवापा-जिमि० । उ० १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः-किप् । राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः (अधि) अधिकृत्य, स्वामित्वेन (अवत्) ब्रून् व्यक्तायां वाचि-लेट् । ब्रूयात् ॥

२—(सीसाय) पिञ् बन्धने-किप् + षो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक् लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं । वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—(सीस) शब्द का धात्वर्थ [पिञ् बांधना—किप् + पो नाश करना—कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है । लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं । सायण भाष्य में (सीस) का अर्थ “नदी के फेन आदि रूप द्रव्य” और त्रिफुक्थि साहिब ने (lead) सीसा धातु विशेष किया है ॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः ।

अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः ॥ ३ ॥

इदम् । वि-स्कन्धम् । सह ते । इदम् । बाधते । अत्त्रिणः ।
अनेन । विश्वा । ससहे । या । जातानि । पिशाच्याः ॥३॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है । और (इदम्) यह (अत्त्रिणः) उदर पोषक ग्याउओं को (बाधते) हटाता है । (अनेन) इस से (विश्वा = विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय । ब्रह्मज्ञानप्राप्तये (अधि) अधिकारेण (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रवीति (वरुणः) १ । ३ । ३ । वरुणीयं समुद्रादि-जलम् (अग्निः) १ । ६ । २ । व्यापकः । सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः (उप) उपेत्य (अवति) रक्षति । व्याप्नोति (इन्द्रः) १ । २ । ३ । महाप्रतापी पर-मेश्वरः (प्र-अयच्छत्) पाप्माधमास्थाम्नादाण्० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने—यच्छादेशः—लङ् । प्रादात् (तत्) निर्दिष्टं सीसम् (अङ्ग) सम्बोधने । हे सखे (यातु-चातनम्) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । यत् ताडने—उण् । चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । पीडानाशकम् । राक्षसनाशकम् ॥

३—(इदम्) सीसम् (विष्कन्धम्) वि विकारे + स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—अच । दस्य धः । वेः स्कन्देरनिष्ठाशम् । पा० ८ । ३ । ७३ । इति षत्वम् यद्वा,

जीतता हूं (या = यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने हारी [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्रूरों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है—योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि नुं गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसौ अवीरहा ॥ ४ ॥

यदि । नुः । गाम् । हंसि । यदि । अश्वम् । यदि । पूरुषम् ।

तम् । त्वा । सीसेन । विध्यामः । यथा । नुः । असः । अवीर-हा ॥ ४ ॥

भावार्थ—(यदि) जो (नुः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्)

विष्क हिंसायाम्-क+धाञ्-उ । हिंसां दधानाति । विशिषेण शोषकम् । विघ्नम् (सहते) वह अभिभवे । अभिभवति जयति (बाधते) बाध प्रतिबन्धे प्रति-गन्धे-लट् । प्रतिवध्नाति, निवारयति (अस्त्रणः) म० १ । अदनस्वभावान् राक्षसान् (अनेन) सीसेन (समहे) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति वह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि (जानाति) जना प्रादुर्भावे-कर्त्तरि क । उत्पन्नानि । अपश्यरूपाणि दुष्टाचरणानि (पिशाच्याः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित + अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगपुधञ्जाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे-क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश + आङ् + चम भक्षणे-ङ् प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पिशाचः । प्राणिनां मांसभक्षी पिशितशी तनो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । गक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४—(यदि) संभावनायाम् । चेत् (गाम्) १ । २ । ३ । गोजातिम् (हंसि)

घोड़े को और (यदि) जो (पुरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारना है । (तम् त्वा) उस तुझ को (सीसेन) बन्धन काटने हारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधतै हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भागें ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



हन हिंसागत्योः-लट् । मारयसि । नाशयसि (अश्वम्) अशुपुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशुङ् व्यासौ-कन् । यद्वा, अश गोत्तने-कन् । अश्वः कस्माद-शुनेऽध्वानं महाशनो भवतीतिवा-निरु० २ । २७ । जातावेकवचनम् । घोटम् । तुर्ङ्गम् (पुरुषम्) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ-कुषन् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति निपातनाद् दीर्घः । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । नरं, जनम् (तम्) तथाविधम् (त्वा) त्वां हिंसकम् (सीसेन) म० २ । विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन (विध्यामः) व्यध ताडने वेधे-दिवादित्यान् श्यन् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । छिनत्तः । ताडयामः, मारयामः (यथा) येन प्रकारेण । (असः) अस सतीयात्-लेटि अडागमः । त्वम् भूयाः (अवीर-हा) वीरयतीति वीरः, वीर शौर्यं-अच् । वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर + हन्-किप् । न वीरहा अवीरहा । अश्वहन्ता ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

—०:०:०—

सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । हिरा देवता । १-३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासना नाशः—नाडीछेदन [फुस्द खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति योषिता हिरा लोहि'तवाससः ।

अभ्रातर इव जामयुस्तिष्ठन्तु हुतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । या । यन्ति । योषितः । हिराः । लोहि'त-वाससः ।

अभ्रातरः-इव । जामयः । तिष्ठन्तु । हुत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने हारी [अथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोह में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हुतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें ॥१॥

१—(अमूः) १।४।२। ताः परिदृश्यमानाः (यन्ति) गच्छन्ति (योषितः) हस्रुहियुषिभ्य इतिः । उ० १।६७। युष सेवने—इति, अयं सौत्रा धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित् । सेवयिष्यः । सेव्याः, । स्त्रियः ।, (हिराः) स्फायितश्चिश्कि० । उ० २।१३। इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । दिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाडी । सिराः, नाड्यः (लोहित-वाससः) वसेयित् । उ० ४।२१८। इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । णिङ्गज्ञावाद् उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भावार्थ—इस सूक्त में सिरा छेदन, अर्थात् नाड़ी [फ़न्द] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियाँ रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने वाली और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियाँ ऐसी अन्वमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे ।

कुनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठतिद्ध धुमनिर्मुही ॥ २ ॥

तिष्ठ । अवरे । तिष्ठ । परे । उत । त्वम् । तिष्ठ । मध्यमे ।
कुनिष्ठिका । च । तिष्ठति । तिष्ठात् । इत् । धुमनिः । मुही ॥२॥

भावार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

दनभूताः । रक्तवर्णवस्त्राः (अम्रानरः) नष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ६६ । इति भ्राजृ दीप्तौ-तुन्, निपात्यते । अम्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः । (जामयः) १ । ८ । १ । भनित्यः (तिष्ठन्तु) स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु (हत-वर्चसः) सर्वधातुभ्योऽनुन् । उ० ४ । १८६ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । हततेजस्काः, नष्टवीर्याः । रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—(तिष्ठ) निवृत्तगतिर्भव (अवरे) १ । ८ । ३ । अवरे-टाप् । हे निष्ठे । अधोभागस्थिते हिरे (परे) १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि ! त्वम् । हिरे, सिरे (मध्यमे) मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य-मप्रत्ययो भवार्थे । हे शरीरमध्यवर्तिनि (कुनिष्ठिका) युवावपयोः कन् अन्यतरस्याम् । पा० ५ । ३ । ६४ । इति अल्प-इष्टनि कन् आदेशः । स्वार्थे कप्रत्ययः । प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इडाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः ।

ठहर, (च) और (कर्तिष्ठका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२-मनुष्य अपने चित्त की वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥ २ ॥

शतस्य धुमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।

अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

**शतस्य । धुमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् । अस्थुः ।
इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥**

भावार्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियाँ] (साकम्) एक साथ (अरंसत) कीड़ा करने लगी हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियाँ पहिले के समान चेष्टा करने लगे ॥ ३ ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी (तिष्ठात्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । अर्वातिष्ठताम् (धमनिः) अर्त्तिसृधृधमि० । उ० २ । १०२ । इति धम धमाने, ध्वाने च—अनि । सिरा, नाड़ी (मही) मह पूजायाम्-अच् । पिङ्गूरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति डीप् । महती, वृहती स्थूला ॥

३—(शतस्य)—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् (धमनीनाम्) म० २ । हृदयगतानां प्रधाननाडीनाम् (सहस्रस्य) अपरिमितानाम् (हिराणाम्) म० १ । सिराणाम् । सूक्ष्मशाखानाडीनाम् (अस्थुः) १ । १६ । १ । स्थिता अभूवन्

२—मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावे ॥ २ ॥

परि' वुः सिकतावती धनूर्बृहत्यक्रमीत् ।

तिष्ठते लयंता सु कम् ॥ ४ ॥

परि' । वुः । सिकता-वती । धनूः । बृहती । अक्रमीत् ।
तिष्ठत । डुलयंत । सु । कम् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] बालू आदि से भरी हुई (वृहती) बड़ी (धनूः) पट्टी ने (वुः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है । (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इल-यत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं । इसी प्रकार का पट्टी से जो मृदम चूर्ण बालू से वा बालू के समान राल आदि ओषध से युक्त हांवे, चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो ।

(मध्यमाः) म० २ । मध्यमवाः (साकम्) युगपत् (अन्ताः) अम गतौ—तन् । अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः (अरंसत) रमु कीड़ायां—लुङ् । यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवत्यः ॥

४—(वः) युष्मान्, नाडीः (सिकतावती) पृषिरज्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । इति सिक सेचने—अतच् टाप् । सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता । बालुयुक्ता (धनूः) कृषिचमिननिधनिसर्जिस्त्रिभ्य ऊः स्त्रियाम् । उ० १ । ८० । इति धन धान्यात्पादने, रव च—ऊ । धनुः = चतुर्हस्तपरिमाणम् । तत्परिमाणवत्त्व-पट्टी (वृहती) वर्तमाने पृषद्वृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति बृह वृद्धौ—अति । डीष् । महती (अक्रमीत्) क्रमु पादविक्षेपे—लुङ् । क्रा-

२—मनुष्य कुमारं गामिनी मनो वृत्तियों को रोक कर यत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-४ ॥ द्रविणोदा ऋषिः ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्,
२, ३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १' निरर्गतिं सुवामसि ।

अथ या भुद्रा तानि नः प्रजाया अरोति नयामसि ॥ १ ॥

निः । लक्ष्म्यम् । ललाम्यम् । निः । अरोतिम् । सुवामसि ।
अथ । या । भुद्रा । तानि । नः । प्र-जाय । अरोतिम् ।
नयानुसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ललाम्यम् = ०—मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम् = ०—दमीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरोतिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि = ०—मः) हम निकाल देंगे। (अथ) और (या = यानि) जो (भुद्रा = भुद्राणि) मंगल हैं (तानि) उन को (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजाके लिये (अरोतिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि = ०—मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्याप्तवती (तिष्ठत) निवृत्तगतयो भवत (इत्यतः) इति गतौ ।
गच्छत, चेष्टध्वम् (कम्) सुखेन ॥

१—(निः + लक्ष्म्यम्) नृ नये-किप् । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० ।
इति धातोर्ङ्गस्य इत् । इति निर् । लक्ष्म्यम् च । उ० ३ । १६० । इति लक्ष् दशनाङ्क-
नयोः-ईप्रत्यया मुडागमः । लक्ष्म्ये दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ । १ ।
१०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः ।
उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्य
स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दुर्भाग्यताम् (ललाम्यम्)
लल ईप्से-अच् । ततः । अविर्तुस्त्वृत्तन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । इति बाहु-
लकात्, अम गोते, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने और प्रजा को निधनता आदि दुर्लक्षणों से निःशङ्क
और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररंणिं सविता साविषत् पुदोर्निहस्तंयोर्वरुणो मित्रो
अयुमा । निरस्मभ्युमनुमती रराणा प्रेमां देवा असा-
विषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरंणिम् । सुविता । साविषत् । पुदोः । निः । हस्तंयोः ।
वरुणः । मित्रः । अयुमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः ।
रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असुविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भावार्थ—(सविता) [सब का चलाने हारा] सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी],
(वरुणः) सब के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव], (मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरितत्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् ।
निर् । नृ नयने-क्विप्, न दीर्घः । ऋत इडातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति
इकारः । बहिर्भावि । निश्चये (अरातिम्) क्तिच् कौ च संज्ञायाम् । पा० ३ ।
३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिच् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-
समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् (नि + सुवामनि)
षू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवदिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ ।
इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः (अथ) अनन्तरम् ।
(भद्रा) ऋजेन्द्राप्रवज्ज० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याण-रन् । निपात्यते च ।
भद्राणि, मङ्गलानि (तानि) उदीयितानि भद्राणि (नः) अस्माकम्, स्वकीया-
यै (प्रजायै) उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ६६ । इति जनी प्रादुर्भावे-
डप्रत्ययः । जनाय (अरातिम्) शत्रुम् । शत्रुसकाशात् (नयामसि) णाञ्
प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—(निर्) म० १ । निश्चयेन । नितराम् । बहिर्भावे (अरंणिम्)
अर्त्तिसुख० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । अर्त्तिम्, पीडाम् (सविता)

देने द्वारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने द्वारा न्यायकारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पदोः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः साविषत्) निकाल देवे । (रराणा) दानशीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (असम्यम्) हमारे लिये (निः=निः साविषत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौमगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है॥२॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हित-बुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ २ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अर्याम्] है और बंधई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविषक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविषत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है । गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविषक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व ६।१।३ में, ७।७७।७ में और ६।१५।४ में (सविता साविषत्) पाठ है वही (सविता साविषत्) यहां भी शुद्ध है ॥

पूञ् प्रसवे प्रेरणे—तृच् । सविता सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः । निरु० १० । ३१ । सर्वप्रेरकः सूर्यः (निः + साविषत्) पूञ् प्रेरणे—लेट् । निःसुवतु, निःसारयतु (पदोः) पट्टदन्तोमासु० । पा० ६ । १ । ६३ । इति पाद शब्दस्य पट् आदेशः । पादयोः सकाशात् (हस्तयोः) हसिमृग्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति हस वि दाशे—तन् । करयोः सकाशात् (वरुणः) १ । ३ । ३ । वरणीयं जलम् (मित्रः) १ । ३ । ३ । सर्वप्रेरका वायुः (अर्यमा) १ । ११ । १ । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । न्यायकारी राजा (अनुमतिः) अनु + मन ज्ञाने—क्तिच् । सम्मतिः । अनुकूला, सहायिका बुद्धिः (रराणा) रा दाने—कानच् । दानशीला । (देवाः) पूज्याः, दानारः (प्र + असाविषुः) पूञ् प्रेरणे—लुङ् । प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः (सौमगाय) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२६ । इति सुभग-भावे अञ् । डित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत् आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणं
वा । सर्वं तद् वाचापं हन्मो वयं देवस्त्वा सविता
सूदयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते । आत्मनि । तन्वाम् । घोरम् । अस्ति । यत् ।
वा । केशेषु । प्रति-चक्षणं । वा । सर्वम् । तत् । वाचा । अपं ।
हन्मः । वयम् । देवः । त्वा । सविता । सूदयतु ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य] ! (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा
में और (तन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केशेषु) केशों में
(वा) अथवा (प्रतिचक्षणं) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है । (वयम्)
हम (तत् सर्वम्) उस सब को (वाचा) वाणी से [विद्याबल से] (अपं)
हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं । (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक
परमेश्वर (त्वा) तुझ को (सूदयतु) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्ष्णों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—(आत्मनि) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत
सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्व-
भावे, मनसि, जीवे (तन्वाम्) १ । १ । १ । शरीरं, देहे (घोरम्) हन्तेरच्
घुर्च । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच् घुरादेशः । हन्ति । विनाशयतीति ।
भयंकरं दुर्लक्षणम् (केशेषु) के मस्तके शेते । शीङ् शयने—अच् । अलुक्-
समासः । अथवा । क्लिशंरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे-
अन्, ल लोपः । वालेषु, शिरोरुहेषु (प्रति-चक्षणं) चष्टे, पश्यतिकर्मा-
निघ० ३ । ११ । अक्षिङ् कथने, दर्शनं च-करणे लुट् । दर्शनसाधने चक्षुषि
(वाचा) १ । १ । १ । वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा (अप) वर्जयित्वा
(हन्मः) नाशयामः (वयम्) उपासकाः (त्वा) त्वाम् आत्मानम्
(सविता) सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा (सूदयतु) पूरे आश्रुतिहृत्योः-
लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः । आश्रुणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधुमामुत ।

विलीढ्यं ललाम्यं १' ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-सेधाम् । वि-धुमाम् । उत ।

विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥४॥

भावार्थ—(रिश्यपदीम्) हरिण के समान [बिना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषदतीम्) बैल के समान दांत चवाना, (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधुमाम्) विगड़ी भाथी [धांकी] के समान श्वास क्रिया, (ललाम्यम् = ०-मीम्) रुचि नाश करने वाली (विलीढ्यम् = ०-ढिम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि = ०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्य-स्वाभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सत्सङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनायें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पायणभाष्य में (रिश्यपदीम्) के स्थान में (ऋश्यपदीम्) पाठ है । और जो (विलीढ्यम्, ललाम्यम्) पदों का नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—(रिश्य-पदीम्) रिश हिंस-क्यप् । रिश्यते हिंस्यते—इति रिश्यः, मृगः । पादस्य लोपोऽइस्त्यादिभ्यः । पा० ५ । ४ । १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । ८ । इति डीप्, भस्मजायां । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पद्मावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् (वृष-दतीम्) अग्रान्तशुद्धगुभ्रवृषवगाहेभ्यश्च । पा० ५ । ४ । १४५ । इति दन्त शब्दस्य दत् आदेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति डीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् (गो-सेधाम्) विधु गत्याम्-पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् (वि-धुमाम्) वि विकृतौ धमा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधुमावद् विकृतभस्मावत् श्वासक्रियाम् (विलीढ्यम्) वि विकृतौ + लिह आस्वादेन । क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वगित्योर्यणः स्वगितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में (ताः) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब कुछ पद स्त्रीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पंक्तिः ।

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो विदन् विव्याधनो मो अभिव्याधि नो विदन् ।

आराच्छरव्या अस्मद् विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः । विदन् । वि-व्याधिनः । मो इति । अभि-व्याधिनः ।

विदन् । आरात् । शरव्याः । अस्मत् । विषूचीः । इन्द्र ।

पातय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त बेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुँचे, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुँचें । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) बाण समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलीढम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् (ललाम्यम्) म० १ । ललामीम्, रुचि-नाशिनीम् (ताः) पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः (नाशयामसि) एष अदर्शने—णिच् । मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—(नः) अस्मान् (मा + विदन्) विदूळ लाभे, माङ्गि लुङ्गि । न माङ्-योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम् (विव्याधिनः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये । पा० ३ । २ । ७२ । इति वि+व्यध ताडने—णिनिः । विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः (मो) मा + उ । मैव (अभि-व्याधिनः) पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः (मो विदन्) मैव प्राप्नु-वन्तु स्पृशन्तु (आरात्) दूरदेशे (शरव्याः) शृश्वृस्निहिन्नप्यसि० । उ० १ । १० । इति शू हिंसे—उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति शरु-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भावार्थ—सर्वरक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना का रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार अपने किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वञ्चो अस्मच्छरंवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।

दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वञ्चः । अस्मत् । शरंवः । पतन्तु । ये । अस्ताः । ये । च ।
आस्याः । दैवीः । मनुष्य-इषवः । मम । मित्रान् । वि ।
विध्यत ॥ २ ॥

भावार्थ—(ये) जो वाण (अस्ताः) छेड़े गये हैं (च) और (ये) जो (आस्याः) छेड़े जायेंगे, (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) वाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें । (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य वाण ! [वाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (मित्रान्) पीड़ा देने वाले शत्रुओं को (वि विध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६ । १ । ७६ । इति अच् आदेशः । नित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । शरवःसूहान् शरसंहतीः (अस्मत्) अन्यागादितरते० । पा० २ । १ । २६ । इति आगात् योगे पञ्चमी । अस्मत्तः (विपूचीः) अतिवृद्धकृत्स्नगिद-गुष्णिगञ्चु० । पा० ३ । २ । ५६ । इति विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—किन् । अनदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । इति ऊीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति अकारलोपः । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक् नानामुक्तम् अञ्चनशीलाः । सर्वत्रव्यापिनीः (इन्द्र) हे परमेश्वर (पातय) पत-णित् । प्रक्षिप ॥

२—(विष्वञ्चः) म० १ । विषु+अञ्चु—किन् । विविधगमनाः (शरवः) म० १ । शृङ्गस्निहि । उ० १ । १० । इति शृ हिंसायाम् —उ । वाणाः । अस्त्रश-स्त्राणि (पतन्तु) निपतन्तु अधोगच्छन्तु (अस्ताः) अस्तु क्षेपणे—क । क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः (आस्याः) ऋद्धलोप्यन्तु । पा० ३ । १ । १२४ । इति अस्तु क्षेपणे—एयत् । क्षेपणीयाः (दैवीः) देवाद् यज्ञाः । वार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवाः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वारुण्य [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छाड़े जावें] अस्त्र शस्त्रों को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है ॥

यो नः स्वो यो अरंणः सजात उत निष्ठ्यो यो अस्मां
अभिदासंति । रुद्रः शरुव्यंयुतान् ममामित्रान् वि
विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरंणः । स-जातः । उत । निष्ठ्यः ।
यः । अस्मान् । अभि-दासंति । रुद्रः । शरुव्यंया । एतान् ।
मम । अमित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरंणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बो (उत) अथवा

४ । १ । ८५ । इति देव-अङ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणङ् पा० ४ । १ । १५ ।
इति डीप् । वा लृन्दसि पा० ६ । १ । १०६ इति जसि पूर्वसवर्णदाघः स्तित्यादि-
नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेय-
वारुणादयो वाणाः (मनुष्य-इषवः) मनोर्तनावज्ज्यन्तीषु च । पा०
४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, पुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुजः,
मानवः । इष गन्तौ-ड । इषुः, वाणाः । मनुष्याणां अस्मदीयानाम् इषवः, वाणाः,
अस्त्रशस्त्राणि (मम) मदीयान् (अमित्रान्) अमेर्द्धिपति चित् । उ० ४ । १७४ ।
इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् (वि) विविधम् (विध्यत)
व्यध ताडनं वेधनं-ताड । छिन्त, भिन्त ॥

३-(स्त्रः) स्वन शब्द-ड । ज्ञातिः (अरंणः) वशिरयशोरप्युपसंख्यानम् ।
वार्षिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्द-कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो (निष्ठ्यः) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रूताने वाला महा शूर वार सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अभित्रान्) पीड़ा देने हारे घंटियों को (वि विध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वाधि सू० ६ । ७१ । १६ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः सुपत्नो याऽसंपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः ।

देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्मु ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । सु-पत्नः । यः । असंपत्नः । यः । च । द्विषन् । शपाति ।
नः । दे-वाः । तम् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम ।
अन्तरम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः (सजातः) १ । ६ । ३ । समान-जन्मा, स्वकुटुम्भा (निष्ठ्यः) अद्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । अत्र । निसो गते । इति वार्तिकेन । निस्-त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चण्डालः, म्लेच्छः (अस्मान्) आज्ञाकारिणो धार्मिकान् (अभिदासति) दसु उत्क्षेपे, लेट् । उत्क्षि-पेत् (अस्माँ अभिदासति) दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ६ । इति संहि-तायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति आकारस्य अनुमासिकः (रुद्रः) रोद्रेणिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रुद्रिर् अश्रुविमोचने एयन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रूनिति । महाशूरः सेनापतिः । (शरव्यया) म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४ । २ । ४६ । इति शरु-यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७६ । इति अव् आदेशः । टाप् च् । इति शरव्या तथा शरसंहत्या (अभित्रान्) म० २ । हिंसकान् शत्रून् (वि विध्यतु) म० २ । विशेषेण छिनत्तु भिनत्तु ॥

• भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपत्नी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपत्नी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोशे] । (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—छान बीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपत्नियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें । वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्मबल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती,
२-४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्या रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् युज्ञे मरुतो मुडता
नः । मा नो विददभिभा मो अशंस्तिर्मा नो विदद्
वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

अदार-सृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । युज्ञे । मरुतः ।
मुडतं । नः । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशंस्तिः ।
मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥ १ ॥

४—(सपत्नः) १ । ६ । २ । प्रतियोगो, शत्रुः (असपत्नः) अशत्रुः, अप्र-
कटशत्रुः (द्विषन्) द्विष अप्रीतौ-शत्रु । द्वेषं कुर्वन् (शपाति) शप आक्रोशे-
लेट् । शपेत् (देवाः) दीप्यमानाः । विजयितः । शूराः (धूर्वन्तु) धूर्वी
हिंसायाम् । हिंसन्तु नाशयन्तु (ब्रह्म) १ । १० । ४ । परमेश्वरः (वर्म)
सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृज्-मनिन् वृणोति आच्छादयति
शरीरमिति । तनुत्रम्, सर्वथा रक्षकम् (अन्तरम्) यदन्ते समीपे रमते ।
अन्त + रम-ड । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भावार्थ—(देव) हे प्रकाश मय, (साम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुँचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुँचने वाला (भयतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओ ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो । (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े, और (मो=मा उ) न कभी (अशस्तिः) अयकीर्ति और (या) जो (द्वष्ट्या) द्वेषयुक्त (वृजिना) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ—सब अनुग्रह परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रखें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मान लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के विजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये—ऋग्वेद १। ८८। १। न वयन्त हे ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वकैः रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भि-
रश्वपणैः । आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पंतता
सुमायाः ॥ १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ ! (विद्युन्मद्भिः) विजुली वाले, (स्वकैः)

१—(अदारसृत्) दारजारी कर्तार णिलुक् च । यार्निकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दृ विदारण-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्तिप् । दारं दारं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापः, अहानिकरः । अथवा दारयन्ति दुःखानि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः । स्त्र्यादिगृहस्थाः । दार + सृ क्तिप् । अगृहगामी (देव) हे दीप्यमान ! (साम) १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (यज्ञे) १ । ६ । ४ । पूज्यकर्मणि यागं, अध्वरं (मरुतः) मृगो-र्यातः । उ० १ । ६४ । इति मृञ् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुग्-न्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः, देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ । मरुत् हिरण्य-नाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः (मृडत) मृड सुखन—लोद् मृडयन्, सुखयत (नः) अरमान् [अिवारं वर्तते] (मा विदत्) १ । १६ । १ । (विद्वत्

अच्छी उवाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये], (ऋष्टिमद्भिः) दो-
धारा तलवारों वाले [आने-पाँछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं
वाले] (रथेभिः) रथों से (आ गत) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि
वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्पिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः न)
पक्षियों के समान् (आ पतत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अथ सेन्यो वृधोऽघायूनामुदीरते ।

युवं तं मित्रावरुणौ वृस्मद् यावयतुं परि' ॥ २ ॥

यः । अथ । सेन्यः । वृधः । अघ-यूनाम् । उत-ईरते ।

युवम् । तम् । मित्रावरुणौ । अस्मत् । युवयतुम् । परि' ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अथ) आज (अघायूनाम्) युग चाने वाले शत्रुओं की
(सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वृधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते)
उठ रहा है । (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] मित्र और अपान (युवम्) तुम
दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा
(यावयतुम्) अलग रखो ॥ २ ॥

लाभे लुङ् । मा लभताम्, मा प्राप्नोतु (अभि-भाः) अभि, धर्षणे, अभिमुख्ये
वा + भा दीप्तौ-क्विप् । अभिभूय भानि दीप्यते अभिभाः = अभिभूतिः-निरु०
८ । ४ । परोपद्रवः । आपत्तिः (मो) मा-उ । मैव (अशस्तिः) शंसु स्तुतौ-क्तिन् ।
अपकीर्तिः (वृजिना) वृजेः क्तिञ् । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इत्च्
स च कित्, टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वृजन-
अस्त्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-
बुद्धिः (द्वेष्या) ऋदलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीती-कर्मणि
ण्यत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—(अथ) १ । १ । १ । वर्तमाने दिने (सेन्यः) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ ।
११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः (वृधः) हनञ्च वधः पा० ३ । ३ । ६७ ।
इति हन हिंसागत्योः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः (अघा-

भावार्थ—(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [य० २। ३] प्राण और अपान किया है। जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है। जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रक्क कर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तौ शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

२—श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥

इतरचु यदमुतेश्च यद् वुधं वरुण यावय ।

वि मुहच्छर्म यच्छु वरीयां यावया वुधम् ॥ ३ ॥

इतः । च । यत् । अमुतः । च । यत् । वुधम् । वरुण । यवयु ।
वि । मुहत् । शर्म । यच्छु । वरीयः । यवयु । वुधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे सब मैं श्रेष्ठ, परमेश्वर ! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु

यूनाम्) अथ पापकरणे—अच् । अघम्, पापम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इत्यत्र । छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वार्त्तिकम् । इति अघ—क्यच् । क्यच् छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उपत्ययः । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इति आत्वम् । पापेच्छूनाम् । दुराचारिणाम् (उत्-ईरते) ईर गतौ उद्गच्छति, उत्तिष्ठति (युवम्) युवाम् (मित्रावरुणौ) १ । ३ । २, ३ । मित्रश्च वरुणश्च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्य आतङ् आदेशः । प्राणपानौ (यावयनम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—एयन्तात् लोट् । वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम् ॥

३—(इतः) पश्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति इक्ष्—तसिल् । अस्मात् स्थानात् (अमुतः) अदस्—तसिल् पूर्वपदत् । तस्माद् देशात् (यत् यत्) इति अव्ययद्वयम् । प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थे (वधम्)

प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्म) शरण को (वि) अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरा को जीतने का उत्साह बढ़ाता है । वह शूरवीर जात पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिल्लता शाखा ऋ० १० । १५० । ५ । का दुसरा आधा है, वहाँ (महत्) के स्थान में [मन्योः] शब्द है ॥

शास इत्था मुहाँ अस्यमित्रसाहो अस्तुतः ।

न यस्य हन्यते सखा न जीयते कुदा चुन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । मुहान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तुतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कुदा । चुन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमि-त्रसहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तुतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है । (यस्य) जिन का (सखा) मित्र (कुदा चुन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शत्रुप्रहारम् (वरुण) १ । ३ । ३ । हे वरुणीय, परमेश्वर ! (यावय)
म० २ । वियोजय (महत्) १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् (शर्म) सर्व-
धातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शृ हिंसायाम्-मनिन् । स्वशरणम्, सुखम्
(वि) विशेषेण (यच्छ) पाद्माध्यास्थाना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—
दाने-यच्छादेशः । देहि (वरीयः) २ । २ । २ । उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—(शासः) नन्दिग्रहिपञ्चादिभ्यो ल्युणिन्यच् । पा० ३ । १ । १३४ ।
इति शासु अनुशिष्टौ-पचायच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः ।
शासकः, नियन्ता, वरुणः (इत्था) सत्यनाम-निघ० ३ । १० । सत्यम् ।
(महान्) १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः (मुहाँअसि) इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार धृष्टा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त हृद् विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८x४
अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वृशी ।

वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वृशी ।
वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-करः ॥१॥

भावार्थ—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं

दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ६ । इति नकारस्य स्त्वम् । आतोऽटि नित्यम् ।
पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः (अमित्र-लहः) अमेर्हिषति
चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । यह अभिमवे—पचाद्यच् ।
चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा,
अभिमविता (अस्तृतः) स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः (न) निषेधे
(यस्य) वरुणस्य (हन्यते) सार्वधातुकं यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि
यक् । हिंस्यते । अभिभूयते (सन्ना) समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ ।
इति समान + ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टितोपयत्नौ समानस्य सभावश्च ।
अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ६३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् (जीयते) जि
जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि ॥

१—(स्वस्तिदाः) सावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु + अस सत्तायाम्-

को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पाने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मन्त्रोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अनुग्राहनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ॥

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अनुग्राह समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं ॥

तिप्रत्ययः । ततः । किप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति डुदाञ् दाने—किप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । सोमप्रदः (विशाम्) विश प्रवेशे—किप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । (पतिः) १ । १ । १ । पालकः, स्वामी (वृत्र-हा) स्फाणितश्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत्र वर्तने—रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभूणवृत्रेषु किप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः—किप् शत्रुमाशकः । अन्धकार-निवारकः (वि-मृधः) वि + मृध हिंसायाम्—किवप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेंतोर्भविष्यदाधमर्णयोः । पा० २ । ३ । ७० । इति (वशी) शब्देन सह द्वितीया, यथा (मां कामिन्यसः) १ । ३४ । ५ (वशी) वशोऽस्त्यस्य । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वशयिता (वृषा) १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महाबली (इन्द्रः) १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जावः (पुरः) पुरस्तात्, अग्रे (एतु) इण्—मतौ । गच्छतु, अग्रगामी भवतु (सोम-पाः) आतो मनिर्क्विबनिवृनिपञ्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । (अभयम्-करः) मेघर्तिभयेषु कृपः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयावि-प्रहयां तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्तिकेन । अभय + कृञ्-लृच् । अद्वि-षदजन्तस्य भुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति भुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचो यच्छ पृतन्यतः ।

अधुमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति ॥ २ ॥

वि । नः । इन्द्र । मृधः । जहि । नीचा । यच्छ । पृतन्यतः ।

अधुमम् । गमयु । तमः । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) गोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुँचावे उसको (अधुमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (गमय) पहुँचा दे ॥२॥

भावार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डाल दे ॥

२—महा बली परमेश्वर का हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।

वि मुन्युमिन्द्र वृत्रहन्मित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः । वि । मृधः । जहि । वि । वृत्रस्य । हनु इति । रुज ।

वि । मुन्युम् । इन्द्र । वृत्र-हन् । मित्रस्य । अभि-दासतः ॥३॥

२—(वि) विविधम् (मृधः) म० १ । मृध हिंसायाम्—क्विप् । मर्धयितृन्, हिंसकान्, शत्रून् (जहि) १ । ८ । ३ । नाशय (नीचा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । नीचैः शब्दान् सुपां डा प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः । नीचैः । (यच्छ) १ । १ । ३ । निषमय, न्यभूतान् कुरु (पृतन्यतः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कश्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इति अकार लोपः । तदन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् (अधुमम्) अधस् + मप्रत्ययः, अन्त्य-लोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् (गमय) गम्ल् गिचि—लोट् द्विकर्मकः । प्रापय तं शत्रुम् (तमः) तमिर् खेदे—असुन् । अन्धकारम् (अस्मान्, अभिदासति) व्याख्यातम्, १ । १६ । ३ ॥

भाषार्थ—(रक्तः=रक्तांमि) राज्ञां और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को (वि=वि रुज) भंग कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—१, राजा को पुरुषार्थी हो कर शत्रुओं का नाश करके और प्रजा में शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्तक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽपु जिज्यासतो वृधम् ।

वि मुहच्छर्म' यच्छु वरीयो यावया वृधम् ॥ ४ ॥

**अपं । इन्द्र । द्विषतः । मनः । अपं । जिज्यासतः । वृधम् ।
वि । मुहत् । शर्म' । यच्छु । वरीयः । युवयु । वृधम् ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (द्विषतः) बैरी के (मनः) मन को (अप=अपकृत्य) तोड़कर, और (जिज्यासतः) [हमारी] आयु की हानि

३—(रक्त) रक्त पालने-अनुत् । रक्तो रक्तितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । जातावेकवचनम् । रक्तसम् । शत्रुम् (वि) विशेषण, सर्वथा (मृधः) म० २ । मर्धयितृन्, हिंसकान् (जहि) म० २ । नाशय (वृत्रस्य) म० १ । शत्रोः । (हनू) शृङ्खुस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे—उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-द्रव्यादिकमिति हनुः । कपालद्वयोपरिमुखभागौ (रुज) रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्ग्धि । विदारय (वि) विरुज (मन्युम्) १ । १० । १—क्रोधं, कोपम् (वृत्र-हन्) म० १ । हे अन्धकारनाशक ! (अमित्रस्य) १ । १६ । २ । पीडकस्य, शत्रोः (अभि-दासतः) दत्तु उत्क्षेपे-शत्रु । उपक्षपयतः, उत्क्षेपण-शीलस्य ॥

४—(अप) अपकृत्य, निरस्कृत्य (द्विषतः) द्विष अप्रीतौ-शत्रु । अप्रीति-

चाहने हार शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप = अपकृत्य) छिन्न भिन्न करके (महत् शम) [अपना] विस्तीर्ण शरण (वि यच्छ) [हमें] दानकर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरोधः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्व-स से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥



करस्य शत्रोः (मनः) १ । १ । २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् (त्रिउया-
मतः) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । वा० । पा० ३ । १ । ७ । इति
उया वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङो । पा० ६ । १ । ६ । इति द्विर्वचने
हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य
इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिभिच्छ्रुतः, अस्मान् जेतु-
भिच्छ्रुतः पुरुषस्य (वधम्) १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ ।
२० । ३ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

—०:०:०—

सूक्तम् २२ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृदयोतो हरिमा च ते ।

गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयुताम् । हृत्-द्योतः । हरिमा । च । ते ।

गोः । रोहितस्यु । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥ १ ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद् अयुताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सदैव वायु सेवन और ओषधि सेवन करावें,

१—(अनु) अनुलक्षणम् । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणार्थे अतोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्ष्यकृत्य (सूर्यम्) १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् (उत् +

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—(गौः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुँचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है—निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है—मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की संध्या में गायत्री को जपना हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठाक जप करे ॥

परि' त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।

यथायमरुपा असुदथो अहरितो भुवंत् ॥ २ ॥

परि' । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायु-त्वाय । दध्मसि ।
यथा । अयम् । अरुपाः । असत् । अथा इति । अहरितः ।
भुवंत् ॥ २ ॥

अयताम्) अय गतौ । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् (हृद्-द्योतः) द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः (हरिमा) वर्णहृदादिभ्यः घ्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यच्च भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १६३ । इति टिलोपः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तादात्तः । कामिलादि-रागजनितः शारीरो हरिर्द्वर्णः (गोः) पुंलिङ्गम् । गर्मंडोः । उ० २ । ६७ । गम्लु गतौ—डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—इति भगवान् यास्कः—निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य (रोहितस्य) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति सह जन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य (वर्णान्) वर्णं शुक्लादिवर्णकरणे दीपने च—घञ् । रागेण, रज्जनेन । रूपेण (दध्मसि) दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुझ को (दीर्घायु-त्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं । (यथा) जिस से (अयम्) यह (अरपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सदैव और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् घायु सेवन और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त वर्ण हो जाय और उबर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या ३ गावो या उत रोहिणीः ।

रूपंरूपं वयोवयुस्ताभिष्टूवा परि' दध्मसि ॥ ३ ॥

याः । रोहिणीः । देवत्याः । गावः । याः । उत । रोहिणीः ।
रूपम्-रूपम् । वयः-वयः । ताभिः । त्वा । परि' । दध्मसि ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओषधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं । (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुझ को (रूपम्-

२—(त्वा) त्वां रोगिणं (रोहितैः) म० १ । रोहितैः, रक्तैः (वर्णैः) म० १ । रङ्गैः । रजनैः (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १ । २ । दीर्घ + इण् गतौ-उण्, भावे त्वप्रत्ययः । चिरकालजीवनाय (परि दध्मसि) म० १ । सर्वतः पोषयामः (अरपाः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । अपापः, नीरुजः, नीरोगः (असत्) अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् (अथो) अथ—उ । तदनन्तरम् एव (अहरितः) दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति न + ह्रस्व हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः (भुवत्) भू सत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—(रोहिणीः) रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्वगौ-रादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गौरादित्वात् ऊष् । वा छन्दसि । पा०

रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयःवयः) सब प्रकार के बल के लिये (परि दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशाये रक्त वर्ण दिव्यायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय मर्द्रेय रोगी का सुपरीक्षित औषधों और यथा-योग्य घागु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से दृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकैषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।

अथो हारि'द्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकैषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।

अथो इति । हारि'द्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भावार्थ—(सुकैषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

६।१।१०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, औषधयः (देवत्याः) भवे लुन्दसि । पा० ४।४।११० । इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः (गावः) खालिङ्गम् । दिशाः (रोहिणीः) वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४।१।३६ । इति रोहित-डीप्, तकारस्य नकारः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः (रूपं-रूपम्) नित्यवीप्सयाः । पा० ८।१।४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय (वयः-वयः) वय गतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येण । सर्वसामर्थ्याय (तामिः) गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—(सुकैषु) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३।२।१०१ । इति सु०+कै+शब्दे, यद्वा, कच दातौ-ड । उरामेषु शब्देषु । उपायकथनेषु (हरिमाणम्) म० १ ।

भावार्थ—सर्वैष बाह्यी शारीरिक रोगों को यथायोग्य ओषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम ओषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हम ने लिया है । सायणाचार्य ने [शुक्] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणा हा) का [काण्ड शुक्] नाम हारिद्र्ग पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मै ॥ ऋग्वेद में, और (हारिद्र्ग) का अर्थ [गोपीतनक नाम हारिद्र्ग] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है हम अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग का निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

मृतं जुतास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।

इदं रंजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हारिद्र्गम्, सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा (रोपणा-कासु) रोपण—आकासु । रुह प्रादुर्भाव, शिच्-त्युद्, हस्य पः । ग्रन्थरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ + कम् कान्तौ-उ ॥ “रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लितास्वोषधिषु”-इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ (दध्मसि) म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः । (हारिद्र्वेषु) वसिषपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ह्य् हरणे-इय् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्व् द्रवणे-अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु (नि) नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओषधे । रामे । कृष्णे । असिक्क । च ।
इदम् । रजुनि । रजुय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारी, ओषधि तू (नक्तंजाता)
रात्रि में उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त
को खींचने हारी, (च) और (असिक्कि) निर्वन्ध [पूर्ण सार वाली] है । (रजुनि)
हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगा-
ड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको]
(रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित औषधों से रोगों की निवृत्ति करे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओषधि से यह आशय है कि ओषधें, गैहूं, जौ, चा-
वल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों
से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—(नक्तम्-जाता) नज द्वियि-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् ।
यद्वा । नक्क नाशने-क्त । नक्कयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादु-
र्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा (ओषधे) ओषः पाके धीयते-
ऽस्याम्, ओष + धुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ ।
इति कि प्रत्ययः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषट्यना धयन्तीति वा दोषं धय-
न्तीति वा-निरु० ६ । २७ । अस्यार्थः—ओषत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिबन्ति
नाशयन्ति । ओषति दाहके उवरादौ एना धयन्ति पिबन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय ।
पक्षद्वये, ओषत् + धेट् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष
+ धेट्कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य ! (रामे) रमु क्रीडायाम्
खिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि,
सुखप्रदे (कृष्णे) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृष
आकर्षणे-नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा,
कर्षति वशीकरोति रोगान् सा कृष्णा । हे आकर्षणशीले (असिक्क) अञ्जिघृ-
सिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि-क्त
नञ्समासः । छन्दसि क्तमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३६ । इति असिक्क-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्तिमान् पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तौ भी उनके भिन्न २ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आ त्वा स्वं विंशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।

आ । त्वा । स्वं । विंशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२॥

भावार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस [पुरुष] से (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत् बिन्दु को (निर्णाशय) निरन्तर नाश कर दे । (स्वं वर्णः) [रोग

ऊर्ण, तकारस्य ऋः । असिता असिक्ता । हे अवद्धशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसार-युक्ते (रजनि) रज्जोः क्युन् । उ० २ । ७६ । इति रज्ज रागे-क्युन्, स्त्रियां ऊर्ण । रज्जयतीति रजनी । हे सुरञ्जनशीले ! (रजय) रज्ज रागे, तकारलोपः रज्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुष्ठ (किलासम्) क्लीबलिंगम् । किल प्रेरणे, क्रीडे—क । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । किल + असु क्षेपणे—अण् । किल वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम् । वर्णदूषकम् सिद्धम् । कुष्ठ-रोगादिकं (पलितम्) फलेरितजादेश्च पः । उ० ५ । ३४ । इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम् । फलति निष्पन्नं एकमिव भवतति पलितम् । अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच् । शरीरश्वेततारोगः (यत्) यत् किञ्चित् ॥

२—(किलासम्) म० १ । वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम् (पलितम्) म० १ । शरीरश्वेततारोगम् । (निर्) निरन्तरम् (इतः) अस्मात् पुरुषात्

का] अपना रंग (त्वाम्) तुझ में [ओषधि में] (आ विशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को (परा पातय) दूर गिरा दे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओषधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाता है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानुमसितं तव ॥

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।

असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्बन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्बन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्बन्ध [सारगर्भा] है, (इतः) इस [पुरुष] से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्णाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

(नाशय) णश अदर्शने—णिच् । वितष्टं कुरु, घातय (पृषत्) वर्तमाने पृषद्-बृहन्महत् ० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् । (त्वा) त्वाम् । ओषधिम (स्वः) स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आत्मीयः । (आ + विशताम्) प्रविशतां, व्याप्नोतु (वर्णः) १ । २२ । १ । रूपम् (शुक्लानि) ऋज्रेन्द्राप्रवज्ज० । उ० २ । २८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः । श्वेतानि श्वेतानि सितानि चिन्हानि (परा + पातय) पत, णिच् । दूरं प्रेदय ॥

३—(असितम्) अश्विघृसिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ । इति विञ् बन्धने—क । अथवा । यो अन्तर्कर्मणि = नाशने—क । नञ्समासः । अबद्धम्, अखण्डितम् । कृष्णवर्णम्—इति लायणः (प्र-लयनम्) प्र + लीङ् श्लेषे, प्राती—व्युट् । प्रापणं, प्राप्तिः, लाभः (आ-स्थानम्) आङ् + ष्टा गतिनिवृत्तौ—व्युट् । विभ्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनुजस्य च यत् त्वचि ।

दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्मं श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अस्थि-जस्य । किलासस्य । तनु-जस्य । च । यत् । त्वचि ।

दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्मं । श्वेतम् । अनीनशम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—(दूष्या कृतस्य अस्थिजस्य तनुजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्मं त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अ इम् अनीनशम्—इत्यन्वयः) । (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनुजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ठ आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्मं) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [उस को] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैं ने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनुज)

स्थानम् (तव) त्वदीयम् (असिक्री) म० १ । अवद्धा, सारवती (ओषधे) म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

४—(अस्थि-ज-स्य) असिस्तञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे—क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्य सप्तधातुमध्ये धातुविशेषः, कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा० । ३ । २ । ६८ । इति जनी प्रादुर्भावे-ड प्रत्ययः । अस्थ्नी जातस्य मज्जाधातोः (किलासस्य) म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य (तनु-जस्य) तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू-जनी-ड । शरीरजातस्य (यत्) लक्ष्मं (त्वचि) तनोरनश्च घः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे—चिक प्रत्ययः, अन् भागस्य वकारश्च । तस्यते विस्ती-

शरीर से उत्पन्न हुये दाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वैदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार मल्लैद्य रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋधिः । ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप्,
२ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोद्देशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपुर्णो जातः प्रथुमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।

तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

सु-पुर्णः । जातः । प्रथुमः । त्वयं । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।
तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥ १ ॥

र्यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे—किप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादि-
कम् मा । शरीरावरणे, चर्मणि (दृष्या) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ ।
इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि—इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तथा दुष्ट-
क्रियया ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपध्यसेवनरूपया (कृतस्य) उत्पादितस्य
(ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन (लक्ष्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ ।
१४१ । इति लक्ष दर्शने—मनिन् । चिह्नम् (श्वेतम्) श्वेत शुक्लतायाम्—अच्
घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् (अनीनशम्) यश अदर्शने—णिचि लुङि रूपम् ।
अहं नाशितघानसि ॥

भावार्थ—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर (प्रथमः) सब का आदि (जातः) प्रसिद्ध है । (तस्य) उस [परमेश्वर] के (पित्तम्) पित्त [बल] को, [हे औषधि !] (त्वम्) तू ने (आसिथ) पाया था । (तत्) तब (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुयी (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [प्रज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्) रूप (चक्रे) किया था ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से औषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है । वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधा जिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरान्त प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—(सु-पर्णः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सु+पृ पालन-पूरणयोः—न । शोभनपालनः, शोभनपूरणः परमेश्वरः (जातः) प्रादुर्भूतः । प्रसिद्धः (प्रथमः) १ । १२ । १ । आद्यः, अग्रिमः, उत्तमः (पित्तम्) अपि+देङ् पालने, दो छेदने वा-क्त । अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति तादेशः, अपेरल्लोपः । अपि अवश्यं द्यते पालयति सुगुणान्, अथवा द्यति नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम् । वीर्यम् अथवा शरीस्थधातुविशेषः । तत्पर्यायः तेजः, उष्मा, अग्निः । तस्य कर्माणि । “पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम् । रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः” ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे (आसिथ) अस दीप्तिप्रहणगतिषु—लिट् । त्वं गृहीतवती प्राप्तवती (तत्) तदा (आसुरी) १ । १० । १ । असुरस्य इयम् । मायायामण् । पा० ४ । ४ । १२४ । इति असुर—अण् । टिड्हाणञ्द्वयस्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ऊीप् । माया= प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (युधा) युध संग्रहारे—क्विप् । युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन (जिता) प्राप्तपराजया । वशीकृता (रूपम्) १ । १ । १ । आकारम् । सौन्दर्यम् (चक्रे)

टिप्पणी—(असुर) शब्द के लिये १।१०।१ और (आसुरी) के लिये ७।३६।१। देखा। हे ओषधि! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है। ऐसा, १।२३।१ में आया है। ऋग्वेद १०।१२६।३, में कहा है।

तमं आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं संलिलं सर्वमा इदम् ।

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था। और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥ २ ॥

आसुरी। चक्रे। प्रथमा। इदम्। किलास-भेषजम्।
इदम्। किलास-नाशनम्। अनीनशत्। किलासम्।
सरूपाम्। अकरत्। त्वचम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु] को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया। [उसने] [ईश्वर माया ने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) सुन्दर रूप वाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥

हुकुम करणे—लिट्। कृतवती, दत्तवती (वनस्पतीन्) १।११।३। बनानां सेवकानां पालकान्। वृक्षान् सृष्टिपदार्थान्, इत्यर्थः ॥ १ ॥

२—(आसुरी) म० १। प्रकाशमय परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (चक्रे) म० १। कृतवती (प्रथमा) म० १। आदिभूता (इदम्) प्रसिद्धम्। उपस्थितम् (किलास-भेषजम्) किलासम् १।२३।१। किल + असु क्षेपणे-अण्। भिषजो वैद्यस्येदमिति अण् निपातनात् परत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ङ। रूपनाशकस्य महारोगस्य औषधम् (किलास-नाशनम्) कृत्य-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और लुब्धा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नाम । ते । माता । स-रूपः । नाम । ते । पिता ।

सरूप-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् ।

कृधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने वाले अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण वा स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है । (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने वाली है, (सा = सा त्वम्) सो तू (इदम्) इस [अंग] को (सरूपम्) सुन्दर रूप युक्त (कृधि) कर ॥३॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास + गुण अदर्शने—कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुण्डादिकस्य निवर्तकम् (अनीनशत्) णश्च अदर्शने—णिच्, लुङ् । नाशयति स्म (किलासम्) १ । २३ । १ । वर्ण-नाशकं महारोगम् (स-रूपाम्) उद्योतिजनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् (अकरत्) डुकृञ् करणे लुङ् । कृतवती (त्वचम्) १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—(स-रूपा) म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावा (नाम) अव्ययम् । नामन्स्त्रीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति स्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् (माता) १ । २ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा (स-रूपः) समानरूपः । समानस्वभावः, समानगुणः (पिता) १ । २ । १ । पालको जनकः । परमेश्वरः, मेघः सूर्यो वा (सरूप-कृत्) डुकृञ् करणे—किप् । ह्रस्वस्य

भाषार्थ—(औषधि) जुघा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं । ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियम पूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।

इदमु षु प्र साधय पुनरुपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

**श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता ।
इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि ।
कल्पय ॥ ४ ॥**

भाषार्थ—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने वाली तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उद्भृता) उखाड़ी गई है । (इदम् उ) इस [कर्म] को (सु) भली भांति से (प्र साधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

विति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । शोभनरूपकारिणी । समानगुणकारिणी (त्वम् औषधे) १ । २३ । १ । हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् (स-रूपम्) सुन्दररूपयुक्तम् (इदम्) रोगदूषितम् अङ्गम् (कृधि) भृशृणुपृकुवृभ्यश्चन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेधिर्वादेशः । कुरु ॥

४—(श्यामा) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप् । श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला । सुखप्रदा । औषधिः (सरूपम्-करणी) सरूपं क्रियते अनयेति । करणाधिकरणयोश्च । पा० । ३ । ३ । ११७ । इति कृञ् करणे-ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुग-भावश्चन्दसः । टिड्ढाणञ्द्वयसञ्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत्त कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

“धरि त्वात विघ्न अनेक पै निरभय न उद्यम तें टरै ।

जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करै ॥”

सूक्तम् २५ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः,
११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यदुग्निरापो अदहंत प्रविश्य यत्राकृ'एवन् धर्म-धृतो
नमौसि । तत्रं त आहुः परमं जुनित्रं स नः संविद्वान्
परि' वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अग्निः । आ । अपः । अदहंत । प्र-विश्य । यत्रं । अकृ'-
एवन् । धर्म-धृतः । नमौसि । तत्रं । ते । आहुः । परमुम् ।
जुनित्रम् । सः । नः । सम्-विद्वान् । परि' । वृङ्ग्धि । तुक्मन् ॥१॥

कर्त्री (पृथिव्याः) १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तीर्णया वा भूमेः सकाशात्
(अधि) पंचम्यर्थानुवादी (उत्-भृता) उत् + भृञ्-क्त । उत्क्राता । उत्पा-
विता (ऊं इति) पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्धिति-
निरु० १ । ६ (प्र + साधय) प्र + साध सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय
(पुनः) अनन्तरम् (पुना रुपाणि) रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य
लोपे कृते । इलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽस्यः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः
(रुपाणि) औन्दर्पाणि, स्वास्थयक्षणाणि (कल्पय) कपू सामर्थ्यं, णिच्
कपो रो कः । पा० ८ । २ । १८ । इति कत्तम् । संप्रदाय, पूरय ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस [सामर्थ्य] से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके (अपः) व्यापन शील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकृण्वन्) किया है । (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सब से ऊंचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, उवर ! [उवर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परि वृद्धि) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और उवर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—(यत्) यस्मात् सामर्थ्यात् (अग्निः) १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् (आ) समन्तात् (अपः) १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । “आपः” य० १७ । २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती (अदहत्) दह दाहे=सन्तापे-लङ् । अतपत् (प्र-विश्य) अन्तर्विगाह्य (यत्र) सामर्थ्ये (अकृण्वन्) कृषि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् (धर्मधृतः) अस्तिस्तुष्टुधृ० । उ० १ । १४० । इति धृञ् धारणे-मन् । धरति लोकान् भ्रियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्मः, न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्-किप्, तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्यादा-पालकाः पुरुषाः (नमांसि) एव प्रकृत्वे-असुन्, आद्युदात्तः । नम्रभावान् (तत्र) सामर्थ्ये (आहुः) भूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् । भुवन्ति, कथयन्ति (परमम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर+मा माने-क । प्रधानम् (जनित्रम्) अग्नित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादुर्भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् (सः) स त्वम् (सम्-विद्वान्) विदेः शतुर्बसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद् ज्ञाने-शतुर्बसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञानवान् (परि वृद्धि) वृज्जी वर्जने-रुधादित्वात् अम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद्युर्चिर्यदि षासि शोचिः शकल्येषु यदि वा ते
जुनित्रम् । ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्
परि' वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्य-इषि ।
यदि । वा । ते जुनित्रम् । ह्रूडुः । नाम । असि । हरितस्य ।
देव । सः । नः । सुम्-विद्वान् । परि' । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥२॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जुनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषु) अंग अंग की गति में है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म ज्वर अदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दबाने की कल में दबावे ।

(तक्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति तकि कृच्छ्रजीवने = दुःखेन जीवने—मनिन् । हे कृच्छ्रजीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—(यदि) संभाषनायाम्, चेत् (अर्चिः) अर्चिशुचिद्विस्तु० । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजायाम्—इति । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु—निघ० २ । १७ । ज्वलनकरः (शोचिः) शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इति । शोचति । ज्वलतिकर्मा, निघ० १ । १६ । तापकरः (शकल्य-इषि) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शकलृ शक्तौ—कल प्रत्ययः । शङ्कः खण्डः । पुनः समूहार्थे—य प्रत्ययः, ततः । क्तिप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्तिप् । शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (हूडुः) के स्थान में [रुडुः] पढ़ कर [रोहकः] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि' शोको यदि' वा भिशोको यदि' वा राज्ञो वरुण-
स्यास्ति पुत्रः । हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संवि-
द्वान् परि' वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि' । शोकः । यदि' । वा । अभि-शोकः । यदि' । वा । राज्ञः ।
वरुणस्य । असि' । पुत्रः । हूडुः । नाम । असि । हरितस्य ।
देव । सः । नः सम-विद्वान् । परि' । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यदि) चाहे, तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे
(अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले
(वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है । (हरितस्य) हे पीले
रंग के (देव) देने वाले ! (हूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम
है (सः) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, उवर ! [उवर समान
पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि
वृङ्ग्धि) छोड़ दे । ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य की ताप वा जल से
उत्पन्न उवर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शक्येत् । अंगानां गतौ (जनित्रम्) म० १ । जन्मस्थानम्
(हूडुः) ईषेः मिश्र । उ० १ । ११३ । इति हूडु गतौ, अत्र पीड़ने-कु । पीडा-
यन्त्रम् (नाम) १ । २ । ३ । प्रसिद्धः (हरितस्य) हृद् हरणे—इतन् । रोग-
जनित्रस्य पीतवर्णस्य (देव) हे द्योतक, दातः । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

३—(शोकः) शुचि शोके-कर्तरि घञ् । चजोः कुधिण्यतोः । पा० ७ । ३ ।
१२ । इति कुन्धम् । मनःपीडकः (अभि-शोकः) सर्वशरीरपीडकः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करे, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहे ॥ ३ ॥

नमः शीताय तुक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युर्भयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु
तुक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीताय । तुक्मने । नमः । रूराय । शोचिषे । कृणोमि ।
यः । अन्येद्युः । उभयद्युः । अभि-एति । तृतीयकाय । नमः ।
अस्तु । तुक्मने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शीताय) शीत (तुक्मने) जीवन को कष्ट देनेहारे उवर [उवर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिषे) ताप के उवर को [उवर रूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूँ । (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा उवर और (उभयद्युः) दो अन्तरा उवर (अभि एति) चढ़ता है, [तस्मै] [उस उवर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी (तुक्मने) उवर [उवर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

(राज्ञः) १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । सूर्य-
तापस्य जलस्य वा (पुत्रः) १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत्
उत्पन्नः । अन्यद् व्याख्यानम्—म० २ ॥

४—(शीताय) शैत्यं गतौ-क्त । द्रवमूर्तिस्पर्शयोः शयः । पा० ६ । १ । २४ ।
इति सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते
(तुक्मने) म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, उवराय उवरसमानाय परमेश्वराय
(रूराय) स्कायिनश्चिवञ्चिशक्तिं । उ० २ । १३ । इति रुङ् बधे-रक्,
दीर्घश्च । घातकाय, पीडकाय, क्रूराय (शोचिषे) म० २ । तापकराय
(कृणोमि) कृवि हिंसाकरणयोः । करोमि (यः) तक्मा, उवरः (अन्येद्युः)
अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने (उभयद्युः) अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के उबर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम छोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे ३१ ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।

आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासुः । असत् ।

आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवासः) हे विजयी शूर वीरो ! (असौ) वह (हेतिः) सांग वा वरुणी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (असत्) रहे (यम्) जिसे (अस्यथ) तुम फेंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, कौश्वव्यूह, मूर्धाव्यूह, आदि के अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि (अभि-पति) आगच्छाति (तृतीयकाय) त्रेः संप्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, संप्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—(आरे) दूरे (असौ) सा शत्रुप्रयुक्ता (हेतिः) १ । १३ । ३ । खड्गद्या-युधं शक्तिनामाश्रम् (देवासः) १ । ७ । १ । आज्ञावेत्सुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः (असत्) १ । २२ । २ । भवेत् (अश्मा) १ । २ । २ मेयः, आयुधवृष्टिः । पावाणः (यम्) अश्मानम् (अस्यथ) असु क्षेत्रे-तद्, दिवादित्वात् श्यन् । य्य क्षिपथ ॥

सखासावृस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।

सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।

भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना, और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महाप्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

युयं नः प्रवतो नृपान् मरुतः सूर्य'त्वचसः ।

शर्म' यच्छाथ सुप्रथः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्र-वतुः । नृपात् । मरुतः । सूर्य'-त्वचसः ।

शर्म' । यच्छाथु । सु-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नृपात्) न गिराने हारे राजन् ! और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—(सखा) १ । २० । ४ । सुहृत्, मित्रम् (रातिः) किञ्चित् च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७३ । इति रा दाने-किच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् (भगः) १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः (सविता) १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी (चित्र-राधाः) चित्र + राध संसिद्धौ-अस्तु । राध इति धननाम रान्धुवन्त्यनेनेति आरकः-नि० ४ । ४ । विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥ -

शूरवीर महात्माओ ! (यूयम्) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथः) बहुत विस्तीर्ण (शर्म) सुख वा शरण (यच्छाथ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्म-धुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिलकर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रखें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में (सप्रथाः) पाठ अशुद्ध दीखता है, साथ ही भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का (सप्रथः) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुषुदतं मृडतं मृडयं नस्तु नृभ्यः ।

मयस्तु केभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसुदतं । मृडतं । मृडयं । नः । तु नृभ्यः । मयः । तु केभ्यः ।
कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुषुदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुन्नी करो, [हे राजन !] तू (नः) हमारे (तु नृभ्यः) शरीरों को (मृडय)

३—(यूयम्) प्रवतो नपात् मरुतश्च (प्र-वतः) १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य । भक्तान् । द्विनीयायां बहुवचनं वा (नपात्) १ । १३ । २ । न पातयती-ति । हे अपातनशील राजन ! (मरुतः) १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः (सूर्य-त्वचसः) त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संव-रणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः (शर्म) १ । २० । ३ । सुखम्, शरणम् (यच्छाथ) दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त (स-प्रथः) सह + प्रथ कयातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—(सुसुदत) पूव आभुतिहत्योः । निरासे च । आभ्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकृत (मृडत) मृड सुजने । सुजयत (मृडय)

सुख दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१-४ ॥ स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १
पंक्तिः ८×५, २-४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पुरे पृ'दाकंस्त्रिषुता निर्ज'रायवः ।

तासां जरायु'भिर्वयमुच्या ३' वपि' व्ययामस्य-
घायोः परिपन्थिनः

अमूः । पुरे । पृदाकः । त्रि-सताः । निः-जरायवः । तासाम् ।
जरायु'-भिः । वयम् । अद्यौ । अपि' । व्ययामसि । अघु-योः ।
परि-पन्थिनः ॥ १ ॥

भावार्थ—(अमूः) वह (त्रिषताः) तीन [ऊंचे, मध्यम और नीचे]
स्थान में खड़ी हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] से निकली हुई
(प्रदाकः) सर्पिणी [या बाघिनी] रूप शत्रु सेनायें (पुरे) उस पार [वर्तमान]
हैं । (तासाम्) उनकी (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान]
(अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की
(अद्यौ) दोनों आँखों को (वयम्) हम (अपि व्ययामसिः) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुखय (तनूभ्यः) १ । १ । १ । शरीरेभ्यः (मयः) १ । १३ । २ । सुखम् । १
(तोकेभ्यः) १ । १३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—(अमूः) परिदृश्यमानाः, ताः (पुरे) पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्,
अथवा पृ पूर्तौ—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे (पृदाकः) पर्वते-
र्निन्त् सम्प्रसारणमहोपशब्च । उ० ३ । ८० । इति पर्व अपानशब्दे—काङ्, रेकस्य

भावार्थ—जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाघिनी माना के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों आंखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावें और वह घबराकर हार मान लेवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (निर्जरायवः) के स्थान में [निर्जरा इव] शब्द है ॥

विषू'च्येतु कृन्तुती पिनाकमिव बिभ्रंती ।

विष्वक् पुनुर्भुवा मनोऽसमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्ग्रहः स्वरितोऽनुदा-
सस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्वते कुत्सितं शब्दयति सा पृदाकूः
सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्या व्याघ्र इव वा दुष्टस्वभावाः शत्रुसेनाः
(त्रि-सप्ताः) १ । १ । १ । त्रि + षप समवाये—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीच-
स्थानेषु सम्बद्धाः, स्थिताः (निः-जरायवः) निर् + जरायवः । १ । ११ । ४ ।
षिट्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जृ-प्, वयोदानौ-अङ्, टाप् ।
आहशोऽङ्गि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीर-
निर्बलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा + इण् गतौ-भ्रुण् । जरां
जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः ।
निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः (तासाम्) पृदाकूरूपाणां शत्रु-
सेनानाम् (जरायु-भिः) पूर्ववत्, जरा + इण्-भ्रुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपट-
चेष्टाभिः—इति यावत् (वयम्) योद्धारः पुरुषाः (अदयौ) १ । ८ । ३ । अशू
व्याप्तौ—किस । यद्वा, अशू व्याप्तौ—इन्, ततो डीप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत्
स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे (अपिष्ययामसि) व्येञ्
संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिष्ययामः,
आच्छादयामः, स्वबुद्धिबलैः प्रमोहयामः (अघायोः) १ । २० । २ । अघं
परहिंसनमिच्छतीति अघायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः (परि-पन्थिनः)
छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि पा० ५ । २ । ८६ । इति परि + पथि
गतौ—थिनि । निपातितः । युङ्गे प्रत्यवस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषूची । एतु । कृन्तती । पिनाकम्-इव । बिभ्रती ।

विष्वक् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-मृद्धाः । अघु-यवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (बिभ्रती) उठाये हुये (कृन्तती) काटती हुयी [हमारी सेना] (विषूची) सब ओर फैल कर (एतु) चले । और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर आयी हुयी [शत्रु सेना] का (मनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (अनमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भाषार्थ—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (पुनर्भुवाः) के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न बृहवुः समश्कुन् नार्भुका दाधृषुः ।

वेणोरदृगा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

२—(विषूची) ११६।१। नानाविधं गच्छन्ती, नानामुखी (एतु) गच्छतु (कृन्तती) कृती छेदने-शतृ । तुदादित्वात् शः । शे मुचाशीनाम् । पा० ७।१।५६। इति नुम्, ततो डीप् । छिन्दती, भिन्दती शत्रुसेना (पिनाकम्) पिनाकादयश्च । उ० ४।१५। पारक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् (बिभ्रती) १।१।१। डुभृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । उगितश्चि । पा० ४।१।६। इति डीप् । धारयन्ती (विष्वक्) १।१६।१। नानामुखम्, अनवस्थितम् (पुनः-भुवाः) पुनः+भू सत्तायाम्—किप् । पुनः संघीभूतायाः पृदाकाः, शत्रुसेनायाः—इत्यर्थः (मनः) चत्तिम् (असम्-मृद्धाः) ऋधु वृद्धौ-क । असम्पन्नाः, निर्धनाः (अघायवः) म० १। अनिष्ट-चिन्तकाः शत्रवः ॥

न । बृहवः । सम् । अशकुन् । न । अर्भकाः । अभि । दाधृषुः ।
वेणोः । अद्गाः-इव । अभितः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥३॥

भावार्थ—(न) न तो (बृहवः) बहुत से शत्रु (सम्शकुन्) समर्थ हुये (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुत्रों के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [हावें] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नीरस सूखे बांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें । इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (दाधृषुः) के स्थान में [दादृशुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं बृहत् पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

३—(बृहवः) लङ्घिर्वहोर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इतिबहि वृद्धौ-कु, नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वरथपदातियुकाः शत्रवः (सम्) सम्यक्, अल्पम-पीत्यर्थः (अशकुन्) शक्नु शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् (अर्भकाः) अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दत्तमन्नकमि-त्यल्पस्य । इति यास्कः-निरु० । ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः (अभि) आभिमु-क्येन (दाधृषुः) धृषु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट्, दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः (वेणोः) अजिवृरीभ्यो निष् । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षपणयोः-णु । वीभावो गुणश्च । वंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः (अद्गाः) गन् गम्यन्ताः । उ० १ । १२३ । इति अद् भक्षणे-गन् । अद्यतं भक्षयते स अद्गः । पुरो-डाशाः (अभितः) सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र। इतुम् । पादौ । प्र । स्फुरतुम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् ।
इन्द्राणी । एतु । प्रथुमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (वहतम्) पहुंचाओ । (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) बिना जीता और (अमुषिता) बिना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्ति करे ॥

(इहेन्द्राणीमुपंह्ये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १ । २२ । १२ ।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—(प्र+इतम्) इण् गतौ—लोट् । युवां प्रकर्षेण गच्छतम् (पादौ) हे मम पादौ (स्फुरतम्) स्फुर स्फुरतौ, चलने च—लोट् शीघ्रं चलतम् (वहतम्) वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः । अस्मान् प्रापयतम् (पृणतः) पृण तर्पणे, तुदादिः—शतृ । तर्पयितृन् सुखयितृन् पुरुषान् (गृहान्) पुंलिङ्गम् । गोहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने—क । दारान् दारादीन् गृहस्थान् प्रति (इन्द्राणी) इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः—इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ । इन्द्रवरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४६ । इति इन्द्र—ऊष् अनुक् च । इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः । महासमृद्धिः महालक्ष्मीः (एतु) इण्—गतौ । गच्छतु (प्रथमा) १ । १२ । १ अपूर्वा । प्रख्याता, उत्कृष्टा (अजीता) जि—क । सांहितिको दीर्घः । अनिर्जिता, अपराभूता (अमुषिता) मुष बधे, लुण्ठने—क । अनपहृता (पुरः) पुरस्तात् । अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-४ । चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः ।

दहन्नपं द्रुयाविनो यातुधानान् किमीदिनः ॥ १ ॥

उप । प्र । अगात् । देवः । अग्निः । रक्षः-हा । अमीव-चातनः ।

दहन् । अपं । द्रुयाविनः । यातु-धानान् । किमीदिनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) गक्षसों का मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्रुयाविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है पेसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुँचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जय सेनापति अग्नि रूप होकर शर्नाग्नि [तोप] भुशुण्डी [बन्दूक], धनुष बाण तरवार आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—(अगात्) इण् गतौ-लुङ् । अगमत् (देवः) १ । ७ । १ । विजयी (अग्निः) अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः (रक्षः—हा) रक्ष पालने-अपादाने अनु रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः—निरु ४ १८ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति रक्षः+हन-क्विप् । हिंसकानां हन्ता (अमीव-चातनः) इण्शीर्ष्यां वन् । ३० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीव दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता । (अप+दहन्) दह-शतृ । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् (द्रुयाविनः) द्रुयं वाचिकं मधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि । पा० ५ । २ । १२२ । इति द्रुय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मायाविनः (यातु-धानान्) १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् (किमीदिनः,) १ । ७ । १ । पिशुनान्, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रतिं दह यातुधानान् प्रतिं देव किमीदिनः ।

प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रतिं । दह । यातु-धानान् । प्रतिं । देव । किमीदिनः ।

प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी राज्ञसों और (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली मूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रति दह) जला दे । (कृष्णवर्तने) हे धूँआ धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः = ०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भाषार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शुशाप शर्पनेन याघं मूरमादधे ।

या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमन्तु सा ॥ ३ ॥

२—(प्रति) प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् (दह) । भस्मीकुरु, (यातु-धानान्) म० १ । पीडादातृन्, राज्ञसान् (देव) म० १ । हे विजयशाल ! (किमीदिनः) म० १ । पिशुनान् (प्रतीचीः) ऋत्विग्दधृक० । पा० ३ । ३ । ५६ । इति । प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः-किन् । नलोपः, डोप् । यथा विषूचीः शब्दः, १ । १६ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः (कृष्ण-वर्तने) वृत्तेश्च । उ० २ । १०६ । इति वृत्तु वर्तने-अग्नि । कृष्णा कृष्णावर्णा शत्रुगोभुशुङ्गादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते (सम्) सम्यक्, सर्वथा (यातु-धान्यः) पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु-धान-ङीष्, शसः स्थाने छन्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीडा-दायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शुशापं । शपनेन । या । अघम् । मूरम् । आ-दधे ।
या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रेभे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है । और (या) जिस ने (रसस्य) रस [बलादि] के (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश कर दें ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आदरे] पाठ है ॥

३—(या) यातुधानी शत्रुसेना (शशाप) शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती (शपनेन) शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन (अघम्) अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं, दुःखम् । दुःखकरम् (मूरम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः—किप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति लृकारलोपः । मूर्छाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे—कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् (अघं मूरम्) दुःखकरं मूलं शरणम् (आ-दधे) आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परिजग्राह (रसस्य) रस आस्वादे—पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य (हरणाय) अपहरणाय, नाशनाय (जातम्) जनी प्रादुर्भावे—क्त । अस्माकं समूहम् (आ-रेभे) आङ् पूर्वात् लभ आत्मने=स्पर्शे—लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती (तोकम्) १ । १३ । २ । वृद्धि-करं । सन्तानम् (अत्तु) भक्षयतु नाशयतु (सा) शत्रुसेना ।

पुत्रमन्तु यातुधानीः स्वसारमुत नृप्यम् ।

अधो मिथो विकेश्यो ३' वि घ्नतां यातुधान्यो ३'

वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अन्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नृप्यम् ।

अधः । मिथः । वि-केश्यः । वि' । घ्नताम् । यातु-धान्यः ।

वि । तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यातुधानीः = ० — नी) दुःख दायिनी [शत्रुसेना] (पुत्रम्) [अपने] पुत्र का, (स्वसारम्) भली भाँति काम पूरा करने वाली वहिनी को (उत) और (नृप्यम् = नृप्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अन्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे । (अध) और (विकेश्यः) केश बिखरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः) आपस में (वि घ्नताम्) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने वाली (यातु-धान्यः) दुःख पहुँचाने वाली [शत्रु प्रजायें] (तृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में हलचल मचावे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हट दुराग्रह करके, कर आदि न दें उन को दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—(पुत्रम्) १ । ११ । ५ । स्वसुतम् (यातु-धानीः) म० २ । प्रथमै क-वचनं छन्दसि यथा धीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना (स्वसारम्) सावसेर्ञ्चन् । उ० २ । ६६ । इति सु + असु क्षेपणे-ञ्चन् । सुष्ठु अस्यति समा-प्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् (उत) अपि च (नृप्यम्) नृपत्नेष्टृत्वद्-होतु० । उ० २ । ६५ । इति न + पत अधोगमने-तृच् । न पत ति वंशो यस्मात् स-नता । ऋन्नेभ्योङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति नृपशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वकस्य विकल्पाद् यथादेशः । नृप्रीम्, पौत्रीं दौहि-त्रीं वा (अध) यस्य धः । अध, अन्तरम् (मिथः) मिथ बन्धे, मेधायाम्-

तीनों संहिताओं में (यातुधानीः) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीखता है ।
सायण भाष्य में (यातुधानी) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह (अन्तु) क्रिया
के संबन्ध में ठीक है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:०:०:०:—

सूक्तम् २६ ॥

१-६ ॥ वसिष्ठ ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभिवर्तेन मुणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभि-वर्तेन । मुणिना । येन । इन्द्रः । अभि-वृधे ।

तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस (अभिवर्तेन) विजय करने वाले (मुणिना)
मुनि से [प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से] (इन्द्रः) बड़े पेश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् । परस्पम् (वि-केश्यः) स्वाङ्गा-
द्योपसर्जनाद् सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीष् । विकीर्णकेशयुक्ताः
परस्परताडनेन (वि) विविधम् (घ्रताम्) हन हिंसागत्योः—लोढि बहु-
वचने । हन्यन्ताम् । झियन्ताम् (यातुधान्यः) म० १ । पीडाप्रदाः शत्रुसेनाः
(वृहन्ताम्) वृह हिंसायाम्—कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् (अराध्यः)
रा दाने—घञ् युक् आगमः ङीष् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१—(अभि-वर्तेन) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति
अभि+वृत्तु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

(अभि) सर्वथा (ववृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद वा ब्रह्मा [वेदवेत्ता] के रत्नक परमेश्वर ! (अस्मान्) हमलोगों को (राष्ट्राय) राज्य भागने के लिये (अभि) सब ओर से (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं । जंसे (मणिना) के स्थान में [हविषा] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्य सुपत्नानुभि या नो अरातयः ।

अभि पृतन्यन्तं तिष्ठामि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्य । सु-पत्नान् । अभि । याः । नुः । अरातयः ।

अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः । नुः । दुरस्यति ॥२॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मणस्पते] (सपत्नान्) [हमारे] प्रतिपक्षियों को, और (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

स अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन, जयशीलेन (मणिना) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कूजे—इन् । रत्नेन, प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राज-चिन्हेन (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् पुरुषो जीवः (अभि-ववृधे) वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० । ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अमितः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव (तेन) मणिना (ब्रह्मणः + पते) १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर ! (राष्ट्राय) सर्वधातुभ्यः ष्टून् । उ० ४ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—ष्टून् । राजति ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । ब्रश्चभ्रः ऋसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षः । राज्यवर्धनाय (वर्धय) वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्थय, समृद्धान् कुरु ॥

[उन को] (अभि) सर्वथा (अभिवृत्त्य) जीतकर (प्रतन्यन्तम्) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हम से (दुरस्यति) दुष्ट आचरण करे, (अभि) सर्वथा (अभि तिष्ठ) दू दबा ले ॥२॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा करके अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रखे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अगतयः) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अज्ञानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।

अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि-सोमः । अवीवृधत् ।

अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भावार्थ—[हे परमेश्वर ।] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने वाले, सूर्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी

२—(अभि-वृत्त्य) अभि+वृत्—ल्यप् । अभिभूय, पराजित्य (स-पत्नान्) १ । ६ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् (अभि) अभितः । सर्वथा (याः) ताः याः (अगतयः) १ । २ । २ । अज्ञानशीलाः प्रजाः । इति साय-
णेऽपि ऋ० १० । १७४ । २ (अभि+तिष्ठ) अभिभव, पराजय, त्वं ब्रह्मणस्पते (पृतन्यन्तम्) १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना क्यच्—शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् (यः) = तम् यः (नः) अस्मान् (दुरस्यति) जरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यच्चि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—(अभि) अभितः सर्वतः (त्वा) त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् (देवः) प्रकाशमयः (सविता) १ । १८ । २ । सूर्यः (सोमः) १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है,] (यथा) क्योंकि तू (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (अससि) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभीवृर्तो अभिभुवः सपत्नक्षयणो मणिः ।

राष्ट्राय मह्यं बुध्यतां सुपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभि-वृर्तः । अभि-भुवः । सुपत्न-क्षयणः । मणिः ।

राष्ट्राय । मह्यम् । बुध्यताम् । सु-पत्नेभ्यः । परा-भुवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभुवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य], रत्न आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझ पर (राष्ट्राय)

तम् । चन्द्रः (अवीवृधत्) वृधु वृद्धौ, णिच्-लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् (अभि) = अभि अवीवृधन् अस्तुवन् (विश्वा) शेरुक् । विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तूनि, तत्त्वानि (अभिवर्तः) म० १ । वृत्तु-वञ् । अभिभविता, शत्रुजेता (यथा) यस्मात् कारणात् (अससि) अस भुवि-लट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—(अभिवर्तः) म० १ । जयशीलः (अभिभुवः) अभि + भू-अप् । अभिभविता (सपत्न-क्षयणः) नन्दिप्रहिपच्चादिभ्यो ल्युणिन्यच् । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपत्न पूर्वात् क्षि क्षये-कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकारः (मणिः)

राज्य की वृद्धि के लिये और (सपत्नेभ्यः) बैरियों को (पराभुवे) दबाने के लिये (बध्यताम्) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिस से शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उदुसौ सूर्यो अगादुदिदं मामुकं वचः ।

यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नुहा ॥ ५ ॥

उत् । असौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामुकम् । वचः ।

यथा । अहम् । शत्रु-हः । असानि । असपत्नः । सपत्नु-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इदम्) यह (मामुकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १ । रत्नम् । प्रशस्तं सामर्थ्यम् (राष्ट्राय) म० १ । राज्यवर्धनाय (मह्यम्) मर्दर्थम् (बध्यताम्) बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् (सपत्नेभ्यः) शत्रुभ्यः (पराभुवे) परा+भू-भावे क्तिप् । पराभवनाय ॥

५—(उत्+अगात्) १ । २८ । १ । उदितवान् (सूर्यः) १ । ३ । ५ । लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः (उत्)=उत् अगात् (इदम्) वक्ष्यमाणं वचनम् (मामुकम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद् अण् । तवक्रममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् (वचः) वच कथने-असुन् । वाक्यम् । वचनम् (यथा) येन कारणेन (अहम्) राजा (शत्रु-हः) अशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति शत्रु+हन हिंसागत्योः-ङप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता (असानि) अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (अस-
पत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करे कि
जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा
[ढंढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न
अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १०।१५६।१। का पूर्वार्ध है वहां (वचः) के
स्थान में (भगः) है ॥

सुप्तुक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सुप्तुक्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्रः । वि-सुसहिः ।

यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यथा) जिस से कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने
वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं
(अभिराष्ट्रः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च)
और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूँ ॥ ६ ॥

भवानि (असपत्नः) म० २ । शत्रुरहितः (सपत्नहा) क्तिप् च । पा० ३ । २ ।
७६ । इति सपत्न + हन-क्तिप् । रिपुहन्ता ॥

६—(सपत्न-क्षयणः) म० ४ । शत्रुनाशकः (वृषा) १ । १२ । १ । वृषु
ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महाबली (अभि-राष्ट्रः)
म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः (विषासहिः) सहिवहिचलियतिभ्यो
यङन्तेभ्यः किकिनी वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि ।
अतोलोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा, अभिभविता (एषाम्)
उपस्थितानाम् (वीराणाम्) वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तानां, शूरा-
णाम्, भटानाम् (वि-राजानि) राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करते हुये शूरवीर
योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥
ध्यामो

१-४ ॥ आयुष्मोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षते ममुतादित्या जागृत यूय-
मुस्मिन् । मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत्
पौरुषेयो वुधो यः ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । वसवः । रक्षत । इमम् । उत । आदित्याः ।
जागृत । यूयम् । अस्मिन् । मा । इमम् । सनाभिः । उत ।
वा । अन्यनाभिः । मा । इमम् । प्र । आपत् । पौरुषेयः ।
वुधः । यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे भेष्ट (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महा-
त्माओ ! (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः)
हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के
विषय में (जागृत) जागते रहो । (सनाभिः) अपने बन्धु का, (उत वा)

शासिता भवानि (जनस्य) जनी प्रादुर्भावि-अच् । अधीगर्थदयेषां कर्मणि ।
पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—(देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः (वसवः) १ । ६ । १ । निवा-
स्यितारः । प्रशस्ताः भेष्टाः (रक्षत) पालयत (इमम्) माम् राजानम्
(आदित्याः) १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो प्रदीतारः ।
अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः (जागृत) जागृ निम्नप्राप्तये—
कोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत (मा) निषेधे (सनाभिः)

अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (बधः) बध का यज्ञ है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुँच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय मन्त्री और युद्ध मन्त्री आदि कर्मचारी शूरावीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेत्न्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ ३ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुते द-
मुक्तम् । सर्वेभ्यो वुः परि' ददाम्येतं स्वस्त्यैनं जुरसे
वहाथ ॥ २ ॥

ये । वुः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे ।
शृणुते । दमुक्तम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वुः । परि' । ददामि ।
एतम् । स्वस्ति । एतम् । जुरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजया देवतानो ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति एह बन्धने-कर्मणि इम् समानस्य सः । समा-
नेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो बधः (अन्य-नाभिः) अन्येन संबद्धः ।
अजातिकृतो बधः (प्र+आपत्) आपत् व्याप्ती—लुङि । प्राप्नोतु (पौरुषेयः)
सर्वपुरुषाभ्यां णडञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् बधविकारसमूह-
तेन कृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-दम् । पुरुषकृतः (बधः) १ । २० । २ ।
इननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—(पितरः) १ । १ । १ । पालकाः, उत्पादकाः (पुत्राः) १ । ११ । ५ ।
आत्मजाः (स-चेतसः) समान + चित्ती जाने—अनुत् । समानस्य छन्दसि० ।
पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभाषः । समानचित्ताः, एकमनस्काः (शृणुत) श्रु

(शृणुत) सुनो । (सर्वेभ्यः वः) तुम सब को मैं (एतम्) इमे [अपने को] (परि ददामि) सौंपता हूँ, (एनम्) इस पुरुष के लिये [मेरे लिये] (स्वस्ति) कल्याण और मङ्गल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुँचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(जरसे) शब्द का अर्थ “स्तुति के लिये” निघंटु ३ । १४ । निरु० १० । ८ । और सायणभाष्य ऋग्वेद १ । २ । २ । के प्रमाण में किया है । यहां पर सायणभाष्य में “जरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम् । बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक” जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है । देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

**यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तुन्व १ः स्वायाः ।
अश्लोणा अङ्गै रहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥**

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं,

अवणे—लोट् । आकर्णयत (इदम्) वक्ष्यमाणम् (उक्तम्) वच कथने—क्त । वचिस्वपियजादी० पा० ६ । १ । १५ । इति संप्रसारणम् । वचनम् (वः) युष्मभ्यम् (परि ददामि) रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम् । रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि (एतम्) आत्मानम् (स्वस्ति) सावसेः । उ० ४ । १८१ । सु + अस सत्तायां—ति । आशीर्वादम्, लोभम् (एनम्) माम् प्रति । (जरसे) जरते स्तौतीत्यर्चनिकर्माणौ—निघ० ३ । १४ । जरा स्तुतिर्जरते—स्तुतिकर्मणः । निरु० १० । ८ । यथा । वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः । ऋ० १ । २ । २ । जरन्ते = स्तुवन्ति, जरितारः = स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये । जृ स्तुतौ, नैरुक्धातुः । यद्वा । गृशब्दे = स्तुतौ—असुन्, गकारस्य जकारः । स्तुत्यर्थम् । प्रशंसाप्राप्त्यर्थम् (वहाथ) वह प्रापणे—लेट् । द्विकर्मकः । यूयं प्रापयत ॥

वहाँ पर स्वर्ग में बिना लंगड़े हुये और अंगों से बिना टेढ़े हुये हम माना पिता और पुत्रों को देखने रहें ।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८६ । ८ ।

भुद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भुद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ संस्तुनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आंखों से हम शुभ देखते रहें । दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है ॥

ये देवा दिवि ष ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ओषधीषु पशुष्वप्सु अन्तः । ते कृणुत जरसमायुस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्युन् ॥ ३ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे । ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम् आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्युन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्यलोक में, (ओषधीषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो । (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त

३—(देवाः) हे दिव्यगुणाः । दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः (दिवि) दिव्य कीड़ा-विजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्षिप् । प्रकाशे सूर्यसमानलोके (स्थ) अस भुवि लट् । भवथ, वर्तध्वे (पृथिव्याम्) १ । २ । १ । विस्तृतायां प्रख्यातायां वा भूमौ (अन्तरिक्षे) अन्तः सूर्यपृथिव्यार्मध्ये ईदयते । अन्तर् + ईद दशने-कर्मणि

(आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्यून) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

अच् । यद्वा । अन्तर्मध्ये अक्षत्राणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, अकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा—इति भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वम-
ध्ये दृश्यमाने । आकाशे (ओषध्यां) १ । २३ । १ ओषधि—जीप् ओषध्यः फल-
पाकास्ता बहुपुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफल-
धान्यादिषु (पशुषु) अजिज्जदशिकम्यमिपसीति० । ३० १ । २७ । इति दशिर्
प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशाः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्रणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु
(अप्सु) १ । ४ । ३ । आप्लु—किप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्री-
मद्दयानन्दभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा (अन्तः) मध्ये (ते)
सर्वे देवा यूयम् (कृणुत) कुरुत (जरसम्) म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्श-
आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशं-
नीयम् (आयुः) ऐतेरिषिभिः । ३० २ । ११८ । इति इण् गतौ—उसि । ईयते प्रा-
प्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः (अस्मै) आत्मने, मह्यम् (शतम्)
अपग्मितान् (अन्यान्) स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून (परि+वृणक्तु)
वृजो वर्जने—लोट् । अयम् उपानकः परिवर्जयतु (मृत्यून) भुजिमृङ्क्षां
युक्त्युक्तौ । ३० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे—त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि ।
अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ८ । २ । २७ ॥

य ईशे पशुपतिः पशुनां चतुष्यदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है ।

(अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्दधानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७ । २५ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत । वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च
देवाः । येषां वुः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो
अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्र-याजाः । उत । वा । अनु-याजाः । हुत-भागाः ।
अहुत-अदः । च । देवाः । येषाम् । वुः । पञ्च । प्र-दिशः । वि-
भक्ताः । तान् । वुः । अस्मै । सत्र-सदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतादः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने वाले [वा प्रकाश वाले] हैं । और (येषाम् वुः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशाएँ] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं (तान् वुः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूँ ॥ ४ ॥

४—(प्र-याजाः) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा । ३ । ३ । १६ । इति प्र + यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-घञ् । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । पा० ७ । ३ । ६२ । इति कुस्वप्रतिषेधो निपात्यते । प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि (वा) समुच्चये, पाद-पूरणे वा (अनु-याजाः) अनु + यज-घञ् पूर्ववत् । अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि (हुतभागः) हु दानादानदानेषु-क्त । भज भागसेवयाः-भावे घञ् । हुतस्य, दत्तस्य, दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः (अहुत-अदः) संपदादिभ्यः क्विप् । वार्त्तिकम्, पा० ३ । ३ । ६४ । अहुत + अद भक्षणे-भावे क्विप् । अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हैं और सब संसार के हित में दत्तचित्त हैं, राजा उन महात्माओं को चुनकर अपनी राजसभा का सभासद बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है ।
भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं । यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उस का परलोक कहाँ से हो ३१ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्ठाज् ज्योतिः, ११ × ३ + ८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशीनामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।

इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥

भोजनानि । धनधान्यादीनि (देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः । प्रकाशमयाः (पञ्च) सध्यश्रुभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति बाहुलकात् पचि व्यक्तीकारे विस्तारे च-कनिच् । विस्तीर्णाः, वयकाः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा (प्र-दिशः) प्र + दिश दाने आक्षापने च-किप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः (वि-भक्ताः) वि + भज-क्त । प्रातर्विभागाः (अरुमै) आत्मने, मर्दर्थम् (सत्र-सदः) गुधृवी-पचिवचियमिसदित्तिदिभ्यस्त्वः । उ० । ४ । १६७ । इति षडूल् विशरणगत्यवसाद-नेषु-प्रप्रत्ययः । स्वीदन्ति यत्रेति मत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सप्तमृद्विष-द्रुह० । पा० ३ । २ । ६१ इति सत्रोपपदे तस्मादेव धाताः-कर्तरि क्विप् । सभा-सदः, सभ्यान् (कृणामि) कृवि हिंसाकरणयोः-लट् । करोमि ॥

आशानाम् । आशा-पालेभ्यः । चतुः-भ्यः । अमृतैःभ्यः ।

इदम् । भूतस्य । अधि-अक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य पुरुषों [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थों] के लिये (अमृतेभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) संवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये । इन के हाँ पाने से मनुष्य की सब आशाएँ वा कामनाएँ पूर्ण होनी हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चतुवारु स्थनं देवाः ।

ते नो निर्वृत्याः पार्श्वेभ्यो मुञ्चतांहंसोऽग्रहंसः ॥ २ ॥

१—(आशानाम्) आङ् + अश् व्यसौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये (आशा-पालेभ्यः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा + पल वा पाल, रक्षणे-अण् । दिशानाम् आकांक्षानां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः (चतुर्भ्यः) चतेरन् । उ० ५ । ५८ । इति चत याचने-उरन् । याचनीयेभ्यः, कमनीयेभ्यः । अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः (अमृतेभ्यः) मृतं मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः (इदम्) इदानीम् (भूतस्य) लोकस्य (अधि-अक्षेभ्यः) अध्यक्षोति समन्ताद् व्याप्नोति । अधि + अक्ष व्यसौ संहतौ-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः (विधेम) १ । १२ । २ । परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा (कस्मै देवाय हविषा वधेम) य० १३ । ४ (हविषा) १ । १२ । २ । आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।
ते । नः । निःऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः-अंहसः ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओं ! (ये) जो तुम (आशा-
नाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार]
(आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थन) वर्तमान हो, (ते) वे तुम (नः)
हमें (निऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अहसो-
अंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारों
पदार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश
करना चाहिये ॥ २ ॥

अस्त्रामस्त्वा हुविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन
जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स
नः सुभूतमेह वञ्चत ॥ ३ ॥

२—(आशानाम्) म० १ । दिशानां मध्ये (आशा-पालाः) म० १ ।
आकाङ्क्षानाम् पालकाः, लोकपालाः (चत्वारः) म० १ । याचनीयाः प्रार्थ-
नीयाः । चतुःसंख्याका धर्मार्थकाममोक्षा वा (स्थन) तपत्तनपूनाधनाश्च ।
पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने धनादेशः । यूयं
स्त भवत (देवाः) हे दिव्यगुणाः पुरुषाः (निऋत्याः) निः+ऋ हिंसने
क्तिन् । नितराम् अतिवृणा अशुभं वा यस्याः सा निऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः ।
उपद्रवस्य (पाशेभ्यः) पश बाधे, ग्रन्थे-ग्रन्थ् । बन्धनेभ्यः (मुञ्चत) मुक्त
मोक्षे । मोचयत (अंहसः-अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम
रोगे, पीडने-असुन्, हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति शिर्ष-
खनम् । सर्वस्माद् दुःखात्, पापात् ॥

अस्त्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन
जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः ।
सः । नः । सु-भूतम् । आ । इह । वृक्षत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे परमेश्वर !] (अस्त्रामः) श्रम रहित मैं (त्वा) तुझ को
(हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूं, (अश्लोणः) लंगड़ा न होना हुआ मैं
(त्वा) तुझ को (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि)
स्वीकार करता हूं । (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में (आशापालः)
आशाओं को पालन करने वाला, (तुरीयः) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा,
चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाशमय है, (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह)
यहां पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (आ + वृक्षत्) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन
करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदी-
श्वर का दर्शन करके [अथवा धर्म, अर्थ, और काम की सिद्धि से पाये हुये
चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—(अस्त्रामः) श्रम तपःस्वेदयोः—अन् । शस्य सकारः । श्रमरहितः,
स्वेदरहितः (त्वा) त्वाम्, परमेश्वरम् (हविषा) म० १ । भक्त्या ।
(यजामि) पूजयामि (अश्लोणः) श्रोण संवाते = राशीकरणे—अन् ।
रस्य लः । अश्रोणः, अपङ्गुः (घृतेन) अश्विघृसिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ ।
इति घृभासे—भावे क । क्षीप्त्या, स्वज्ञानप्रकाशेन । आज्येन (जुहोमि)
१ । १५ । १ । अहम् आददे, स्वीकरोमि (यः) आशापालः (आशानाम्)
म० १ । दिशानाम् (आशा-पालः) म० १ । इच्छापालकः (तुरीयः) तुरो
वेगः, अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरबान्, वेगवान् परमेश्वरः [अथवा] चतुरश्र-
यतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ, चकार-
लोपश्च । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको मोक्षः—इति (सु-भूतम्) सु + भू सत्तायां
भावे-क । सुभूतिम् । सु सुष्ठ प्रभूतं धनम्, (आ) समन्तात् (इह) अत्र ।

सायणभाष्य में (अश्रामः) के स्थान में [अश्रामः] और (अश्लोणः) के स्थान में [अश्लोणः] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो
अस्तु ज्योगेव दृशेमु सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः ।
जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः ।
अस्तु । ज्योक् । एव । दृशे-मु । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे)
पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के
लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति)
आनन्द [होवे] । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) । उत्तम पेश्वर्य और (सुविदत्रम्)

(वक्षत्) वह प्राणो-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत् , प्रापयेत् , आहृत्य
दद्यात् ।

४—(स्वस्ति) १ । ३० । २ । क्षेमम् , मङ्गलम् (मात्रे) १ । २ । १ मान-
नीयायै जनन्यै (पित्रे) १ । २ । १ । पालकाय , जनकाय (गोभ्यः) १ । २ ।
३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः (जगते) वर्तमानेपृषद्-
बृहन्महज् जगच् छतृषब्ध । उ० २ । ८४ । इति गम्ल-अति । निपातितश्च ।
गतिशीलाय संसाराय (पुरुषेभ्यः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्र-
गत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः (विश्वम्)
सर्वम् (सु-भूतम्) म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् (सुविदत्रम्) सुविदेः कत्रन् ।
उ० ३ । १०८ । इति सु + विद ज्ञाने, विदुल्ल लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा
व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेवैकोपसर्गाद् दृशतेर्वा स्वाह

उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (उयोक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथं मुहद् ब्रह्मं वदिष्यति ।

न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासुः । विदथं । मुहत् । ब्रह्मं । वदिष्यति । न ।

तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

भावार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानने हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (मुहत्) पूजनीय (ब्रह्म) परब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

द्वयुःसर्गात्—निरु० ७। ६ । तथा । सुविद्वः कल्याणविद्यः—निरु० ६। १४ । शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा (उयोक्) १। ६। ३ । चिरकालम् (दृशेम) दृशिर् प्रेक्षणं—आशीर्लिङ् । वयं पश्येम (सूर्यम्) १। ३। ५ । आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (जनासः) १८। १ । आजसंरसुक् । पा० ७। १। ५० । इति जसि असुक् । हे जनाः, विद्वांसः (विदथ) विद ज्ञाने अदादिः—लट् मध्यमवहुवचनं छन्दसि शः । यूयं विदथ, जानीथ (मुहत्)

(दिवि) सूर्य्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा सूर्य्य आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है । ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड १ मन्त्र ३ ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न
विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्वि-
दितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये
नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत् का अनुशासन करता है । वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है । ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्होंने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

१। १०। ४। पूजनीयम् (ब्रह्म) १। ८। ४। परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम् (वदिष्यति) वद वाक्ये—लट् । कथयिष्यति (न) निषेधे (तत्) ब्रह्म (पृथिव्याम्) १। २। १। प्रख्यातायां भूमौ (नो इति) न—उ । नैव (दिवि) १। ३०। ३। द्युलोके, सूर्यमण्डले (येन) ब्रह्मणा (प्राणन्ति) प्र+अन जीवने, अदादिः । जीवन्ति, श्वसन्ति (वीरुधः) विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् वा सा वीरुत् । वि+रुध आवरणे—किप्, दीर्घश्च । अथवा । वि+रुह प्रादुर्भावे—किप् । न्यङ्कादीनां च । पा० ७। ३। ३५। इति हस्य धः । विरोहण-शीलाः । विस्तृता लतादयः । लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केतोपनिषत् का वचन है, ख० १ म० ८ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है । जिस करके प्राण चलाया जाता है ।
उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिस के पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्षं आसुं स्थाम् श्रान्तुसदामिव ।

आस्थानंभूतस्य भूतस्य विदुष्टं वेधसो न वा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं । आसुम् । स्थाम् । श्रान्तुसदाम्-इव ।

आ-स्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः न । वा ॥२॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देनेहारे आकाश रूप परमेश्वर में (आसुम्) इन का [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम्) ठहराव है (श्रान्तुसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव । (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भावार्थ—मूर्त्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केंद्र है । इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—(अन्तरिक्षे) १ । ३० । ३ । सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे (आसुम्) वीरुधाम् । म० १ । विरोक्षणशीलानां पदार्थानाम् (स्थाम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् । स्थानं । स्थितिः (श्रान्त-सदाम्) श्रमु तपःस्नेदयोः—भावे क + षट् लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्विप् । श्रमेण मार्गस्नेदेन स्थितानाम् (आ-स्थानम्) आ + ष्ठा—ल्युट् । स्थानम् । आश्रयम् (अस्य) परिदृश्यमानस्य (भूतस्य) लोकस्य, जगतः (विदुः) विद् ज्ञाने—लट् । विदन्ति जानन्ति (तत्) कारणभूतं ब्रह्म (वेधसः) १ । ११ । १ । मेधाविनः, विद्वांसः (न) निषेधे (वा) अथवा ॥

विचार से निश्चिन करने हैं जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह ब्रह्म अति अधिक अनन्त और अगम्य जान पड़ता है इस से वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतन्तम् ।

आर्द्रं तदथ सर्वदा समुद्रस्यैव स्रोत्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोदसी इति । रेजमाने इति । भूमिः । च । निः-
अतन्तम् । आर्द्रम् । तत् । अथ । सर्वदा । समुद्रस्य-इव ।
स्रोत्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रोदसी = सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि ! (रेज-
माने) कांपते हुये तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतन्तम्) उत्पन्न
किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अथ) आज (सर्वदा) सदा से (समु-
द्रस्य) सींचनेवाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि
को (कंपमान) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—(यत्) आर्द्रम् (रोदसी) एकवचनं स्त्री । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ ।
१८६ । इति रुध आवरणे-असुन् । पिङ्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति
ङीष् । द्युलोका भूमिर्वा । सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः । हे रोदसि । सूर्यलोक
(रेजमाने) रेज् कम्पने-शानच् । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः-निरु० ३ । २१ ।
उभे कम्पमाने (भूमिः) १ । ११ । २ । भवन्ति पदार्था अस्यामिति । पृथिवी
(निः-अतन्तम्) तन् तनूकरणे-लङ् । युयामुद्रपादयतम् (आर्द्रम्)
अर्देर्दीर्घश्च । उ० ३ । १८ । इति अर्द वधे, गतौ-रक्, दीर्घश्च । क्लेदनं रसत्वम्
उत्पादनसामर्थ्यम् (तत्) प्रसिद्धम् (अथ) १ । १ । १ । वर्तमाने दिने ।
(समुद्रस्य) १ । ३ । ८ । समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य (स्रोत्याः)
पुंलि० । स्नातसो विनाया इयङ्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्नातस्-इय ।
डिस्वात् टि लोपः । स्नातसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पद पाठ और उस का अर्थ [हे घावापृथिव्यौ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहां (रोदसी) एक वचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान है । फिर (भूमिः च) का भी अर्थ [भूमि और द्युलोक] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वंमुन्यामंभीवारु तदन्यस्यामधिं श्रितम् ।

दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चोकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वार' । तत् । अन्यस्याम् । अधिं । श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥ ४ ॥

भावार्थ—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] का (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधि श्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले, वा सब में विद्यमान ब्रह्म] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—(विश्वम्) १ । १० । २ । सर्वं व्याप्तं आर्द्रम् । म० ३ (अन्याम्) एकाम् द्यौं भूमिं वा (अभि वार) वृष् वरणे—लिट् । वकारलोपश्छान्दसः । सर्वतां ववार, आच्छादितं चकार (तत्) आर्द्रम् (अन्यस्याम्) अपरस्याम् (अधि + श्रितम्) आश्रितम् (दिवे) १ । ३० । ३ । आकाशाय । तदुक्ताय (विश्व-वेदसे) विदुल लामे, वा विदुं जाने सत्तायां च—अनुन् । सर्वधन-युक्तायै, सर्वाधारभूतायै (पृथिव्यै) १ । २ । १ । विस्तीर्णायै भूम्यै, तदुक्ताय परमेश्वराय (अकरम् । वृकृष् करणे—लुङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् को उपकारी होता है। विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सरकार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अ० ३ । म० ५ । में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भुम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥

सब का आधार, सब में व्यापक, सुस्रस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-४ ॥ शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु' जातः सविता
यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं' दधिरे सुवर्णास्ता नु आपः
शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्य-वर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु' । जातः । सविता ।
यासु' । अग्निः । याः । अग्निम् । गर्भ'म् । दधिरे । सु-वर्णाः ।
ताः । नुः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[जो] (हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कपनीय रूप वाली
(शुचयः) निर्मल हृदभाव वाली और (पावकाः) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः) हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गति-
कान्तयोः—कन्यन्, हिर् आदेशश्च, निस्वाद् आद्युदात्तः । कृवृजृसिद्गुपभ्यनिस्वपि-
भ्यो भित् । उ० ३ । १० । इति वृज् वरणे-न, स च निस् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-

हैं, (यासु) जिन में (सविता) चलाने हारा वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिन में (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (जातः) उत्पन्न हुई । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और बिजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१—(आपः)=व्यापक तन्मात्रायें—श्रीमद्भद्रयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७। २५ ॥

२—(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूप-युक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः (शुचयः) इगुपधान् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः (पावकाः) पूञ् शोधे-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ्-एवल् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । ङा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयिष्यः, ज्ञापयिष्यः । पावयिष्यः, शोधयिष्यः (यासु) अप्सु (जातः) जनी प्रादुर्भावे-क । प्रादुर्भूतः, उत्पन्नः (सविता) १ । १८ । २ । सूर्यः (अग्निः) १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः (अग्निम्) वैद्युताग्निम् (गर्भम्) १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम् (दधिरे) दुधाञ् धारण-पोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थायामासुः (सु-वर्णाः) वृञ्-न । शोभनरूपाः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ (शम्) १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः (स्योनाः) सिवेष्टेयू च । उ० ३ । ६ । इति विष्णु तन्तुसन्ताने—न प्रत्ययः टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम-निघ० । ३ । ६ । अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे-अच । सु कषत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये' सत्यानृते अंबु-
पश्यन् जनानाम् । या अग्निं गर्भं' दधिरे सुवर्णास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-
अनृते । अंबु-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे
सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः)
सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्मवाले जीवों के
(सत्यानृते) सत्य और असत्य को (अंबुपश्यन्) देखता हुआ (याति)
चलता है । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने
(अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण
किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करनेहारी
और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) हों ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक
(वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवों के पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल
देता है । इन गुणों से उपकार लेकर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—(यासाम्) अपाम् तन्मात्राणाम् (राजा) १ । १० । १ । ईश्वरः ।
नियन्ता (वरुणः) १ । ३ । ३ । वृणाति सर्वं, म्रियते अन्यैरिति वरुणः । सर्व-
वरणीयः परमेश्वरः (याति) गच्छति । व्याप्नोति (मध्ये) अग्न्यादयश्च ।
उ० ४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्त्तिनि भागे (सत्य-अनृते)
सद्भ्यां हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न ऋतम् । अनृतम् असत्यम्,
मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी (अंबु-पश्यन्) दृशिद्-शतु ।
अवलोकयन् विजानन् (जनानाम्) १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद्
गतम्-म० १ ॥

यासीं देवा दिवि कुर्वन्ति भुजं या अन्तरिक्षे
बहुधा भवन्ति । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

यासीम् । देवाः । दिवि । कुर्वन्ति । भुजम् । याः । अन्त-
रि'क्षे । बहु-धा । भवन्ति । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे ।
स-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (दिवि) व्यवहार के योग्य
आकाश में (यासाम्) जिन का (भुजम्) भोजन (कुर्वन्ति) करते हैं और
(याः) जा [तन्मात्रायें] (अन्तरिक्षे) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा)
अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्तमान हैं । और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर
रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्)
गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः)
हमारे लिये (शम्) शुभ करने वाली और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु)
हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायें ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार
के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का
कारण हैं । (देवाः) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक
उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—(यासाम्) अपाम् (देवाः) १ । ७ । १ । व्यावहारिकपदार्थाः ।
प्रकाशमयाः किरणाः (दिवि) १ । ३० । ३ । व्यवहारयोग्य आकाशे । जग-
ति (कुर्वन्ति) कृत्रि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति (भुजम्) भुज अदने-कर्म-
णि घञ् । भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् (याः) आपः (अन्तरिक्षे) १ । ३० । ३
मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये (बहुधा) विभाषा बहुधाऽविप्रकृष्टकाले ।
पा० ५ । ४ । २० । इति बहु + धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले (भवन्ति)
वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम्—म० १ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप
स्पृशतु त्वचं मे । घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता
न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ४ ॥

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यतु । आपः । शिवया । तन्वा ।
उप । स्पृशतु । त्वचम् । मे । घृतश्चुतः । शुचयः । याः ।
पावकाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! (शिवेन) सुखप्रदं (चक्षुषा) नेत्र
से (मा) मुझ को (पश्यतु) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा)
रूप से (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशतु) तुम पास से छूओ । (याः)
जो (आपः) तन्मात्रायें (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल
स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि जनाने वाली हैं, (ताः) वह [तन्मात्रायें] (नः)
हमारे लिये (शम्) शुभ करने वाली और (स्योनाः) सुख देनेवाली (भवन्तु)
होवें ॥ ४ ॥

४—(शिवेन) सर्वनिघृष्टस्वरिष्व० उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने
यद्वा, शो तनूकरणे-वन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा श्यति अशुभानीति ।
सुखकरेण (मा) माम् (चक्षुषा) चक्षुः शिच्व । उ० २ । ११६ । इति
चक्षुः कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् कथाआदेशाभावः । लोचनेन,
नयनेन, (पश्यतु) अवलोकयत (आपः) म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः
(शिवया) कस्यास्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया (तन्वा) १ । १ । १ । रूपेण ।
(उप+स्पृशतु) संस्पृशतु (त्वचम्) १ । २४ । २ । शरीरम् (घृत-श्चुतः)
घृदीप्ती सेके च-क्त । घृतं सारः, अमृतम् । श्चुतिर् क्षरणे क्पि । अमृतस्त्राविण्यः ।
अन्यद् व्याख्यातम्-म० १ ॥

भाषार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ अथर्वा ऋषिः। वीरूद् [लता] देवता। अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुन्मधु'जाता मधु'ना त्वा खनामसि।

मधुरधि प्रजातासि सा नो मधु'मतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम्। वीरूत्। मधु'-जाता। मधु'ना। त्वा। खनामसि।

मधोः। अधि। प्र-जाता। असि। सा। नः। मधु'-मतः। कृधि॥१॥

भाषार्थ—(इयम्) यह तू (वीरून्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) ज्ञान के साथ (त्वा) तू को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा)

१—(इयम्) पुरोवर्तिनी त्वम् (वीरूत्) १। ३२। १। विरोदणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या (मधु-जाता) १। ४। १। मन ज्ञाने-उ, धश्चान्ता-देशः। जनी-क। मधुना ज्ञानात् सौदाह वा यथा उत्पन्ना (मधुना) १। ४। १। ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा (त्वा) त्वाम् वीरुधम् (खना-मसि) खनु अवदारणे-लट्, मस इत्वम्। खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः (मधोः) पुलिंणे। वसन्तर्तुसकाशात्। स्त्रियाम्। विद्यायाः सकाशात् (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (प्र-जाता) प्रादुर्भूता (असि) वर्त्तसे। (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (मधु-मतः) तद्व्यास्त्यस्मिन्निति मनुष्य।

सो तू (नः) हम को (मधुमतः) तत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भाषार्थ—मधु शब्द [मन जानना-उ, न=ध] का अर्थ ज्ञान है ।
धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और
परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु [शहत्] से
उत्पन्न हुई है, (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुझ को (स्ननामसि) हम
कोदते हैं । (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है, (सा)
सो तू (नः) हम को (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भाषार्थ—मधु शब्द उसी धातु [मन जानना] से सिद्ध होकर [शहत्]
के रस का वाचक है । इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहत् की बेल
या प्रेमलता माना है । (मधु) शहत् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से
मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार (मधुना) प्रेम रस के साथ
[कोदने] अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से
विद्यारूप मधु को पकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मुधूलकम् ।

ममेदह कृतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मूले । मुधूलकम् । मम ।
इत् । अहं । कर्तौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे
सिरे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होने और (जिह्वामूले) जिह्वा की

पा० ५ । २ । ६४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान्, सौद्रसोपेतान् वा
यथा (कृधि) कुरु ॥

२—(जिह्वायाः) । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसभाषाः (अग्रे)

मूल में (मधूनकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । (मम) मेरे (कर्तौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन और परीक्षण से प्रेमपूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उनके हृदय में घर करके सुख का बरदान देती है ॥ २ ॥

मधु'मन्मे निक्रमंणुं मधु'मन्मे पुरायणम् ।

वाचा वदामि मधु'मद् भूयासुं मधु'संदृशः ॥ ३ ॥

मधु'-मत् । मे । नि-क्रमणम् । मधु'-मत् । मे । पुरा-अयनम् ।

वाचा । वदामि । मधु'-मत् । भूयासम् । मधु'-संदृशः ॥ ३ ॥

भावार्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा (पुरायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्)

अज्ञेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति अग्नि गतौ-रन् । उपरिभागे (मधु) म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा (जिह्वा-मूले) मृशक्यविभ्यः क्लृः । उ० ४ । १२८ । इति मूङ् बन्धे-क्लृ । मवते बध्नाति वृत्तादिकं मूलम् । जिह्वाया रसनाया मूलभागे । (मधूनकम्) मधु + उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु + लक स्वादे, प्रातौ च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः (मम) मदीये (इत्) एव (अह) अवश्यम् (कर्तौ) कृञः कतुः । उ० १ । ७६ । इति कृञ्-कतु । कतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । कर्मणि बुद्धौ वा (असः) १ । १६ । ४ । त्वं भूयाः (चित्तम्) चित्ती ज्ञाने-क । अन्तःकरणम् (उप-आयसि) उप + आङ् + अयङ् गतौ-लट् । उपा-गच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—(मधु-मत्) म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् (नि-क्रम-णम्) नि + कृञ् गतौ-ल्युट् । निकटममनम्, आगमनम् (पुरा-अयनम्)

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे । (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूँ और मैं (मधुसन्देशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के प्रकाश और उपदेश करने में (मधुमात्) ज्ञान वान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही मदारमा (मधुसन्देशः) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधु'तरो मधुघान्मधु'मतरः ।

मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधु'मतीमिव ॥ ४ ॥

मधोः । अस्मि । मधु'-तरः । मधुघात् । मधु'मत्-तरः ।

माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखाम् । मधु'मतीम्-इव ॥४॥

भावार्थ—(मधोः) मधुर रस से, मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) होऊँ, (मधुघात्) लड़कूँ [वा मुलहटो ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊँ । (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझसे ही (किल) निश्चय

परा+अय गतो ल्युट् । दूरगमनम्, प्रस्थानम् (वाचा) १ । १ । १ । वाण्या (वदामि) वद वाचि-लिङ्गर्थे लट् । कथयासम्, उक्त्यासम् (भूयासम्) भू सत्तायाम्—आशिषि लिङ् । अहं ह्याम् (मधु-सन्देशः) इगुपधत्ताप्री-किरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+इशिर् प्रेक्षे=चाक्षुषज्ञाने-क । ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—(मधोः) म० १ । मधुररसात्, क्षीररसात् (अस्मि) अहं भवानि (मधु-तरः) द्विवचनविभक्त्योपपदे तरवीयसूनी । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः (मधुघात्) मुद हर्षे-एधुल् । छान्दसं रूपम् । मोद-कात् । मिष्टकाद्यविशेषात् । यद्वा [मधुकात्] मधु+कै-क । मधु मधुरं कायति

करके (वनाः) प्रेमकर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [अनुराग करते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ट मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है । जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करना है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है—अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ १ ॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि' त्वा परितुत्नुने_नुणागामवि'द्विषे ।

यथा मां कामिन्यसुो यथा मन्नापंग्गा असुः ॥ ५ ॥

परि' । त्वा । परि-तुत्नुना । इन्नुणा । अगाम् । अवि-द्विषे । यथा ।

माम् । कामिनी । असुः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असुः ॥ ५ ॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम् । यष्टिमधुकायाः, ओषधिविशेषात् । सायण-
भाष्ये तु (मधुघात्) = मधुदुघात्, मधु + दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-
शब्दे धुलापश्वान्दसः, मधुस्त्राविणः पदार्थविशेषात्—इति वर्तते (मधुमत्-तरः)
मधु + मतुप् + तरप् पूर्यवत् । पा० ५ । ३ । ५७ । अधिकतरमधुमान्, उपकारि-
तरः (माम्) विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् (किल) प्रसिद्धौ, निश्चयेन (त्वम्)
विद्ये (वनाः) वन संभक्तौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति
आडागमः । त्वं संभजे, सेवस्व, कामयेथाः (शाखाम्) शाख व्याप्तौ-
अच्, डाप् । वृक्षाङ्गविशेषम् (मधुमतीम्) म० १ । मधु + मतुप्—ङीप् ।
मधुररसयुक्ताम् ॥

भावार्थ—(परितन्नुना) बहुत फैली हुई (इक्षुणा) मालमा के साथ [अथवा, ऊब जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) वैर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझ को (परि) सब ओर से (अगाम्) मैं ने पाया है । (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरा कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) विछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और असौष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्णं आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायुणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनु-
स्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय
दीर्घायुत्वाय शतशरदाय ॥ १ ॥

५—(परि) सर्वतो भावेन (त्वा) त्वाम् मधुलतां विद्याम् (परि-
तन्नुना) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति बाहुलकात् । तनु विस्तारे-नु
प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन (इक्षुणा) इषेः क्सुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इक्षु-
णाङ्-क्सु । अभिलाषेण, यज्ञा । गुडतृणेन प्रेमरूपेण (अगाम्) इण गतो-
लुङ् । प्राप्तवानस्मि (अवि-द्विषे) न+वि+द्विष वैरे-भावे क्तिप् । वैर-
त्यागार्थम् (यथा) येन प्रकारेण (माम्) ब्रह्मचारिणम् (कामिनी)
अन इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । ऊीप् । अकेनोर्भविष्यदाध-
मर्त्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना (असः) १ । १६ ।
४ । त्वम् भवेः, भूयाः (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अप-गाः) आतो
मनिष्कनिष्कनिषश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अग+माङ् गतौ-विच् ।
अपवानशीला, प्रस्थानशीला, वियोगिनी ॥

यत् । आ-अबध्नन् । दाज्ञायणाः (= दक्ष-अयुनाः) । हिरण्यम् ।
शुत-अनीकाय । सु-मनस्यमानाः । तत् । ते । बध्नामि । आयुषे ।
वर्चसे । बलाय । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ १ ॥

भावार्थ—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि
को (दाज्ञायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही (सुमनस्यमानाः)
शुभाचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबध्नन्) बांधा है ।
(तत्) उस को (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) यश के लिये, (बलाय)
बल के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय)
चिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—(यत्) हिरण्यम् (आ) समन्तात् (अबध्नन्) बन्ध बन्धने—लङ् ।
अधारयन्, अस्थापयन् । (दाज्ञायणाः) दक्ष-अयुनाः । दक्ष वृद्धौ-अच् । दक्षते
प्रबुद्धये समर्थो भवतीति । दक्षः, बलम् । निघ० २ । ६ । अय गतौ-ल्युट् । अयनं
गतिः । पूर्णपददोषत्वं छान्दसम् । दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दक्षायणाः ।
परमोत्साहितः शूरवीरा विद्वांसो वा (हिरण्यम्) १ । ६ । २ । कमनीयं
विज्ञानं । सुवर्णादिकं धनम् (शत-अनीकाय) दिक्संख्ये संज्ञायाम् । पा० २ । १ ।
५० । इति तत्पुरुषः । शतसेनाप्राप्तये (सु-मनस्यमानाः) कर्तुः क्यङ् सलो-
पश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति मनस्-क्यङ्, विकल्पत्वाद्त्र सकारभावः, ततो
लटः शानच् । शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः,
शोभनं ध्यायन्तः शुभाचिन्तकाः सज्जनाः (बध्नामि) बन्ध बन्धने-क्यादि ।
बध्नामि (आयुषे) १ । ३० । ३ । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । आयुषः,
लाभाय (वर्चसे) १ । ६ । ४ । तेजसे, यशसे (बलाय) १ । १ । १ । पराक-
माय (दीर्घायु-त्वाय) इद् विदारणे-घङ् । छन्दोगः । उ० १ । २ । इति
इण् गतौ-उण्-आयुः । भावे त्वप्रत्ययः । लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय
(शत-शारदाय) सन्धिबेलाघृतुनक्षत्रेभ्योऽण् । पा० ४ । ३ । १६ । इति श-
रद्-अण् । शरद्गतोः संबन्धी कालः संबत्सरः । शतसंबत्सरायुक्ताय ॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूरवीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुकल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः
प्रथमजं ह्ये ३ तत् । यो बिभर्ति दाक्षायणं हिर-
ण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न । एनम् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् ।
ओजः । प्रथम-जम् । हि । एतत् । यः । बिभर्ति । दाक्षाय-
णम् (=दक्ष-अयुनम्) । हिरण्यम् । सः । जीवेषु । कृणुते ।
दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करने हारेराक्षस और (न) न
(पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते
हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का
(प्रथमजम्) प्रथम उत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है । (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्)

२—(न) निषेधे (एनम्) हिरण्यधारिणं पुरुषम् (रक्षांसि) १ । २१ ।
३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः (पिशाचाः) १ । १६ । ३ । मांसभक्षिणः
पिशिताशिनो महादुःस्त्रदायिनः (सहन्ते) अभिभवन्ति, बाधन्ते (देवानाम्)
विदुषाम् (ओजः) १ । १२ । १ । पराक्रमः (प्रथम-जम्) प्रथमम् । उ०
५ । ६८ । इति प्रथं स्यात्तौ-अमच् + जनी-ड । प्रथमतो मातापितृगुरकारिता-
भ्यासत उत्पन्नम् (हि) खलु, यस्मात् कारणात् (एतत्) हिरण्यम् (यः)
पुरुषः (बिभर्ति) भृञ् भरणधारणपोषणेषु-जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः ।
बधाति (दाक्षायणम्) म० १ । बलस्य गतियुक्तम् परमोत्साहवर्धकम्

बल की गति बढ़ाने वाले (हिरण्यम्) कमनीया तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को (विमर्त्ति) धारण करता है, (सः) वह (जीवेषु) सब जीवों में (आयुः) अपनी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटाकर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्म पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनुस्पतीनामुत
वीर्याणि । इन्द्रं इवेन्द्रियाण्यधि' धारयामो अस्मिन्
तद् दत्तमाणो विभरुद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् । तेजः । ज्योतिः । ओजः । बलम् । च । वनुस्पतीनाम् ।
उत । वीर्याणि । इन्द्रे-इव । इन्द्रियाणि । अधि । धारयामुः ।
अस्मिन् । तत् । दत्तमाणः । विभरुत् । हिरण्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्राणों वा प्रजाओं के (तेजः) तेज , (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को (उत) और भी

(हिरण्यम्) म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा (जीवेषु) इगुपधक्षा-
प्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणने-क । प्राणिषु (कृणुते)
कृज् हिंसाकरणयोः, स्वादिः । करोति (दीर्घम्) म० १ । दृ विदारणे-घङ् ।
लम्बमानम् (आयुः) म० १ । इण्-उत्ति । जीवनम् ॥

३—(अपाम्) आप्रोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्ल व्यसौ-किप् ।
आप्प्रवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्-
दयानन्दभाष्ये । आपः = प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

(वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्तक विद्वानों का (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अग्नि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं, (इव) जैसे (इन्द्रे) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिन्ह, [बड़े बड़े ऐश्वर्य] होने हैं । [इस त्रये] (दक्षमाणः) वृद्धि करना हुआ यह पुरुष (तत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (विभरन्) धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी, विक्रमी, तेजस्वी, गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासामुतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पर्यसा
पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्ताम-
हृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानाम् । मासाम् । ऋतुभिः । त्वा । वयम् । सम-वत्स-
रस्यं । पर्यसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः ।
ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ (तेजः) तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः , कान्तिः । रेतः , सारः । (ज्योतिः) १ । ६ । १ । प्रकाशः , कान्तिः (ओजः) म० २ । पराक्रमः (क्लम्) म० १ सामर्थ्यम् । शौर्यम् (वनस्पतीनाम्) १ । १२ । ३ । वन + पतिः, सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पाल-
कानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते = वनस्य संभज-
नीयस्य शास्त्रस्य पालक (वीर्याणि) १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतंसि । (इन्द्रे) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवन्ति पुरुषे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग-
मिन्द्रद्वष्टिमिन्द्रसृष्टिमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्र-वच्
इन्द्रस्य लिङ्गानि चिह्नानि । परमैश्वर्याणि, धनादीनि (अग्नि) उपरि (धारयामः)
स्थापयामः (अस्मिन्) पुरुषे (तत्) तस्मात् कारणात् (दक्षमाणः)
वक्ष्य वृद्धो-शानच् । वर्धमानः पुरुषः (विभरन्) दुभृज् धारणपोषणयोः-लेट् ।
धारयेत् , विभर्तु (हिरण्यम्) म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भावार्थ—(वयम्) हम लोग (त्वा) तुझ को [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मासाम्) महीनों को (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पयसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि=पिपर्मः) पूर्ण करते हैं । (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष (अहणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्ष का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

४—(समानाम्) यम वैक्लव्ये-पचायच् । अविषमानाम् । पूर्णानाम् । साधूनाम्, अनुकूलानाम् (मासाम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति माङ् माने-असुन् । मासानाम् (ऋतुभिः) अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ-तु, म च कित् । वसन्तादिकालविशेषैः (त्वा) त्वाम्, पुरुषम् । (सम्-वत्सरस्य) संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस निवासे-सरन्, सस्य तकारः । संवसन्ति ऋतवो यत्र । वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य (पयसा) पय गतौ वा पीङ् माने-असुन् । दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः (पिपर्मि) पृ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः । एकवचने बहुवचने । वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः (इन्द्राग्नी) वायवग्नी । यथा श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, य० २१ । २० । इन्द्राग्नी=इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वाय्वाग्नी । तद्भवद् गुणवन्तः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पुरुषाः (अनु मन्यन्ताम्) अनु+मन बोधे-लोट् । अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु (अहणीयमानाः) कण्ड्वादिभ्यो यक् । पा० ३ । १ । २७ । इति हृणीङ् रोषणे लउजायां वैमनस्ये च-यक् । क्तिवाद् आत्मनेपदम् । ततः शानच् । हणीयते=कुप्यति, निघ० २ । १२ । अक्रुध्यन्तः, असङ्कुचन्तः ॥

और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा
उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति भीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाङ्मा-

धिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरोक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-

भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं

समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ १९६६ तमे

विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्रीराज । जेस्वर जार्जपञ्चम-

महोदयस्य सुसाम्राज्ये

सुसमाप्तिमगात् ॥



॥ ओ३म् ॥

नया आनन्द समाचार ॥

अथर्ववेद भाष्य और गोपथब्राह्मण भाष्य हिन्दी सहित छप गये ।
शीघ्र मंगाइये ॥

१—अथर्ववेद भाष्य—अथर्ववेद का अर्थ अभी तक यहां की किसी भाषा में न था, और संस्कृत में भी श्री मायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से इस वेद का हिन्दी और संस्कृत प्रामाणिक भाष्य प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ श्रीमान् राजाधिराज धीर-धीर-चिरप्रतापी श्री सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदाधीश, तथा श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभाओं संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रान्त तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की विशेष प्रचार सहायता से पूरा होकर छप गया ।

इस वेद के बीसों काण्डों का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य विषय सूची, मन्त्रसूची, पदसूची, आदि सहित अल्प मूल्य में उपस्थित है। वेदप्रेमी महाशय सब स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, राज-विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और कागज़ देशी बढ़िया रायल अठपेजी है ।

पुराने ग्राहक जिन के पास सब काण्ड नहीं हैं और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें, पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर शीघ्र छपना कठिन है। बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेंटर है, रेल से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें। पूरा भाष्य २३ भाग मूल्य ४७॥, वी० पी० व्यय ४ ॥॥)

काण्ड	१ भूमिका सहित		२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१॥=)		१॥=)	१॥=)	२)	१॥=)	३)	२॥)	२)	२॥)	२॥)	२॥)
काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	परि- शिष्ट	मन्त्र सूची	पद सूची
मूल्य	२=	१॥=)	१॥)	१=)	१॥=)	२॥=)	३॥=)	३॥)	३॥)	३॥)	४॥)	४॥)

२—गोपथब्राह्मण भाष्य—गोपथब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण प्राचीन ग्रन्थ है। इसका अब तक न कोई भाष्य और न कोई अनुवाद है। अब परमात्मा

की कृपा से उक्त परिणित जी ने अथर्ववेद भाष्य के समान इस ब्राह्मण का भाष्य सरल हिन्दी और संस्कृत में करके मूल ग्रन्थ, अनेक टिप्पणियों, व्याकरणादि प्रक्रियाओं, विनियोगीय मन्त्रों सहित प्रकाशित कर दिया है। सब स्त्री पुरुष इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से आत्मोन्नति करें। इस ग्रन्थ को महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाशादि पुस्तकों में वैदिक साहित्य के उपयोगी ग्रन्थों में माना है। पुस्तक थोड़े छुपे हैं, ग्राहक महाशय शीघ्रता करें। छुपाई उत्तम कागज़ देशी सफेद बढिया रायल अठपेजी मूल्य ७।), बी० पी० व्यय ॥३)

३-हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित, गुरुकुलों, डी० ए० बी० कालिजों और स्कूलों में प्रचलित संशोधित ॥—), डाक महसूल ८)

४-रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत हिन्दी और अंग्रेज़ी में मूल्य ॥=), डाक महसूल ८)

५-रुद्राध्ययः—मूलमात्र बढिया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य ॥), डाक महसूल ॥)

६-वेदविचार्ये—कांगड़ी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में दिमान, नौका, अस्त्र शस्त्र, व्यापा०, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्म त्रय्यादि का वर्णन, मूल्य ॥—), डाक महसूल ॥)

मार्गशीर्ष संवत् १९८२,
नोवेंबर १९२५

•
षता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग ।

Address—Pt. Khem Karan Das Trivedi.

52, LUKERGANJ, ALLAHABAD.

अथर्ववेदभाष्य सम्मनित्यां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्तावसंख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति ।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेम-करणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ । निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उन से स्वीकार की जावें ॥

टिप्पणी—यह नियम बत्तीस महीने तक रहा ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यो को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेम-करणदास जी को देवे, जिस का बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें । इस धन के बदले में पंडित जा उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ।

टिप्पणी—यह नियम चार वर्ष तक रहा ॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५६७६ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई०)

मान्यवर, नमस्ते !

॥ ओ३म् ॥

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेम-करणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है । भाष्य कार्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य का पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है । जिस के कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं । भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं । लागत तक वसूल नहीं होती । वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है । अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उन के महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छानने की अर्थ सम्बन्धनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने को और प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे । प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये

समाज के पुस्तकालयों में तो उन का रखना बहुत ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार पर लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह, बी० एम भी० एलएल० बी० उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्यप्रति-
निधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, तुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी चिन्तना और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रखें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एलएल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पंडित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त-
प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद, का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है। सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है। अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रियुत महशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन
मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३

श्री० पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परोक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं। मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भाष्यपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर वादों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ

में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रखे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उनको बल तथा वेद सम्बन्धी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है ।

श्रीयुत महाशय मुन्शीराम जी-जिज्ञासु—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है ।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६ ।

अबलो हन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १९६३ ।

अथर्ववेद भाष्य । श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है ।.....आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेंशन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं । आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है ।

श्रीयुत पंडित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद्, गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फरवरी १९६३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है । इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में.....अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ है अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है । तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है । और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है ।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, ठिकाना हकीम देवी प्रसाद जी, १३७ अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९६५ ॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारो कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ । आप ने हम सभी पर अत्यन्त कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं । आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा ।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ॥॥ है रुपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग फरवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और धर्म का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और कम कम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में मान्य अर्थ, भावार्थ पाठान्तर टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है आपकी राय है कि “वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है”। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उस की पूर्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सितक मर्चेंट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आब बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपे मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद जी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ “अथर्ववेद भाष्य” निष्पक्षता का आभय लिया चाहता है। आपने यह साह दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन खखनऊ)—मनोचिनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोहर तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक

श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पंडित ज्योत्स्नादास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (व्यासम्) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडितजी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडितजी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा खद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पढ़न पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच काण्ड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हजार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बंधी भ्रमों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० ज्योत्स्नादास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्यसमाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इस के ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी वशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई। इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के वेचता दिये हैं—पश्चात् अन्य विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन इन के पास हों वैसा वैसा खोजकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों वर्षों जब हमें तब सबेरे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में पाठक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम पंडित है कि पंडित ज्योत्स्नादास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको ग्रन्थ संग्रह प्रकाशित करने की आज्ञा देते रहें। विवेकी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति को कुछ उनके पास ही रखा ही है..... विवेकी जी ने ही कुछ किया है वह विवेक नाम के ग्रंथ से प्रसूत होकर—इसलिये न केवल सब आर्यों को यह कठिनाई है कि इस भाष्य को मोल लेकर विवेकी जी को उत्साहित करें, बल्कि अपने अपने पुस्तकालयों में भी रखें कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan, Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of love and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

The Atharva Veda Bhashya or commentary on the Atharva Veda, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the introduction and the First Kanda or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature. The arrangement is good, the original Mantra is followed by a literal translation and their *bhavārth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of Ashtadhyayi of Panini, Unadikoshā of Dayanand, Nirukta of Yaska, Yoga Darshanā of Patanjali and other standard ancient works.....The pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves.....Our earnest request is that the honored Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to another rest.....

P.S.—The printing and paper are good. Price is moderate.

ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वैर्यु पश्यंत उत शुद्र उतायै ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

द्वितीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधोरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगतभावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् श्रुक्न्माथार्थवेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित होमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.
Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे श्रींकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्ती, } संवत् १९७० वि० । { मूल्यम् १/-
१००० मुस्तकानि । } सन् १९१३ ई० । {

अथर्ववेदभाष्य-सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० लोमकरणादास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यभिन्न आगरा, २४ जनवरी १९१३ ।

...श्री पं० लोमकरणादास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, ...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नेटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, आरम्भ में एक उपयोगी भूमिका, दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रखे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो... छपाई और कागज़ भी अच्छा है । ...

श्रीयुत महात्मा मंशीराम जी जिह्वासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूँ, आपका परिश्रम सराहनीय है ।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ॥

(दैनिक पेज पृष्ठ ३ देखिये)

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये ।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिन की महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होनेके कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों का छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे । ईश्वर के अनुग्रह से इस समय तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उन के मर्म जानने का सौभाग्य मिला है । परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, जो लोगों को बहुत खटक रहा था । बड़ा हर्ष है कि इस महा ऋषि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पण्डित होमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से भाष्य बनाने में परिश्रम कर रहे हैं ।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संहित, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छुपकर ग्राहकों के पास पहुँचता है । पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक बी० पी० द्वारा, वा नगद मूल्य पर दिये जाते हैं । वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महाराजे, सेठ साहूकार, और विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और परितोषिकों के लिये भाष्य को मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से कीर्त्तिमान् हों ।

भाष्य की छुपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है, और क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणों, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

मूल्य स्थायी ग्राहकों से

काण्ड १—छुप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२, १।) १)

काण्ड २—छुप गया, पृष्ठ २१२ १।) १)

काण्ड ३—शीघ्र प्रकाशित होगा ।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का नपकागी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य १।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेजी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८, मूल्य १=)

२५ अगस्त १९३१ ।

पता—पं० होमकरणदास त्रिवेदी,

५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

१—सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	वेनस्तत् पश्यत्	ब्रह्म	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२	दिव्यो गन्धर्वो	गन्धर्वअप्सरा	ईश्वर सर्व- शक्तिमान्	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
३	अदो यदवधाधत्य-	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
४	दीर्घायुत्वाय बृहते	जङ्गिड	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
५	इन्द्र जुषस्व प्र घहा	इन्द्र	उन्नति प्रयत्न	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
६	समास्त्वा श्रुतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
७	अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
८	उदगातां भगवती	ब्रह्म	पौरुष	अनुष्टुप्
९	दशवृक्ष मुञ्चेमं	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१०	क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्म	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
११	दूष्या दूषिरसि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
१२	द्यावापृथिवी उर्व	विश्वे देवाः	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	आयुर्दा अग्ने जरसं	ब्रह्मचारी	समावर्त्तनवस्तु	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१४	निः सालां धृष्णुं	अलदमी	निर्धनता का नाश	अनुष्टुप्
१५	यथा द्यौश्च पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
१६	प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति, गायत्री आदि
१७	ओजोऽस्योजो मे	ईश्वर	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, उष्णिक्
१८	भ्रातृव्यक्षयणमसि	ईश्वर	शत्रु से रक्षा	साम्नी वृहती
१९	अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	त्रिष्टुप्, जगती
२०	वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	" "	" "
२१	सूर्य यत्ते तपस्तेन	सूर्य	" "	" "
२२	चन्द्र यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	" "	" "
२३	आपो यद् वस्तपस्तेन	आपः (जल)	" "	" "
२४	शेभरक शेभ	ईश्वर	कुसंस्कारादि त्याग	त्रिष्टुप् आदि
२५	शं नो देवी पृथिनि-	पृथिनिपर्णी	शत्रुओंकानाश	अनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२६	पह यन्तु पशवो	त्वष्टा सवि- तावा	मेल करना	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
२७	नेच्छन्तुः प्राशं जयाति	आषधि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	अनुष्टुप्
२८	तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढ़ाना	त्रिष्टुप्
२९	पार्थिवस्य रसे देवा	वृहस्पति, इन्द्र	उन्नति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३०	यथेदंभूम्या अग्नि	अग्नि	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही दृषत्	इन्द्र	दोष नाश	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३२	उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्	आदित्य	तथा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	अक्षीभ्यां तेनासिकाभ्यां	आत्मा	शरीररक्षा	अनुष्टुप् पङ्क्ति
३४	य ईशे पशुपतिः पशूनां	पशुपति	बन्ध से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसू-	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ नो अग्ने सुमतिं	अग्नि	विवाहसंस्कार	त्रिष्टुप्, आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वाचिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यन्-इत्यादि	१।१-२	—	३२।८-९	३०३।१।२२
३	स नः पिता जनिता	१।३	१०।८२।३	१७।२७	
४	परि विश्वा भुवनान्या	१।५	—	३२।१०	
५-७	इन्द्र जुषस्वप्रवह-इत्यादि	५।१-३	—	—	
८-१०	इन्द्रस्य नु प्रवोचं-इत्यादि	५।५-७	१।३२।१-३	—	
११-१३	समास्त्वाम्-इत्यादि	६।१-३	—	२७।१-३	
१४-१५	क्षत्रेणाम् स्वेन-इत्यादि	६।४-५	—	२७।५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२।६	६।५२।२	—	
१७-१९	ओजोऽस्योजो-इत्यादि	१७।१-७	—	१९।१६	
२०-२६	अक्षीभ्यां ते-इत्यादि	३३।१-७	१०।१६३।१-६	—	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वितीयं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ।

मन्त्राः १—५ । ब्रह्म देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म के मिलने का उपदेश ।

वे नस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ।
 इदं पृश्निरदुहुज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्यनूषत् ब्राः ॥१॥
 वेनः । तत् । पश्यत् । परमम् । गुहा । यत् । यत्र । विश्वम् ।
 भवति । एक-रूपम् । इदम् । पृश्निः । अदुहुत् । जायमानाः ।
 स्वः-विदः । अभि । अनुषत् । ब्राः ॥ १ ॥

सान्द्वयभाषार्थ—(वेनः) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति
 श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहा-
 याम्) गुफा के भीतर [वर्त्तमान है], और (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत्

१—शब्दार्थव्याकरण । प्रक्रिया—वेनः । धापृवस्यज्यतिभ्यो नः ।
 उ० ३ । ६ । इति अज गतिर्क्षपणयोः—नप्रत्ययः, वीभावः । यद्वा, वेनति कान्ति-

(एकरूपम्) एक रूप [निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्त्तमान है। (इदम्) इस परम पेश्वर्य के कारण [ब्रह्मज्ञान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य ने (जायमानाः) उत्पन्न होती हुयी अनेक रचनाओं से (अदुहत्) दुहा है, और (स्वर्विदः) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (वाः) वरणीय विद्वानों ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूपत) स्तुति की है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड उसके भीतर समा रहा है। धीरे ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओं से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुये उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं ॥ १ ॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८ ।

वे॒नस्तत् प॑श्यन्नि॒हितं गु॒हा स॒द् यत्र॑ वि॒श्वं भ॑वत्येक॒नी॒डम् । तस्मि॑न्नि॒दं च॑ वि॒ चैति॑ सर्वं स ओतः
प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑ ॥ १ ॥

(वेनः) परिणत जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) वर्त्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म में (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है। (च) और (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्)

कर्मा—निघ० २।६। ततः । पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण पा० ३।३। ११८ । इति घ प्रत्ययः । वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः—इति यास्कः, निरु० १०।३८ । गतिमान् । दीप्यमानः । मेधावी—निघ० २।१५। पश्यत् । इकारलोपः । पश्यति, साक्षात्करोति । परमम् । अ० १।१३।३। पर+मा माने-क । उत्कृष्टम् । गुहा । अ० १।८।४। गुहायाम् । गुप्तस्थाने । यत्र । यस्मिन् सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि । विश्वम् । अ० १।१।१। सर्वं जगत् । एकरूपम् । इण् भीकापाश्ल्यतिमर्चिभ्यः कन् । उ० ३।४३। इति इण् गतौ—कन् । एति प्राप्नोतीत्येकम् । रूयते कीर्त्यते तद्वरूपम् । अ० १।१।१। सर्वथा, निरन्तरं व्याप्तम् । इदम् । इन्देः कमिञ् लोपश्च । उ० ४।१५७। इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । नकारलोपः ।

मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (सः) वह (विभूः) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओं में [वस्त्र में सूत के समान] (आतः) ताना किये हुये (च) और (प्रोतः) बाना किये हुये है ॥

प्र तद् वोचेद्मृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितृष्पि-
तासत् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वोचेत् । अमृतस्य । विद्वान् । गन्धर्वः । धाम । परमम् ।
गुहा । यत् । त्रीणि । पदानि । नि-हिता । गुहा । अस्य । यः ।
तानि । वेद । सः । पितुः । पिता । असुत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) विद्या का धारण करने वाला

इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम् । प्रत्यक्षज्ञानम् । पृश्निः । घृणिपृश्नि-
पार्णि० । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश स्पृशे-निप्रत्ययः, सलोपः । स्पृशति, योगेन
ब्रह्म प्राप्नोतीति पृश्निः । समाधिस्थयोगी पुरुषः । पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत
एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्पृष्टा रसान् संस्पृष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो
भासेति वा-निरु० २ । १४ । इति यास्कवचनाद् योगैश्वर्येण सूर्यवत् प्रकाशमानः
पुरुषः । अदुहत् । दुह प्रपूरणे-लुङ्, छान्दसो अङ् । आकृष्टवान्, प्राप्त-
वान् । द्विकर्मकत्वात् (इदम्) इति (जायमानाः) इति शब्दस्य च कर्मकत्वम् ।
जायमानाः । जनी जनने, प्रादुर्भावे-शानच् । उत्पद्यमानाः प्रजाः । स्वर्विदः ।
अन्येभ्योऽदृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति स्मृ शब्दोपतापयोः—विच् । यद्वा
सु+ञ् गतौ, ईर गतौ वा-विच् । स्वरादिभ्यो भवति सु अरणः सु ईरणः
स्मृतो रसान् स्मृतो भासं ज्योतिषां स्मृतो भासेति वा-निरु० २ । १४ । ततो
विद ज्ञाने-क्विप् । स्वः शब्दाभिधेयं सुखस्वरूपम् आदित्यवर्णं वा परब्रह्म
विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः परब्रह्मज्ञातारः । अभि । आभिमुख्येन, सर्वतः ।
अनूषत । ण् स्तवने-लुङ्, छान्दसम् आत्मनेपदम् । स्तुतवन्तः । ब्राः । गेहे
कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति वृञ् वरणे-बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस् ।
स्वशोभनगुणैर्विद्यमानाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणाः पुरुषाः । यद्वा । ब्रह्मणो
घरितारो अन्वेष्टारः ॥

२—वोचेत् । ब्रू व्यक्तायां वाचि आशीर्लिङि वच्चादेशे । लिङ्वाशिष्यङ् ।

पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊंचे (धाम) पद का (प्रवोचद्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा = गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] में (त्रीणि) तीनों (पदानि) पद (निहिता = ०-तानि) उहरे हुये हैं, (यः) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान-लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश में तीन पद, अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनों अव-

पा० ३।१।८६। इति अङ् प्रत्ययः। वच उम्। पा० ७।४।२०। इति उम् आगमः। उच्यत्। उपदिशेत्। व्यवहिताश्च। पा० १।४।८२। इति (प्र) उप-सर्गस्य क्रियया संबन्धः। अमृतस्य। तनिमृङ्भ्यां किञ्च। उ० ३।८८। इति अ+मृङ् प्राणत्यागे-तन्, स च कित्। मरणरहितस्य। अविनाशिनः परब्रह्मणः। विद्वान्। वेत्तीति। विद् ज्ञाने-शतृ। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७।१।३६। इति शतुर्वसुरादेशः। आत्मचित्। प्राज्ञः। परिणतः। गन्धर्वः। गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः। कृगृशृद्भ्यो वः। उ० १।१५५। इति गो+धृञ् धारणे-व प्रत्ययः, पृषोदरादिना गोशब्दस्य गमादेशः। वेदवाणी-धारकः। वेदवेत्ता। स्वर्गगायकः। सूर्यः। घोटकः। धाम। अ० १।१३।३। स्थानम्। प्रभावम्। त्रीणि। तरतेङिः। उ० ५।६६। सृष्टिस्थितिप्रलयादि-रूपाणि। पदानि। पद्यन्ते गम्यन्ते प्राणिभिः। पद गतौ-अच्। कर्माणि। वस्तूनि। निहिता। दधातेर्हिः। पा० ७।४।४२। इति नि+डुधाञ् धारणयोषणयोः-क्त। हिरादेशः। शेषछन्दसि बहुलम्। पा० ६।१।७०। इति शिलोपः। निहितानि। स्थापितानि, स्थितानि। वेद। विद् ज्ञाने। विदो लटो वा। पा० ३।४।८३। इति तिपो णल् आदेशः। वेत्ति। जानाति। साक्षात्करोति। पितुः पिता। नमृनेष्टृहोतृ०। उ० २।६५। इति पा रक्षणे-तृच्। निपातनात् साधुः। ज्ञानप्रदानेन स्वरक्षकस्यापि रक्षकः। महाविद्वान्। असत्। अस सत्तायां-लेट्, अडागमः। भूयात्॥

स्थायं, अथवा भूत, यभिष्यत् और वर्त्तमान्, तीनों काल, अथवा सत्त्व, रज और तम, तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओं का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है; वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियों में महाविज्ञानी होता है ॥ २ ॥

१—यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२। म० ६।

२—मनु महाराज ने कहा है—अ० २। १५३।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनि लोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते हैं ॥ १ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेदु भुवनानि
विश्वा । यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना
यन्ति सर्वा' ॥ ३ ॥

सः । नः । पिता । जनिता । सः । उत । बन्धुः । धामानि । वेदु ।
भुवनानि । विश्वा । यः । देवानां । नामधः । एकः । एव ।
तम् । सुम्-प्रश्नम् । भुवना । यन्ति । सर्वा' ॥३॥

भाषार्थ—(सः) वही [ईश्वर] (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक, (उत) और (सः) वही (बन्धुः) बान्धव है, वह (विश्वा = विश्वानि) सब (धामानि) पदों [अवस्थाओं] और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। (यः)

३—पिता । म० २ पालयिता । जनिता । जनी जनने-शिचि तृच् । जनिता मन्त्रो । पा० ६। ४। ५३। इति तृचि शिलोपो निपात्यते । जनयिता । उरपादकः । बन्धुः । शृस्विस्निहि० । उ० १। १०। इति बन्ध बन्धने उप्रत्ययः, स च नित् । जिन्यादिर्नित्यम् । पा० ६। १। १६१। इति नित्वाद् आद्युदात्तः, प्रेम्णा वध्नातीति । बान्धवः । धामानि । म० २। धामानि त्रयाणि यवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति-निरु० ६। २८ जन्मस्थाननामानि । वेद । म० १। वेत्ति ।

जो [परमेश्वर] (एकः) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुण वाले पदार्थों का (नामधः) नाम रखने वाला है (सप्रश्नम्) यथाविधि पूँछने योग्य (तम्) उस को (सर्वा = सर्वाणि) सब (भुवना = ०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार का माता, पिता, बन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण संस्कार करता है, जैसे. सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। विद्वान् लोग सत्संग करके उस जगदाश्वर को पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

(नामधः) के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद में [नामधाः] है।

२—यह मन्त्र ऋ० १०। ८२। ३। तथा य०। १७। २७। में कुछ भेद से है।

परि द्यावापृथिवी सुद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमुजामृतस्य ।
वाचमिव वृत्तरि भुवने ष्ठा धास्युरे ष नन्वे ३ षो अग्निः ॥४॥
परि । द्यावापृथिवी इति । सुद्यः । आयम् । उप । आ-तिष्ठे ।
प्रथम्-जाम् । ऋ तस्य । वाचम्-इव । वृत्तरि । भुवने-स्थाः ।
धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सद्यः) अभी (द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक में (परि = परीत्य) घूमना हुआ (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूँ (ऋतस्य) सत्य

भुवनानि । भूषधूभ्रस्त्रिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू सत्तायाम्—क्युन् । सर्वपदार्थाधिकर्णानि । लोकान् । देवानाम् । दिवु पचाद्यच् पृथिव्यादिदिव्य-पदार्थानाम् । नामधः । नाम + धाञ् धारणे—क । नामकरणकर्ता, नामधारकः । एकः । इण्गतौ—कन् । अद्वितीयः । असहायः । सम्प्रश्नम् । सम्यक् पृच्छन्ति यस्मिँस्तम् । परमात्मानम् । यथाविधि प्रश्नीयम् । अन्वेषणीयम् । भुवना । भुवनानि । लोकाः । यन्ति । इण् गतौ—लट् । गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति । लभन्ते ॥

४—द्यावापृथिवी । दिवो द्यावा । पा० ६ । ३ । २६ । इति दिव् शब्दस्य द्यावा इत्यादेशो देवताछन्दे । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । देवताछन्दे च । पा० ६ । २ । १४१ । इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्यौश्च

नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप + आ-तिष्ठे) मैं प्राप्त होता हूं, (इव) जैसे [श्रोता गण] (वक्तरि) वक्ता मैं [वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते हैं] । (भुवनेष्टाः) सम्पूर्ण जगत् में स्थित (एषः) यह परमेश्वर (धास्युः) पोषण करने वाला, और (ननु) अवश्य करके (एषः) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तत्त्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्यरूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा में ग्रहण करते हैं । वही ईश्वर वेद रूप सत्य नियम को सृष्टि के पहिले प्रकट करता, और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्व करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर, और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥ ४ ॥

पातंजल योगदर्शन में वर्णन है—पाद ३ सूत्र २५ ।

भुवनज्ञानं सूर्यं संयमात् ॥

सूर्य में संयम से लोकों का ज्ञान [योगी को] होता है । अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोकों का सम्बन्ध, और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेता है ॥

पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । सूर्यभूमी । तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत् । सद्यः । सद्यः परत्परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । इति समान-द्यस् प्रत्ययो दिनार्थे, समानस्य सभावः । समानेऽहनि । सपदि । तत्क्षणे । तत्त्वज्ञानसमकालमेव । आयसू । इण् गतौ-लङ् उत्तमैकवचने गुणायादेशयोः अडागमः । अहं प्राप्तवानस्मि । उपातिष्ठे । उप + आ-तिष्ठे । उपेत्य स्थितोऽस्मि । नमस्करोमि । प्रथमजाम् । जन सन खन क्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति जनी प्रादुर्भावजननयोः-विट् । विड्वन्नोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्त्वम् । प्रथमं जनयतीति प्रथमजाः । सृष्टेः पूर्वं जनयितारम्, उत्पादकम् । ऋतस्य । ऋ गतौ-क । सत्यस्य । यथार्थज्ञानस्य । वेदविज्ञानस्य । वाचम् । क्विब वचिप्रच्छिन्निसुदुप्रज्वां दीर्घो ऽसंप्रसारणं च । उ० २ । ५७ । इति वच कथने-क्विप् । दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । वाणीम् । वाक्यम् । वक्तरि । वच कथने तृच् । उपदेशके । प्रयोक्तारि वर्तमानां वाचं श्रोतारो यथा प्रयोगसमकाले

परि विश्वा भुवनान्यायमुतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
 यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥
 परि विश्वा । भुवनानि । आयम् । ऋतस्य । तन्तुम् ।
 वि-ततम् । दृशे । कम् । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः ।
 । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥ ५

भाषार्थ—(विश्वा = विश्वानि) सद्य (भुवनानि) लोकों में (परि = परीत्य) घूम कर (ऋतस्य) सत्य नियम के (विततम्) सब ओर फैले हुये (तन्तुम्) फैलाने वाले [अथवा ब्रह्म में सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूँ । (यत्र) जिस [परमात्मा] में (देवाः) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशानाः) भोगते हुये (समाने) साधारण (योनौ) आदि कारण ब्रह्म में [प्रवृष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुँचे हैं ॥ ५ ॥

जानन्ति । भुवनेष्ठाः । भू सू धू असृजिभ्यश्छन्दसि । ३०२ । ८० । इति भू-
 क्युन् । भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं जगत् । आतो मनिन्कनिब्वनिपश्च ।
 पा० ३ । २ । ७४ । इति भुवन + घा गतिनिवृत्तौ-विच् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा०
 ६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् । सर्वलोके परिपूर्णः परमात्मा । धास्युः ।
 सर्वधातुभ्योऽसुन् । ३०४ । १८६ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-असुन् । छन्दसि ।
 परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति धास् क्यच् । क्यच् छन्दसि ।
 पा० ३ । २ । १७० । इति उपत्ययः । धाः धारणं पोषणं जगत इच्छतीति धास्युः
 सर्वपोषणेच्छुः । अग्निः । अ० १ । ६ । २ । सर्वव्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
 अग्निवत् पोषकः ॥

५—तन्तुम् । सितनिगमिमसि० । ३०१ । ६६ । इति तनु विस्तारे-तुन् ।
 तनोति विस्तृणाति तन्यते विस्तीर्यते वा स तन्तुः । विस्तारकम् । विस्तीर्णं
 सूत्रम् । पटस्य सूत्रवत् जगतः कारणभूतम् । विततम् । वि + तनु विस्तारे-
 क्त । विस्तृतम् । व्याप्तम् । दृशे । दृशे विख्याते । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर्
 प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययः । द्रष्टुम् । कम् । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ ।

भावार्थ—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यतः समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान में वशापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते हैं, और यह अनुभव करते हैं, कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता में लय करके आत्मा की परम उन्नति करते हैं, अर्थात् जो स्वार्थ छोड़ कर आत्म समर्पण करते हैं वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते हैं ॥ ५ ॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है ।

स नो बन्धु'र्जनिता स वि'धाता धामानि वेद भुवनानि
विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नु-
ध्यैरयन्त ॥ १ ॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओं और (भुवनानि) लोकों को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियों और सब भुवनों के स्वामी] में तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुये ऊपर पहुंचे हैं ॥

इति क्रमेः क्रमेर्वा-ङ प्रत्ययः । क्रमते रेफलोपः । कः कमनो क्रमणो वा सुखो वा-
निरु० १० । २२ । प्रजापतिम् । विष्णुम् । ब्रह्म । सूर्य, सूर्यवत् प्रकाशकम् । सुखस्व-
रूपम् । यत्र । यस्मिन् के परब्रह्मणि । देवाः । दिव्यगुणवन्तो महात्मानः ।
अमृतम् । म० २ । अमरणम् । जीवनसाफल्यम् । मोक्षम् । आनशानाः । लिटः
कान्ज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति अशू व्यासौ—कानच् । अशनोतेश्च । पा०
७ । ४ । ७५ । जुडागमः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अशनु-
वानाः । प्राप्नुवन्तः । समाने । सम्यक् अनिति नीयते वा । सम् + अन जीवने-
घञ्, यद्वा, सम् + आङ् + णीञ् प्रापणे-अच् । एकस्मिन्नेव । यौनौ । वहि-
अश्रुयुदु० । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि । आदिकारणे । ब्रह्मणि ।
अध्यैरयन्त । ईर गतौ । ऊर्ध्व गतवन्तः । अन्यत् व्याख्यातं सुगमं च ॥

सूक्तम् २ ॥

१-५ ॥ गन्धर्वाप्सरा देवताः १—३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्,
५ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरः सर्वशक्तिमान्नित्युपदिश्यते-परमेश्वर सर्वशक्तिमान है इसका उपदेश ।
दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेकं एव नमस्यो
विक्ष्रीड्यः । तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते
अस्तु दिवि ते सुधस्थम् ॥ १ ॥

दिव्यः । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः ।
विक्षु । ईड्यः । तम् । त्वा । यौमि । ब्रह्मणा । दिव्य । देव ।
नमः । ते । अस्तु । दिवि । ते । सुध-स्थम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दिव्यः) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्वः) गन्धर्व
[भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्मांड
का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी, (विक्षु) सब प्रजाओं [वा मनुष्यों]
में (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (ईड्यः) स्तुति योग्य है । (तम्) उस (त्वा)
तुझ से, (दिव्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर ! (ब्रह्मणा) वेद
द्वारा (यौमि) मैं मिलता हूं, (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो,
(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥ १ ॥

भाषार्थ—धीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की
सत्ता को अपने में और प्रत्येक पदार्थ में वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके
अभिमान छोड़ कर आत्मबल बढ़ाते हुये आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये-ऋग्वेद मं० ६ सू० ८३ मं० ४
गन्धर्व इत्था पुदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमा-
न्यद्भुतः । गुभ्यातिरिपुं निधया निधायतिः सुकृत्त-
मा मधुनो भुक्षमाशत ॥ १ ॥

१—दिव्यः । छन्दसि च । पा० ५ । १ । ६७ । इति दिव-यः । दिवं प्रकाशं
स्वर्गं वार्हतीति । द्योतनात्मकः । स्वर्गीयः । मनोज्ञः । गन्धर्वः । अ० २ । १ । २ ।
गो+धृ-व । वाग्भूमिसूर्यस्वर्गाणां धारकः परमेश्वरः । भुवनस्य । अ० २ ।

(गन्धर्वः) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्था) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्, दिव्य गुणवालों के (जनिमानि) जन्मों अर्थात् कुलों की (पाति) चौकसी रखता है। (निधापतिः) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) बैरी को (गृभ्णाति) पकड़ता है, (सुकृत्तमाः) बड़े बड़े सुकृती पुण्यात्मा लोगों ने (मधुनः) मधुर रस के (भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है ॥

दिवि स्पृष्टो यजुतः सूर्यत्वगवयाता हरंसो दैव्यस्य ।
मुडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः
सुशेवाः ॥२॥

दिवि । स्पृष्टः । यजुतः । सूर्य-त्वक् । अ-व-याता । हरंसः ।
दैव्यस्य । मुडात् । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव ।
नमस्यः । सु-शेवाः ॥२॥

भाषार्थ—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (स्पृष्टः) स्पर्श किये हुये, (यजतः)

१।३। जगतः । नमस्यः । तदर्हति । पा० ५ । १।६३ । इति नमस्-यत् ।
तित् स्वरितः । पा० ६ । १।१८५ । इति स्वरितत्वम् । नमस्कारयोग्यः । विष्णु ।
विश प्रवेशने-क्विप् । विशः = मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजासु । मनुष्येषु ।
ईड्यः । ऋहलोर्णत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति ईड् स्तुतौ-ण्यत् ।
स्तुत्यः । यौमि । उतो वृद्धिर्लुकि हलि । पा० ७ । ३ । ८६ । इति
यु मिश्रणे-वृद्धिः । संयोजयामि । ब्रह्मणा । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञाने । ते ।
तुभ्यम् । नमः स्वस्तिस्वाहा० । पा० २ । ३ । १६ । इति चतुर्थी । अनुदात्तं
सर्वमपादादौ । पा० ८ । १ । १८ । इत्यनुदात्तः । दिवि । दिवु क्रीडाविजिगीषा-
व्यवहारद्युतिस्तुति०-क्विप् । स्वर्गे । प्रकाशे । व्यवहारे । सधस्यस् । सह ति-
ष्ठन्त्यत्रेति । सह + घा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणे क प्रत्ययः । सध माधरथयोश्छ-
न्दसि । पा० ६ । ३ । ६६ । इति सहस्य सधादेशः । सहस्थानम् । निवासस्थानम् ।
अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

२—दिवि । म० १ । प्रत्येकव्यवहारे । स्पृष्टः । स्पृश सम्पर्क-क्त । स्पर्श-
युक्तः । स्थितः । यजतः । भृमृदशियजि० । उ० ३ । ११० । इति यज देवपूजा-

पूजनीय, (सूर्यत्वक्) सूर्य को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (दैव्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरसः) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृडात्) [सब को] आनन्द देवे, (यः) जो (गन्धर्वः) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य है ॥२॥

भावार्थ—वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमें सामार्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्व सेवनीय परमेश्वर की उपासना से सब को आनन्द मिलता है ॥२॥

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० अ० ३१। १८॥

वेदाहमे तं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विदुते-
ऽयनाय ॥१॥

सङ्कतिकरणदानेषु—अतच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः । यष्टव्यः । पूजनीयाः । सूर्यत्वक् । सूर्यः, व्याख्यातः—अ० १। ३। ५ । । सुवति सरति वा स सूर्यः । त्वच संवणे—किप् । यद्वा । तनोतेरनश्च वः । उ० २। ६३ । इति तनु विस्तारेचिक्, अन् इत्यस्य वः । त्वचति संवृणोति, यद्वा, तनोति विस्तारयतीति त्वक् । सूर्यस्य त्वग् रूपं यस्मात् सः । सूर्यस्त्रष्टा । अवयाता । या गतौ, अन्तर्भावितणिच्—तृच् । अवयापयिता, अवगमयिता । हरसः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४। १८६ । इति हज् हरणे—असुन् । क्रोधस्य—निघ० २। १३ । दैव्यस्य । अ० २। १२ । ४ देवाद् यञञौ । वा० पा० ४। १। ८५ । इति देव + यञ् । देवसम्बद्धस्य । आधिदैविकस्य । यद्वा मदशीलस्य, प्रमत्तस्य पुरुषस्य । मृडात् । मृड सुखने-लेटि आडागमः । इतश्चलोपः परस्मैपदेषु । पा० ३। ४। ६७ । इति इकारलोपः । मृडयतु । सुखयतु । सुशेवाः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४। १८६ । इति सु + शेवृ सेवने—असुन् । शोभनं शेवः शेवनं यस्येति । अनायासेन सेवनीयः । अन्यद् गतं मन्त्रे १ ॥

(अहम्) मैं, (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्) पूजनीय वा सबसे बड़े (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हूँ । (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जान कर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) लांघ जाता है, (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) चलने के लिये (न) नहीं (विद्यते) विद्यमान है ॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है । ऋग्वेद म० १० । सू० १६० । ३।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथापूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत्) बनाया है ॥

**अनवद्याभिः समुजग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत् ।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः स द आ च परा च यन्ति ॥३**

अनवद्याभिः । सम् । ऊ० इति । जुग्मे । आभिः । अप्सरासु ।
अपि । गन्धर्वः । आसीत् । समुद्रे । आसाम् । सदनम् । मे ।
आहः । यतः । सुद्यः । आ । च । परा । च । यन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वः) गन्धर्व [म० १] (आभिः) इन (अनवद्याभिः) निर्दोष [अप्सराओं] के साथ (उ) अवश्य (संजग्मे) संगति वाला था, और (अप्सरासु) अप्सराओं में [सब प्राणियों, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल में व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियों में] (अपि) निः सन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था । (आसाम्) इन [अप्सराओं] का (सदनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में [वा समुद्र रूप गंभीर स्थान में] (मे) मुझको (आहुः) वे बताते हैं, (यतः) जिस

३—अनवद्याभिः । अवद्यपयवर्गागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । पा० ३ । १ । १०१ । इति अन् + अ + वद् वाचि—यत्प्रत्ययान्तो निपातः । अगर्ह्याभिः । प्रशस्तगुणाभिः । सम्-जग्मे । सम् + गम्-लिट् । समो गम्यच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । इति सम्पूर्वाद् अकर्मकाद् गमेरात्मने पदम् । गमहन० । पा० ६ । ४ । ६८ । इत्युपधालोपः । संगतवान् । अप्सरासु । आप्रोते ह्रस्वश्च । उ० २ ।

स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च, और (परा=परायन्ति) दूर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—(गन्धर्व) भूमि आदि लोकों और वेदवाणी का धारक (अप्सराओं) अर्थात् सब प्राणियों और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थों में वर्त्तमान अपनी शक्तियों के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियां अति विस्तीर्ण आकाश में वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरों में परमाणुओं की संयोग दशा में दृश्य, और उन की वियोग दशा में अदृश्य हो जाती हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(गन्धर्वः) और (अप्सरसः) शब्दों के लिये यजुर्वेद अ० १८ म० ३८-४३, कुछ मन्त्र देखें । वहाँ (अप्सरसः) शब्द है जो (अप्सरः) शब्द का पर्यायवाची है ।

ऋत्वाषाढुतयामग्निगन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो
नाम । स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्युः
स्वाहा ॥ १ ॥

५८ । इति आसृ व्याप्तौ—क्विप् । आपः, अन्तरिक्षनाम निघ० १ । ३ । उदक नाम-
निघ० १ । १२ । दयानन्दभाष्ये प्राणा जलानि वा—य० ४ । ७ । आप्ताः प्रजाः—
६ । २७ । व्यापिकास्तन्मात्राः—२७ । २५ । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ।
पा० ३ । १ । १३४ । इति सृ गतौ—पचायच् । यद्वा । वृत्तृवदिह निकमिकषिभ्यः
सः । उ० ३ । ६२ । इति आसृ व्याप्तौ—सप्रत्ययः । उपधाह्रस्वः । अप्सः=रूपम्
निघ० ३ । ७ । रो मत्वर्थीयः । अथवा, रा दानादानयोः—अच् । टाप् । अप्सरा
अप्सारिण्यपि वा ऽप्स इति रूपनाम, अप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं
व्यापनीयं वेति, तद्वा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा-
निरु० ५ । १३ । अप्सु आकाशे जलेषु प्राणेषु प्रजासु वा सरणशीलाः, अथवा
रूपवत्यः परमेश्वरशक्तयः । समुद्रे । अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षे—निघ० १ । ३ । ८ ।
सदनस् । सीदन्त्यत्रेति । षड्ल गतौ—ल्युट् । गृहम् । आहुः । ब्रूज् व्यक्तायां
वाचि—लट् । ब्रुवन्ति कथयन्ति ब्रह्मवादिनः । आ+यान्ति । इण् गतौ । आग-
च्छन्ति, आविर्भवन्ति सृष्टिकाले । परा+यन्ति । दूरे गच्छन्ति तिरोभवन्ति
प्रलयकाले ॥

(ऋताषाद्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्निः) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वः) सूर्य, पृथिवी, और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है । (तस्य) उसका [गन्धर्व की बनायी] (मुदः) आनन्द देने वाली (औषधयः) औषधें [अन्नः दिवस्तुयें] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरसः) अप्सरायें अर्थात् आकाश, वा प्राणों, व जल में चलने वाली वा उत्तम रूप वाली सामग्री हैं । (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे लिये (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे । (तस्मै) उस परमेश्वर को (स्वाहा) सुन्दर वाणी और (वाद्) आवाहन, और (ताभ्यः) उन सामग्रियों के लिये (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥

यह मन्त्र ३८ वां है । इसी प्रकार अन्य पांच मन्त्रों में (गन्धर्वः) शब्द (सूर्यः चन्द्रमाः, वातः, यज्ञः, मनः) शब्दों के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणाः, ऋक्सामानि) शब्दों के साथ क्रम से आये हैं ।

अभ्रिये दिव्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वंसचध्वे ।

ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

अभ्रिये । दिव्युत् । नक्षत्रिये । याः । विश्व-वसुम् । गन्धर्वम् । सचध्वे । ताभ्यः । वः । देवीः । नमः । इत् । कृणोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] में [रहने वाली], (दिव्युत् = ८—ति) विजुली में [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में [रहने वाली] (याः) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के धनों के वा सब निवासस्थानों [लोकों] के

४—अभ्रिये—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३ इति अभ्र गतौ-पचाद्यच् । अथवा । अपो बिभर्तीति । अप्+भृ-क । अभ्रम्=मेघः-निघ० १ । १० । समुद्राभ्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति अभ्र-भवे घप्रत्ययः । घस्य इय् आदेशः । मेघेषु भवे स्थाने मेघस्य मण्डले वर्त्तमानाः । दिव्युत् । द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वा० । पा० ३ । २ । १७८ इति द्युत वीसौ-किप् । द्वित्वं च । द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् । पा० ७ । ४ । ६७ । इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम् । अथवा दो अवखण्डे-किप् । पृषोदराविरूपम् । द्युति पदार्थान् । सुपां सु लुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति सप्तम्या लुक् । द्योतमाने विद्युन्मण्डले । नक्षत्रिये । नक्षत्राद्

स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेद वाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवीः=हे देव्यः!) हे देवियो! [विष्य अर्थात् अद्भुत गुण वालियो!] (ताः) उन (वः) तुमको (नमः) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां शक्तियों से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सरायें [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तियां] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण हैं। उन शक्तियों अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बड़े छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारों को विचार कर उपकारी बनकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

याः क्लृन्दास्तमिषीचयो ऽक्षकामा मनोमुहः ।

ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यो ऽप्सुराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्लृन्दाः । तमिषीचयः । अक्ष-कामाः । मनुः-मुहः ।

ताभ्यः । गन्धर्व-पत्नीभ्यः । अप्सुः । अभ्यः । अकरम् । नमः ॥ ५ ॥

भषार्थ—(याः) जो (क्लृन्दाः) आवाहन करने वाली, (तमिषीचयः) इच्छा की सीचने [पूरा करने] वाली, (अक्षकामाः) अवहारों में कामना करानेवाली, (मनोमुहः) मन को आश्चर्य में करने वाली हैं। (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्व की

घः । पा० ४ । ४ । १४१ । इति नक्षत्र-घ प्रत्ययः । नक्षत्रेषु भवे लोके वर्त्तमानाः ।

याः । अप्सराः, यूयम् । विश्वावसुम् । विश्वस्य वसुराटोः । पा० । ६ । ३ ।

१२८ । इति पूर्वपदस्य दीर्घः । बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् । पा० ६ । २ । १०६ ।

इति पूर्वपदस्य विश्वशब्दस्य अन्तोदात्तत्वम् ॥ विश्वानि वसूनि यस्मिन् सः ।

सर्वधनसम्पन्नम् । यद्वा । सर्वे वसवो निवासा लोका यस्मिन् सः । सर्वाश्रयम् ।

सचध्वे । पच सेचने सेवने च, आत्मनेपदम् । सेवध्वे । देवीः । वाङ्मन्दसि ।

पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । देव्यो द्योतमानाः । कृणोमि ।

धिन्विक्कण्व्योर च पा० ३ । १ । ८० । इति कृवि हिंसाकरणयोः-उप्रत्ययः,

अकारश्चान्तादेशः । करोमि । अन्यत् सुगमम् ॥

५—क्लृन्दाः । क्लृदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच् । टाप् । आवाहन-शीलाः । तमिषीचयः । तमि-षिचयः । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति तमु इच्छायां खेदे च-इन् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति षिच सेचने-इन्,

पत्नी [परमेश्वर की रक्षा में रहने वाली] (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में रहने वाली ईश्वर शक्तियों] को मैं ने (नमः) नमस्कार (अकरम्) किया है ॥१॥

भावार्थ—इस मन्त्र में भी अप्सराओं अर्थात् शक्तियों से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टों पर गरजता और शिष्टों का आवाहन करता, अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मों में प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड़ और चेतन्य नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—६ ॥ भेषजं देवता । अनुष्टुप् छन्द ॥

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये उपदेश ।

अदो यद्वधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ॥

तत् ते कृणीमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥

अदः । यत् । अव-धावति । अवत्-कम् । अधि । पर्वतात् ।

तत् । ते । कृणीमि । भेषजम् । सु-भेषजम् । यथा । असंसि ॥१॥

भावार्थ—(अदः) वह (यत्) जो संगति योग्य ब्रह्म (अवत्कम्) नित्य

किति ह्रस्वः । छान्दसो दीर्घः । तमिम् इच्छां सिञ्चन्ति तास्तमिसिञ्चयः । इच्छापूरयिष्यः । अक्षकामाः । अक्ष व्याप्तौ, संहतौ-पचायच् । यद्वा । अशे-
देवने । उ० ३ । ६५ । इति अश्व व्यसौ-सप्रत्ययः । अक्षो व्यवहारः । यथा, अक्षद-
र्शकः, अक्षदक्=व्यवहारनिर्णेता, न्यायकर्त्ता । काम्यतेऽसौ । कमु स्पृहायाम्-
कर्मणि घञ् । अक्षेषु व्यवहारेषु सत्कर्मसु कामोऽभिलाषो याभ्यस्तास्तथाभूताः ।
व्यवहारोत्साहिन्यः । मनोमुहः । मनस्+मुह वैचित्ये-किप् । मनसः, चित्तस्य
मोहयिष्यः, आश्चर्ये विस्मये कर्ष्यः । गन्धर्वपत्नीभ्यः । विभाषासपूर्वस्य
पा० ४ । १ । ३४ । इति गन्धर्व+पति-नकारङीपौ । गन्धर्वः पूर्वोक्तः परमात्मा
पतिः, रक्षकः, स्वामी यासां ताभ्यः । गन्धर्वेण परमेश्वररेण रक्षिताभ्यः ।
अप्सराभ्यः । मन्त्रे ३ । आकाशप्राणादिषु वर्त्तमानाभ्यः । अकरम् । दुष्कृ-
करणे-लुङ् । कर्मदृढिभ्यश्छन्दसि । पा० ३ । १ । ५६ । इति छन्दः अङ् आदेशः ।
अदृशोऽङि गुणः । पा० ७।४।१६ । इति गुणः । अहं कृतवान् । नमः । सरकारम् ॥

१—अदः । न दस्यते उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र इदन्तया । न+इत्सु

चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अव-
धावति) नीचे की ओर दौड़ता आना है । [हे औषध !] (तत्) उस [ब्रह्म] को
(ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं बनाता हूँ, (यथा) जिस से कि
(सुभेषजम्) उत्तम औषध (अससि) तू हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—हिम वाले पर्वतों से नदियां ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रहती
और अन्न आदि औषधों को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण
करती हैं, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय में व्यापक हो
रहा है । सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मान-
सिक रोगों की निवृत्ति करके सदा उपकारी बनें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

आदुङ्गा कुविदुङ्गा शृतं या भेषजानि ते ।

तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत् । अङ्ग । कुवित् । अङ्ग । शृतम् । या । भेषजानि । ते ।
तेषाम् । असि । त्वम् । उत्-तमम् । अनास्त्रावम् । अरोग-
णम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक

उत्क्षेपे—किप् । अनुत्क्षेपणीयम् । पुरोवर्त्ति । विप्रकृष्टम् । यत् । त्यजित-
नियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति यज—अदिः, स च ङित् । यजति सर्वैः
पदार्थैः सह सङ्गतं भवतीति । यजनीयं संगन्तव्याम् । प्रसिद्धम् । ब्रह्मणो नाम-
इति दयानन्दः—उणादिकोषव्याख्यायाम् । अव-धावति । पाद्माध्मास्थास्ना०
पा० ७ । ३ । ७८ । इति सृधातोः धौ इत्यादेशः शीघ्रगमने । अवस्था शीघ्रं
सरति गच्छति । अवत्कम् । अव-अत्कम् । इण्भीकापाश्ल्यतिमर्चिभ्यः कन् ।
उ० ३ । ४३ । इति अव+अत् सातत्यगमने—कन् । शकन्धादिषु पररूपं वक्तव्यम् ।
घा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अवातति खन्यमानमधोगच्छति । जल-
प्रवाहः । अवतः कूपानाम्—निघ० ३ । २३ । पर्वतात् । अ० १ । १२ । ३ । शैलात् ।
तत् । त्यजितनियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति तनु उपकृतौ विस्तृतौ च-
आदः, ङित् । तनोति सर्वं, यद्वा, तन्यते सर्वत्र । ब्रह्मणो नामविशेषः । विस्ती-
र्णम् । ब्रह्म । भेषजम् । अ० १ । ४ । ४ । औषधम् । सुभेषजम् । सुः पूजा-
याम् । पा० १ । ४ । ६४ । उत्कृष्टमौषधम् । अतिशयितवीर्ययुक्तम् । यथा ।
येन प्रकारेण । अससि । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् ।
असि । भवेः ॥

२—आत् । अभ्ययम् । पुनः । अनन्तरम् । अङ्ग । अभ्ययम् । निपातस्य

प्रकार से (या=यानि) जो (ने) तेरी [बनायी] (शतम्) सौ [असंख्य] (भेष-जानि) भय निवर्त्तक औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम गुण वाला, (अनास्त्रावम्) बड़े क्लेश का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार की सब औषधियों में क्लेशनाशक और रोगनिवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही औषधियों का औषधि परब्रह्म है ॥ २ ॥

नीचैः खन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद् रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

नीचैः । खन्त्यन्ति । असुराः । अरुः-स्त्राणम् । इदम् । महत् ।
तत् । आ-स्त्रावस्य । भेषजम् । तत् । जं इति । रोगम् ।
अनीनशत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असुराः) बुद्धिमान् पुरुष (इदम्) इस (अरुस्त्राणम्) ब्रह्म [स्फोर=फोड़े] को पका कर भर देने वाली, (महत्) उत्तम औषध को (नीचैः) नीचे नीचे (खन्त्यन्ति) खोदते जाते हैं । (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म

च । पा० ६ । ३ । १ । १३६ । इति सांहितको दीर्घः । इत्युभयत्र दीर्घः । संबोधने ।
हे । कुवित् । निपातोऽयम् । बहुनाम-निघ० ३ । १ । बहुधा बहुप्रकारेण ।
शतम् । दश दशतः परिमाणमस्येति । पङ्क्तिर्विंशतिर्विशच्च० । पा० ५ । १ । ५६ ।
इति तः । दशाणां शभावश्च निपात्यते । दशगुणित दश सङ्ख्या । शतं दशदशतः-
निरु० ३ । १० । बहुनाम-निघ० ३ । १ । अपरिमितानि । असङ्ख्यातानि ।
भेषजानि । अ० १ । ४ । ४ । भिषज् अण् । यद्वा । भेष+जि-ङ । औषधानि ।
उत्तमम् । अ० १ । ६ । २ । उत्-तमप् । उत्कृष्टतमम् । अनास्त्रावम् ।
अ० १ । २ । ४ । अन्+आङ्+सु-ण । क्लेशरहितम् । अरोगणम् ।
रुजो भङ्गे-भावे ल्युट्, छान्दसं कुत्वम् । अरोजनाम् । रोगनिवर्त्तकम् ॥

३—नीचैः । नौ दीर्घश्च उ० ५ । १३ । इति नि+चिचयने-डैसि, नेर्दीर्घत्वं
च । अधोऽधः । अन्तरन्तः । खन्त्यन्ति । कञ् अवधारणे । अवधारयन्ति, उत्तु-
लयन्ति । अन्वेषणेन प्राप्नुवन्ति । असुराः । अ० १० । १ । १ । असेरुरन् । उ०

(आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश को (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सङ्घेय बड़े बड़े परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम औषधों को लाकर रोगों की निवृत्ति करके प्राणियों को स्वस्थ करते हैं, वैसे ही विज्ञानियों ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ही मानसिक और शारीरिक रोगों की ओषधि उत्पन्न कर दी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (अनीनशत्) के स्थान में [अशीशमत्] पाठ है ॥

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तद् रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

उप-जीकाः । उत् । भुरन्ति । समुद्रात् । अधि । भेषजम् ।

तत् । आ-स्त्रवस्य । भेषजम् । तत् । जं इति । रोगम् । अशीशमत् ॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] में से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्भरन्ति) ऊपर निकालते हैं । (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्)

१।४२। इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । यद्वा, असुः, प्राणः, रो मत्वर्थायः । ज्ञानवन्तः । दीप्यमानाः । प्रज्ञावन्तः—निरु० १०। ३४ । प्राणवन्तः पुरुषाः । अरुस्त्राणम् । अरुः—स्त्राणम् । अर्त्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति ऋ गतौ, हिंसायां वा-उत्ति । इति अरुः, व्रणः । स्त्रै पाके-ल्युट् । अरुयो व्रणस्य पाककरम् । सहत् । अ० १ । १० । ४ । वडम् । विपुलम् । आस्त्रवस्य । अ० १ । २ । ४ । महाक्लेशस्य । रोगम् । पदरुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । ति रुजो भङ्गे-घञ् । व्याधिम् । उपतापम् । अनीनशत् । इति शश अदर्शने, नाशे च-त्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । नाशयति स्म ॥

४—उपजीकाः—कषिदूपिभ्यामीकन् । उ० ४ । १६ । इति बाहुलकात्, उप+जीव प्राणधारणे-ईकन्, स च ङित् । उपजीविनः । परमेश्वराश्रिताः । प्राणिनः । वल्मीकानेष्पादिका वज्रयः—इति सायणः । उद्भरन्ति । उत्-भृञ् ।

औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर काऽसहारा रखने वाले पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर को पाते हैं । और उस आदिकारण की महिमा को सच्चात् करके अपने सब क्लेशों का नाश करके आनन्द भांगते हैं ॥ ४ ॥

अरुस्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भूतम् ।

तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुः-स्त्राणम् । इदम् । महत् । पृथिव्याः । अधि । उत्-भूतम् । तत् । आ-स्त्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अनीनशत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (अरुस्त्राणम्) फोड़े को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [औषध] (पृथिव्याः) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भूतम्) निकाल कर लाया गया है । (तत्) वही [ज्ञान] (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उस ने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—महाक्लेश नाशक ब्रह्म ज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोकों के प्रत्येक पदार्थ में वर्तमान है, मनुष्य उस को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करें और रोगों की निवृत्ति करके स्वस्थ चित्त होकर आनन्दित रहें ॥ ५ ॥

उद्धरन्ति । ऊर्ध्वं हरन्ति । समुद्रात् । अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षात् । सर्व-संसागात् । भेषजम् । भय निवारकं परब्रह्म । उदकम्-निघ० १ । १२ । सुखम् निघ० ३ । ६ । आस्त्रावस्य । म० ४ । महाक्लेशस्य । अशीशमत् । शमु उपशमे, गयन्तात् लुङि चङि रूपम् । उपशाम्यति नाशयति स्म ॥

५—अरुस्त्राणम् । म० ३ । अरुषः पाचयितृ । पृथिव्याः । अ० १ । २ । १ । विस्तीर्णाद् भूलोकात् । उद्भूतम् । उत्-भूत्-क्त । उद्भूतम् । उन्मूलितम् । सर्वथा ज्ञानने प्राप्तम् । अन्यद् व्याख्यातं म० ३ ॥

शं नो भवन्त्वाप ओषधयः शिवाः । इन्द्रस्य वज्रो अप
हन्तु रक्षसं आरात् विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥६॥
शम् । नः । भवन्तु । आपः । ओषधयः । शिवाः । इन्द्रस्य ।
वज्रः । अप । हन्तु । रक्षसः । आरात् । वि-सृष्टाः । इषवः ।
पतन्तु । रक्षसाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली वा
ताप नाश करने वाली अन्नादि आंशधे (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक
और (शिवाः) मंगल दायक (भवन्तु) होंगे । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य वाले
पुरुष का (वज्रः) (रक्षसः) राक्षस का (अपहन्तु) हनन कर डाले, (रक्षसाम्)
राक्षसों के (विसृष्टाः) छोड़े हुये (इषवः) वाण (आरात्) दूर (पतन्तु)
गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहें, जिस से जल,
अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा में आरोग्यता बढ़ावे, और जैसे राजा
चोर, डाकू आदि दुष्टों को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावें और सदा
आनन्द भोगें, ऐसे ही हम अपने दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ।

टिप्पणी—अजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की संहिता में (अपः)
पाठ है, और सायणभाष्य और पं० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक में (आपः) पाठ
है, हमने भी (आपः) ही लिया है ॥

६—शम् । अ० १ । ३ । १ । शमनाय । शान्तिप्रदाः । आपः ।
अ० १ । ५ । ३ । जलानि । ओषधयः । अ० १ । २३ । १ । ओष-डुधाञ्
धारणपोषणयोः—कि । अन्नादिबलप्रदपदार्थाः । शिवाः । अ० १ । ६ । ४ ।
सर्वनिवृष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने-चन् । शीङो ह्रस्वत्वम् ।
शिवम्=सुखम्—निघ० ३ । ६ । ततो अर्श आद्यच् । सुखकारिण्यः । इन्द्रस्य ।
अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य । वज्रः । अ० १ । ७ । ७ । कुलिशः ।
कुठारः । अपहन्तु । अपहननं विनाशं करोतु । रक्षसः । सर्वधातुभ्यो-
ऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रक्ष पालने—अपादाने असुन् । रक्षो रक्षित-
व्यमस्मात्—निरु० ४ । १८ । कर्मणि षष्ठी । राक्षस्य । दुष्टस्य । आरात् ।
दूरदेशे । वि-सृष्टाः । वि+सृज त्यागे—क्त । त्यक्ताः । प्रेषिताः । प्रयुक्ताः ।
इषवः । अ० १ । १३ । ५ । शत्रुहिसका वाणाः । पतन्तु । अधोगच्छन्तु ।
रक्षसाम् । दुराचारिणां पुरुषारागम् ॥

सूक्तम् ४ ॥

१-६ ॥ जङ्गिडो देवता । १-पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टु ११×२= २२, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप् ८×२=१६, २-६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्यायुं वर्धयेत्-मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढ़ावे ।
दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभ्रमो वयम् ॥१॥
दीर्घायु-त्वाय । बृहते । रणाय । अरिष्यन्तः । दक्षमाणाः । सदा ।
एव । मणिम् । विष्कन्ध-दूषणम् । जङ्गिडम् । बिभ्रमः ।
वयम् ॥१॥

भावार्थ—(दीर्घायुत्वाय) बड़ी आयु के लिये और (बृहते) बड़े (रणाय) रण में [जीत] वा रमण के लिये (अरिष्यन्तः) [किसी को] न सताते हुये और (सदा एव) सदा ही, (दक्षमाणाः) वृद्धि करते हुये (वयम्) हम लोग (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न निवारक और (मणिम्) प्रशंसनीय (जङ्गिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [औषध वा परमेश्वर] को (बिभ्रमः) हम धारण करें ॥१॥

भावार्थ—जगत् में कीर्त्तिमान् होना ही आयु का बढ़ाना है । मनुष्यों को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थों के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और

१-दीर्घायुत्वाय । छन्दसीशः । उ० १ । २ । इति दीर्घ+इण गतौ-उण् । ततो भावे त्व प्रत्ययः । निरकालजीवनाय । रणाय । रमणाय, मकार-लोपे यद्वा, संग्रामाय । अरिष्यन्तः । रिष हिंसायाम् शत्रु, नञ्समासः । अहिंसन्तः । दक्षमाणाः । दक्ष वृद्धिशैघ्र्ययोः-शानच् । वर्धमानाः । मणिम् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मण शब्दे-इन् । मण्यते स्तूयते स मणिः । बहुमूल्यः पाषाणो वा रत्नम् । प्रशस्तम् । विष्कन्ध-दूषणम् । वि+स्कन्धिर् शोषणे गत्यां च-छञ्, धञ्चान्तादेशः । दुष वैकृत्ये ण्यन्तात् करणे ल्युट् । दोषो खौ । पा० ६ । ४ । ६० । इति ऊत्वम् । विशेषेण शोषकस्य विघ्नस्य विकर्तारं निवारकम् । जङ्गिडम् । जमति भक्षयतीति

रोग रूप विघ्नो को हटा कर सत्पुरुषों की वृद्धि में अपनी और संसार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥१॥

१—सायणभाष्य में (दत्तमाणाः) के स्थान में [रत्नमाणाः] पद है ।

२—सायणचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जुम्भाद् विशुराद् विष्कन्धादभिःशोचंनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परिणः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः । जुम्भात् । वि-शुरात् । वि-स्कन्धात् । अभि-शोचंनात् ।

मणिः । सहस्र-वीर्यः । परि । नः । पातु । विश्वतः ॥ २ ॥

भावार्थ—(सहस्रवीर्यः) सहस्रों सामर्थ्य वाला, (जङ्गिडः) शरीर भक्षक रोगों का निगलने वाला (मणिः) मणिरूप अति श्रेष्ठ औषध वा परमेश्वर (नः) हमको (जुम्भात्) नाश से, (विशुरात्) हिंसा से, (विष्कन्धात्) विघ्न से, और (अभिःशोचनात्) महा शोक से, (विश्वतः) सब प्रकार और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥ २ ॥

जः । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति जम भक्षे—ड । गिरतीति गिरः । मेघर्तिभयेषु कृत्रः । पा० ३ । २ । ४३ । इति बाहुलकात्, गृ निगरणे—खच् । अरुद्विवदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति अजन्तस्य मुम् । रकारस्य उत्त्वम् । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा निगरणशीलं भक्षकम् औषधं परमात्मानं वा । विभ्रूमः । डुभृन् धारणशोषणयोः—श्रौ लट् । धारयामः ॥

२—जङ्गिडः । म० १ । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा भक्षको नाशकः । जुम्भात् । । अभि नष्टीकरणे, जुम्भे वा—पचायच् । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । नाशनात् । हानिसकाशात् । क्रूर कर्मत्वात् । विशुरात् । ऋदोरप् । पा ३ । ३ । ५७ । इति वि+शृ हिंसायाम्—अप् । विशरणात् । बधात् । मारणात् । विष्कन्धात् । म० १ । शोषकात् । विघ्नात् । अभिशोचनात् । अभि+शुच् शोके—ल्युट् । मनसः पीडायाः । अतिशोकात् । मणिः । म० १ । प्रशंसनीयः । सहस्रवीर्यः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६४ । इति वीर—यत् । अथवा, भावे यत् प्रत्ययः । सहस्राणि वीर्याणि सामर्थ्यानि यस्मिन् सः । अपरि-

भावार्थ—मनुष्य सर्व रक्तक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतायें, किन्तु सुखित होकर आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः

अयं नो विश्वभेषजो जङ्घिडः पातृहंसः ॥३॥

अयम् । वि-स्कन्धम् । सहते । अयम् । बाधते । अत्रिणः ।
अयम् । नः । विश्व-भेषजः । जङ्घिडः । पातु । अंहंसः ॥३॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (जङ्घिडः) पापों वा रोगों का भक्षक [परमेश्वर वा औषध] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्रिणः) खाउओं वा रोगों को (बाधते) रोकता है । (अयम्) यही (नः) हमको (अंहंसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर में विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओं को हटाकर अटल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

मितपराक्रमः । परि । परितः । सर्वतः । नः । अस्मान् । उपसर्गाद् बहुलम् ।
पा० ८ । ४ । २८ । इति नसोऽणत्वम् । विश्वतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ ।
७ । इति विश्व-तसिल् । लिति । पा० ६ । १ । १६३ । इति प्रत्यायात् पूर्वस्य
उदात्तत्वम् । विश्वस्मात् सर्वस्मात् खेदात् ॥

३—विष्कन्धम् । म० १ । विघ्नम् । सहते । यह अभिभवे । अभिभवति ।
बाधते । बाधु विलोडने । निवारयति नाशयति । अत्रिणः । अ० १ । ७ । ३ ।
अद भक्षणे-त्रिणि । अतृन्, भक्षकान् पुरुषान् रोगान् वा । विश्वभेषजः ।
सर्वेषां रोगादीनां जेता निवर्तकः । सर्वौषधः । अंहंसः । अमेहुक्च । उ० ४ ।
११३ । इति अम रोगे, गतौ च-असुन् हुक्च । रोगात् । पापात् ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।

विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे संहामहे ॥४॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयः—भुवा । वि-
स्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । वि-आयामे । संहामहे ॥४॥

भाषार्थ—(देवैः) विद्वानों करके (दत्तेन) दिये हुये [उपदेश किये
हुये] (मणिना) मणि [अति श्रेष्ठ], (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे
(जङ्गिडेन) रोगों के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्)
विघ्न और (सर्वा=सर्वाणि) सब (रक्षांसि) राजसों को (व्यायामे)
संग्राम में (संहामहे) हम दबावें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से दुःख नाशक
परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यों का सेवन
करके विघ्नकारी दुष्ट जीवों, पापों और रोगों को हटाकर सदा आनन्द में
रहें ॥ ४ ॥

शृणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।

अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

शृणः । च । मा । जङ्गिडः । च । वि-स्कन्धात् । अभि । रक्षताम् ।

अरण्यात् । अन्यः । आ-भृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥५॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (शृणः) आत्मदान वा उद्योग, (च)
और (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनों, (मा) मुझको (विष्क-

४—देवैः । विद्वद्भिः । दत्तेन । दीयते इति । दा-क । कृतदानेन ।
उपदिष्टेन । मयोभुवा । अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयित्रा, उत्पादकेन ।
व्यायामे । वि + आङ् + यम परिवेषणे-घञ् । मल्लक्रीडाप्रदेशे । संग्रामे ।
संहामहे । अभिभवामः । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

५-शृणः । शृण दाने, गतौ-पचाद्यच् । दानम् । आत्मसमर्पणम् । गतिः ।

न्धात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) बचावें । (अन्यः) एक (अर-
ण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः)
कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्यः) रसों अर्थात् पराक्रमों वा आनन्दों के लिये
(आभृतः) खाया जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी
पुरुष अपनी और सब की रक्षा कर सकते हैं । वही योगी जन तपश्चर्या, विद्या-
भ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यान शक्ति] और परमेश्वर में श्रद्धा
प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

कृत्यादूषि'र्यं मुणिर्यो अरातिदूषिः ।

अथो सह'स्वाज् जुङ्गिडः प्र णु आयू'षि तारिषत् ॥६॥

कृत्यादूषिः । अयम् । मुणिः । अथो इति । अराति-दूषिः ।
अथो इति । सह'स्वान् । जुङ्गिडः । प्र । नुः । आयू'षि ।
तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मुणिः) प्रशंसनीय पदार्थ (कृत्यादूषिः) पीड़ा
देने वाली विरुद्ध क्रियाओं में दोष लगाने वाला, (अथो) और भी (अरातिदूषिः)

उद्योगः । जुङ्गिडः । म० १ । पापभक्तकः परमेश्वरः । औपधम् । अभि ।
अभितः, सर्वतः । रक्षताम् । उभौ पालयताम् । अरण्यात् । अर्तेर्निच्च ।
उ० ३ । १०२ । इति ऋ गतौ-अन्यप्रत्ययः । ऋच्छन्ति गच्छन्ति तपस्विनो यत्र ।
यद्वा । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति नञ्+रम-यत् । अरमणं शरीर-
अमो यत्र । तपः साधनात् विद्याभ्यासात् । अन्यः । माङ्गलसिन्धो यः । उ०
४ । १०६ । इति अन जीवने-यः । एकतरः । आभृतः । अ० १ । ६ । ४ । हस्य
भः । आहतः । आनीतः । कृष्याः । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति कृष
विलेखने-इन्, सच कित् । कर्षणात् । अनुसन्धानात् । अन्वेषणात् । रसेभ्यः ।
पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति रस आस्वादे, स्नेहे-घ ।
रस्यते अनुभूयत इति रसः । रसानां वीर्याणां प्राप्तये । अथवा । आनन्दानामनु-
भवाय ॥

६—कृत्यादूषिः । विभाषा कृवृषोः । पा० ३ । १ । १२० इति कृञ्

अदानशीलों [कंजूसों] में दोष लगानेवाला है । (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महाबली (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध (नः) हमारे (आयंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ती वाला करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग में चलते और सत्य पुरुषार्थों में आत्मदान अर्थात् ध्यान नहीं करते, वे ईश्वर नियम से महा दुःख उठाते हैं । सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणों के अनुभव से अपने जीवन को बढ़ाते हैं, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १—३ अनुष्टुप्, ४—७ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यः सदैवोन्नतिप्रयत्नं कुर्व्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे ॥

इन्द्र' जुषस्व प्र वृहा याहि शूर हरिभ्याम् ।

पिब' सुतस्य' मतेरिह मधोश्चक्रानश्चारुर्मदाय ॥१॥

इन्द्र' । जुषस्व' । प्र । वृह । आ । याहि । शूर । हरि-भ्याम् ।

पिब' । सुतस्य' । मतेः । इह । मधोः । चक्रानः । चारुः' । मदाय ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो,

हिंसायाम्—क्यप् तुक् च, टाप् च । अच इः । उ० ४ । १३६ । दुष दैकृत्ये—एय-न्तात् इ प्रत्ययः । कृत्यायाः । हिंसाया दूषको निवारकः । अथो । ओत् । पा० १ । १ । १५ । इति प्रगृह्यत्वात् सन्धिनिषेधः । अपि च । अरातिदूषिः । अरातिः । अ० १ । २ । २ । न+रा दाने-क्तिच् । आगतयोऽदानकर्माणां वादान-प्रज्ञा घा- निरु० ३ । ११ । दूषिः—इति गतम् । अदातृणां कृपणानां शत्रूणां दूषको नाशकः । आयंषि । अ० १ । ३० । ३ । जीवनानि । प्र+तारिषत् । प्र पूर्व-स्तरतिवृद्धिर्धृतिः । लेट् । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३५ । इति सिप् । सिपो लिङ्गद्वावाद् वृद्धिः । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । आडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ६७ । इकार लोपः । प्रवर्धयेत् ॥

१—इन्द्र । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये—रन् । हे परमैश्वर्यवान् राजन् ।

(प्र वह) आगे बढ़, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ । (चारुः) मनोहर स्वभाव वाला, (मदाय) हर्ष के लिये (चकानः) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहां पर (मतेः) बुद्धिमान पुरुष के (सुतस्य) निचोड़ के (मधोः) मधुररसका (पिब) पानकर ॥१॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे । और सब के (हरिभ्याम्) दिन और रात अर्थात् समय को, और प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन का परोपकार में लगावे और बुद्धिमानों के ज्ञान के सारांश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ३. अर्धप्रपाठक १ तृच २२ में कुछ भेद सं हैं ॥

इन्द्र' जुठर' नव्यो न पुणस्व मधोर्दिवो न ।

अस्य सुतस्य स्व' १ णीपं त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्र' । जुठर'म् । नव्यः । न । पुणस्व' । मधोः । दिवः । न ।

अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप' । त्वा । मदाः । सु-वाचः । अगुः ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (नव्यः) नवीन [बहुत तृप्ति] के (न)

मनुष्य । जुषस्व । जुषी प्रीतिसेवनयोः-लेट् । प्रीयस्व । हृष्टो भव । प्रवह । प्रगच्छ । शूर । शुचिचिमीनां दीर्घश्च । उ० २ । २५ इति शु गतौ-कन् । शवति वीर्यं प्राप्नोतीति । यद्वा, शूर विक्रमे उद्यमे-अच् । हे वीर । हरिभ्याम् । हृपिपि रुहिवृति० । उ० ४। ११६ । इति हृञ् हरणे-इन् । हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च । हरतीति हरिः सूर्यः, चन्द्रः, वायुः, इति कोषे । द्विवचनत्वात् सूर्यचन्द्राभ्याम् तयोरुपलक्षितदिनरात्रिहिताय । अथवा, वायुभ्याम् प्राणापानाभ्यां तयोरुपलक्षितजीवनहिताय । हरिभ्यां हरणसाधनाभ्यामहो-रात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम्-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, ऋ १ । ३५ । ३ । सुतस्य । पुञ् अभिषवे, यद्वा, पु प्रसवैश्वर्ययोः-क्त । अभिषवस्य, सारस्य ऐश्वर्यस्य । मतेः । किञ्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३।३।१७४ । इति मन् बोधे-क्तिच् । मतयः, मेधाविनायसु-निघ० ३ । १५ । मेधाविनः पुरुषस्य । मधोः । मधुररसस्य । चकानः । चक तृप्तौ-शानच् । तृप्तिकामः । चारुः । इसनि-सनिचरिचटिभ्यो जुण् । उ० १।३ । इति चर गतौ-जुण् । शोभनस्वभावः, मनोज्ञः ॥

२—जठरम् । जायते गर्भो मलं वा अरिमन्निति जठरः । जनेररष्टच् । उ०

समान, (दिवः) स्वर्ग के (न) सदृश (मधोः) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पृणस्व) तप्त कर । (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड़ [तत्त्व] के (सुवाचः) सुन्दर वाणियों से यत्न (मदाः) आनन्द (स्वर) स्वर्ग में (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (उप अगुः) उपस्थित हुये हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ—राजा विद्वानों के साथ संभाषण करके बड़ी प्रीति से नीति का सारांश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र में तीन (न) सदृशता वाची हैं, और मन्त्र ३ में दो हैं ।

इन्द्र'स्तुराषाणिमुत्रो वृत्रं यो जुघान' युतीर्न ।

विभेद' वृलं भृगुर्न संसहे' शत्रून् मदे' सोमस्य ॥ ३ ॥

इन्द्रः । तुराषाट् । मित्रः । वृत्रम् । यः । जुघान' । युतीः । न ।

विभेद' । वृलम् । भृगुः । न । संसहे' । शत्रून् । मदे' । सोमस्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यतीः) यति [यज्ञशील] पुरुष के (न) समान (यः)

५ । ३८ । इति जन जननप्रादुर्भावयोः—अर, नस्प ठः । अथवा, जटति एकत्री भवति अन्नादिकमत्र । जट संहतौ—अर, टस्य ठः । उदरम् । नध्यः । नूयते स्तूयत इति । अचो यत् । पा० ३ । १ । ६७ । इति शु स्तुतौ—यत् । यद्वा, नवपव । स्वार्थे यत् । नूतनः । स्तुन्यः । न । उपमार्थे । अग्निर्न ये भ्राजसा, अग्निरिव-निरु० । ३ । १५ । इव । यथा । पृणस्व । पृण तृप्तीकरणे । तर्पय । पूरय । मधोः । तृतीयार्थे षष्ठी । मधुररसेन । दिवः । स्वर्गस्य । अत्यानन्दस्य, सुतरूप । म० १ । तत्त्वस्य । स्वर । अव्ययं व्याहृतिवशेषश्च । अन्येभ्यः ऽपि ह्रियन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति सु + ऋ गतौ—विच् । यद्वा । स्मृ शब्दापतापयोः—विच् । स्वर्गादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्मृतो रसान् स्मृतो भासं ज्योतिषां स्मृतो भासेति वा—निरु० २ । १४ । स्वर्गे आनन्दविशेषे वर्त्तमानम् । मदाः । मदि स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु—अच् । आमोदाः । हर्षाः । सुवाचः । शोभना वाचा येषां ते । शोभनस्तुतियुक्ताः । अगुः । इण् गतौ—लुङ् । इणो गा लुङि पा० २ । ४ । ४६ । गतवन्तः । प्राप्तवन्तः ॥

३—तुराषाट् । तुतोर्त्ति वेगेन गच्छतोति तुरः, वेगवान् । तुर वेगे—क ।

जिस (तुरापाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्रः) सब के प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डाँकू को (जघान) नाश किया था । (भृगुः) ज्ञान में परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (बलम्) हिंसक दैत्य को (बिभेद) तोड़ फोड़ डाला और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदे) मद में (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) हराया था ॥ ३ ॥

भावार्थ—महा प्रतापी राजा बड़े बड़े यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरों का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओं और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

(यतीः) पद के स्थान में सामवेद में उपरोक्त पते पर [यतिः] पद है ॥

अथवा, घञर्थे भावेक । वेगः । तुरं वेगवन्तं शत्रुं वेगेन सहते अभिभवतीति तुरापाट् । तुर + षह अभिभवे, णिच्-क्लिप् । सहः साडः सः । पा० ८ । ३।५६ । इति षत्वम् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति पूर्व पदस्य दीर्घः । शीघ्रं शत्रूणामभिभविता । मित्रः । अ० १ । ३ । २ । स्नेहवान् । अन्धकारस्य कोपको नाशकः । वृत्रम् । अ० १ । २१ । १ । वृत्तु वर्त्तने-रक् । यद्वा, वृञ्-क्त उ० ४ । १६४ । तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका— निरु० २ । १६ । त्वाष्ट्रः = त्वष्टुः सूर्याज्जातः । अन्धकारम् । शत्रुम् । जघान । हतवान् । यतीः । अवितृस्तृनन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । इति यत प्रयत्ने — ईप्रत्ययः । प्रयत्नवान् । तापसः । यतिः बिभेद । भिन्नवान् । बलम् । बल दाने बधे जीवने च-अच् । हिंसकं दैत्यम् । भृगुः । तपसा भुज्यते । प्रथिघ्नदिघ्नसृजं सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । इति घ्नसृज पाके-कु । न्यङ्कादित्वात् कुत्वं च । परिपक्वः । ज्ञानपरिपक्वः । ऋषिः । मुनिः । ससहे । षह अभिभवे— लिट् । अभिभूतवात् जितवान् शत्रून् । रुशातिभ्यां कुन् । उ० ४ । १०३ । इति शातिः कुन् । शति सौत्रो धातुर्हिसार्थः—इति सायणः, ऋ० १ । ५ । ४ । इति शत शते = पतने पानने-कुन् । निस्त्वादाद्युदात्तः । शतकान्, निपातकान् । रिपून् । सामस्य । अर्त्तिस्तुसुहुसृष्टु० । उ० १ । १४० । इति प्रसवैश्वर्ययोः— मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । ऐश्वर्यस्य ॥

आ त्वा विशन्तु सुतासं इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र
धियेह्या नः । श्रु धी हव गिरी मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्म-
त्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

आ । त्वा । विशन्तु । सुतासः । इन्द्र । पृणस्व । कुक्षी इति ।
विड्ढि । शक्र । धिया । इहि । आ । नः । श्रुधि । हवम् ।
गिरः । मे । जुषस्व । आ । इन्द्र । स्वयुक्-भिः । मत्स्व । इह ।
महे । रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (सुतासः) यह निचोड़े हुये रस (त्वा)
तुझ में (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करें , (कुक्षी) दोनों कुक्षियों को
(पृणस्व) तू भर, और (विड्ढि=विध) शासन कर, (शक्र) हे शक्तिमान्
(धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि से (नः) हमारे पास (आ+इहि=एहि)
आ । (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन् ! (मे) मेरी (गिरः)
वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भिः) अपनी युक्तियों से
(इह) यहां पर (महे) बड़े (रणाय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथा-
नियम (मत्स्व) इर्षित हो ॥ ४ ॥

४ । आ+विशन्तु । प्रविशन्तु । सुतासः । पुञ् अभिषवे-क्त । आज्ञ
सेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । अभिपुताः सोमाः । पृणस्व । म० २ । तर्पय ।
कुक्षी । लुपि कुपि शुपिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । इति कुष निष्कर्षे-क्सि ।
वक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम् । आत्मानमित्यर्थः विड्ढि । विध विधाने=शासने
तुदादिः । लोटि छान्दसः श विकरणस्य लुक् । हेर्ध्यादिशे ढत्वण्डुत्वजश्त्वानि ।
त्वं विध विधानं शासनं कुरु । शक्र । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ ।
१३ । इति शकल शक्तौ-रक् । शक्नोतीति । हे शक्तिमन् । हे समर्थ । धिया । ध्वै
चिन्तने-किप् । सम्प्रसारणं च । धीः, कर्मनाम निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम-निघ०
३ । ६ । प्रज्ञया । बुद्ध्या । श्रुधि । श्रु श्रवणे । विकरणस्य लुक् । श्रुशृणुपृच्छ-
भ्यश्छन्दसि पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ ।
३ । १३७ । इति साहितिको दीर्घः । शृणु । हवम् । अ० १ । १५ । २ । हेज

भावार्थ—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओं के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओं को जीतकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (विड्ढि) के स्थान में [वृड्ढि = वर्धय] है ॥

इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि
वज्री । अहन्निहिमन्वस्ततर्दं प्र वक्षणा अभिनुत् पर्व-
तानाम् ॥५॥

इन्द्रस्य । नु । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यानि । चकार । प्रथ-
मानि । वज्री । अहन् । अहिम् । अनु । स्तपः । ततर्दं । प्र ।
वक्षणाः । अभिनुत् । पर्वतानाम् ॥५॥

भावार्थ—इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूँ; (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणि के अति श्रेष्ठ कर्मों को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुषने (चकार) किया था। [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा,

आह्वाने-अप् । आह्वानम् । अवाहनम् । गिरः । गृशब्दे-किप् । गृणाति = अर्चति निघ० ३ । १४ । वाचः । वाक्यानि । जुषस्व । सेवस्व । स्वीकुरु । स्वयुग्भिः । स्व + युजिर् समाधौ, यद्वा० । युज संयमने— किप् । युज्यते समाधत्ते, यद्वा, योजयति नियमयतीति युक् । स्वयुक्तिभिः । आत्मीयैः समाधिमद्भिः संयोगवद्भिर्वा मित्रैः । मत्स्व । मदी हर्षे । छान्दसम् आत्मनेपदम् । दृष्टो भव । महे । मह पूजायां-किप् । महते । रणाय । रमणाय । आनन्दाय । यद्वा । युद्धजयाय ॥

५—इन्द्रस्य । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य । नु । क्षिप्रम्-निघ० २ । १५ । प्रा । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । ऋग्वेदे तु (प्र) इति पाठः । प्रकर्षेण । वोचम् । वच्, वा, ब्रूय्यक्तायां वाचि । आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । अहम् उच्यते । वीर्याणि । अ० १ । ७ । ५ । वीरकर्मणि । पराक्रमान् । प्रथमानि । अ० १ । १२ । १ । प्रथितानि । प्रख्यातानि । सुप्रसिद्धानि । अन्यैः पूर्वकृतानि । वज्री । ऋज्रेन्द्राप्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति वज्र गतौ-रन् प्रत्वान्तो निपात्यते । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वज्र-इनि । वज्रविशिष्टः । कुलिशयुक्तः ।

बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उस ने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अपः) [उस दुष्ट के] कर्म का (ततर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघों के समान [अन्धकार से छाये हुए], अथवा पहाड़ों के समान [दृढ़ स्वभाव वाले] दुराचारियों की, अथवा, पहाड़ों में गुप्त (वक्षसाः) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओं को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्नभिन्न करदिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व कालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीति कुशल पुरुषों का यश कीर्तन इतिहास द्वारा करें, और उनका अनुकरण करके कुरीतियों के त्याग और सुरीतियों के प्रचार से आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५-७ ऋग्वेद में हैं—मं० १ सू० ३२ मं० १-३ "

(प्रा) के स्थान पर ऋग्वेद में (प्र) है ।

ईसाइयों की नवीन धर्म पुस्तक (New Testament) मत्ती, पर्व १२ वाक्य ३४ में " सांप"—बुरे पुरुष के लिये आया है । " हे सापों के वंश ! तुम बुरे होके अच्छी बातें क्योंकर कह सकते हो क्योंकि जो मन में भरा है उसी को मुंह से बोलता है" ॥

दण्डवान् । अहन् । हन हिंसागत्योः—लङ् । हतवान् । अहिम् । आङि धिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ् + हन हिंसागत्योः—इण्, स च डित् । आङो ह्रस्वत्वम् । धार्मिकाणाम् आहन्तारम् । सर्पम् । सर्पवत् क्लेश-प्रदम् । अहिः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवत् प्रकाशनरोधकं पुरुषम् । अनु । अनुक्रमेण । अपः । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो लुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति आप्लु व्याप्तौ-असुन् । कर्मनाम-निघ० ३ । १ । तस्य अहर्दृष्टकर्म, इत्यर्थः । ततर्द । उत्तृदिर् हिंसानादरयोः—लिट् । जिहिंस । अनादृतवान् । तिरस्कृतवान् । वक्षसाः । क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च । पा० ३ । २ । १५१ । इति वक्ष रोपे-युच् । चित्स्वरं बाधित्वा प्रत्ययस्वरः । रुष्टाः क्रुद्धाः सेनाः । प्र-अभिनत् । भिदिर्विदारणे—लङ् । भिन्नवान् । विदारितवान् । पर्वतानाम् । भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० । ३ । ११० । इति पूर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूरयतीति पर्वतः । यद्वा, स्नामदिपद्यर्त्ति पृथक्भिष्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पृपालन्-पूरणयोः—वनिप् । पृणन्ति पालयन्ति अवयविनमिति पर्वाणि । तन् पर्वमरु-द्भ्यां वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्व-तन् मत्वर्थे । पर्वतः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवद् अन्धकारस्य वर्धकानाम् । यद्वा । शैलवद् दृढ़स्वभावान् । यद्वा । शैलानां मध्ये स्थितानाम् ॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततक्ष ।
 वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अज्जः समुद्रमवजग्मुः आपः ॥ ६ ॥
 अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै ।
 वज्रम् । स्वयम् । ततक्ष । वाश्राः-इव । धेनवः । स्यन्दमानाः ।
 अज्जः । समुद्रम् । अयं । जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पर्वते)
 बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] में, अथवा पहाड़ पर (शिश्रि-
 याणम्) ठहरे हुये (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिंसक वा प्रकाश रोकने
 वाले] को (अहन्) बध किया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वयम्)
 ताप वा पीड़ा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया ।
 (वाश्राः) रंभानी हुयी (धेनवः इव) गौश्रों के समान, (स्यन्दमानाः) वेग से
 बहते हुये, (अज्जः) प्रकट (आपः) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्)
 समुद्र में [राजा के पास] (अयं) उतर कर (जग्मुः) पहुँच गये ॥ ६ ॥

६—अहन् । म० ५ । हतवान् । अहिम् । म० ५ । सर्वतो हननशीलम् ।
 सर्पसमानहिंसकम् । मेघसमानप्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । पर्वते । म० ५ ।
 जातावेकवचनम् । पर्वतेषु । मेघसमानान्धकारवर्धकेषु पुरुषेषु । यद्वा, शैल-
 प्रदेशे स्थितम् । शिश्रियाणम् । श्रिज् सेवायां-लिटः कानच् । चित्त्वाद्
 अन्तोदत्तः । आश्रितम् । त्वष्टा । त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्वपेर्वास्पाद्
 दीप्तिर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्याद् करोति कर्मणः-निरु० ८ । १३ । नत्पृनेष्टत्वष्टां तृ-
 पोतृ० । उ० २ । ६६ । इति त्वक्षू तनूकरणे-तृन् । नित्त्वाद् आद्यदात्तः । व्यवहा-
 राणां तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी । विश्वकर्मा । इन्द्रः पुरुषः । अस्मै । अस्मै प्रयो-
 जनाय । अदेर्हननायेत्यर्थः । वज्रम् । म० ५ । कुलिशम् । स्वयम् । पुंसि
 संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति स्तृ शब्दोपतापयोः-घ । यद्वा ।
 नन्दिप्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति स्वर आक्षेपे-अच् । ततः । तत्र
 साधुः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति स्वरे उपतापे पीडने यद्वा, शत्रूणाम् आक्षेपे,
 तिरस्करणे साधुं योग्यम् । ततक्ष । तक्षू तनूकरणे-लिट् । तनूकृतवान् । तीक्ष्णं

भाषार्थ—पूर्वज विवेकी राजाओं ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओं को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुयी गौयें बछड़ों के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र में दौड़ कर जाते हैं। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहें ॥ ६ ॥

मनु जी ने कहा है—अ० ७ श्लोक १८ ।

दण्डः शास्ति सर्वाः प्रजा दण्ड एवाभिरक्षति ।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते मुओं में जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपि वत्सुतस्य ।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेन प्रथमजामहीनाम् ॥७॥
वृष-यमानः । अवृणीत । सोमम् । त्रि-कद्रुकेषु । अपि वत् ।
सुतस्य । आ । सायकम् । मघ-वा । अदत्त । वज्रम् । अहन् ।
एतम् । प्रथम-जाम् । अहीनाम् ॥७॥

भाषार्थ—(वृषायमाणः) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुये पुरुष

चकार । वाग्नाः । स्फुरिततश्चिचक्षिशकि० । उ० २ । १३ । इति वाश्ट
शब्दे-रक् । शब्दायमानाः । वत्सान् प्रति हंभारवयुक्ताः । धेनवः । धेदृश्च ।
उ० ३ । ३४ । इति धेद् पाने-जु । नवप्रसूता गावः । स्यन्दमानाः । स्यन्द
प्रस्रवणे-लटः शानच् । प्रस्रवन्त्यः । प्रवहन्त्यः । अज्जुः । अज्जु व्यक्तिगति
अक्षणे-किप् । व्यक्ताः । गमनशीलाः । समुद्रम् । अ० १ । १३ । ३ । इति
सम्+उन्दी लोकेदने-रक् । जलाधारम् । सागरम् । अन्तरिक्षम् । अथ ।
मीचैः । अधस्तात् । अनायासेन । जग्मुः । गल्मृ-लिट् । प्रापुः । आपः ।
अ० १ । ५ । १ । जलानि ॥

७—वृषायमाणः । इगुपध्नाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति

ने (सुतस्य) उत्पन्न संसार के (त्रिकटुकेषु) तीन आवाहनों [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के विधानों] के निमित्तों में (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्त्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिबत्) पान किया [आत्मा में दृढ़ किया] । (मघवा) उस पूजनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले वाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आ अदत्त) लिया और (अहीनाम्) बड़े घातकों [प्रकाश नाशक] मेघ वा सर्प रूप असुरों के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इस [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित दुष्ट] को (अहन्) मार डाला ॥

भावार्थ—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में ५-७ (इन्द्र) का (अहि) के मार कर उन्नति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ में (त्रिकटुकेषु) पद तीन आवाहनों का द्योतक है । इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धैर्यवान्, शूर वीर पुरुषों ने जितेन्द्रिय वशिष्ठ होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्होंने ने ही संसार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक और

वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु-क । कर्तुः क्यङ् स लोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति आचारे क्यङ् । अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः । पा० ७ । ४ । २५ । इति दीर्घः । तः शानच् । वृष इव ऐश्वर्यवानिवाचरन् पुरुषः । अवृणीत । वृञ् संभक्तौ लङ् । वृतवान्, स्वीकृतवान् । सोमम् । ऋ० १ । ६ । २ । पु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । ऐश्वर्यम् । अमृतम् । कीर्त्तिम् । त्रिकटुकेषु । कृशातिभ्यां कृन् । उ० ४ । १०३ । इति त्रि+कदि आह्वाने-कृन् । समासान्तः कप् च । त्रयाणां संसारोत्पत्ति-स्थितिविनाशानाम्, अथवा, शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीणां कटुकेषु आह्वानेषु विधानेषु निमित्तेषु । अपिबत् । पीतवान् । अनुभूतवान् । सुतस्य । पु प्रसवैश्वर्ययोः-क । उत्पन्नस्य संसारस्य । सायकम् । स्यति नाशयतीति सायकः । एषुल् तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति षो अन्तकर्मणि-एषुल्, युक् आगमः । शत्रूणां घातकं वाणं खड्गं वा । मघवा । मह्यते पूज्यतेऽसौ । श्वभुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति मह पूजायाम्-कनिन् । निपातनात् हस्य घः, अयुक् आगमश्च । पूज्यः पुरुषः । आ-अदत्त । लङ्-कपम् । आङो दोऽनास्यविहरणे । पा० १ । ३ । २० । इत्यारमनेपदम् । अगृह्णात् ।

सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्त्तिमान् हुये, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में उन्नति करके कीर्त्ति पाकर अमर हों और आनन्द भोगें ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयाऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मेण मनुष्यः प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी और तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वाग्ं ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि
सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ
भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

समाः । त्वा । अग्ने । ऋतवः । वर्धयन्तु । सम्-वत्सराः
ऋषयः । यानि । सत्या । सम् । दिव्येन । दीदिहि ।
रोचनेन । विश्वाः । आ । भाहि । प्र-दिशः । चतस्रः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (समाः) अनुकूल
(ऋतवः) ऋतुयें और (संवत्सराः) वर्षों, और (ऋषयः) ऋषि लोग, और
(यानि) जो (सत्या = सत्यानि तानि) सत्य कर्म हैं [वे सब] (त्वा) मुझ

स्वीकृतवान् । एनम् । समीपवर्तिनम् आत्मनि स्थितम् । प्रथमजाम् ।
अ० २ । १ । ४ । जन—घिट्, आत्वं च । प्रथमेन प्रधानतया जातं
प्रसिद्धम् । अहीनाम् । म० ५ । आहन्तृणाम् असुराणां मध्ये । अन्यद् गत
मस्मिन्नेव सूक्ते ॥

१—समाः । यम वैक्लव्ये-पवाद्यच् । अविषमाः । साधवः । अनुकुलाः ।
अग्ने ! हे ज्ञानिन् । अग्निवत्तेजस्विन् । कार्येषु व्यापनशील वा । ऋतवः ।

को (वर्धयन्तु) बढ़ावें । (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) भलक से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वाः) सब (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशाओं को (आभाहि) प्रकाशमान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावें, ऋषि आप्त पुरुषों से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, और सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहें । इस प्रकार संसार में उन्नति करें और कीर्त्तिमान् होकर प्रसन्न चित्त रहें ॥१॥

मन्त्र १-५ यजु० अ० २७ मन्त्र १-३, ५, ६ हैं । और वहां इनके ऋषि अग्नि माने हैं ॥

सं चे ध्वस्वाग्ने प्र च वर्धये ममुच्चं तिष्ठ महते सौभगाय
मा ते रिषन्नुपसुत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः
सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

सम् । च । इध्वस्व । अग्ने । प्र । च । वर्धये । इमम् । उत् । च ।
तिष्ठ । महते । सौभगाय । मा । ते । रिषन् । उप-सुत्तारः ।
अग्ने । ब्रह्माणः । ते । यशसः । सन्तु । मा । अन्ये ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजीस्वी विद्वान् ! (सम्) भले

अर्तेश्च तुः । उ० २ । ७२ । इति ऋ गतौ-तु, किञ्च । वसन्तादिकालाः । वर्धयन्तु ।
समर्धयन्तु । संवत्सराः । सम्यग्वसन्ति भूतानि यत्र । सं पूर्वाच्चित् । उ०
उ० २ । ७२ । इति सम् + वस निवासे-सरन् । चित्वादन्तोदत्तः । द्वादशमा-
सात्मकाः कालाः । वर्षाः । ऋषयः । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति
ऋष गतौ दर्शने च-इन् किञ्च । ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान् ज्ञानेन पश्यति
संसारं परमात्मनं च वा स ऋषिः । साक्षात्कृतधर्माणं ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽ-
साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः-निरु० १ । २० । ऋषिदर्शनात्-
निरु० २ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः । आप्ताः । सन्मार्गदर्शकाः । सत्या ।
शेर्लोपः । सत्यानि । सत्यकर्माणि । दिव्येन । अ० २ । १ । २ । छन्दसि च ।
पा० ६ । १ । ६७ । इति दिव-य प्रत्ययः । मनोज्ञेन । दीदिहि । गहुलं छन्दसि
पा० २ । ४ । ६ । दिवु दीप्तौ-शपः श्लुः । तुजादीनां दीर्घो० । पा० ६ । १ । ७ । इत्यभ्यासस्य
दीर्घः । दीव्य । दीप्यस्व । रोचनेन । रुच दीप्तौ भावे ल्युट् । दीप्त्या । प्रका-
शेन । भाहि । भा दीप्तौ अन्तर्भावितव्यर्थः । भापय । दीपय । प्रदिशः ।
प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशाः ॥

२-इध्वस्व । इन्धी दीप्तौ कर्मकर्तरि यकि । अतिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ ।

प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) इस समाज] को (प्र+वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम पेश्वर्य के लिये (उत्+तिष्ठ) उठकर खड़ा हो। (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तारः) पास बैठने हारे [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावे, (ते) तेरे [समीपवर्त्ती] (ब्रह्मणः) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशसः=यशसाः) यशस्वी (सन्तु) हों, और (अन्ये) दूसरे (मा=मा सन्तु) न हों ॥२॥

भाष्यार्थ—राजा को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्धविद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओं में निपुण होकर अपने सभासदों को निपुण करे, और विद्वानों का सत्कार और अविद्वानों का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥ २ ॥

यजुर्वेद में (वर्धय, इमम्) के स्थान में [बोधय एनम्] और (ते, रिषन्, उपसत्तारः) के स्थान में [च, रिषत् उपसत्ता] पाठ है ॥

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणो भवानः ।
सपत्नहाम् अभिमाति जिह भव स्वे गये जागृह्यप्रयु-
च्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम् । अग्ने । वृणते । ब्राह्मणाः । इमे । शिवः । अग्ने । सम्-
वरणे । भव । नः । सपत्न-हा । अग्ने । अभिमाति-जित् ।
भव । स्वे । गये । जागृहि । अग्र-युच्छन् ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) वेदवेत्ता

इति न लोपः । इन्स्व । दीप्यस्व । वर्धय । समर्थय । इमम् । समीपस्थं
जनम् । उत्-तिष्ठ । उत्साहवान् सन्नद्धो भव । महते । महि वृद्धौ,
दीप्तौ-अति । विपुलाय । सौभगाय । भगः=धनम्-निघ० २।१० । सु+
भग-भावे अण् । सुभगत्वाय । उत्तमैश्वर्याय । मा रिषन् । रिष हिंसायाम् । कर्म-
ण्यर्थे । मा दुःखिता भवन्तु । उपसत्तारः । एबुलतृचौ । पा० ३।१।१३३। इति
उप+षद् लृ विशरणगत्यवसादनेषु-तृच् । उपसदनशीलाः, उपासकाः । सेवकाः
ब्रह्मणाः । वृद्धेर्नोऽच्च । उ० ४।१४६ । इति वृद्धि वृद्धौ-मनिन् । नस्य अकारः ।
वेदवेत्तारः । ब्राह्मणाः । यशसः । अशंआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।
इति यशस्-अच् पत्वर्थे । सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३६ । इत्येकवचनं बहु-
वचने । यशसाः । यशस्विनः ॥

३—वृणते । वृञ् संभकी । संभजन्ते । स्वीकुर्वन्ति । ब्राह्मणाः ।

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (वृणते) चुनते हैं, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में (शिवः) मंगलकारी (भव) हो । (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सपत्न्याहा) वैरियों का नाश करने वाला और (अभिमाति-जित्) अभिमानीयों का जीतने वाला (भव) हो, और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर वा धन पर वा घर अर्थात् अधिकार में (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावे कि जो सब दोषों और दुष्टों को मिटाकर अपने अधि-कार को सावधान होकर चलावे, जिसमें सब राजा और प्रजा आनन्दयुक्त रहें ॥३॥

यजुर्वेद में (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान में [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥ ३ ॥

क्षुत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सुजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥
क्षुत्रेण । अग्ने । स्वेन । सम् । रभस्व । मित्रेण । अग्ने । मित्र-धाः ।
यतस्व । सु-जातानाम् । मध्यमे-स्थाः । राज्ञाम् । अग्ने ।
वि-हव्यः । दीदिहि । इह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय

ब्रह्म वेदः परमेश्वरो वा । ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इति ब्रह्म-अण् । वेदविदः । ब्रह्मज्ञानिनः । शिवः । सर्वनिघृण्वरिष्वलष्व-शिव० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने, अथवा शिञ् छेदने-वन् । निपाता-नात् साधुः । शेरते शुभगुणा यत्र, यद्वा, शिनोति छिनत्ति दुःखानि यः । मङ्गलकारी । संवरणे । सहवरणे । सम्यक् स्वीकरणे । भवा । भव । द्व्यचोऽतस्तिङः । पा० ६ । ३ । १३५ । इति दीर्घः । सपत्न्याहा । अ० १ । २६ । ५ । शत्रुहन्ता । अभि-मातिजित् । अभि+मा माने कर्त्रि क्तिच्+जि क्तिप्, बुक् च । अभिमानीनां जेता । गये । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति गम् लृ वा गाङ् गतौ, वा ग गाने-यक् । गच्छति पितृवंशं गीयते वा । गयः=अपत्यम्—निघ० २ । २ । धनम्—निघ० २ । १० । गृहम्—निघ० ३ । ४ । अपत्ये । धने । गृहे, पदे, अधिकारे । जागृहि । प्रबुद्धो भव । अप्रयुच्छन् । युच्छ प्रमादे-शतृ । अप्रमाद्यन् । सावधानो भवन् ॥

४-क्षत्रेण । गुधुवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० ४ । १६७ । इति क्षद्

धर्म वा धन के साथ (संरम्भस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधाः) मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर। और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालों के बीच (मध्यमेष्ठाः) पंचों में बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियों के बीच में (विहव्यः) विशेष करके आवाहन योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रखने, और हितकारियों के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रखे, जिस से सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५ । में ऐसा पाठ है ।

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सुन्दरं भस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेयं यतस्व ।
सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहि ॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन् ! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायुः = सु-आयुः) सुन्दर जीवन (सम्-रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर । (अग्ने) हे तेजस्विन् ! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रों के धारण करने में (यतस्व) यत्न कर । (सजातानाम्) समान अवस्था वालों में (मध्यमस्थाः) मध्यस्थ (एधि) हो, (अग्ने) हे न्याय प्रकाशक ! (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (विहव्यः + सन्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशित हो ॥

गतिहिंसनयोः, रक्षणो, च-प्रप्रत्ययः । बलेन, क्षत्रियत्वेन । धनेन-निघ० २। १० । अग्ने । तेजस्विन् विद्वन् । सम्-रभस्व । रभराभस्ये = उत्सुकीभावे । संरम्भं उत्साहं कुरु । मित्रेण । सुहृद्गणेन । मित्रधाः । मित्र + धाञ्-विच् मित्राणां पोषकः सन् । यतस्व । यती प्रयत्ने । प्रयत्नं कुरु ॥ सजातानाम् । समान-जन्मनाम् । तुल्यावस्थानाम् । मध्यमेष्ठाः । मध्ये भवो मध्यमः । मध्यान्मः पा० ४। ३। ८। इति मध्य-म। एष्ठा गति निवृत्तौ-विच् । वाक्पि तत्पुरुषे, कृति बहुलम् । पा० ६। ३। १४ । इत्यलुक् । सुप्रमादिषु च । पा० ८। ३। ६८ इति षत्वम् । मध्यमेष्ठीषु न्यायकारिषु प्रधानेषु स्थितः । राज्ञाम् । ईश्वराणां क्षत्रियाणां मध्ये । विहव्यः । इः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु । पा० ३। ३। ७२ । इति ईञ् आह्वाने अप् सम्प्रसारणं च । ततः । भवे छन्दसि । पा० ४। ४। ११० । इति यत् । विविध-माह्वान्यः । दीदिहि । म० १। दीप्यस्व । इह । अत्र ॥

अति निहो अति सृधोऽत्यचिन्तीरति द्विषः । विश्वा
ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रुयिं दाः ॥५॥
अति । निहः । अति । सृधः । अति । अचिन्तीः । अति । द्विषः ।
विश्वा । हि । अग्ने । दुः-दुता । तर । त्वम् । अथ । अस्मभ्यम् ।
सह-वीरम् । रुयिम् । दाः ॥५॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! [(अति) अत्यन्त (निहः) शत्रु-
नाशक शूर होकर, अथवा] (निहः) नीच गति वालों को (अति=अतीत्य)
लांघकर, (सृधः) हिंसकों को (अति) लांघकर, (अचिन्तीः) पापबुद्धि प्रजाओं को
(अति) लांघ कर, और (द्विषः) द्वेष करने वालों का (अति) तिरस्कार करके,
(त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा=विश्वानि) सब (दुरिता=०-तानि) संकटों को
(तर) पारकर, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के
सहित (रुयिम्), धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा
प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों ॥ ५ ॥

२—इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७। ६। में ऐसा है।

अति निहो अतिस्त्रिधोऽत्यचित्ति मत्यरातिमग्ने । विश्वा
ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यं सहवीरां रुयिं दाः ॥१॥

(अग्ने) हे तेजस्वि राजन् ! (अति निहः) अत्यन्त शूर होकर (स्त्रिधः) दुष्टों
को (अति) हटाकर, (अचित्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (मत्यरातिम्)

५—अति । अतिशयेन । निहः । निहन्तीहि निहः । नि + हन—ड ।
शत्रुहन्ता । शूरः सन् । अग्नेर्विशेषणम् । अथवा । अति । अतीत्य । अतिक्रम्य ।
निहः । नि + ओहाङ् गतौ—किप् । आतो धातोः । पा० ६। ४। १४० । इति
शक्ति आकारलोपः । निहृष्टपतीन् दुष्टान् । सृधः । सृध सृध वा शोषणे
कुत्सितकर्मणि वा—किप् । झान्दसो धातुः । देहशोषकान् । कुत्सिताचारान् ।
अचित्तिः । अ + चित् संचेतने—किन् । अशोभनबुद्धीः । शत्रुसेनाः ।

कञ्जूसपन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरतानि) सब विघ्नों को (सहस्व) दबावे,
(अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीरों से युक्त सेना और (रयिम्)
धन (दाः) दे ॥

१—(स्रधः) के स्थान पर सायणभाष्य में (स्रधः) पद है ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-५ ॥ ईश्वरो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

अघ-द्विष्टा । देव-जाता । वीरुत् । शपथ-योपनी । आपः ।

मलम्-इव । प्र । अने क्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अघद्विष्टा) पाप में द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देव-
जाता) विद्वानों में प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [ओषधि के समान फैली हुयी
ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है ।

अज्ञानानि । द्विषः । द्विष-किप् । अप्रीतिकरान् । द्वेषन् । विश्वा । विश्वानि
सर्वाणि । दुरिता । दुर् दुष्टमितं गमनमनेन । दुर्+इण् गतौ-भावे क ।
पापानि । संकटानि । तर । तृ तरणे, अभिभवे । अभिभव । सहवीरः ।
तेन सहेति तुल्ययोगे । पा० ६ । ३ । २८ इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहिः ।
वोपसर्जनस्य । पा० ६ । ३ । ८२ । इति सहस्य सभावो विकल्पत्वात् न प्रवर्तते ।
वीरैः सहितम् । रयिम् । अ० १ । १५ । २ । रीड् गतौ-इप्रत्ययः । धनम्-
निघ० । २ । १० । दाः । उदाञ् विधिलिङि छान्दसं रूपम् । त्वं दद्याः ॥

१—अघद्विष्टा । अघ+द्विष अप्रीतौ—क । अघं पापं द्विष्टं तिरस्कृतं
यया सा । पापद्वेषिणी । देवजाता । देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धा वीरुत् ।
अ० १ । ३२ । १ । वीरुध ओषधयो भवन्तिविरोहणात्-निरु० ६ । ३ । विरोहण-
शीला । ओषधिः । लता । शपथयोपनी । शीड् शपिरुगमि० । उ० । ३ । १३ ।

उस ने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [कुवच तौ] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आपः) जल (मलम्) मल को ॥१॥

भाषार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलीन वस्त्र आदि शुद्ध होते हैं, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान द्वारा पापों से छूट कर शुद्धात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारों को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते हैं ॥१॥

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः ।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम् ॥२॥

यः । च । सापत्नः । शपथः । जाम्याः । शपथः । च । यः । ब्रह्मा । यत् । मन्युतः । शपात् । सर्वम् । तत् । नुः । अधः-पदम् ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (यः) जो (सापत्नः) वैरिषों का किया हुआ (शपथः) शाप [क्रोधवचन], (च) और (यः) जो (जाम्याः) कुल स्त्री का (शपथः) शाप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युतः) क्रोध से

इति शप आक्रोशे-अथ । युप विमोहने-करणे ल्युट् । आपस्य क्रोधवचनस्य फलस्य विमोहनी निवारयित्री । आपः । जलानि । मलम् । मृज्यते शोध्यते यत् । मृजेष्टिलोपश्च । उ० १ । ११० । इति मृज शोधने-अलच् टिलोपश्च । डीप् । किटम् । स्वेदपङ्कादिकम् । पापम् । प्र+अनैक्षीत् । णिजिर् शौचपोषणयोः-छान्दसे लुङि रूपम् । प्रकर्षेण अक्षालीत् । मत् । मत्तः ॥

२—सापत्नः । धापवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सह+पत गतौ, पेश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः । ततः सम्बन्धे-अण् । सपत्नसम्बन्धी । शात्रवः । शपथः । म० १ । आक्रोशः । क्रोधवचनम् । जाम्याः । निबो मिः । उ० ४ । ४३ । इति या गतो-मि प्रत्ययः, यकास्य जकारः । याति कार्याणि सा जग्मिः स्वसा कुलस्त्री वा । अथवा । वसिषपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति जम भक्षणे गतौ च-इञ्, अथवा । जन-इञ् । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जमपत्यं जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः-नि० ३ । ६ । जाम्यतिरेकनाम वालिशस्य वासमानजातीवस्य

(यत्) जो कुछ (शापात्) शाप दे [क्रोध वचन कहे], (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि हम से कोई वेद विरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियां, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हों, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शापमोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगें ॥ २ ॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि नः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अव-ततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्-ततम् ।

तेन । सहस्र-काण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो (मूलम्) मूल [तत्त्वज्ञान] (दिवः) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है । [हे ईश्वर !] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखा वाले [तत्त्वज्ञान] के द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते, और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल में जाता, और सब छोटे बड़े लोक परस्पर आकर्षण

वोपजनः—निरु० ४ । २० । बालिशस्य मूलस्य, अथवा असमानजातीयस्य अस-
पिण्डस्य । ब्रह्मा । अ० २ । ६ । २ । वेदवेत्ता । ब्राह्मणः । मन्युतः । पञ्चम्या-
स्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति तसिल् । क्रोधात् । नः । अस्माकम् ।
अधस्प-म् । अधःशिरसी पदे । पा० ८ । ३ । ४७ । इति विसर्गस्य सत्वम् ।
नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युगिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये, गत्यां च-
अच् । पदम् = व्यवसायः, पादः, चिह्नम्—इति शब्दकल्पदुमे । पदस्य व्यवसायस्य
उद्योगस्य अधस्तात् अधोभागे, असमर्थं भवतु ॥

३—दिवः । ध्रुवोकात् । सूर्यमण्डलात् । मूलम् । मवते बध्नातीति । मूशक्य-
विभ्यः क्तः । उ० ४ । १०८ । इति मूर्क्कबन्धने-क्त । अथवा । मूल प्रतिष्ठायां रापणे

और धारण रखते हैं । इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमों को देख कर सब प्रजागण राज नियमों में चल कर परस्पर उपकार करें ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम् ।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

परि । माम् । परि । मे । प्र-जाम् । परि । नः । पाहि । यत् ।

धनम् । अरातिः । नः । मा । तारीत् । मा । नः । तारिषुः ।

अभि-मातयः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(माम्) मेरी (परि = परितः) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] की (परि) सबप्रकार और (नः) हमारा (यत्) जो (धनम्) धन है [उसकी भी] (परि) सब प्रकार (पाहि) तु रक्षा कर । (अरातिः) कोई अदानी, कंजूस, पुरुष (नः) हमें (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातयः) अभिमानी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) न दबावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षण करके दुष्टों को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहें ॥ ४ ॥

वा-क । आधिकारणम् । तत्त्वज्ञानम् । अदततम् । अव + तनु विस्तारे-क । अधोमुखं प्रसृतम् । अधि । उपरि । उक्तम् । उत् + तनु-क । ऊर्ध्वम् उन्नतम् । सहस्रकारणेन । कादिभ्यः कित् । उ० १ । ११५ । इति कण शब्दे गती ख-ड, डस्य नेत्वम् । अनुनासिकस्य किमूलोः क्ङिति । पा० ६ । ४ । १५ । इति दीर्घः । अपरिमितपर्ययुक्तेषु । विशदतः । भीत्रार्थानां भयहेतुः । पा० १ । ४ । २५ । इत्यपादानसंज्ञायाम् । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इतितलिल् । सर्वस्मात् कष्टात् ॥

४—प्रजाम् । प्रजायते सा प्रजा । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ६६ । प्र + जन जनने-ड । पुत्रपौत्रभृत्यादिसन्ततिम् । जनम् । अरातिः । अ० १ । १८ । १ । अदानशीलम् । कृपणम् । शत्रुम् । नः । अस्मान् । मा तारीत् । तु तरणे, अभिभवे-लुङ् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इत्यडभावः । माभिभवतु । मातृकाम् । मा तारिषुः । लुङि पूर्ववद् अडभावः । मा हिंसन्तु । अभिमातयः । अ० २ । ६ । ३ । अभिमानीनो जनाः । शत्रवः ॥

शुभ्रारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्ठीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शुभ्रारम् । एतु । शपथः । यः । सु-हार्त् । तेन । नः । सह ।

चक्षुः-मन्त्रस्य । दुः-हार्दः । पृष्ठीः । अपि । शृणीम-से ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शपथः) [हमारा] क्रोधवचन (शप्तरम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो, और (यः) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है, (तेन) उस [मित्र] के साथ (नः) हमारा (सह = सह-वासः) सहवास हो । (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हार्दः) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्ठीः) पसलियों को (अपि) ही (शृणीमसि = ०-मः) हम तोड़ डालें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि निन्दकों पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषों का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हों उनको भी दण्ड देता रहे ॥ ५ ॥

(चक्षुर्मन्त्रस्य) समासान्त पद को पद पाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने [मन्त्रस्य चक्षुः] दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है । यह समस्त पद (दुर्हार्दः) पद का विशेषण है । इसका प्रयोग अ० १६ । ४५ । १ । में इस प्रकार है ।

५—शुभ्रारः । शपकर्तारम् । अनीत्या कटुवक्तारम् । एतु । गच्छतु । प्राप्नोतु । शपथः । म० २ । आक्रोशः । क्रोधवचनम् । सुहार्त् । हार्दम् अनुकूल्यं करोति हार्दयनीति । हार्दयतेः क्तिपि शिलोपे रूपम् । शोभनहृदयः । सुमनस्कः । अनुकूलकारी । तेन । पूर्वोक्तेन सुहृदयेन मित्रेण । सह । सह क्षमायाम्-अच् । संयोगः । सम्बन्धः । चक्षुर्मन्त्रस्य । चक्षुः शिञ्च । उ० २ । ११६ । इति चक्षुः कथने दर्शने च-उसि । शित्वात् ख्याभादेशाभावः । मन्त्रि गुप्तभाषणे-अच् घञ् वा । चक्षुषा नेत्रेण मन्त्रो गुप्तभाषणं परामर्शो यस्य तस्य । नेत्रसङ्केतेन विचारशीलस्य पिशुमस्य । दुर्हार्दः । सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्तिः । दुष्टहृदयस्य । क्रूरपुरुषस्य । पृष्ठीः । क्तिच्क्त्वा च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । ६४ ।

चक्षु'र्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पुष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ (अञ्जन) हे आंखें
खोल देने वाले ! तू आंख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलियां
हरी (शृण) तोड़ दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१— ५ ॥ ब्रह्म देवता । १, २, ४ अनुष्टुप् , ३, ५ पंक्तिः ॥

पौरुषमुपदिश्यते-पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ॥

वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधुमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भग-वती । वि-चृतौ । नाम
तारके इति । वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधुमम् ।
पाशम् । उत्-तमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भगवती=०—त्यौ) दो पेश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्ध-
कार से] छुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा]

१७४ । इति पृष्ठु सेचने-क्किच् । पशुस्थानि । पार्श्ववयवान् । शृणीमहि ।
शृ हिंसायाम् । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ६४ । इति इकारः । शृणीमः ।
विनाशयामः ॥

१—उदगाताम् । उत् + इण् गतौ-लुङ् । इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ ।
इति गादेशः । उदितेऽभूताम् । भगवती । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा०
५ । २ । ६४ । इति भग-मतुप् नित्ययोगे । मस्य वः । ततो डीप् । सुपां
सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७ । १ । ३६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । भगवत्यौ ।
पेश्वर्यवत्यौ । पूज्ये । विचृतौ । वि + चृती हिंसाग्रन्थनयोः-क्किप् । अन्धकाराद्
विमोचयिष्यौ । नाम । प्रसिद्धे । तारके । तरति तारयति बान्धकारात्
तारका । तृ-णिच्-एबुल् । टाप् । तारका ज्योतिषि । वा० पा० ७ । ३ । ४५ ।
इति न अत इत्त्वम् । द्वे नक्षत्रे । ज्योतिषी । सूर्यचन्द्रौ । क्षेत्रियस्य ।

(उद्गताम्) उदय हुये हैं । वे दोनों (क्षत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि + मुच्यताम्) छुड़ा देंगे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा संसार में उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बड़े मानसिक, शारीरिक और वांशिक रोगों तथा दोषों को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हों ॥ १ ॥

अपे यं रात्र्युच्छ्रित्वपोच्छ्रित्वभिऋत्वरीः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छ्रतु ॥ २ ॥

इयम् । रात्री । उच्छ्रतु । अपं । उच्छ्रन्तु । अभिऋत्वरीः ।

वीरुत् । क्षे-त्रिय-नाश-नी । अपं । क्षे-त्रियम् । उच्छ्रतु ॥२॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (रात्री) रात (अप + उच्छ्रतु) नष्ट हो जावे, (अभिऋत्वरीः = ०—त्वर्यः) कतरने वाली वा हिंसाशील [कुवासनायें]

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । पा० ५ । २ । १२ । इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्यर्थः । यद्वा । क्षेत्र-घञ्प्रत्ययः । परस्मिन् पुत्रपौत्रादिकस्य शरीरे प्रतीकार्यस्य महाप्रचण्डस्य रोगस्य । यद्वा । क्षेत्रे स्वीकीये देहे वंशे वा जातस्य रोगस्य दोषस्य वा । विमुञ्चताम् । मुचेर्लोपि । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति नुम् । विमोचयताम् । अधमम् । अधरशरीरस्थितम् उत्तमम् । ऊर्ध्वभागे स्थितम् । पाशम् । पश बन्धे ग्रन्थे वा-घञ् । बन्धनम् । ग्रन्थिम् ॥

२—इयम् । पुरोवर्तिनी । रात्री । अ० १ । १६ । १ । रा दाने-त्रिप् । रात्रेश्चाजसौ । पा० ४ । १ । ३१ । इति डीप् । निशा । रात्रिरूपोऽन्धकारः । अप + उच्छ्रतु । उच्छ्री विवासे = समाप्तौ, अकर्मकः, वर्जने, सक० । समाप्ता भवतु । विनश्यतु । अप + उच्छ्रन्तु । दूरे गच्छन्तु । अभिऋत्वरीः । अन्ये-भ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अभि + कृञ् हिंसायाम्, यद्वा, इकृञ्

(अप+उच्छ्रुतु) निकल जावें । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छ्रुतु) निकाल देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होता, और जैसे औषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यों को अपने और अपने वंश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश में आनन्दित रहना चाहिये ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिल-
पिञ्ज्या । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छ्रुतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः । अर्जुन-काण्डस्य । यवस्य । ते । पलाल्या । तिलस्य ।
तिल-पिञ्ज्या । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अपं । क्षेत्रियम् ।
उच्छ्रुतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रोः) पोषण करने वाले,
(अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डांडा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाल्या)

करणे—कनिष्, तुगागमः । यद्वा । कृती छेदने—कनिष् । वनो र च । पा० ४ ।
१ । ७ । डीबरेफो । वा छुन्दसि । या० ६ । १ । १०६ । इति जसः पूर्वसवर्ण-
दीर्घः । व्यभिचारशीलाः कर्तनशीलाः कुवासनाः वीरुत् । अ० २ । ७ । १ ।
औषधिः । लता । क्षेत्रियनाशनी । म० १ । स्वकीये शरीरे वंशे वा जातस्य
दोषस्य नाशयित्री । क्षेत्रियम् । म० १ । शरीरस्थं दोषम् । अप+उच्छ्रुतु ।
सर्वथा वर्जयतु नाशयतु ॥

३—बभ्रोः । कुम्भश्च । उ० १ । २२ । इति भृशं धारणपोषणयोः—कु,
द्वित्वं च । बिभर्ति भरति वा बभ्रुः । पोषकस्य । अर्जुनकाण्डस्य ।
अर्जं क्लृप् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्जं उपार्जने=अलब्धसम्पादने—उजन् ।
अर्जुनम्=रूपम्—निघ० ३ । ७ । ततः कादिभ्यः कित् । उ० १ । ११५ । इति
कण शब्दे गतौ च—ड । डस्य इत्वं न । अनुनासिकस्य क्ति० । पा० ६ । ४ । १५ ।
इति दीर्घः । श्वेतस्तम्भस्य । परिपक्वस्य नवीनस्य चेति यावत् । यवस्य । यूयते

पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप + उच्छ्रुतु) निकाल देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और औषधों के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषों की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशुन्यप क्षेत्रियमुच्छ्रुतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषा-युगेभ्यः । वीरुत् ।

क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छ्रुतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (लाङ्गलेभ्यः) हलों [की दृढ़ता] के लिये (नमः ते = नमस्ते) तुझे नमस्कार है, और (ईषायुगेभ्यः) हरस [हल की लंबी लकड़ी] और जूआँ [की दृढ़ता] के लिये (नमः) नमस्कार है ।

बलेन । यु मिश्रणे-अप् । खनामख्यातधान्यस्य । धान्यराजस्य । ते । तव । ईश्वर-दत्तस्य । पलाल्या । तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपिञ्चिभ्यः कालन् । उ० १ । ११८ । इति पल रक्षणे-कालन् । डीष् । पालयतीति पलाली । पालन-शक्त्या । तिलस्य । इगुपधन्नाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति तिल गतौ, स्त्रिधीभावे च-क । खनामख्यातशस्यस्य । होमधान्यस्य । तिलपिञ्ज्या । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पिञ्जि हिंसाशलादाननिकेतनेषु-इन् । तिलस्य स्नेहशक्त्या । अन्यदृगतम् ॥

४—नमस्ते । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधा ऽलंवषड् योगाश्च । पा० ३ । २ । १६ । इति चतुर्थी । तुभ्यं नमस्कारः । लाङ्गलेभ्यः । लङ्गेवृद्धिश्च । उ० १ । १०८ । इति लङि गतौ-कलच्, वृद्धिश्च । लङ्गन्ति प्राप्नुवन्ति, अन्नादिकं येन तन्नाङ्गलम् । हलानां हिताय दृढत्वाय । ईषायुगेभ्यः । ईष गतिहिंसादर्शनेषु-क । टाप् ।

(क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप + उच्छतु) निकाल देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ़ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमों को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्तःकरण की दृढ़ता करके उपकारी बनें और सदा आनन्द भागें ॥ ४ ॥

नमः सनिस्त्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशनुपक्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

नमः । सनिस्त्रस-अक्षेभ्यः । नमः । सन्-दे-श्येभ्यः । नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सनिस्त्रसाक्षेभ्यः) डबडवाती हुई आंखें वालों [रोगों से पीड़ित दीनों] के लिये (नमः) अन्न हो, और (सन्देश्येभ्यः) यथार्थ दानशीलों के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वामी के लिये (नमः) अन्न हो । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप + उच्छतु) निकाल देवे ॥ ५ ॥

ईषा लाङ्गलदण्डः । उच्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज योगे-घञ्, अगुणत्वं निपात्यते । युज्येते वलीवर्दौ अस्मिन्निति युगो युगं वा रथहलाद्यङ्गम् । ईषाश्च युगानि च तेभ्यः । हलस्य दण्डयुगानां दृढत्वाय । अन्यद् गतम् ॥

५—नमः । एषु प्रहृत्वे-असुन् । अन्नम्-निघ० २ । ७ । सनिस्त्रसाक्षेभ्यः । संसु गतौ-यङ्गन्ताद् घञ्, अतोलोपयलोपौ । नीग्वञ्चुसंभुध्वंसु० । पा० ७ । ४ । ८४ । इति नीग् आगमः । छान्दसो ह्रस्वः । सनीस्त्रस्यते-इति सनीस्त्रसम् । सनीस्त्रसानि सनीस्त्रस्यमानानि अतिशयेन विशीर्यमाणानि अक्षाणि, नेत्राणि येषां तेभ्यस्तथाभूतेभ्यः । कुष्ठादिरोगेण पीड़ितनेत्रेभ्यो दीनेभ्यः ।

भावार्थ—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करें कि दोन दुःखियों का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करें। और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी प्रकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(संदेश्येभ्यः) पद के स्थान पर सायणाभाष्य में [संदेशेभ्यः] की व्याख्या है ॥

सूक्तम् ट ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ,
उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप्, २—५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्—मनुष्य अपने को ऊंचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्जेमं रक्ष'सो ग्राह्या अधि यैन'जग्राह पर्वसु ।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दश-वृक्ष । मुञ्च । इमम् । रक्ष'सः । ग्राह्याः । अधि । या ।
एनम् । जग्राह' । पर्व'-सु । अथो इति । एनम् । वनस्पते ।
जीवानाम् । लोकम् । उत् । नय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानों के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओं में सेवनीय परमेश्वर !

संदेश्येभ्यः । सम् + दिश दाने आज्ञापाने च-घञ् । सन्देशः सभ्यगदानम् । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६८ । इति यत् । यथाशास्त्रं दानकुशलानां हिताय । दौत्रस्य । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति क्षि ऐश्वर्यक्षयनिवासगतिषु प्रन् । क्षयति ऐश्वर्यहेतुर्भवति । अथवा । नाशयति दरिद्रतामिति क्षेत्रम् । शस्योत्पत्तिस्थानस्य । कंदारस्य । देहस्य । पतये । पा रक्षणे-इति । रक्षकाय । स्वामिने । शिष्टं व्याख्यातम् ॥

१—दशवृक्षा । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति दश दशि दीप्तौ, दर्शने, दंशने च-कनिन्, पक्षो नकारलोपः । स्नुवश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् ।

(इमम्) इस पुरुष को (रक्षसः) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] से (अग्नि) सर्वथा (मुञ्च = मोचय) छुड़ादे, (या) जिस [पीड़ा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु) सब जोड़ों में (जग्राह) पकड़ लिया है। (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय सत्पुरुषों के पति [रक्षक]! (एनम्) इस [पुरुष] को (जीघानाम्) जीवधारियों के (लोकम्) संसार में (उन्नय) ऊँचा उठा ॥ १॥

भवार्थ—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषों के रक्षक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों और विघ्नों को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥ १॥

१-सायणभाष्य में (दशवृत्त) पद का अर्थ—“पलाश, उदुम्बर आदि दश वृत्तों के खंडों से बनाई हुई मणि”—किया है ॥

२-ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद ३। ११। १। में आया है।

ग्राहिर्जुग्राहयद्यु तदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमु'मक्तमेनम्।

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा ने (जग्राह) पकड़ लिया है, (इद्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्याः) उस [पीड़ा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥

उ० ३। ६६। इति वश्चू छेदने स प्रत्ययः कित्। अथवा। इगुपधज्ञाप्रोक्तिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति वृत्त वरणे क। वृश्चति क्लेशम्, वृत्तते वृणोति स्वभक्तान्, म्रियते वा सर्वैः स वृत्तः। दशानां दीप्यमानानां दर्शकानां दर्शनीयानां विदुषां [अथवा दंशकानां दुष्टस्वभावानामपि] क्लेशछेदक स्वीकारक वा। अथवा दशसु दिक्षु स्वीकरणीय। मुञ्च। मोचय। इमम्। जीवम्। माम्। इत्यर्थः। रक्षसः। राक्षसस्य, अज्ञानस्य। ग्राह्याः। विभाषा ग्रहः। पा० ३। १। १४३। इति ग्रह आदाने-ण। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् पा० ४। १। ६३। इति ङोष्। यद्वा। वसिष्ठपियजि०। उ० ४। १२५। इति ग्रह-इञ्। गृह्णातीति ग्राहो ग्राही ग्राहिर्वा जलजन्तुविशेषो वा। ग्रहणशीलपीडायाः सकाशात्। जग्राह। गृहीतवती। पर्वसु। स्नामदिपद्यतिपृशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति पृपूर्तो पालनेच-वनिप्। शरीरग्रन्थिषु। अथोएनम्। ओत्। पा० १।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।

अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

आ । अगात् । उत् । आगात् । अयम् । जीवानाम् । व्रातम् ।

अपि । अगात् । अभूत् । ऊं इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् ।

च । भगवत्-तमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्राणी] (आ + अगात्) आया है, (उत् अगान्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितों [पुरुषार्थियों] के (व्रातम्) समूह में (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है । वह (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते हैं, इस से मनुष्य संसार में जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करें, और पुरुषार्थियों के समान पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी हों ॥ २ ॥

१ । १६ । इत्येदन्तो निपातः पृगृह्यः । वनस्पते । अ० १ । १२ । ३ ॥ वन + पतिः सुट् च । वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक-इति श्रीमद् दयानन्द भाष्ये-यजु० २७ । २१ । वनानां पाता वा पलयिता वा वनं वनोते-निरु० ८ । ३ ॥ हे सेवनीयगुणस्य रक्षक परमेश्वर । जीवानाम् । जीवतीति जीवः । इगु-पथङ्गाप्रीकरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणे-क । प्राणिनाम् । लोकम् । लोक ईक्षे-घञ् । भुवनम् स्थानम् । उन्नय । ऊर्ध्वं प्रापय । द्विकर्मको धातुः ॥

२—आ + अगात् इण् गतौ-लुङ् । आगतवान् । उत् + अगात् । उद-स्थात् । संचारक्षमोऽभूत् । जीवानाम् । जीवितानां पुरुषार्थिनाम् । व्रातम् । भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । इति वृञ् वरणे-अतच् पृषादरादिः । यद्वा, व्रातं कर्म-निघ० २ । १ । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति व्रात-अण् । व्राताः, मनुष्याः-निघ० २ । ३ । समूहम् । पुत्राणाम् ।

अधीतीरध्यंगादयमधि जीवपुरा अगन् ।

शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधि-इतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीव-पुराः ।
अगन् । शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत ।
वीरुधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीतीः) अध्ययन योग्य शास्त्रों को
(अधि + अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुराः) प्राणियों के पुरों वा
नगरों को (अधि अगन्) जान लिया है । (हि) क्योंकि (अस्य) इस
[पुरुष] के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषजः) वैद्य, (उत) और
(सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुधः) औषध हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, मनुष्यों में निवास,
विद्वानों के सत्संग, और पदार्थों के गुणों का बोध करने से संसार में उन्नति
करते हैं ॥ ३ ॥

अ० १ । ११ । ५ । सुतानाम् । सन्तानानाम् । नृणाम् । नयतीति ना । नयते-
र्ङिञ्चि । उ० २ । १०० । इति शि प्रापणे-ऋ प्रत्ययः, स च डित् । नृ च । पा०
६ । ४ । ६ । इति नामि दीर्घाभावो विकल्पत्वात् । नेतृणाम् । पुरुषाणाम् ।
भगवत्तमः । अतिशयने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति भगवत् +
तमप् । अतिशयेन भगवान् ऐश्वर्यवान् ॥

३—अधीतीः । अधि + इङ् अध्ययने, यद्वा, इक् स्मरणे-किन् । अध्येत-
व्यान् वेदान् । स्मर्तव्यान् पदार्थान् । अधि + अगात् । इणो गा लुङि । पा० २ ।
४ । ४५ । तत्रैव वार्त्तिकम् । इणवदिक इति वक्तव्यम् । इति इक् स्मरणे-लुङि
गादेशः । अस्माभीत् । स्मृतवान् । जीवपुराः । ऋक्पूरव्यूः पथामानसो । पा०
५ । ४ । ७४ । इति पुर् इत्यस्य अकारः समासान्तः । जीवानां पुरः पुराणि नग-
राणि पत्तनानि अधि + अगन् । नमेर्लुङि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ ।
६४ । इति नत्वम् । अध्ययनम् । अज्ञासीत् । हि । यस्मात् कारणात् । शतम्,
सहस्रम् । अपरमिताः । भिषजः । बिभेति रोगो यस्मादिति विषक् । भियः
पुग् प्रत्ययश्च । उ० १ । १३८ । इति अभि भये-अजि । पुगागमो ह्रस्वश्च । वैद्याः ।
वीरुधः । अ० २ । ७ । १ । औषधयः ॥

देवास्तै चीतिमविदन् ब्रह्माणं उत वीरुधः ।

चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

देवाः । ते । चीतिस् । अविदन् । ब्रह्माणः । उत । वीरुधः
चीतिस् । ते । विश्वे । देवाः । अविदन् । भूम्याम् । अधि ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्माणः)
ब्रह्मज्ञानियों ने (उत) और (वीरुधः) ओषधों ने (चीतिम् = चितिम्) ज्ञान
(अविदन्) प्राप्त किया है । (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [सूर्य, चन्द्र,
वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चेतन्यता को (भूम्याम् अधि)
पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् वेद वेत्ताओं के उपदेश से, और अन्न आदि
ओषधों, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थों में ईश्वरीय
अटल नियमों से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके, ईश्वर की महिमा के ध्यान में
निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्कुरत् स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृण्वद् भिषजा शुचिः ॥ ५ ॥

यः । चकार । सः । निः । कुरत् । सः । एव । सुभिषक्-तमः ।

सः । एव । तुभ्यम् । भेषजानि । कृण्वद् । भिषजा । शुचिः ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (सः)

४—देवाः । प्रकाशमानाः । दातारः । दिव्यपदार्थाः । सूर्यादयः । ते । तुभ्यं हे
मनुष्य । चीतिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति चिती ज्ञाने, जाग-
रणे च-इन् , स च कित्, दीर्घश्छान्दसः । ज्ञानम् । जागरणम् । अविदन् ।
विदूल् लामे-लुङ् । लब्धवन्तः । ब्रह्माणाः । अ० २ । ६ । २ । ब्रह्मज्ञानिनः ।
ब्रह्मणाः । वीरुधः । ओषधयः । भूम्याम् । अ० १ । ११ । २ । भू-मि । भूलोके ।
पृथिव्याम् ॥

५—यः । परमेश्वरः । चकार । सर्वं सृष्टवान् । निः+कुरत् । तदो-

वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (सः) वह (एव) ही (सुभिषक्तमः) बड़ा भारी वैद्य है । (सः) वह (एव) ही (शुचिः) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) ओषधों को (कृणवत्) करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण कर के आनन्द देता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(भिषजा शुचिः) “वैद्यरूप से पवित्रात्मा” के स्थान में (भिषजां शुचिः) “वैद्यों में पवित्रात्मा” ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है । लिपि प्रमाद से अनुस्वार नहीं लगा । नीचे के प्रयोगों को विचारिये ॥

१—ऋग्वेद २ । ३३ । ४ । में ऐसा पाठ है ।

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥

मैं तुझ को (भिषजाम्) वैद्यों में महा वैद्य सुनता हूँ ॥

२—अथर्ववेद ६ । २४ । २ । ऐसा है ।

आपुस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥

(भिषजाम्) वैद्यों में अति पूजनीय वैद्य (आपः) परमेश्वर उस सब दुःख को हटावे ॥

३—यजुर्वेद २१ । ४० । में ऐसा पाठ है ।

सुत्रामाणं सवितारं वरुणं भिषजां पतिं
स्वाहा ॥

बड़े रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ, (भिषजाम्) वैद्यों के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है ॥

उदाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति कृष् करणे—लेटि अडागमः । कः करत्करति० । पा० ८ । ३ । ५० । इति निसःपत्वम् । निष्कृतिं निर्मुक्तिं पापादिभ्यउच्चारं कुर्यात् । सुभिषक्तमः । सु+भिषज्+तमप् । म० ३ । अतिशयेन पूजनीयो भिषक्, भयनिवारको वैद्यः । भेषजानि । अ० २ । ३ । २ । औषधानि । कृणवत् । कृषि हिंसाकरणयोः—लेट् । कुर्यात् । भिषजा । म० ३ । भिषग्रूपेण । इत्थंभावे तृतीया । यद्वा (भिषजाम्) इति पाठे । वैद्यानां मध्ये । शुचिः । अ० १ । ३३ । १ । शुचिर् शौचे—इन् । स च कित् । शुद्धस्वाभावः । पवित्रः ॥

सूक्तम् १० ॥

१-८ ॥ ब्रह्म देवता । १ त्रिष्टुप्, २-७ प्रथम-द्वितीय-पंचम-
षष्ठपादास्त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थी च जगती छन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेशः—मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षेत्रियात् त्वा निऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि
वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि
शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥

क्षेत्रियात् । त्वा । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः ।
मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा ।
कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे
इति । स्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश
के रोग से, (निऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी द्रुहिता आदि] से, (जामिशं-
सात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और
(वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा

१-क्षेत्रियात् । अ० २ । ८ । १ । देहे वंशे वा जाताद् रोगाद् दोषाद्वा ।
निऋत्याः । अ० १ । ३१ । २ । निऋतिर्निर्गमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः-नि०
२ । ७ । कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् । जामिशंसात् । (जामिः) इति व्याख्यातम्-
अ० २ । ७ । २ । जम भक्षणे-इञ् । जाम्यतिरेकं नाम बालिशस्य वासमानजाती-
यस्य वा-नि० ४ । २० । शंसु हिंसास्तुत्योः-अप्रत्ययः । भक्षणशीलस्य । बालि-
शस्य मूर्खस्य शंसनात् हिंसनात् । द्रुहः । द्रुह अनिष्टचिन्तने-किप् । अनिष्ट-
चिन्तनात् । मुञ्चामि । मोचयामि । वरुणस्य । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे
उन्नत् । दुष्टानामावरकस्य न्यायाधीशस्य । पाशात् । पश्यते बध्यतेऽनेन ।
पश बन्धे बाधे च-घञ् । शस्त्रमेवात् । दण्डबन्धात् । अनागसम् । इण

बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुम को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०—द्वौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगल मय (स्ताम्) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियों और मूर्खों के दुष्ट आचरणों से पृथक् रहे, और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे, किन्तु सुशीलता के कारण संसार के सब पदार्थ आनन्द कारी हों ॥

शं ते अग्निः सुहाद्विरस्तु शं सोमः सुहोषधीमिः । एवाहं
त्वां क्षेत्रियान्निरृत्या जामिशंसाह द्रुहो मुञ्चामि
वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि
शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ २ ॥

शम् । ते । अग्निः । सुह । अत्-भिः । अस्तु । शम् । सोमः । सुह ।
ओषधीभिः । एव । अहम् । त्वाम् । हो त्रिवात् । निः-कृत्याः ।
जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावा-
पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अग्निः) अग्नि (अग्निः सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हों, (सोमः) अमृत [पेश्वर्य] (ओषधिभिः सह)

आगोऽपराधे च । उ० ४ । ११२ । इति इण् गतौ-असुन्, आगादेशः । अपराध-
रहितम् । निर्दोषम् । ब्रह्मणा । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । शिवे । अ० २ ।
६ । ३ । कल्याणकारिण्यौ । द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । ईदृशेद् वचन
प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति सन्ध्यभावः । आकाशपृथिवीस्थपदार्थाः ।
स्ताम् । भवताम् ॥

२—शम् । सुखकरः । ते । तुभ्यम् । अग्निः । पावकः । अद्भिः । जलेन ।
। । अ० १ । ६ । २ । तु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । पेश्वर्यम् । ओषधीभिः ।

अन्न आदि औषधियों के साथ (शम्) सुखदायक हो। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से [मन्त्र १] ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को विज्ञान पूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, खान, पान आदि पदार्थों का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदि-
शश्चतस्रः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामि-
शंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अना-
गसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी
उभे स्ताम् ॥ ३ ॥

शम् । ते । वातः । अन्तरिक्षे । वयः । धात् । शम् । ते ।
भवन्तु । प्र-दिशः । चतस्रः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रि-
यात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि ।
वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि ।
शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य में दीखने वाले आकाश में वर्तमान (शम्) सुखदायक (वातः) पवन (वयः) अन्न वा यौरेन [शारी-
रिक बल] को (धात्=धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) महादिशायें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होंवें। (एव) ऐसे ही

अ० १। २३। १। ओष+धा-कि, डीप्। ओषो दाहो धीयतेऽत्र। ग्रीहियवादिभिः।
एव। एवम्। अन्यद् गतं म० १॥

३—वातः । अ० १। ११। ६। वा सुखासिगतिसेवासु-तन्। पवनः।
अन्तरिक्षे। अ० १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने। आकाशे। वयः। सर्व-
धातुभ्योऽसन्। उ० ४। १८६। इति वयङ् गता, ग्री गतौ, यद्वा अज गतौ-असुन्
अजतेर्वीभावः। अजम्-निध० २। ७। यौवत्तम्। सामर्थ्यम्। धात्। द्रुधाञ्

(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से [मन्त्र २]

भाषार्थ—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानों को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

(वयोधात् = वयः धात्) इन दो पदों के स्थान पर संहिता और पद पाठ के विरुद्ध सायणभाष्य में [वयोधाः] एक पद मानकर [वयसां पक्षिणां धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः] व्याख्या की है ।

इमा या देवीः प्रदिशुश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो
विचष्टे । एवाहं त्वां क्षत्रियान्निर्ऋत्या जामिशं साद्
द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनुगसं ब्रह्मणा
त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्तम् ॥४॥

इमाः । याः । देवीः । प्र-दिशः । चतस्रः । वात-पत्नीः ।
अभि । सूर्यः । वि-चष्टे । एव । अहम् । त्वाम् । क्षत्रियात् ।
निः-ऋत्याः । जामि-शं सात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य ।
पाशात् । अनुगसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति ।
ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) चलने वा चलाने वाला सूर्य लोक (इमाः) इन (याः)
जिन (देवीः) दिव्यगुणवाली (वातपत्नीः) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्रः) चारो

धारणपोषणयोः—लेटि विधिलिङि वा छान्दसं रूपम् । धत्तात् । दध्यात् ।
शम् । सुखकार्यः । प्रदिशः । प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशाः ॥

४—देवीः । अ० १ । ४ । ३ देव-ङीप् । द्योतमानाः । दिव्यः ।
वातपत्नीः । विभाषा सपूर्वस्य । पा० ४ । १ । ३४ । इति वातपूर्वस्य पति-
शब्दस्य इकारस्य नकारो ङीप् च । वातः पती रक्षको यासां ताः । वायुरक्षिताः

(प्रविशः) महा दिशाओं को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से..... [मन्त्र २] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोकों को धारण करता और वायु मण्डल पतन होजाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥४॥

तासु' त्वान्तर्ज'रस्याद'धामि प्र यक्ष्म' एतु निऋ'तिः
पराचैः । एवाहं त्वां क्षे'त्रियान्निऋ'त्या जामिशं साद्
द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा
त्वा कृणेमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ५ ॥

तासु' । त्वा । अन्तः । जरसि' । आ । दधामि । प्र । यक्ष्मः । एतु ।
निः-ऋ'तिः । पराचैः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षे'त्रियात् । निः-
ऋ'त्याः । जामि-शं साद । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् ।
अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणेमि । शिवे इति । ते । द्यावा-
पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तासु) उन [दिशाओं] में (त्वा) तुझ को (जरसि) स्तुति के (अन्तः) मध्य में (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हूँ, (यक्ष्मः) राज रोग [क्षयो आदि] और (निऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचैः) ओंधे मुंह होकर (प्र+एतु) चली जावे । (एव) ऐसेही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...[मन्त्र २] ॥ ५ ॥

सर्वलोकाः । इत्यर्थः । सूर्यः । अ० १ । ३ । ५ । आकाशे सर्ता सविता प्रेरको वा ।
आदित्यलोकः । विचष्टे । चक्षिष्व् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-लट्, अयादित्वात्
शपो लुक् । चष्टे, विचष्टे वक्ष्यतिकर्मणौ-निघ० ३ । ११ । विविधं पश्यति ।
किरणैः प्रकाशयति, आकर्षति धारयति चेत्यर्थः ॥

५—तासु । पूर्वोक्तान् दिक् । त्वा । त्वां मनुष्यम् । आत्मानम् । अन्तर ।

भावार्थ—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है, इस लिये पुरुष, पुरुषार्थ करके सब विघ्नों को हटावे और कीर्तिमान् हांकर सब आनन्द भोगे और अमर होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—हमारे विचार में यहां भी (जरस्) पद का अर्थ निघण्टु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्ति है [बुढ़ापे का अर्थ वे मेल हैं] ।

अथर्ववेद १। ३०। २। और टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६। २४ भी विचारिये ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम
शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः
शतात् ॥ १ ॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षुः) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओं का हितकारी, (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सन्मुख होकर (उच्चरत्) ऊंचा चढ़ रहा है । [ऐसा ध्यान करते हुये] (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जीते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हम रहें, (च) और (शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक । अर्थात् हम सर्वथा पुष्टांग रहें और कभी अङ्गहीन और धनहीन न हों ॥

मध्ये । जरसि । १। ३०। २। जृ स्तुतौ, यद्वा, गृ शब्दे-असुन् । जरिता स्तोतृ-
नाम—निघ० ३। १६। स्तुतौ । यशसि । आ । सम्यक् । यथाविधि । दधामि ।
अहं मनुष्यः स्वगौरवेण धारयाम्यात्मानमित्यर्थः । यद्दमः । अर्त्तिस्तुष्टु० ।
उ० १। १४० । इति यक्ष पूजायाम्-मन् । पूज्यते वैद्यो रोगे । राजरोगः । क्षयः ।
प्र+एतु । प्रैतु । प्रगच्छतु । निर्गच्छतु । निर्वर्त्तिः । म० १ । अलक्ष्मीः ।
दरिद्रतादिविपत्तिः । परार्चैः । नौ दीर्घश्च । उ० ५। १३ । इति बाहुलकात्,
पर+चिञ् चयने-डैसि । अकारस्य दीर्घश्च । पराङ्मुखी ॥

अमु'कथा यक्ष्माद् दुरिताद'वद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्या-
श्चोद'मुकथाः । ए'वाहं त्वां क्षे'त्रियान्निरृ'त्या जामि-
शं'साद् द्रुहो मु'ञ्जामि वरु'णस्य पाशात् । अनागसं
ब्रह्म'णा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावा'पृथिवी उभे'स्ताम् ॥६॥

अमु'कथाः । यक्ष्मात् । दुः-दुतात् । अवद्यात् । द्रुहः । पाशात् ।
ग्राह्याः । च । उत् । अमु'कथाः । एव । अहम् । त्वाम् ।
क्षे'त्रियात् । निः-क'त्याः । जामि-शं'सात् । द्रुहः । मुञ्चामि
वरु'णस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्म'णा । त्वा । कृणोमि । शिवे
इति । ते । द्यावा'पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से,
और (अवद्यात्) अकथनीय, निन्दनीय कर्म से (अमुकथाः) तू मुक्त हो गया है,
और (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्तन] से (च) और (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा
के (पाशात्) पाश वा बन्ध से (उत् + अमुकथाः) तू छुट चुका है । (एव) ऐसे
ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से
...[मन्त्र २] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगों को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है
ऐसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥ ६ ॥

६—अमुकथाः । मुच्ल मोक्षणे-कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने । भ्रूलो
भ्रूलि । पा० ८ । २ । २६ । इति सिचो लोपः । मुक्तोऽसि । यक्ष्मात् । म० ५ ।
राज रोगात् । दुरितात् । दुर्+इण् गतौ-भावे क । दुर्दुष्टम् इतं गमनं नर-
कादिदुर्गतिः- इति दुरितम् । दुर्गतेः । पापात् । अवद्यात् । अवचपण्यवर्या
गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । पा० ३ । १ । १०१ । इति अ+वद् कथने-यत्प्रत्यान्तो
निपात्यते क्यपि प्राप्ते । अवचनीयात् । अकथनीयात् । गर्ह्यात् । पापात् । द्रुहः ।
द्रुह-क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । पाशात् । बन्धनात् । ग्राह्याः । अ०
२ । ६ । १ । ग्रह-इङ् । ग्रहणशीलायाः पीडायाः सकाशात् । उत् । उङ् शब्दे-
क्विप्, तुक् । पृथोदरादित्वाद् वत्त्वं वा । प्राकट्येन । उत्कर्षेण । अन्यद् गतम् ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमर्षभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके ।
 एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रहो
 मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनुगसं ब्रह्मणा त्वा
 कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः । अरातिम् । अविदः । स्योनम् । अपि । अभूः । भद्रे ।
 सु-कृतस्य । लोके । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् ।
 निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य ।
 पाशात् । अनुगसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे
 इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ७ ॥

भषार्थ—(अरातिम्) कंजूसी वा बैर को (अहाः=अहासीः) तू ने त्याग
 दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (अविदः) तूने पाया है, (अपि) और भी (सुकृतस्य)
 सुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभूः) तू वर्तमान
 हुआ है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक
 वा वंशागत रोग से..... [मन्त्र २] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य बैर छोड़ कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक
 बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये ।

७—अहाः । ओहाक् त्यागे-लुङि । मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद् ० । पा० २ । ४ ।
 ८० । इति च्लेर्लुक् । अहासीः । अत्याक्षीः । अरातिम् । अ० १ । १८ । २ । रा
 दाने-क्तिन् । अदातृताम् । शत्रुताम् । अविदः । विद्लु लाभे-लुङ् । लृदित्वाद्
 अङ् । लब्धवानासि । स्योनम् । सिवेष्टेयू च । उ० ३ । ६ । इति षिवु तन्तुस-
 न्ताभे-न प्रत्ययः, टिभागस्य यू इत्यादेशे गुणः । स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्य-
 न्येतत् सेधितव्यं भवतीति वा-निरु० ८ । ६ । सुखम् । आनन्दम् । अपि ।
 न पियति । पि गतौ-क्विप्, न तुक् । समुच्चये । अवधारणे । पुनर्ये । अभूः ।

मैत्र्यादिषु चलानि ।

मित्रता आदिकों में [संयम से] अनेक बल होते हैं ॥

टिप्पणी—(अभूः) के स्थान पर सायणभाष्य में [अभूत्] माना है ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरे-
णंसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निकृत्या जामिशंसाद्द्रुहो
मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा
कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम् । ऋतम् । तमसः ग्राह्याः । अधि देवाः । मुञ्चन्तः ।
असृजन् । निः । एनसः । एव । अहम् । त्वाम् । हो त्रियात् ।
निः-कृत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य ।
पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति ।
ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(देवाः) [ईश्वर के] दिव्य सामर्थ्यों ने (ऋतम्) चलने वाले
(सूर्यम्) सूर्य को (तमसः) अन्धकार की (ग्राह्याः) पकड़ से और (एनसः अधि)
कण्ड से (मुञ्चन्तः) लुड़ा कर (निः + असृजन्) उत्पन्न किया है । (एव) ऐसे ही
(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शार्ङ्गिक वा वंशागत रोग से,

भू सत्तायाम्-लुङ् । त्वं वर्तमानोऽभूः । भद्रे । अ० १ । १८ । १ । भदि-रन् ।
भन्दनीये । सुखप्रदे । लोके । अ० २ । ६ । १ । स्थाने । अन्यद् गतम् ॥

८—सूर्यम् । अ० १ । ४ । २ । गतिशीलं प्रेरकं वादित्यम् । ऋतम् ।
ऋ गतौ-कर्त्तरि क्त । ऋतः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १० । ४० । अक्षरम्
अन्तरिक्षे गन्तारम् । तमसः । तमिर् खंदे-असृजन् । अन्धकारस्य । ग्राह्याः ।
म० १ । ग्रहणात् । देवाः । ईश्वरस्य दिव्यबलानि । मुञ्चन्तः । मोचयन्तः ।
असृजन् । सृज विसर्गे । सृष्टवन्तः । उत्पादिनवन्तः । निर् । नृ नयने-
क्ति, न दीर्घः । निश्चये । वहिर्भावे । एनसः । इण आगसि । उ० ४ । १६८ इति

(निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी, दग्धता आदि] से (जामिंसात्) भक्षण शील मूर्ख के सताने से, (दुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाशवा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूँ, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०-व्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार से छूट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने सब विघ्नों का नाश करके, आत्मिक बल बढ़ा कर संसार में उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१-५ ॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २-५ प्रथमद्वितीय-पादौ द्व्यष्टका, तृतीय-चतुर्थौ च द्विषट्का गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेशः—पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति सुमं क्राम ॥ १ ॥

दूष्याः । दूषिः । असि । हेत्याः । हेतिः । असि । मेन्याः ।

मेनिः । असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । सुमम् क्राम ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (दूष्याः) दूषित क्रिया का (दूषिः) खण्डन-कर्ता (असि) है, और (हेत्याः) बरछी का (हेतिः) बरछी (असि) है,

इण् गतौ-असुन् । नुट् च । एन एतेः—निरु० ११ । २४ । दुःखात् । पापात् । अपराधात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ दूष्याः । अ० १ । २३ । ४ । दुष दुष्टकर्मणि-इन् । दुष्टक्रियायाः । दूषिः । दूषकः, निवारकः—इति सायणोऽपि । असि । भवसि । हेत्याः । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तिर्यश्च पा० । ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः, यद्वा, हि गतिवृद्ध्योः—क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते ।

(मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाला [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ी शक्ति दी है । जो पुरुष उन शक्तियों को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालों के सत्संग से, काम में लाते हैं वे निर्विघ्न होकर अन्य पुरुषों से अधिक उपकारी हो कर आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसुरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति स्मं क्राम ॥ २ ॥

स्रक्त्यः । असि । प्रति-सुरः । असि । प्रति-अभिचरणः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । स्मम् । क्राम ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसुरः) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है, और (प्रत्यभिचरणः) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को

हेतिर्वज्रानाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । आयुधस्य । हेतिः । अस्त्रम् ।
मेन्याः । वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति मिञ् हिंसायाम्-नि ।
मेनिर्वज्रानाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । मेनिः । वज्रः । आप्नुहि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ ।
इति प्रशस्य-ईयसुन् । प्रशस्य श्रः । पा० ५ । ३ । ६० । इति प्रशस्यस्य श्र इत्यादेशः ।
प्रशस्यतरम् । अधिकगुणवन्तं पुरुषं परमात्मानं मनुष्यं वा । अति । अतीत्य ।
उल्लङ्घ्य । समम् । समानम् । तुल्यबलिनम् । क्राम । क्रमु पादविक्षेपे-
लोद् । अग्रे गच्छ ॥

२—स्रक्त्यः । स्रक्, स्रकि गतौ “सरकना”—क्तिन् । स्रक्तिर्गतिः ।
भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । गतिमान् । उद्यमी । प्रतिसुरः ।
प्रति + स्ट गतौ-अच् । चितः । ६ । १ । १६३ । अन्तोदात्तः । प्रति प्रत्यक्षं
सरतीति । अग्रगामी । प्रत्यभिचरणः । प्रति + अभि + चर गमने, अदने,

(आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़ कर (काम) पद आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह संकटों को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है, मन्त्र १ देखिये ॥ २ ॥

प्रति तमभिचरु यो ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।

आप्नुहि श्रेयांसुमतिं सुमं काम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चरु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् ।
वयम् । द्विष्मः । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । सुमम् । काम ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभिचर) चढ़ाई कर, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) बैर करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़ कर (काम) पद आगे बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो लुली कपटी धर्मात्माओं से अप्रीति करें और जिन दुष्कर्मियों से धर्मात्मा लोग घृणा करते हों, राजा उन दुष्टों को वश में करके दण्ड देवे ॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगों को हटाकर सत्य धर्म में प्रवृत्त हों और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करें ॥ ३ ॥

आचारे च-ल्युद् । प्रति प्रतिकूलम् अभिचरणम् अभिचारो हिंसनं यस्मात् स प्रत्यभिचरणः । व्यभिचारनिवारकः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

३—प्रति । अभिलक्ष्य । अभि+चर । अभिभव । नाशय । यः । दुराचारी पुरुषः । अस्मान् । धर्मचारिणः । द्वेष्टि । द्विष अप्रीतौ-अदादित्वात् शयो लुक् । अप्रीत्या गृह्णाति । जिघांसति । द्विष्मः । अप्रीत्या गृह्णीमः । अन्यद् गतम् ॥

सुरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति सुमं क्राम ॥ ४ ॥

सुरिः । असि । वर्चः-धाः । असि । तनु-पानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । सुमम् । क्राम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! तू (सुरिः) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधाः) अन्न वा तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपानः) हमारे शरीरों का रक्षक (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] का (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (सुमम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा रक्षा और उन्नति करे ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।

आप्नुहि श्रेयांसमति सुमं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः ।
असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । सुमम् । क्राम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुक्रः) तू वीर्यवान् (असि) है, (भ्राजः) प्रकाशमान् (असि) है, (स्वः) तू स्वर्ग [सुखधाम] (असि) है, (ज्योतिः) [सूर्यादि के समान]

४—सूरिः । सूडः क्रिः उ० ४ । ६४ । इतिपूङ् प्राणिप्रसवे, यद्वा, षू प्रेरणे क्रि । सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा सद्वाक्यानि । स्तोता—निघ० ३ । १६ । अभिज्ञः । परिडतः । वर्चोधाः । वर्चस् + धाञ्-विच् । वर्चः-अ० १ । ६ । ४ । वर्चसः, अन्नस्य तेजसां वा धाता । तनूपानः । तनू + पा रक्षणे-भावे ल्युट् । तनूनां पानं रक्षणं यस्मात् सः । शरीररक्षकः ॥

५—शुक्रः । ऋज्जेन्द्राप्रवज्ज ० । उ० २ । २८ । इति शुच दीप्तौ-रन् । शुक्रम्=पुंस्त्वम् । वीर्यम् । तेजः । उदकम्-निघ० १ । १२ । ततः । अर्श-आदि-भ्याञ्च् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । यद्वा । शुच-किप् । रो मत्वर्थीयः । वीर्यवान् ।

तेजः स्वरूप (असि) है । (श्रेयान्मम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (प्रामुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ — राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और पेश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१-८ ॥ विश्वे देवा देवताः । १-६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप् छन्दः ॥
सर्वरक्षोपदेशः—सबकी रक्षा के लिये उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उरु^१ अन्तरिक्षं^२ क्षेत्रस्य^३ पन्त्यु^४ रुगायोऽ-
द्भुतः^५ । उत^६ अन्तरिक्षम्^७ वातगोपम्^८ त इह तप्यन्तां^९ मयि^{१०}
तप्यमानि ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी इति^१ । उरु^२ । अन्तरिक्षम्^३ । क्षेत्रस्य^४ । पत्नी^५ । उरु-
गायः^६ । अद्भुतः^७ । उत^८ । अन्तरिक्षम्^९ । उरु^{१०} । वात-गोपम्^{११} । ते^{१२} । इह^{१३} ।
तप्यन्ताम्^{१४} । मयि^{१५} । तप्यमानि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य में दीखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, संसार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्य स्वरूप (उरुगायः) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्य वर्त्ती)

कान्तिवान् । **भ्राजः** । दु भ्राजृ दीप्तौ-अच् । दीप्यमानः । तेजस्वी । स्वर ।
अ० २ । ५ । २ । सु+ञ् गता, यद्वा, स्तु शब्दापतापयोः-विच् । सुगमनः ।
शत्रूपतापकः । स्वर्गः । सुखप्रदः । उद्यतिः । अ० १ । ६ । १ । धुत दाप्तौ-
इसिन् । दस्य जः । तेजः । प्रकाशः ॥

१-द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । ईदृदेद्विवचनं प्रगृह्यम् । पा०
१ । १ । ११ । इति सन्धिविषये प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । उरु । महति ह्रस्वश्च ।
उ० १ । ३१ । इति ऊर्णु आच्छादने-कु, जुलोपो ह्रस्वश्च । महत् । पङ्कम् ।
अन्तरिक्षम् । अ० १ । ३० । ३ । अन्तर्+ईत् दर्शने-घञ् । आकाशम् । अन्तः-
करणम् । क्षेत्रस्य । गुह्योपविचित्रि० । उ० ४ । १६७ । इति क्षि निवासगत्यै-
श्वर्येषु-त् । निवासस्थानस्य संसारस्य भूमेर्वा । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति

अन्तः करण [ये सब जो देव हैं] (ते) वे सब (इह) यहां पर [इस जन्म में] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुये पर (तप्यन्ताम्) पेश्वर्य वाले होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को पेश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि
शंसति । पाशे स बुद्धो दुःरिते नि युज्यतां यो अस्माकं
मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरद्वाजः ।
मह्यम् । उक्थानि । शंसति । पाशे । सः । बुद्धः । दुः-रिते ।
नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञियाः) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) यह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाजः) पुष्टि-

क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्-इति सायणोऽपि । पत्नी । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ ।
१ । ३२ । इति पतिशब्दस्य नकारादेशः, ङीप् च । पालयित्री दिशा वृष्टिर्वा ।
उरुगायः । उरु + गै गाने-घञ् । उरुभिर्महद्भिः, यद्वा, उरु विस्तीर्णं गीयते
सः । बहुगीयमानः । अद्भुतः । अदि भुवो दुतच् । उ० ५ । १ । अततीति
अत सातत्यगमने-क्विप् । अत्, अद् वा अकस्मादर्थे । अत् + भू सत्तायां भा
दीप्तौ वा दुतच् । आश्चर्यस्वरूपः । अपूर्वः । उत्त । अपि च । वातगोपम् ।
वातः प्राणवायुः, गोपाः गोपयिता यस्य, यद्वा प्राणवायुना गोप्यमानं
धार्यमाणं यत्तद् अन्तरिक्षं हृदयम् । ते । सर्वे पदार्थाः । इह । अस्मिन्
जन्मनि । तप्यन्ताम् । तप उपतापे पेश्वर्यं च । दिवादिः । आत्मनेपदी-
लोट् । पेश्वर्यवन्तो भवन्तु । पश्यत-“तप्यते धनी, ईश्वरः स्यादित्यर्थः ।”
मयि । उपासके । तप्यमाने । तप उपतापे-कर्मणि शानच् । ब्रह्मचर्यादि-
तपश्चर्यां कुर्वति क्लिश्यमाने वा ॥

२—इदम् । इन्देः कमिञ्लोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-
कमिन् । पुनोवर्त्ति वक्ष्यमाणं वा वाक्यम् । देवाः । दीप्यमानाः । दातारः । विद्वांसः ।

कारक, अन्न वा बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (मह्यम्) हुआ को (उक्थानि) वेद बचनों का (शंसति) उपदेश करता है। (सः) वह मनुष्य (दुरिते) बड़े कठिन (पाशे) फांस में (बद्धः) बँधा हुआ (नि + युज्यताम्) आज्ञा में रहे, (यः) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुये] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियों को क्लेश और सुकर्मियों को आनन्द देता है। उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिये प्रकाशित की है ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमपु यत्त्वा हृदा शोचंता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं
हिनस्ति ॥ ३ ॥

इदम् । इन्द्र । शृणुहि । सोम-पु । यत् । त्वा । हृदा । शोचंता ।
जोहवीमि । वृश्चामि । तम् । कुलिशेन-इव । वृक्षम् । यः ।
अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे ऐश्वर्य के रत्नक [वा अमृत पीने वाले वा अमृत

शृणुत । श्रु श्रवणे । आकर्णयत । यज्ञियाः । यज्ञतिर्गभ्यां घञञौ । पा० ५ ।
१ । ५७ । इति यज्ञ-घप्रत्ययः । यज्ञार्हाः । पूजनीयाः । स्थ । भवथ । भरद्वाजः ।
भरत् + वाजः । भृञ् धारणपोषणयोः-शतृ । अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम् ।
पा० ३ । ३ । १६ । इति वज गतौ-घञ् । वाजः, अन्नम्-निघ० २ । ७ । बलम्-
निघ० २ । ६ । भरत् देवानां पोषकं वाजो हविल्लक्षणम् अन्नं यस्य सोयं भरद्वाजः-
इति सायणः । विभर्तीति भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्त्ता-इति मही-
धरो यजुर्वेदभाष्ये १३ । ५५ । वाजोऽन्नं विज्ञानं वा विभर्त्ति येन-इति दयानन्द-
सरस्वती-तत्र यजुर्वेदभाष्ये । अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारकः
पोषको वा परमेश्वरः । मह्यम् । मवर्थम् । उक्थानि । पातृतुदिवचिरिचि-
सिचिभ्यस्थक् । उ० २ । ७ । इति वच कथने-थक् । शास्त्राणि । शंसति । शंसु
हिंसास्तुत्योः कथने च । कथयति, उपदिशति । पाशे । अ० २ । ८ । १ । बन्धने ।
बद्धः । बन्ध बन्धे-क्त । निरुद्धः । निगडितः । दुरिते । इण्-क्त । दुर्गते । अति-
कठने । नि + युज्यताम् । युज संयमे बन्धने-कर्मणि लोट् । नियतो बद्धो भवतु ।
मनः । मन बोधे-असुन् । मननात्मकं चित्तम् । हृदयम् । इदम् । सन्मार्ग-
प्रवृत्तम् । हिनस्ति । हिंसि हिंसायाम् । बाधते । क्लिश्नाति ॥

३—इदम् म० २ । वक्ष्यमाणं वाक्यम् । इन्द्र । हे परमैश्वर्यधन् परमात्मन् !

की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन् ! पमेश्वर ! (इदम्) इस [वचन] को (शृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जीह्वीमि) आवाहन करता रहता हूं। (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते हैं वैसे ही] मैं (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालूँ (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजा गण दुष्टों से पीड़ित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते हैं, वैसे ही बलवान् राजा उस परम् पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टों से छुटकारा पावे ॥ ३ ॥

शृणुहि । उतश्च प्रत्ययादित्यत्र ह्रन्दसि वेति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । १०६ । इति हेरलुक् । शृणु । सोमप । अर्त्तिस्तुसुहृदुसृष्टिः । उ० १ । १४० । इति पु गतौ । ऐश्वर्यप्रसवयोश्च-मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्नवतीति सोमः । आतो-ऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति सोम + पा रक्षणे पाने वा-क । हे सोमस्य ऐश्वर्यस्य रक्षक ! यद्वा । अमृतस्य मोक्षसुखस्य पानशील रक्षक वा ! यत् । यतः । यस्मात् कारणात् । त्वा । त्वामिन्द्रम् । हृदा । हृज् हरणे-किप् । तुक् च । हृदयेन । मनसा । शोचता । शुच शोके-शतृ । शोकार्तेन । दुःखितेन । जीह्वीमि । ह्वेञ् आह्वाने-यङ्लुगन्तात् लङत्तमैकवचने । ह्वः सम्प्रसारणम् पा० ६ । १ । ३२ । अभ्यस्तस्य च । पा० ६ । १ । ३३ । इति सम्प्रसारणम् । पुनः पुनराह्वयामि । वृश्चामि । ओवश्चू छेदने । तुदादित्वात् शः । हिनस्ति । कुलिशेन । कुल बन्धे संहतौ च-इन्, किच्च । कुलिः = हस्तः । यद्वा । कुल अस्त्यर्थे इनि । कुली पर्वतः । कुलौ हस्ते शेते वर्तते, शीङ् शयने-ङ । यद्वा । कुलिनं संहतिवन्तं पर्वतं पर्ववन्तम् अतिदृढं श्रयति, शो तनू-करणे-ङ । वज्रेण । वृक्षम् । स्नुवश्चिह्नल्यृपिभ्यः कित् । उ० ३ । ६६ । इति ओवश्चू छेदने-स प्रत्ययः । स च कित् । यद्वा । इगुपधक्षाप्रीकिरः कः पा० ३ । १ । १३५ । इति वृक्ष स्वीकरणे-कः । वृश्चति परिश्रमम् । । यद्वा । वृक्षते स्वीकरोति श्रान्तं जनं स वृक्षः । चिटपम् । पादपम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः ।
इष्टापूर्तमेवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अशीति-भिः । तिसृ-भिः । साम-गेभिः । आदित्येभिः ।
वसु-भिः । अङ्गिरः-भिः । इष्टापूर्तम् । अत्रतु । नः । पितृणाम् ।
आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) व्याप्तियों [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभिः = ०—गैः) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले, (आदित्येभिः = ०—त्यैः) सर्वथा दीप्पमान, (वसुभिः) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों के साथ (पितृणाम्) रक्षक पिताओं

४—अशीतिभिः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अशू व्याप्तौ-ति
छन्दसि इडागमो दीर्घश्च । अथवा, तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके । पा० ७ ।
३ । ६५ । इति बाहुलकाद् ईडागमः । व्याप्तिभिः, ईश्वरजीवप्रकृतिरूपाभिः ।
तिसृभिः । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ । पा० ७ । २ । ६६ । इति त्रि शब्दस्य
तिसृ इत्यादेशः । त्रिसंख्याकाभिः । सामगेभिः । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ ।
उ० ४ । १५३ । इति षो नाशे-मनिन् । स्यति नष्टीकरोति पापं दुःखमिति
साम, सर्वैर्गर्णीयमानो वेदः । साम+गै-उ । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० ।
इति भिन्न ऐस भावो न । सामगैः । वेदपाठिभिः । ब्राह्मणैः । आदित्येभिः ।
अ० १ । ६ । १ । आङ्+दाञ् दाने दीपी दीप्तौ वा-यक्, निपात्यते । आदातृभि-
र्ब्रहीतृभिर्गुणानाम् । प्रकाशमानैः । सूर्यवत्तेजस्विभिः । वसुभिः । आ० १ ।
६ । १ । वस आच्छादने, निवासे, दीप्तौ च-उप्रत्ययः । श्वसो वसीयश्चेयसः ।
पा० ५ । ४ । ८० । वसु शब्दः प्रशस्तवाची-इति भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमु-
द्याम् । प्रशस्तैः । श्रेष्ठैः । अङ्गिरोभिः । अङ्गतेरसिरिडगमश्च । उ० ४ ।
२३६ । इति अग्नि गतौ-असि, इरुडागमः । अङ्गनशीलैः । व्यापनशीलैः ज्ञानिभिः ।
महार्षिभिः । इष्टापूर्तम् । इष्टं च पूर्तं च द्वयोः सामाहारः, पूर्वपददीर्घः ।
यज देवपूजनदानसङ्गतिकरणेषु, इषु वाअच्चे वा-भावे क्त । इज्यते इष्यते वा
यत्तद् इष्टम् । पृ पालने-क्त । न ध्याख्यापमूच्छिदमदाम् । पा० ८ । २ । ५७ ।
इति तस्य न नत्वम् । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म । यथा शब्द-
कल्पद्रुमकोषे ।

[पिता के समान उपकारियों] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (नः) हमें (अवतु) तृप्त करें, (दैव्येन) विद्वानों के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमुम्) उस [दुष्ट] को (आ+ददे) मैं पकड़ता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानों की सम्मति और सहाय, और बड़े २ पुरुषों के पुण्य कर्मों के अनुकरण, और दुष्टों को दण्ड दान से प्रजा में शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीयां विश्वे देवासो अनु
मा रभध्वम् । अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमाच्छ-
त्वपक्रामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी इति । अनु' । मा । आ । दीधीयाम् । विश्वे ।
देवासः । अनु' । मा । आ । रभध्वम् । अङ्गिरसः । पितरः
सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अप-क्रामस्य' । कर्ता ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु=अनुलक्ष्य) अनुग्रह कर के (आ) भले प्रकार (दीधीयाम्)

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमारामाः पूतमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अवतु । रक्षतु । तर्पयतु । नः । अस्मान् । पितृणाम् । अ० १ । २ ।
१। पालयितृणाम् । रक्षकानाम् । आददे । गृह्णामि । स्वीकरोमि । अमुम् ।
तं शत्रुं पूर्वमन्त्रोक्तम् । हरसा । हृज् हरणे-असुन् । हरो हरते ज्योतिर्हर
उच्यते-नि० ४ । १६ । हरः क्रोधः-निग्र० २ । १३ । ज्योतिषा । तेजसा ।
दैव्येन । अ० २ । २ । २ । देव-यज्ञ् । देवसम्बन्धिना ॥

५—द्यावापृथिवी । मा० १ । हे सूर्यभूमी । सर्वे पदार्थाः । अनु ।
अनुलक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इति अनोः कर्मप्रवचनीयता । कर्मप्रवचनीयक्त्यु

दोनों प्रकाशित हो, (विश्वे) हे सब (देवासः=०—वाः) उत्तम गुण वाले महात्माओ ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बना । (अङ्गिरसः) हे ज्ञानी पुरुषो ! (पितरः) हे रक्षक पिताओ ! (सोम्यासः=०—म्याः) हे सौम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो ! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ + ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें, और बड़े २ उपकारी विद्वानों के सत्संग से डाकू उचकें आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्ति रखे ॥
अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्
क्रियमाणम् । तपूषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं
द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

अति-इव । यः । मरुतः । मन्यते । नः । ब्रह्म । वा । यः ।
निन्दिषत् । क्रियमाणम् । तपूषि । तस्मै । वृजिनानि ।
सन्तु । ब्रह्म-द्विषम् । द्यौः । अभि-संतपाति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले शूरो ! (यः) जो [दुष्ट

द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति मा इत्यस्य द्वितीया । अनुलक्ष्य । मा ।
माम् । दीधीयाम् । दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः-लोट्, अदादित्वात् शपो, लुक् ।
दीप्येताम् । विश्वे । सर्वे । देवासः । जसि असुगागमः । हे देवाः ।
महात्मानः । आ + रभध्वम् । रभ रामस्ये=उत्सुकीभावे-लोट् । उत्सुका
भवत । उद्भूता भवत-इति सायणाचार्यः । अङ्गिरसः । म० ४ । हे ज्ञानिनः ।
महर्षयः । पितरः । म० ४ । हे पालकाः । पितृवत् सत्करणीयाः । सोम्यासः ।
तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । आज्ञुसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५ । इति असुक् ।
हे सोम्याः । सोमाय पेश्वर्याय हिताः । मनोहराः । प्रियदर्शनाः । पापम् । पानीवि-
षिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति पारक्षणे-प प्रत्ययः । पातिरक्षति अस्मादात्मानमिति ।
अधर्मम् । पातकम् । दुःखम् । आ + ऋच्छतु । आच्छतु । ऋच्छ गतौ ।
उपसर्गादिति धातौ । पा० ६ । १ । ६३ । इति गुणापवादे वृद्धिः । प्राप्नोतु ।
अपकामस्य । अप नञर्थे + कम इच्छायाम्-घञ् । अनिष्टस्य । अपकारस्या ।
अत्याचारस्य । कर्त्ता । कृञ्-तृच् । कारकः । प्रयोजकः ॥

६—अतीव । अतिरतिक्रमणे च । पा० १ । ४ । ६५ । इव अवधारणे,

पुरुष] (नः) हम पर (अतीव = अतीत्य एव) हाथ बढ़ा कर (मन्यते = मानयते) मान करे, (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुये (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषेत्) निन्दा करे । (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपूषि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हों । (द्यौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिसन्तपाति) सब प्रकार से सन्ताप दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे, उसे शूरावीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की न्यायव्यस्था से भी कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६।५२।२ है ॥

सुप्त प्राणानुष्टौ मुन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।

अया युमस्य सादनमुग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

सुप्त । प्राणान् । अष्टौ । मुन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । युमस्य । सादनम् । अग्नि-दूतः । अरंस्-कृतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे दुष्ट जीव] (ते) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सप्त) सप्त

प्रादिसमासः । अत्येव । अतिशयेन अतिक्रम्य तिरस्कृत्य । यः । विरोधी जनः । मरुतः । अ० १ । २० । १ । मृञ् प्राणत्यागे अन्तर्भावितएवर्थः—उति । हे शत्रु-नाशकाः । शूराः । मन्यते । मन गर्वें चुरादिः, छन्दसि दिवादिः । मानयते । गर्वयते । नः । अस्मान् । ब्रह्म । अ० १ । २ । ४ । वेदविज्ञानम् । धनम् । निन्दिषत् । णिदि कुत्सायाम्, इदित्वाश्रुम् । लेटोऽडाटो । पा० ३ । ४ । ६४ । इत्यडागमः । सिप् बहुलं लेटि । ३ । १ । ३४ । इति सिप् । निन्देत् । दूषयेत् । क्रियमाणम् । कृञ् करणे-कर्मणि शानच्, मुक्च । अनुष्टीयमानम् । विधीयमानम् । तपूषि । अर्त्तिपूवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् । उ० २ । ११६ । इति तप दाहे-उसि, नित्वाद् आद्युदात्तः । तापकानि तेजांसि आयु-धानि वा—इति श्री सायणः । वृजिनानि । वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच् । धर्मवर्जकानि पापकर्माणि । ब्रह्मद्विषम् । ब्रह्म + द्विष अप्राप्तौ-क्विप् । वेदविरोधिनम् । द्यौः । गमेडोः । उ० २ । ६७ । इति द्युन द्यौ-डो । गतो यित् । पा० ७ । १ । ६० । इति वृद्धिः । द्योतमानः परमेश्वरः । अभि-सम्-तपाति । तप दाहे-लेट् । आडागमः । सर्वतः संहतेत् ॥

७—सप्त । सप्तशब्दांस्तुद् च । उ० १ । १ । १५७ । इति षपसमवाये-कनिच्,

(प्राणान्) प्राणों को और (अष्टौ) आठ (मन्यः = मन्याः) नाड़ियों को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मैं तोड़ता हूँ । तू (अग्निदूतः) अग्नि को दूत बनाता हुआ और (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी वा मृत्यु के (सादनम् = सदनम्) घर में (अयाः) आ पहुँचा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सात प्राण अर्थात् दो आंख, दो नथने, दो कान और एक मुख, और आठ प्रधान नाड़ियाँ वा अवयव अर्थात् दो दो दोनों भुजाओं और दोनों टांगों के हैं । तात्पर्य यह है । यथादण्ड शत्रु के अंगों को छेद कर अनेक क्लेशों के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि फिर अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावें ॥ ७ ॥

लिपि प्रमाद से [मन्याः] के स्थान में (मन्यः) पद जान पड़ता है ।

टिप्पणी—देखिये अथर्ववेद १०।२।६ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णौ विमौ नासिके
चक्षणी मुखम् । येषां पुरुत्रा विजुयस्य महानि चतु-
ष्पादो द्वि पदो यन्ति यामम् ॥

(कः) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनों कान, (नासिके) दो नथने,

तुद् च । सप्त संख्याकान् । प्राणान् । प्र + अन जीवने-करणे यञ् , प्राणिति जीवत्यनेन । शीर्षणानि कर्णनासिकादीन्द्रियानि । अष्टौ । सप्त्यशूच्यां तुद् च । ३०१ । १५७ । इति अशूच्यासौ-कनिन, तुद् च । अष्टाभ्य औश् । पा० ७ । १ । २१ । इति औश् । अष्टसंख्याकाः । मन्यः । मन धृतौ-क्यप्, स्त्रियां टाप् । लिपिप्रमादेन मन्याः-इत्यस्य स्थाने मन्यः, इति जातमनुमीयते । प्रीवायाः पश्चात् शिराः । अत्र तु हस्तपादद्वयस्थान् अष्टप्रधानावयवान् । वृश्चामि । छिनन्ति । ब्रह्मणा । वेदज्ञानेन । धर्मेण । अयाः । या प्रापणे-लङ् । त्वं प्राप्तवानसि । यमस्य । यम प्रतिबन्धे-अच्, यमयति नियमयति जीवानां पुण्यापुण्यफलम् । न्यायकारिणः पुरुषस्य । मृत्योः । सादनम् । पद गतौ-ल्युट्, सीदन्त्यत्र ।

(चक्षणी) दो आंखें, और (मुखम्) एक मुख । (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (महानि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दो पाये जीव (पुरुषा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं ॥

आ दधामि ते पुदं समिद्धे जातवेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्टुसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । दधामि । ते । पुदम् । सम्-इद्धे । जात-वेदसि । अग्निः ।

शरीरम् । वेवेष्टु । असुम् । वाक् । अपि । गच्छतु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे दुराचरी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धे) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीड़ा देने वाली अग्नि में (आ+दधामि) डाले देता हूँ । (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर में (वेवेष्टु) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (असुम्) [अपने] प्राण [अंश] में (गच्छतु) जावे ॥ ८ ॥

सांहितको दीर्घः । सदनम् । गृहम् । अग्निदूतः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृति-
स्वरत्वम् । अग्निदूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः । अरंकृतः । ऋ गतौ-अच्,
इयर्त्तिगच्छत्यनेनेति अरं शीघ्रम् । शीघ्रीकृतः । शीघ्रं न्यायालये प्राप्तः ॥

८—आ । समन्तात् । दधामि । स्थापयामि । ते । तव । त्वदीयम् ।
पदम् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद गत्याम्-
अच् । व्यवसायम् । स्थानम् । पादम् । समिद्धे । सम्+इन्धी दीप्तौ-क्त ।
प्रदीप्ते । जातवेदसि । अ० १ । ७ । २ । जात+विद् वेदनायां, ज्ञाने, सत्तायाम् ।
यद्वा विद्वत् लाभे-असुन् । जातं वेदो वेदना दुःखं यस्मात् स जातवेदाः, तस्मिन्
पीडाजनके अग्नौ । अग्निः । पावकः । शरीरम् । कृशृपृकटिपटिशौटिभ्य ईरन् ।
उ० ४ । ३० । इति शृ हिंसायाम्-ईरन् । शीर्यते हिंस्यते रोगादिना यत् । गात्रम् ।
कायम् । वेवेष्टु । विष्टु व्याप्तौ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । णिजां त्रयाणां
गुणः श्लौ । पा० ७ । ४ । ७५ । प्रविशतु । असुम् । शृशृस्त्रिहित्रप्यसिधसि । उ०
१ । १० । इति असु क्षेपणे-उ प्रत्ययः । असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-
निरु० ३ । ८ । प्राणम् । स्वकारणम् । वाक् । क्षिप् वचिप्रच्छिञ्चि० । उ० २ ।

भावार्थ—दुर्गाचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि में जल कर कष्ट पाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५ । ब्रह्मचारी देवता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचारिणः समावर्त्तने वस्त्रादिधारणोपदेशः—ब्रह्मचारी के समावर्त्तन, विद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिये उपदेश ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेवं पुत्रानभिरक्षतादिमम् ॥ १ ॥

आयुः-दाः । अग्ने । जरसं । वृणानः । घृत-प्रतीकः । घृत-
पृष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् ।
पिता-इव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर ! तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणानः) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीकः) प्रकाश स्वरूप और (घृतपृष्ठः) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सींचने वाला है । (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! [अग्नि के समान] (मधु)

५७ । इति वच कथने-किप्, दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । वागिन्द्रियम् । गच्छतु ।
प्राप्नोतु ॥

१—आयुर्दाः । आतां मनिनकनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ ।
इति आयुः+दा दाने-विच् । आयुः-अ० १ । ३० । ३ । जीवनदाता । अग्ने ।
हे तेजस्विन् परमेश्वर ! जरसम् । अ० १ । ३० । ३ । जरस्-अर्शआद्यच् ।
स्तुत्यम् । प्रशंसनीयकर्म । वृणानः । वृड् संभक्तौ-लटः शानच् । शनाभ्यस्तयो-
रातः । पा० ६ । ४ । ११२ । इत्याकारलोपः । संभजमानः । स्वीकुर्वाणः । घृतप्र-
तीकः । अश्विघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति घृ भासि सेके च-क्त ।

मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रों को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न संस्कार, शिल्प प्रयोग आदि में उपयोगी होता है, वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पादार्थों के दान से मनुष्यों पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यों को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परि धत्त धुत्त नो वर्चसे मं जुरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।
वृहस्पतिः प्रायच्छुद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परि-
धातुवा उ ॥ २ ॥

परि । धत्त । धुत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जुरा-मृत्युम् ।
[जुरा-अमृत्युम् ।] कृणुत । दीर्घम् । आयुः । वृहस्पतिः । प्र ।
अयच्छुत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परि-धातुवै ।
जु इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिये (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि + धत्त) वस्त्र पहराओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त)

अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । इति प्रति + इण् गतौ-क्रीकन् । घृता दीप्ताः प्रतीका
अङ्गानि यस्य सः । प्रकाशस्वरूपः । घृतपृष्ठः । तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ०
२ । १२ । इति पृषु सेके-थक् प्रत्ययान्तो निपातः । घृतस्य पृष्ठं सेचनं यस्मात्
सः । प्रकाशेन सेचकः । घृतम् । आज्यम् । पीत्वा । पानेन स्वीकृत्य । मधु ।
मन-उ । मधुरम् । चारु । अ० २ । ५ । १ । मनोहरम् । गव्यम् । गोपयसे-
र्यत् । पा० ४ । ३ । १६० । इति गो-यत् । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७६ ।
इति अक् । गोसम्बन्धि । पिता । पाता पालकः, जनकः । इव । यथा । पुत्रान् ।
अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे-क् । शुभकर्मणा मातापित्रादिशोधकान् । तन-
यान् । अपत्यानि । अभि । सर्वतः । रक्षतात् । हेस्तातङ् आदेशः । पाहि ।
इमम् । एनमुपासकम् । ब्रह्मचारिणम् ॥

२—परि धत्त । अन्तर्भावितव्यर्थः । परिधापयत । वस्त्रेण अलङ्कुरुत ।
धत्त । पोषयत । नः । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । वर्चसा । तेजसा । अन्नेन,

पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बड़ा (आयुः) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम् = जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमर-पन, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु (कृणुत) करो । (वृहस्पतिः) बड़े बड़े [विद्वानों] के रत्नक [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवै) धारण करने के लिये (प्र + अयच्छत्) दान किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके; विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिये उस की योग्यता का सत्कार करें और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलंकृत करके उस का मान बढ़ावें जिस से विद्या का प्रचार और आपस में प्रीति अधिक होवे ॥ २ ॥

२—जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नों से अलंकृत होकर पुरुषों में दर्शनीय होता है वैसे ही मनुष्य, मनुष्य-शरीर का चोला पाकर सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १६।२४।३। में भी है ॥

निघ० ३।७। इमम् । दर्शनीयं ब्रह्मचारिणम् । जरामृत्युम् । जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा । षिद्भिदाभ्योऽङ् । पा० ३।३।१०४। इति जृ-ष् वयोहानौ वेदे तु स्तुतौ च-अङ् । ऋटशोऽङि गुणः । पा० ७।४।१६। इति गुणः । टाप् । जरा स्तुतिर्जरतः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०।८। भुजिमृड्भ्यां युक्त्युक्त्वा । उ० ३।२१। इति मृड् प्राणत्यागे-त्युक् । जरया स्तुत्या अमृत्युम् अमरत्वम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युं मरणम् । कृणुत । कुरुत । दीर्घम् । व विदाणो-घङ् । आयतम् । प्रवृद्धम् । आयुः । अ० १।३०।३। इण् गतौ-उसि । जीवितकालः । जीवनसाधनम् । आयः । धनप्राप्तिः । वृहस्पतिः । अ० १।८।२। वृहत् + पतिः, सुदृत्लोपौ । वृहस्पतिर्वृहतः पाता वा पालयिता वा-निरु० १०।११। वृहतां विदुषां रत्नकः । प्र + अयच्छत् । दाण् दाने-लङ् । पात्राध्मास्थादाण्० । पा० ७।३।७८। इति यच्छादेशः । अददात् । वासः । वसेर्णित् । उ० ४।२१८। इति वस आच्छादने-असुन्, स च णित् । वस्त्रम् । वासनम् । ज्ञानम् । एतत् । पुरोवर्त्ति । सोमाय । अ० १।६।२। षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः-निरु० १४।१२। सूर्यवत्सेजस्विने । राज्ञे । अ० १।१०।१। राजति-ईष्टे । निघ० २।२१। ऐश्वर्यवते पुरुषाय । परि-धातवै । तुमर्थे सेसेन्० पा० ३।४।६। इति तवै प्रत्ययः । परिधातुम् । उ । पव ॥

परोदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभू'गृष्टीनामभिशस्तिपा
उ' शतं च जीव'शरदः पुरुची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

परि। इदम्। वासः। अधिथाः। स्वस्तये। अभूः। गृष्टीनाम्।
अभिश्स्ति-पाः। ऊं इति। शतम्। च। जीव'। शरदः॥
पुरुचीः। रायः। च। पोषम्। उप-संव्ययस्व॥ ३॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन् !] (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये)
आनन्द बढ़ाने के लिये (परि + अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम्)
ग्रहणीय गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (उ) अवश्य
(अभूः) तू हुआ है। (च) निश्चय करके (पुरुचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त
(शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और
(रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप-संव्ययस्व) अपने सब
ओर धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दें कि यह उस की विद्या
का सन्मान इस लिये किया गया है कि संसार में गौ आदि उपकारी पदार्थों

३—इदम्। अ० २। १। १। पुरोवर्त्ति। वासः। म० २। वस्त्रम्। परि+
अधिथाः। स्थाघ्वोरिच्च। पा० १। २। १७। इति धात्रो लुङि इकारोऽन्ता-
देशः, सिञ्च किद्वत्। ह्रस्वादङ्गात्। पा० ८। २। २७। इति सिञ्जलोपः। परि-
हितवानसि। प्राप्तवानसि। स्वस्तये। अ० १। ३०। २। सु+अस सत्तायाम्-
ति प्रत्ययः। क्षेमाय। अभूः। भू-लुङ्। त्वं वर्त्तमानोऽभूः। गृष्टीनाम्। ग्रहञ्
उपादाने-क्विच्। पृयोदरादित्यात् साधुः। ग्राह्यानां गवाम्। अभिशस्तिपाः।
अभि-शंसु स्तुतौ, हिंसायां च-क्विन्। +पा रक्षणे-विच्। अभिशस्तिः अभितो
विशसनं हिंसा, तन्निमित्ताद् भयात् पालकः-इति सायणः। हिंसाभयाद् रक्षकः।
शतम्। बहुनाम-निघ० ३। १। बह्वीः। जीव। जीवृ प्राणे। प्राणान् धारय।
शरदः। अ० १। १०। २। ऋतुविशेषान्। संवत्सरान्। 'पुरुचीः। ऋत्विगद्भृक्०।
पा० ३। २। ५६। इति पुरु+अञ्चू गतिपूजनयोः-क्विन्। अनदितां हल उप-
धायाः कङिनि। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। उगितश्चः। पा० ४। १। ६।

और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १६। २४। ६ में है ॥

एह्यश्मानमा तिष्ठताश्मा भवतु ते तनूः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥४॥

आ । इहि । अश्मानम् । आ । तिष्ठ । अश्मा । भवतु । ते
तनूः । कृण्वन्तु । विश्वे । देवाः । आयुः । ते । शरदः । शतम् ॥४॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि=आ+इहि) तू आ, (अश्मानम्) इस शिला पर (आ+तिष्ठ) चढ़, (ते) तेरा (तनूः) तन [शरीर] (अश्मा) शिला [शिला जैसा दृढ़] (भवतु) होवे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयुः) आयु का (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (कृण्वन्तु) [दीर्घ] करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी को शिखा दे कि वह यथानियम पथ्यसेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौरुष करके अपने शरीर को दृढ़ और स्वस्थ रखे, और विद्वानों के मेल, और उत्तम पदार्थों के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर संसार में उपकार करे ॥ ४ ॥

अथर्व० १। २। २। में आया है “ (अश्मानं तनवं कृधि) शरीर को पत्थर सा दृढ़ बना ” ॥

अत्र वार्त्तिकम् । अश्नतेश्चोपसंख्यानम् । इति डीप् । बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवतीः । रायः । रै-ङस् विभक्तिः । धनस्य । पोषम् । पुष्टि पोषणे-घञ् । पुष्टिम् । समृद्धिम् । उप-सम्-ट्ययस्व । व्येञ् आच्छादने । परिधत्स्व ॥

४—आ+इहि । आगच्छ । अश्मानम् । अ० १। २। २। प्रस्तरम् । अश्मा । पाषाणशिला । पाषाणवद्दृढ़ा । आ+तिष्ठ । अधितिष्ठ । आरूढोभव । तनूः । तनु विस्तारे-ऊ । शरीरम् । कृण्वन्तु । कुर्वन्तु । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः पदार्था वा । आयुः । म० २ । जीवनम् । ते । तव । युष्मत्तत्तल्लुप्सन्तः पादम् । पा० ८ । ३। १०३ । इति सकारस्य षत्वम् । शरदः । शरदृतून् । संवत्सरान् । शतम् । बह्वीः । बहुसंवत्सरान् ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं १ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु
देवाः । तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां
बृहवः सुजातम् ॥ ५ ॥

यस्य । ते । वासः । प्रथम-वास्यम् । हरामः । तम् । त्वा ।
विश्वे । अवन्तु । देवाः । तम् । त्वा । भ्रातरः । सु-वृधा । वर्ध-
मानम् । अनु । जायन्ताम् । बृहवः । सु-जातम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्)
प्रधानता से धारण योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम लाने हैं [धारण
कराते हैं] (तम्) उस (त्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण
(अवन्तु) रक्षा करें । और (तम्) उस (सुवृधा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्ध-
मानम्) बढ़ते हुये, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (त्वा) तेरे (अनु)
पीछे (बृहवः) बहुत से (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) प्रकट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानों में बड़ा मान पावे, तब
वह उत्तम गुणों की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान
उस के दूसरे भ्रातृगण संसार में यश प्राप्त करें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त में (वासः) पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर
का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है—

टिप्पणी २—मन्त्र २ देखिये ॥

५—वासः । वस्त्रम् । शरीरम् । प्रथमवास्यम् । प्रथम्यातौ-अमच् ।
ऋहलोऽयत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वस आच्छादने-कर्मणि ण्यत् ।
तित् स्वरितः । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । प्रथमं प्रधानत्वेन वास्यं परि-
धानीयम् । हरामः । प्रापयामः । तम् । तादृशम् । त्वा । त्वां ब्रह्मचारिण-
मात्मानं वा । अवन्तु । रक्षन्तु । भ्रातरः । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहातृपोतृभ्रातृ० ।
उ० २ । ६५ । इति तु भ्राजृ दीप्तौ-तृन् । यद्वा । भृञ् भरणे-तृन् । भ्राजमानाः पर-
स्परं दीप्यमानाः । परस्परपोषकाः । सहोदराः । भ्रातृवत् परस्परपोषणशीलाः
पुरुषाः । सुवृधा । वृधु वृद्धौ-क्विप् । महावृद्ध्या । समृद्ध्या । वर्धमानम् ।
वृधु-शानच् । वृद्धिविशिष्टम् । अनु । अनुसृत्य । जायन्ताम् । जनी प्रादु
भावि । प्रादुर्भवन्तु । उत्पद्यन्ताम् । बृहवः । अनेकाः । सु-जातम् । जनी-
क । प्रशस्तजन्मानम् ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्दुःभिक्षता वा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यैः प्रयत्नेन नाशनीया-निर्धनता मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करनी चाहिये ॥

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।

सर्वाश्चण्डस्य नृपत्यो नाशयामः सुदान्वाः ॥ १ ॥

निः-सालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एक-वाद्याम् । जिघत्स्वम् । सर्वाः । चण्डस्य । नृपत्यः । नाशयामः । सुदान्वाः ॥१॥

भाषार्थ—(निःसालाम्) बिना साला वा घर वाली, (धृष्णुम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाली को (जिघत्स्वम्) खालेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वाः) इन सब (नृपत्यः=नप्तीः) सन्तानों, (सुदान्वाः) सदा चिह्नाने वाली यद्वा, दानवों, दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (नाशयामः) हम मिटा दें ॥ १ ॥

भावार्थ—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ाएँ

१—निःसालाः । षल गतौ-घञ् । सालः प्राकारोऽस्त्यस्याः सा साला गृहम् । अर्शन्नादिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । टाप् । निर्गता सालायास्ताम् । निर्गृहाम् । धृष्णुम् । स्त्री० । असिगृधिधृषिद्धिपेः क्तुः । पा० ३ । २ । १४० । इति धृषि क्रोधे हिंसे, शक्तिवन्धे-क्तुः । धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् । धिषणम् । धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ इति जिघृषा प्रागल्भ्ये-क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे-क्यु, धिषणा वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । बुद्धिः, कोषे च । बोधं वाचं वा । (जिघत्स्वम्) इत्यस्य कर्म । एकवाद्याम् । ऋहलोऽर्थत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति षद् वाचि ग्यत् । एकम् एकप्रकारमेव वाचं दीनतारूपं वचनं यस्याः सा । ताम् अलक्ष्मीम् ।

क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं।
मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को
न आने दे और सदा सुखी रहे ॥ १ ॥

ऋग्वेद म० १० । सू० १५५ । म० १ में ऐसा वर्णन है ।

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ।

शिरिम्बिठस्य सत्त्वभिस्तेभिष्ठा चातयामसि ॥ १ ॥

(अरायि) हे अदान शील [कंजूसिनि] ! (काणे) हे कानी ! (विकटे)
हे लंगड़ी ! (सदान्वे = सदानोनुवे शब्दकारिके) सदा चिह्नाने वाली ! (गिरिम्)
पहाड़ को (गच्छ) चली जा ! (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभिः) उन
(सत्त्वभिः) जलों से (त्वा) तुझे (चातयामसि) हम मिटाये देते हैं ॥

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० । में है । उसके और निरुक्त
टीकाकार देवराज यज्वा के आधार पर यहां अर्थ किया है ॥

जिघत्स्वम् । लुङ्सनोर्घसुट् । पा० २ । ४ । ३७ । इति अद् भक्षणे + सन्-
घसुलादेशः । ततः । सनाशंसभिद्ध उः । पा० ३ । २ । १६८ इति उः, स्त्रियाम्
ऊङ् वा । अत्तुमिच्छुम् । सर्वाः । निखिलाः । चण्डस्य । नपुंसकलिङ्गम् ।
चडि कोपे-पचाद्यच् । यद्वा । अमन्ताङ् डः । उ० १ । १११४ । इति चण हिंसे-
ङः । डस्य न इत्वम् । कोपस्य । क्रोधस्य । नत्प्यः । न पतन्ति पितरो येनेति
नप्ता । नमृनेष्टत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । इति न + पत अधोगतौ-तृन् । ऋश्रेभ्यो ङीप्
पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । छन्दसि रलोपो जस्त्वं च । नप्त्रीः । अपत्यभूताः ।
नाशयामः । हन्मः । सदान्वाः । नौतेः शब्दकर्मणो यङ् लुगन्तात् ।
नन्दिग्रहिपचादिभ्या ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पचाद्यच् । न
धातु लोप आर्धधातुके । पा० १ । १ । ४ । इति गुणप्रतिषेधे उवङ्स्थाने
छान्दसो यण् आदेशः, टाप् च । सदान्वे सदानोनुवे शब्दकारिके-निरु० ६ । ३० ।
दुर्मिताधिदेवतोच्यते, कालकर्णा वा अलक्ष्मीः-इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा ।
सदानोनुवाः । सर्वदा नानूयमानाः शब्दायमानाः सर्वप्रकाराद्विद्रतादिविपत्तीः
यद्वा । स + दानवाः । केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र वास्तिकम् ।
अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति घ प्रत्ययो मत्वर्थे । अकारलोपः । दानवैश्छेदनशीलैः
सह वर्तमानाः ॥

निर्वौ गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।

निर्वौ मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः । गो-स्थात् । अजामसि । निः । अक्षात् । निः । उप-
आनसात् । निः । वः । मगुन्द्याः । दुहितरः । गृहेभ्यः ।
चातयामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (गोष्ठात्) [अपनी] गोठ अर्थात् वाचनालाय
वा गोशाला से (निर् + अजामसि) हम निकाले देते हैं, (अक्षात्) व्यवहार से
(निर्) निकाले, (उपानसात्) अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से (निर्) निकाले
देते हैं । (मगुन्द्याः) हे ज्ञान की मिथ्या करनेवाली [कुवासना वा निर्धनता] की
(दुहितरः) पुत्रियो ! [पुत्री समान उत्पन्न पीड़ाओं] (वः) तुम को (गृहेभ्यः)
[अपने] घरों से (निर्) निकालकर (चातयामहे) हम नाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने में ऐसा प्रबन्ध करे

२—वः । गुष्मान् । गोष्ठात् । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति गो + ष्टा
गतिनिवृत्तौ-क । यद्वा । घञर्थे कः । अम्बाम्बगोभूमि पा० ८ । ३ । ६७ । इति
षत्वम् । गावो वाचो धेन्वादिपशवो वा तिष्ठन्ति यत्र । गोष्ठ्याः । वाचनालयात् ।
गोशालायाः । निर् + अजामसि । अज गतिक्षेपणयोः । इदन्तो मसिः । पा०
७ । १ । ४६ । इति मस् इत्यस्य इकारागमः । निरजामः । निः स्तारयामः । निर्
निरजामसि । अक्षात् । अक्ष व्याप्तौ-पचाद्यच् घञ् वा । व्यवहारात्
उपनसात् । । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । पा० ५ । ४ । १०७ । इति अनस्
शब्दात् टच् समासान्तः । अन जीवने-असुन् । अनः, अन्नम् । शकटम् । जन्म ।
अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम् । यद्वा । अनोऽश्मायःसरसां जातिसं-
ज्ञयोः । पा० ५ । ४ । ६४ । इति तत्पुरुषे टच् । उपगतं च तद् अनश्च उपानसं
धान्यपूर्णं शकटम् । तस्मात् । धान्यगृहात् । धान्यपूर्णशकटात् । मगुन्द्याः ।
मनु बोधे-ड + गुप्ति मिथ्योक्तौ-अच्, ऊीप् च, छन्दसि रत्नोपः । मं ज्ञानं गुन्द्र-
यति मिथ्या वदति सा मगुन्द्री तस्याः । ज्ञाननाशयिज्याः कुवासनाया

कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओं, व्यापार, और अन्न आदि में हानि न हो किन्तु सब पदार्थों के यथावत् संग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—गोट (गोष्ठ) शब्द राजस्थान में बात चीत के स्थान अर्थ में लाया जाता है ।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्तवराय्यः ।

तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र । सन्तु । अराय्यः । तत्र । सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (यः) जो (गृहः) घर (अधरात्) नीचे की ओर है, (तत्र) वहां पर (अराय्यः) निर्धनता वाली [विपत्तियां] (सन्तु) रहें । (तत्र) वहां ही (सेदिः) महामारी आदि क्लेश (नि + उच्यतु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) पीड़ा देने वाली क्रियायें भी ॥ ३ ॥

निर्धनतायाः । दुहितरः । नत्पृनेष्टृ.....दुहितृ । उ० २ । ६५ । इति दुह प्रपूरणे-तृन्, निपातनाद् गुणाभावः । देशिध प्रपूरयति कार्य-शीति दुहिता । पुञ्यः । पुत्रीवद् उत्पन्नाः । गृहेभ्यः । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह उपादाने-क । गेहात् । निर् । निःसार्य निःशेषेण वा । चातयामहे । चातयतिर्नाशने-नि० ६ । ३० । नाशयामः ॥

३—अधरात् । अधस्-आति । अधोभागे । नीचस्थाने । गृहः । म० २ । गेहम् । अराय्याः । रा दानग्रहणयोः—घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् आगमः । राति ददातीति रायो धनम् । न रायः, अरायः, अधनम् । केशाद्धोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । इति मत्वधीर्य ईकारः । अरायः, अधनं यस्याः सा अरायी । अलक्ष्म्यः । विपत्तयः । तच्च । अधोदेशे । सेदिः । आहगमहनजनः । किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि

भावार्थ—जैसे राजा चौर आदि दुष्टों को पकड़ कर कारागार में रखता है, ऐसे ही मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक निर्धनता, दुर्भिक्षता, और दुःखदायी रोगों को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरञ्जु त्विन्द्रश्चेत् सुदान्वाः ।

गृहस्य बुध्रे आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधितिष्ठतु ॥ ५ ॥

भूत-पतिः । निः । अञ्जुतु । इन्द्रः । च । इतः । सुदान्वाः । गृह-
स्य । बुध्रे । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(भूतपतिः) न्याय वा सत्य वा प्राणियों का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (इतः) यहाँ से (निर् + अञ्जुतु) निकाल देवे । (इन्द्रः) वही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्य) [हमारे] घर की (बुध्रे) जड़ में (आसीनाः) बैठी हुई (ताः) उन [पीड़ाओं] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े आदि] से (अधि + तिष्ठतु) वश में करे ॥ ४ ॥

सदादिभ्यो दर्शनात् । इति षट्त्व विशरणगत्यवसादनेषु—कि प्रत्ययः । तस्य लिङ्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपो । निश्च्युतिः । विषादः । न्युच्यतु । उच्च समवाये दिवादिः । नित्यं समवैतु । सर्वाः । निखिलाः । यातुधान्यः । अ० १ । ७ । १ । यत ताडने-उण् + धाञ्-युच्, ङीप् । यातना-प्रदाः पीडादात्र्यः क्रियाः । (न्युच्यन्तु) इति शेषः ॥

४—भूतपतिः । भू सत्तायां प्राप्तौ च-कर्त्तरि क । भूतस्य न्यायस्य सत्यस्य वा, अथवा भूतानां प्राणिनां पालकः पुरुषः । निर् । निसार्य । अञ्जुतु । प्रेरयतु । बहिष्करोतु । इन्द्रः । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये-रन् इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इहृञ्छुभूणां वारयिता वा द्रावयिता वा वरयिता च यज्वानाम् निरु० १० । ८ परमैश्वर्यवान् महात्मा । इतः । अस्मात् स्थानात् । सदा-

भावार्थ—क्लेशों के भीतरी कारणों को मली भांति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषों को सचेत करके क्लेशों से बचावें और आनन्द में रखें ॥४॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणाम् यदि वा पुरुषेषिताः ।

यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सुदान्वाः ॥ ५ ॥

यदि । स्थ । क्षेत्रियाणाम् । यदि । वा । पुरुष-इषिताः । यदि । स्थ । दस्यु-भ्यः । जाताः । नश्यते । इतः । सुदान्वाः ॥५॥

भाषार्थ—[हे पीड़ाओं !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वंश सम्बन्धी रोगों की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिताः) अन्य पुरुषों की प्रेषित (स्थ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्यः) चोर आदिकों से (जाताः) प्रकट हुयी (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वाः) हे सदा चित्तलाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओं !] (इतः) यहां से (नश्यते) हट जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खरडन से अथवा माता पिता आदि के कुसंस्कार से, शारीरिक वा अध्यात्मिक, और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीड़ायें प्राप्त होती हैं । मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशों का नाश करके आनन्द से रहें ॥५॥

न्वाः । म० १ । सदा + नोनुवाः । आक्रोशकारिणीः, यद्वा, । स + दानवाः, दानवैः सह वर्त्तमानाः पीडाः ॥

५-यदि । पक्षान्तरम् । चेत् । स्थ । यूयं भवथ । क्षेत्रियाणाम् । अ० २ । ८ । १ । स्वकीये देहे वंशे वा जातानां रोगाणाम् । पुरुषेषिताः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । इति पुरः अग्रगतौ-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । इष गतौ यद्वा, ईष दाने-कर्मणि निष्ठा, इडागमः । अन्यजनैः प्रेषिताः प्रेरिता दत्ता वा । दस्युभ्यः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दस्यु उपक्षये-युच् । बाहुलकाद् अनादेशाभावः । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्युः । चोरादिभ्यः शकाशात् । जाताः । प्रादुर्भूताः । नश्यते । नाश अदर्शने, दिवादिः । तिरोभवत । निर्गच्छत । सदान्वाः । म० १ । हे सर्वदा शब्दयिज्यः, यद्वा, दानवैः सह वर्त्तमानाः ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठाभिवासरन् ।

अजैषुं सर्वान्नाजीन् वी नश्यतेतः सुदान्वाः ॥ ६ ॥

परि । धामानि । आसाम् । आशुः । गाष्ठास्-इव । असुरन् ।

अजैषम् । सर्वान् । आजीन् । वः । नश्यत । इतः । सुदान्वाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[वे विद्वान्] (आसाम्) इन [पीड़ाओं] के (धामानि) धरों को (परि) सब प्रकार (असुरन्) पहुच गये हैं । (आशुः इव) जैसे शीघ्र गमी घोड़ा (गाष्ठास्) अपने गमन स्थान [थान] पर । (वः) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) संग्रामों को (अजैषम्) मैं ने जीत लिया है, (सुदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओं !] (इतः) यहां से (नश्यत) चंपत हो जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे कि घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आयी हुयी विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ॥ ६ ॥

६—परि । परितः सर्वतः । धामानि । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धाञ्-मनिन् । धीयन्ते द्रव्यजातानि यत्र । गृहाणि । जन्मानि । कारणानि । आसाम् । पूर्वोक्तानां पीड़ानाम् । आशुः । कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशुभ्य उण् । उ० १ । १ । इति अश्व व्यसौ, यद्वा, अश भोजने-उण् । अश्वनाम निघ० १ । १४ । अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २ । २७ । शीघ्रगामी घोटकः । गाष्ठास् । गाङ् गतौ-क्लिप्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । गमनाय गमनाद्वा तिष्ठति यत्र । गमनस्थानम् । असुरन् । सृ गतौ भ्वादिः, लङ् । अगच्छन् ते विद्वांसः । अजैषम् । जि जये-लुङ् । अहं जितवानस्मि । आजीन् । अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । इति अज गतिक्षेपणयोः-इण् । बीभावाभावः । आजौ, संग्रामनामसु-निघ० २ । १७ । अजन्ति गच्छन्ति

(असरन्) के स्थान पर सायणभाष्य में [असरम्] और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन में निर्भय रहे ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिप्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिप्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी दोनों (न) न (रिप्यतः) दुःख देते हैं, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ १ ॥

भावार्थ—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं, ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़ कर और सुकर्मों को करके सदा निर्भय और सुखी रहता है ॥ १ ॥

यत्र विजयश्रियं योद्धारः, क्षिपन्ति शस्त्राणि यत्र । संग्रामान् । वः । युष्माकम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ यथा । येन प्रकारेण । द्यौः । अ० २ । १२ । ६ । द्योतन्ते लोका यत्र । आकाशम् । च । निश्चये । समुच्चये । पृथिवी । अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे-पिवन्, डोष् । भूमिः । सत्तास्थानम् । न । निषेधे । बिभीतः । अभिभी भये । दूरं त्रासं प्राप्तुः । रिप्यतः । रिष हिंसायाम्, दिवादिः सकर्मकः । हिनस्तः । आज्ञाभङ्गं कुरुतः—इत्यर्थः । एव । एवम् । तथा । मे । मम । प्राण । प्र+अन् जीवने-अच्, घञ् वा । हे आत्मन् । मा बिभेः । अभिभी भये, लङ् । त्वं शङ्कां मा कार्षीः ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसी ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥

भाषार्थ—यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्र, दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके, उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेद विहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें ॥

२—अहः । नञि जहातेः । उ० १ । १५८ । इति नञ्+ओहाक् त्यागे-
कनिन् । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तमानत्वात् तद् अहः । दिनम् ।
रात्री । अ० २ । ८ । २ । रात्रिः कस्मात् प्रमथति भूतानि नक्तञ्चारीण्युप-
रमयतीतराणि भुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः,
निरु० २ । १८ । क्षपा । निशा ॥

३—सूर्यः अ० १ । ३ । ५ । आदित्यः । सप्ताश्वः । चन्द्रः । अ० १ । ३ । ४ ।
चन्द्रमाः ॥

यथा ब्रह्मं च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी]
जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनों (न) (रिष्यतः) न दुःख देते और
(न) (बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः)
मत डर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते
और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर
ईश्वराज्ञा पालन में निभय हाकर आनन्द उठावे ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च)
और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिष्यतः) दुःख देते, और (न) न
(बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा
बिभेः) मत डर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का
निषेध, यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं । मनुष्य विधि और निषेध के यथावत्

४-ब्रह्म । अ० १ । ८ । ४ । ब्राह्मणजातिः । वेदवेत्तृजनः । क्षत्रम् । क्षत्र बधे-
किप्, क्षत् क्षतम् । ततस्त्रायते । क्षत् + ळैङ् पालने-क । यद्वा । गुधृवी० उ० ४ ।
१६७ । इति क्षद् भक्षणे; संबेषणो, संवृत्तौ, बधे च-त्र । क्षदति शत्रूनि क्षि क्षत्रम् ।
क्षत्रियकुलम् ॥

५—सत्यम् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति सत्-यत् । सद्गुणो

रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चलें और अचल आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

यजुर्वेद में धर्णत है—अ० १६ म० ७७ ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृत्ये प्रजापतिः ।

अश्रद्धामनुनेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः ॥ १ ॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये । (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा अप्रीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया ।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।

एवामे प्राणमा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।

एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने हारा] काल (न) न (रिष्यतः) दुःख देते और (न) न (बिभीतः) डरते हैं (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुये हैं और आगे होंगे । इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

हितम् । तथ्यम् । यथार्थकथनम् । अनृतम् । न श्रुतं न ज्ञसमाप्तः । मिथ्या-भाषणम् ॥

६—भूतम् । भू-क । अतीतम् । गतकालः । भव्यम् । भव्यमेवप्रबच-१-यो० । पा० ३ । ४ । ६८ । इति भू-यत् । भविष्यत् । अनागतम् ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्य-
ण्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४—५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेशः—आत्म रक्षा के लिये उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातुं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातुम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भावार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः)
मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी [अशी-
र्वाद] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से
प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने
वाली श्वास की स्वस्थता स्थापित करें और बलवान् रह कर चिरंजीव
होवें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातुं स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । उप-श्रुत्या । मा । पातुम् । स्वाहा ॥ २ ॥

भावार्थ—(द्यावापृथिवी = ०—यौ) हे आकाश और पृथिवी ! दोनों
(उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो,
(स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥ २ ॥

१—प्राणापानौ । अन जीवने-अच् वा घञ् । प्राणश्च अपानश्च
तौ । हे उच्छ्वासनिश्वासौ । हे अन्तर्मुखश्वासबहिर्मुखश्वासौ । मृत्योः । अ०
१ । ३० । ३ । मृङ्-त्युक् । प्राणत्यागात् । मरणात् । मा । माम् । पातुम् ।
युवां रक्षतम् । स्वाहा । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने-डा । वाङ्नाम-निघ० १ ।
११ । स्वाहेत्येतत् सु आहेति स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हवि-
र्जुहोतीति वा-निरु० ८ । २० । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

२—द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । हे आकाशभूमी ! तदन्तराल-

भावार्थ—सब दिशाओं में मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ २ ॥

सूर्यं चक्षु'षा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

सूर्यं । चक्षु'षा । मा । पाहि । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र में ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति संसार में स्थिर रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

अग्ने' वैश्वानर विश्वै'र्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

अग्ने' । वैश्वानर । विश्वै'ः । मा । देवैः । पाहि । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानर) हे सब को चलाने वाले (अग्ने) अग्नि ! (विश्वैः) सब (देवैः) इन्द्रियों [वा विद्वानों] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षाकर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीर में अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल, तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर में अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियों को पुष्ट करें और उत्तम पुरुषों के सत्संग से स्वस्थ और सुखी रहें ॥ ४ ॥

रालवर्तिन्यो दिशो विवाक्षताः । उपश्रुत्या । उप+श्रु-क्तिन् , उपश्रूयते । समोपश्रवणेन । पूर्णश्रवणशक्तिप्रदानेन । अन्यद् गतम् ॥

३—सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सर्वप्रेरक ! हे आदित्य ! चक्षुषा । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षुः कथने दर्शने च-उसि । नेत्रेण । रूपदर्शनशक्त्या ।

४—अग्ने । अ० १ । ६ । २ । अग्निः कस्मादग्रहणी भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणी-यतेऽङ्गयति सन्नममानोऽक्रोपनो भवतीति स्थौलाष्टीविः-निरु० ७ । १४ । हे शरीरस्थतेजोविशेष ! । वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा-निरु० ७ । २१ । हे सर्वेषा-मिन्द्रियादीनां नायक ! । विश्वैः । सर्वैः । देवैः । दिवु-अच् । इन्द्रियैः विद्वद्भिः ॥

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

विश्वम्-भर । विश्वेन । मा । भरसा । पाहि । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर अशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यों और शक्तियों का उपयोग करें और अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर सदा बलवान् रहकर (विश्वम्भर) से पोषक बनें और अनन्द भोगें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १७

१-७ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १-६ आसुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुर्युष्णिक् ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

ओजः । असि । ओजः । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर] तू (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (दाः=दद्याः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर अशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(ओजः) बल और प्रकाश का नाम है । वैद्यक में रसादि सात धातुओं से उत्पन्न, आठवें धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और

५-विश्वम्भर । संज्ञायां भृतृवृजि० । पा० ३ । २ । ४६ । इति विश्व + डुभृज धारणपोषयोः—खच् । अरुर्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । हे सर्वधारक ! जगत्पोषक ! विष्णो ! परमात्मन् ! विश्वेन । समस्तेन । भरसा । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति डुभृज्-असुन् । पोषणशक्त्या । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१-ओजः । अ० १ । १२ । १ । ओज बले, तेजसि-असुन् । बलम् ।

ज्ञानेन्द्रियों की निरोगता को (ओजः) कहते हैं । जैसे (ओजः) हमारे शरीरों के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यों को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्रायः यिलता है—अ० १६ । ६ ।

तेजोऽसि तेजो मायि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मायि धेहि ।
बलमसि बलं मायि धेहि । ओजोऽस्योजो मायि धेहि ।
मुन्युरसि मुन्युं मायि धेहि । रुहोऽसि रुहो मायि धेहि ॥ १ ॥

तू तेज है, मुझ में तेज धारण कर-इत्यादि ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

सहः । असि । सहः । मे । दाः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मा !] तू (सहः) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सहः) अत्मिक पराक्रम (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—अनन्त ब्रह्माण्डों का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है । ऐसा सोचकर विद्यादि उपायों से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ावे ॥ २ ॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

बलम् । असि । बलम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर ।] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में सब देवता, मनुष्य आदि समाजों का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढ़ा कर सामाजिक बल बढ़ावे ॥ ३ ॥

प्रकाशः । वैद्यके रसादिसप्तधातुसारजधातुविशेषः शरीरस्य बलपुष्टि-कारणम् । ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवम् । मे । मह्यम् । दाः । त्वं दद्याः, देयाः ।

२-सहः । यह अभिभवे, क्षमायाम्-असुन् । मानसिकबलं । पराक्रमः ।

३-बलम् । ल जीवने, दाने, बधे-पचाद्यच् । बलते विपत्तान् हन्तीति । सामान्यशक्तिः । सैन्यम् । सामाजिकं सामर्थ्यम् ॥

आयु'रस्यायु'र्मे दाः स्वाहा ॥४॥

आयु'ः । असि । आयुः' । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (आयुः) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयुः) आयु (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भावार्थ—ईश्वर ने हमें अन्न, बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बड़ा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढ़ावें ॥४॥

ओत्रंमसि ओत्रं मे दाः स्वाहा ॥५॥

ओत्रंम् । असि । ओत्रंम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (ओत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी डेर सुनता और संकटों को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरों के दुःखों का निवारण करें और वेदादि शास्त्रों का श्रवण करें ॥५॥

चक्षु'रसि चक्षु'र्मे दाः स्वाहा ॥६॥

चक्षु'ः । असि । चक्षु'ः । मे । दाः । स्वाहा ॥६॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (चक्षुः) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षुः) दर्शन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भावार्थ—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १० । ६० । १ । मैं भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्षः) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चंगो रक्खे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी, दूरदर्शी और न्यायकारी होवे ॥६॥

४—आयुः । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ—उसि, स च णित् । जीवनम् । जीवनकारणम् ।

५—ओत्रम् । हुयामाश्रुमसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति श्रु गतिश्रुयोः—अन् । श्रवणेन्द्रियम् । कर्णम् ॥

६—चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् दर्शौ—उसि । दृष्ट्या । दर्शन-शक्त्या ॥

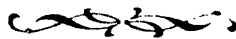
परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

परि-पाणम् । असि । परि-पाणम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को अथर्व० १६ । ६ । १ । में (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओं की शक्ति वाला कहा है । मनुष्य उस की अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यों में (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतुः) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्य कर्त्ता होवे ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥



अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः—१८ अक्षराणि ॥

शत्रुभ्यो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते—शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिये—इसका उपदेश ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

भ्रातृव्य-क्षयणम् । असि । भ्रातृव्य-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भ्रातृव्यक्षयणम्) बैरियों की नाशन शक्ति (असि) तू है,

७—परिपाणम् । परि + पा रक्षणे-ल्युट् । कृत्यचः । पा० ८ । ४ । २६ । इति नस्य शात्वम् । परितः सर्वतः पालनं रक्षणसामर्थ्यम् ॥

१—भ्रातृव्यक्षयणम् । नसृनेष्टृत्वष्टृ० । २ । ६६ । इति भ्राजृ दीतौ, वा भृञ्-धारणपोषणयोः—तृन् । ततः । व्यन् सपल्ले । पा । ४ । १ । १४५ । इति व्यन् ।

(मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) बैरियों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावाथ—(भ्रातृव्य, वह छली पुरुष है जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे । परमेश्वर वा राजा ऐसे दुर्गाचारियों का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषों का नाश कर के सुख से रहे ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

सपत्न-क्षयणम् । असि । सपत्न-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुओं की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुओं के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगे ॥ २ ॥

अरायक्षयणमस्यरायाचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

अराय-क्षयणम् । असि । अराय-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर सर्वशक्तिमान् और महाधनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्धार कर के मिटावे ॥ ३ ॥

क्षि क्षये—ल्युट् । भ्रातृव्या गुप्तशत्रुः, तस्य क्षयणं नाशनम् । भ्रातृव्यचातनम् । चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । गुप्तशत्रुनाशनम् । स्वाहा । अ० २ । १६ । १ । आशीर्वादोऽस्तु ॥

२—सपत्नक्षयणम् । सह+पत गतौ, ऐश्ये-न, सहस्य सः । एकार्ये पतन्ति, यतन्ते ते सत्ताः । तेषां प्रकटशत्रूणां क्षयणं नाशनम् । अन्यद् गतम् ॥

३—अरायक्षयणम् । रा+दाने-घञ्, युक् आगमः । नञ्त्वरूपः । अरायस्य निर्धनत्वस्य नाशनम् ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

पिशाच-क्षयणम् । असि । पिशाच-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मांस खाने वालों की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मांस खाने वालों के मिटाने का बल (दाः) दे । (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावें तथा हिंसक सिंह सर्पादि जीवों का भी नाश करें ॥ ४ ॥

सुदान्वाक्षयणमसि सुदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

सुदान्वा-क्षयणम् । असि । सुदान्वा-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सुदान्वाक्षयणम्) सदा चिह्नाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सुदान्वाचातनम्) सदा चिह्नाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महा दुःखी होकर आर्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं । परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान कर के, मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

४—पिशाचक्षयणम् । कर्मण्यम् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति शित-भागस्य लोपः, अशभागस्य शाचादेशः । पिशितं मांसम् अश्नन्तीति पिशाचाः कुविचाराः, अथवा, शारीरिकरोगा हिंसकाः प्राणिनो वा, तेषां नाशनम् ॥

५—सुदान्वाक्षयणम् । अ० २ । १४ । १ । सदानोनुवानां सर्वदा शब्दकरिकानां वा दानवै राक्षसैः सह वर्तमानानां दरिद्रतादिविपत्तीनां नाशनम् ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्ष-
राणि, ५ साम्नी जगती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो ३॒ स्मान् द्वेष्टि॑
यं वयं॑ द्विष्मः ॥ १ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । तप॒ । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यन्) जो (ते) तेरा
(तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर
(तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है,
[अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती
है, और कुप्रयोग से शारीरिक और वाह्य अग्नि दुःखदायी होती, और वही अग्नि
सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियों को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे
समझना चाहिये ॥ १ ॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य
भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुण जानने वालों में गुण होते हैं, वही निर्गुणी को पाकर दोष हो
जाते हैं ॥

१—अग्ने । अग्निनामतेजो विशेष ! ते । त्वदीयम् । तपः । तपद्वैश्वर्य-
योः—असुन् । प्रतापः । ऐश्वर्यम् । तेन । तपसा । तम् । दोषम् । प्रति ।
लक्ष्यीकृत्य । तप । प्रतापी भव । यः अस्मा- द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
इति व्याख्यातम्—अ० २ । ११ । ३ ॥

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो १ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

अग्ने' । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाश शक्ति है,
(तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो
(अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्य यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

अग्ने' । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति
है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो
(अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच्य यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

२—हरः । हञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु-असुन् । हरो हरतेज्योतिर्हर
उच्यते-निरु० ४ । १६ । हरति तमः । नाशनशक्तिः । हर । नाशय ॥

३—अर्चिः । अर्चिशुचिहृत्पिच्छादिङ्गिर्दिभ्य इति । उ० २ । १०८ । इति
अर्च पूजाप्रकाशयोः-इति । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । दीपनम् । ज्वाला ।
अर्च । ज्वलितो भव । दीप्यस्व ॥

अग्ने' । यत् । ते । शोचिः । तेन । तस् । प्रति । शोच । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यस् । वयस् । द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन-
शक्ति है, (तेन) उससे (तस्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे,
(यः) जो (अस्मान्) हम सेमन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने' । यत् । ते । तेजः । तेन । तस् । अतेजसम् । कृणु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यस् । वयस् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः)
तेज है, (तेन) उस से (तस्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे,
(यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यस्) जिससे
(वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-५ ॥ वायुर्देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

४—शोचिः । अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । इति ईशुचिर् शौचविशरणयोः-
इति । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शुच्यत्यनेनेति । शोधनसामर्थ्यम् । शोच ।
शोचय, शोधय ॥

५—तेजः । अ० १ । ३५ । ३ । तिज निशाने, तेज निशानपालनयोः—
असुन् । कान्तिः । अतेजसम् । तिज, तेज-असुन् । नञ्समासः । कान्ति-
रहितम् । निस्तेजस्कम् । कृणु । कुरु ॥

वायो इति । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व !] (यत्) जो (ते) तेरा
(तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप)
प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा]
(यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द
बढ़ाता है । सू० १६ म० १ देखें ॥ १ ॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः)
नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर
दे (यः) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च्य यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी
(अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च)
प्रदात हां (यः) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

१—वायो । कृवापांजिमि० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयाः—उष्ण
आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । वायुर्वातेर्वैतेर्वा स्याद्
गतिकर्मणः—निरु० १० । १ । हे पवन ! अन्यद् गतम्, सू० १६ ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

वायो यत्ते शोचिरतेन तं प्रति शोच यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो । इति । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा
(शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति
शोच) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा
(तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज
(कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा]
(यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो ३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । तुप् । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि॑ । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [आदित्य मण्डल] ! (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से [वयम्] हम [द्विष्मः] अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है । किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी, और सुप्रयोग से सुखदायी होता है ॥ १ ॥

सूर्य॑ यत्ते हर॒स्तेन॑ तं प्रति॑ हर॒ यो ३' स्मान् द्वेष्टि॑
यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते । हरः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । हर॒ । यः । अस्मान् ।
द्वेष्टि॑ । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से.....मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २

सूर्य॑ यत्तेऽर्चि॒स्तेन॑ तं प्रत्यर्च॑ यो ३' स्मान् द्वेष्टि॑ यं
वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते । अर्चिः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अर्च॑ । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः)

१-सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सरणील ! हे प्रेरणीत ! आदित्य !
अन्यदुपरिगतम् ॥

२, ३ ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो,
(यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सूर्य॑ यत्ते॑ शोचिस्तेन॑ तं प्रति॑ शोच॑ यो ३॑ स्मान् द्वेष्टि॑
यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते । शोचिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । शोच॑ । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः)
शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे,
(यः) जो (अस्मान्) हमसे...मन्त्र ॥ १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

सूर्य॑ यत्ते॑ तेजस्तेन॑ तम॑तेजसं॑ कृणु॑ यो ३॑ स्मान्
द्वेष्टि॑ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते । तेजः । तेन॑ । तम् । अ॒तेज॑सम् । कृणु॑ । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः)
तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) जिस्तेज (कृणु)
करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस
से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २२

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः॥

कुप्रयोगत्यागोद्देशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

चन्द्र॑ यत्ते॑ तपस्तेन॑ तं प्रति॑ तप॑ यो ३॑ स्मान् द्वेष्टि॑
यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

चन्द्र' । यत् । ते । तपः' । तेन' । तम् । प्रति' । तप । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि' । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा
(तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस (दोष) पर (तप) प्रतापी
हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्)
हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावतः अपनी किरणों से अनिष्टों
को हटा कर अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट कर के प्राणियों को आनन्द देता है ।
परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोड़े आदि
पशु रोगी हो जाते हैं । इस कुप्रयोग का त्याग कर के सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त
करना चाहिये ॥ १ ॥

चन्द्रु यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो '३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥२॥

चन्द्र' । यत् । ते । हरः' । तेन' । तम् । प्रति' । हर । यः । अस्मान्
द्वेष्टि' । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः)
नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] का (प्रति हर) नाश कर
डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

चन्द्रु यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च' यो '३ स्मान् द्वेष्टि
यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र' । यत् । ते । अर्चिः' । तेन' । तम् । प्रति' । अर्च' । यः
अस्मान् । द्वेष्टि' । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

चन्द्रु यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोचु यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचु । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

चन्द्रु यते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—५ ॥ आपो देवताः । १—४ साम्नी जगती, ५ स्वराद्
साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग त्याग के लिये उपदेश ॥

आपो यद् वृस्तपस्तेन तं प्रति तपत् यो ३ स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत् । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [जल पदार्थ !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत्) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुःख का कारण होता है, ऐसे ही राजा सामाजिक नियमों के विरोधी दुष्टों का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥ १ ॥

आपो यद् वो हरतेन तं प्रति हरत् यो अस्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत् । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत्) नाश कर डालो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत् यो अस्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत् ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत्) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति' शोचत् यो ३' स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत् ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारी (शोचिः) शोधन
शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध करदो, (यः)
जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

आपो यद् वुस्तेजस्तेन तमते जसं कृणुत् यो ३' स्मान्
द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अते जसम् । कृणुत् ।
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तेजः) तेज है,
(तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत्) करदो, (यः)
जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्)
हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ ईश्वरो देवता । पूर्वार्धाः-१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्
२३; ३, ४ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७
भुरिक् साम्नी बृहती छन्दः, १८; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती
१८ अक्षराणि ॥

म० १-४ । कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः-म० १-४
कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

शेरभक् शेरभ पुनर्वो यन्तुयातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।

यस्य स्थ तमत्तु यो वः प्राहैत् तमत्तु स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेरभक् । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।

किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्तु । यः । वः । प्र-अहैत् ।

तम् । अत्तु । स्वा । मांसानि । अत्तु ॥ १ ॥

भावार्थ—(शेरभक्) अरे बधकपन में मन लगाने वाले ! (शेरभ) अरे रंग में भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ाये, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावे । तुम (यस्य) जिस के [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्तु) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्=प्राहैषीत्) भेजा है, (तम्) उस को (अत्तु) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्तु) खाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नीति निपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दुःखदायी हो, और उसके मनुष्य उसकी कुनीतियों को जान कर उस का ही नाश कर दें, और वह लोग

१—शेरभक् । शसु बधे-ड । कृआदिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५।३५। इति रभङ् वत्सुकीभावे=अविचारप्रवृत्तौ—वुन् । शसति हन्ति येनेति शः । शस्त्रं हननं बधो वा । शे बधे । रभते उत्सुकीभवतीति शेरभक्, तत्सम्बुद्धौ । अलुक् समासः । हे हिंसायामुत्सुक । शेरभ । वृथिवपिभ्यां रन् । उ० २।२७। इति शीङ् स्वप्ने-रन् । ओभञ्जो मोटने-ड । शेवं सुखनाम-निघ० ३।६। शेरं शेवं सुखं भनक्तीति शेरभः सुखमञ्जकः, तत्सम्बुद्धौ । पुनः । पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्त्वम् । द्वितीय-वारे । भेदे । निवृत्य । वः । युष्माकम् । यन्तु । इण् गतौ । गच्छन्तु । यातवः । अ० १।७।१। यत ताडने-उण् । ताडनाः । पीडाः । हेतिः । अ० १।१३।३। हन बधे-क्तिन् । हननम् । वज्रः । किमीदिनः । अ० १।७।१। किम्+इदम्-इनि । पिशुनाः । यस्य । अस्मद्विरोधिनः । स्थ । सहायका भवथ । तम् । विरोधिनम् । अत्तु । भक्षयत । वः । युष्मान् ।

आपस में विरोध करके परस्पर मार डालें । इसी प्रकार आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्बलता और दोषों और उन से उत्पन्न दुष्ट फलों को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हें एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (स्वा) पद के स्थान में (सा) पद है और उसका अर्थ [तस्य शत्रोः यद्वा सा हेतिः] ऐसा किया है, हमारी समझ में बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रों में पुल्लिङ्ग शब्दों का, और पिछले पांच मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गों का संबोधन है ॥

शेवृ'धक् शेवृ'ध पुन'र्वी यन्तु यातवः पुन'हे'तिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तम'त्त यो वः प्राहै'त् तम'त्त स्वा मांसान्य'त्त ॥२॥
शेवृ'धक् । शेवृ'ध । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हे तिः ।
किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहै'त्
तम् । अत्त । स्वा । मांसानि' । अत्त ॥ २ ॥

भावार्थ—(शेवृ'धक्) अरे बध्मक पन में बढ़ने वाले ! (शेवृ'ध) अरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट] ! और (किमीदिनः) अरे लुनरे लोगों ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ाये और (हेतिः) (चोट)...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

प्र-अहै'त् । हि गतां-अन्तर्भावितव्यर्थः । लुडि सिचि वृद्धौ । बहुलं ह्वन्दसि । पा ७ । ३ । ६७ । इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे । स्कोः संयोगा-द्योरन्ते० । पा० ८ । २ । २६ । इति सलोपः । प्राहैषीत् । प्रेषितवान् । स्वा । खानि । मांसानि । अ० १ । ११ । ४ । मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः । पिशितानि ॥

२-शेवृ'धक् । शसु वधे-ड । बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ३७ । इति वृधु वृद्धौ वृध दीप्तौ-कुन् । शे शस्त्रे हनने वधे वा वर्धते दीप्यते वा स शेवृ'धक् । तत्स-न्वद्धौ । शेवृ'ध । सावसेऽर्हन् । उ० २ । ६६ । इति शेवृ सेवने-अर्हन् । धक् नाशने-डप्रत्ययः । शेवं सुखनाम-निघं ३ । ६ । शेवृ शेवं सुखं धक्कयतीति शेवृ'धः । हे सुखनाशक । अन्यत् पूर्ववत् ॥

म्रोकानु'म्रोक् पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमन्तु यो वः प्राहैत् तमन्तु स्वा मांसान्यत्त ॥ ३ ॥

म्रोक् । अनु'-म्रोक् । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अन्तु । यः । वः । म्र-अहैत् ।
तम् । अन्तु । स्वा । मांसानि । अन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(म्रोक्) अरे चोर ! (अनुम्रोक्) अरे चोरों के साथी ! (किमी-
दिनः) अरे तुम लुतरे लोंगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट
(पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सर्पानु'सर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमन्तु यो वः प्राहैत् तमन्तु स्वा मांसान्यत्त ॥ ४ ॥

सर्प । अनु'-सर्प । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अन्तु । यः । वः । म्र-अहैत् ।
तम् । अन्तु । स्वा । मांसानि । अन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सर्प) अरे सांप [क्रूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे सापों के
साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोंगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें
और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ...म० १ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ४ ॥

३-म्रोक् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मुच गतौ-
कर्तरि घ प्रत्ययः । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इतिः कुत्वम् । मोचति
धनादिकम् अपहृत्य लुप्तः सन् गच्छतीति म्रोक्—इति सायणः । हे चौर, स्तेच्छ ।
अनुम्रोक् । म्रोकान् अनु गच्छतीति अनुम्रोक् । चौरसहायक ! ॥

४-सर्प—सृप्लट गतौ पचाद्यच् । सर्पति इतस्ततो गच्छीतीति सर्पः हे
हिंस्रजन्तुविशेष ! तद्वत् क्रूरस्वभाव पुरुष ! अनु सर्प । सर्पान् अनुसृत्य सह
व्याप्य गच्छतीति अनुसर्पः । हे सर्पानुसारिन् । हिंस्रसहायक ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमी-
दिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।

तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जूर्णि) अरी जूड़ी [जाड़े के ज्वर] ! (किमीदिनीः=०न्यः)
अरी तुम लुनरियो ! [कुवासनाओं !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें
और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चलो जावें.....
म० १ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओं और उन के कारण
को जान कर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय
होकर संसार का उपकार करके आनन्दित होता है ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

उपब्दे । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमी-
दिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।

तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उपब्दे) अरी चिघारने वाली ! और (किमीदिनीः=०—न्यः)

५—जूर्णि । वीज्याज्वगदिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति ज्वर रोगे-नि ।
ज्वरत्वरस्त्रिवि० । पा० ६ । ४ । २० । इति वकारोपधयोरुद् । शोतज्वरवद्
दुःखप्रदकुवासने । किमीदिनीः । ऋधेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति
ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । किमी-
दिन्यः । पिशुन्यः ।

६ - उपब्दे । सर्वधातुभ्य इत् । उ० ४ । ११८ । इति उपपूर्वात् पद गतौ,

अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लोट लौट कर (यन्तु) चली जावें... म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुवासनाओं और कुचिन्ताओं से मनुष्य कठोरवादी हो जाता है ॥ ६ ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्तयो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ७ ॥
अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।
तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अर्जुनि) अरे कुटिनी [दूती !] (किमीदिनीः=न्यः)
अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें...
म० ५ ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कुवासनाओं को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना
है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥ ७ ॥

भरुजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदनीः
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥ ८ ॥
भरुजि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।
तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भरुजि=भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदड़नी, लोमड़ी] !

वा वद वाचि—इन् । यद्वा, कृत्यल्लुटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति बहुल-
वचनान् । उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । इति दो अवखण्डने-कि । पृषो-
दरादित्वाद् रूपसिद्धिः । उपब्धिः, याङ् नाम-निघ० १ । ११ । उपेत्य घति
खण्डयतीति । हे क्रूशशब्दकारिणि ॥

७—अर्जुनि । अर्जुनि लुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज लाभे, संस्कारे
च-उनन् । पित्रौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । डीप् । हे कुटिनि ॥

८—भरुजि । भ + रुजो भङ्गे, वा रुज हिंसायाम्-क । भ-इति शब्देन रुज-

(किमीदनी : = ०-न्यः) अरी तुम लुतरी [कुवासनाश्रो !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट २ कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिस की [साधिनि] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ (स्वा = स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ ८)

भावार्थ—(भरुजी वा भरुजी) गीदड़नी को कहते हैं । जैसे गीदड़नी छल कपट कर के पीड़ा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाओं के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है । कुवासनाओं के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये—म० ५ देखो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(भरुजि) पद के स्थान में सायणभाष्य में [भरुचि] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-५ ॥ पृश्निपर्णी देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशायोपदेशः—शत्रुओं के नाश के लिये उपदेश ॥

शं नो' देवी पृश्निपर्ण्यं निऋत्या अकः ।

उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥ १ ॥

शम् । नः । देवी । पृश्नि-पर्णी । अशुस् । निः-ऋत्यै । अकः ।

उग्रा । हि । कण्व-जम्भनी । ताम् । अभक्षि । सहस्वतीम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर

तीति भरुजः क्षुद्रशृगालः—इति शब्दकल्पद्रुमकोषे । जातेरर्खाविषयादयोपधात् । पा० ४ । १ । ६३ । इति डाप्, उकारस्य छान्दसो दीर्घः । हे क्षुद्रशृगालि । तद्वत् कपटिनि ॥

१-शम् । सुखम् । नः । अस्मभ्यम् । देवी । दीप्यमाना । पृश्निपर्णी ।

पृश्निः—इति व्याख्यातम्, अ० २ । १ । १ । स्पृश स्पर्शे—नि, सलोपः । पृश्निः = सूर्यः, पृथिवी । धापृशस्यजयतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पृ पालन-पूरणयोः—न । पिपत्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णं पत्रं वा । स्त्रियां ङीष् । सूर्यस्य पृथिव्या वा परमेश्वरस्य पालनशक्तिः । सूर्यवत् पृथिवी वद्वा पर्णानि पत्राणि यस्याः सा पृश्निपर्णी, ओषधिरूपा परमेश्वरशक्तिः । पृश्निपर्णी चित्रार्णी ओषधिः—इति सायणः । पृश्नि स्वत्वं पर्णमस्याः—जात-

शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियों के] लिये (शम्) सुख, और (निःकृत्यै) दुःखदायिनी अलक्ष्मी, महामारी आदि पीड़ा के लिये (अशम्) दुःख (अकः = अकार्षीत्) किया है । (हि) क्योंकि वह शक्ति (उग्रा) प्रचंड और (कण्वजम्भनी) पाप की नाश करने वाला है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्वतीम्) बलवती को (अभक्षि) मैं ने भजा वा पूजा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि ओषधियां अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती हैं, वैसे हा परमेश्वर की सृष्टि में सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते हैं । परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियों को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनों को दुःख देता है । उस दयालु और प्रचंड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगें ॥

टिप्पणी—(पृश्नि) शब्द का अर्थ सूर्य है—निरु० २ । २३, और पृथिवी, छोटा और चित्र भी है, और (पर्ण) का अर्थ पालन, और पत्ते हैं । सायणाचार्य ने (पृश्निपर्णी) का अर्थ चित्रपर्णी ओषधि लिखा है । शब्दकल्पद्रुमकोष में वर्णन है कि (पृश्निपर्णी) छोटे पत्ते वाली लता विशेष है, उसे बंगला में 'चाकुलिया' और नागरी में "चक्रौत्" कहते हैं, इसके गुण कटुत्व, और अतीसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, और दाह नाशक हैं ॥

विशेषः, चाकुलिया इति बङ्गभाषा, चक्रौत् इति हिन्दी भाषा, अस्या गुणाः । कटुत्वम्, अतीसारकासवातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहनाशित्वञ्च—इति शब्दकल्पद्रुमे । अशम् । अशान्तिम् । दुःखम् । निःकृत्यै । अ० १ । ३१ । २ । निः+ ऋ हिंसने—क्तिन् । अलक्ष्म्यै, निर्धनतायै । अकः । डुकृञ् करणे लुङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेलुक् । गुणे । हल्ङ्याभ्यो० । पा० ६ । १ । ६८ । इति तिलापः । अकार्षीत्, कृतवती । उग्रा । अ० १ । १० । १ । उच्च समवाये-रक् । प्रचण्डा । हि । यस्मात् कारणात् । कण्वजम्भनी । अश-प्रुषिलट्टिकणिखटिविशिभ्यः कन् । उ० १ । १५१ । इति कण गतौ, आर्तस्वरे—कन् । कण्यते अपोद्यते तत् कण्वं पापम् । जभि नष्टीकरणे—ल्युट्, डीप् । पापस्य नाशयित्री । अभक्षि । भज सेवायाम्, लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचनम् । अहं सेवितवानस्मि । सहस्वतीम् । सहस्-मनुप् डीष् । तसौ मत्वर्थे । पा० १ । ४ । १६ । इति भत्वेन अदत्वाद् रुत्वाभावः । अभिमवनशीलाम् । बलवतीम् ॥

सहमानेयं प्रथुमा पृश्निपण्यं जायत ।

तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

सहमाना । इयम् । प्रथुमा । प्रश्नि-पण्यी । अजायत । तया ।
अहम् । दुः-नाम्नाम् । शिरः । वृश्चामि । शकुनेः-इव ॥२॥

भाष्यार्थ—(सहमाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपण्यी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्नेवाली आपधि रूप परमेश्वर शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुयी है । (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषों के (शिरः) शिर को (वृश्चामि) तोड़ डालूँ, (इव) जैसे (शकुनेः) पक्षी के [शिर को तोड़ डालते हैं] ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर अपने शत्रुओं और दोषों का नाश करके आनन्द भोगे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(दुर्णाम्) शब्द कल्पद्रुम कोष में (अर्श) अर्थात् बवासीर रोग का भी नाम है ।

२-सहनाना । सहिर् अभिभवे—शानच् । दोषान् अभिभवन्ती । इयम् । समीपवर्तिनी प्रश्निपण्यी । प्रथमा । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ क्यताौ —अमच्, टाप् । प्रख्याता । मुख्या । सृष्टेः प्राग्भवा । पृश्निपण्यी । म० १ । अजायत । जनी प्रादुर्भावे-लङ् । श्राजनोर्जा पा० । ७ । ३ । ७६ । इति, जा इत्या देशः । प्रादुर्भवत् । दुर्णाम्नाम् । दुर्दुष्टं निन्दितं नाम येषाम् । दुष्टदोषा-नाम् । दुर्णाम्, अर्शो रोगः—इति शब्दकल्पद्रुमे । शिरः । श्रयते स्वाङ्गे शिरः क्तिञ्च । उ० ४ । १६४ । इति शृङ् सेवने-असुन्, स च कित्, धातोः शिरादेशश्च । मस्तकम् । वृश्चामि । वृश्च् छेदे । छिनधि । शकुनेरिव । शक्रेरुनोन्तो-न्युनयः । उ० ३ । ४६ । इति शङ् शकौ-उनि । यथा पक्षिणः शिरः खङ्गादिकं घनापि छिद्यते ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति ।

गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥ ३ ॥

अरायस् । असृक्-पावानम् । यः । च । स्फातिम् । जिहीर्षति ।

गर्भ-अदम् । कण्वम् । नाशय । पृश्नि-पर्णि । सहस्व । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ने वाली ओपधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (यः) जो [गंग] (स्फातिम्) बड़वार को (जिहीर्षति) छानना चाहें, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [गंग] को (सहस्व) जात ले (च) और (नाशय) मिटादे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिन आलस्यादि दोषों और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मों से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलीन होकर वंशच्छेद करें। ऐसे दोषों को हम सर्वथा त्यागें, और उस (पृश्निपर्णी) सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक, अखण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३-अरायम् । रादानादानयोः-घञ् युक् आगमः । नञ्समासः । निर्धनताम् । असृक्पावानम् । असृक् लोपे, यद्वा असञ् दीप्तिग्रहणगतिषु-ऋजिप्रन्ययः । अस्यते क्षिप्यते नाडीभिः । यद्वा असति शरीरं येन, यद्वा गृह्णाति गच्छति वा यत्तद् असृक्, रक्तम् । आतोमनिन्कनिब्धनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ इति पा पाने वनिप् । रुधिरस्य पानशालं नाशकम् । स्फातिम् । स्फायी वृद्धौ-किन् । वृद्धिम् । जिहीर्षति । हञ् हरणे-सनि लट् । हतुं नाशयितुमिच्छति उपक्रमते । गर्भादम् । अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । इति गर्भ + अद भक्षणे-विट् । गर्भस्य भक्षकम् । कण्वम् । व्याख्यतम् (कण्वजम्भनी) इति शब्दे-म० १ । कण्वते अपोद्यते इति कण्वं पापम् । अर्श आदिभ्योऽच् पा० ४ । २ । १२७ इति मत्वर्थे अच् । पापयुक्तं दुःखकरं रोगम् । नाशय । मारय । प्रश्निपर्णि । म० १ । सहस्व । अभिभव ॥

गिरिमे॑नाँ आ वै॒शय॑ क॒रवान् जी॒वित॒योप॑नान् ।
तांस्त्वं दे॑वि पृ॒श्निप॑र्य॒ग्नि॒रिवानु॑द॒हन्नि॑हि ॥ ४ ॥

गिरि॑म् । ए॒नान् । आ । वै॒शय॑ । क॒रवान् । जी॒वित॒-योप॑नान् ।
तान् । त्वम् । दे॒वि । पृ॒श्नि-प॑र्य॒ग्नि॒-इव॑ । अ॒नु-द॒हन् ।
इ॒हि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्यि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वर शक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (करवान्) पाप रोगों को (गिरिम्) पहाड़ [अगम्य स्थान] में (आ वैशय) गाड़ दे । और (त्वम्) तू , (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्निःइव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुँच ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन (करवान्) आत्म दोषों से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पड़े और विघ्नों में फँसकर अपकीर्ति मिले, उन दुःखदायी दोषों को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पातञ्जल, योगदर्शन, पाद १ सूत्र ३० में यह विघ्न वर्णन किये हैं ।

व्याधि॑स्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥

४—गिरि॑म् । कृ॒गृशृ॑पृ॒कुटि॑० । उ० ४ । १४३ । इति गृ निगरणे, अथवा गृणातिः स्तुतिकर्मा—निरु० ३ । ५ । इप्रत्ययः, किच्च, गिरति धारयति पृथिवीं प्रियते स्तूयते गुरुत्वाद्वा । पर्वतम् । अगम्यस्थानम् । ए॒नान् । समीपस्थान्, प्रसिद्धान्, आ+वै॒शय॑ । द्विकर्मकः । प्रवेशय । स्थापय । क॒रवान् । म० ३ । दुःखकरान् दोषान् । जी॒वित॒योप॑नान् । जीव प्राणैः-भावे क । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति युप विमोहने-कर्तरि ल्युट् । जीव-नस्य विमोहकान् । अ॒नुद॒हन् । अनुक्रमेण भस्मीकुर्वन् । इ॒हि । इण् गतौ-लाट् । गच्छ । प्राप्नुहि । आक्रमस्व । अन्यद् गतम् ॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(संशय) द्विविधा, ४—(प्रमाद) भूल, ५—(आलस्य) ढीलापन, ६—(अचिरति) जंजाल में फँस जाना, ७—(अन्तिदर्शन) भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्ध-भूमिकत्व) ठिकाने का न पाना, और ९—(अनवस्थितत्वानि) अटढ़ता, (चित्तविक्षेपाः) चित्त की हलचलें हैं, और (ते अन्तरालाः) वे विघ्न हैं ॥

पराच एनान् प्र णुद कण्वान् जीवितुयोपनान् ।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥५॥

पराचः । एनान् । प्र । णुद । कण्वान् । जीवितु-योपनान् ।
तमांसि । यत्र । गच्छन्ति । तत् । क्रव्य-अदः । अजीगमम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगों को (पराचः) आँधे मुख (प्र णुद) ढकेल दे । (यत्र) जहाँ (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते हैं, (तत् = तत्र) वहाँ (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] को (अजीगमम्) मैं ने पहुँचा दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अन्धेरे कारागार में डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और पथ्य पदार्थों के सेवन से आलस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करें ॥ ५ ॥

५—पराचः । परा प्रातिलोम्ये, अनादरे, न्यग्भावे, तत्पूर्वावद् अञ्चु गति-पूजनयोः—किन्, शसि रूपम् । पराङ्मुखान्, विमुखान् । एनान् । समीपस्थान् । अस्माकं कुसंस्कारोत्पन्नान् । प्र + णुद । णुद प्रेरणे । प्रेरय । अपसारय । तमांसि । तमिर् खेदे, इच्छायाम्—असुन् । क्लेशहेतुकाः । अन्धकाराः । यत्र । यत् स्थानम् । गच्छन्ति । व्याप्नुवन्ति । तत् । निःसूर्यस्थानम् । क्रव्यादः । क्रव भये—यत् । रत्नयोरेकत्वात् । क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६६ । क्रव्योपदाद् अद भक्षणे—विद् । मांसभक्षकान् कुष्ठादिरोगान् । अजीगमम् । गमेर्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं प्रेरितवानस्मि ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—५ ॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १-२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेशः—मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष ।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता
नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । परा-ईयुः । वायुः । येषाम् ।
सह-चारम् । जुजोष । त्वष्टा । येषाम् । रूप-धेयानि । वेद ।
अस्मिन् । तान् । गो-स्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह)
यहां (आ यन्तु) आ जावें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं । (येषाम्)
जिन के (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोष) अंगीकार
किया है । (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (येषाम्)
जिन के (रूपधेयानि) रूपों [शारिरिक रूपों और मांसिक स्वभावों] को
(वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा
सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे)
[गोठ, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रख ॥ १ ॥

१—इह । अत्र गोष्ठे सभायां वा । आ+यन्तु । इण् गतौ । आग-
च्छन्तु । पशवः । अ० १ । १५ । २ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशवः =
व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । मनुष्यगवादिप्राणिनः ।
जीवाः । परा-ईयुः । इण् गतौ—लिट् । विमुखा जग्मुः । वायुः । अ २।२०।१।
पवनः । येषाम् । पशूनाम् । सहचारम् । सह+चर गतौ—घञ् । सङ्गमनम् ।
जुजोष । जुषी प्रीतिसेवनयोः—लिट्, छन्दसि परस्मैपदम् । जुजुषे ।
सवतेस्म । त्वष्टा । अ० । २।५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे—तृन् । व्यवहारतनूकर्ता ।

भावार्थ—इस सूक्त में (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है । “ पशु व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले हैं—” निरु० ११ । २६ । अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि । जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुये गौ आदि पशुओं को प्रेम के साथ बाड़े में लाकर बांधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितों और सम्बन्धियों को, जो वायु लगने अर्थात् कुसंस्कार पाने से भटक गये हों, उपकार और प्रीति की दृष्टि से ऐकत्र करके सभा में नियमबद्ध करे ॥ १ ॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ में प्रायः वेद में आया है, जैसे—

त्रमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये
जनित्राः ॥

अ० २ । २८ । ३ ॥

तू पृथ्वी के पशुओं [प्राणियों] का राजा है जो उत्पन्न हुये हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे ।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥

अ० २ । ३४ । १ ।

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओं का स्वामी है ॥

इमंगोष्ठं पशवः सं स्त्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन् ।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजुग्मुषोऽनुमते नि यच्छ २॥

सूक्ष्मदर्शी पुरुषः । रूपधेयानि । भागरूपनामभ्यो धेयः । वार्त्तिकम् । पा० ५ । ४ । २५ । नानारूपाणि । विविधस्वभावान् । वेद । विद ज्ञाने-लट् । वेत्ति । जानाति । अस्मिन् । निकटस्थे । गोष्ठे । अ० २ । १४ । २ । गोशालायाम् सभायाम् । सविता । अ० १ । १८ । २ । पशुप्रेरकः । सभाप्रधानः । नि + यच्छतु । इषुगमियमां छः । पा० ७ । ३ । ७७ । इति निपूर्वाद् यमेः शप्ति छत्थम् । नियमयतु नियमे स्थापयतु ॥

इमम् । गो-स्थम् । पशवः । सम् । स्रवन्तु । वृहस्पतिः ।
आ । नयतु । प्र-जानन् । सिनीवाली । नयतु । आ ।
अग्रम् । एषाम् । आ-जग्मुषः । अनु-मते । नि । युच्छ ॥२॥

भषार्थ—(पशवः) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्)
इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् स्रवन्तु)
आ आकर मिलें, और वह (वृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी [गोपाल वा
सभापति] (प्रजानन्) पहचान २ कर [उन को] (आ नयतु) ले आवे ।
(सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप]
(एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे । (अनुमते) हे
अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुषः) इन आये हुआ
को (नियच्छ) नियम में बांध कर रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सायंकाल में गौ आदि मिल कर अपने गोवाले के पास
आते हैं, और (वृहस्पति) बड़े उपकारी गौ आदि का रक्षक उन को ढूँढ़ २ कर
जाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उन को अन्न तृण आदि देकर
प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बांध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभा-

२—इमम् । शुभगुणैर्निर्दिष्टं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । गोष्ठम् ।
गौर्वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । गवि वाचि तिष्ठतीति गोष्ठः । स्थिरवाचं दृढ-
वचनं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । पशवः । म० १ । सम्+स्रवन्तु ।
सु गतौ । समेत्य गच्छन्तु । वृहस्पतिः । अ० २ । १३ । २ । वृहतां महतां
प्राणिमां पाता रक्षिता । गोपः सभापतिर्वा । आनयतु । आगमयतु ।
प्रजानन् । प्र+ज्ञा-शतृ । विद्वान् । सिनीवाली । इण्सिञ्जिदीकु-
प्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इति षिञ् बन्धने-नक्, स्त्रियां ङीप् । बल संवरणे,
यद्वा, बल जीवने, दाने-अण्, ङीप् । सिनीवाली, सिनमन्नं भवति सिनाति
भूतानि बालं पर्व वृणोतेस्नस्मिन्नन्नवती । निरु० ११ । ३१ । सिनीं सिन-
मन्नं वलति धारयतीति । अन्नधर्त्री । अन्नवती गृहपत्नी नीतिविद्या वा ।
आ+नयतु । छन्दसि परेऽपि । पा० १ । ४ । २१ । इति उपसर्गस्य परत्वम् ।

पति अपने संगठित सभासदों को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उन का आदर सत्कार कर के नियम में रक्खे ॥ २ ॥

(अनुमते) पद के स्थान में सायणभाष्य में (अनुगते] व्याख्यात है ॥

सं सं स्त्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

सम् । सम् । स्त्रवन्तु । पशवः । सम् । अश्वाः । सम् । ऊं
इति । पूरुषाः । सम् । धान्यस्य । या । स्फातिः । सम् ।
स्त्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

भषार्थ—(पशवः) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वाः) घोड़े (सम्) मिल कर, (उ) और (पूरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्त्रवन्तु) चलें । और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम् = सम् स्त्रवतु) मिल कर चले । (संस्त्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) में ग्रहण करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ

आगमयतु । अग्रम् । ऋज्जेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति अग्नि गतौ-रन् ।
अग्रतः । पुरस्तात् । आजग्मुषः । आङ्+गमेः कसुः । वसोः संप्रसारणम् ।
पा० । ६ । ४ । १३ । इति शसि संप्रसारणम् । आगतान् । पशून् । अनुमते ।
अनु+मन बोधे-किन् । अनुमतिरनुमननात्-निरु० ११ । २६ । अनुकूलबुद्धियुक्ते ।
नियच्छ । नियमय ॥

३—सम् । सम्यक् । यथाविधि । समेय । स्त्रवन्तु । गच्छन्तु
पशवः । गवाक्षयः । अश्वाः । अ० १ । १६ । ४ । घोटाः । पूरुषाः ।
अ० १ । १६ । ४ । मनुष्याः । धान्यस्य । दधातेर्यञुट् च । उ० ५ । ४८ । इति
दुधाज् धारणपोषणयोः-यत् नुट् च । अन्नस्य । स्फातिः । अ० २ । २५ । ३ ।

मिल कर रहें, और प्रयत्न पूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करें, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान और भरण पोषण की यथोचित सुधि रखे ॥ ३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । । सम् । आज्येन । बलम् ।

रसम् । सम्-सिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः ।

मयि । गो-पेतौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यों पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मैं सींचता हूँ, और [उन मनुष्यों के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) घृत से (सम्) यथानियम [सींचता हूँ] । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (संसिक्ताः) अच्छे प्रकार सिंचे रहें, [इस लिये] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति में (गावः) गौयें (ध्रुवाः) स्थायी [रहें] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न से गौओं की रक्षा कर के उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषों के शारीरिक धातुओं को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढ़ा कर शूर वीर बनावें । इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदों को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते हैं, वही नीति निपुण संसार की वृद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

समृद्धिः । संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि । अ० १ । १५ । १ । आर्द्रीभाव-
युक्तेन भक्त्या अन्नेन वा स्वीकरोमि ॥

४—सम् । यथाविधि । सिञ्चामि । पित्र सेचने । आर्द्रीकरोमि ।
वर्धयामि । गवाम् । गमेडोः । उ० २ । ६७ । घेतूनाम् । क्षीरम् । अ० १ ।
१५ । ४ । घस्तु = अद् भक्षणे—ईरन् । दुग्धम् । आज्येन । अ० १ । ७ । २ ।
घृतेन । बलम् । अ० १ । १ । १ । सामर्थ्यम् । रसम् । अ० १ । ५ । २ ।
सारम् । वीर्यम् । देहस्थं भुक्ताज्जादेः परिणामम् । संसिक्ताः । पित्र-क्त ।

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से [दूधों नहाओ पूर्ण फलो] इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ ह॑रामि गवां क्षीरमाह॑र्षं धान्यं १ रस॑म् ।

आह॑ता अ॒स्माकं वीरा आ पत्नी॑रिदमस्त॑कम् ॥ ५ ॥

आ । ह॑रामि । गवा॑म् । क्षी॒रम् । आ । अ॒हार्ष॑म् । धान्य॑म् । रस॑म् । आ-ह॑ताः । अ॒स्माक॑म् । वी॒राः । आ । पत्नीः । इ॒दम् । अस्त॑कम् ॥ ५ ॥

भषार्थ—(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मैं प्राप्त करूँ, [क्योंकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैंने पाया है । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष (आहताः) लाये गये हैं, और (पत्नीः=पत्न्यः) पत्नियाँ भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर में (आ=आहताः) लायी गयी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा गौओं की रक्षा करनी चाहिये, जिस से सब स्त्री पुरुष दूध स्त्री का सेवन करके दृष्ट पुष्ट होकर शूर वीर रहें और घरों में सब प्रकार की सम्पत्ति बढ़ती जावे ॥ ५ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

घृतदुग्धादिना संसिक्तशरीराः, दृढगात्राः सन्तु । वीराः । अ० १ । १६ । ६ । शूरपुरुषाः । ध्रुवाः । स्रुवः कः । उ० २ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्ये—क । दृढाः । स्थिराः । गावः । धेनवः । मयि । उपासके । धार्मिके पुरुषे । गोपतौ । गोस्वामिनि ॥

५—आहरामि । आनयामि । गवां क्षीरम् । म० ४ । धेनूनां दुग्धम् । आहार्षम् । हज् हरणे—लुङ् । आनीतवानस्मि । धान्यम् । म० ३ । अन्नम् रसम् । म० ४ । शारीरिकधातुम् । आहताः । आनीताः । वीराः । अ० १ । २६ । ६ । पराक्रमिणः पुरुषाः । पत्नीः । अ० २ । १२ । १ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पत्न्यः । अस्तकम् । हसिमृगिण्० । उ० ३ । २६ । इति अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु—तन्, स्वार्थे कः । अस्तम्=गृहम्—निघ० ३ । ४ ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २७ ॥

१-७ ॥ १-६ ओषधिर्देवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

बुद्ध्या विवादः कर्तव्य इत्युपदिश्यते—बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छन्नुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्युरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शन्नुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभि-भूः ।

असि । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जुहि । अरसान् । कृणु ।

ओषधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शन्नुः) बैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुझ] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभूः) प्रबल (असि) है । (प्राशम्) [मुझ] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिकूल वादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप की पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली ओषध के समान बुद्धि उन सब को] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥

भावार्थ—इस सूक्त में ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है। ओषधि का अर्थ निरु० ६ । २७ में किया है “ओषधौ ओषत्, दाह वा ताप को पीलेती हैं अथवा ताप में इन को पीते हैं, अथवा ये दोष को पीलेती हैं ”

१-न । निषेधे । इत् । अवधारणे । एव । शन्नुः । अ० २ । ५ । ३ । विपक्षः । प्रतिवादी । प्राशम् । किव् बचिप्रच्छिञ्चि० । उ० २ । ५७ । इति प्रच्छञ्च शीप्सायाम्-क्विप्, दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १६ । इति च्छ्वस्य शः । प्रष्टारं वादिनं माम् । जयाति । जयतेर्लेटि आडा-गमः । जयतु । अभिभवतु । सहमाना । अ० २ । २५ । २ । जेत्रो । अभिभूः । भुवः संज्ञान्तरयोः । प० ३ । २ । १७६ । इति अभि+भू-क्विप् । अभिभवित्री । प्रति-प्राशः । प्रति+प्रच्छ-कर्तरि क्विप् । न लोकाव्यनिष्ठास्वतर्थात्तृणाम् । पा० २ । ३ । ६६ ।

२-मन्त्र का आशय । जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित ओषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते हैं, ऐसेही मनुष्य के बुद्धि पूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥ १ ॥

सुपुर्णस्त्वान्विन्दत् सूकरस्तत्राखनन्नुस ।

प्राशं प्रतिप्राशो जहारसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सु-पुर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुपुर्णः) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड , गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुम को (अनु = अन्विष्य) ढूँढ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुम को (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है । (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फोंका (कृणु) कर ॥ २ ॥

इति तृन् ग्रहणात् । तद्वाचके किपि प्रत्ययेऽपि (प्राशम्) इत्यस्य कर्मत्वम् । प्रतिकूलप्रष्टृन् । प्रतिवादकान् । जहि । हन हिंसागत्योः-लाट् । नाशय । पराजितान् कुरु । अरसान् । नीरसान् । निर्वीर्यान् । कृणु । कुरु । ओषधे । अ२ १ । २३ । १ उष दाहे-घञ् । ततो धेत् पाने-कि । ओषधय ओषद् धयन्तीति वीषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६ । २७ । ओषं दाहं धयति पिबति नाशयतीति ओषधिः । यवादिधान्यम् । रोगनाशक-द्रव्यम् । तापनाशिका बुद्धिः । तत्संबुद्धौ ॥

२-सुपुर्णः । धापृथस्यज्यतिभ्यो नः । उ० २ । ६ । इति सु+पृ पालनपूर-णयोः-न, यङ् । पत गती-न प्रत्ययः, तकारस्य रेफः । सुपतनः शोभनगमनः । शीघ्रगामी । गरुडः । पक्षिमात्रम् । अनु । अन्विष्य । अविन्दत् । विदुल्ललाभे लङ् । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति उम् । अलभत । सूकरः ।

भाष्यार्थ—(सुपर्णः) गिद्ध , मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी में से खोद कर खा जाता है । इसी प्रकार दूरदर्शी, परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथा योग्य उसका प्रयोग करते हैं और सदा जय पाते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्यु स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्युरसान् कृण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः । ह । चक्रे । त्वा । बाहौ । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।

प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुझ को (बाहौ) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है । (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ३ ॥

अदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ इति सु+कृ विक्षेपे, वा कृञ् हिंसायाम् । वा कृङ् विज्ञाने-अप् । अथवा, टप्रत्ययः । उकारस्य दीर्घः । अथवा, सू इति शब्दं करोति, सू+कृ-ट । सुकिरति भूमिं सुरुणाति मनुष्यान् यद्वा सुकारयते विजानाति खाद्यपदार्थान् । वराहः । अखनत् । अनुविदारे-लङ् । विदारितवान् । ङङ् कृतवान् । नसा । णसङ् कौटिल्ये-क्लिप् । नासिकाया ॥

३-इन्द्रः—अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् महाप्रतापी पुरुषः । ह । हन हिंसागत्योः-ङ । प्रसिद्धम् । चक्रे । कृञ्-लिट् । कृतवान् । त्वा । त्वाम् । ओषधिम् । बाहौ । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति बह प्रापणे, यद्वा, बाह यत्ने-उण् । यद्वा, अर्जिदृशिकमि० । उ० १ । २७ । इति बाधु विहतौ-कृ, धस्य हः । बकारवकारयोरेकत्वम् । भुजे । असुरेभ्यः । सुसूधाङ्गुधिभ्यः-क्रन् । उ० २ । २४ । इति पु ऐश्वर्यप्रसवयोः-क्रन् । यद्वा, सुर दीप्त्यैश्वर्ययोः-कप्रत्ययः । देवविरोधिभ्यः । अपण्डितेभ्यः । राज्ञसेभ्यः सकाशात् । (असुरेभ्यस्तरीतवे)

भावाय—(इन्द्र) महाप्रतापी महाबली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओं के विरोधी अधर्मियों का नाश करते आये हैं, करते हैं और और करेंगे ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (स्तीरतवे) के स्थान में [तरीतवे] है ।

पाटामिन्द्रो व्याश्रुदसुरेभ्य स्तरीतवे ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्युरसान् कृण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटास् । इन्द्रः । वि । आश्रुतात् । असुरेभ्यः । स्तरीतवे ।

प्राशम् । प्रति-प्राशः । जुहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥४॥

भाषार्य—(इन्द्रः) बड़े पेश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुयी [ओषधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (वि) विविध प्रकार से (आश्रुतात्) भोजन किया है । (प्राशम्) मुक्त वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जुहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीलेनी वाली [ओषधि के समान बुद्धि] उन सब को [(अरसान्) पीका (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावाय—जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और चित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही पेश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओं का नाश करके शान्ति लाभ करते हैं ॥ ४ ॥

वा शरि । पा० ८ । ३ । ३६ । खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः । वार्तिकम् । इति विसर्ग-लोपः । स्तरीतवे । तुमर्थे सेसेनसेऽसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति स्तृ प्रीतिरक्षा-प्राणनेषु [श० क० द्रमकोषे] तवे प्रत्ययः । रक्षितुम् ॥

४—पाटाम् । पठ गतिदीप्तिवेष्टनेषु-घञ्, टाप् । गतिम् । दीप्तिम् । विद्याम् । ओषधिम् । प्रसङ्गात् सायणभाष्याक्तम् [पांठा] इति पदं व्याख्यायते तद् यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे । पठ्यते बहुगुणवत्तया कथ्यते इति । पठ-कर्मणि घञ्, अजादित्वात् टाप्, लताविशेषः, आकनादि इति भाषा, तत्पर्यायः प्राचीना, दीपनी..., अस्या गुणाः, तिक्तत्वम्, गुरुत्वम्, उष्णत्वम्, वातपित्तज्वर-

तीनों संहिताओं के (पाठाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (पाठाम्) है , और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है । शब्द कल्पद्रुम कोष में लिखा है कि [पाठा] लता विशेष है, आकनादि भाषा नाम है । उसके गुण तिक्तता, गुरुता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि हैं ।

तथाहं शत्रून् त्साक्ष इन्द्रः सालावृकां इव ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्युरसान् कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अहम् । शत्रून् । साक्षे । इन्द्रः । सालावृकान्-इव ।

प्राशम् । प्रति-प्राशः । । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) बैरियों को (साक्षे) हरा दूँ, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली [गृह पति] (सालावृकान् इव) जैसे घर के भेड़ियों, कुत्ते, बिलाव आदिकों को । (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) भिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्द लाभ करें ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषजु नीलशिखण्डु कर्मकृत् ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्युरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

पित्तदाहातीसारशूलनाशित्वम् , भग्नसन्धानकारित्वं च । वि । विविधम् ।

आरुणात् । अश भोजने—लङ् । अभक्षयत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—तया । पाटया । तत्प्रभावेन । शत्रून् । बैरिणः । साक्षे । यह अभिभवे—लेटि उल्टमे । अभिभवामि । असत्प्रायान् करोमि । सालावृकान् । सालायां गृहे वृक्ष इव । सालावृकान् । कुरुरान् विडालान् । अन्यद् गतम् ॥

रुद्र' । जलाष-भेषज । नील-शिखण्ड । कर्म-कृत् ।

प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलाषभेषज) हे सुख दायक ओषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियों वा निवास स्थानों के प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य में कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि रूप बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उपकारी चतुर सदैव सुपरीक्षित ओषधियों से संसार में उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।

अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

६—रुद्र । अ० १ । १६ । ३ । रुत् + र । रुगतौ, बधे-किप्, तुक् आगमः । रवते गच्छति जानाति येनेति रुत्, ज्ञानम् । रा दाने-क । यद्वा । मत्वर्थे रप्रत्ययः ज्ञानदाता ज्ञानवान् वा रुद्रः । यद्वा । रवते हिनस्ताति रुत्, दुःखम् । रुत् रवते नाशयतीति रुत् + रु बधे-ड । दुःखनाशको रुद्रः । तत्संबुद्धौ । जलाषभेषज । जनी-ड + लष इच्छायाम्-घञ् । जैः जातैः लप्यते, इति जलाषम् । ततौ भिषज् चिकित्सायां सुखने-अच् । जलाषं भेषजं च सुख नाम—निघ० ३ । ६ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । हे सुखप्रदौषधयुक्त । नीलशिखण्ड । स्फायितञ्चि-वञ्चि० । उ० २ । १३ । इति णीञ् प्रापणे, रक् । रस्य लः । नीयते प्राप्यते इति नीलः, निधिभेदः । संख्याविशेषो वा । यद्वा । नि + हल गतौ-क । नीलः—नीलः निवासः, अण्डन् कृष्टभृवृषः । उ० १ । १२६ । इति शिखि गतौ-अण्डन्, स च कित् । नीलानां निधीनां निवासानां वा शिखण्डः प्राप्त्यर्थस्मात् नीलशिखण्डः । हे निधीनां निवासानां वा प्रापक ! कर्मकृत् । कर्म + कृञ्-किप्, तुक् च । कर्माणि कृत्यानि करोतीति सः । हे कृत्यकुशल ! । अन्यद् गतम् ॥

तस्य । प्राशम् । त्वम् । जुहि । यः । नः । इन्द्र । अभि-
दासति । अधि । नः । ब्रुहि । शक्ति-भिः । प्राशि । माम् ।
उत्-तरम् । कृधि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जुहि) मिटा दे, (यः) जो (नः) हम को (अभि-दासति) दबावे । (नः) हम से (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों के साथ (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रुहि) कथन कर, और (प्राशि) विवाद में (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जिताता और मिथ्यावादी को हराता है । वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारों को दबाकर और सुविचारों को प्रबल करके आनन्द भोगे । ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ्य वाले होते हैं ॥ ७ ॥

(प्राशि) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [प्राशम्] है ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-५ ॥ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामुयं मेममुन्ये मृत्यवो हिंसिषुः
शतं ये । मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्
पात्वंहसः ॥ १ ॥

७—तस्य । प्रतिवादिनः । प्राशम् । मं० १ । सम्पदादिभ्यः क्तिप् ।
वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति प्रच्छ जिज्ञासायाम्—भावे क्तिप् । प्रश्नम् । अभि-
दासति । दसु उपक्षये, गयन्तात् परस्य शपः । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ ।
११७ । इति आर्धधातुकत्वात् । गोरनिटि । पा० ६ । ४ । ५१ । इति णिलोपः ।
उपक्षपयति । तिरस्करोति । अधि । अधिकृत्य । नः । अस्मान् । ब्रुहि ।
कथय । निर्णय । शक्तिभिः । स्वसामर्थ्यैः । प्राशि । पूर्ववद् भावे क्तिप् ।
प्रश्ने । माम् । प्रष्टारम् । सत्यवादिनं । उत्तरम् । उत् अतिशयेन उन्नतः ।
उत्-तरम् । ऊर्ध्वम् । उत्कृष्टम् । कृधि । श्रुश्रुणु कृत्वभ्यश्छन्दसि । पा० ६ ।
४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

तुभ्यम् । एव । जरिमन् । वर्धताम् । अयम् । मा । इमम् । अन्ये । मृत्यवः । हिंसिषुः । शतम् । ये । माता-इव । पुत्रम् । प्र-मनाः । उप-स्थे । मित्रः । एनम् । मित्रियात् । पातु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्) बढ़े, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यवः) मृत्यु हैं, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषुः) न मारें । (प्रमनाः) प्रसन्नमन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद में [पालती है वैसे ही] (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, वा, बड़ा स्नेही परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र संबन्धी (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने में बितावे, और प्रयत्न करे कि उस का मृत्यु निन्दनीय कामों में कभी न हो और न उसके मित्रों में फूट पड़े और न वे दुष्कर्मी हों । और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रों को सता सके । जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद में बालक निर्भय क्रीड़ा करता है, वैसे ही वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओं के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

१—तुभ्यम् । त्वदर्थम् । त्वदाज्ञापालनाय । एव । अवश्यम् । जरिमन् । जरास्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु०—१० । ८ । जनिमृङ्क्ष्वामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जरतेः स्तुतिकर्मणः—कर्मणि इमनिन् । हे स्तुत्य । स्तुयमान परमेश्वर ! वर्धताम् । वृद्धिं समृद्धिं प्राप्नोतु । अयम् । निर्दिष्टः शरीरस्थो जीवः । एनम् । निर्दिष्टं जीवम् । अन्ये । स्तुत्यकर्मभ्यो भिन्नाः । मृत्यवः । अ० १ । ३० । ३ । मरणानि । मा हिंसिषुः । मा बधिषुः । मा हिंसन्तु । शतम् । असंख्याताः । माता । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्—तृन् । माननीया जननी । इव । यथा । पुत्रम् । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सुतम् । प्रमनाः । प्र + मन बाधे—असुन् । प्रसन्नचित्ता । उपस्थे । उप + धा—क । भुजान्तरे । क्रोड़े । मित्रः । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेऽस्मायते सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदय-तेर्वा—निरु० १० । २१ । मरणाद्रक्षकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः । एनम् । जीवम् । मित्रियात् । समुद्राग्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति बाहुलाकात् । मित्र-त्र । मित्रसम्बन्धिनः । अंहसः । अ० २ । ४ । ३ । पापात् । दोषात् । दुःकात् ॥

मुत्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां
संविदानौ । तद्दिग्गर्हाता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां
जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः । एनम् । वरुणः । वा । रिशादाः । जरा-मृत्युम् [जरा-
अमृत्युम्] । कृणुताम् । सम-विदानौ । तत् । अग्निः । होता ।
वयुनानि । विद्वान् । विश्वा । देवानाम् । जनिमा । विवक्ति ॥ २ ॥

भाषायां—(मित्रः) सर्व प्रेरक काम में लगाने वाला दिन का समय (वा)
और (रिशादाः) श्रम का भक्षण करने वाला (वरुणः) रात्रि का समय (संविदानौ)
दोनों मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा)
स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें ।
(तत्) इस लिये (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओं को
(विद्वान्) जानने वाला (एनम्) (अग्निः) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवा-
नाम्) दिव्य पदार्थों वा महात्माओं को (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा=
०—मानि) जन्म विधानों को (विवक्ति) बतलावे ॥ २ ॥

२—मित्रः । म० १ । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० २१ । अहरभिमानौ
देवः—इति सायणः । दिनकालः । वरुणः । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । ३ ।
द्युस्थानदेवता-निरु० १२ । २१ । रात्र्यभिमानौ [देवः]—इति सायणः । रात्रि-
समयः । एनम् । जीवम् । वा । चार्थे । रिशादाः । इगुपधकाप्रीकिरः कः ।
पा० ३ । १ । १३५ । इति रिश हिंसायाम्-क । अद् भक्षणे-असुन् । रिशान्
हिंसकानां श्रमाणां अत्ता नाशयिता । जरामृत्युम् । अ० २ । १३ । २ । जरया
स्तुत्या अमृत्युः अमरणं यस्य तम् । यद्वा । जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युर्मरणं
यस्य तम् । यशस्विनम् । कृणुताम् । उभौ कुरुताम् । संविदानौ । समो
गम्यच्छिप्रच्छिखरत्यर्तिभुविदिभ्यः । पा० १ । ३ । २४ । इति संपूर्वाद् वेत्ते-
रकर्मकात्-आत्मेने पदम् । लटः शानच् । संगच्छमानौ । ऐकमत्यं प्राप्ता । तत् ।
तेन कारणेन । अग्निः । अ० १ । ६ । २ । व्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।

भाषार्थ—जो मनष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन में लगे रहते हैं वे ही अन्त में यशस्वी होते हैं, और सर्वज्ञ सर्वान्तर्वासी परमेश्वर उनके हृदय में सब उत्तम २ व्यवस्थाओं और नियमों को प्रकट करता जाता है ॥ २ ॥
त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये
जनित्राः । मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा
वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । इशिषे । पशूनाम् । पार्थिवानाम् । ये । जाताः । उत ।
वा । ये । जनित्राः । मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति ।
अपानः । मा । इमम् । मित्राः । वधिषुः । मो इति ।
अमित्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओं [जीवों] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हो चुके हैं (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्राः) उत्पन्न होंगे । (इमम्)

होता । अ० १ । ११ । १ । हु-तृन् । दाता । आदाता । वयुनानि । अजियमि-
शीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति अज गतौ-उनन्, वीभावः । अथवा । वी गति-
कान्तिव्याप्त्यादिषु-उनन् । वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा-निरु० ५ । १४ । ज्ञात-
व्यानि कर्माणि । विश्वा । विश्वानि । सर्वाणि । जनिमा । जनिमृङ्भ्या-
मिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जन जनी वा-इमनिन् । जनिमानि, जन्मानि ।
प्रादुर्भावस्थानानि । धिवक्ति । वचेः-लेटि शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा०
७ । ४ । ७८ । इत्यभ्यासस्य इकारः । ब्रवीतु । उपदिशतु ॥

३—त्वम् । हे अग्ने, परमेश्वर ! ईशिषे । ईश ऐश्वर्ये । ईशः से । पा०
७ । २ । ७७ । इडागमः । ईश्वरोऽधिपतिरसि । पशूनाम् । अ० २ । २६ । १ ।
द्विपाच्चतुष्पादपाणां प्राणिनाम् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ इति
षष्ठी । पार्थिवानाम् । दित्यदिति० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् ।
पृथिव्या आज्ञे । इति पृथिवी-अज् । जित्वाद् आद्युदात्तः । पृथिव्यां भवानाम् ।
ये । पशवः । जाताः । उत्पन्नाः । उत । अपि । जनित्राः । अशिन्ना-
दिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जनु जनी-इत्र । जनिष्यमाणाः । उत्पत्स्य-

इस पुरुष को (प्राणः) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो=मा+उ) और न (अपानः) अपान [भीतर आने वाला प्रश्वास] । (इमम्) इस पुरुष को (मित्राः) मित्र (मा वधिषुः) न मारें, (मो=मा+उ) और न (अमित्राः) अमित्र [विरोधी अर्थात् वैरी लोग] ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उस का स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥

दौष्ट्यां पिता पृथिवी माता जुरामृत्युं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणपानाभ्यां गुपितः शतं
हिमाः ॥ ४ ॥

दौः । त्वा । पिता । पृथिवी । माता । जुरा-मृत्युम् [जुरा-
अमृत्युम्] । कृणुताम् । संविदाने इति सुम्-विदाने । यथा ।
जीवाः । अदितेः । उप-स्थे । प्राणापानाभ्याम् । गुपितः ।
शतम् । हिमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (दौः) सूर्य लोक और (माता) [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (संविदाने) दोनों मिले हुये, (त्वा) तुझ को (जुरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के

मानाः । इमम् । प्राणिनम् । प्राणः । अ० २ । १५ । १ । ऊर्ध्वकायस्थो वायुः । मा हासीत् । ओहाक् त्यागे—लुङ् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ४ । अडभावः । मा त्याक्षीत् मो । मा + उ । मैव । अपानः । अप+अन प्राणने, जीवने-अच् । अपानिति अधो निःसरतीति । अधरकायस्थो वायुः । मित्राः । स्नेहिनः । बान्धवाः । मा वधिषुः । लुङि च । पा० २ । ७४ । ४३ । इति हन्तेर्वधादेशः । मा हिंसिषुः । अमित्राः । अमेर्द्धिषति चित् । उ० । ४ । १७४ । इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकाः । शत्रवः ॥

४-दौः । अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः । त्वा । त्वां प्राणिनम् । पिता । अ० १ । २ । १ । रक्षकः । जनकः । तद्वदुपकारकः । पृथिवी । अ०

साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु, वाला (कृणुताम्) करें। (यथा) जिस से (अदितेः) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपितः) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक (जीवाः) जीता रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रखे कि सूर्य का तेज और आकाश आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें, जैसे माता पिता सन्तानों पर प्रीति रखते हैं, जिस से वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे ॥ ४ ॥

इममं गुण आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन् ।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छु विश्वे देवा जुरदंष्टि-
र्यथासत् ॥ ५ ॥

१।२।१। प्रख्याता भूमिः । माता । अ० १। २।१। मानकर्त्री, जननी ।
जरामृत्युम् । व्याख्यातं म० २ । यशस्विनम् कृणुताम् । कुरुताम् ।
संविदाने । म० २। ऐक्यमत्यं प्राप्ते । यथा । यस्मात् कारणात्, जीवाः ।
जीव प्राणधारणे-लेटि आडागमः । त्वं जीवेः । प्राणान् धरेः । अदितेः । कृत्य-
ल्युटो बहुलम् । पा० ३। ३। ११३ । इति दीङ् ल्यप्, दो अखण्डने, दाप् लवने-
किन् । यतिस्यतिमास्थामिति किति । पा० ७। ४। ४० । इति इत्वम् । दीङ्
पक्षे ह्रस्वत्वं, नञ् समसाः । अदितिः पृथिवी-निघ० १। १। वाक्-निघ० १।
११ । गौः-निघ० २। ११ । अदीना देवमाता-निरु० ४। २२ । मध्यस्थान देवतासु
“प्रथमगामिनी-” निरु० ११। २२ । अक्षीणस्य अखण्डस्य वा परमेश्वरस्य, अथवा
अदीनायाः देवमातुः, मनुष्यसूर्यादिविव्यपदार्थानां जनन्याः प्रकृतेः पृथिव्या वा ।
उपस्थे । क्रोडे । उत्सङ्गे । प्राणापानाभ्याम् । म० ३। श्वासनिःश्वासाभ्याम् ।
गुपितः । गुप् रक्षणे-क । रक्षितः । शतम् । अपरिमिताः । हिमाः । हन्तेहिं
च । उ० १। १४७ । इति हन हिंसागत्योः-मक् । अर्शआद्यच्च-टाप् । हिमं तुषारो
ऽस्ति यस्याम् । हेमन्तान् संवत्सरान् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २। ३। ५ ।
इति द्वितीया ॥

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण ।
मित्र । राजन् । माता-इव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ ।
विश्वे । देवाः । जरत्-अष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हैं अग्नि तत्व, (वरुण) हे जल तत्व ! (राजन्) हे बड़ी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढ़ाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेतः) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा । (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर । (विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिस से [यह पुरुष] (जर-दष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्वों को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रखे, जिस से

५—इमम् । प्राणिनम् । अग्ने । हे अग्नि तत्त्व । आयुषे । एतेर्लिच्छ ।
उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । जीवनवर्धनाय । वर्चसे । अ० २ । १३ । २ ।
तेजसे । अन्नाय । नय । प्रापय । द्विकर्मकः । प्रियम् । इगुपधश्चाप्रीकिरः
कः । पा० ३१ । १३५ । इति प्रीड् प्रीतौ कः । अचि शुधातु भ्रुवां० पा० ६ । ४ । ७७ ।
इयङादेशः । हितकरम् । रेतः । स्तुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २०२ । इति
रीङ् क्षरणे-असुन्, तुट् च । शुक्रम् । वीर्यम् । प्रजननसामर्थ्यम् । वरुण ।
कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृष् वरणे-उनन् । उत्तमं जलमिति दयान-
नन्द सरस्वती तद्वृत्तौ । अपानवायुः—यथा । ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ
मित्रावरुणौ प्राणापानौ-इति दयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्ये, २ । ३ । तत्संबुद्धौ ।
मित्र । हे प्राणवायो यथा पूर्वोक्तम् । राजन् । कनिन् युवृषितक्षिराजि० ।
उ० १ । १५६ । इति राज् दीप्तौ, पेश्वर्ये-कनिन् । राजति=ईष्टे-निघ० २ । २१ ।
हे दीप्यमान, हे पेश्वर्यवत् । मातेव । जननीव । अस्मै । प्राणिने ।
अदिते । म० ४ । हे प्रकृते । भूमे । शर्म । अ० १ । २० । ३ । शृङ्गसायाम्-मनिन् ।
गृहम् । निघं० ३ । ४ । सुखम्-निघ० ३ । ६ । यच्छ । देहि विश्वे । सर्वे । देवाः ।

शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही, और यशस्वी होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—बार्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ में [मित्र-राजन्] एक पद है। परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तकों में (मित्र राजन्) दो पद हैं वही हम ने लिये हैं ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थो दैवी त्रिष्टुप्; अन्ये पादास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इस का उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो ३ बले ।

आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आधाद् बृहस्पतिः ॥१॥

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले । आयु-
ष्यम् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥१॥

भषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल, महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्या-
पक, (सूर्यः) लोकों में चलने वाला वा लोकों का चलाने वाला, (बृहस्पतिः)
बड़े बड़े [ब्रह्माण्डों] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्तमान

दिव्याः पदार्थाः पुरुषा वा । जरदष्टिः । जीर्यतेरतृन् । पा० ३ । २ । १०४ ।
इति बाहुकालात् जरतेः स्तुतिकर्मणः—अतृन् । अशू व्याप्तौ, अश भोजने—किन्
जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः । यथा । येन
प्रकारेण । असत् । अस्तेलेंटि अडागमः । भवेत् ॥

१—पार्थिवस्य । अ० २ । २८ । ३ । भूमेः सम्बन्धिनः । रसे । रस खने
आखादे—अच् । सारे शरीरपुष्टौ । देवाः । हे व्यवहारकुशला विद्वांसः ।
भगस्य । अ० १ । १४ । १ । भज सेवायाम्—घ । ऐश्वर्यस्य । तन्वः । अ० १ ।

(भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्वः) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल में (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (वर्चः) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्म वर्चस] (आ) सब ओर से (धात्=धत्तात्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष में (अग्नि) जो विजुली आदि रूप से सब शरीरों में बड़ा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बड़े बड़े लोकों को अपने आकर्षण आदि में रखता है, इन के विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढ़ावें, और पृथिवी आदि पदार्थों के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरंजीवी बनें ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।

रायस्पोषं सवितुरा सुवास्मै शतं जीवाति शुरदस्तवायम् ॥ २ ॥

आयुः । अस्मै । धेहि । जात-वेदः । प्र-जाम् । त्वष्टः । अधि-निधेहि । अस्मै । रायः । पोषम् । सवितुः । आ । सुव । अस्मै । शतम् । जीवाति । शुरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्राणियों को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर ! [वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयुः) आयु (धेहि) दे, (त्वष्टः)

१।१। विस्तारस्य । बले । आत्मशरीरसामर्थ्ये । आयुष्यम् । तस्मै हितम् । पा० ५। १। ५। आयुष्-यत् । जीवनवर्धकम् । अस्मै । निर्दिष्टप्राणिने । अग्निः । व्यापकः । तेजोविशेषः । सूर्यः । अ० १। ३। ५। राजसूयसूर्य० । पा० ३। १। ११४। अत्र सिद्धान्तकौमुदीटीकायां भट्टोजिदीक्षितः । “ सर-त्याकाशे सूर्यः । यद्वा सुवति कर्मणि लोकं प्ररेयतीति ” । परमेश्वरः । सूर्यलोकः । वर्चः । तेजः शरीरकान्तिर्ब्रह्मवर्चसं च । आ । समन्तात् । यथाविधि । धात् । छान्दसं रूपम् । धत्तात् । धेयात् । स्थापयतु । बृहस्पतिः । अ० १। ८। २। महतां पृथिव्यादिलोकानां रक्षकः प्रकाशवृष्टिदानेनाकर्षणेन च । परमात्मा । सूर्यः ॥

२ आयुः । जीवनम् । अस्मै । समीपस्थाय प्राणिने । धेहि । दुधाम् धारणपोषणदानेषु । देहि । प्रयच्छ । जातवेदः । अ० १। ७। २। वेदो धनम् ।

हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (प्रजाम्) प्रजा जन (अभि-निधेहि) अधिक २ संग्रह कर । (सवितः) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टता (आगुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयं) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणों को विचार कर मनुष्य को (जातवेदाः) अपने लोगों का जाननेवाला, (त्वष्टा) विश्वकर्मा, सब कामों में कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढ़ा कर और संसार में कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—अग्नि के प्रभाव से शरीर में चेष्टा होती है, और शूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इन को अनुकूल रखता है वह प्रजावान्, धनवान् और आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

आशीर्णं ऊर्जिमत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तुं द्रविणं सचैतसौ
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्सु-
पत्नान् ॥ ३ ॥

निघ० २ । १० । जातेभ्यः प्राणिभ्यो धनं ज्ञानं वा यस्मात् सजातवेदाः ।
हे प्राणिभ्यो धनप्रद, सर्वज्ञ, परमेश्वर । प्रजाम् । सन्तानम् । पुत्रपौत्र-
भृत्यादिकम् । त्वष्टः । अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष काश्य-तृन् । हे तनू-
कारक । विश्वकर्मान् । सूर्य । अधिनिधेहि । अधिकं बाहुल्येन स्थापय ।
रायस्पोषम् । अ० १ । ६ । ४ । रायो धनस्य पोषं वर्धनम् । सवितः ।
अ० १ । १८ । २ । पुषू वा प्रसवैश्वर्ययोः-तृचि । स्वरतिसृतिसूर्यतिधूञ्जितो वा ।
पा० ७ । २ । ४४ । विकल्पाद् इडागमः । परमेश्वरः । वृष्टिदानादिना शरीरिणं
जनयिता सूर्यः । हे उत्पादक । ऐश्वर्यवान् । आ । अभिमुखम् । सुव ! पू प्ररेण
प्रेरय । प्रापय । शतम् । बह्वीः । अपरिमिताः । जीवाति । जीव प्राणधारणे-
त्तेद् । आडागमः । जीवतु । शरदः । अ० १ । १० । २ । शरदृतून् । संबत्सरान्
तव । तवानुगृहीतः । अयम् । प्राणी ॥

आ-शीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाः-त्वम् । दक्षम् । धत्तम् ।
द्रविणम् । स-चेतसौ । जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र ।
कृण्वानः । अन्यान् । अधरान् । स-पत्नान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (आशीः) आशीर्वाद [हो], (सचेतसौ) हे
समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनों] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम्
= ० = जस्त्वम्) उत्तम प्रजायें, (दक्षम्) बल, (उत) और (द्रविणम्) धन
(धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा)
[आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतों को
(कृण्वानः) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वाभिन्न भिन्न] (सपत्नान्)
विपत्तियों को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति = जीता रहे-मं० २ से] ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति
मं० २ से है । माता पिता प्रयत्न करें कि उन के पुत्र पुत्री सब सन्तान , बड़े

३—आशीः । आङ्ःशासु इच्छायाम्-किप्, उपधाया इवम् । आशीर्वादः ।
मङ्गलवचनम् । नः । अस्मभ्यम्+अस्तु । ऊर्जम् । ऊर्ज बलप्राणनयोः-किप् ।
ऊर्गित्यन्नामोर्जयतीति सतः पक्ं सुप्रवृक्कणमिति वा-निरु० ३ । ८ । ऊर्जयति
प्रबलति बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीति सा ऊर्क् । अन्नम् । उत । अपि
च । सौप्रजास्त्वम् । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति
सु+प्रजा-असिच् । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ । सुप्रजस्त्वम् । शोभनसन्तानत्वम् ।
दक्षम् । दक्ष वृद्धौ-अच् । पुष्टिम् । दक्षः=बलम् निघ० २ । ६ ।
धत्तम् । युवां धारयतम् । स्थापयतम् । द्रविणम् । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २२ ।
५० । इति हु गतौ-इनन् । धनम् । निघ० २ । १० । सचेतसौ । समानमनसौ ।
मातापितरौ । क्षेत्राणि । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० इति क्षि क्षयै-
श्वर्यगतिनिवासेषु-त्तन् । क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः-निरु० १० । १४ । ऐश्व-
र्याणि । भूमिप्रदेशान् । सहसा । बलेन तव दत्तेन । अयम् । निर्दिष्टः पुरुषः ।
इन्द्र । हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन् । कृण्वानः । कुर्वाणः । उत्पादयन् ।

अन्नवान्, बलवान्, और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी बनें और जितेन्द्रिय होकर अपने दांशों और शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो नु आगन् ।

एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत् ॥४॥

इन्द्रेण । दत्तः । वरुणेन । शिष्टः । मरुद्भिः । उग्रः । प्र-
हितः । नुः । आ । अगन् । एषः । वाम् । द्यावापृथिवी
इति । उप-स्थे । मा । क्षुधत् । मा । तृषत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह [जीव] (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्तः) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्टः) शिद्धा किया हुआ, और (मरुद्भिः) शूर वीर महात्माओं करके (प्रहितः) भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी होकर, (नः) हम लोगों में (आ अगन्=अगमत्) आया है । (द्यावापृथिवी=०—यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में [यह जीव] (मा क्षुधत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिद्धा दी है, विद्वानों ने उत्तम विद्याओं का अभ्यास कराया है, इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन कर के संसार में प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

अन्यान् । मात्वाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अत्र जीवने-य । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवितान् । भिन्नान् । अधरान् । न + धृङ्-अच् । अधो-गतान् । नीचान् । सपत्नान् । अ० १ । ६ । २ । सहपतनशीलान् । शत्रून् ॥

४—इन्द्रेण । परमैश्वर्यवता परमात्मना । दत्तः । दो दह्घोः । पा० ७ । ४ । ४६ । इति दा दाने-क्त, दह् भावः । लब्धजीवनः । वरुणेन । वृज् । उनन् । भेदजनकेन । शिष्टः । शासु शासने-क्त । शास इडङ् हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । इत्युपधाया इकारः । शासिबसिघलीनां च । पा० ८ । ३ । ६० ।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तुं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुतु
ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै ।
पयस्वती इति । धत्तम् । ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी
इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥५॥

भाषार्थ—(ऊर्जस्वती=०—त्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता]
दोनों ! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती =
०—त्यौ) हे दूध वाली तुम दोनों ! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल
(धत्तम्) दान करो । (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै)

इति सस्य षः । शसितः । अनुज्ञातः । महद्भिः । अ० १ । २० । १ ।
शत्रुमारणशीलैः शूरैः । उग्रः । तेजस्वी । ग्रहितः । हि गतौ-क्त । प्रेषितः ।
प्रेरितः । नः । अस्मान् । आ+अगन् । गमेर्लुङि । मन्त्रे घस० । पा० २ ।
४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत्
एषः । प्राणी । वाम् । युवयोः । द्यावापृथिवी । हे द्यावापृथिव्यौ ।
तत्रस्थपदार्थाः-इत्यर्थः । उपस्थे । कोड़े । मा क्षुदत् । क्षुत्पीडां मां प्रा-
प्नोतु । मा तृषत् । तृपातौ मा भवतु । क्षुद् बुभुक्षायाम् । अत्र तृपा पिसासायाम् ।
उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ् ॥

५—ऊर्जम् । म० ३ । अन्नम् । ऊर्जस्वती । ऊर्ज बलप्राणनयोः—
असुन् । ततो मतुप् । मस्य वः । तसौ मत्वर्थे । पा० १ । ४ । ४६ । इति भत्वाद्
कृत्वाभावः । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । हे अन्नवत्यौ । बलवत्यौ मातापितरौ ।
धत्तम् । दत्तम् । पयः । अ० १ । ४ । १ । दुग्धम् । जलम् । अस्मै ।
जीवाय । पयस्वती । पूर्ववत् सिद्धिः । दुग्धवत्यौ । जलवत्यौ । द्यावा-
पृथिवी । अ० २ । १ । ४ । प्रगृह्यत्वाद् अचि प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । अधा-
ताम् । दुधाभ-लुङ् । दत्तवत्यौ । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणयुक्ताः ।

इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण वाले (मरुतः) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आपः) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधुः] [दिया है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—माता पिता संतानों को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करें कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहें। सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ खान पानादि देकर बड़ा उपकार कर रहे हैं। उस से सब को लाभ उठाना चाहिये ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टु हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः ।
सुवासिनौ' पिबतां मुन्यमेतमश्विनो रूपं परिधाय
मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषी-
ष्ठाः । सु-वर्चाः । सु-वासिनौ' । पिबताम् । मुन्यम् । एतम् ।
अश्विनोः । रूपम् । परि-धाय' । मायाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (शिवाभिः) मङ्गल करनेवाली [विद्याआ वा शक्तियों] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (तर्पयामि) मैं तृप्त करता हूँ, तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषीष्ठाः) हर्ष प्राप्त कर । (सुवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अश्विनोः) माता

मरुतः । अ० १ । २० । १ । अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषां मरुतः प्रथम-
गामिनो भवन्ति मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा-
निरु० ११ । १३ । वायुः । ऋत्विजः । शूराः पुरुषाः । आपः । अ० १ । ४ । ३ ।
जलम् । आपाः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, य० ६ । २७ ॥

६—शिवाभिः । शिव-टाप् । अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलवतीभिर्विद्याभिः
शक्तिभिर्वा । (शिवाभिष्टु) युष्मत्सत्तलुष्कन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ ।
इति षत्वम् । ते । तव । हृदयम् । बृहोः पुरुदुक्चौ च । उ० ४ । १०० । इति ह्रज् ।
कयन् दुक् च । हरति स्वीकरोति विषयानिति । मनः । तर्पयामि । सुकयामि ।
अनमीवः । इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति अम रोगे-वन्, ईडागमः ।

पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिबताम्) पान करें ॥ ६ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैं ने तुझे अनेक विद्याये और शक्तियां दी हैं, तुम दोनों स्त्री पुरुषों ! माता पिता रूप से संसार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्दरस को भोगो ॥६॥

इन्द्र एतां समृजे विद्धो अग्रं ऊर्जाम् स्वधामुजरां सा त
एषा । तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुस्रोद्
भिषजस्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः । एताम् । समृजे । विद्धः । अग्रं । ऊर्जाम् । स्वधाम् ।
अजरां । सा । ते । एषा । तया । त्वम् । जीव । शरदः ।
सु-वर्चाः । मा । ते । आ । सुस्रोत् । भिषजः । ते । अक्रन् ॥७॥

भाषार्थ—(विद्धः) सेवा किये हुये (इन्द्रः) परमेश्वर ने (एताम्)
इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रं)

रोगरहितः । मोदिषीष्ठाः । मुद हर्षे । आशिषि लिङ् । मोदस्व । हृष्टो भव ।
सुवर्चाः । सु+वर्च-असुन् । सुजेतस्कः । सवासिनौ । व्रते । पा० ३ । २ ।
८० । इति वस निवासे-णिनि । समानस्य सभावः । पुमान् स्त्रिया । पा० ३ । २ ।
६७ । इत्येकशेषः । समानम् एकत्रनिवसन्तौ स्त्रीपुरुषौ । पिबताम् । पीतं
कुरुताम् । मन्थम् । मन्थ गाहे-घञ् विलाङ्गनम् । रसम् । एतम् । निर्विष्टम् ।
वेदोक्तम् । अश्विनोः । अश्विपुशिलटि० । उ० १ । १५१ । अश्वव्याप्तौ-कन् ।
अश्वो व्याप्तिः—इनि प्रत्ययः । एकशेषः पूर्ववत् । अश्विनौ धावापृथिव्यावित्येके-
ऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—
निरु० १२ । १ । कार्येषु व्याप्तिमतोः, जननीजनकयोः । रूपम् । स्वभावम् ।
परिधाय । धृत्वा । मायाम् । माह्वास्तिस्र्यो यः । उ० ४ । १०६ । माङ्
माने य, टाप् । बुद्धिम् । प्रज्ञाम्-निघ० ३ । ६॥

७—इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः । एताम् । सर्वत्र विद्यमानाम् ।
समृजे । सृज-लिट् । सृष्टवान् । उत्पादितवान् । विद्धः । विध विधाने-क-

पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है । (सा एषः) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तथा) उस [अमृत] से (त्वम्) तू (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरद्ः) बहुत शरद् ऋतुओं तक (जीव) जीता रह, (आ) और [सा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे । (भिषजः) वैद्यों ने (ते) तेरे लिये [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उस की कभी हानि नहीं होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम में लाता है उतना ही वह बढ़ता जाता है और सुखदायक होता है । उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भांगता है । बुद्धिमानों ने बुद्धि का महौषधि बताया है ॥ ७ ॥

(ऊर्जाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (ऊर्जम्) है ॥

तुदादिः, छन्दसि अनिद् । विधेम=परिचरंम-निघ० ३।५ वेधितः।परिचरितः। सेवितः। अग्रे । सर्वेभ्यः पूर्वम् । ऊर्जाम् । म० ३ । ऊर्क्=अन्नं बलं वा । ततः, अर्शआद्यच्, टाप् । अन्नवतीम् । बलवतीम् । स्वधाम् । आः समिण्-निकषिभ्याम् । उ० ४ । १७५ । इति ष्वद् स्वादे-आ, दस्य धः । स्वादयति रसान् उत्पादयतीति स्वधा । यद्वा । आतो ऽदुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति स्व + दुधाञ् धारणपोषणदानेषु-क, टाप् । अथवा क्तिप् । स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा । यद्वा । स्व + धेट् पाने-क, टाप् । उदकम् । निघ० १ । १२ । अन्नम्-निघ० २ । ७ । पितृणाम् अन्नम् । अमृतम् । शरीरपोषकं पदार्थम् । अजराम । ऋच्छेररः उ० ४ । १३१ । इति अज गतिक्षेपणयोः—अर प्रत्ययः, टाप् । गतिशीलाम् । उत्साहवर्धयित्रीम् । यद्वा । जृ-ष् वयोहानौ-अङ्, टाप् । अक्षीणाम् । ते । तुभ्यम् । तथा । स्वधया । जीव । प्राणान् धारय । शरद्ः । अ० १ । १० । २ । शरदत्न । वर्षाणि । आ । आप्ल व्याप्तौ-क्तिप्, पलोपः । समुच्चये । यथा । देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ । मा सुस्रोत् । कृ गतौ-लङि, छन्दसि शपः श्लुः । नष्टो मा भूत् । भिषजः । अ० २ । ६ । ३ । चिकित्सकाः । अक्रन् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ६० । इति करोतेः—क्लोर्लुक् । अकार्षुः ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशायापदेशः—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति । एवामथनामि
ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथामन्त्रापगां असः ॥१॥
यथा । इदम् । भूम्याः । अधि । तृणम् । वातः । मथायति ।
एव । मथनामि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः ।
यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि के (अधि)
ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है । (एव) वैसे
ही (ते) तेरे (मनः) मन को (मथनामि) मैं चलाता हूँ, (यथा) जिस से तू
(माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू
(मत्) मुझ से (अपगाः) वियोग करने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को
ढूँढ़े, और कन्या भी अपने सदृश वर ढूँढ़े । इस प्रकार विवाह होने से वियोग न
होकर आपस में प्रेम बढ़ता और आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

१—यथा । येन प्रकारेण । इदम् । परिदृश्यमानम् । भूम्याः । अ० १ ।
११ । २ । पृथिव्याः । अधि । उपरि । तृणम् । तृहेः क्तो हलोपश्च । उ० ५ । ८ ।
इति तृह हिंसायाम्-क्त, हलोपः । तृह्यते हन्यते भक्ष्यते । गवादिभिः । गवादि-
भक्ष्यम् । वातः । अ० १ । ११ । ६ । वायुः । मथायति । कृन्दसि शायजपि ।
पा० ३ । १ । ८४ । इति बाहुलकात् मथ विलोडने-शायच् । विलोडयति ।
आमयति । एव । एवम् । तथा । मथनामि । मन्थ विलोडने । विलोडयामि ।
ते । तव । मनः । मन-असुन् । वित्तम् । यथा । यस्मात् कारणात् । माम् ।
कामयमानं वरम् । कामिनी । कमेर्णिजन्ताद् औणादिक इति प्रत्ययः । ङीप् ।
भविष्यति गम्यादयः । पा० ३ । ३ । ३ । इति भविष्यदर्थरवम् । अकेनोर्भविष्यदाध-
मर्णयोः । पा० २ । ३ । ७० इति कर्मणि षष्ठी प्रतिषेधत्वात् (माम्) इति

(भूम्याः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (भूम्याम्) है ।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग (यथामां—मन्त्रापगा असः) अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-२ । में भी है ।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

सं व्वां भगासो अगमतु सं चित्तानि समु' व्रता ॥ २ ॥

सम् । च । इत् । नयाथः । अश्विना । कामिना । सम् । च ।
वक्षथः । सम । वाम् । भगासः । अगमतु । सम् । चित्तानि ।
सम् । ऊं इति । व्रता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(च) और (अश्विना=०—नौ) हे कार्य में व्यासि वाले माता और पिता, तुम दोनों, (इत्) ही (कामिना=०—नौ) कामना वाले दोनों [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर (वक्षथः) आगे बढ़ाओ । (वाम्) तुम दोनों के (भगासः=भगाः) सब ऐश्वर्य (सम् अगमत) [हम को] मिल गये हैं, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम्=सम् + अगमत) मिल गये हैं, (उ) और भी (व्रता=व्रत्तानि) नियम और कर्म (सम् + अगमत) मिल गये हैं ॥ २ ॥

द्वितिया । काङ्क्षिष्यन्ती । असः । भवेः । मत् । मत्तः सकाशात् । न । निषेधे । अपगाः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति गमेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । अपसृत्य गन्त्री । वियोगं प्राप्ता ॥

२—सम । मिलित्वा । संगत्य । च । समुच्चये । इत् । अवश्यम् ।
नयाथः । नयतेलेटि आडागमः । प्रापयतम् । अश्विना । अ० २ । २६ ।
६ । हे कार्येषु व्यापनशीलौ मातापितरौ । कामिना । म० १ । कम-णिच्-
इनि । कामयमानौ । कन्यावरौ । वक्षथः । वहेलेटि आडागमः, सिप् च ।
युवां वहतम् । संयोजयतम् । वाम । युवयोः । भगासः । आङ्गसेरसुक् ।
पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् । भगाः । भजनीयानि, ऐश्वर्याणि । सम् +
अगमत । समोगम्यच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । आत्मनेपदम् । लुङि ल्वेलुक्,

भावार्थ—वर और कन्या माना पिता आदि बड़ों की भी सम्मति प्राप्त करें। उनके अनुग्रह से दोनों ने विद्या धन और सुवर्ण आदि धन, और परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है। यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम में आनन्द वर्धक है ॥

यत् सुपुर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः ।

तत्र मे गच्छताद्वं शल्य इव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥

यत् । सु-पुर्णाः । विवक्षवः । अनमीवाः । विवक्षवः । तत्र । मे । गच्छतात् । हवम् । शल्यः-इव । कुल्मलम् । यथा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत् = यत्र) जहां (सुपुर्णाः) बड़ी पूंति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूर दशी पुरुष] (विवक्षवः) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवाः) रोगरहित स्वस्थ पुरुष, (विवक्षवः) बोलने वाले हो, (तत्र) उस स्थान में [वह वर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या की] (हवम्) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्) पावे, (शल्यः इव) जैसे वाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुल्मलम्) अपने दंडे में [पहुंचती है] ॥ ३ ॥

सम्यग् अगमन् । चित्तानि । चित्ती ज्ञाने-क्त । मनांसि । व्रतानि पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । इति वृञ्-अतच् । कित्काद् गुणाभावः, यणादेशः । व्रतमिति कर्म नाम वृणोतीति सत इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतोऽगमपि व्रतमुच्यते यद्वावृणोति शरीरम्-निरुक्ते— २ । १३ । कर्माणि । नियमान् ॥

३—यत् । यत्र स्थाने । सुपुर्णाः । अ० १ । २४ । १ । सुपालनाः, सुपूरणाः । सुपतनशीला गरुडादयः पक्षिणो यथा । विवक्षवः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वि + वक्ष रोषसंहृत्योः—उ । विविधं राशीकरणशीलाः, विद्यासुर्णादीनाम् । अनमीवाः । अ० २ । २६ । ६ । रोगरहितः । स्वस्थाः । विवक्षावः । ब्रुवः सनि वच्यादेशे । सनाशंसभिज्ञ उः । पा० ३ । २ । १६८ । उप्रत्ययः । वक्तुमिच्छवः । तत्र । तस्मिन् स्थाने । मे । मम । गच्छतात् । प्राप्नुयात् वरः कन्या वा । हवस् । अ० १ । १५ । २ । हवम्-अप् । आवाहनम् । विज्ञापनम् । शल्यः ।

भाषार्थ—जहां विद्वान् पुरुषों में रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियों में रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हों; और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहां पर उन दोनों के विवाह की बात चीत पहुंचे, और ऐसी दृढ़ हो जावे जैसे वाण की कील, वाण की दंडी में पक्की जम जाती है ॥ ३ ॥

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम् ।

कन्यानां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्तरम् । तत् । बाह्यम् । यत् । बाह्यम् । तत् । अन्तरम् ।
कन्यानाम् । विश्व-रूपाणाम् । मनः । गृभाय । औषधे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे वर ! (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय में] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हो, और (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय,] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय में स्थिर हो] (औषधे) हे ताप नाशक [औषधिरूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्व सुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओं [कन्या] के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वर हार्दिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हार्दिक प्रीति रखे । इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढ़ेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा । (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिये आदरार्थ है, और मन्त्र में जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिये भी समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सानसिर्वर्णसिपर्णसि...शल्याः । उ० ४।१०७। इति शल गतौ-य । वाणाग्रभागः । शस्त्रविशेषः । कुल्मलम् । कुपेर्लश्च । उ० ४ । १८८ । इति कुष निष्कर्षे, दीप्तौ कमलम् । षस्य लः । कुप्मलम् । छेदनम् । वाणदण्डच्छिद्रम् ॥

४—यत् । किञ्चित्, प्रीतिभावः । शुभविचारः । अन्तरम् । अन्त + रा-क । अन्तं राति दत्ताति । मध्यम् । अन्तर्धानम् । आत्मीयम् । बाह्यम् । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४।१।८५ । अत्र वार्षिकम् । वहिषष्टिलोपो यञ् च । इति वहिस्-यञ्, टिलोपश्च । वहिष्ठम् । प्रकटम् । कन्यानाम् । अघन्यादयश्च ।

एयमंगुन् पतिकामा जनिकामोहमार्गमम् ।

अश्वः कनिक्रदत् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम् । अंगुन् । पति-कामा । जनि-कामः । अहम् ।

आ । अंगुमम् । अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् ।

सह । आ । अंगुमम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ+अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकामः) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मैं (आ+अगमम्) आया हूँ । (अहम्) मैं (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूँ । (यथा) जैसे (कनिक्रदत्) हींसता हुआ (अश्वः) घोड़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवाम् घोड़ा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम में प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

उ० ४ । ११२ । इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु-यच्, टापच् । आदिरार्थं बहुवचनम् । दीप्यमानायाः । कमनीयायाः । कुमार्याः । विश्वरूपाणाम् । सर्वाङ्गसुन्दरीणाम् । मनः । चित्तम् । गृभाय । छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहे लोटि श्नः शायजादेशः । हस्य भः । गृहाण । ओषधे । अ० । १ । २३ । १ । हे तापनाशक । ओषधिरूपधर ॥

५—इयम् । कमनीया कन्या । आ+अगन् । गमेलुङि तिपि च्लेलुङि । श्री नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् । पतिकामा । भर्तार-मिच्छन्ती । जनिकामः । जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । इति जन जनने धा जनी प्रादुर्भावे-इण् । जनिघध्योश्च । पा० ७ । ३ । ३५ । इति वृद्धिनिषेधः । जनयति वीरपुत्रान् जायते सुखममया सा जनिर्जाया । तां कामयमानः । अहम् । घरः । आ+अगमम् । आगतवानस्मि । अश्वः । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गः । कनिक्रदत् । दाधर्त्तिदधर्त्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । इति क्रन्द आह्वाने यङि शत्रन्तो निपातितः । भृशं हेषां कुर्वन् । भगेन । भजनीयेन पत्नीरूपैश्वर्येण । अहम् । सङ्गतः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप् ; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ भी दोषों का नाश करे ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमे विश्वस्य तर्हणी ।

तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वान् इव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । या । मही । दृषत् । क्रिमेः । विश्वस्य । तर्हणी ।

तया । पिनष्मि । सम् । क्रिमीन् । दृषदा । खल्वान्-इव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमेः) क्रमि (कीड़े) की (तर्हणी) नाश करने वाली है, (तया) उस से (क्रिमीन्) सब क्रमियों को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालूं, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनों को [पीसते हैं] ॥ १ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर अपनी अद्वैत न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दुःखारी को दंड देता है, इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषों को नाश करे । क्योंकि छोटे छोटों से ही बड़े बड़े दोष उत्पन्न होकर अन्त में बड़ी हानि पहुंचाते हैं । जैसे कि शिर वा उदर में छोटे २ कीड़े उत्पन्न होकर बड़ी व्याकुलता और रोग के कारण होते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त में क्रमियों के उदाहरण से क्षुद्र दोषों के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

१—इन्द्रस्य । परमैश्वर्यवतः परमात्मनः । मही । मह पूजायाम्-अच् । विद्गोरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । मह्यते मही । महती । विशाला । दृषत् । दृणातेः पुग्घ्रस्वश्च । उ० १ । १३१ । इति ट विदारे-अदि प्रत्यये-धातोः षुक् ह्रस्वश्च । दीर्यते यया । शिला । क्रिमेः । क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च । उ० ४ । १२२ । इति क्रमु पादविक्षेपे-इन्, कित्, अत इत् । क्रमेः । क्षुद्रजन्तोः कीटस्य । विश्वस्य । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । तर्हणी । तृह हिंसे-करणे ल्युट् । ङीप् । हन्त्री । पिनष्मि । पिप्लु संचूर्णैः । संचूर्णयामि । क्रिमीन् । कीटान् । दृषदा । शिलया । खल्वान् । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति खल संचये-वन् । चणकान्-इति सायणः ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरुहमतृहम् । अल्गण्डुन्तसर्वा-
ज्जलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

दृष्टम् । अदृष्टम् । अतृहम् । अथो इति । कुरुहम् । अतृहम् ।
अल्गण्डून् । सर्वान् । जलुनान् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भु-
याम् सि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दृष्टम्) दीखते हुये और (अदृष्टम्) न दीखते हुये [क्रिमि-
गण] को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है, (अथो) और भी (कुरुहम्)
भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिन भिनाने वाले को
(अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है। (सर्वान्) सब (अल्गण्डून्) उपधानों [तकियों]
में भरे हुये, (जलुनान्) बेग बेग चलने वाले (क्रिमीन्) कीड़ों को (वचसा)
वचन से (जम्भयामसि=०—मः) हम मार डालें ॥ २ ॥

भावार्थ—१, जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि,
मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बड़े २ रोगों के कारण होते हैं, मार डालते हैं,
इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषों का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

२—(वचसा जम्भयामसि) वचन से हम मार डालें। इसका यह अभि-
प्राय है कि। १—वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, २—ओषधि, शौच आदि

२—दृष्टम् । दृष्टिगोचरम् । स्थूलशरीर युक्तम् । अदृष्टम् । अगोचरम् ।
सूक्ष्मकायम् । अस्माकं शरीरान्तः स्थितं वा । अतृहम् । तृह हिंसायाम्-
छन्दसि लङि च्लेरङ् । नाशितवानस्मि । अथो । अथ + उ । अपि च ।
कुरुहम् । कु-रुहम् । कु शब्दे, आर्त्तस्वरे-डु । कवन्ते शब्दयन्ति प्राणिना
यत्र सा कुः पृथिवी । कुवन्ते आर्त्तस्वरं कुर्वन्ति यस्मात् कु पापम्, कुत्सा ।
रुशातिभ्यां कन् । उ० ४ । १०३ । इति रुङ् गतौ वधे, वा रु ध्वनौ-कृन् । छान्दसो
दीर्घः । कौ भूमौ रवते गच्छतीति कुरुहः । यद्वा, कुत्सितं रवते हिनस्ति, वा रौति
ध्वनयतीति कुरुहः । भूमिगन्तारम् । कुहिंसकम् । कुत्सितध्वनियुक्तं कीटम् ।

के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लौरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति, और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—(कुरूम्) के स्थान पर सायणभाष्य में [कुरीरम्] और (शलुनान्) के स्थान पर (शलगान्) है ॥

अलगण्डून् हन्मि महता वृधेन दुना अदूना अरसा
अभूवन् । शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा
क्रिमीणां नकिरुच्छिपातै ॥ ३ ॥

अलगण्डून् । हन्मि । महता । वृधेन । दुनाः । अदूनाः ।
अरसाः । अभूवन् । शिष्टान् । अशिष्टान् । नि । तिरामि ।
वाचा । यथा । क्रिमीणां । नकिः । उत्-शिषातै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अलगण्डून्) उपधानों [तकियों में] भरे हुये जन्तुओं को (महता) बड़ी (वृधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूँ । (दुनाः) तपे

अलगण्डून् । अल्-गण्डून् । अल् पर्याप्तौ-किप् । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ ।
इति गडि कपोलविषयक्रियायाम्-उ । गण्डयते शिरोभागः स्थाप्यतेऽत्रेति
गण्डुः । उपधानम् । अलन्ति पर्याप्ता भवन्ति गण्डुषु, उपधानेषु ये तान् ।
सर्वान् । निःशेषान् । शलुनान् । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति
शल वेगे-उनन् । शीघ्रगतीन् । क्रिमीन् । म० १ । कीटान् । वचसा । वच
कथने-असुन् । वचनेन । कथनेन । वचनमात्रेण, अतिशीघ्रम् । ओषधिशौचादि-
हितकथनेन-ओ३म्, गायत्र्यादिजपेन-रोचककथा-निद्रागीतादि वर्णनेन-इत्ये-
वमर्थाः । जम्भयामसि । जभि नाशे, नाशने च । रधिजभोरचि । पा० ७ ।
१ । ६१ । इति जुम् । जम्भयामः । नाशयामः ॥

३—अलगण्डून् । म० २ । उपधानेषु पूर्णान् । हन्मि । नष्टीकरोमि ।
महता । अ० १ । १० । ४ । प्रभूतेन । वृधेन । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ ।
७६ । इति हन-अप्, बधादेशः । हननसाधनेन । प्रहारेण । नाः । वादिभ्यः ।

हुये और (अदूनाः) बिना तपे हुये [पक्के और कच्चे कीड़े] (अरसाः) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गये हैं । (शिष्टान्) बचे हुये (अशिष्टान्) दुष्टों को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूं, (यथा) जिस से (क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिषातै) बचा रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, और २ के समान है ॥ ३ ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं १ मथो पार्ष्ट्यं क्रिमीन् ।

अवस्कृवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचंसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अनु'-आन्त्र्यम् । शीर्षण्यम् । अथो इति । पार्ष्ट्यम् ।
क्रिमीन् । अवस्कृवम् । वि-अध्वरम् । क्रिमीन् । वचंसा ।
जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अन्वान्त्र्यम्) आंतों में के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर में के (अथो=अथ-उ) और भी (पार्ष्ट्यम्) पसलियों में के (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को, (अवस्कृवम्) नीचे २ रेंगने वाले [जैसे दहु क्रमि] और

पा० ८ । २ । ४४ । अत्र वार्त्तिकम् । दुग्वोर्दीर्घश्च । इति दु गतौ-क ।
अथवा । ओदितश्च । पा० ८ । २ । ४५ । इति ओदृङ् खेदे उपतापे-क । तस्य
नः । खेदिताः । परितप्ताः । अदूनाः । अखेदिताः । अतप्ताः । अरसाः ।
शुष्काः । निर्बलाः । शिष्टान् । शिष असर्वोपयोगे-क । अवशिष्टान् । शेषान् ।
अशिष्टान् । शासु शासने-क । शास इदङ् हलोः । आ० ६ । ४ । ३४ । इति इकारः ।
शासिवसिघसीनाम् च । पा० ८ । ३ । ६० । इति सस्य षः । शिष्टविरोधिनः ।
दुष्टान् । नि+तिरामि । निपूर्वस्तिरतिहिंसने । निहन्मि । वाचा । वचसा
म० २ । क्रिमीणाम् । कीटानां मध्ये । नकिः । न कश्चिदपि । उच्छि-
षातै । शिष्ट विशेषणे लेटि आडागमः । छन्दसि आत्मनेपदम् । टेरेत्वे कृते ।
वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ३ । ६६ । इति पेट्वम् । उच्छिष्यात् ॥

४-अन्वान्त्र्यम् । अस्त्रिजगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च । उ० ४ । १६० ।
इति अम गतौ, यद्वा, अति बन्धने—प्यन्, धातोर्बृद्धिश्च । अस्त्यते बध्यतेदेहोऽ-

(व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीड़ा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को (वचसा) बात मात्र से (जम्भयामसि = ०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ के समान है ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (पार्थेयम्) के स्थान पर [पार्थेयम्] है ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्यसर्वं १ न्तः ।
ये अस्माकं तन्वमाविविशुः सर्वं तदुन्मि जनिम्
क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । पर्वतेषु । वनेषु । ओषधीषु । पशुषु ।
अप्-सु । अन्तः । ये । अस्माकम् । तन्वम् । आ-विविशुः ।
सर्वम् । तत् । हुन्मि । जनिम् । क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (पर्वतेषु) पहाड़ों में, (वनेषु)

नेनेति आन्त्रं देहबन्धको नाडीभेदः । शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति भवे यत् । अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवम् । शोषणाय । शरीरावयवाच्च पा० ४ । ३ । ५५ । इति शिरस्-यत् । ये च तद्धिते । पा० ६ । १ । ६१ । इति शोषन् आदेशः । शिरसि भवम् । पार्थेयम् । किञ्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति पृषु सेके—किच् । इति पृष्टिः—अ० २ । ७ । ५ । ततो ढञ् । आयने-यीर्नायियः० । पा० ७ । १ । २ । इति ढस्य ण्यादेशः । पृष्टिषु पार्श्वविषयेषु भवम् । अवस्कव- । अव + स्कुञ् आलावने “कूदना”—पचायच् । अवागमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्त्तमानम् । व्यध्वरम् । १—उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति चि + अध्वन्—अच् प्रत्ययः, प्रादिसमासः । रो मत्वर्थीयः । विरुद्धमार्गयुक्तम् । कुपथगामिनम् । २—स्थेशभासपिसकसो वरच् । पा० ३ । २ । १७५ । इति व्यध ताडने-वरच् । चितः पा० ६ । १ । १६३ । इति चिति प्रत्यये अन्त उदात्तः । व्याधम् । ताडकम् । पीडकम् । अथवा । ३—ध्वरति = हन्ति—निघ० ३ । १७ । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति घ । विविरोधे + अध्वरा, अहिंसा । अहिंसाविरोधिनम् । हिंसावर्धकम् । शरीरमांस—भक्षकम् । अयं शब्दः सर्वत्रान्तोदात्तः । अन्यद् व्याख्यातं म० २ ॥

५—क्रिमयः । म० १ । क्षुद्रजन्तवः । पर्वतेषु । भृशदृशियजिपथि० ।

बनों में, (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में, (पशुषु) गौ आदि पशुओं में और (अप्सु) जल में (अन्तः) भीतर हैं । और (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं, (क्रिमीणाम्) क्रमियों के (तत्) उस (सर्वम्) सब (जनिम्) जन्म को (हन्मि) मैं नाश करूँ ॥५॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब वस्तुओं और अपने शरीरों को शुद्ध रखें कि छोटे बड़े कोई जन्तु क्लेश न दें, ऐसे ही सब पुरुष आत्म शुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बड़े दोषों को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

सायणभाष्य में (ये) स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान में [तन्वः] है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १ गायत्री, २—६ अनुष्प छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेशः—कीड़ों के समान दोषों का नाश करे, इस का उपदेश ॥

उदन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निमोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिम्यो गवि ॥ १ ॥

उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे—अतच् । पर्वति पूरयति भूमिमिति । शैलेषु । वनेषु । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति वन सम्भक्तौ—घः घन्यते सेव्यते वृक्षैः । बहुवृत्तयुक्तस्थानेषु । अरण्येषु । ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः । व्याख्यातानि—अ० १ । ३० । ३ । ओषधीषु । धान्यादिषु । पशुषु । गवादिषु । सर्वजीवेषु । अप्सु । जलेषु । अन्तः । मध्ये । तन्वम् । अ० १ । १ । १ । शरीरम् । आ-विविशुः । विश प्रवेशे—तिद् । प्रविष्टाः । सर्वम् । प्रत्येकम् । तत् । पूर्वोक्तम् । हन्मि । नाशयामि । जनिम् । अ० १ । ८ । ४ । उत्पत्तिकारणम् । क्रिमीणाम् । कृमीणाम् । कीटानाम् ॥

उत्-यन् । आदित्यः । क्रिमीन् । हन्तु । नि-ओचन् । हन्तु ।
रश्मि-भिः । ये । अन्तः । क्रिमयः । गवि ॥ १ ॥

भषार्थ—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्यः) प्रकाशमान सूर्य
(क्रिमीन्) उन कीड़ों को (हन्तु) मारे, और (निओचन्) अस्त हुआ [भी
सूर्य] (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्रिमयः)
काड़े (गवि) पृथिवी में (अन्तः) भीतर हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—१-प्रातःकाल और सायंकाल में सूर्य की कोमल किरणों और
शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के सेवन से शारीरिक राग के कीड़ों का नाश होकर
मन हृष्ट और शरीर पुष्ट हाता है ॥ १ ॥

२-उदय और अस्त होते हुये सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढ़ापे
तक अपने दोषों का नाश करके सदा प्रसन्न रहे ।

टिप्पणी । इस सूक्त और ३३वें सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सू० २३
से करें ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१-उद्यन् । उत् + इण् गतौ—शतृ । उदयं प्राप्नुवन् । आदित्यः । अ०
१।६।१। आङ् + दीपो दीप्तौ—यक्प्रत्ययान्तो निपातितः । आदीप्यमानः
सूर्यः । क्रिमीन् । अ० २।३१।१। क्तद्रजन्तून् । हन्तु । नाशयतु । निओ-
चन् । नि + ओचु गतौ—शतृ । अस्तं गच्छन् । रश्मिभिः । अश्नोतेरश च ।
उ० ४।४६। इति अशू व्याप्तौ—मि, धातो रशदेशश्च । किरणैः । अन्तः ।
मध्ये । क्रिमयः । क्रमणशीलाः क्षुद्रजन्तवः । गवि । गमेडोः । उ० २।६७।
इति गस्लु गतौ—डो । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरकृता भवति यच्चास्यं
भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः—निरु० २।५। पृथिव्याम् इन्द्रिये वा ॥

विश्व-रूपम् । चतुः-स्रक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।
शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥२॥

भाष्यार्थ—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओं में]
नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रींगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय
शील [वा श्वेत वर्ण] (क्रिमिम्) कीड़े को (शृणामि) मैं मारता हूँ, (अस्य) इस
की (पृष्टीः) एसलियों को (अपि) भी, और (यत्) जो (शिरः) शिर है [उस को
भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले
मकड़ी मांखी आदि क्षुद्र जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर
स्थस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति
होती है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(चतुरक्ष) चार आंख वाला—ऐसा प्रयोग वेद में अन्यत्र भी
आया है, वहां भी चारों दिशाओं का ही ग्रहण है ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चतुरक्षयाः ॥ १ ॥

अथर्ववेद ४।२०।७। [और ऋ० १०।१४। १०, ११ भी देखिये।] तू
(कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्षयाः) चार आंख वाली (शुन्याः) व्याप्ति वाली
दिशा की (चक्षुः) आंख है ॥

अत्तिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनम्युहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

विश्वरूपम् । नानाकारम् । चतुरक्षम् । बहुग्रीही । सकृद्यक्षोः
स्वाङ्गात् षच् । पा० ५।४। ११३। इति षच् । चतुर्नेत्रम् । चतुर्विंश, नेत्रयुक्तम् ।
सारङ्गम् । सुवृष्टीवृद्धिश्च । उ० १। १२२। इति स्र गतौ-अङ्गच्, धातोर्बृद्धि-
श्च । सरणशीलम् । श्वेतवर्णम् । अर्जुनम् । अर्जोर्णिंलुक् च । उ० ३। ५८।
इति अर्ज सम्पादने-उनन् । संचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । शृणामि । शृ हिंसायाम् ।
हन्मि । पृष्टीः । अ० २।७।५। पार्श्वस्थानि । वृश्चामि । क्षिनि । शिरः ।
अ० २। २५। २। मस्तकम् ॥

अ॒त्ति॒-वत् । वः । क्रि॒मयः । ह॒न्मि । क॒ण्व॒-वत् । ज॒मद॒ग्नि॒-
वत् । अ॒गस्त्य॑स्य । ब्र॒ह्म॑णा । स॒म् । पि॒न॒ष्मि । अ॒हम् ।
क्रि॒मीन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्रिमयः) हे कीड़ो ! (वः) तुम को (अत्तिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूँ । (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूँ ॥ ३ ४

भावार्थ—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ में भी हैं ॥

३—अ॒त्ति॒वत् । अ॒देस्त्रि॒निश्च॑ । उ० ४ । ६७ । इति॒अद् भक्षणे॑ अत॒ सात॒-
त्यग॑मने वा-त्रिप् । अ॒त्ति दोषान् भक्ष॑यति नाशयतीति अततीति वा अ॒त्रिः । मु॒निः ।
अथ॒वा । र॒सान् अ॒त्तीति॑ सूर्यः । तत्सदृशः । वः । युष्मान् । क्रि॒मयः । हे
क्षुद्र॑जन्तवः । ह॒न्मि । नाश॑यामि । क॒ण्व॒वत् अ० २ । २५ । ३ । अ॒ग्नि-
प्रु॒षिल॑टिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे, निमीलने-कन् । कणति उपदेश-
शब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा । निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । मेधावि-
वत्-निघ० ३ । १५ । ज॒मद॒ग्नि॒वत् । ज॒मु भक्षणे॑, दीप्तौ च-शतृ, + अ॒ग्नि-
वतुप् । ज॒मद॒ग्नयः प्र॑जमिता॒ग्नयो वा प्र॑ज्वलिता॒ग्नयो वा-नि॒रु० ७ । २४ । ज॒मन्
हुत॑भक्षणशीलः, अथवा, प्रज्वलितो अग्निरिव तेजो येषां ते जमदग्नयः । तत्सदृशः । अ॒गस्त्य॑स्य । अ॒ग वक्र॑गतौ-अच् ततः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० ।
इति अ॒ग + अ॒सु क्षेपणे॑-भावे तिप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । इति यत् ।
पृषोदरादित्वाद् दीर्घाभावः । अ॒गस्य॑ कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने सम-
र्थस्य परमेश्वरस्य । ब्र॒ह्म॑णा । अ० १ । ८ । ४ । वेद॑ज्ञानेन । स॒म् + पि॒-
न॒ष्मि । अ० २ । ३१ । १ । संचूर्ण॑यामि । अन्यद् गतम् ॥

हुतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हुतः ।

हुतो हुतमाता क्रिमिर्हुतभ्राता हुतस्वसा ॥ ४ ॥

हुतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हुतः ।

हुतः । हुत-माता । क्रिमिः । हुत-भ्राता । हुत-स्वसा ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हुतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वार पाल (हुतः) नष्ट होवे । (हुतमाता) जिस की माता नष्ट हो चुकी है, (हुतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हुतस्वसा) जिस की वहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रिमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हुतः) मार डाला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दोषों और उन के कारणों को उचित प्रकार के समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषों के प्रधान और गौण कारणों को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

हुतासौ अस्य वेशसौ हुतासुः परिवेशसः ॥

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हुताः ॥५॥

४—हुतः । नाशितः । राजा । अ० १ । १० । १ । अधिपतिः । उत ।

अपि च । एषाम् । उपस्थितानाम् । स्थपतिः । छा-कः । स्थः स्थानम् ।

अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । इति पारक्षणे-अति । अथवा, एयन्तस्य स्था धातोः

पुकि-अति प्रत्यये ह्रस्वः । स्थं स्थानं पाति, अथवा पुरुषान् स्थापयतीति स्थ-

पतिः कञ्चुकी, द्वारपालः । हुतमाता । हुता माता यस्य । नष्टृत्श्च । पा० ५ ।

४ । १५३ । इति घटुब्रीहौ नित्यं प्राप्तस्य कपः । ऋतश्छन्दसि पा० ५ । ४ ।

१५८ । इति प्रतिषेधः । नष्टमातृकः । हुतभ्राता । पूर्ववत् कपः प्रतिषेधः ।

नष्टभ्रातृकः । हुतस्वसा । पूर्ववत् सिद्धिः । हुतस्वसृकः । नष्टभगिनीकः ।

अन्यद् गतम् ॥

हतासः । अस्य । वेशसः । हतासः । परिवेशसः । अथोदिति
ये । क्षुल्लकाः-इव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः =
हताः) नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों । (अथो =
अथ-उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से
हैं, (ते) वे (सर्वे) (क्रिमयः) कीड़े (हुताः) नष्ट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की
सामग्री का सर्वनाश करदे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट
करते हैं ॥ ५ ॥

प्र ते' शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्धमि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । वि-तुदायसि ।
भिनद्धि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विष-धानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सीझों को (प्र+शृणामि) मैं तोड़े
डालना हूँ, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वितुदायसि) तू सब ओर टकर मारता
है । (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनद्धि) तोड़ता हूँ (यः) जो
(ते) तेरे (विषधानः) विष की थैली है ॥ ६ ॥

५—हतासः । असुक् आगमः । हताः । वेशसः । मिथुनेऽसि । उ०
४ । २२३ । इति बाहुलकाद् अमिथुनेऽपि । विश-असि प्रत्ययः । प्रवेशकाः ।
मुख्यसेवकाः । परिवेशसः । परितः स्थिताः । अनुचराः । अथो । अपि च
क्षुल्लकाः । क्षुद् + लकाः । क्षुद्रिर संपेषणे-क्लिप् + लक आस्वादे, प्रासौ-
अच् । तोलि । पा० ८ । ४ । ६० । इति परसवर्णः । क्षुद् क्षुद्रत्वं लाकयन्ति
प्राप्नुवन्ति ते क्षुल्लकाः । सूक्ष्माकाराः क्षुद्रजन्तवः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

६—ते । तव । शृणामि । भिनद्धि । शृङ्गे । शृणोते ह्रस्वश्च । उ० १ ।
१२६ । इति शृ हिसायाम्-गन्, धातो ह्रस्वत्वं क्तिवं लुट् च प्रत्ययस्य । शृङ्गं भय-

भाष्यार्थ—जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगों से अन्य जीवों को सताता है, इसी प्रकार जो क्षुद्र किमियों के सामन आत्मदोष दिन रात कष्ट देते हैं, उन को और उनके कारणों को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥ ६ ॥

(कुषम्भम्) के स्थान पर सायण भाष्य में (वुकम्भम्) पद है ।

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप् , ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा-शारीरिक विषय में शरीररक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां वृबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मुस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥
अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । वृबुकात् ।
अधि । यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मुस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि ।
वृहामि । ते ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथुनों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (वृबुकात्=चुबकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मुस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः)

तेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा-नि० २।७। द्वं विषाणे । वि-तुदायसि । तुद व्यथने-शस्य शायजादेशः । विशेषेण तुदसि । व्यथयसे । भिनद्धि । मिदिर् विदारणे । विदारयामि । कुषुम्भम् । कुसेरुम्भोमेदेताः । उ० ४ । १०६ । इति कुष निष्कर्षे, वा, कुस स्तंभे-उम्भ प्रत्ययः । सकारणकारयोरैकत्वम् । कुसुम्भः=कमण्डलुः, जलपात्रम् । शरीरे जलनाडीविशेषम् । विषधानः । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति विष+डधाञ् धारणपोषणयोः—अधिकरणे ल्युट् । विषं धीयतेऽन्न । विषस्थानम् ।

१—अक्षीभ्याम् । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति अक्षि शब्दस्य ईकारादेशः । स चोदात्तः । वृबुभ्याम् । ते । तव । नासिकाभ्याम् ।

जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [क्षयी] रोग को (वि वृ-
हामि) मैं उखाड़े देता हूँ ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—१,—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सदैव उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥ १ ॥

२—सायणभाष्य में (लुबुकात्) के स्थान में (चुबकात्) है, और ऋग्वेद में भी (लुबुकात्) पाठ है।

३—इस सूक्त के ७ मन्त्रों के स्थान में ऋग्वेद म० १० सू० १६३ में ६ मन्त्र हैं। मन्त्र ३ का पहिला आधा (हृदयात् ते परि...) और म० ४ का दूसरा आधा (यक्ष्मं कुक्षिभ्यां...) ऋग्वेद में नहीं हैं, शेष मन्त्र कुछ भेद से हैं। ऋग्वेद में इस सूक्त के ऋषि विवृहा काश्यप हैं ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्यात् ।

यक्ष्मं दोषण्यं मंसंभ्यां ब्राहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

एबुल् तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति णास शब्दे-एबुल् । टापि अत इत्त्वम् ।
प्राणछिद्राभ्याम् । कर्णाभ्याम् । कृवृजृसि० । उ० ३ । १० । इति कृ शवित्ते पे-
-नन् । कीर्यते वित्तिप्यते शब्दो वायुना यज । भवणाम्याम् । लुबुकात् ।
बलेरुक् । उ० ४ । ४० । इति ओलुप स्पर्शे-उक प्रत्ययो बाहुलकात्, पस्य च बः ।
ओष्ठाधोभागात् । चिबुकात् । अधि । पञ्चम्यर्थानुयायी । सर्वथा । यक्ष्मम् ।
अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयरोगम् । शीर्षण्यम् । शरीरावय-
वाच्च । पा० ४ । ३ । १४२ । इति शिरस्-यत् । ये च तद्धिते । पा० ६ । १ । ६१ ।
इति शिरसः शीर्षन् आदेशः । ये चाभावकर्मणोः । पा० ६ । ४ । १६८ । इति
प्रकृतिभावः । शिरसि भवम् । मास्तेत्कात् । मस्त + इष गतौ-क, पृषोदरा-
विरवात् साधुः । मस्तं मस्तकम् इष्यति स्वाभारत्वेन प्राप्नोतीति । मस्तक-
सवधृताकारस्नेहम् । मस्तकस्नेहम् । जिह्वायाः । अ० १ । १० । ३ । रसनायाः
सकाशात् । वि + वृहामि - वृह उद्यमने-उद्धरामि । पृथक् करोमि ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् ।
यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहुभ्याम् । वि ।
बृहामि । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हँसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से, और (ते) तेरे (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) मुड़्डे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग के (वि बृहामि) मैं उखाड़े देता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ग्रीवा के अथर्वों का वर्णन है । भाषार्थ म० १ के समान है ॥ २ ॥

२—ग्रीवाभ्यः । शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाऽऽवामीवाः । उ० १ । १५४ । इति गु
निररणे-वन् धातोर्ग्रीभावाः, टाप् । निगलति यया । कन्धरावयवेभ्यः । उष्णि-
हाभ्याम् । ऋत्विग्दधृक्स्त्रग्दिगुष्णिगंचुयुजिकृश्चां च, । पा० ३ । २ । ५६ ।
इति उत् + णिह ग्रीतौ, स्नेहने-किन्, तलोपः षत्वं च, टाप् । उष्णिगोव
उष्णिहा । उष्णिगुत्सनाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । निरु० ।
७ । १२ । ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्सनाताभ्यो वानाडीभ्यः । कीकसाभ्यः ।
अत्यविचमि० । ३० ३ । ११७ । इति ककि गतौ-असच्, धातोः कीकादेशः ।
यद्वा । की कुत्सितेन रक्तादिना देहाभ्यन्तरे कसति उत्पद्यते । की + कस गतौ-
अच्, टाप् । जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः । अनूक्यात् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा०
३ । ३ । ११३ । इति अनु + उच समवाये अधिकरणे ण्यत् । न्यङ्कदीनां च ।
पा० ७ । ३ । ५३ । इति कुत्वम् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । अनु-
क्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थानि यत्र । पृष्ठास्थिसकाशात्, यक्ष्मम् । अ०
२ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयरोगम् । दोषण्यम् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४
११० । इति दोस्-यत् । पहन्नः० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोषन् आदेशः
दोषणोः, भुजदण्डयोर्भवम् । अंसाभ्याम् । अमेः सन् । उ० ५ । २१ । इति ।
अम गतौ-सन् । रक्न्धाभ्याम् । बाहुभ्याम् । अ० २ । २७ । ३ । भुजाभ्याम्
वि + बृहामि । म० १ । उन्मूलयामि ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्षणात् पार्श्वाम्भ्याम् ।

यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहं यक्रस्ते वि वृहामसि ॥३॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्षणात् । पार्श्वाम्भ्याम् ।

यक्ष्मं । मतस्नाभ्याम् । प्लीहः । यक्रः । ते । वि । वृहामसि ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हली-
क्षणात्) पित्ते से, (पार्श्वाम्भ्याम् परि) दोनों कांखों [कक्षाओं वा बगलों] से
और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुदों] से, (प्लीहः) मीहा,
वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्रः) यकृत [काल खण्ड वा जिगर]
से (यक्ष्मम्) दायी रोग को (वि वृहामसि = ०—मः) हम उखाड़े देते हैं ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ
मन्त्र १ के समान है ॥ ३॥

३—हृदयात् । अ० २ । २६ । ६ । वक्षःस्थमांसपिण्डात् । हृदयलक्षणं,
यथा । शोणितकफप्रसादजं हृदयं तदाध्या हि धमन्यः प्राणवहाः । तस्याधो-
धामतः मीहा फुस्फुसश्च दक्षिणतो यकृतं क्लोम च । इति शब्दकल्पद्रुमे सुश्र-
तात् । क्लोम्नः । क्लुङ् गतौ मनिन् । फुप्फुसात् । बाहोर्द्वयोर्मध्ये वक्षः, तन्मध्ये
हृदय तत्पार्श्वं क्लोम पिपासास्थानम् । इति श० क० द्रुमे । हलीक्षणात् ।
अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । इति हल विलेखे-ई । क्षणु तेजने-ड । हलीं घिलेखं दणौति
तेजतीति । मांसपिण्डावशेषात् पित्तात् । पार्श्वाम्भ्याम् । स्पृशेः श्वणशुनौ
पृ च । उ० ५ । २७ । इति स्पृश-श्वण् पृ आदेशश्च । कक्षयोरधोभागाभ्याम् ।
मतस्नाभ्याम् । मत + णिह स्नेहने-ड । मतं ज्ञानं स्नेहयतीति मतस्नम् ।
उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां वृक्ष्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा-इति
सायणः । ग्रीवाधस्ताद् भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने ताभ्याम्
इति महीधरः, शुक्लयजु० २५ । ८ । प्लीहः । श्वनुक्षन्पूषन्मीहन्० ।
उ० १ । १५६ । इति सिंहङ् गतौ-कनिन् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमांसखण्डात् ।
यक्रः । शक्रेऽर्हतिन् । उ० ४ । ५८ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-
ऋतिन् । जस्य कः । यजति संगच्छते यकृतं । पक्ष्मः० । पा० ६ । १ । ६३ इति
यकन् आदेशः । कुक्षेर्दक्षिणभागस्थमांसखण्डात् । कालखण्डात् । अन्यद्
गतम् ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्या वनिष्ठोरुदरादधि ।

यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मलमधान] से, (उदरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कांखों से, (प्लाशेः) कोव में की थैली से, और (नाभ्याः) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

जुह्व्यां ते अष्टीवद्भ्यां पाष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।

यक्ष्मं भसद्भ्यं श्रोणिभ्यां भासद्भ्यं भसंसो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

४- आन्त्रेभ्यः । अ० १ । ३ । ६ । अस्त्रिजगमिनमि० । उ० ४ । १६० ।
इति अति बन्धने-प्रन् । उदरनाडीविशेषेभ्यः । पुरीतद्भ्यः । गुदाभ्यः ।
इगुपधक्षाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति गुद खेलने-क । टाप् । गोदते
खेलति चलति अपानवायुर्यया । मलत्यागनाडीभ्यः । वनिष्ठोः । वन
संभक्तौ—श्रीणदिक इष्टुप् प्रत्ययः । स्थूलान्त्रात् । उदरात् । उद्दि दृणातेर-
लचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १६ । इति उद् + द विदारे-अच् । उपसर्गस्य
दलोपः । नाभिस्तनयोर्मध्यभागात् । जठरात् । कुक्षिभ्याम् । मुषिकुपिशुषिभ्यः
क्विसः । उ० ३ । १५५ । इति कुप निष्कर्षे-क्विस । दक्षिणात्तरोदरभागाभ्याम् ।
प्लाशेः । वसिधपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति प्र + अशू व्याप्तौ-इञ्, रस्य लः ।
बहुच्छिद्रात् मलपात्रात्-इति सायणः [Mesentery-Griffith.] । शिश्नात्,
यथा महीघरः-यजु० १६ । ८७ । कुक्षिस्थनाडीविशेषात् । नाभ्याः । अ० १ ।
१३ । ३ । उदरावर्तात् । नाभिमण्डलात् । अन्यद् गतम् ॥

ऊरुभ्याम् । ते । अष्टीवत्भ्याम् । पाणिभ्याम् । प्रपदाभ्याम् । यक्ष्मम् । भस्त्रम् । अग्निभ्याम् । भस्त्रम् । भंससः । वि । वृहामि । ते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से (अष्टीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (पाणिभ्याम्) दोनों एड़ियों से (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (अग्निभ्याम्) दोनों कूटों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भस्त्रम्) कटि [कमर] के और (भस्त्रम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ना हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि से नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

अस्थिभ्यस्ते मुज्जभ्यः स्त्रावभ्यो ध्रुवनिभ्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामुङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ ६ ॥

५-ऊरुभ्याम् । ऊर्णोर्तिर्नुलोपश्च । उ० १ । ३० । इति ऊर्णं अर्णोदने-कु, नुलोपश्च । जानूपरिभागाभ्याम् । जङ्घाभ्याम् । अष्टीवद्भ्याम् । आसन्दी-बद्धावचनक्रावत्० । पा० ८ । २ । १२ । इति अस्थि-मतुप् । अष्टीभावो निपात्यते । जानुभ्याम् । पाणिभ्याम् । घृणिपृश्निपाणि० । उ० ४ । ५२ । इति पृष्ठु सेके—नि, निपातनात् साधुः । पृष्ठ्यते भूम्यादिकमनेनेति । गुल्फस्याधोभागाभ्याम् । पादग्रन्थधराभ्याम् । प्रपदाभ्याम् । प्रारब्धं प्रगतं वा पदमिति प्रादि समासः । पादाग्रभागाभ्याम् । भस्त्रम् । शृङ्गभसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति भस घुतौ—अदि, यत् । भसत्=जघनं योनिर्वा—श० क० द्रमे । कटिप्रदेशे भवम् । अग्निभ्याम् । वहिभिर्भुगु० । उ० ४ । ५१ । इति भु गतौ, भुतौ—नि । यद्वा, श्रोत्र संघाते—इत् । कटिभ्याम् । नितम्बाभ्याम् । भस्त्रम् । भस्त्र—अण् । भस्त्रि, योनौ भवम् । भंससः । भस दीप्तौ—अधुन, नुद् च । भसमानात् पायोः, गुह्यस्थानात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अस्थि-भ्यः । ते । मज्ज-भ्यः । स्नाव-भ्यः । धमनि-भ्यः ।
यक्ष्मम् । पाणि-भ्याम् । अङ्गुलि-भ्यः । नखेभ्यः । वि ।
बृहामि । ते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्यः) पुठ्टों से और (धमनिभ्यः) नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से, और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयो रोग को (वि बृहामि) मैं जड़ खे उखाडता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अंगों को यथा योग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रखे, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥

अङ्गे अङ्गे लोम्लोम्लि यस्ते पर्वणि पर्वणि । यक्ष्मं
त्वचस्य ते वयं कुशपस्य वीवृहण विष्वञ्चं विवृहामसि ॥ ७ ॥

६-अस्थिभ्यः । अ० १ । २३ । ४ । असु क्षेपणे—क्थिन् । शरीरस्थ-
धातुविशेषेभ्यः । मज्जभ्यः । अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहेभ्यः ।
स्नावभ्यः । स्नामदिप्रयत्ति० । उ० ४ । १३ । इति णा शोधने—वनिप् । वायु-
वाहिनी नाडीभ्यः । सूक्ष्मशिराभ्यः । धमनिभ्यः । अत्तिंसृधृधम्यम्य० ।
उ० २ । १०२ । इति धम प्रापणे—अनि सौत्रा धातुः । धमति, गतिकर्मानिधु० २ । १४ ।
यद्वा ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—अनि । धमति प्रापयति रसादिकमिति धमनिः ।
स्थूलनाडीभ्यः । पाणिभ्याम् । अशिपण्यारुडायलुको च । उ० ४ । १३३ ।
इति पणङ्गु व्यवहारे—इण्, आयलुक् च । हस्ताभ्याम् । अङ्गुलिभ्यः ।
अङ्गुलिचिह्नयुक्तकरणे—उलिच् । अङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्र-
गालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिन्यो भवन्तीति वाङ्मना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति
वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः—निरु० ३ । ८ । हस्तपदप्रसिद्धावयवेभ्यः ।
नखेभ्यः । नहेर्हलोपश्च । उ० ५ । २३ । इति णह बन्धने—ह, हस्य लोपः ।
नहति रुधिरादिकम् । अङ्गुलीकरणकेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

अङ्गे-अङ्गे । लोम्नि-लोम्नि । यः । ते । पर्वणि-पर्वणि । यद्मम् ।
त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । वि-बर्हेण । विष्वञ्चम् ।
वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षया रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अंग अंग
में, (लोम्नि-लोम्नि) रोग रोग में (पर्वणि-पर्वणि) गांठ गांठ में है । (वयम्)
हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में
व्यापक (यद्मम्) क्षया रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्ट वाले विद्वान् के
(विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इम मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों
का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है । जिस प्रकार सदैव निदान
पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष
निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटा कर प्रसन्नचित्त होता है ॥ ७ ॥

७—अङ्गे-अङ्गे । अ० १।१२।२। नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति
सर्वत्र द्विवचनम् । सर्वावयवेषु । लोम्नि-लोम्नि । नामन् सीमन्व्योमन्-
रोमन्लोमन् ० । उ० ४ । १५१ । इति लूप् छेदे-मनिन् प्रत्ययान्तः साधुः । लूयते
छिद्यते शरीरं येन । सर्वेषु रोमकूपेषु । पर्वणि-पर्वणि । अ० २ । ६ । १ ।
सर्वेषु शरीरसन्धिषु । त्वचस्यम् । त्वच संवरणे-असुन्, यत् । यच्चिभम् ।
पा० १ । ४ । १८ । इति क्त्वाभावः । त्वचि भवम् । कश्यपस्य । अ० १ । १४ ।
४ । सोमरसपानशीलस्य । यद्वा । कृजादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ ।
इति दशिर् प्रेक्षे-वुन् । पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्डश्रुतिः० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति
छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि, दशोः पश्य् इत्यादेशः, आद्यन्ताक्षरविपर्ययेण सिद्धिः ।
कश्यपस्य पश्यकस्य द्रष्टृर्ज्ञानिनः पुरुषस्य । यथा । “कश्यपः कस्मात् पश्यको
भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः
पश्य एव निर्भ्रमतयातिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानत्येवातः पश्यक इति ।
आद्यन्ताक्षरविपर्ययादिसः सिंहः कृतेस्नर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति हयवरट्
इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति” —इति श्रीदयानन्दकृतायां ऋग्वे-
दादिभाष्यभूमिकायाम् । पृष्ठे २६१ तमे । विबर्हेण । वृहि वृद्धौ, शब्दे, वृद्ध
उद्यमे-ल्युट्, उपसर्गस्य दीर्घः । विविधोद्यमेन । विष्वञ्चम् । विष व्याप्ती-कु
+ अञ्चु गतौ-किन् । नानाङ्गव्यापकम् । अन्यद् गतम् ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षोपदेशः—बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेशः ।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स युज्यिष्य भागमेतु रायस्पोषा यजमानं
सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः । ईशे । पशु-पतिः । पशूनाम् । चतुः-पदाम् । उत । यः ।
द्वि-पदाम् । निः-क्रीतः । सः । युज्यिष्यम् । भागम् । एतु । रायः ।
पोषाः । यजमानम् । सचन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (पशुपतिः) पशुओं [जीवों] का स्वामी परमेश्वर
(चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (यः) जो (द्विपदाम्) दो पाये (पशूनाम्)
जीवों का (ईशे=इष्टे) राजा है । (सः) वह परमेश्वर (निष्क्रीतः) अनुकूल हो

१—ईशे । ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति
तलोपः । अर्धागर्थद्वयेणां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५३ । इति कर्मणि षष्ठी । ईष्टे ।
ईश्वरः स्वामी वर्तते । पशुपतिः । अर्जिदशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति
दशिर् प्रेक्षे-कु । पातेडतिः । उ० ४ । इति पा रक्षणे-डति । पशूनां दृष्टिवनां
दृष्टानां वा स्थावरजङ्गमनानां जीवानां पाता रक्षिता परमेश्वरः । पशूनाम् ।
अ० १ । २५ । २ । जीवानाम् । चतुष्पदाम् । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । २ ।
१४० । इति बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपः । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० ।
इति पाद् इत्यस्य पदादेशो भस्त्रायायाम् । गवादीनाम् । उत । अपि च । द्विप-
दाम् । पूर्ववत् सिद्धिः । मनुष्यादीनाम् । निष्क्रीतः । निः नितराम्+क्रीञ्
मूल्यदानेन द्रव्यग्रहणे-क । प्रार्थनादिना अनुकूलोक्तः । युज्यिष्यम् । यज्ञत्वि-
ग्भ्यां यत्नञी । पा० ५ । १ । ७१ । पूजाकर्माहम् । भागम् । भज भागसेवयोः-
घञ् । अंशम् । भजनम् । एतु । गच्छतु । प्राप्नोतु । रायः । रातेईः । उ० २ । ६६ ।

कर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजनवा अश को (एतु) प्राप्त करें ।
(रायः) धन को (पोषाः) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को
(सचन्ताम्) सींचती रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोषाये, और गौ आदि चौपाये और
और सब संसार का स्वामी है, वह मनुष्यों के धर्मानुकूल चलने से उन का
(निष्क्रान्तः) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छा वर्ती होकर उन को सब प्रकार
का आनन्द देता है ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो^१ गातुं धत्त यजमानाय देवाः ।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु
पार्थः ॥ २ ॥

प्र-मुञ्चन्तः । भुवनस्य । रेतः । गातुम् । धत्त । यजमानाय ।
दे वाः । उप-आकृतम् । शशमानम् । यत् । अस्थात् । प्रियम् ।
दे वानाम् । अपि । एतु । पार्थः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (भुवनस्य) संसार के
(रेतः) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्तः) दान करते हुये तुम, [यजमा-
नाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो,
(यत्) जो (शशमानम्) उल्लस कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समाप्त

इति रा दाने ग्रहणे च-डै । धनस्य । स्वर्णस्य । पोषाः । पुष पुष्टौ धृतौ च-
घञ् । समृद्धयः । पृष्ठयाः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति (रायस्पोषाः)
अत्र सत्वम् । यजमानम् । यज देवपूजासकृत्तिकरणदानेषु-शानच् । यष्टारम् ।
याजकम् । सचन्ताम् । पचङ् सेचने-लोट् । सिञ्चन्तु ॥

२—प्रमुञ्चन्तः । प्रपूर्वकात् मुञ्च दाने—शतृ । विस्तजन्तः । प्रयच्छन्तः ।
भुवनस्य । अ० २ । १ । ३ । संसारस्य । रेतः । अ० २ । २८ । ५ । बीजम् ।
वृद्धिसामर्थ्यम् । गातुम् । कमिमनिजनिगाभावाहिभ्यश्च । उ० १ । ७३ ।
इति गाङ् गतो-तु । गाते गच्छति येन । मार्गम् । धत्त । धूय दत्त । यजमा-

लाया गया (पाथः) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है, [वह हमें] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होंगे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा संसार की वृद्धि और स्थिति का कारण विचार कर सब को सत्य मार्ग का उपदेश करें जिस से मनुष्य ईश्वर कृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थों को [जो सब को सब जगह सुलभ हैं] यथावत् प्राप्त कर, दुःखों से मुक्त हो कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

ये ब्रुध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्तु मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवा विश्वकर्मा प्रजया संरुणाः ३

ये । ब्रुध्यमानम् । अनु' । दीध्यानाः । अनु-ऐक्षन्त । मनसा ।

चक्षुषा । च । अग्निः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः ।

विश्व-कर्मा । प्र-जया । सम्-रुणाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [महाविद्वान्] (ब्रुध्यमानम् अनु) बन्धन में पड़ते हुये [जीव] पर (दीध्यानाः + सन्तः) प्रकाश करते हुये, (मनसा) मन से (च) और (चक्षुषा) नेत्र से (अन्वैक्षन्त दया से देख चुके हैं, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान्) अग्रगामियों को (अग्निः) सर्वव्यापक, (देवः) प्रकाश-

नाय । म० १ । उपकर्त्रे । देवाः । हे विद्वांसः । उपाकृतम् । उप + आङ् + कृ—क । समीप आनातम् । शशमानम् । शश सुतगतौ—चानश् । उत्सृत्य गमनशीलम् । यत् । पाथः । अस्थात् । तिष्ठति स्म । प्रियम् । अ० २ । २८ । ५ । हितकरम् । देवानाम् । विदुषाम् । एतु । अस्मान् प्राप्नोतु । पाथः । अग्रे च । उ० ४ । २०५ । इति पा रक्षणे—असुन, धुद् च । रक्षासाधनम् । अन्नम् ॥

३—ये । विद्वांसः । ब्रुध्यमानम् । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति बन्ध बन्धने—कर्मणि यक्, ततः शानच् । बन्धने गच्छन्तम् । अनु । अनुलक्ष्य । दीध्यानाः । दी धाङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः । अन्वैक्षन्त । ईक्ष दर्शने—छान्दसा लङ् । अनुकूलम् अनुक्रमेण वा दृष्टवन्तः ।

स्वरूप, (विश्वकर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (संरक्षणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमुक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दुःख में डूबे हुआ के उद्धार में समर्थ होने हैं, वह सर्वशक्तिमान् सर्वकर्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनों का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ॥ ३ ॥

(बध्यमानम्) के स्थान पर (वध्यमानम्) और (अनु दीध्यानाः) दो पद के स्थान पर [अनुदीध्यानाः] एक पद सायण भाष्य में है ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधा-
करूपाः । वायुष्टानग्रे प्र मुमुक्तु देवः प्रजापतिः
प्रजया संरक्षणः ॥ ४ ॥

ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । वि-रूपाः । सन्तः ।
बहु-धा । एक-रूपाः । वायुः । तान् । अग्रे । प्र । मुमुक्तु ।
देवः । प्रजा-पतिः । प्र-जया । सम् रक्षणः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में बसने वाले , (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) पृथक् २ रूप वाले

मनसा । चित्तेन । चक्षुषा । अ० १ । ३३ । ४ । दर्शनेन्द्रियेण । नेत्रेण ।
अग्निः । सर्वत्रगतिः परमेश्वरः । तान् । विदुषः पुरुषान् । युष्मत्तत्तत्तु-
ष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति (अग्निष्टान्) इत्यत्र पत्वम् ।
अग्रे । अग्रे वर्त्तमानान् । प्र । प्रकर्षेण । मुमुक्तु । छन्दसि शपः श्लुः ।
मोचयतु विघ्नात् । देवः । दीप्यमानः । विश्वकर्मा । सर्वधातुभ्यो मनिन् ।
उ० ४ । १४५ । इति विश्व+कृञ्-मनिन् । विश्वकर्मा सर्वस्य कर्ता [मध्य-
स्थानः]—निरु० १० । २५ । विश्वेषु कर्म यस्य । सर्वकर्ता । परमात्मा । प्रजया ।
स्वसृष्ट्या । संरक्षणः । संरममाणः । सहरममाणः । सम्यग्रममाणः । यद्वा ।
रा दाने, ग्रहणे, रै शब्दे—लिटः कानच् । सम्यग्दाता ग्रहीता शब्दायमानो वा ॥

४—ये । पशवः । ग्राम्याः । प्रसेरात् च । उ० १ । १४३ । इति प्रस

(सन्तः) होकर (एकरूपाः) एक स्वभाव वाले हैं, (तान्) उन (अग्रे = अग्रे वर्त्तमानान् पशून्) अग्रे वर्त्ती जीवों को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देवः) प्रकाश स्वरूप, (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनों] से (संरराणः = संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो (ग्राम्याः) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन में (एकरूप) तत्पर रहते हैं, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओं को दुःख से छुड़ा कर सदा आनन्द देता है ॥ ४ ॥

२- शुद्ध वायु सब प्राणियों को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वं प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
दिवंगच्छुप्रति तिष्ठ शरीरैः स्वर्गं याहि पृथिभिर्देवयानैः ५
प्र-जानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वं । प्राणम् । अङ्गेभ्यः ।
परि । आ-चरन्तम् । दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः ।
स्वः-गम् । याहि । पृथि-भिः । देव-यानैः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रजानन्तः) बड़े ज्ञान वाले (पूर्वं = पूर्वं वर्त्तमानाः + भवन्तः)

भक्ते-मन्, धातोर्गाकागन्तादेशश्च । अस्मन्ति यत्र मिलित्वा । ग्रामाद् यखञौ ।
पा० ४ । २ । ६४ । ग्रामे शालासमुदाये भवा उत्पन्नाः । ग्रामीणाः । पशवः ।
प्राणिनः । विश्वरूपाः । खण्डशिल्पशिल्पवाण्यरूपपर्यंतल्पाः । उ० ३ । २८ ।
इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । कुर्यते कार्यते तद् रूपम् । शुक्लादिचर्णम् । आकृतिः ।
स्वभावः । सौन्दर्यम् । नानावर्णाः । विरूपाः । विरुद्धाकाराः । सन्तः ।
वर्त्तमाना अपि । बहुधा । विभाषा बहुधा विप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ ।
२० । इति बहु + धा । बहुप्रकारम् । प्रायेण । एकरूपाः । परमेश्वराज्ञापालन
एकस्वभावाः । वायुः । अ० २ । २० । १ । सर्वव्यापी । परमेश्वरः पवनः ।
प्रजापतिः । यज्ञः-निघ० ३ । १८ । प्रजानां पाता वा पालयिता वा [मध्य-
स्थानो देवः] निघ० १० । ४२ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५ - प्रजानन्तः । प्र + ज्ञा-शतृ । प्रकर्षेण जानन्तः । महाविद्वांसः ।

प्रथम स्थान में वर्त्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्यः) सब के अङ्गों के हिन के लिये (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करें ।

[हे मनुष्य !] (दिवम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छु) प्राप्त कर, (शरीरैः) सब अङ्गों के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह, (देवयानैः) देवताओं के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] में (याहि) तू पहुँच ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो श्वास लें वह संसार के उपकार के लिये ही लें, अर्थात् प्रतिक्षण परोपकार में लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढ़ावे । और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारों में चतुर हो, और आँख, कान, हाथ, पग आदि अङ्गों से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढ़ावे, और जिन वेद मार्गों पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते हैं उन्हीं वेदरूपी राजपथों पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १। ३०। २ में अथर्व० का० ६। सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहाँ देख लीजिये ॥

प्रति । प्रत्यक्षम् । गृह्णन्तु । स्वीकुर्वन्तु । पूर्वे । प्रतिष्ठास्थाने वर्त्तमानाः । प्रधानाः । प्राणम् । अ० २। १५। १ । जीवनसाधनं प्राणापानरूपं बलम् । अङ्गेभ्यः । अ० १। १२। ४ । अङ्गानां हिताय । परि । सर्वतः । आचरन्तम् । चर-शतृ । आगच्छन्तम् । दिवम् । अ० १। ३०। ३ । प्रकाशम् । शरीरैः । अ० २। १२। ८ । शरीराङ्गैः सह । स्वर्गम् । स्वः-इति व्याख्यातम् । अ० २। ५। २ । स्वः सुखं गीयते यत्र, स्वः+गै-क । यद्वा, सुष्ठु अर्ज्यते, सु + अर्ज अर्जने-घञ् । शङ्कादित्वात् कुत्वम् । देवतानां विदुषां निवासस्थानम् । स्वर्लक्षणं द्रष्टव्यम्-टिप्पण्याम् । अ० १। ३०। २ । पथिभिः । पतस्थ च । उ० ४ । १२ । इति पत्तु गतौ-इति, यश्चान्तादेशः । मार्गैः, देवयानैः । देव + या गतौ-ल्युट् । देवानां यानं गमनं यैः । देवगमनयोग्यैः ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापत्यागान् सुखलाभ इत्युपदिश्यते-पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये भक्षयन्तो न वसू'न्यानुधुर्यानिग्नया' अन्वतप्यन्तु
धिष्ण्याः । या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नुस्तां
कृणवद् विश्वकर्मा ॥ १ ॥

ये । भक्षयन्तः । न । वसू'नि । आनुधुः । यान् । अग्नयः ।
अनु-अतप्यन्त । धिष्ण्याः । या । तेषाम् । अव-याः । दुः-
इ'ष्टिः । सु- इ'ष्टिम् । नः । ताम् । कृणवत् । विश्व-कर्मा ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जिन मनुष्यों ने (भक्षयन्तः) पेट भरते हुए (वसूनि) धनों को (न) नहीं (आनुधुः) बढ़ाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्याः) बोलने, वा कम वा बुद्धि में चतुर (अग्नयः) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषों ने (अन्वतप्यन्त) अनुताप किया है [शोक माना है], (तेषाम्) उन [कंजूसों] की (या) जो (अवयाः) विनाश हेतु (दुरिष्टिः) खांटी सङ्गति है,

१—भक्षयन्तः । भक्ष-शत् । भक्षकाः । उदरपोषकाः । न । निषेधे ।
वसूनि । धनानि । आनुधुः । अधुवृद्धौ-लिट् । अत आदेः । पा० ७।४।७० ।
इत्यभ्यासदीर्घत्वे । तस्मान् नुङ् द्विहलः । पा० ७।४।७१ । इति नुङागमः ।
वर्धितवन्तः । यान् । स्वार्थिनः पुरुषान् । अग्नयः । अग्नि गतौ- नि । गति-
शीलाः । ज्ञानिनः । अग्निवत्तेजस्विनः पुरुषाः । अन्वतप्यन्त । अनुतापं
पश्चात्तापं कृतवन्तः । धिष्ण्याः । सानसिवलंसिपर्णसि०।उ० ४।१०७। इति
धिष शब्दे-एय प्रत्ययः । शब्दकुशलाः । विद्वांसः । यद्वा । धाङ् आधारे, ध्यै चिन्तने-
किप् । धीः, कर्मनाम-निघ० २।१। प्रजानाम-निघ० ६।६। इष इच्छायाम्-
एयप्रत्ययः पूर्ववत्, निपातनाद् रूपसिद्धः । धियः कर्माणि प्रका वा इच्छन्ति ते
धिष्ण्याः । कर्मकुशलाः । धीराः । अवयाः । अवे यजः । पा० २।२।७२ ।
अव + यज-एिवन् । अवयाः श्वेतवाः परोडाश्च । पा० ८।२।६७ । इति निपातितः ।

(विश्वकर्मा) सब कर्मों में चतुर [वा संसार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसंगति] को (नः) हमारे लिये (स्विष्टिम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते हैं और जो धन एकत्र करके उपकार नहीं करते, उन की दशा उदारशील महात्माओं को शोचनीय होनी है, सब कर्मकुशल [परमेश्वर] सुमति दे कि उन का मन स्वार्थपन छोड़ कर जगत् की भलाई में लगे । सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मों में कुशल होकर, और कुसंगति का दुष्ट फल देखकर दुष्कर्मों से बचें और सदा आनन्द से रहें ॥ १ ॥

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुत्प्यमानम् ।
मथ्व्यान्तस्तोकानप यान् रुराधु सं नृप्तेभिः सृजतु
विश्वकर्मा ॥ २ ॥

यज्ञ-पतिम् । ऋषयः । एनसा । आहुः । निः-भक्तम् । प्र-जा ।
अनु-त्प्यमानम् । मथ्व्यान् । स्तोकान् । अप । यान् । रुराधु ।
सम् । नृः । तेभिः । सृजतु । विश्व-कर्मा ॥ २ ॥

भावार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजाः) मनुष्यादि प्रजाओं पर (अनु-त्प्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मों के रत्नक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक् किया हुआ (आहुः) बताते हैं ।

अवयवामहे = विनाशयामः—इति महीधरः, यजु० ३।४५। विनाशहेतुः । दुरितिः ।
दुर् + इष वाङ्छे, यज्ञ यागे वा-क्तिन् । दुष्टक्रिया । कुसंगतिः । स्विष्टिम् ।
सु + इष्टिम् । शोभनाम् । इष्टसाधिकाम् । नः । अस्मदर्थम् । कृणवत् ।
अ० १।६।५ । करोतु । विश्वकर्मा । अ० २।३४।३ । सर्वकर्ता परमेश्वरः ॥

२—यज्ञपतिम् । शुभकर्मरत्नकम् । ऋषयः । अ० २।६।१ । मन्त्रार्थ-
प्रधारः । सूक्ष्मदर्शिनः । एनसा । अ० २।१०।८ । पापेन । अपराधेन ।
आहुः । ब्रह्म कथने-तद् भुवस्ति । निर्भक्तम् । भज सेवायाम्, विभागे-क ।

उस ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) संसार का रचने वाला परमेश्वर (तैभिः=तैः) उन [सूक्ष्म विषयों] के साथ (नः) हमें (सं सृजतु) संयुक्त करे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवों पर दया और उपकार करता है वही धर्मान्मा आत्मापुरुष, सत्य सिद्धान्तों को साक्षात् करके आनन्द से संसार में प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मों को हम सब के हृदय में स्थापित करे, जिस से हम पुरुषार्थ पूर्वक सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अनुतप्यमानम्) के स्थान पर [अनु तप्यमानम्] दो पद और (मथव्यान्) के स्थान पर [मथव्यान्] पद सायणभाष्य में हैं ॥

अदान्यान्तसेमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्तसमये
न धीरः । यदेनश्चकुवान् ब्रु एष तं विश्वकर्मन्
प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

अदान्यान् । सोम-पान् । मन्यमानः । यज्ञस्य । विद्वान् । सुम्-
अये । न । धीरः । यत् । एनः । चुकुवान् । ब्रुः । एषः । तम् ।
विश्वकर्मन् । प्र । मुञ्च । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषों को (सोमपान्) अमृत पान

पृथक् कृतम् । विद्युक्तम् । प्रजाः । ईश्वरसृष्टीः । अनुतप्यमानम् ।
अनुतापं पश्चात्तापं कुर्वन्तम् । मथव्यान् । मथ विलोडने-तव्यत्, छान्दसं
रूपम् । मथितव्यान् । अन्वेषणीयान् । स्तोकान् । ण्डुच प्रसादे दीप्तौ-बज्र ।
प्रसन्नकरान्, दीप्यमानान् सूक्ष्मविषयान् । विन्दून् । अप । आनन्दे-यथा । अप-
चितिः=पूजा, अपदानम्=प्रशस्यकर्म । रराध । राध संसिद्धौ—लिट् ।
साधितवान् । पूरितवान् । नः । अस्मान् । तैः । स्तोकैः । संसृजतु । संयोजयतु ।
विश्वकर्मा । सर्वरचयिता । अन्यद् गतम् ॥

३—अदान्यान् । छन्दसि च । पा० ४ । १ । ६७ । इति अदान-य प्रत्ययः ।

करने वाले (मन्यमानः) मनानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने वाला और (समये) समय पर (धीरः) धीर (न) नहीं होता । (एषः) इस पुरुष ने (बद्धः) [अज्ञान में] बन्ध होकर (यत्) जो (एन.) पाप (चकृवान्) किया है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भागन के लिये (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अशिवेक के कारण मूढ़ होकर अपनी और संसार की हानि कर डालता है। वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप करके और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भागे ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयां नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदे'पां मनसश्च
सुत्यम् । दृहस्पतये महिष द्युम्नमो विश्वकर्मन्
नमस्ते पाह्य १ स्मान् ॥ ४ ॥

दानानर्हान् । सोमपान् । गापोष्ठक् च । पा० ३ । २ । ८ । सोम + पा पाने-
ठक् । अमृतपानशीलान् पण्डितान् । मन्यमानः । मन बोधे दिवादिः—
शानच् । जानन् सन् । यज्ञस्य । अ० १ । ६ । ४ । प्रशस्यकर्मणः । विद्वान् ।
विदेः शतुर्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद् ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः । प्राज्ञः ।
पण्डितः । समये । सम् + इण् गतौ-पचाद्यच् । उचितकाले, अवसरे । न ।
निषेधे । धीरः । सुसूधाज्गधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति धाञ् धारण-
पोषणयोः-क्रन् । घुमास्थागापा० । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । यद्वा । धीः
प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थार्थः । यद्वा । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति धी +
ईर प्रेरणे-अण् । धियम् ईरयतांति । यद्वा । धी + रा-क । धियं राति ददाति
गृह्णातांति वा । मेधावी-निध० ३ । १५ । धैर्यवान् । पण्डितः । एनः । म० २ ।
अपराधम् । चकृवन् । कृञ्-लिटः कसुः । कृतवान् । बद्धः । बध्यते स्म ।
बन्ध-क । बन्धनयुक्तः । विश्वकर्मन् । हे सर्वकृन् । प्र + मुञ्च । प्रमोचय ।
स्वस्तये । अ० १ । ३० । २ । क्षमाय । कुशलाय ॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् ।
 एषाम् । मनसः । च । सत्यम् । बृहस्पतये । महिष । द्यु-मत्
 नमः । विश्व-कर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घांताः) [पाप कर्मों पर] क्रूर होते हैं, (एभ्यः) उन [ऋषियों] को (नमः) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योंकि (एषाम्) उन [ऋषियों] के (मनसः) मन की (चक्षुः) आंख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है। (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बड़े बड़े ब्रह्म एडों के स्वामी [आप] को (द्युमत्) स्रष्ट (नमः) नमस्कार है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन महात्मा आम ऋषियों के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, संसार को दुःख से मुक्त करने के लिये होते हैं, उन के उपदेशों को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करें, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता है,

४—घोराः । अ० १ । १८ । ३ । हन—अच्, घुरादेशः । यद्वा । घुर ध्वनी, भीमभवने—अच् । भयानकाः । भीमाः । ऋषयः । म० २ । मुनयः । आतपुरुषाः । नमः । अ० १ । १० । २ । णमु शब्दनत्योः असुन् अन्नम्—निघ० ३ । ७ । सत्कारः । अस्तु । भवतु । एभ्यः । ऋषिभ्यः । चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ । दृष्टिः । नेत्रम् । एषाम् । ऋषीणाम् । मनसः । अ० १ । १ । २ । अन्तः करणस्य । सत्यम् । अ० २ । १४ । ४ । तथ्यम् । यथार्थम् । बृहस्पतये । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां लोकानां पत्ये स्वमिने । महिष । अविमह्योऽष्टिषच् । उ० १ । ४४ । इति मह पूजायाम्—टिषच् । महिषाः=महान्तः—निरु० ७ । २६ । महान्ते पूज्यते सर्वैः, यद्वा, महति पूजयति शुभगुणानिति । हे महन्—निघ० ३ । ३ । पूजनीय । द्युमत् । सम्प्रदादित्वात् क्तिप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति द्यु अभिगमने, यद्वा, द्यु न दीप्तौ—क्तिप् । मतुपि तलोपः पृषोदरादित्वात्, पा० ६ । ३ । १०६ । यद्वा, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकाम्तिगतियु-विष ।

उस के उपकारों को हृदय में धारण करके उस की उपासना करें और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठों की रक्षा करते रहें ॥ ४ ॥

(महिष) के स्थान पर सायण भाष्य में [महि सत्] दो पद हैं ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा
जुहोमि । इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु
सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्र-भृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण ।
मनसा । जुहोमि । इमम् । यज्ञम् । वि-ततम् । विश्व-कर्मणा
आ । देवाः । यन्तु । सु-मनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र
[नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृतिः) पुष्टि, (च) और (मुखम्) मुख [समान
मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा)
मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूँ । (सुमनस्यमानाः) शुभ चिन्तकों के
जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहारकुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) संसार
के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्)
पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्योतनं दिव् । दिव उत् । पा० ६ । १ । १३१ । इति मतुपि उत्त्वम् ।
दीप्तिमत् । कान्तियुक्तम् । स्पष्टम् । नमः । सत्कारः । विश्वकर्मन् ।
म० १ । हे सर्वजनक परमात्मन् । पाहि । त्वं रक्ष । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—यज्ञस्य । म० ३ । पूजनीयकर्मणः । चक्षुः । म० ४ । नेत्रवत् प्रद-
र्शको यः पुरुषोऽस्ति । प्रभृतिः । डभृञ् भरणपोषणयोः-क्तिन् । भरणम् । पोषणम्
मुखम् । डित् खनेर्मुट् चोदात्तः । उ० ५ । २० । इति खन विदारणे-अच् ।
स च डित्, धातोर्मुडागमश्च । तस्योदात्तः । खनति अन्नादिकमनेनेति ।
आस्यम् । मुखमिव मुख्यः । वाचा । अ० १ । १ । १ । वाण्या । पठनपाठन-
कर्मणा । श्रोत्रेण । अ० २ । १७ । ५ । श्रुत्या । कर्णेन । भवणभावणकर्मणा ।

भाषार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् बारम्बार विचार, करके ग्रहण करें। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुये विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७ अष्टुप्,
८ गायत्री ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आ नो अग्ने सुमतिं सभुलो गमेदिमां कुमारीं सह नो
भगेन । जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभग-
मस्त्वस्यै ॥ १ ॥

आ । नः । अग्ने । सु-मतिम् । सभ-भलः । गमेत् । इमाम् ।
कुमारीम् । सह । नः । भगेन । जुष्टा । वरेषु । समनेषु ।
वल्गुः । ओषम् । पत्या । सौभगम् । अस्तु । अस्यै ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भलः) यथाविधि सम्भाषण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (नः) हमारे लिये (भगेन सह+वर्त्तमानः

मनसा । मननेन । अन्तःकरणेन । निदिध्यासनेन । जुहोमि । अ० १। १५। १।
आददे । स्वीकरोमि तम् । विततम् । तनु विस्तारे-क । विस्तृतम् ।
विश्वकर्मणा । परमात्मना । देवाः । व्यवहारकुशलाः । महात्मानः ।
यन्तु । प्राप्नुवन्तु । सुमनस्यमानाः । अ० १। ३५। १। शोभनं ध्यायन्तः ।
शुभचिन्तकाः ॥

१—नः । अस्मान् । अग्ने । हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् । सुमतिम् ।
सु+मन बोधे-क्तिन् । शोभनबुद्धियुक्तम् । सभ-भलः । सभ्+भल परि-

सन्) पेश्वर्य के साथ वर्त्तमान होकर (नः) हम में (आ=आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे । [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है । (अस्यै) इस [कन्या] के लिये (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिये है । माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें । जिस से वह कन्या पतिकुल में सब का प्रसन्न रखे और आप आनन्द से रहे । इसी आशय का राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७ । १५२ में वर्णन किया है “ [कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम् ।] कन्याओं के नियम पूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे] ” ।

(ओषम्) के स्थान पर सायण भाष्य में [ऊषम्] है ॥

भाषणहिंसादानेषु निरूपणे च-पचाद्यच् । सम्यग् भलते परिभाषते निरूपयति वा स सम्मलः । यथाविधि परिभाषकः यथाशास्त्रं निरूपकः । आ+गमेत् । द्विकर्मकः । आगत्य गमयेत् नयेत् । इमाम् । प्रसिद्धाम् । गुणवतीम् । कुमारीम् । कुमार क्रीडने-अच् । वयसि प्रथमे । पा० ४ । १ । २० । इति डोप् । कन्याम् । सह । सहितः । नः । अस्मदर्थम् भगेन । भजनीयेन गुणेन पेश्वर्येण । जुष्टा । प्रीता सेविता । वरेषु । वृज् वरणे-अप् । यद्वा वर ईप्से-घञ् ध्रुष्टेषु वरयितृषु, वरपत्नीयेषु । समनेषु । सम्+अन जीवने-घञ् । यद्वा । सम्+आङ्+शीञ् प्रापणे-अच् । सम्यग् अनिति आनीयते वा । समानं तुल्यं साधु वा । समानस्य सभावः । मन बोधे-पचाद्यच् । साधुमननयुक्तेषु । वल्गुः । बलेर्गुक् च । उ० १ । १६ । इति बल प्राणने-उप्रत्ययः, गुक् आगमः । रुचिरा । मनोहरा । ओषम् । उष दाहे, बधे-घञ् । क्षिप्रम् । निघ० २ । १५ । पत्या । स्वामिता सह । सौभगम् । सुभग-अण् । सुभगत्वम् । अस्यै । कुमार्यै । अग्यद् गतम् ॥

सोमं जुष्टं ब्रह्मं जुष्टमर्यम्णा संभृतं भगम् ।

धातुदेवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥ २ ॥

सोमं-जुष्टम् । ब्रह्मं-जुष्टम् । अर्यम्णा । सम्-भृतम् । भगम् ।

धातुः । देवस्य । सत्येन । कृणोमि । पति-वेदनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय, (ब्रह्मजुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (संभृतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्य-युक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मैं करता [वा करती] हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है । इस की रक्षा के लिये सब बड़े बड़े महात्मा प्रयत्न करते और राजा नियम बनाते हैं । उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करें और उन का विवाह करें ॥ २ ॥

२—सोमजुष्टम् । अर्त्तिस्तु सुहु० । उ० १।१४० । इति पु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् ।

जुषी प्रीतिसेवनयोः-क । ऐश्वर्यवद्भिः प्रीतम् । ब्रह्मजुष्टम् । वृंहेंनोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति वृहि वृद्धौ-मनिन्, नस्य अकारः । ब्रह्मभिः अधीतवेदै-ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्ञानिभिः सेवितम् । अर्यम्णा । अ० १ । ११ । १ । अर्यमादित्योऽरीन् नियच्छति-नि० १।१२३ । श्रेष्ठाणां मानकर्त्रा, न्यायकारिणा राज्ञा । सम्भृतम् । सम्यक् पोषितं वर्धितम् । भगम् । पुंसि संज्ञायाम् घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्-घ । चजोः कुघ्रिण्यतोः । पा० ७ । २ । ५२ । इति जस्य गः । भजनीयम् । सेवनीयम् । ऐश्वर्ययुक्तम् । धातुः । सर्वस्य धारकस्य पोषकस्य । देवस्य । प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य । सत्येन । सते हितम्, सत्-यत् । यथार्थधर्मेण । कृणोमि । करोमि । पतिवेदनम् । विद्वल लाभे, विद्व ज्ञाने-ल्युट् । वेदनम्-विवाहः । ज्ञानम् । पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इति पत्नी च पतिश्च पती तयोर्वेदनं लाभं ज्ञानं विवाहं वा ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्टु सोमो हि राजा सुभगां
कृणोति । सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं
सुभगा वि राजतु ॥ ३ ॥

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्टु । सोमः । हि । राजा ।
सु-भगाम् । कृणोति । सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा :
पतिम् । सु-भगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (इयम्) यह (नारी) नर
[अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्टु) प्राप्त
करे, (हि) क्योंकि (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा)
राजा [ऐश्वर्यवान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति)
करता है । [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्त वीर पुत्रों को
(सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और
(पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक
प्रकार से (राजतु) राज्य करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनों पति और पत्नी, बड़े ऐश्वर्य
वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावें और वीर पुत्र
पौत्र आदिकों को उत्तम शिक्षा देते हुए सदा आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३—इयम् । निर्दिष्टा गुणवती । अग्ने । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ।
नारी । अ० १ । ११ । १ नरस्य हिता । कन्या । वधूः । पतिम् । अ० १ । १ । १ ।
रक्तकम् । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पत ऐश्ये-इन् ।
ऐश्वर्यवन्तम् । विदेष्टु । विदूल् लाभे-आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । वेदिषीष्ट ।
विन्दताम् । लभताम् । सोमः । अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यवान् । चन्द्रवदानन्दप्रदः ।
हि । यस्मात् । राजा । अ० १ । १० । १ । ऐश्वर्यवान् । प्रतापी । सुभगाम् ।
सुष्टु भगं यस्याः । शोभनैश्वर्यवतीम् । पतिप्रियाम् । कृणोति । करोति ।
सुवाना । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-शानच् । जनयन्ती । पुत्रान् । अ० १ ।

मनु महाराज ने कहा है—अ० ३।६० ।

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥

भार्या से भर्ता और भर्ता से भार्या, जिस कुल में संतुष्ट हो, वहां पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथाखुरो मध्वं चारुं प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एव भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविरा-
धयन्ती ॥ ४ ॥

यथा । आ-खुरः । मध्व-वन् । चारुः । एषः । प्रियः । मृगाणाम् ।
सु-सदाः । बभूव । एव । भगस्य । जुष्टा । इयम् । अस्तु ।
नारी । सम्-प्रिया । पत्या । अविराधयन्ती ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मध्वन्) हे पूजनीय, वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एषः) यह (चारुः) सुन्दर (आखुरः) खोह वा मांद (मृगाणाम्) जंगली पशुओं का (प्रियः) प्रिय और (सुषदाः) रमणीक घर (बभूव) हुआ है [होता है], (एव = एवम्) ऐसे ही (इयम्) यह (नारी) नारी (भगस्य) पेश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (संप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराधयन्ती) वियोग न करती हुती (अस्तु) रहे ॥ ४ ॥

११।५। कुलशोधकान् बहुरक्तकान् वा वीरान् । महिषी । अ० २।३५।४।
मह पूजायाम्-टिषच् । टित्वान् डाप् । पूजनीया । कृताभिषेका राजपत्नी ।
भवाति । भू-लेट् । भूयात् । गत्वा । प्राप्य । लब्ध्वा । सुभगा । सौभा-
ग्यता । वि । विशेषेण । राजतु । ईश्वरी तेजस्विनी भवतु ॥

४—यथा । येन प्रकारेण । आखुरः । आङ् पूर्वात् खनु अवधारणे-
डर प्रत्ययः, टित्वाट् टिलोपः । आखन्यते, आखुरः । गर्तः । विलम् । मध्वन् ।
अ० २।५।७। हे पूजनीय । हे धनवन् परमेश्वर । चारुः । अ० २।५।१।
शोभनः । मनोज्ञः । प्रियः । प्री-क । इयः । सुकरः । मृगाणाम् । मृग

भावार्थ—जिस प्रकार आरण्यक नर नारी पशु आनन्द पूर्वक अपने बिलों में विभ्राम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिल-जुल कर उपकार करते हुये सदा सुख से रहें ॥ ४ ॥

मनु भगवान् ने कहा है—अ० ५।१४८।

घाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १ ॥

स्त्री बालकपन में पिता के, युवावस्था में पति के, और पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य में (मघवन्) के स्थान में [मघवान्] और (अविराधयन्ती) के स्थान में [अभिराधयन्ती = अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती] है ॥

भगस्य नावमा रोह पुर्णामनुपदस्वतीम् ।

तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य । नावम् । आ । रोह । पुर्णाम् । अनुप-दस्वतीम् ।

तया । उप-प्रतारय । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥ ५ ॥

भावार्थ—[हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णाम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अदृष्ट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ़ और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार

अन्वेषणे-इगुपधत्वात् कः । पशूनाम् । सुषदाः । पद्वल विशरणगत्यवसादनेषु-असुन् । सुखेन स्थातुं योग्यः । सुखस्थानः । एव । एवम् । तथा । भगस्य । ऐश्वर्यवतः पत्युः । जुष्टा । प्रीता । अस्तु । भवतु । सम्प्रिया । सम्प्रिय-माणा । पत्या । भर्ता । अविराध्यन्ती । अ + विपूर्वात् राध वियोगे-शतृ, ङीप् । वियोगम् अकुर्वाणा । अन्यद् गतम् ॥

५—भगस्य । भजनीयस्य । ऐश्वर्यस्य । नावम् । ग्लानुदिभ्यां ङीः । उ० २।६४ । इति खुद प्रेरणे-ङौ । नुचते जले सा नौः । समुद्रादिसन्तरकार्ययान-विशेषम् । पोतम् । समुद्रयानम् । गृहस्थाभमरूपम् । आरोह । अधितिष्ठ । आकृष्टा भव । पूर्णाम् । पृ पूर वा पूर्यो-क, तस्य नः । पूरितम् । कृतपूरणम् ।

लगा, (यः) जो (वरः) वर (प्रति-काम्यः) प्रतिष्ठा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—इस मन्त्र में गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [जिम्मेदारी] का वर्णन है । जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बड़ी दृढ़ नौका से जल यात्रियों को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भर पूर और दृढ़ रखे और पति को नियम बांधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।

सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धन-पते । वरम् । आ-मनसम् । कृणु ।
सर्वम् । प्र-दक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥६॥

भाषार्थ—(धनपते) हे धनों की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (क्रन्दय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर । [उस वर को] (सर्वम्) सर्वथा (प्रदक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) नियम कर के चाहने योग्य है ॥ ६ ॥

अनुपदस्वतीम् । अन्+उप+दसु उपक्षये-क्विप् । मतुप्, मस्य वः । अन्न-
शिङ्गताम् । अक्षीणाम् । तथा । नावा । उपप्रतारय । उप पूजया शक्त्या वा
पारय । यः । पूर्वोक्तः । वरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति वृज् वरणे-
अप् । वरणीयः । श्रेष्ठः पतिः । जामाता । प्रतिकाम्यः । कमु स्पृहि-णिच्,
कर्मणि यत् प्रति निश्चयेन प्रतिज्ञया कमनीयः कामनायोग्यः ॥

६—आ क्रन्दय । क्वि आह्वाने । आदरेण आह्वय । धनपते । हे धन-
रक्षिके पति । वरम् । वरणीयं पतिम् । आमनसम् । मन बोधे-असुन् ।
अभिमुखमनस्कम् । अनुकूलचित्तम् । कृणु । कुरु । सर्वम् । सर्वथा । प्रद-
क्षिणम् । दक्षिणभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष-ङ् शीघ्रकरणे, वृद्धौ-
इनन् । प्रगता दक्षिणा प्रतिष्ठा यस्य तम् । प्रतिष्ठायुक्तम् । प्रवृजम् । समर्थम् ।
प्रतिष्ठापूर्वकं स्वदक्षिणहस्तस्थितम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

भावार्थ—पत्नी धनो की रक्षा करती है, वह पति को आदर पूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रखे, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे। इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने, और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ बर्ताव रखे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१—विवाह संस्कार में बर का आसन बधू के दाहिने हाथ को किया जाता है ॥

२—मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते हैं—
अ० ५ । १५० ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री घर के कामों में प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, बासन, वस्त्र आदि को संभाल कर रखे, और व्यय करने में हाथ संकोचे रखे ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्व्यमौक्षो अथो भगः ।

ए ते पतिभ्यस्त्वामंदुः प्रतिक्रामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम् । हिरण्यम् । गुल्गुलु । अयम् । औक्षः । अथो इति ।
भगः । ए ते । पति-भ्यः । त्वाम् । अदुः । प्रति-क्रामाय ।
वेत्तवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड़ का एका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्षः) महात्माओं के योग्य [वा ऋषभ

७—इदम् । वराय दातव्यम् । हिरण्यम् । अ० १ । ६ । २ । इह्म हरेत्, यद्वा, हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन्, हिरादेशश्च । हिरण्यं कस्माद्धियत आयम्यमानमिति वा द्वियते जनाजनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्षतेर्वा स्यात् प्रेप्सा-कर्मणः—निब० २ । १० । सुवर्णम् । गुल्गुलु । कादिभ्यः किल् । उ० १ । ११५ ।

औषध सम्बन्धी] (भगः) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (पते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्यः) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुम (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुंचाने को (अदुः) दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दैजा, जहेज़] में सुन्दर अलंकार, वस्त्र भोजन पदार्थ वाहन, गौ, धन आदि देवें, और कन्या को पति सेवा की यथा योग्य शिक्षा करें जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

(गुल्गुलु) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [गुग्गुलु] पद है ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते । नयतु । सविता । नयतु । पतिः । यः । प्रति-
काम्यः । त्वम् । अस्यै । धेहि । ओषधे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु)

इति गुड् अय्यक्तशब्दे-ड प्रत्ययः, इति गुडः । अकारलोपः । यद्वा गुड वेष्टे, रक्षे-क्विप्, ततो गुड-कु । डलयोरैक्याड् डस्य लत्वम् । गुड एव गुलः । गुडेन इक्षपाकेन गुडितं वेष्टितं रक्षितं वा गुल्गुलु भोज्यम् । “गुलगुला”-इतिभाषा । अथो । अपि च । औक्षः । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने-कनिन् । यद्वा, उक्ष-क । उक्षाः, महन्नाम-निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षतेवृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेन वा-निरु० १२ । ६ । उक्षा ऋषभौषधिः-श० क० द्रु० । ततः, अण् प्रत्ययः । महतां योग्यः । ऋषभौषधिसंबन्धी । प्रलेपनद्रव्यम्-इति सायणः । भगः । भज-घञ् सेवनीयम् । ऐश्वर्यम् । एते । कन्यापक्षीयाः । पतिभ्यः । वरपक्षीयेभ्यः । तेषां हिताय । त्वाम् । कन्याम् । अदुः । दाओ लुङ् । दत्तवन्तः । प्रतिकामाय । प्रतिज्ञापूर्वकं कामनायोग्याय वराय । वेत्तवे । तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति विदूष लाभे-तवे प्रत्ययः । वेत्तुम् । लब्धुम् ॥

८—आ । समन्तात् । अनुकूलम् । ते । तुभ्यम् । नयतु । शीघ्रं नयने । प्रेरयतु । नायकं करोतु । सविता । अ० १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्वो पादकः

नायक घनावे, (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) प्रतिष्ठा पूर्वक चाहने योग्य है । (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह आशीर्वाद का मन्त्र है । पति और पत्नी उस सर्वनियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुये परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चलें, जिस से वे दोनों प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर संसार में कीर्तिमान् हों, और अन्न आदि ओषधि के समान सुखदायक होकर सदा दृष्ट पुष्ट बने रहें ॥ ८ ॥

यजुर्वेद का बचन है—अ० ४० म० २ ।

कुर्वन्ते वेह कर्माणि जिजीविषेच्छुतं समाः ॥

मनुष्य (इह) यहां (कर्माणि) वेदोक्त कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीयं काण्डम् ॥

इति भीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्री सयाजीरावगयकवाः ।-

धिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-

भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडित क्षेमकरणादास त्रिवेदिना कृते

अथर्ववेदभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

इदं काण्डं प्रयागनगरे वैशाखमासे अक्षयायाम् [शुक्लतृतीयायाम्] १६७० तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरधीरच्चिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम-

महोदयस्य सुसाम्राज्ये

सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी संवत् १६७० ता० २५ अगस्त १६१३ ॥

परमेश्वरः । पतिः । म० ३ । ऐश्वर्यवान् । भर्ता । प्रतिकाम्यः । म० ५ । प्रतिज्ञया कमनीयः । अस्यै । वधूहितार्थम् । धेहि । दुधाञ् धारणपोषणयोः—लोद् । धारय । पोषय । वर्धय । ओषधे । अ० १ । २३ । १ । हे ताप-भञ्जक परमेश्वर ॥

श्रीयुत पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र = फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेदभाष्य । श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है ।...आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेंशन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप पण्डित और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं । आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य ।

श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मा—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, बदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़रवरी १९१३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है । इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में..... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्त्ता के मानसिक विचारों का सुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है । और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है ॥

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है । आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं । स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्त्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है" । आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है ॥

श्रीयुत पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदशप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३ ।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ हो गया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाष्यार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देहनिवृत्ति के लिये आशय भी व्याकरण व निकट के आधार पर किया गया है...वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उसके भाष्य ग्रन्थ का अनुवाद है और कोम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है ॥

बाबू कालिका प्रसाद जी सिल्कमर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी,
पत्र संख्या ५८६ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख
कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण
करें ।.. आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ अपनी समाधि
लगा कर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अंक छपें मेरे
पास भेज देना ॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda
State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

.....It has been decided to purchase 20 copies of your
book entitled अथर्ववेद भाष्यम् at Rs. 1-4-0 per copy. It has
been sanctioned for the use of the library and the prize dis-
tribution. Please send them...also add on the address label
"For Encouragement Fund."

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

परिचित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्य-
कार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि, सम्पादक आर्यमित्र, आगरा
८ फरवरी १९१३ । आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन
का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने दिया है । प्रत्येक पद का पृथक् पृथक्
अर्थ इस में किया गया है । अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं
होता । अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये ॥

सद्गुरु प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८.. आज कल
लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते ।
उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२..... इस में ईश्वरस्तुति,
स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा
में अनुवादित किये हैं ।... पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वे. प्रकाश, मेरठ—मई १९१२ ।... इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब
तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय खुशीराम जी गवर्नमेंट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ।
—आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप
मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय
भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज दें ।

रुद्राध्यायः—मूल मात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य ॥

मिलने का पता—पं० क्षेमकरदास त्रिवेदी

२४ अगस्त १९१३ ।

} ५२ खुशराम, प्रयाग (Allahabad)

ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु देवेषु प्रियं राजंसु मा कृणु ।

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शुद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

तृतीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुरुमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमास-

दक्षिणापरीक्षायाम् श्रुकसामाथर्ववेदभाष्येषु

लब्धदक्षिणेन

श्री परिडत क्षेमकरणदास चिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,

beloved among the Princes, make

Me dear to everyone who sees, to

Sūdra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिडत काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन

प्रयागनगरे श्रींकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ

१००० पुस्तकानि

संवत् १९७१ वि०

सन् १९१४ ई०

मूल्यम् १॥-१

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्निर्नः शत्रून्	अग्नि आदि	युद्ध विद्या	त्रिष्टुप् आदि
२	अग्निर्नो दूतः	अग्नि आदि	सेनापति कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३	अचिक्रदत् स्वपा	इन्द्र	राजा, प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
४	आ त्वा गन् राष्ट्रं	इन्द्र	राज तिलक	त्रिष्टुप् ।
५	आयमगन् पर्ण	पर्ण मणि	तेज, बल, धन	त्रिष्टुप् आदि
६	पुमान् पुंसः परि	अश्वत्थ	उत्साह बढ़ाना	अनुष्टुप् ।
७	हरिणस्य रघुष्यदो	हरिण आदि	रोग नाश	अनुष्टुप् ।
८	आ यातु मित्र	प्रजापति	प्राप्ति उत्पन्न करन	त्रिष्टुप् आदि
९	कर्शकस्य विशकस्य	प्रजापति	विघ्न शान्ति	अनुष्टुप् ।
१०	प्रथमा हव्युवास सा	रात्रि	पुष्टि बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
११	मुञ्चामि त्वा हविषा	राज्यदमन	रोग नाश	त्रिष्टुप् आदि
१२	इहैव ध्रुवां नि मिनोमि	शाला	शाला निर्माण	त्रिष्टुप् आदि
१३	यद्दः संप्रयति	आपः	जल के गुण	अनुष्टुप् आदि
१४	सं वो गोष्ठेन	गावः	गोरक्षा	अनुष्टुप् आदि
१५	इन्द्रमहं वणिजं	इन्द्र	व्यापार लाभ	त्रिष्टुप् आदि
१६	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	भग उषा आदि	प्रभाती गांत	त्रिष्टुप् आदि
१७	सीरा युञ्जन्ति	कृषीबल	खेती विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	इमां खनाभ्याषधिं	सपत्नी बाधन	अविद्या नाश	अनुष्टुप् आदि
१९	संशित म इदं ब्रह्म	पुरोहित	युद्ध विद्या	अनुष्टुप् आदि
२०	अयं ते यानिर्	अग्नि आदि	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् आदि
२१	ये अग्नयो अपस्व	अग्नि आदि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
२२	इस्तिवर्चसं प्रथतां	विश्वे देवाः	कीर्ति पाना	त्रिष्टुप् आदि
२३	येन वेहद् बभूविथ	माता	बार सन्तान	अनुष्टुप् आदि
२४	पयस्वतीरोषधयः	प्रजापति	धान्य बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
२५	उत्तुदस्त्वोत् तुदतु	काम	अविद्या नाश	अनुष्टुप् ।
२६	ये ३ स्यां स्थ प्राच्यां	मन्त्रोक्त	मार्क गीत	जगती वा त्रिष्टुप्
२७	प्राची दिगग्निरधिपति	मन्त्रोक्त	सेना का व्यूह	त्रिष्टुप् आदि
२८	एकैकयैषा स्टुष्ट्या	यमिनी	उत्तम नियम	जगती आदि
२९	यद् राजानो विभज	अवि	परमेश्वर भक्ति	अनुष्टुप् आदि
३०	सहृदयं सांमनस्य	प्रजापति	परस्पर मेल	अनुष्टुप् आदि
३१	वि देवा जरसावृतन्	प्रजापति	आयु बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड ३ के मन्त्र अन्य वेदोंमें सम्पूर्ण या कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (कारण्ड ३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पं. ७ वर्चिक, क. ७ सराविक इत्यादि
१	अमीषां चित्तानि	२।५	१०।१०३।१२	१७।४४	उ० ६।३।५
२	असौ वा सेना मरुतः	२।६		१७।४७	
३	सा नः पयस्वती	१०।१	४।५७।७		
४	पूर्णां दधे परापत	१०।७		३।४६	
५-८	मुञ्चामि त्वा हविषा	११।१-४	१०।१६१।१-४		
६	इध्मेनाग्ने इच्छमानो	१५।३	३।१८।३		
१०	इमामग्ने शरणिं	१५।४	१।३१।१६		
११-१७	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्र	१६।१-७	७।४१।१-७	३४।३४-४०	
१८	सीरा शुञ्जन्ति	१७।१	१०।१०१।४	१२।६७	
१९	युक्ता सीरा वि	१७।२	१०।१०१।३	१२।६८	
२०	ताङ्गलं पवीरवत्	१७।३		१२।७१	
२१	इन्द्रः सीतां नि	१७।४	४।५७।४		
२२	शुनं सुफाला वि	१७।५	४।५७।८	१२।६६	
२३-२४	शुनं वाहा शुनं नरः	१७।६-८	४।५७।४-६		
२६	श्रुतेन सीता मधुना	१७।९		१२।७०	
२७-३२	इमां अनाम्योषधिं	१८।१-६	१०।१४५।१-६		
३३	उद्धर्षन्तां मधवन्	१९।६	१०।१०३।१०	१७।४२	
३४	प्रेता जयता नर	१९।७	१०।१०३।१३	१७।४६	
३५	अवसृष्टा परा पत	१९।८	६।७५।१६	१७।४५	
३६	अयं ते योनिर	२०।१	३।२६।१०	३।१४।१।५।२	
३७-३८	अग्ने अच्छ्वा वदेह नः	२०।२-३	१०।१४१।१-२	६।२८, २९	
३९	सोमं राजानमवसे	२०।४	१०।१४१।३	६।२६	
४०	त्वं नो अग्ने अग्निभिर्	२०।५	१०।१४१।६		
४१	इन्द्रवायु उभाविह	२०।६	१०।१४१।४	३३।८६	
४२	अर्यमणं बृहस्पति	२०।७	१०।१४१।५	६।२७	
४३	वाजस्य नुप्रसवे	२०।८		१९।२५, २४	
४४	कहदं कस्मा अदात्	२६।७		७।४८	
४५	त्वष्टा दुहित्रे वहुतु	३१।५	१०।१७।१०		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

तृतीयं काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६ ॥ १ अग्निः, २ मरुतः, ३—६ इन्द्रश्च देवताः । १, २, ४ त्रिष्टुप्; ३, ६ अनुष्टुप्; ५ स्वराङ् गायत्री ॥

युद्धविद्योपदेशः—युद्ध विद्या का उपदेश ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नुभिः शस्तिमरा-
तिम् । स सेनां मोहयतु परेषां निहस्तांश्च कृणवज्जात-
वेदाः ॥ १ ॥

अग्निः । नः । शत्रून् । प्रति । एतु । विद्वान् । प्रति-दहन् ।
अभि-शस्तिम् । अरातिम् ॥ सः । सेनाम् । मोहयतु । परे-
षाम् । निः-हस्तान् । च । कृणवत् जात-वेदाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (विद्वान्) विद्वान्
राजा (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रति-

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—अग्निः । अ० १ । ६ । २ ।

अङ्गति गच्छति जानाति व्याप्नोतीति वा । विद्वान् । अग्निवत्तेजस्वी । अभिशब्दो

दहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ, (नः) हमारे (शत्रून्) शत्रुओं पर (प्रति, यतु) चढ़ाई करे। (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला या बहुत धनवाला राजा (परेषाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे, (च) और [उन बैरियों को] (निर्हस्तान्) निहत्ता (कृणवत्) कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा में अपकीर्ति और अशान्ति पैलावे, विद्वान् अर्थात् नीतिनिपुण राजा ऐसे दुष्टों और उनके साधियों को यथावत् दण्ड देवे, जिससे वे लोग निर्बल होकर उपद्रव न मचा सकें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सूक्त २ में मन्त्र १ है।

युयमुग्रा मरुत ईदृशेऽस्थामि प्रेतं मुणत्त सहध्वम् ।
अमीमृणन् दसंवो नायिता इमे अग्निर्हीपां दूतः प्रत्येतु
विद्वान् ॥ २ ॥

युयम् । उग्राः । मरुतः । ईदृशे । स्थ । अमि । प्र । दूत ।
मुणत्त । सहध्वम् ॥ अमीमृणन् । दसंवः । नायिताः । इमे ।

भगवता यास्केन बहुधा व्याख्यातः—निरु० ७।१४।नः । अस्माकम् । शत्रून् ।
अ० २। ५। ३। शतयितृन् । द्वेप्यान् । प्रत्येतु । प्रतिमुञ्चं गच्छतु ।
विद्वान् । अ० २। १। २। विद्व ज्ञाने-शत्रु, वसुरादेशः । जयोपायं जानन् ।
प्रतिदहन् । प्रातिकूल्येन भस्मीकुर्वन् । अभिशस्तिस्म । शत्रु हिंसायाम्
क्तिन् । मिथ्यापवादम् । अरातिस्म । शत्रुताम् । सः । राजा । सेनाम् ।
कृवृजृसिद्धु० । उ० । ३। १० । इति पित्र् बन्धने-न । सेना सेश्वरा समानः
गतिर्वा निरु० २। ११ । सिनोति बध्नाति व्यूहं युद्धार्थम् । सैन्यम् । मोहयतु ।
व्याकुलां करोतु । परेषाम् । शत्रूणाम् । निर्हस्तान् । हस्तव्यापारशून्यान् ।
आयुधग्रहणासमर्थान् । कृणवत् । कृवि हिंसाकरणयोः—तिङ्र्थेत्वेद् । अडा-
गमः । कुर्यात् । जातवेदाः । अ० १। ७। २। जातप्रज्ञानः । जातधनः ॥

अग्निः । हि । एषाम् । दूतः । प्रति-एतु^१ । विद्वान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुघातक शत्रो ! (यूयम्) तुम (ईदृशे) ऐसे [कर्म, संग्राम] में (उग्राः) तीव्रस्वभाव (स्थ) हो । (अभि, प्र, इत) आगे बढ़ो, (मृणत) मारो, और (सहध्वम्) जीत लो । (इमे) इन (नाथिताः) प्रार्थना किये हुये (वसवः) श्रेष्ठ पुरुषों [मरुत् गणों] ने [दुष्टों को] (अमीमृणन्) मरवा डाला है । (एषाम्) इन शत्रुओं का (दूतः) दाहकारी (अग्निः) अग्नि [समान] (विद्वान्) विद्वान् राजा (हि) अवश्य करके (प्रत्येतु) चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो शूरावीर संग्रामविजयी हों, और जो वैरियों के नाश करने में सहायक रहे हों, उन बीरों को अग्रगामी करें और उन का उरसाह बढ़ाते रहें, और राजा विजयी सेनापतियों की पुष्टि करता हुआ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(मरुतः) देवताओं के लिये अ० १ । २० । १ देखिये ॥

अमित्रसेना मघवन्नस्माज्छत्रयुतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतुं प्रति ॥ ३ ॥

२—उग्राः । उत्कठाः । मरुतः । अ० १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् दोषान् वा । शत्रुनाशकाः शत्राः । ईदृशे । इदम् + दृशिर् प्रेक्षे-कञ् । एतत्सदृशकर्मणि संग्राम-लक्षणे । स्थ । भवथ । अभि । अभिमुख्येन । प्रेत । इण्गत्तौ । प्रकर्षेण गच्छन् । मृणत । मृण हिंसायाम् । मारयत । सहध्वम् । अभिभवत । अमीमृणन् । मृणतेर्पर्यन्ताच्छान्दसे लुङि चङि । उच्चात् । नित्यं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७, ८ । इति ऋदादेशः । नाशितवन्तः । वसवः । अ० १ । ६ । १ । प्रशस्ता देवाः । नाथिताः । नाथ याचञ्जोपतापैश्वर्याशीःषु-क । प्रार्थिताः सन्तः । इमे । प्रशंसिताः । अग्निः । ज्ञानवान् तेजस्वी वा राजा हि । अवश्यम् । एषाम् । उपस्थितानां शत्रूणाम् । दूतः । अ० १ । ७ । ६ । दुदु उपतापे-क, दीर्घश्च । दुनोत्युपतापयतीति । संतापकः । प्रत्येतुः । प्रतिगच्छतु । विद्वान् । नीतिकुशलः ॥

अमित्र-सेनाम् । मघ-वन् । अस्मान् । शत्रु-यतीम् । अभि ॥
युवम् । तान् । इन्द्र । वृत्र-हन् । अग्निः । च । दहतम् । प्रति ॥ ३ ॥

भाषार्थ— (मघवन्) हे धनवान्, (वृत्रहन्) अन्धकार वा शत्रुओं के नाश करने वाले, (इन्द्र) सूर्य [समान तेजस्वी] (च) और (अग्निः) हे अग्नि [समान शत्रुदाहक] ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्) हम पर (शत्रू-यतीम्) शत्रुओं के समान आचरण करती हुई (अमित्रसेनाम्) बैरियों की सेना को (अभि=अभिभूय) हराकर (तान्) चोरों वा म्लेच्छों को (प्रति, दहतम्) जला डालो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करके और अग्नि अशुद्धतादि दुर्गुणों को जलाकर हटाते और अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं, ऐसे ही धनी और प्रतापी राजा कुमार्गियों को मिटाकर उपकारी हों ॥ ३ ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः अमृणन्ते तु
शत्रून् । जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक् सत्यं
कृणुहि चित्तमेषाम् ॥ ४ ॥

प्र-सूतः । इन्द्र । प्र-वता । हरि-भ्याम् । प्र । ते । वज्रः ।
प्र-मृणन् । एतु । शत्रून् ॥ जहि । प्रतीचः । अनूचः । पराचः ।

३—अमित्रसेनाम् । अमित्रशब्दो व्याख्यातः—अ० २।२।३। अम पीडने इत्रच् । पीडकसेनाम् । मघवन् । हे धनवन् । अस्मान् । प्रजागणान् । शत्रू-यतीम् । उपमानादाचारे । पा० ३।१।१०। इति शत्रु—क्यच् । अकृतसर्वधातुकयोः । पा० ७।४।२५। इति दीर्घः । तदन्तात् शतरि । उगितश्च । पा० ४।१।६। इति ङीप् । शत्रुनुमो० । पा० ६।१।१७३। इति ङीप् उदात्तत्वम् । शत्रूनिव आचरन्तीम् । अभि । अभिभूय । युवम् । युवाम् । तान् । तर्द हिंसे-ड । तर्दति हिंस्तीति लः । चोरान् । म्लेच्छान् । इन्द्र । सूर्यवत्प्रतापिन् । वृत्रहन् । अ० १।२।१। हे अन्ध-कारनाशक । शत्रुघातक । अग्निः । हे अग्निवद् दाहक । च । समुच्चये । दहतम् । भस्मीकृतम् । प्रति । प्रातिकूल्येन ॥

विष्वक् । सत्यम् । कृणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (प्रवता) उत्तम गति वा मार्ग से (हरिभ्याम्) स्वीकरण और प्रापण [ग्रहण और दान] के साथ (ते) तेरा (प्रसूतः) चलाया हुआ (वज्रः) वज्र अर्थात् दण्ड (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) पीड़ा देता हुआ (प्र, एतु) आगे चले । (प्रतीचः) सन्मुख आते हुए, (अनूचः) पीछे से आते हुये और (पराचः) तिरस्कार करके चलते हुये [शत्रुओं] को (जहि) नाश करदे, और (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्त को (विष्वक्) सब प्रकार (सत्यम्) सत्पुरुषों का हितकारी (कृणु) बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ राजा प्रजा और शत्रुओं से कर लेकर उन के हित कार्य में लगावे, जिस से सब बाहिरी और भीतरी शत्रु लोग नष्ट होकर दबे रहें और श्रेष्ठों का पालन किया करें ॥ ४ ॥

४—प्रसूतः । प्र लोपे-क्त । प्रेरितः । प्रवर्तितः । इन्द्र । हे प्रतापिन् राजन् । प्रवता । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रवत उद्धतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा—निरु० १० । २० । प्रकृष्टगत्या मार्गेण, प्रावनेन वा । हरिभ्याम् । हृषिषिहृि० । उ० ४ । ११६ । इति ह्रस्व हरणे—इन् । हरणं स्वीकारः प्रापणं स्तेयं नाशनं च । हरिः स्वीकारो ग्रहणं, प्रापणं दानं च ताभ्यां ग्रहण-दानाभ्याम् । ते । तव । वज्रः । दण्डरूपः । प्रमृणन् । प्रकर्षेण हिसन्, प्र, एतु । प्रगच्छतु । शत्रून् । अरातीन् । जहि । हन बधगत्योः । विनाशय । प्रतीचः । ऋतिवद्बधक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति प्रति+अञ्चतेः किन् अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति न लोपः । शसि । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । प्रतिमुखमागच्छतः शत्रून् । अनूचः । अनु+अञ्चु गतिपूजनयोः—किन् । पूर्ववत् सिद्धिः । अञ्चु पश्चाद् आगच्छतः । पराचः । परा+अञ्चु—किन् । पूर्ववत् सिद्धिः । परा तिरस्कृत्य पण्डमुखं वा गच्छतः । विष्वक् । विषु+अञ्चु—किन् । सर्वतः । सत्यम् । सद्भावो हितम् । कृणुहि । उ तश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम् । पा० पा० ६ । ४ । १०६ । इति हेरलुक् । कृणु, कुरु । चित्तम् । अन्तःकरणम् एषाम् । शत्रूणाम् ॥

इन्द्र सेना मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वार्तस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥ ५ ॥

इन्द्र । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् ॥ अग्नेः । वार्तस्य ।

ध्राज्या । तान् । विषूचः । वि । नाशय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहय) व्याकुल कर दे । (अग्नेः) अग्नि के और (वार्तस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (विषूचः) सब ओर फिरने वाले (तान्) चोरों को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सेना के बल से शत्रु सेना को जांते और जैसे दावानल वन को भस्म करता और प्रचंड वायु वृक्षादि को गिरा देता है, वैसे ही विघ्नकारी बैरियों को मिटाता रहे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । २ । ३ । में आया है ।

इन्द्रः सेना मोहयतु मरुतां घ्नन्त्वोजसा ।

चक्षूष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा ॥

चक्षूषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । परा-जिता ॥ ६ ॥

५—इन्द्र । हे परमैश्वर्य राजन् । सेनाम् । चमूम् । पृतनाम् । मोहय । मूढां कुरु । अमित्राणाम् । म० ३ । पीडकानां शत्रूणाम् । अग्नेः । पावकस्य । वार्तस्य । पवनस्य । ध्राज्या । वसिवापियजि० । उ० ४ । १२५ ।

इति ध्रज गतौ-इज् । वेगगत्या । तान् । म० ३ । चोरान् । विषूचः । विषु + अञ्चु-क्विन् । जसि (प्रतीचः) इति शब्दवत् सिद्धिः—म० ४ । सर्वतः प्राप्ताम् । वि, नाशय । विध्वंसय ॥

भाषार्थ— (इन्द्रः) प्रतापी सूर्य (सेनाम्) [शत्रु] सेनाको (मोहयतु) व्याकुल करदे । (मरुतः) दोष नाशक पवन के भोके (ओजसा) बल से (घ्नन्तु) नाश करदें । (अग्निः) अग्नि (चक्षूषि) नेत्रों को (आ, दत्ताम्) निकाल लेवे । [जिससे] (पराजिता) हारी हुई सेना (पुनः) पीछे (एतु) चली जावे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—युद्धकुशल सेनापति राजा अपना सेना का व्यवहारेसा करे जिससे उसकी सेना सूर्य, वायु और अग्नि वा बिजुली और जल के प्रयोग वाले अस्त्र, शस्त्र, विमान, रथ, नौकादि के बल से शत्रु सेना को नेत्रादि से अंग भंग करके सर्वदा हराकर भगा दे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—६ ॥ १—२ अग्निः, ३—४ इन्द्रः, ५ अष्वा । ६ मरुतो देवताः । १, ५, ६ त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्यमुपदिश्यते । सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अग्निर्नैदुतः प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नुभिर्शस्तिमरा-
तिम् । स चित्तानि मोहयतु परेषां निह्निस्तांश्च कृणु-
वज्जातवेदाः ॥ १ ॥

अग्निः । नः । दुतः । प्रति-एतु^१ । विद्वान् । प्रति-दहन् ।
अभि-शस्तिम् । अरातिम् ॥ सः । चित्तानि^२ । मोहयतु । परे-
षाम् । निः-ह्निस्तान् । च । कृणुवत् । जात-वेदाः ॥ १ ॥

६—इन्द्रः । प्रतापी सूर्यः । मरुतः । दोषनाशका वायुवेगाः । घ्नन्तु ।
हन-तोद् । नाशयन्तु । ओजसा । शस्त्रास्त्रादीनां बलेन । चक्षूषि ।
अक्षीणि । नेत्राणि । अग्निः । अग्निप्रयोगः । आ, दत्ताम् । अपहरतु ।
पुनः । पश्चात् । निषर्त्य । एतु गच्छतु । पराजिता । पराभूता सती ।
अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

भाषार्थ-(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (दूतः) अग्रगामी वा तापकारी (विद्वान्) विद्वान् राजा (नः) हमारे लिये (अभिशक्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ (प्रत्येतु) चढ़ाई करे । (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला [सेनापति] (परेषाम्) शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे (च) और [उनके] (निर्हस्तान्) निहत्ता (कृणवत्) कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ-राजा सेनादि से ऐसा प्रबन्ध रखे कि प्रजा गण आपस में मिथ्या कलङ्क न लगावे और न बैर करें और दुराचारियों को दंड देता रहे कि वे शक्तिहीन होकर सदा दबे रहें, जिससे श्रेष्ठों को सुख मिले और राज्य बढ़ता रहे ॥ १ ॥

यह मन्त्र इसी काण्ड में सूक्त १ मन्त्र १ कुछ भेद से है ।

अयमग्निरमृमुहुद् यानि चित्तानि वो हृदि ।

वि वो धमत्वेकंसुः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

अयम् । अग्निः । अमृमुहुत् । यानि । चित्तानि । वः । हृदि ॥
वि । वः । धमतु । ओकंसः । प्र । वः । धमतु । सर्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] ने (चित्तानि) उन ज्ञानों को (अमृमुहुत्) उलट पलट कर दिया है (यानि) जो (वः) तुम्हारे (हृदि) हृदय में [थे] । वह (वः) तुम को (ओकंसः) घर से (वि, धमतु) निकाल देवे, वह (वः) तुम को (सर्वतः) सब स्थान से (प्र, धमतु) बाहिर कर देवे ॥ २ ॥

१-दूतः । अ० १।७।६ दु गतौ-यद्वा, दुदु उपतापे-क । अग्रेसरः । उपतापकः;
चित्तानि । अन्तःकरणानि । अन्यद् व्याख्यातम्-सू० १ म० १ ॥

२-अयम् । समीपवर्ती । प्रसिद्धः । अग्निः । ज्ञानवान् । अग्निवत्तेजस्वी ।
अमृमुहुत् । मुहेर्यन्ताद् लुङि चङि रूपम् । व्याकुलीकृतवान् । चित्तानि ।
ज्ञानानि । वः । युष्माकम् । हृदि । हृद्, हरणे-किप्, तुक्, तस्य वः । हृदये ।

भावार्थ—जिस सेनापति राजा ने दुष्टों को घश में करके रक्खा था, वह राजा विरोधियों को प्रतिष्ठा भंग करने पर देश निकाला आदि दण्ड देवे ॥ २ ॥

इन्द्र' चित्तानि मोहयन्नुर्वाडाकू'त्या चर ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषू'चो वि नाशय ॥३॥

इन्द्र' । चित्तानि । मोहयन् । अर्वाङ् । आ-कू'त्या । चर ॥

अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषू'चः । वि । नाशय ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! [शत्रुओं के] (चित्तानि) चित्तों को (मोहयन्) व्याकुल करता हुआ (अर्वाङ्) हमारे सम्मुख (आकू'त्या) उत्तम संकल्प से (चर) आ । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (तान्) उन (विषूचः) विरुद्ध गति वालों के (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि और वायु मिलकर प्रचंड होजाते हैं, इसी प्रकार राजा प्रचण्ड होकर दुष्टों को दंड देवे और सत्कर्मी पुरुषों का शिष्टाचार करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । १ । ५ । में आ चुका है ।

वि । विशेषेण । वः । युष्मान् । धमतु । धमति, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ ।

बधकर्मा—निघ० २ । १६ । सौत्रो धातुः । अन्तर्भावितव्यर्थः । धमयतु । गमयतु ।

निः सारयतु । ओकसः । उच समवाये—असुन्, गुणः, न्यङ्कादित्वात् कु-

त्वम् । गृहात् । सर्वतः । सर्वप्रकारेण । अन्यत् सुगमम् ॥

३—इन्द्र । हे परमैश्वर्यवान् राजन् । चित्तानि । मनांसि । मोहयन् । व्याकुलीकुर्वन् । अर्वाङ् । अवरे काले देशे वा अञ्चति । अवर+अञ्च—किन्, अर्वादेशः । अस्मदभिमुखः । आकू'त्या । आङ्+कूञ् शब्दे—किन् । संकल्पेन । अन्यद् व्याख्यातं सू० १ म० ५ ॥

व्याकूतय एषामितार्थो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यद्वद्यैषां हृदि तर्देषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

वि । आ-कूतयः । एषाम् । इत् । अथो इति । चित्तानि ।
मुह्यत ॥ अथो इति । यत् । अद्य । एषाम् । हृदि । तत् ।
एषाम् । परि । निः । जहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (आकूतयः) विचारो ! (चि)
उलट पलट होकर (इत्) चले जाओ, (अथो) और हे (चित्तानि) इनके
चित्तो ! (मुह्यत) व्याकुल होजाओ ।

(अथो) और [हे राजन्] (यत्) जो कुछ [मनोरथ] (अद्य) अब
(एषाम्) इनके (हृदि) हृदय में है, (एषाम्) इनके (तत्) उस [मनोरथ]
को (परि) सर्वथा (निर्जहि) नाश करदे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—नीतिकुशल राजा दुराचारियों में परस्पर मतभेद करादे
और उनका मनोरथ सिद्ध न होने दे ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।
अभि मेहि निर्देह हृत्सु शोकैर्ग्राह्या मित्रांस्तमंसा विध्य
शत्रून् ॥ ५ ॥

अमीषां । चित्तानि । प्रति-मोहयन्ती । गृहाणा । अङ्गानि ।
अप्ये । परा । इहि ॥ अभि । प्र । इहि । निः । दह । हृत्-

४—आकूतयः । म० ३ । हे सङ्कल्पाः । मनोरथाः । एषाम् । शत्रूणाम् ।
वि, इत् । विरोधेन गच्छत । अथो । अपि च । चित्तानि । मनांसि ।
मुह्यत । व्याकुलानि भवत । यत् । प्रयोजनम् । अद्य । इदानीम् । हृदि ।
मनसि । तत् । प्रयोजनम् । परि । परितः । सधतः । निः । नितराम् । जहि ।
नाशय ॥

सु । शोकैः । ग्राह्या । अमित्रान् । तमसा । विध्य । शत्रून् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अप्ये) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना (अमीषाम्) उन [शत्रुओं] के (चित्तानि) चित्तों, और (अङ्गानि) शरीर के अवयवों और सेना विभागों को (प्रतिमोहयन्ती) व्याकुल करती हुई (गृहाण) पकड़ ले, और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि) चारों ओर से (प्र, इहि) धावा कर, (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे, और (ग्राह्या) ग्रहण शक्ति [बन्धनादि] से और (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) छेड़ डाल ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सेनापति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि उसकी उत्साहित सेना धावा करके अश्ववार अश्वचारों को, रथी रथियों को, पदाति पदातियों को व्याकुल करदे, अर्थात् आग्नेय अस्त्रों से धूँआं भड़क, और वादण्य अस्त्रों से बन्धन में करके जीत लें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋग्वेद १० । १०३ । १२, यजुर्वेद १७ । ४४, साम वेद ३० । ६ । ३ । ५, तथा निरुक्त ६ । ३३ में इस प्रकार समान पाठ है ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्ये परैहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरुन्धेनामित्रास्तमसा
सचन्ताम् ॥

(अप्ये) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना ! (अमीषाम्) उनके (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) व्याकुल करती हुई (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभिः)

५—अमीषाम् । अस्-इत्यस्य रूपम् । परिदृश्यमानानां शत्रूणाम् । चित्तानि । मनांसि । प्रतिमोहयन्ती । मुह वैचित्ये-हेतो शब्द । सर्वथा व्याकुलीकुर्वती । गृहाण । वशीकुरु । अङ्गानि । शरीरावयवान् । सेना विभागान् । अप्ये । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अपपूर्वादि प्रा

चारों ओर से (प्र, इहि) आगे बढ़ (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे । (अन्धेन) गाढ़े [दृष्ट रोकने वाले] (तमसा) अन्धकार से (अमित्राः) पीड़ा देनेवाले लोग (सचन्ताम्) संयुक्त हो जावें ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना । तां विध्यतु तमसापत्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

असौ । या । सेना । मरुतः । परेषाम् । अस्मान् । आ-एति । अभि । ओजसा । स्पर्धमाना ॥ ताम् । विध्यतु । तमसा । अपत्रतेन । यथा । एषाम् । अन्यः । अन्यम् । न । जानात् ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(मरुतः) हे शूर पुरुषो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ) वह (या) जो (सेना) सेना (अस्मान्) हम पर (अभि) चारों ओर से (ओजसा) बल के साथ (स्पर्धमाना) ललकारती हुयी (आ-एति) चढ़ी

गतिर्हिसनयोः, अथवा, वेअ् तन्तुसन्ताने, अन्तर्णीतएयर्थात् उ प्रत्ययः । अथवा । शेषायङ्गाजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० १ । १५४ । इति आप्लु व्यासौ-वन् । टाप् । छान्दसं रूपम् । अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते । व्याधिर्वा भयं वा । निरु० ६ । १२ । अपवाति हिनस्ति, यद्धा, अपवयति अपगमयति वा आप्नोति शत्रून् सा अप्वा तत्संबुद्धौ । परा । पराक्रमेण । इहि । गच्छ । अभि । अभितः सर्वतः । प्र । प्रकपेण निः । नितराम् । दह । दहनं कुरु । हृत्सु । हृदयेषु, शोकैः । शुच शोके—घञ् । खेदैः । ग्राह्या । अ० २ । ६ । १ । ग्रह आदाने इङ् । ग्रहण-शक्त्या । बन्धनादिना । अमित्रान् । अ० १ । १६ । २ । पीडकान् तमसा । अन्धकारेण । आग्नेयास्त्रातिथतेन धूमेनेत्यर्थः । विध्य । व्यथ ताडने, छेदने । ताडय । छिन्धि । शत्रून् अ० २ । ५ । ३ शतयितृन्, हिंसकान् ॥

६—असौ । परिदृश्यमाना । या सेना । सू० १ म० १ । सैन्यम् । मरुतः । अ० १ । २० । १ । हे शत्रूमाश्रयशीलाः । क्रूराः । आ-एति ।

आती है । (ताम्) उसको (अपव्रतेन) क्रियाहीन कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से (विध्यत) छेद डालो, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (अन्यः) कोई (अन्यम्) किसी को (न) न (जानात्) जाने ॥ ६ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी पलटनों को घातस्थानों में इस प्रकार खड़ा करे कि आती हुयी शत्रुसेना को रोक कर सब नष्ट करदेवें ॥ ६ ॥

(मरुतः) शब्द के लिये अ० १ । २० । १ । देखो ।

यह मन्त्र यजुर्वेद १७ । ४७ । में इस प्रकार है ।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना । तां गृह्णतु तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥

(मरुतः) हे शत्रु ! (परेषाम्) बैरियों की (असौ या सेना) वह जो सेना (नः) हमको (अभि) चारों ओर से (ओजसा स्पर्धमाना) बल के साथ ललकारती हुयी (आ, एति) चली आती है । (ताम्) उसको (अपव्रतेन तमसा) क्रियाहीन कर देने वाले अंधकार से (गृह्णतु) ढक दो, (यथा) जिससे (अमी) वे लोग (अन्यः, अन्यम्) एक दूसरे को (न जानन्) न जानें ॥

आगच्छति । अभि । सर्वतः । ओजसा । बलेन । स्पर्धमाना । स्पर्धसंघर्षे—लटः शानच् । संघर्षं युद्धोद्यमं कुर्वाणा । ताम् । सेनाम् । विध्यत । ताडयत । क्षिप्त । तमसा । अन्धकारेण । अपव्रतेन । व्रतकर्म—निघ० २।१। अपगतकर्मणा । सर्वव्यापारविघातकेन । यथा । येन प्रकारेण । एषाम् । उपस्थितानां शत्रूणाम् । अन्यः । कश्चित् । अन्यम् । कमपि । न । निषेधे । जानात् । हा अवबोधनै-लेट् । इतश्च लीपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ६७ । इकारलीपः । जामीयात् ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-६ ॥ इन्द्रो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५, ६ अनुष्टुप् छन्दः॥

राः प्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरुची ।
 युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसु आमुं नय नमसा रात
 हव्यम् ॥ १ ॥

अचिक्रदत् । स्व-पाः [सु-अपाः] इह । भुवत् । अग्ने । वि ।
 अचस्व । रोदसी इति । उरुची इति ॥ युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः
 विश्व-वेदसः । आ । अमुम् । नय । नमसा । रात-हव्यम् ॥१॥

भाषार्थ—(अचिक्रदत्) उस [परमेश्वर] ने पुकारकर कहा है, “(इह)
 यहां पर (स्वपाः) अपने जनों का पालने वाला, अथवा, उत्तम कर्मों वाला
 प्राणी (भुवत्) होवे ।”

(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वि राजन् !] (उरुची) बहुत पदार्थों
 को प्राप्त करानेवाले (रोदसी) सूर्य और पृथ्वी में (वि) विविध प्रकार से
 (अचस्व) गति कर । (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान या ध्यानवाले
 (मरुतः) शूर और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझसे (युञ्जन्तु) मिलें । [हे राजन्]
 (रातहव्यम्) भेंट वा भक्ति का दान करनेवाले (अमुम्) उस [प्रजा गण]
 को (नमसा) अन्न वा सत्कार के साथ (आ, नय) अपने समीप ला ॥ १॥

१—अचिक्रदत् । क्रदि आह्वाने रोदने च—एयन्तात् लुङि चङि रूपम्,
 नुमभावः । आहूतवान्, शब्दमकरोत् । स्वपाः । स्व+पा रक्षणे-विच् । अथवा ।
 आपः कर्माख्यायां इत्सो जुट्, च वा । उ० ४ । २० ८ । इति सु+आप् लृयासौ-
 असुन् । स्वकीयप्रजापालकः । शोभनकर्मा । इह । अत्र । अस्मिन् जन्मनि लोके
 वा । भुवत् । भू-लोट् । भवेत् । वि । विविधम् । अचस्व । अचु गतौ ।

भाषार्थ—परमेश्वर ने यजुर्वेद ४०।२। भी कहा है।

(कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत १९ समाः)

मनुष्य (१९) यहां पर (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मों को करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे।

इस प्रकार राजा परमेश्वर की आज्ञा पालन और स्वप्रजापालन में कुशल होकर सूर्य विद्या और पृथिवी आदि विद्या में निपुण बन कर विज्ञानी होवे, शरवीर विद्वान् लोग उससे मिलें और राजा उन भक्त प्रजागणों का सत्कार करे ॥ १ ॥

दुरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सुख्यं य
विप्रम् । यद् गायत्रौ बृहतीमर्कमरमै सौत्रामण्या दधृ-
पन्त देवाः ॥ २ ॥

दुरे । चित् । सन्तम् । अरुषासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु ।

गच्छ । प्राप्नुहि । रोदसी । अ० १।३२।३ । सर्वधातुभ्योऽसुन । उ० ४।१८६ । इति रुधिर् आवरणे-असुन् । गीगादित्वात् ऊँप् । धकारस्य दकारः । वा छन्दसि । पा० ६।१।१०६ । इति पूर्वसवर्णः । आभ्यां हि रुद्रानि सर्व-भूतानि । रोदस्यौ । छात्रापृथिव्यौ—निघ० ३।३० । भूमिस्वर्गौ । उरुषी । उरु बहुनाम-निघ० ३।१ । ऋत्विग्दधृक् । पा० ३।२।५६ । इति उरु+अञ्चु गनिपूजनयोः—किन् अन्लोपो दीर्घश्च । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४।१।६ । इति ऊँप् । ऊँप उदात्तत्वम् । पूर्ववत् पूर्वसवर्णः । उरयो बहवः पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां ते उरुच्यौ । बहुपदार्थ प्रापिके । युञ्जन्तु । प्राप्नुवन्तु । त्वा । त्वाम् । मरुतः । अ० १।२०।१ । शराः । विद्वांसः । विश्व-वेदसः । विश्व+विद् ज्ञाने, वा विद् ल लाभे-असुन । सर्वविषयज्ञातारः । सर्वधनयुक्ताः । असुम् । परिदृश्यमानं प्रजागणम् । आ, नय । समीपे प्रापय । नमसा । अग्ने—निघ० ३।७ । सत्कारेणा । रात हृदयम् । इदानी-दनादानप्रीणनेषु-यत् । इयते हव्यम् । रातं दत्तं हव्यं देवाः न देवपूजनं येन तम ॥

सुख्याय । विप्रम् ॥ यत् । गायत्रीम् । बृहतीम् । अर्कम् ।
अस्मै । सौत्रामण्या । दधृषन्त । देवाः ॥ २ ॥

भाषार्थ । (अरुषासः=०-याः) गतिशील [उद्यमी] पुरुष (दूरे) दुर्गम वा दूर देश में (चित्) भी (सन्तम्) विद्यमान (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) वड़े प्रतापी राजा को (सुख्याय) अपना सखा बनाने के लिये (आ, च्याययन्तु) ले आवें । (यत्) क्योंकि (देवाः) व्यवहार कुराल म हात्माओं ने (गायत्रीम्) गान किया, (बृहतीम्) स्तुति किया और (अर्कम्) अन्न या स्तकार किया को (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिये (सौत्रामण्या) सुत्रामा [उत्तम रत्नक] के योग्य भक्ति के साथ (दधृषन्त) एकत्र किया है ॥ २ ॥

भाषार्थ—उद्योगी प्रजागण प्रजोपालक नीतिकुशल राजा को दूर देश से भी अपनी सहायता के लिये बुलावें, और अनेक प्रकार से उसका उत्साह और अपना आनन्द बढ़ाने के लिये उसका योग्य अभिनन्द करें, और गायत्री, बृहती आदि छन्दों से भी उसका यश गावें ॥ २ ॥

२—दूरे । दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दूर्+इण् गतौ—रक्, इणो लोपो दीर्घश्च । दुःखेनेयते प्राप्यते । दुर्गमे विप्रकृष्टे वा स्थाने । चित् । अपि । सन्तम् । अस-शब्द । विद्यमानम् । अरुषासः । ऋहनिभ्यामूषन् । उ० ४ । ७३ । ऊषन्नेव उपन् । इति ऋ गतिप्राणयोः—उपन् । जसि असुक् । अरुषः=अश्वः—निघ० १ । १४ । अरुष आरोचनात्—निरु० १२ । ७ । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । उद्योगिनः पुरुषाः । इन्द्रम् । ऐश्वर्यवन्तं सम्राजम् । आ, च्याययन्तु । च्यु हासे, सहने । वेदे च गतौ । आगमयन्तु । सुख्याय । सख्युर्यः । पा० ५ । १ । १२६ । इति सखि-य । सखिकर्मणे । साहाय्याचरणाय । विप्रम् । ऋञ्जेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० । २ । २८ । इति दुवप बीजसन्ताने—रन्, इत्वं गुणाभावश्च निपात्येते । वपति धर्ममिति । यद्वा । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति वि+प्रा पूरणे—क । विशेषेण पूरयति सद्विषयानिति विप्रः । विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्—निरु० १४ । १३ । मेधाविनम्—निघ० ३ । १५ । यत् । यस्मात् कारणात् । गायत्रीम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति गायत्+त्रैङ् पात्तने—क । ततो ऊष् । गायत्री गायतेः स्तुति कर्मणः—निरु० ७ । १२ । गानक्रियाम् स्तुतिम् । बृहतीम् । वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृ-

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु
पर्वतेभ्यः । इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विद्भ्य आभ्यः श्येनो भुत्वा
विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

अत्-भ्यः । त्वा । राजा । वरुणः । ह्वयतु । सोमः । त्वा ।
ह्वयतु । पर्वतेभ्यः । इन्द्रः ॥ त्वा । ह्वयतु । विद्-भ्यः । आभ्यः ।
श्येनः । भुत्वा । विशः । आ । पतु । इमाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजराजेश्वर !] (वरुणः) अति श्रेष्ठ (राजा) शासन.
कर्ता पुरुष (त्वा) तुभ्यको (अद्भ्यः) प्राणों के लिये (ह्वयतु) बुलावे, (सोमः)
औषधों का रस निकालने वाला [वैद्यराज] (त्वा) तुभ्यको (पर्वतेभ्यः)
[शरीर की] पुष्टियों के लिये (ह्वयतु) बुलावे । (इन्द्रः) बड़ा प्रतापी सेनापति

बच्च ७० २ । ८४ । इति वृह वृद्धौ—अति, गौरादित्वात् डीप् । वृद्धौ परिबर्ह-
णात्—निरु० ७ । १२ । वृद्धिम् । कीर्त्तिम् । अर्कम् । रुदाधारार्चिकलिभ्यः क ।
७० ३ । ४० । इति अर्च पूजायाम्—क । यद्वा । अर्कं तापे स्तुतौ च—अच् ।
अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति । यदेनमर्चन्त्यर्कमन्त्रं भवत्यर्चति
भूतान्यर्को वृद्धो भवति संवृतः कटुकिम्ना—निरु० ५ । ४ । सत्कारम् । अन्नम् ।
अस्मै । इन्द्राय । सौत्रामण्या । सर्वधातुभ्यो मनिन् । ७० ४ । १४५ । इति
सु + त्रैङ् पालने-मनिन् । साऽस्य देवता । पा० ४ । २ । २४ । इति सुत्रामन्
अण् । बाहुलकात् न टिलोपः, स्त्रियां डीप् । महारक्षकयोग्यां भक्तिं पूजां वा ।
दधृषन्त । धृष संहतौ । संगृहीतवन्तः । अधारयन् । देवाः । व्यवहारकुशलाः ।
विद्वांसः ॥

३—अद्भ्यः । आप्नोतेह्रस्वश्च । ७० २ । ५८ । इति आप्ल व्याप्तौ—
किप् । आपः=अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । उक्कानि—निघ० १ । १३ । भूस्थान-
देवताः, आप आप्नोतेः—निरु० ६ । २६ । प्राणा जलानि वा—यजु० ४ । ७ । आप्ता,
प्रजाः—ब० धे० ६ । २७, दयानन्दभाष्ये । प्राणेभ्यः । प्रजाभ्यः । त्वा । सन्ना-
जम् । राजा । अ० १ । १० । १ । राज् दीप्तौ, पेश्यर्थे क-कनिन् । पेश्यर्थवान् ।

वा निधिपति (त्वा) तुभको (आभ्यः विड्भ्यः) इन प्रजाओं के लिये (ह्यतु) बुलावे, [हे महाराजाधिराज !] (श्येनः) शीघ्र गति वाला [या वाङ् पक्षी के समान शीघ्रगति वाला] (भूत्वा) होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आ, पत) उड़कर आ ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—राजा वरुण, सोम, इन्द्रादि पदवीवाले बड़े २ अधिकारी अपने अधिकार की उन्नति के लिये राजाज्ञा का पालन करें और प्रधान राजा अपनी प्रजा के हित का उद्योग सदा करता रहे ॥ ३ ॥

श्येनो हव्यं नयुत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम् । अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं तं इमं संजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः । हव्यम् । नयुतु । आ । परस्मात् । अन्य-क्षेत्रे । अपरुद्धम् । चरन्तम् ॥ अश्विना । पन्थां । कृणुताम् ।

वरुणः । अ० १ । ३ । ३ । वृज् वरणे-उतन् । वरणीयः पुरुषः । दुष्टनिवारकः । ह्यतु । आकारयतु । सोमः । अ० १ । ६ । २ । पुज् अभिषवे-मन् । सुनोति यः । ओषधिरसानां निःसारकः । वैद्यराजः । पर्वतेभ्यः । भृमृदशियजिपर्वि० । उ० ३ । ११० । इति पर्व पृत्तौ-अतच् । पृत्तिभ्यः । पुष्टिभ्यः । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् । सेनापतिः । निधिपतिः । विड्भ्यः । अ० १ । २१ । १ । विश प्रवेशने—क्लिप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजाः । आभ्यः । परिदृश्यमानाभ्यः । श्येनः । श्यास्त्याह्रविभ्य इनच् । उ० २ । ४६ । इति श्यैङ् गतौ—इनच् । श्येनासः=अश्वाः—निघ० ४ । १४ । श्येनः शंसनीयं गच्छति—निरु० ४ । २४ । श्येन आदित्य आत्मा च भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः—निरु० १४।१३ । शीघ्रगतिः । श्येनपक्षिवच्छीघ्रगामी । भूत्वा । विशः । प्रजाः । आ पत । शीघ्रमा-गच्छा इमाः । उपस्थिताः ॥

सु-गम् । ते । इमम् । सु-जाताः । अभि-संविशध्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्येनः) शीघ्रगति वाले आप (अन्यक्षेत्रे) परदेश में (अपरुद्धम्) रोक दिये गये (चरन्तम्) उत्तम आचरण करते हुये (हव्यम्) बुलाने योग्य पुरुष को (परस्मात्) दूर देश से (आ, नयतु) समीप लावें । (अश्विना=०—नौ) सूर्य और चन्द्रमा (ते) तेरे (पन्थाम्=पन्थानम्) मार्ग को (सुगम्) सुगम (कृणुताम्) करें । (सजाताः) हे सजातीय लोगो ! (इमम्) इस [वीर पुरुष] से (अभि-सं-विशध्वम्) चारो ओर से मिलो ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि कोई सत्पुरुष प्रजागण परदेश में रोक दिया गया हो, राजा उसे प्रयत्न पूर्वक बुला लेवे । और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से प्रजा पालन करे जिससे सब प्रजागण उससे मिले रहें ॥ ४ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजुनाः प्रति मित्रा अवृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्वयन्तु । त्वा । प्रति-जुनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ॥

४—श्येनः । म० ३ । शीघ्रगतिः पुरुषः । हव्यम् । ह्वेज-यत् । आह्वत-
यम् । नयतु । प्रापयतु । आ । समीपे । परस्मात् । दूरदेशात् । अन्य-
क्षेत्रे । परभूमौ । अपरुद्धम् । निरुद्धम् । चरन्तम् । चर गमने, अदने,
आचारे च—शतृ । शुभाचारवन्तम् । अश्विना । अ० २ । २६ । ६ । सूर्य
चन्द्रमसौ—निरु० १२ । १ । पन्थाम् । छान्दसो नलोपः । पन्थानम् । कृणु-
ताम् । कुरुताम् । सुगम्, सुदुरोरधिकरणे । बा० पा० ३ । २ । ४८ । इति सु-
गात्र उ । सुखेन गन्तव्यम् । ते । तव । इमम् । प्रशंसितं राजावम् ।
सजाताः । हे समानजन्मानाः । सजातीयाः । बान्धवः । अभिसंविशध्वम् ।
विशेशछन्दस्यात्मनेपदम् । अभितः संगच्छध्वम् ॥

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदी-
धरन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रतिजनाः) प्रतिकूल जन (त्वा) तुभे (हृषन्तु) बुलावें ।
(मित्राः) स्नेही पुरुषों ने (प्रति) प्रत्यक्ष (अवृषत) सेवा की है । (इन्द्राग्नी)
वायु और अग्नि [के समान गुणवाले] (ते) उन (विश्वे देवाः) सब तेजस्वी
पुरुषों ने (विशि) प्रजा में (क्षेमम्) कुशल (अदीधरन्) स्थापित की है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस राजा को प्रजा गण चुनते हैं, वैरी लोग उस राजा के
अधीन रहते हैं । और विद्वान् शूर वीर पुरुष प्रजा में उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

यस्ते हवँ विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कुत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवँ । वि-वदत् । स-जातः । यः । च । निष्ट्यः ॥

अपाञ्चस् । इन्द्र । तम् । कुत्वा । अथ । इमम् । इह । अव ।
गमय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अथ) और (इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! (यः) जो

५—हृषन्तु । आहृषन्तु । त्वा । त्वां धर्मानाम् । प्रतिजनाः ।
प्रतिकूलजनाः । शत्रवः । प्रति । प्रत्यक्षम् । मित्राः । अ० १ । ३ । २ ।
स्नेहिनः । अवृषत । वृङ् संभक्तौ—छान्दसे लुङि रूपम् । सेवितवन्तः ।
इन्द्राग्नी । वायुपावकौ । तद्वद्गुणवन्तः पुरुषाः । विश्वे । सर्वे । देवाः ।
तेजस्विनो व्यवहारिणो वा जनाः । ते । उदात्तोऽयंशब्दः । प्रसिद्धाः । विशि ।
प्रजायाम् । क्षेमम् अर्त्तिस्तुसुहृष्टधृत्तिद्व० । उ० १ । १४० । इति क्षि क्षयैश्व-
र्ययोः—मन् । क्षयति दुःखं नाशयतीति, ऐश्वर्यवान् भवतीति वानेन । कुशलम् ।
ऐश्वर्यम् । अदीधरन् । धृ धारणे—गयन्तात् लुङि चङि रूपम् । धृतवन्तः ॥

६—यः । यः पुरुषः । ते । तव । हवँ । हेम् आह्वाने—अप् । आवाहनम् ।

(सजातः) सजातीय, (च) और (यः) जो (निष्ठः) विजातीय पुरुष (ते) तेरे (हवम्) विज्ञापन में (विवदत्) विवाद करे, (तम्) उसको (अपाञ्चम्) बहिष्कृत [देश बाहिर] (कृत्वा) करके (इमम्) इस [विज्ञापन] को (इह) यहां पर (अव, गमय) जता दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने और पराये का विचार छोड़ पक्षपात रहित होकर शान्तिनाशक विवादी पुरुष को देश बाहिर करदे, और यह विज्ञापन राज्य भर में प्रसिद्ध कर दे जिससे फिर कोई धर्म विरुद्ध चेष्टा न करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राज्याभिषेकोत्सवः—राज तिलक का उत्सव ।

आ त्वां गन् राष्ट्रं सुह वर्चसीदिहि प्राङ् विशां पति-
रेकुराट् त्वं वि राज । सर्वोस्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वय-
न्तृपसदो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

आ । त्वा । गन् । राष्ट्रम् । सुह । वर्चसा । उत् । इहि ।
प्राङ् । विशाम् । पतिः । एकुराट् । त्वम् । वि । राज ॥

विज्ञापनम् । विवदत् । वि पूर्वाद् वदेल्लेटि अडागमः । विरुद्धं वदेत् । विवा-
दयेत् । सजातः । समानजातीयः । बान्धवः । निष्ठः । अव्ययात् त्यप् ।
पा० ४ । २ । १०४ । इत्यत्र निसो गते । इति वार्त्तिकेन-निस + त्यप् । ह्रस्वात्तादौ
तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमादिभ्यः । म्लेच्छः ।
बाण्डालः । अपाञ्चम् । अप + अञ्चु गति पूजनयोः-विन् । अपगतम् । बहि-
र्गतम् । बहिष्कृतम् । इन्द्र । परमैश्वर्यवान् राजन् । तम् । विवादिनम् ।
कृत्वा । विधाय । अथ । तदनन्तरम् । इमम् । हवम् । इह । अस्मिन्
राज्ये । अव गमय । बोधय । ज्ञापय ॥

सर्वाः । त्वा । राजन् । प्र-दिशः । ह्यन्तु । उप-सद्यः ।
नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (राष्ट्रम्) यह राज्य (त्वा) तुझ को (आ, गन् = अगमत्) प्राप्त हुआ है । (वर्चसा सह) तेज के साथ (उत् + इहि = उदिहि) उदय हों । (प्राङ्) अच्छे प्रकार पूजा हुआ, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) रक्षक, (एकराट्) एक महाराजाधिगज (त्वम्) तू (वि, राज) विराजमान हों । (सर्वाः) सब (प्रदिशः) पूर्वादि दिशायें (त्वा) तुझ को (ह्यन्तु) पुकारें । (उपसद्यः) सब का सेवनीय और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (इह) यहां पर [अपने राज्य में] (भव) तू हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर महाप्रतापी और प्रजापालक हो, सब दिशाओं में उसकी दुहाई फिरे, और सब प्रजागण उसकी न्यायव्यवस्था पर चलकर उसका सदा आदर और अभिनन्दन करते रहें ॥ १ ॥

१—त्वा । त्वां शूचीरम् । आ, गन् । गमेर्लुङि । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । अगमत् । प्राप्तम् । राष्ट्रम् । अ० १ । २६ । १ । राज्यम् । सह । सहितम् । वर्चसा । तेजसा । उदिहि । उदितः प्रख्यातो भव । प्राङ् । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति प्र + अञ्चु गतिपूजनयोः—किन् । सम्यक् पूजितः । विशाम् । प्रजानाम् । पतिः । पालकः । एकराट् । सत्सूद्विष० । पा० ३ । २ । ६१ । इति एक + राजृ—किप् । मुख्यो राजा । वि राज । विशेषेण दीप्यस्व, ईश्वरो भव । सर्वाः । निखिलाः । राजन् । हे नृपते । प्रदिशः । अ० १ । ११ । २ । प्रकृष्टा दिशः । प्राच्याद्याः । तत्रस्था जनाः । ह्यन्तु । स्वामित्वेन अनुजानन्तु । उपसद्यः । उप + षड् ल गतौ—यत् । सर्वैरुपसदनीयः । सेवनीयः । नमस्यः । नमस्य नामधातुः + कर्मणि यत् । नमस्कारयोग्यः । इह । अस्मिन् राज्ये । भव । वर्चस्व ॥

त्वां विशौ वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च'
देवीः । वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि अयस्व ततो' न उग्रो
वि भञ्जा वसू'नि ॥ २ ॥

त्वाम् । विशः । वृणताम् । राज्याय । त्वाम् । इमाः । प्र-
दिशः । पञ्च' । देवीः ॥ वर्ष्मन् । राष्ट्रस्य' । ककुदि' । अयस्व ।
ततो' । नः । उग्रः वि । भञ्ज । वसू'नि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वाम्) तुभ्य को (राज्याय) राज्य के लिये
(विशः) प्रजायें, और (त्वाम्) तुभ्य को ही (इमाः) यह सब (पञ्च) वि-
स्तीर्ण वा पांच (देवीः = ०—व्यः) दिव्य गुणवाली (प्रदिशः) महा दिशायें
(वृणताम्) स्वीकार करें । (राष्ट्रस्य) राज्य के (वर्ष्मन् = ०—णि) ऐश्वर्य-
युक्त वा ऊँचे (ककुदि) शिखर पर (अयस्व) आश्रय ले । (ततो') फिर

२—त्वाम् । राजानम् । विशः । प्रजाः । वृणताम् । वृद्ध सम्भक्तौ-
लोद् । संभजताम् । सेवन्ताम् । राज्याय । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा०
५ । १ । १२८ । इति राजन्—यक् । राजकर्मणे । राष्ट्राय । इमाः । परिदृश्य-
मानाः । प्रदिशः । प्रधानदिशाः । पञ्च । अ० १ । ३० । ४ । पचि विस्तारे-
कनिन् । विस्तीर्णाः । प्राच्याद्या मध्यदिशा सह पञ्चसंख्याकाः । देवीः । देव्यः ।
प्रकाशमानाः । दिव्याः । वर्ष्मन् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति
वृष प्रजननैश्वर्ययोः—मनिन् । सप्तम्या लुक् । वर्ष्मन् शब्द उन्नवचनः स्थिरवचनो
वा, इति सायणः, ऋग्वेदभाष्ये म० १० । २८ । २ । ऐश्वर्ययुक्ते । उन्नते । स्थिरे ।
राष्ट्रस्य । राज्यस्य । ककुदि । क + कु शब्दे—किप, तुक् च, तस्य दः, अन्त-
र्भाषितव्यर्थः । कं सुखं कावयति गृहस्थस्य औन्नत्यं प्रापयतीति ककुद् । वृष-
स्कन्धपृष्ठस्थमांसपिण्डे । नृपचिह्ने । पर्वतशिखरे । अयस्व । शिष् सेवने ।
आश्रितो भव । आस्व । ततो' । तदनन्तरम् । नः । अस्मभ्यम् । वि, भञ्ज ।

(उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को सब प्रजा गण चुनें । और सब मनुष्यादि प्रजा और चारों पूर्वादि दिशाओं और पांचवी ऊपर-नीचे की दिशा के पदार्थ [जैसे आकाश मार्ग और भूगर्भादि के पदार्थ] सब राजा के अधीन रहें, और वह बड़ा ऐश्वर्यवान् होकर राजभक्त सुपात्रों को विद्या और सुवर्णादि धनों का दान करता रहे ॥ २ ॥

अच्छं त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दुतो अजिरः सं
चरातै । जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहु बलिं प्रति
पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥

अच्छं । त्वा । यन्तु । हविनः । स-जाताः । अग्निः । दुतः ।
अजिरः । सम् । चरातै ॥ जायाः । पुत्राः । सु-मनसः । भवन्तु ।
बहुम् । बलिम् । प्रति । पश्यासै । उग्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हविनः) पुकार करने वाले (सजाताः) सजातीय लोग (त्वा) तुझको (अच्छ) सन्मुख आकर (यन्तु) मिलें । (अग्निः) आग के

सांहितिको दीर्घः । यथाभागं देहि । वसूनि । धनानि ॥

३—अच्छ । अभिमुखम् । यन्तु । गच्छन्तु, प्राप्नुवन्तु । हविनः ।
हव इनि । आह्वानशीलाः । सजाताः । समानजन्मानः । बान्धवाः । अग्निः ।
पावकवद् राजा । दुतः । अ० ३ । २ । १ । तापकारी । गतिशीलः । अजिरः ।
अजिर शिशिर शिथिल० । उ० १ । ५३ । इति अज गतिक्षेपणयोः—किञ्च गमनशूलः ।
प्रजाप्रेरकः । सम् । सम्यक् । विधिवत् । चरातै । चरतेलेंटि आडागमः ।
वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ६६ । इत्येकारः । आचरतु भवान् । जायाः । जनैर्यक् ।
उ० ४ । १११ । इति जन जनने-यक्, आत्वम्, टाप् । जनयति वीरान् । भार्याः ।

समान (दूतः) तापकारी और (अजिरः) वेगवान् [आप] (सम्) यथो-
योग्य (चरातै) आचरण करें । (जायाः) हमारी धर्मपत्नियां और (पुत्राः)
कुलशोधक वा बहुवृक्षक सन्तान (सुमनसः) प्रसन्नमन (भवन्तु) रहें । (उग्रः)
तेजस्वी तू (बहुं बलिम्) बहुत भेंट को (प्रति) संमुख (पश्यासै) देखे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—सब भाई बन्धु और प्रजागण राजा से मिले रहें, और प्रसन्न
होके (बलि) राजग्राह्य भाग कर आदि दें, और वह राजा भी उनकी रक्षा में
सर्वथा तत्पर रहे ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्रै मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा
ह्वयन्तु । अधा मनो वसुदेवाय कृणुष्व ततो न उग्रो
वि भञ्जा वसूनि ॥ ४ ॥

अश्विना । त्वा । अग्रै । मित्रावरुणा । उभा । विश्वे । देवाः ।
मरुतः । त्वा । ह्वयन्तु ॥ अध । मनः । वसु-देवाय । कृणुष्व ।
ततो । नः । उग्रः । वि । भञ्ज । वसूनि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्रै) अगले वा मुख्य पद पर [विराजमान] (त्वा) तुम्ह

पुत्राः । अ० १ । ११ । ५ । पूज् शोधे-क् । पुत्रः पुरु आयते निपरणाद् [पाल-
नात्] वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—निर० २ । ११ । कुलशोधकाः । बहुवृक्षका
वा दुःखनाशका वा सन्तानाः । धीराः पुत्रीपुत्राः । सुमनसः । शोभन-
मनस्काः । प्रसन्नचित्ताः । भवन्तु । सन्तु । बहुम् । लङ्घि बंधोर्नलोपश्च
उ० १ । २६ । बहि वृद्धौ-कु, नलोपः । विपुलम् । बलिम् । सर्वधातुभ्य इन् ।
उ० ४ । ११८ । इति बल संवरणे, दाने-इन् । बल्यते दीयते स बलिः । राजग्राह्यं
भागम् । करम् । उपहारम् । पूजासामग्रीम् । प्रति । अभिमुखम् । पश्यासै ।
दृशेल्लेटि आडैत्वे, यथा (चरातै) शब्दे । आत्मने पदम् । पश्य । उग्रः उत्कटः ।
तेजस्वी ॥

४—अश्विना । अ० २ । २६ । ६ । सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निर०

को (अश्विना=०-नौ) सूर्य और चन्द्र, और (उभा=उभौ) दोनों (मित्रा-वरुणा=०-णौ) प्राण और अपान वा दिन और रात और (विश्वे देवाः) सब व्यवहार कुशल (मरुतः) शूर पुरुष (त्वा) तुझ को (ह्यन्तु) पुकारें [मार्गदर्शक हों] । (अध) और, तू (मनः) अपने मन को (वसुदेयाय) धन का दान करने के लिये (कृणुष्व) स्थिर कर । (ततः) फिर (उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसुनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्र परस्पर आकर्षण से, दिन और रात, प्राण और अपान अपने २ क्रम से, और शूर विद्वान् पुरुष नियम पर चलने से संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा विचार पूर्वक सुपात्रों को दान देकर प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (ततो न उग्रो.....) मन्त्र २ में आ चुका है ।

ः ऋ० म० ५ सू० १५ म० १५ । का भी मिलान करें ॥

स्वस्ति पन्थाकनु' चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान (स्वस्ति) कल्याणयुक्त (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) हम चलते रहें ॥

आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी
उमे स्ताम् । तदुयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमहूत्
स उपेदमेहि ॥ ५ ॥

१२।१। सूर्यचन्द्रौ । अग्रे । मुख्यपदे वर्तमानम् । मित्रावरुणा । अ० १।२०।२ । प्राणापानौ । अहोरात्रौ । उभा । उभौ । विश्वेदेवाः । सर्वे व्यवहारिणः । मरुतः । अ० १।२०।१ । शूराः पुरुषाः । ह्यन्तु । आह्वयन्तु । अधा । = अथ । पुनः । मनः । चित्तम् । वसुदेयाय । अश्वे यत् । पा० ३।१।६७ । इति वसु + दाञ् दाने-भावे यत् । ईयति । पा० ६।४।६५ । ईकारादेशः । वसुनो धनस्य प्रदानाय । अन्यत् सुगमम् । ततो न इत्यादि स्याद्व्यतिर्तं म० २ ॥

आ । प्र । द्रव । परमस्याः । परावतः । शिवे इति । ते ।
 व्यावा-पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् । तत् ॥ अयम् ।
 राजा । वरुणः । तथा । आह । सः । त्वा । अयम् । अहत् ।
 सः । उप । इदम् । आ । इहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूर देश से (आ, प्र, द्रव)
 आकर पधार । (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (व्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य
 और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) हों । (तथा) वैसा ही (अयम्)
 यह (राजा) राजा (वरुणः) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (तत्) यह (आह) कहता है ।
 (सः) सो (अयम्) इस [वरुण परमेश्वर] ने (त्वा) तुझको (अहत्)
 बुलाया है । (सः=सः त्वम्) सो तू (इदम्) इस [राज्य] को (उप)
 आदर पूर्वक (आ) आकर (इहि) प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भाषार्थ—प्रजा गण श्रेष्ठ राजा को दूर देश से भी बुला लेवे, और वह
 अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करे कि राज्य भर में दैवी और पाथिर्व शान्ति
 रहे, अर्थात् अनावृष्टि और दुर्मित्तादि में भी उपद्रव न मचे, और आकाश,
 पृथिवी और समुद्रादि के मार्ग अनुकूल रहें । यही आज्ञा परमेश्वर ने वेदों में
 दी है, उसको राजा यथावत् माने ॥ ५ ॥

५—आ । आगत्य । प्र द्रव । हु गतौ । प्रकर्षेण प्राप्नुहि । परम-
 स्याः । स्याडागमः । अत्यन्तात् । परावतः । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे,
 पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गसाधने धात्वर्थे स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । परावतः
 प्रेरितवतः परागताद्वा-निरु० ११ । ४८ । दूरदेशात् । शिवे । मङ्गलकारिण्यौ ।
 ते । तुभ्यम् । व्यावापृथिवी । सूर्यभूमी । तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः ।
 स्ताम् । भवताम् । तत् । प्रसिद्धं वचनम् । अयम् । सर्वव्यापकः ।
 राजा । ईश्वरः । समर्थः । वरुणः । वरणीयः । परमेश्वरः । तथा । तेनैव
 प्रकारेण । आह । अङ् व्यक्तायां धाञि-लट् । ब्रुवः पञ्चानामादित आहौ
 ब्रुवः । पा० ३ । ४ । ८४ । इति आहोदेशः परस्मैपदे । ब्रवीति । कथयति ।
 अहत् । हेम्-लुङ् । आहूतवान् । उप । पूजायाम् । इहि । इण् गतौ ।
 प्राप्नुहि । अन्यत्-लुगमम् ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः ३ः परैहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः सं-
विदानः । स त्वार्यमहूत्स्वेसुधस्थे स देवान् यक्षत्
स उ कल्पयाद् विशः ॥ ६ ॥

इन्द्र-इन्द्र । मनुष्याः । परा । इहि । सम् । हि । अज्ञास्थाः ।
वरुणैः । सम्-विदानः ॥ सः । त्वा । अयम् । अहत् । स्वे ।
सुध-स्थे । सः । देवान् । यक्षत् । सः । ऊ इति । कल्पयात् ।
विशः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेन्द्र) हे राजराजेश्वर ! (मनुष्याः=मनुष्यान्) मनुष्यों
को (परैहि) समीप से प्राप्त कर, (हि) क्योंकि (वरुणैः) श्रेष्ठ पुरुषों से
(संविदानः) मिलाप करता हुआ तू (सम्) यथाविधि (अज्ञास्थाः) जाना
गया है । (सः अयम्) सो इस [प्रत्येक मनुष्य] ने (त्वा) तुझको (स्वे
सुधस्थे) अपने समाज में (अहत्) बुलाया है । (सः=सः भवान्) सो
आप (देवान्) व्यवहार कुशल पुरुषों का (यक्षत्) सत्कार करें, (सः उ=सः
उ भवान्) वही आप (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) समर्थ करें ॥ ६ ॥

६—इन्द्रेन्द्र । हे इन्द्राणामिन्द्र । राजराजेश्वर । मनुष्याः । मनोजाता-
वज्रयतौ पुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत्-पुक् च । मनुर्मननम् । शसो
नत्वाभावश्छान्दसः । मनुष्यजातीन् मनुष्यान् । मननशीलान् प्रजागणान् परा ।
समीपे । इहि । गच्छ । प्राप्नुहि । हि । यस्मात् कारणात् । सम्, अज्ञास्थाः ।
ज्ञा अयबोधने-लुङि । सम्प्रतिभ्यामनाध्याने । पा० १ । ३ । ४६ । इत्यात्मनेपदम् ।
सम्यक्, यथाविधि ज्ञातोऽसि । वरुणैः । वरुणीयैः । श्रेष्ठैः । वरयितृभिः ।
संविदानः । अ० २ । २८ । २ । सम्+विद ज्ञाने-शानच् । संगच्छमानः । सः ।
स प्रत्येकजनः । अहत् । आह्वयति स्म । स्वे । स्वकीये । सुधस्थे । सह +
ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क । सुध मादस्थयोश्छान्दसि । पा० ६ । ३ । ६६ । इति सहस्य
सधादेशः । समाजे सः । स भवान् राजा । देवान् । व्यवहारिणः पुरुषोत्त

भाषार्थ—प्रजापालक राजा विद्वान् चतुर मनुष्यों से मिलाता रहै और सुपात्रों को योग्यतानुसार पदाधिकारी करे ॥ ६ ॥

पृथ्वा रेवतीर्वहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते
अक्रन् । तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः
सुमना वशेह ॥ ७ ॥

पृथ्वाः । रेवतीः । बहु-धा । वि-रूपाः । सर्वाः । सुम्-गत्य' ।
वरीयः । ते । अक्रन् ॥ ताः । त्वा । सर्वाः । सुम्-विदानाः ।
ह्वयन्तु । दशमीम् । उग्रः सु-मनाः । वशु । इह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पृथ्वाः) मार्ग पर चलने वाली, (रेवतीः=०—त्यः)
धन वाली, (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) विविध आकार वा स्वभाव
वाली (सर्वाः) सब [प्रजाओं] ने (संगत्य) मिलकर (ते) तेरे लिये
(वरीयः) अधिक विस्तारण वा श्रेष्ठ [पद] (अक्रन्) किया है । (ताः सर्वाः)
वे सब [प्रजायें] (संविदानाः) एकमत होकर (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु)

मान् । यक्षत् । यजतेल्लेष्टि अडागमः । सिब् बहुलं लेष्टि । पा० ३ । १ । ३४ ।
इति सिप् । यजतु । सत्करोतु । उ । अवधारणे । कल्पयात् । कृप् । सा-
मर्थ्ये णिचिल्लेष्टि अडागमः । कल्पयतु । समर्थयतु । विशः । प्रजाः ॥

७—पृथ्वाः । धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । पा० ४ । ४ । ६२ । इति पथिन्-यत् ।
पथोऽनपेताः । सुमार्गगामिन्यः । रेवतीः । रयेर्मतौ बहुलम् । वा० पा० ६ । १ । ३७ ।
इति रयि-मतुप् । संप्रसारणं गुणश्च । छन्दसीरः । पा० ८ । २ । १५ । इति
मतुपो वत्वम् । ऊप् । विभक्तौ पूर्वसवर्णदीर्घः । रेवत्यः । धनवत्यः बहुधा ।
प्रायः । विरूपाः । विविधाकाराः । नानास्वभावाः । सर्वाः । अखिलाः प्रजाः ।
संगत्य । संभूय । वरीयः । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ । इति उरु +
ईयसुनि वरादेशः । यद्वा, वर + ईयसुन् । उरुतरं वरतरं पदं सिंहासनं वा ।
ते । तुभ्यम् । अक्रन् । करोतेल्लुङि क्लेल्लुक् । कृतवत्यः । संविदानाः ।

पुकारें । (उग्रः) तेजस्वी और (सुमनाः) प्रसन्न चित्त तू (इह) इस [राज्य] में (दशमीम्) दसमी [नव्वे वर्ष से ऊपर] अवस्था को (वश) वश में कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजा गण मिलकर और सुमार्ग में चलकर राजा को सिंहासन पर बिठलावे और अपना रक्षक बनावे । और वह राजा भी इस प्रकार से न्याय और आनन्द करता हुआ नीरोग पूर्ण आयु भोगे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५ ।

१—८ ॥ पर्णमणिर्देवता । १, ४ त्रिष्टुप् । २, ३, ५—८ अनुष्टुप् ॥

तेजोबलायुर्धनादिपुण्य उपदेशः—तेज, बल, आयु, धनादि बढ़ाने का उपदेश ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बुली बलेन प्रमुणन् त्सुपत्नान् ।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्व-
प्रयावन् ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । पर्ण-मणिः । बुली । बलेन । प्र-मुणन् ।
हु-पत्नान् ॥ ओजः । देवानाम् । पयः । ओषधीनाम् । वर्चसा । मा ।
जिन्वतु । अग्र-यावन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम् यह (बुली) बली (पर्णमणिः) पालन करने वालों में प्रशंसनीय [परमेश्वर] (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) हमारे बैरियों

मं० ६ । संगच्छमानाः । ऐकमस्य प्राप्ताः सत्यः । ह्वयन्तु । आह्वयन्तु रक्षार्थम् ।
दशमीम् । नवतिसंवत्सरोर्ध्वभाविनीं चरमावस्थाम् । उग्रः । पराक्रमी ।
सुमनाः । प्रसन्नचित्तः । दयालुः । वश । आयत्तीकुरु । इह । अस्मिन् राज्ये ॥

१—अयम् । सर्वत्र वर्तमानः । आ, अगन् । गमेर्लुक् । आगतवान् ।

को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है (देवानाम्)
इन्द्रियों का (ओजः) बल और (ओषधीनाम्) अन्नादि औषधों का (पयः)
रस, (अप्रयावन् = ०-वा) भूल न करने वाला वह (मा) मुझको (वर्चसा)
तेज से (जिन्वतु) सन्तुष्ट करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तर्यामी परम कारण परमेश्वर अपने सामर्थ्य से हमारे
विघ्नों को हटाकर हमें ओजस्वी इन्द्रियां और पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ देकर
उपकार करता है । वैसे ही हम ओजस्वी, पराक्रमी होकर परस्पर उपकार
करते रहें ॥ १ ॥

मयि क्षुत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रुयिम् ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गं निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

मयि । क्षुत्रम् । पर्ण-मणे । मयि । धारयतात् । रुयिम् ॥

अहम् । राष्ट्रस्य । अभि-वर्गे । नि-जः । भूयासम् । उत्-तमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पर्णमणे) हे पालन करने वालों में प्रशंसनीय ! तू (मयि)

प्राप्तवान् । पर्णमणिः । धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पृ पालने
पूत्तौव न । सर्वत्रातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इतिमण शब्दे-इन् । मण्यते स्तूयते स
मणिः । पालकेषु स्तुत्यः । बली । शक्तिमान् । बलेन । शक्त्या । प्रमृ-
णन् । विनाशयन् । सपत्नान् । शत्रून् । ओजः । सामर्थ्यम् । देवा-
नाम् । इन्द्रियाणाम् । पयः । दुग्धम् । जलम् । रसः । सारः । ओषधी-
नाम् । अ० १ । २३ । १ । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । अनु०
१ । ४६ । ब्राह्मिवादीनाम् । रोगनाशकद्रव्यानाम् । वर्चसा । तेजसा । मा ।
माम् । जिन्वतु । जिवि प्रीणने । इदिस्वाद्नुम् । प्रीणयतु । तर्पयत ।
अप्रयावन् । यातेर्वनिप् । सुपां सुलुक० । पा० ७ । १ । ३६ । इति सोर्लुक् ।
नलोपाभावश्छान्दसः । अप्रयावा । अप्रगन्ता । अनपगन्ता अप्रमाशीलः सन् ॥
२--मयि । ईश्वरोपासके । क्षत्रम् । अ० २ । १४ । ४ । क्षतेर्हिसनाव

मुझ में (लत्रम्) बल, और (मयि) मुझ में ही (रयिम्) सम्पत्ति (धारतायत्) स्थापित कर । (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (निजः) आप ही (उत्तमः) उत्तम (भूयांसम्) बना रहूँ ॥ २ ॥

भावार्थ — मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति और सुवर्णादि धन प्राप्त करके संसार भर में कीर्ति बढ़ावे और अनन्द भोगे ॥ २ ॥

थं निदुधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

यम् । नि-दुधुः । वनस्पतौ । गुह्यम् । देवाः । प्रियम् । मणिम् ॥ तम् । अस्मभ्यम् । सह । आयुषा । देवाः । ददतु । भर्तवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (गुह्यम्) गुप्त, (प्रियम्) प्रिय वा हितकारी (मणिम्) प्रशंसीय [परमेश्वर] को (देवाः) व्यवहार जानने वाले देवताओं ने (वनस्पतौ) वननीय अर्थात् सेवनीय गुणों के रत्नक [पुरुष] में (निदुधुः) अवश्य दान किया है, (तम्) उस [परमेश्वर] को (अस्मभ्यम्)

प्रायते । बलम् । पर्णमणौ । म० १ । हे पालकेषु प्रशंसनीया धारयतात् धारयतेर्हेस्तातङ् आदेशः । धारय । स्थापय । रयिम् । अ० १ । १५ । २ । रादानादानयोः—इ, युक् । धनम्—निघ० २ । १० । सम्पत्तिम् । राष्ट्रस्य । अ० १ । २६ । १ । राज्यस्य । अभीवर्गे । अभि+वृजि वर्जने—घञ् । उपसर्गस्य घञ्—मनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति दीर्घः । अभिगतो वर्गो मनुष्यादिसमूहो यस्मिन् । राज्यमण्डले । निजः । नि+जनी प्रादुर्भावे—ङ । निश्चयेन जायते । स्वकीयः । भूयांसम् । भू-आशीलिङ् । अहं भवानि । उत्तमः । उत्कृष्टतमः ॥

३—यम् । प्रतिद्धम् । निदुधुः । नि धाञ् धारणपोषणदानेषु लिट् निहिनवन्तः । स्थापितवन्तः । निश्चयेन दत्तवन्तः । वनस्पतौ ।

हमें (देवाः) तेजस्वी महात्मा पुरुष (आयुषा सह) बड़ी आयु के साथ (भर्तवे) हमारे पोषण करने के लिये (ददतु) दान करें ॥ ३ ॥

भाषार्थ—सूक्ष्मदर्शी देवताओं ने निश्चय किया है कि वह अन्तर्यामी, सर्वहितकारी परमेश्वर प्रत्येक शुभचिन्तक पुरुष में वर्तमान रहकर साहस बढ़ाता है, उसी परमात्मा का उपदेश विद्वान् महात्मा संसार में करें ॥ ३ ॥

सोमस्य पूर्णः सह उग्रमागुन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन
शिष्टः । तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शत-
शरदाय ॥ ४ ॥

सोमस्य । पूर्णः । सहः । उग्रम् । आ । अगुन् । इन्द्रेण ।
दत्तः । वरुणेन । शिष्टः ॥ तम् । प्रियासम् । बहु । रोचमानः ।
दीर्घायु- त्वाय । शत-शरदाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) बड़े पेश्वर्य वाले और (वरुणेन) स्वीकरणीय भ्रष्ट, गुरु आदि करके (दत्तः) हमें दिया हुआ और (शिष्टः) सिंघायों

अ० १ । १२ । ३ । वन सेवने—अच् । पारस्कारादित्वात् सुट् । वन्यते सेव्यते
वनः । वनानां वननीयानां गुणानां पत्यौ रत्नके पुरुषे । गुह्यम् । तदर्थेति ।
पा० ५ । १ । ६३ । इति गुहा + यत् । गुहां गोपनमर्हतीति । यद्वा । शंसि गुहि-
दुहिभ्यो वा । वार्त्तिकम्, पा० ३ । १ । १०६ । इति गुह संवरणे—कर्मणि क्यप् ।
गुहायां हृदये गुप्तम् । प्रियम् । प्रीतिकरम् । हितकारम् । मणिम् । म० १ ।
प्रशंसनीयं परमेश्वरम् । तस् । मणिम् । तस्य परमेश्वरस्य बोधमित्यर्थः ।
अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । अस्माकं लाभाय सह । सहितम् । आयुषा ।
चिरजीवनेव । देवाः । तेजस्विनः पुरुषाः । ददतु । ददाच् दाने—लोट् ।
प्रयच्छन्तु । भर्तवे । तुमहं सेसेनसेऽसेनवसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति दुभ्रज-
धारणप्रोक्षणयोः—तत्रेन् । पालनाय । भरणाय ॥

४—सोमस्य । पेश्वर्यस्य । अमृतस्य । मोक्षस्य । यर्थाः १० म० १ ।

हुआ (सोमस्य) अमृत का (पर्णः) पूर्ण करने वाला परमेश्वर, (उग्रम्) पराक्रम वाला (सहः) बल [बलरूप], (आ) सब ओर से (अगन्) मिला है । (बहु) अनेक प्रकार से (रोचमानः) रुचि करता हुआ मैं (तम्) उस [अमृतपूरक परमेश्वर] को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु युक्त (दीर्घायुत्वाय) बड़े जीवन के लिये (प्रियासम्) प्रसन्न करूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्वानों की शिक्षा पाकर शुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर के ज्ञान से आत्मा में बल पाता है, तब वह धर्मात्मा बड़े उत्साह से परमात्मा की आज्ञा पाकता हुआ बड़े अर्थात् यशस्वी जीवन के साथ आनन्द भोगता है ॥ ४ ॥

(इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः) यह पाद अ० २ । २६ । ४ । में और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) यह पाद अ० १ । ३५ । १ । में आशुके हैं ॥

आ मारुक्षत् पर्णमुणिर्मह्य अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यग्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

आ । मा । मारुक्षत् । पर्ण-मुनिः । मह्यै । अरिष्ट-तातये ॥
यथा । अहम् । उत्तरः । असानि । अर्यग्णः । उत । सुसं-
विदः ॥ ५ ॥

पाककः । पूरकः । सहः । बलरूपः परमेश्वरः । उग्रम् । उत्कटम् । आ । समन्तात् । सम्यक्प्रकारेण । अगन् । अगमत् । प्राप्तः । इन्द्रेण । परमेश्वर्यवता तेजस्विना पुरुषेण । दत्तः । प्रापितः । वरुणेन । भ्रष्टेन । शिष्टेन । अ० २ । २६ । ४ । शिक्षितः । अनुज्ञातः । तम् । सोमस्य पर्णम् । प्रियासम् । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—आशीर्लिङ् । तर्पयामि । प्रसन्नीक्रियासम् । बहु । अनेकविधम् । रोचमानः । रुच प्रीतिप्रकाशयोः—शानच् । रोचिष्णुः । प्रसन्नः । दीप्यमानः । दीर्घायुत्वात् । अ० १ । ३५ । १ । चिरजीवनाय । शतशारदाय । अ० १ । ३५ । १ । शतशरद्भृत्युक्ताय ॥

भाषार्थ—(पर्यामणिः) पालन करने वालों में श्रेष्ठ परमेश्वर (मह्ये
अरिष्टतातये) बड़ी कुशलता के लिये (मा) मेरे (आ, अरुहन्) ऊपर बैठा
है । (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले,
(उत) और (संविदः) ज्ञानी पुरुष से (उत्तरः) अधिक श्रेष्ठ (असानि)
हो जाऊँ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सर्वोपरि परमेश्वर अन्तर्यामी होकर हमें दुष्कर्मों से बचने
की प्रेरणा करता है जिससे हम श्रेष्ठों में अति श्रेष्ठ और ज्ञानियों में अति
ज्ञानी होवें ॥

ये धीर्मानो रथकाराः कुमारा ये मनीषिणः ।

उपस्तीन् पर्णं महद्यत्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ६ ॥

ये । धीर्मानः । रथ-काराः । कुमाराः । ये । मनीषिणः ॥
उप-स्तीन् । पर्णं । महद्यत् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः ।
जनान् ॥ ६ ॥

५—मा । माम् । आ, अरुहन् । रह जन्मप्रादुर्भावयोः—लुङ् । आरुह-
वान् । उपरि विराजमानोऽभूत् । पर्यामणिः । म० १ पालकेषु श्रेष्ठः । मह्यै ।
महत्यै । अरिष्टतातये । रिष हिंसायाम्—क । रिष्टं हिंसनम् । उपद्रवः ।
उत्पातः । नञ्-समासः । शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति
अरिष्ट-करोत्यर्थे तात्तिल् । प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १६३ । इति प्रत्ययात्
पूर्वस्य उदात्तः । रिष्टवर्जनाय । अनुपद्रवाय । क्षेमकरणाय । यथा । येन
प्रकारेण । अहम् । परमेश्वरोपासकः । उत्तरः । उत्कृष्टः । असानि ।
अस्तेजोद् । भवानि । अर्यम्णाः । श्वनुक्षन् पूषन्प्लोहन् उ० १ । १५६ ॥
इति अर्थ + माङ् माने शब्दे च—कनिन् । अर्थान् श्रेष्ठान् मातीति । श्रेष्ठानां
सत्कारकात् । उत । अपि च । संविदः । सम् + विदजाने—किप् । ज्ञानिनः
पुरुषात् ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धीवानः) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (रथकासः) रथों के बनाने वाले, और (ये) जो (मनीषिणः) बड़े परिणित (कर्माराः) कर्मों में गति रखनेवाले शिल्पी जन हैं । (पर्ण) हे पालन करनेवाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अमितः) चारों ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों और विशेषकर राजा लोगों को चाहिये कि भूमिरथ, आकाशरथ, जलरथ आदि के बनाने वाले और अन्य शिल्पकर्मों विश्वकर्मा चतुर विद्वानों का सत्कार करते रहें जिससे अनेक व्यापारों से संसार में उन्नति होवे ॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सुता ग्रामण्यश्च ये ।

उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ ७ ॥

ये । राजानः । राज-कृतः । सुताः । ग्रामण्यः । च । ये ॥

६—ये । प्रसिद्धाः । धीवानः । ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति ध्ये चिन्तने-कनिष्-भ्यान्शीलाः । परिणताः । रथकाराः । कर्मण्यन् । पा० ३ । २ । १ । इतिरथ + कृञ्—अण् विमानादिनिर्मातारः । कर्माराः । कर्म + ऋ गतो—अण् पूर्ववत् । कर्मणि ऋच्छन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति । विश्वकर्माणः + कर्मकाराः । अस्त्रशस्त्रकारिणः । मनीषिणः । कृतृभ्यामीषन् । उ० ४ । २६ । इति मनु अयवोधने-ईषन् । टाप् । मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति ग्रीष्मादि-त्वाद् इति । यद्वा । ईष गतो—अ, टाप् । शकृन्धादिषु पररूपं वाच्यम् । वार्त्तिकम् । पा० १ । १ । ६३ । इति पररूपम् । मनस् ईषा मनस ईषा मनीषा मवागति-वृद्धिः । पूर्ववद्—इति । मेधाविनः पुरुषाः—निघ० ३ । १५ । परिणताः । उप-स्तीन् । उप + अस् सत्तयाम्, यद्वा, आस उपवेशने-क्तिच् । आदिलोपश्लान्दसः । समीपे विद्यमानान् । उपासीनान् । पर्ण । म० १ । हे पालक, पूरक । मह्यम् । मदर्थम् । सर्वान् । अखिलान् । कृणु । कृव । अभितः । सर्वतः । जनान् । लोकान् ॥

उप-स्तीम् । पर्णम् । मह्यम् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः ।
जनान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (राजानः) ऐश्वर्यवाले (राजकृतः) राजाओं के बनाने वाले, (च)और (ये) जो (सूताः) सर्वप्रेरक, (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता लोग—हैं। (पर्णम्) हे पालन करने-वाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर-से (उप-स्तीम्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा सबके राजाधिराज परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने हितकारी माण्डलिक राजाओं और अन्य प्रधान पुरुषों को यथोचित व्यवहार से अपना इष्ट मित्र बनाये रखे ॥ ७ ॥

पर्णः । असि तनुपानः सयौनिर्वीरो वीरेण मया ।

सुवत्सुरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

पर्णः । असि । तनु-पानः । स-यौनिः । वीरः । वीरेण ।
मया ॥ सुव-वत्सुरस्य । तेजसा । तेन । बध्ना-मि । त्वा । मणे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मणे) हे प्रशंसनीय परमेश्वर ! तू (पर्णः) हमारा पूर्ण करने वाला, (तनुपानः) शरीर रक्षक और (वीरेण मया) मुझ वीर के

७—ये । हितकारिणः । राजानः । राजद्वीप्तौ, ऐश्वर्य-कनिम् । दीप्यमानाः । ऐश्वर्यवन्तः । राजकृतः । राजन् + कृञ्करणे—किप्, तुक् च । राजां कर्तारः, अभिप्रेचकाः । सूताः । पू प्रेरणे, ऐश्वर्यं, प्रसवे च—क । प्रेरकाः । ऐश्वर्य-वन्तः । सूर्याः, सूर्यवत्तेजस्विनः । ग्रामण्यः । ग्राम + णीञ् प्रापणे—किप् । ग्रामं संयत्तं तत्र गन्तुं जमान् नयतीति ग्रामणीः । प्रधानाः । अधिवृत्तयः । अभ्यद् व्याख्यातं म० ६ ॥

८—पर्णः । पूरकः । पालकः । असि । भवति । तनुपानः । शरीर-रक्षकः । सयौनिः । बहिर्भ्युद्युम् । -४०-४।५५। इति यु-मिश्रमिश्र-

साथ (सयोनिः) मिलने योग्य घर में रहनेवाला (वीरः) वीर (अस्ति) है । (संवत्सरस्य) सब में यथा नियम वास करनेवाले [तेरे] (तेन तेजसा) उस तेज से (त्वा) तुझको (बभ्रामि) मैं बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस उत्तम कामनाओं के पूरक, और शरीररक्षक महा-पराक्रमी परमेश्वर को अपने साथ सब स्थानोंमें निवास करता हुआ जानकर, और उसके तेजोमय स्वका को हृदय में धारण करके पराक्रमी और तेजस्वी होकर आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

ईश्वर का जीव के साथ नित्य सम्बन्ध है जैसे—

द्वा सु'पर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाक-
शीति ॥

ऋग्वेद १ । १६४ । २० ॥ अथर्व० ६ । ६ । २० ॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्ति वाले, (सयुजा) समान योग्य रखने वाले, (सखाया) मित्रों के समान वर्त्तमान [ईश्वर और जीव] (समा-नम्) एक (वृक्षम्) सेवनीय [संसार वा वृक्ष] से (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) सम्बन्ध रखते हैं । (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक [जीव, ईश्वराधीन होने से] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम्) फल [पुण्य पाप का] (अस्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि) भले प्रकार [जीवों को] (चाकशीति) देखता है ॥

इति प्रथमोऽनुषाकः ।

णयोः—नि । युतं सम्युक्तं सर्वपदार्थैः । योनिः, गृहनाम-निघ० ३ । ४ । समान-गृहयुक्तः । वीरः । स्फायितश्चिवश्चि० । उ० २ । १३ । इति अज गतिकोप-णयोः—रक् । अजेर्वीभावः । यद्वा । वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । यद्वा । वि+ईर गतौ-क । वीरो वीर्यत्यभिमान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीर्यतेर्वा—निघ० १ । ७ । शूरः । वीरेण । पराक्रमिणा । मया । उपासकं । संवत्सरस्य । अ० १ । ३५ । संपूर्वादिबत् । उ० ३ । ७२ । इति सेम् + वस निवासे-सरन् । स च चित् । सम्यग्वसस्ति लोका यत्र, निवसति लोकेषु यः । अग्निरवासास्थानस्य परमे-श्वरस्य । तेजसा । प्रकाशेन । तेन । प्रसिद्धेन । बभ्रामि । धारयामि । त्वदीयतेजोऽद्याप्तये स्वहृदये स्थापयामीत्यर्थः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६

१—८ ॥ अश्वत्थो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्साहवर्धनायोपदेशः—उत्साह बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खंदिरादधि ।

स हन्तु शत्रून् माम्कान् यानुहं द्वेष्टि ये च माम् ॥१॥

पुमान् । पुंसः । परि-जातः । अश्वत्थः । खंदिरात् । अधि ।

सः । हन्तु । शत्रून् । माम्कान् । यान् । अहम् । द्वेष्टि । ये ।

च । माम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) (पुमान्) रक्षाशील (अश्वत्थः) अश्वत्थामा अर्थात् अश्वों, बलवानों में ठहरने वाला पुरुष, अथवा वीरों के ठहरने का स्थान पीपल का वृक्ष, (पुंसः) रक्षाशील (खंदिरात् अधि) स्थिर स्वभाव वाले परमेश्वर से, अथवा और वृक्ष से (परिजातः) प्रकट होकर (माम्कान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं

१—पुमान् । पातेर्दुमसुन् । उ० ४ । १७८ । इति वा रक्षणे—दुमसुन्, ङित्वाद् टिलोपः । पातीति पुमान् [पुमस्] । रक्षकः पुरुषः । पुंसः । रक्षकात् । परिजातः । प्रादुर्भूतो भवति । अश्वत्थः । अश्वमुषित्ठि० । उ० १ । १५१ । इति अश्वत्थासिंहतयोः—कन् । अश्वनुते कार्याणि स अश्वः, बलवान् पुरुषः । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति अश्व + छा गतिनिवृत्तौ—क । पृषोदरादित्वाद् रूपम् । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः । अश्वत्थामा । अथवा । अश्वं वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः । खंदिरात् । अजिरशिशिरशिथिल० । उ० २ । ५३ । इति खदस्यैर्यहंसयोः—किरच् । स्थिर—स्वभावात् परमेश्वरात् । वृक्षविशेषाद्वा । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । सः ।

वा रोगों को (हन्तु) नाश करे (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेषिम्) बैरी जानता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरी जानते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सर्वरक्षक दृढ़ स्वभावादि गुण वाले परमेश्वर का विचार करके अपने को सुधारते हैं, वे शूरो में महाशूर होकर कुकर्मों शत्रुओं से बचाकर संसार में कीर्ति पाते हैं ॥ १ ॥

२—अश्वत्थ, पीपल का वृक्ष दूसरे वृक्षों के खोखले, घरों की भीतों, और अन्य स्थानों में उगता है, और बहुत गुणकारी है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक होजाता है। लोग बड़ा आदर करके पवित्र पीपल को चित्र-प्रसादक छाया और वायु में सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि करने, और इस के दूध, पत्ते फल, छाल, लकड़ी से-बहुत औषधें बनाते हैं। शब्दकल्पद्रुम कोष में इस को मधुर, कसैला, शीतल, कफ पित्त विनाशी, रक्तदाहशान्तिकारक आवि, और खदिर अर्थात् खैर को शीतल, तीखा, कसैला, दांतों का हितकारी, कृमि, प्रमेह, ज्वर, फोड़े, कुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रुधिर पांडु और कफ का विनाशक आदि लिखा है ॥

पाश्चोत्तरखण्ड अध्याय १२६, १६०—१६१ में अश्वत्थ की कथा सविस्तार लिखी है।

तान् अश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।

ईन्द्रेण वृत्रघ्ना मे दी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

तान् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । शत्रून् । वैबाध-दोधतः ॥

ईन्द्रेण । वृत्र-घ्ना । मे दी । मित्रेण । वरुण च ॥ २ ॥

स अश्वत्थः । हन्तु । नाशयतु । शत्रून् । शययितुन् । अरीन् । रोगान् । मामकान् । अ० १ । २६ । ५ । मदीयान् । यान् । अपकारिणः । द्वेषिम् । द्विष बैरे । प्रतिकूलान् जानामि । ये । अपकारिणः । माम् । उपासकं द्विष-न्तीति विपरिस्वामेव सम्बन्धः ॥

भाष्य—(अश्वत्थ) हे बलवानों में डहरने वाले शूर ! [वा पीपल वृक्षः]
 (वृक्षज्ञाः) अश्वत्थकार मिटाने वाले (इन्द्रेण) सूर्य से, (मित्रेण) प्रेरणाकरने
 वाले वायु से (च) और (वरुणेन) स्वीकार करने योग्य जल से (मेदी + सन्)
 स्नेही होकर (तान्) उन (वैबाधदोधतः) विविध बाधा डालने वाले क्रोध-
 शील (शत्रून्) शत्रुओं वा रोगों को (निः) सर्वथा (शृणीहि) मार डाल ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सूर्यादि के समान गुणयुक्त होकर भीतरी और बाहिरी
 बैरियों का और सदैव पीपल के प्रयोग से रोगों का नाश करके प्रजा में शान्ति
 रक्खे ॥ २ ॥

यथाश्वत्थ निर्भन्तोऽन्तर्महत्यर्णवे ।

एवा तान्तसर्वान्निर्भङ्ग्धि यान्हं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

यथा । अश्वत्थ । निः-अभनः । अन्तः । महति । अर्णवे ॥
 एव । तान् सर्वान् । निः । भङ्ग्धि । यान् । अहम् । द्वेष्मि ।
 ये । च । माम् ॥ ३ ॥

२—तान् । प्रसिद्धान् । अश्वत्थ । म० १ । हे अश्वेषु बलवत्सु
 स्थितिशील शूराजन् । निः । निःशेषम् । शृणीहि । शृङ्गसायाम् । घातय
 शत्रून् । अपकारिणः । वैबाधदोधतः । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० ।
 इति विबाध + अण् । विविधं बाधः प्रतिरोधो यस्य स वैबाधः । दोधतिः क्रुध्यति-
 कर्मा—निघ० २ । १२ । नैरुक्तोधातुः—शतृप्रत्ययः । वैबाधान् विबाधकान् दोधतः
 क्रोधशीलान् । इन्द्रेण । पेश्वर्यवता सूर्येण । वृक्षज्ञा । ब्रह्मभूणवृक्षेषु—
 क्तिप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति वृक्ष + हन बध्ने—क्तिप् । अश्वत्थकारं हतवतः ।
 मेदी । नन्दिप्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति जिमिदा
 स्नेहे—णिनि । अजन्ताद्वा मत्वर्थाय इति । स्नेही । मित्रेण । अ० १ । ३ । २ ।
 दुमिष् प्रक्षेपणे क् । यद्वा । जिमिदा स्नेहे—त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः ।
 मध्यस्थानदेवता—निघ० १० । २१—२२ । वरुणेन । अ० १ । ३ । ३ । मध्य-
 स्थानदेवता—निघ० १० । ३ । वृष्टिजलेन ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे बीरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !]
 (यथा) जैसे (महति) बड़े (अर्णवे अन्तः) समुद्र के बीच में (निरभनः) नि-
 श्चय करके तू भद्र करने वाला हुआ है । (एव) वैसे ही (तान् सर्वान्) उन
 सब को (निर्) निरन्तर (भङ्गिधि) नष्ट करदे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं
 (द्वेष्मि) बैरा जानता हूँ, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [बैरा जानते हैं] ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को शूर वीर और सदैव होकर दुःख सागर में डूबे
 हुए प्रजागणों के उभारने में प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥

यः सहमानुश्चरंसि ससहान इव ऋषभः ।

तेनाश्वत्थ त्वया वयं सुपत्नान्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

यः । सहमानः । चरंसि । ससहानः-इव । ऋषभः ॥ तेन ।

अश्वत्थ । त्वया । वयम् । सु-पत्नान् । सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरनेवाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (यः)
 जो तू (सहमानः) [बैरियों को] दबाना हुआ, (ससहानः) महाबली (ऋषभः
 इव) श्रेष्ठ पुरुष वा बलीवर्द वा ऋषभ औपध के समान (चरंसि) विचरता

३—यथा । येन प्रकारेण । अश्वत्थ । म० १ । हे बलवत्सु स्थितिशील ! ।
 पिपलवृक्ष ! निरभनः । भदि कल्याणकरणे—लङि हलङ्यादिना सिपो
 लोपो दश्च । पा० २ । २ । ७ । इति धातुदकारस्य चैकल्पकं रुक्मम् । निरन्तरं
 भद्रं कृतवानसि । महति । विशाले । अर्णवे । अ० १ । १० । ४ । समुद्रे ।
 निर् । निश्चयेन । निरन्तरम् । भङ्गिधि । भङ्गो आमर्दन—लोट् । भञ्जय ।
 विदारय । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च । म० १ ॥

४—यः । यस्त्वम् । सहमानः । सह अभिभवे-शानच् । शत्रून् अभि-
 भवन् । चरंसि । गच्छसि । वर्तसे । ससहानः । सहैर्यङ्लुगन्तात् लट्
 शानच् । संहितायां दीर्घः । अत्यर्थमभिभवन् । इव । यथा । ऋषभः ।

है । (तेन त्वया) उस तेरे साथ (वयम्) हम (सपत्नान्) बैरियों को (सहिषीमहि) हरा देंगे ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजा गण शूरावीर नीतिनिपुण राजा और सदैव के सहाय से शत्रुओं को वश में करते रहें । ऋषभ औषध विशेष है । इस को शब्द कलद्रुम कोष में मोठा, शीतल, रक्त-पित्त-विरेक-नाशक, वीर्य-शनेष्ट कारी, और वाह-क्षय-ज्वरहारी आदि लिखा है ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान् । निऋतिर्मुत्योः पाशैरमोक्थैः ।

अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेप्सि ये च माम् ॥ ५ ॥

सिनातु' । एनान् । निः-ऋतिः । मृत्योः । पाशैः' । अमोक्थैः ॥
अश्वत्थ । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेप्सि' । ये ।
च माम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरा में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !]
(निऋतिः) अज्ञचमी (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्थैः) न खुल सकने वाले (पाशैः)
पाशों से (एनान्) इन (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (सिनातु) बांध लेके,
(यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेप्सि) बैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्)
मुझे [बैरी जानते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा सत्पुरुषों के विरोधी दुराचारियों को दृढ़ बन्धनों में डालकर निर्धन और नष्ट करदे ॥ ५ ॥

ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गती । दर्शने च--अभक् ।
ऋषिदर्शनात्-निरु० २ । ११ । श्रेष्ठपुरुषो बलीवर्द्धो वा । औषधविशेषो वा ।
तेन । उकलक्षणेन । त्वया । अश्वत्थेन । वयम् । सपत्नान् । शत्रून् ।
सहिषीमहि । सहैराशीर्लिङि रूपम् । सहामहै । अभिभूयास्म ॥

५-सिनातु । पिञ् बन्धने । बध्नातु । एनान् । समीपवर्त्तिनः ।
निऋतिः । अ० १ । ३१ । २ । निः+ऋ हिंसने-क्तिन् । अज्ञचमीः । मृत्योः ।
मरणस्य । पाशैः । बन्धनैः । अमोक्थैः । ऋहलोर्ण्यन् । पा० ३ । १ । १२४
इति मुञ्चलमोक्षे=त्यागे-एयत् । चजोः कु धिएण्यतोः । पा० ७ । २ । ५२ । इति
कुत्वम् । अमोचनीयैः । अत्याज्यैः । अश्वत्थ, शत्रून् । इत्यादि व्याख्यातं म० १ ॥

यथाश्वत्थु वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।

एवा मे शत्रौर्मुर्धानं विष्वक् भिन्धि सहस्व च ॥६॥

यथा । अश्वत्थु । वानस्पत्यान् । आ-रोहन् । कृणुषे । अध-
रान् ॥ एव । मे । शत्रौः । मुर्धानम् । विष्वक् । भिन्धि ।
सहस्व । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अश्वत्थ) हे शत्रुओं में ठहरने वाले
अश्वत्थामा राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (वानस्पत्यान्) सेवकों वा सेवनीय गणों
के रक्षक [आप] से सम्बन्ध वाले पुरुषों [वा वृक्ष समूहों] पर (आरोहन्) ऊंचा
होकर (अधरान्) नेचे (कृणुषे) तू करता है, (एव) वैसे ही (मे शत्रौः)
मेरे शत्रु के (मुर्धानम्) मस्तक को (विष्वक्) सब विधि से (भिन्धि) तोड़ दे
(च) और (सहस्व) जीत ले ॥ ६ ॥

भावार्थ—समस्त और प्रत्येक प्रजागण समर्थ शूर वीर पुरुष वा सदैव
को नायक बनाकर शत्रुओं और रोगों से अपने को बचावें ॥ ६ ॥

तेऽधराजुः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

६—वानस्पत्यान् । वसति सेवते । अथवा । वस्यते सेव्यते स वनः । तेषां
पतिः, वनस्पतिः । [वनस्पते] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति
दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । ततः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ ।
इति एयप्रत्ययः । सेवकानां सेव्यगुणानां वा पालकस्य संबन्धिनः पुरुषान् ।
स्वभक्तानित्यर्थः । यद्वा, समूहार्थे एयः । वृक्षान् । आरोहन् । रह जन्मप्राप्तु-
र्भावयोः—शत्रु । आरुहः, अधिष्ठाता सन् । कृणुषे । करोषि । अधरान् ।
तीक्ष्णान् । स्वशरणे रक्षितान् । मुर्धानम् । शत्रुघ्नपूषन् श्री० । ७०
१ । १५६ । इति मुर्ध् बन्धने—कनिन् । मस्तकम् । विष्वक् । विषु+अभ्यु-
क्तिन् । सर्वतः । भिन्धि । विदारय । सहस्व । अभिभष ॥

ते । अधराञ्चः^१ । प्र । प्रवन्ताम् । छिन्ना । नौः-इव । बन्ध-
नात् ॥ न । वैबाध-प्रनुत्तानाम् । पुनः^२ । अस्ति । निवर्त-
नम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (अधराञ्चः) अधोगति वाले लोग वा रोग (बन्धनात्)
बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुयी (नौः इव) नाव के समान (प्र प्रवन्ताम्) बहते
चले जावे जिस से (वैबाधप्रणुत्तानाम्) विविध बाधा डालने वालों में पड़े
हुये लोगों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौटना (न) नहीं (अस्ति) है ॥७॥

भावार्थ—महादुष्ट रोग वा दुराचारियों के हटाने के लिये कठिन उपाय
करना चाहिये, क्योंकि कामलता से उन का सुधार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

प्रेणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनीत ब्रह्मणा ।

प्रेणान् वृक्षस्य शाखया श्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

प्र । एनान् । नुदे । मनसा । प्र । चित्तेन^१ । उत । ब्रह्मणा ॥

प्र । एनान् । वृक्षस्य^२ । शाखया । श्वत्थस्य^३ । नुदामहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(एनान्) इन [शत्रुओं] के (मनसा) मनन शक्ति से, (चि-

८-ते । शत्रवः । अधराञ्चः । अधर+ञ्चते । छिन् । अधोगतिं
प्राप्ताः । प्रप्रवन्ताम् । मुङ्गतौ । प्रवाहेरण सह गच्छन्तु । न कदाचित्
पारं प्रामुवन्तु । छिन्ना । भिन्ना । वियुक्ता । नौः । ग्लानुदिभ्यां डौः ।
उ० २ । ६४ । इति शुद्ध प्रेरणे—डौ । अक्षतरुसाधनम् । तरणिः । बन्धनात् ।
बन्ध-ल्युट् । रज्ज्वाः सकाशात् । न । निषेधे । वैबाधप्रणुत्तानाम् । वैबाधो
यथा मन्त्रे २ । प्र+णु प्रेरणे—क, तस्य नः । वैबाधेषु विविधबाधकेषु प्रणुत्तानां
प्रेरितानां क्षितानां । पुनः । पश्चात् । अस्ति । भवति । निवर्तनम् ।
नि+वृत्-ल्युट् निवृत्त्य आगमनम् ॥

८-एनान् । पूर्वोक्तान् शत्रून् । नुदे । शुद्ध प्रेरणे । स्वरितेत्वाद् आत्मने-
पदम् । प्रेरयामि । निः सारयामि । मनसा । मननशक्त्या । चित्तेन ।

त्तेन) ज्ञान शक्ति से (उत) और (ब्रह्मणा) वेदशक्ति से (प्र प्र) सर्वथा (जुदे) मैं हटाता हूँ । (एनान्) इन को (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (अश्वत्थस्य) बलवानों में ठहरने वाले शूरा [वा पीपल] की (शाखया) व्याप्ति [वा शाखा] से (प्र. नुदामहे) हम निकाले देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रत्येक व्यक्ति और सब लोग मिल कर शूराधीर वा पीपल के प्रभाव से आगा पीछा विचारकर शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ १-३ हरिणो देवता, ४-७ सन्त्रोक्ता देवताः । अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

हरिणस्य रघुष्योऽधि शीर्षणि भेषजम् ।

स क्षेत्रियं विषाणया विषुचीनमनीनशन् ॥ १ ॥

हरिणस्य । रघु-स्यदः । अधि । शीर्षणि । भेषजम् ॥ सः ।

क्षेत्रियम् । विषाणया । विषुचीनम् अननीनशन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रघुस्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) अन्धकार हरने वाले सूर्य रूप परमेश्वर के (शीर्षणि अधि) आश्रय में ही (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (सः) उस [ईश्वर] ने (विषाणया) विविध दानों से (क्षेत्रियम्)

चिती ज्ञाने-कः । ज्ञानशक्त्या । ब्रह्मणा । वेदविज्ञानेन । वृक्षस्य । इगुपञ्च-
क्षाप्रोक्तिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृक्षावरणे-क । वरणीयस्य । चिटपस्य वा ।
शाखया । शाख व्याप्तौ-अच्, टाप् । व्याप्तिः । पूर्णतया । वृक्षावयवेन ।
अश्वत्थस्य । म० १ । बलवान् सु स्थितिशीलस्य शूरस्य । पिप्पलस्य । नुदा-
महे । प्रेरयामः ॥

१—हरिणस्य । श्यास्त्याह्वविभ्य इनच् । उ० २ । ४६ । इति ह्यह्वरणे-
इन्च् । दुःखहरणशीलस्य परमेश्वरस्य । सूर्यस्य । पशुविशेषस्य मृगस्य । रघु-

शरीर वा वंश के रोग को (विपूचीनम्) सब ओर से (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने आदि सृष्टि में वेद द्वारा हमारे स्वाभाविक और शारीरिक रोगों की औपधि दी है उसी के आज्ञापालन में हमारा कल्याण है ॥

(हरिण) “ शब्दकल्पद्रुम ” कोष में विष्णु, शिव, सूर्य, हंस और पशु विशेष मृग का नाम है और पहिले चारों नाम प्रायः परमेश्वर के हैं ॥

दूसरा अर्थ ॥

(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) मस्तक के भीतर (भेषजम्) औषध है । (राः) उस [हरिण] ने (विषाणया) [अपने] सींग से (क्षत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (विपूचीनम्) सब ओर (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मृग के सींग आदि से मनुष्य बड़े २ रोग नष्ट करें । मृग की नाभि में प्रसिद्ध औषधि कस्तूरी होती है । उस का सींग पसली आदि की पीड़ा में लगाया जाता है, प्रायः घों में रक्खा रहता है और उस में नौसादर भी होता है । [विषाणम्] सींग कुष्ठ का औषध है ॥ १ ॥

व्यदः । लङ् घञ् ह्य त तापश्च । उ० १ । २६ । इति लघि अभुग्गयोः—कु, नलोपः । बालमूतलध्वसुरालम० वा० पा० ८ । २ । १८ । इति लस्य रावम् । स्यन्देः क्विप् । अनिदिताम् ० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । शीघ्रगामिनः । अधि । सप्तम्यर्थान् वादा । शीर्षणि । अयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १६४ । इति श्रिज् संवने-असुन् । इति शिरः । शीर्षेऽध्वन्दसि । पा० ६ । १ ६० । इति शिगः शब्दस्य शीयन् । इत्यादेशः । अश्रये । मस्तके । भेषजम् । अ० १ । ४ । ४ । भयजेतुसामर्थ्यम् । सः । पूर्वोक्तो हरिणः । क्षत्रियम् । अ० २ । ८ । १ । क्षत्र-घञ् । क्षत्रे देहे वंशे वा जातं रोगं दोषं वा । विषाणया । वि+षणु दाने, संवने च घञ् टाप् । विषाणं विशेषेण मदस्य दातारम् इति सायणः । ऋ० ५ । ४४ ११ । विषाणेन । विविधदानेन । शृङ्गेण । विपूचीनम् । विषु+अञ्जतेः क्तिन् । अनिदितां हल उप० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । विषाणञ्चनेरदिक् स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे खः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक्, सर्वतः । अननीशत् । एष अदशने-णिच्, लुङ् । नाशितवान् ॥

अनु' त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।

विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अनु' । त्वा । हरिणः । वृषा । यत्-भिः । चतुः-भिः । अक्र-
मीत् ॥ वि-सने । वि । स्य । गुष्पितम् । यत् । अस्य ।
क्षेत्रियम् । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (वृषा) परम ऐश्वर्यवाला (हरिणः) विष्णु
भगवान् (चतुर्भिः) मांगने योग्य [अथवा चार, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष]
(पद्भिः) पदार्थों के साथ (त्वा अनु) तेरे साथ २ (अक्रमीत्) पद जमाकर
आगे बढ़ा है । (विषाणे) [परमेश्वर के] विविध दान में [उस रोग को]
(विष्य) नाश करदे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर व वंश का रोग (अस्य)
इसके (हृदि) हृदय में (गुष्पितम् = गुफितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अनेक उत्तम २ पदार्थ देकर सदा सहायक रहता है ।
उलको अनन्त दया से ओषधि द्वारा नीरोग रहकर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ २ ॥

दूसरा अर्थ ।

[हे मनुष्य !] (वृषा) बलवान् (हरिणः) हरिण (चतुर्भिः पद्भिः) चारों
पैरों से (त्वा अनु) तेरे अनुकूल (अक्रमीत्) प्राप्त हुआ है ।

२—अनु । सह । अनुकूलं व्याप्य । त्वा । त्वां मनुष्यम् । हरिणः ।
म० १ । विष्णुः । परमेश्वरः । मृगः । वृषा । कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ ।
इति वृषु सेवनप्रजननैरयेषु कनिन् । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः । पद्भिः । नन्दिग्रहिपचादि-
भ्यो ल्युणिन्यच् । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये गतौ च-अच् । पद्भ्यो-
मास्० । पा० ६ । १ । ६३ इति । पद् आदेशः । स्थातव्यैः । प्राप्तव्यैः । पदार्थैः । पदैः
चतुर्भिः । चतेरुत् । उ० ५ । ५८ । इति चते याचने-उत् । याचनीयैः । चतुः
संहर । कैश्चमर्थकाममोक्षैर्वा । अक्रमीत् । क्रमु पादविक्षेपे, गतौ-लुङ् ।
पदविक्षेपेण प्राप्तवान् । विषाणे । म० १ । वि + षण्य दाने-घञ् । विविधदानेन ।

(विषाणे) हे सींग ! [उस रोग को] (विष्य) नाश करदे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अस्य हृदि) इसके हृदय में (गुष्पितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य हरिण के सींग आदि औषध से रोग निवृत्ति करे ॥ २ ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिवच्छुदिः ।

तेन ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गैर्भ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अव-रोचते । चतुष्पक्षम्-इव । छुदिः ॥ तेन ।

ते । सर्वम् । क्षेत्रियम् । अङ्गैर्भ्यः । नाशयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अदः) यह (यत्) जो [वा पूजनीय ब्रह्म] (चतुष्पक्षम्) याचनीय व्यवहारों से युक्त, अथवा चार पक्ष वाले (छुदिः इव) घर के समान (अवरोचते) चमकता है । (तेन) उसके द्वारा (ते अङ्गैर्भ्यः) तेरे अङ्गों से

अथवा (विषाणा) इत्यस्य संबोधनम् । हे शृङ्ग । वि, स्य । पो अन्तः-कर्मणि-लोड् । विनाशय । गुष्पितम् । गुफ, गुम्फ ग्रन्थे-क । छान्दसं रूपम् । गुफितं गुम्फितं वा ग्रन्थितम् । यत् । यत्किञ्चित् । अस्य । समीपवर्त्तिनः पुरुषस्य । क्षेत्रियम् । रोगजातम् । हृदि । हृदये ॥

३—अदः । न+दसु उत्क्षेपे-किप् । एतत् । पुरोवर्त्ति । यत् । त्यजित-नियजि० । उ० १ । १३२ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-अदि, स च द्वित् । सर्वत्रसंगतं सर्वपूजनीयं ब्रह्म । अथवा, सर्वनामैतत् । अवरो-चते । निश्चयेन व्याप्य वा दीप्यते । चतुष्पक्षम् । चते याचने-उरन् । म० २ । गृधिपण्योर्दकौव । उ० ३ । ६६ । इति पणङ् व्यवहारे स्तुतौ च-स, कश्चान्तादेशः । यद्वा । पक्ष परिग्रहे-घञ् । याचनीयव्यवहारयुक्तम् । चतुष्कोप वा । छुदिः । अर्चिशुचिहुस्पिङ्गिदिछुर्दिभ्य इतिः । उ० २ । १०८ । इति छुद संवृतौ+णिच्—इति । इस्मन्प्रत्ययकिषु । पा० ६ । ४ । ६७ । इति ह्रस्वः । पटलम् । गृहम् । आच्छादनम् । तेन । ब्रह्मणा । ते । तव । सर्वम् ।

(सर्वम्) सब (क्षत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (नाशयामसि = ०-मः) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—ज्ञानी पुरुष उस सर्वत्र विराजमान परब्रह्म की रचनाओं में उत्तम कर्मों से युक्त घर के समान आनन्द पाकर अपने सब विघ्नों का सब जगह नाश करके आगे बढ़े चले जाते हैं ॥ ३ ॥

२—हरिण के सींग आदि औषध से रोग नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।

वि क्षे'त्रियस्य मुञ्चतामधुमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सु-भगे । वि-चृतौ । नाम । तारके इति ॥ वि । क्षे'त्रियस्य । मुञ्च-ताम् । अधुमम् । पाशम् । उत्-तमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अमू) वे (ये) जो (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छड़ाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (दिवि) आकाश में हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊँचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छड़ा देव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकर्षण से प्रकाश, वृष्टि और पुष्टि आदि देकर संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य सुमार्ग में चलकर सब विघ्नों को हटाकर स्वस्थ और यशस्वी हों ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० २ । ८ । १ । में कुछ भेद से आ चुका है ।

अक्षिणम् । क्षत्रियम् । नाशकरं रोगम् । अङ्गेभ्यः । शरीरावयवेभ्यः । नाशयामसि । वयं नाशयामः ॥

४—अमू । परिहर्यमाने । ये । ज्ञाते । दिवि । ध्रुलोके । आकाशे । सुभगे । शोभनैश्वर्ययुक्ते । शिष्टं व्याख्यातम्-अ० २ । ८ । १ ।

आपु इह वा उं भेषजीरापौ अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीव-
चातनीः । आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा ।
मुञ्चन्तु । क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर वा जल (इत् वै उ)
अवश्य ही (भेषजीः = ०—ज्यः) भय निवारक है, (आपः) परमेश्वर, वा
जल (अमीवचातनीः = ०—न्यः) पीड़ानाशक है । (आपः) परमेश्वर वा जल
(विश्वस्य) सब का (भेषजीः) भय निवारक है, (ताः) वह (त्वा) तुम को
(क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि, नेत्र, हस्तादि, सूर्य, चन्द्र,
पृथिवी आदि, और अन्नादि पदार्थ देकर बड़ा उपकार किया है, सो हम भी
उसको धन्यवाद देते हुये सब के साथ उपकार करें, और खेती आदि में जल
के सुप्रयोग से पुरानी और नवी द्रिद्रता, और स्नान आदि में प्रयोगों से सब
रोग नाश करें ॥ ५ ॥

(आपः) शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, इसी से उस के विशेषण भी
स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त हैं । (आपः) शब्द परमेश्वरवाची भी है, प्रमाण में
अगला मन्त्र है । उस में एक वचनान्त शब्दों के साथ प्रयोग से उसका अर्थ
एक परमेश्वर का है ॥

५—आपः । अ० १ । ४ । ३ । सर्वव्यापकः परमेश्वरः । जलानि । इत्,
वै, उ । इति सर्वेऽवधारणे । अत्यन्तनिश्चयेन । भेषजीः । भेषं भयं जयतीति
भेषजम् । भेष + जि—उ । केवलमामकभागधेय० । पा० ४ । १ । ३० इति । भेषज,
जीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । भेषज्यः ।
भयनिवारिकाः । अमीवचातनीः । अ० १ । २८ । १ । रोगाणां नाशयिज्यः ।

तदे वाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं
तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

(तत्) विस्तार करने वाला प्रसिद्ध ब्रह्म (एव) ही (अग्निः) ज्ञान-
स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (आदित्यः) प्रकाश स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (वायुः)
गतिशील बलवान्, और (तत् उ) ब्रह्म ही (चन्द्रमाः) आनन्द कारक है ।
(तत् एव) ब्रह्म ही (शुक्रम्) शुक्र वा शुद्धस्वभाव, (तत्) सब में विस्तृत
ब्रह्म (ब्रह्म) महान्, (ताः) वही (आपः) सर्वव्यापक, और (सः) वही
(प्रजापतिः) प्रजापालक है ॥

ततोति विस्तारयतीत तद् ब्रह्म । तनु विस्तारे-अदि, स च इत् ३०
१ । १३२ ।

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानुशे ।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत् ॥ ६ ॥

यत् । आ-सुतेः । क्रियमाणायाः । क्षेत्रियम् । त्वा । वि-
आनुशे ॥ वेद । अहम् तस्य । भेषजम् । क्षेत्रियम् । नाश-
यामि । त्वत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (क्रियामा-
णायाः) बिगड़ते हुये (आसुतेः) काढ़े से (त्वा) तुझ में (व्यानुशे) व्याप गया
है । (अहम्) मैं (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (वेद) जानता हूँ । (क्षेत्रि-

पीडानाशिकाः । विश्वस्य । सर्वस्य । त्वा । त्वां मनुष्यम् । मुञ्चन्तु ।
मोचयन्तु । वियोजयन्तु, इत्यर्थः । क्षेत्रियात् । महारोगात् ।

६—यत् । यत्किञ्चित् । आसुतेः । आङ् + पुञ् सन्धानपीडनमन्यनेषु-
क्तिन् । औषधिपाकात् । काथात् । क्रियमाणायाः । कृञ् यथे कर्मणि शानच्,
मुक् आगमः । बध्यमानायाः । नश्यमानायाः । क्षेत्रियम् । म० १ । महारोगः ।
त्वा । त्वां मनुष्यम् । व्यानुशे । वि + अश् व्यसौ—लिट् । अश्नोतेश्च । पा०

यम्) शरीर वा वंश के रोग को (त्वत्) तुम से (नाशयामि) नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—विकृत औषध और विकृत अन्न के काढ़े वा पाक रस आदि से शरीर में भारी रोग व्याप जाते हैं, मनुष्य हितकारक पदार्थों का सेवन प्रयत्न करके किया करें ॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उपसामुत ।

अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमपक्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अप-वासे । नक्षत्राणाम् । अप-वासे । उपसाम् । उत ॥ अप ।

अस्मत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) छिपने पर (उत) और (उपसाम्) प्रभात बेलाओं के (अपवासे) चले जाने पर (अस्मत्) हम से (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) अनिष्ट (अप = अप उच्छतु) चला जावे, और (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अप उच्छतु) हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र उपसंहार है, अर्थात् जैसे प्रतापी सूर्य के चमकने पर तारे छिप जाते और उषाओं का रङ्ग फीका पड़ जाता है, वैसे ही उद्योगी पुरुष आलस्यादि अनिष्टों और रोगों को दबाकर आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

७ । ४ । ७२ । इति दीर्घाभूताद् अभ्यास्यात् नुद् । व्याप्नोत् । वेद । जानामि अहम् । उपासकः । तस्य । क्षेत्रियस्य । भेषजम् । भयनिवारक—मौषधम् । नाशयामि । निवारयामि त्वत् । वत्तः सकाशात् ॥

७—अपवासे । अप + वस वासे, आच्छादने—भावे घञ् । अन्तर्धाने । अपगमने । नक्षत्राणाम् । अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णक्ष गतौ—अत्रन् । नक्षत्राणि नक्षत्रतेर्गतिकर्मणः—निरु० ३ । २० । तारकाणाम् । उप-साम् । उपः किच्च । उ० ४ । २३४ । इति उप बधे दाहे च—असि । प्रभात प्रकाशानाम् । उत । अपि । अप । अप उच्छतु । अस्मत् । अस्मत्तः । सर्वम् । निखिलम् । दुर्भूतम् । दुर् + भू—क । दुर् दुःखेन भूतं युक्तम् । अनिष्टम् । दुःखम् । क्षेत्रियम् । महारोगजातम् । अप उच्छतु । उच्छ विवासे । अपगच्छतु । निवर्तताम् ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-६ ॥ प्रजापतिर्मन्त्रोक्ता देवता वा । १-४, ६ त्रिष्टुप् ,
५ अनुष्टुप् ॥

प्रीतिजननायोपदेशः—प्रीति उत्पन्न करने का उपदेश ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवी-
मुख्याभिः । अथः स्मभ्यं वरुणो वायुर्गृह्ण हृष्टं
संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

आ । यातु । मित्रः । ऋतु-भिः । कल्पमानः । सुम्-वेशयन् ।
पृथिवीम् । उल्लियाभिः ॥ अथ । अस्मभ्यम् । वरुणः ।
वायुः । अग्निः । बृहत् । राष्ट्रम् । सुम्-वेश्यम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतुभिः) ऋतुओं से (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ
और (उल्लियाभिः) किरणों से (पृथिवीम्) पृथिवी को (संवेशयन्) सुखी
करता हुआ (मित्रः) मरण से बचाने वाला वा लोकों का चलाने वाला सूर्य
(आयातु) आवे । (अथ) और (वरुणः) वृष्टि आदि का जल (वायुः)

१ आयातु । आगच्छतु । दीप्यतामित्यर्थः । मित्रः । अ० १ । ३ । २ ।
मित्रः प्रमीतेस्त्रायते संमिन्वानो ब्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । सुपि
स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति प्रमीति+ब्रैङ् रक्षणे-क, प्रमीतिशब्दस्य च
मिन्नावः । यद्वा, डुमिञ् प्रक्षेपणे-क् । यद्वा, जि मिदा स्नेहने क् । प्रमीते
मरणत्वात् प्राता रक्षको वृष्टिदानेन । लोकान् संमिन्वानः प्रक्षिपन् प्ररेयन् आक-
र्षणेन । शस्यानि स्नेहयति जलेन । यद्वा, मित्रवद् उपकारकः । सूर्यः । ऋतुभिः
वसन्ताद्यैः । कल्पमानः । कृपू सामर्थ्ये—लटः शानच् । कृपो रो बः पा०
८ । २ । १८ । इति लत्वम् । उपकाराय समर्थः सन् । संवेशयन् । संपूर्वाद् विभ
सुखीकरणो, विच् शत् । सुखीकुर्वन् । पृथिवीम् । विस्तीर्णी भूमिम् ।

पवन और (अग्निः) अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (बृहत्) विशाल (संवेश्यम्) शान्तिदायक (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) स्थिर करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न करे कि उसके प्रजागण सब ऋतुओं में पृथिवी पर भानुताप [सूर्य की किरणों को कांच के दर्पणों से खींचने का यन्त्र] आदि यन्त्रों द्वारा सूर्य से, जल चक्र, जल नाली आदि द्वारा जल से, पवन चक्रादि द्वारा पवन से, और आग्नेय अस्त्र शस्त्र द्वारा अग्नि से, विमान, अग्निरथ, नौका आदि में अनेक विधि से उपकार लेकर राज्य की उन्नति करें ॥ १ ॥

धाता राति संवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः । हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । इन्द्रः । त्वष्टा । प्रति । हर्यन्तु । मे वचः ॥ हुवे । देवीम् । अदितिम् । शूर-पुत्राम् । स-जातानाम् । मध्यमे-स्थाः । यथा । असानि ॥ २ ॥

भावार्थ—(धाता) पोषणकर्ता, (रातिः) दानकर्ता, (सविता) सर्व

उस्त्रियाभिः । स्फायि त डिच्च्दङ्गि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे रक्, टाप् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तौ डियास्, भिस् इति च छान्दसः प्रयोगः । वसन्त्यत्र रसाः । उच्चैः किरणैः । अथ । अपि च । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । वरुणः । वरणीयं जलम् । वायुः । पवनः । अग्निः । पावकः । बृहत् । महत् । राष्ट्रम् । अ० १ । २६ । १ राज्यम् । संवेश्यम् । संपूर्वाद् विश सुखाकरणे—अहीर्थं यत् । सुखीकरणयोग्यम् । शान्तिदायकम् । दधातु । धरतु । विदधातु । करोतु । स्थापयतु । प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् ॥

२—धाता । धारकः । पोषकः । रातिः । रा दाने—कर्तरि क्तिच् ।

प्रेरक, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान्, और (त्वष्टा) देवशिल्पी वा विश्वकर्मा [यह सब पुरुष] (मे) मेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य के कारण (वचः) वचन को (जुषन्ताम्) विचारें और (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (हर्यन्तु) स्वीकार करें । (देवीम्) दिव्य गुणवाली, (शूरपुत्राम्) शूर पुत्रों वाली (अदितिम्) अदान वा अखण्ड व्रतवाली देव माता [चतुर ह्या वा विद्या] को (हुवे) मैं आवाहन करता हूँ, (यथा) जिससे मैं (सजातानाम्) अपने समान जन्मवाले भाई बन्धुओं में (मध्यमेष्ठाः) प्रधान मध्यस्थ [mediator] होकर (असानि) रहूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा बड़े २ गुणवान् पुरुषों, बड़ी २ गुणवती स्त्रियों और विद्या की प्रतिष्ठा बढ़ावे, जिस से वह उनके सहाय से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥
हुवे सोमं सविनाम् नमोऽभिविश्वानादित्याँ अहमुत्त-
रुत्वे । अयमग्निर्दायद् दीर्घमेव संजातैरिदोऽप्रति-
ब्रुवत्-भिः ॥ ३ ॥

दानशीलः । सविता । सर्वप्रेरकः । इदम् । इन्द्रेः कमिञ् लोपश्च । ७० । ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्, न लोपः । परमैश्वर्यकारणम् । जुषन्ताम् । जुष नर्क, जुषो प्रीतिसेवनयोः । तर्कयन्तु । विचारयन्तु सेवन्ताम् । इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् । त्वष्टा । अ० २ । ५ । ६ । देवशिल्पी विश्वकर्मा । प्रति । प्रत्यक्षम् । हर्यन्तु । हर्यं गतिकान्त्योः । कामयन्ताम् सादरं शृण्वन्तु । स्वाकुर्वन्तु । मे । मदीयम् । वचः । वच कथने, संदेशे च-असुन् । वचनम् । हुवे । हेङ् आह्वाने । आह्वयामि । देवीम् । दानादि-गुणयुक्ताम् । दिव्यगुणवतीम् । अदितिम् । अ० २ । २८ । ५ । अखण्ड-व्रताम् । अदीनां देवमातरम् । सुलक्षणां स्त्रियं विद्यां वा । शूरपुत्राम् । शूरा विक्रान्ताः शौर्योपेताः पुत्रा यस्याः सा तथोक्ता ताम् । शूरपुत्रवतीम् । सजातानाम् । समानजन्मनाम् । बन्धूनाम् । मध्यमेष्ठाः । अ० २ । ६ । ४ । मध्यम + ष्टा गतिनिवृत्तौ-विच् । सप्तम्या अलुक् । मध्यमवेषु प्रधानेषु स्थितः । यथा । यस्मात् कारणात् । असानि । असेर्लोडि । अहं भवानि ॥

हुवे । सोमम् । सवितारम् । नमः-भिः । विश्वान् । आदि-
त्यान् । अहम् । उत्तर-त्वे ॥ अयम् । अग्निः । दीदयत् ।
दीर्घम् । एव । स-जातैः । इद्धः । अप्रतिब्रुवत्-भिः ॥ ३ ॥

भावार्थ—(अहम्) मैं (सोमम्) ऐश्वर्यवाले और (सवितारम्) सर्व-
प्रेरक पुरुष को और (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदीन देवमाता के पुत्रों
वा तेजस्वी शूर जनों को (उत्तरत्वे) श्रेष्ठता के निमित्त (नमोभिः) अनेक
सत्कारों से (हुवे) आवाहन करता हूँ । (अप्रतिब्रुवद्भिः) प्रतिकूल न बोलने
वाले (सजातैः) समान जन्म वाले भाई बन्धुओं करके (इद्धः) प्रकाशित
किया हुआ (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [सद्यस्तेजस्वी पुरुष] (दीर्घम्)
बहुत काल तक (एव) अवश्य (दीदयत्) ज्योतिवाला रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा शूर वीर सत्यवादी पुरुषों और भाई बन्धुओं का
सत्कार करता रहता है, वह उनकी सहायता से चिरकाल तक तेजस्वी होकर
संसार में कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥

इहेदंसाथ न पुरो गमाथेयौ गोपाः पुष्टपतिर्वृ आजत् ।

३—हुवे । आह्वयामि । सोमम् । ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् सवितारम् ।
सर्वस्य प्रेरकं नायकम् । नमोभिः । सत्कारैः । विश्वान् । सर्वान् ।
आदित्यान् । अ० १ । ६ । १ । अदिति-एय । यद्वा । आङ् दीपी दीप्तौ-यक्
निपातनात् साधुः । अदितिपुत्रान् । देदीप्यमानान् शूरान् । अहम् । प्रधान-
पुरुषः । उत्तरत्वे । निमित्ते सप्तमी । श्रेष्ठतार्थम् । अयम् । निर्दिष्टः । अह-
मित्यर्थः । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी । दीदयत् । दीदेतिश्छान्दसो दीप्ति-
कर्मा-लेटि । अडागमः दीर्घश्छान्दसः । दीप्यताम् । दीर्घमेव । चिरकाल-
मेव । सजातैः । समानजन्मभिः । बन्धुभिः । इद्धः । जि इन्धी दीप्तौ-क ।
समिद्धः । अभिवर्धितः । अप्रतिब्रुवद्भिः । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-शतृ । अप्र-
तिकूलवादिभिः । सत्यवादिभिः ॥

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे' वो देवा उपसं-
यन्तु ॥ ४ ॥

इह । इत् । असाथ । न । परः । गमाथ । इर्यः । गोपाः ।
पुष्ट-पतिः । वः । आ । अजत् ॥ अस्मै । कामाय । उप ।
कामिनीः । विश्वे । वः । देवाः । उप-संयन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओं ! स्त्री पुरुषों !] (इह इत्) यहां पर ही (असाथ)
रहो, (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ, (इर्यः) अन्नवान् वा विद्यावान्
(गोपाः) भूमि, वा विद्या वा गौ कारक्षक, (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी
पुरुष (वः) तुम को (आ, अजत्) यहां लावे । (अस्मै) इस [पुरुष] के अर्थ
(कामाय) कामना [की पूर्ति] के लिये (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २
गुण (कामिनीः) उत्तम कामना वाली (वः) तुम प्रजाओं को (उप) अच्छे
प्रकार से (उपसंयन्तु) आकर प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा राज्य की वृद्धि के लिये प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों को नगरों

४—इह । अस्मिन् राज्ये । इत् । एव । असाथ । अस्तेल्लेति आडा-
गमः । भवत । वर्तध्वम् । न । निषेधे । परः । पूर्वाधरावरणामसि० । पा०
५ । ३ । ३६ । इति छन्दसि पर-असि । दूरे । गमाथ । गमेल्लेति आडागमः ।
गच्छत । इर्यः । अज्जेद्राग्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ रक्, टाप्, गुणा-
भावो निषान्यते । इगा, अन्ननाम-निय० २ । ७ । सरस्यती । तत्र साधुः । पा० ४ ।
४ । ६८ । इति इग यत् । अन्नवान् । विद्यावान् । गोपाः । आतो मनिन्कनि-
बन्निपश्च । पा० ४ । २ । ७४ । इति गो+पा रक्षणे-विच् । चितः । पा० ६ । १ ।
१६३ । इति अन्तादात्तः । गां भूमिं वाचं धेनुं वा पातीति । भूपालः । विद्यारक्षकः ।
धेनुरक्षकः । पुष्टपतिः । पुष्टस्य पोषणस्य स्वामी । वः । युष्मान् । आ,
अजत् । अज गतिक्षेपणयोः । आगमयतु । आनयतु । अस्मै । अस्य हिताय,
कामाय । शुभकामनासिद्धये । इष्टप्राप्तये । उप । अधिके । पूजायाम् ।
कामिनीः । काम इति, डीप् । शुभकामयतीः प्रजाः । विश्वे । सर्वे ।

में बसावे और अन्नादि से पोषण करके शुभ गुणों के उपार्जन में सदा प्रवृत्त रखे ॥ ४ ॥

सं वो मानांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन् तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

सम् । वः । मनांसि । सम् । व्रता । सम् । आकूतीः । नमा-
मसि ॥ अमी इति । ये । वि-व्रताः । स्थन् । तान् । वः ।
सम् । नमयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्)
ठीक रीति से, (व्रता=व्रत नि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से, (आकूतीः)
संकल्पों को (सम्) ठीक रीति से, (नमामसि=०-मः) हम झुकते हैं ।
(अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्ध कर्मी (स्थन्) हो, (तान् वः)
उन तुम को (सम्) ठीक रीतिसे (नमयामसि=०-मः) हम झुकते हैं ॥५॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम
मनोरथों को माने और धर्म पथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत करलेवे ॥५॥

देवाः । दिव्यगुणाः । उपसयन्तु । इण् गतौ—लोट् । समीपे सम्यक् प्राप्नु-
वन्तु ॥

५—सस् । वो नाशने-कमु । स्यति अनर्थान् सम्यक् । यथाविधि । वः ।
युष्माकम् । मनांसि । मननानि । चेतांसि । व्रता । अ० २ । ३० । २ ।
कर्माणि-निघ० २ । १ । आकूतीः । अ० ३ । २ । २ । सङ्कल्पान् । मनोरथान् ।
नमामसि । इदन्तो मसि । पा० ७ । १ । ४६ । इति मसःस्थाने मसि । वयं नमामः ।
नम्रीभवामः । अमी । समीपस्थाः । ये । पुरुषाः । विव्रताः । विरुद्धकर्माणिः ।
स्थन् । अ० १ । ३१ । २ । यूयं स्थ । वर्तध्वे । तान् । पूर्वोक्तान् । वः । युष्मान् ।
नमयामसि । एव नम्रीभावे । शिच, लट् । नामयामः । प्रह्रीकुर्मः । नम्रीकुर्मः ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनसि मम चित्तमनु चित्ते-
भिरितं । मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु-
वर्तमान एतं ॥ ६ ॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनसि । मम । चित्तम् ।
अनु । चित्तेभिः । आ । इत ॥ मम । वशेषु । हृदयानि ।
वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनु-वर्तमानः । आ । इत ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनसि) तुम्हारे
मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) धामता हूँ, (मम) मेरे (चित्तम् अनु)
चित्त के पीछे २ (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ ।
(मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं
करता हूँ, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्तमानः) मार्ग चलने हुये
(आ इत) यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभा-
सदों और प्रजागणों को धर्म पथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी
और उत्साही बनावे ॥ ६ ॥

६—अहम् । प्रधानपुरुषः । गृभ्णामि । भस्य हः । गृह्णामि ।
स्थिरीकरोमि । मनसा । मानसिकबलेन । मनसि । मानसिकबलानि ।
चित्तम् । ज्ञानम् । अनु । अनुसृत्य । चित्तेभिः । चित्तैः । ज्ञानैः । आ
इत । आगच्छत । मम । स्वकीयेषु । वशेषु । वश कान्ती-अप् । आयत्त-
त्वेषु । प्रभुत्वेषु । हृदयानि । अन्तः करणानि । वः । युष्माकम् । कृणोमि ।
करोमि । यातम् । या गतौ-क्त । गमनम् । अनुवर्तमानः । अनु + वर्तमान् ।
अनुसृतमार्गाः सन्तः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-६ । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्नशमनायोपदेशः—विघ्न की शान्ति के लिये उपदेश ॥

कर्शफस्य विश्वस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥

कर्शफस्य । विश्वस्य [विश्वस्य] । द्यौः । पिता ।
पृथिवी । माता ॥ यथा । अभिचक्र । देवाः । तथा । अप ।
कृणुता । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(कर्शफस्य) निर्बल का और (विश्वस्य) प्रबल का (द्यौः)
प्रकाशमान परमेश्वर (पिता) पिता और (पृथिवी) विस्तीर्ण परमेश्वर
(माता) निर्मात्री, माता है । (देवाः) हे विजयी पुरुषो ! (यथा) जैसे
[शत्रुओं को] (अभिचक्र) तुम ने हराया था, (तथा) वैसेही (पुनः) फिर
[उन्हें] (अप कृणुता) हटा दो ॥ १ ॥

भाषार्थ—जगत् के माता पिता परमेश्वर ने वृष्टि द्वारा सूर्य और
पृथिवी के संयोग से सब निर्बल और प्रबल जीवों को उत्पन्न किया है, इसलिये

१—कर्शफस्य । कृ शृशक्तिकलिगर्दिभ्योऽभच् । उ० ३ । १२२ । इति कृश
तनूकरणे, अल्पीभावे-अभच्, भस्य फः । कृशस्य । निर्बलस्य । विश्वस्य ।
श्रुविषुषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति विश्व अस्तर्गमने-अभच् ल क कित्,
भस्य फः । विश्वः=मनुष्याः निघ० २ । ३ । विशालस्य । प्रबलस्य । द्यौः ।
गमेर्होः उ० २।६१ । इति द्युत दीप्तौ-डो । द्योतमानः परमेश्वरः । पिता । पालकः ।
जनकः । पृथिवी । विस्तीर्ण । भूमिः । परमेश्वरः । माता । अ० १ । २ ।
१ । मानङ् । पूजायाम्-माङ् माने वा तृच् । निपातितश्च । मातरः=निर्मात्र्यः-
निघ० १२ । ७ । मान्या । निर्मात्री । जननी । यथा । येन प्रकारेण । अभिचक्र ।
करोतेर्लिटि भव्यमबहुवचने रूपम् । यूयम्, अभिभूतवन्तः । अतिवन्तः । देवः ।

सब सबल और निर्बल मिलकर अविद्या, निर्धनता आदि शत्रुओं को मिटाकर आनन्द से रहे ॥ १ ॥

अश्रेष्माणो आधारयन् तथा तन्मनु'ना कुतम् ।

कृणोमि वध्नि विष्कन्धं मुष्काबुर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अश्रेष्माणः । आधारयन् । तथा । तत् । मनु'ना । कुतम् ॥
कृणोमि' । वध्नि' । वि-स्कन्धम् । मुष्कु-आबुर्हः । गवाम्-
इव ॥ २ ॥

भाष्य—(अश्रेष्माणः) दाह [डाह] न करने वाले पुरुषों ने [जगत् को]
(आधारयन्) धारण किया है, (तथा) उसी प्रकार से ही (तत्) वह [जगत्
का धारण] (मनुना) सर्वज्ञ परमेश्वर करके (कुतम्) किया गया है ।
(विष्कन्धम्) विघ्न को (वध्नि) निर्बल (कृणोमि) मैं करता हूँ, (गवाम् इव)
जैसे बैलों के (मुष्काबुर्हः) अण्डकोष तोड़ने वाला [बैलों को निर्बल कर
देता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—पक्षपातरहित परमेश्वर संसार का धारण पोषण करता है, उसी
दिबु विजिगोषायाम्-अच् । हे विजिगीषवः । विजयनिः । तथा । तेन प्रका-
रेण । अप कृणुत । रुवि हिंसाकरणयोः । अपकुरुत । निवारयत शत्रून् ।
पुनः । अवधारणे । द्वितीयवारे ॥

२—अश्रेष्माणः । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति श्रिषु
दाहे-मनिन् । दाहशल्याः । अमरसराः । आधारयन् । धृतवन्तः । तथा ।
तद्वदेव । तत् । धारणरूपं कर्म । मनुना । शृङ्गस्निहि० । उ० १ । १० । इति
मन बोधे-उ । सर्वज्ञेन परमेश्वरेण । कुतम् । अनुष्ठितम् । कृणोमि ।
करोमि वध्नि । अदि शदिभूयुभिभ्यः क्रिन् । उ० ४ । ६५ । इति बन्ध बन्धने क्रिन् ।
बन्ध्यम् । विफलम् । निर्वार्यम् । विष्कन्धम् । अ० १ । १६ । ३ । वि+
स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—अच् । विशेषेण शोषकम् । विघ्नजातम् । मुष्का ।

प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी से बैर न करके उपकार करते आये हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विघ्नों को हटाकर उन्नति करे जैसे दुर्दमनीय बैल को असह्य बल से हीन करके कृषि आदि में चलाने हैं ॥ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।

श्रवस्युं शुष्मं कावुर्वं बध्निं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

पिशङ्गे । सूत्रे । खृगलम् । तत् । आ । बन्धन्ति । वेधसः ॥

श्रवस्युम् । शुष्मम् । कावुर्वम् । बध्निम् । कृण्वन्तु । बन्धुरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वेधसः) बुद्धिमान् पुरुष (पिशङ्गे) व्यवस्था वा अवयवों से युक्त वा दृढ़ (सूत्रे) सूत में (तत्) विस्तारण (खृगलम्) खनती वा छिद्र में गलाने वाले, विघ्न को (आ) सब ओर से (बध्नन्ति) बांधते हैं । (बन्धुरः=०—राः) बन्धुजन (श्रवस्युम्) प्रसिद्ध, (शुष्मम्) सुखाने

बर्हः । सृष्टृभृशुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति मुष लुगठने, वधे च, कक् । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति मुष्क+आङ्—बर्ह वधे दीप्तौ च—अण् । मुष्कम् अण्डकोषम् आवृहति उःमूलयतीति । अण्डकोषहेदकः । गवास् । पुंगवानाम् । इव । यथा ॥

३—पिशङ्गे । विडादिभ्यः वित् । उ० १ । १२१ । इति पिश व्यवस्थायाम्, अवयवे च—अङ्गच् व्यवस्थायुक्ते । अवयवयुक्ते । दृढ़े । सूत्रे । सिवि-मुच्योऽष्टेरु च । उ० ४ । १६३ । इति पिबु तन्तुसन्ताने—प्टन् । यद्वा । सूत्र ग्रन्थने वेष्टने च—अच् । तन्ती । व्यवस्थायाम् । नियमे । खृगलम् । नयतेर्ङिच्च । उ० २ । १०० । इति खनु विदारे—ऋप्रत्ययः, टिलोपः । गल भक्षे स्वावेच—अच् । खृ खननं छिद्रं, तत्र गलयतीति खृगलः । छिद्रे गलनशीलं विघ्नम् । तत् । त्यजितनिय-जिभ्यो ङित् । १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि, स च ङित् । विस्तृतम् । आ । समन्तात् । बध्नन्ति । नियमे कुर्वन्ति । वेधसः । अ० १ । ११ । १ । प्राङ्गुणाः । मेधाविनः । श्रवस्युम् । क्यच्छन्त्सि । पा० ३ । २ । १७० । इति श्रवस्-क्यच्-उ श्रवः श्रवणम्, इच्छन्तम् । महान्तम् । प्रसिद्धम् । शुष्मम् ।

बाले (काववम्) स्तुतिनाशक शत्रु को (वध्निम्) निर्वीर्य (कृण्वन्तु) कर देंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—विद्वान् लोग वेद द्वारा छोटे छोटे के मेल से बड़ी २ विपत्तियों को हटा देते हैं, इससे सब बान्धव मिलकर बाहिरी और भीतरी दोनों को मिटाकर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येना अत्रस्यवश्चरथ देवा इवासुरमायया ।

शुना कृपिरिव दूषणो बन्धुरा काववस्य च ॥ ४ ॥

येन । अवस्यवः । चरथ । देवाः-इव । असुर-मायया ॥

शुनाम् । कृपिः-इव । दूषणः । बन्धुरा । काववस्य । च ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] के साथ (अवस्यवः) हे प्रसिद्ध महापुरुषो !

(देवाः इव) विजयी लोगों के समान (असुरमायया) प्रकाशमान ईश्वर की बुद्धि से (चरथ) तुम आचरण करते हो, [उसी बल के साथ] (शुनाम्) कुत्तों के (दूषणः) तुच्छ जानने वाले (कृपिः इव) बन्दर के समान, (बन्धुरा)

अवि सिवि सिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति शुष शोषणे-मन् । शोषकम् । काववम् । कवृ स्तुतौ-वर्णे च घञ् + वा गतिहिंसनयोः—क । स्तुतेर्वर्णस्य वा नाशकम् । शत्रुम् । वध्निम् । म० २ । निर्वीर्यम् । असमर्थम् । कृण्वन्तु । कुर्वन्तु । बन्धुरः । मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । इति बन्ध बन्धने—उरच् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति जसः स्थाने सु । बन्धुराः । नियमबद्धाः । बान्धवः ॥

४—येन । शास्त्रबलेन । अवस्यवः । म० ३ । प्रसिद्धाः । महान्तः कीर्तिमन्तः । चरथ । आचरणं कुरुथ । देवाः इव । विजयिनो पथा । असुरमायया । असुर इति व्याख्यातम्—अ० १ । १० । १ असेकरन् उ० १।४२। इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु—उरन् । माङ्गाशसिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति माङ् माने—य, टाप् । माया प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । असुरस्य प्रकाशमानस्य परमेश्वरस्य मायया प्रज्ञया सह । शुनाम् । श्वनुक्षन्वृषन्० । उ० १ । १५६ । इतिश्वि गतौ वृद्धौ च—कनिन् । कुकराणाम् । कृपिः । कुण्डिकरूपोर्नक्षोपश्च । उ० ४ । १४४ । इति कृपि चक्षने—इत्ययः ।

बन्धन शक्ति [नीति विद्या] (च) निश्चय करके (कावचस्य) स्तुतिनाशक शत्रु की [तुच्छ करने वाली होती है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—शास्त्र बल से प्रसिद्ध पुरुष अन्य महात्माओं का अनुकरण करके तीव्र बुद्धि के साथ उदाहरण बनते हैं. इसी इकार सब पुरुष नीति बल से शत्रुओं पर प्रबल रहें, जैसे बन्दर वृक्ष पर चढ़कर कुत्तों से निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

दुष्ट्यै हि त्वा भूत्स्यामि दूषयिष्यामि कावचम् ।

उदाश्रवी रथा इव शपथैभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्ट्यै^१ । हि । त्वा । भूत्स्यामि । दूषयिष्यामि । कावचम् ॥ उत् ।

आश्रवः । रथाः इव । शपथैभिः । सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दुष्ट्यै) दुष्टता [हटाने] के लिये (हि) ही (कावचम्) स्तुति नाशक (त्वा) तुझ को (भूत्स्यामि) मैं बांधूंगा और (दूषयिष्यामि) दोषी उधराऊंगा । (आश्रवः) शीघ्र गामी (रथाः इव) रथों के समान (शप-

वानरः । इव । यथा । दूषणः । नन्दिग्रहिणचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दुष वैकृत्ये, णिच्-ल्यु । दूषयतीति यः । दूषकः । दोषोत्पादकः । बन्धुरा । म० ३ । बन्ध-उरच्, टाप् । बध्यतेऽनया । बन्धन-शीला । नीतिविद्या । कावचस्य । म० ३ । स्तुतिनाशकस्य शत्रोः । दूषयित्री भवतीति शेषः । च । अवधारणे ॥

५—दुष्ट्यै दुष वैकृत्ये-क्तिन् । दोषनिवारणाय । हि । निश्चयेन । त्वा । शत्रुम् । भूत्स्यामि । बन्धेर्लुटि । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इति इट् प्रतिषेधः । नलोपशृङ्गान्दसः । यद्वा । भस भर्त्सनदीप्तयोः । लट् । छान्दस इडभावः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तः ।

थेभिः=०—थैः) हमारे शाप अर्थात् दण्ड वचनों से (उत् सरिष्यथ) तुम सब बन्धन में चले जाओगे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—राजा नाम में धम्बास्त्रमाने वाले दुष्ट को करागार में रख कर उसके दोष प्रसिद्ध करदे, और उसके सहायकों को भी उचित दण्ड देवे ॥ ५ ॥

एकंशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामश्नु उज्जहर्मुणिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

एक-शतम् । वि-स्कन्धानि । वि-स्थिता । पृथिवीम् । अनु ।

तेषां । त्वाम् । अश्ने । उत् । उज्जहः । मणिम् । विस्कन्ध-दूषणम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक से एक (विष्कन्धानि) विघ्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (विष्ठिता=०—तानि) फैले हुए हैं, [हे शत्रु !] (तेषाम् अश्ने) उनके सम्मुख (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न नाशक (मणिम्) प्रशंसनीय मणिरूप (त्वाम्) तुझ को उन्होंने [देवताओं ने] (उत् उज्जहः) ऊंचा उड़ाया है ॥ ६ ॥

बन्धे करिष्यामि । भर्त्सयिष्यामि । तिरस्करिष्यामि । काववम् । म० ३ स्तुतिनाशकम् । आशवः । अशू व्यासौ-उण् । शीघ्रगामिनः । रथाः । हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः कथम् । उ० २ । २ । इतिरमु क्रीडे-कथन्, अनुनासिकलोपः । स्यन्दनाः । इव । यथा । शपथेभिः । अ० २ । ७ । १ । शपथैः । शापैः । क्रोधवचनैः । उत् सरिष्यथ । स लट् । उत् बन्धने चरिष्यथ गमिष्यथ ।

६- एकशतम् । एकं च शतं चैकशतम् । एकौत्तरशतसंख्यानि । अपरिमितानि । विष्कन्धानि । म० २ । विघ्नाः । विष्ठिता । शैलोपः । विविधं स्थितानि । पृथिवीम् अनु । अनुलक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति । द्वितीया । भूमिं प्रति । तेषाम् । विघ्नानाम् । अश्ने । पूर्वम् । उज्जहः । इज् हरणे-क्लिट् उज्जहः । उद्धृतवन्तः । उन्नीवन्तः । मणिम् । मणशब्दे-इन् ।

भाषार्थ—प्रतिष्ठित लोग राजा को (षकशतम्) अनेक विघ्नों से रक्षा के लिये अग्रगामी बनाते हैं, इस लिये राजा अपने धर्म का यथार्थ पालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-१३ । रात्रिरेकाष्टका वा देवता । १-३, ८-११, १३ अनुष्टुप्;
४-६, १२ त्रिष्टुप्; ७ षट्पदानुष्टुप् ॥

पुष्टिवर्धनाय प्रकृतिवर्णनम्—पुष्टि बढ़ाने के लिये प्रकृति का वर्णन ॥

प्रथमा ह व्यु'वास सा धेनुर'भवद् यमे ।

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

प्रथमा । ह । वि । उवास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ॥

सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ॥१॥

भाषार्थ—(सा) वह [ईश्वरी वा लक्ष्मी] (प्रथमा) प्रसिद्ध वा पहिली शक्ति [प्रकृति] (ह) निश्चय करके (वि, उवास) प्रकाशित हुई । वह (यमे) नियम में (धेनुः) तृप्त करने वाली [वा गौ के समान] (अभवत्)

शब्दनीयं स्तुत्यम् । प्रशस्यम् मणिरूपं वा । विष्कन्धदूषणम् । विघ्ननाशकम् ॥

१-प्रथमा । प्रथेरमच् उ० ५ । ६८ । इति प्रथ क्पातौ-अमच् । प्रख्याता । प्रधाना । आद्या । ह । खलु । व्युवास । वस अच्छादाने, विपूर्वको वस तेजसि, दीप्तौ-लिट् । दिदीषे । सा । वो नाशने-ड । स्यति दुःखानीति सः, ईश्वरः । विष्णुः । स्त्रियां टाप् । सा । ईश्वरी । लक्ष्मीः । प्रकृतिरित्यर्थः । यद्वा, सर्वनामैव । प्रसिद्धा इत्यर्थः । धेनुः । धेद इच्च । उ० ३ । ३४ । इति धेद् पाने नु । यद्वा, धि, धारणे, तर्पणे च-न । धेनर्घयतेर्वा धिनोतेर्वा । निरु० ११ । ४२ ।

हुई है । (सा) वह (पयस्वती) दुधेल [प्रकृति] (नः) हमको (उत्तराम्-
उत्तरम्) उत्तम उत्तम (समाम्) सम [समान वा निष्पन्न] शक्ति से
(दुहाम्) भरती रहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—इस सूक्त में (रात्रि) म० २ और (एकाष्ट का) म० ५, दोनों
शब्द प्रकृति के वाचक हैं । प्रकृति ईश्वर शक्ति वा जगत् की सामग्री, सृष्टि से
पहिले विद्यमान थी, उसने ईश्वर नियम से [मन्त्र २ व ८ देखो] विविध
पदार्थ सूर्य, अग्नादि उत्पन्न किये हैं । विद्वान् लोग प्रकृति के विज्ञान और
प्रयोग से अधिक २ ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध (सा नः पयस्ती...) ऋ० ४ । ५७ । ७ । में है ॥

यां देवाः प्र'तिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमु'पायतीम् ।

सु'वत्सुरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गुली ॥ २ ॥

याम् । देवाः । प्रति-नन्दन्ति । रात्रिम् । धेनुम् । उप-
आयतीस् ॥ सुम्-वत्सुरस्य' । या । पत्नी । सा । नः । अस्तु ।
सु-मङ्गुली ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) महात्मा पुरुष, वा सूर्य, वायु, चन्द्रादि दिव्य पदार्थ
(उपायतीम्) पास आती हुई (धेनुम्) नृत्न करने वाली (याम्) जिस

दोग्ध्री । तर्पयित्री । अभवत् । आसीत् । यमे । नियमे । सा । पूर्वोक्ता । नः ।
अस्मान् । पयस्वती । दुग्धवती । सारवती । दुहाम् । दुहप्रपूखे-लोद् ।
स्वरितेत्वाद् आत्मनेपदम् । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति द्विकर्मकता ।
यथा, गां दोग्धि पयः । दुग्धाम् । प्रपूरयतु । उत्तरामुत्तराम् । उद्+तृ अप् ।
टाप् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अतिशयेनोत्कृष्टाम् ।
समाम् । यम वैकृत्ये-अच् अकथितं कर्मकत्वम् । पूर्णाम् । समक्रियाम् ।
समानाम् । साध्वी शक्तिम् ॥

२—याम् । देवाः । विद्वांसः । सूर्यवायुचन्द्रादिविद्यपदार्थाः ।

(रात्रिम्) दानशीला और ग्रहणशीला शक्ति, वा रात्रि रूप [प्रकृति] को (प्रतिनन्दन्ति) अभिनन्दन करते [धन्य मानते] हैं और (या) जो (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देनेवाले [परमेश्वर] की (पत्नी) पालन शक्ति है, (सा=सा सा) वह ईश्वरी (नः) हमारे लिये (सुमङ्गली) बड़े २ मङ्गल करनेवाली (अस्तु) होवे ॥२॥

भावार्थ—प्रकृति ईश्वर नियम से पदार्थों को उत्पन्न करके जीवों को सुख देकर उनका दुःख हरती है, और अनन्त होने से वह रात्रि वा अन्धकार रूप है। विज्ञानी पुरुष खोज लगा २ कर उससे उपकार लेकर विविध उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेणुसं सृज ॥३॥

सुम्-वत्सरस्य । प्रति-माम् । याम् । त्वा । रात्रि । उप-

प्रतिनन्दन्ति । दुर्नादि आनन्दे । प्रतिनद अभिनन्दने, धन्यवादे । अभि-
नन्दयन्ति । स्तुवन्ति । रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७
इति रा दाने ग्रहणे च—त्रिप् । यद्वा । रमतेः—त्रिप्, मकारस्याकारश्च ।
रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति
रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निह० २ । १८ ।
रात्रिः—भूस्थानदेवता—निह० ६ । २८ । सुखदात्रीम् । दुःखहर्त्रीम् । अनन्तत्वात्
निशारूपाम् अन्वेषणीयां वा प्रकृतिमित्यर्थः । धेनुम् । प्रीणयित्रीम् । उपायतीम् ।
उप+आङ्+इण् गतौ-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । समीपम्
आगच्छन्तीम् संवत्सरस्य । अ० ३ । ५ । ८ । सः स्यार्धधातुके । पा० अ० ४ । ४३
इति सस्य तकारः । सस्यक् निवासकस्य । परमेश्वरस्य । या । रात्रिः
पत्नी । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३२ । इति इकारस्य नकारो ङीप्
च । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निह० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः—इति दुर्गाचार्यस्य
टीका । देवपत्न्यो देवानां पत्नयः—निह० १२ । ४४ । पालयिज्यः पालनीया
वा—इति तस्य टीका । पालीति पतिः पत्नी वा । पालयित्री शक्तिः । सा । सा सा ।
म० १ । पूर्वोक्तेश्वरी । नः । अस्मभ्यम् । अस्तु । मबतु । मङ्गला ।
मङ्गेरजच् । उ० ५ । ७० । इति मणि सर्पणे—अलच् । ङीप् । शोभनं मङ्गलं यस्याः ।
अत्यन्तकल्याणकरी । सुभद्रा ।

आस्महे । सा । नः । आयुष्मतीम् । प्र-जाम् । रायः ।
पोषेण । सम् । सुज ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुखदात्री वा दुःखहर्त्री वा रात्रिरूप [प्रकृति]
(संवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले परमेश्वर की (प्रतिमाम्) प्रतिमा
[प्रतिरूप वा, प्रतिनिधि] (याम्) सर्वत्र व्यापिनी (त्वा) तुभको (उपास्महे)
हम भजते हैं । (सा) वह लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) चिरं-
जीविनी (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (संसृज)
संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनन्त परमेश्वरी प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल रूप के ज्ञान से
उपकार लेकर हम अपनी सन्तान के सहित धनी, स्वस्थ और चिरंजीवी बने
रहें ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छंदास्वितरासु चरति
प्रविष्टा । मुहान्तौ अस्यां महिमानौ अन्तर्बुधुर्जिगाय
नवृगज्जनित्री ॥ ४ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । वि-अौच्छत् । आसु ।
इतरासु । चरति । प्र-विष्टा ॥ मुहान्तः । अस्याम् । मुहि-

३-संवत्सरस्य । म० २ । सम्यक् निवासकस्य परमेश्वरस्य । प्रतिमाम् ।
आतश्चोपसर्गे । पा० ६ । ३ । १०६ । इति प्रति + माङ् माने-अङ् टाप् । प्रति-
निधित्वेन निर्मायत इति प्रतिमा । प्रतिरूपाम् । प्रतिमूर्त्तिम् । या । या गतौ—
ङ । यातीति यः— वायुः । स्त्रियां टाप् । सर्वव्रगन्त्रीम् । सर्वव्यापिनीम् त्वा ।
त्वाम् । रात्रि । म० २ । विकल्पकत्वात् ऊप् । हे सुखदायिनि । हे रात्रिरूपे ।
अन्वेषणीये । उपास्महे । उप + आस उपवेशने । वयं सेवामहे । सा । म०
१ । ईश्वरी त्वम् । नः । अस्मदर्थ । आयुष्मतीम् । चिरका लजीवनवतीम् ।
प्रजाम् । पुत्रपौत्रादिरूपाम् । रायः । अ० १ । ४ । ४ । धनस्य । पोषेण ।
पुष्ट्या । वृद्ध्या । सं । सृज । संयोजय ॥

भानः । अन्तः । वधूः । जिगाय । नव-गत् । जानित्री ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [रात्रि, प्रकृति] है (या) जो (प्रथमा) प्रथम (वि-औच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है । (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी २ (महिमानः) महिमार्थ हैं । उस (नवगत्) नवीन २ गति वाली (वधूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है " ४ ॥

भावार्थ—परमाणु रूपा प्रकृति जगत् के सब पदार्थों में प्रविष्ट है । विद्वान् लोग जैसे २ जोजते हैं उसकी नवीन २ शक्तियों का प्रादुर्भाव करके सुख पाते हैं ॥ ४ ॥

वानुस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविकृण्वन्तः परि-
वत्सुरीणम् । एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम
पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

४—इयम् । परिदृश्यमाना । एव । हि । सा । म० १ । ईश्वरी ।
या । रात्रिः प्रकृतिः । प्रथमा । म० १ । आया । व्यौच्छत् । वि+उच्छी वि-
वासे लङ् । अदीप्यत् । आसु । परिदृश्यमानासु । इतरासु । इण् गतौ—किप्
ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति इ+तृ तरणे अभि भवे च-अप्, टाप् । इः
कामः । ईन् कामान् तरतीति इतरा । कामानां शुभकामानां तारयित्रीषु सृष्टिषु ।
अन्यासु । चरति । गच्छति । । प्रविष्टा । अनुप्रविष्टा । महान्तः । विशालाः ।
महिमानः । पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति महत्—इम
निच् । टिलोपः । ऐश्वर्याणि । प्रभावाः । अन्तः । मध्ये । वधूः । वहैर्धश्चः ।
उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे-ऊप्रत्ययः । वहनयोग्या । प्राप्या । जिगाय ।
जि जये—लिट् । जितवती विद्वान् । नवगत् । णु स्ततौ-अप् । नवः स्तुत्यः
नूतनः । नवपूर्वाद् गमेः किप् । गमः कौ । पा० ६ । ४ । ४० । इत्यनुनासिकलोपः ।
ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १७१ । इति तुक् । प्रशस्यगतियुक्ता । नवीनगतिवती ।
जनित्री । अ० २ । १ । ३ । जनिट्-ङीप् । जनयित्री जगज्जननी ॥

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोषम् । अक्रतु । हविः । कृण्वन्तः ।
परिवत्सरीणम् ॥ एक-अष्टके । सु-प्रजसः । सु-वीराः ।
वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वानस्पत्याः) वनस्पति अर्थात् सेवकों वा सेवनीय गुणों के
रक्षक परमेश्वर से संबन्धवाले (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी, स्तोता पुरुषों ने,
(परिवत्सरीणम्) परिवत्सर, सब प्रकार निवास देनेवाले परमेश्वर से सिद्ध
किं हुये (हविः) प्र ह्य वस्तु को (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुये, (घोषम्)
ध्वनि (अक्रतु) की है । “ (एक-अष्टके) हे अकेली व्याप्ति वाली वा अकेली
भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ! (वयम्) हम लोग (सुप्रजसः) उत्तम
सन्तान वाले, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और (रयीणाम्) सब प्रकार के
धनों के (पतयः) पति (स्याम) होवें ” ॥ ५ ॥

५—वानस्पत्याः । अ० ३ । ६ । ६ । वनानां पतेः सेवकानां सेव्यगु-
णानां वा पालकस्य परमेश्वरस्य संबन्धिनः पुरुषाः । ग्रावाणः । अयेभ्योऽपि
दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति हन गतिर्हसनयोः, वा, अह महणे, वा, गृ
विज्ञापे, शब्दे, निगरणे कनिष् । पृषोदगदित्वात् साधुः । गृणातिः स्तुतिकर्मा ।
निरु० ३ । ५ । ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणानेर्वा गृह्णातेर्वा-निरु० ४ । ८ । तथा च ।
गारयते सूत्रमार्थं सुधीः । शास्त्रविज्ञापकाः स्तोतारः । परिडताः । घोषम् ।
ध्वनिम् । अक्रतु । क्रमो लुङि । अकृपत । कृण्वन्तः । हविः । अ० १ । ४ । ३
ग्राह्यवस्तु । कृण्वन्तः । उत्पादयन्तः । आविष्कुर्वाणाः । परिवत्सरीणम् ।
वसेश्व । उ० ३ । ७१ । इति परि + वस निवासे-सरन् । इति परिवत्सरः परि-
तो निवासकः । परमेश्वरः । संपरिपूर्वात् ख च । पा० ५ । १ । ४२ । इति निर्वृ-
त्तार्थं ख । संवत्सरेण निर्वृत्तं साधितं रचितम् । एकाष्टके । इष्यशिभ्यां
तकन् । उ० ३ । १४८ । इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-तकन् । टाप् ।
अष्टका पितृदेवत्ये । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इति इत्वाभावः । अशनुते व्याप्नोति
सर्वं जगत् सा, यद्वा, अरन्ति सर्वं प्राणिना यस्यां सा अष्टका । एका
चासावष्टका एकाष्टका । हे एकमात्रव्यापनशीले । एकमात्रभोजनस्थाने

भाषार्थ—ऋषि मुनि प्रकृतिद्वारा परमेश्वर रचित पदार्थों के गुणों के ज्ञान और प्रयोग से सब प्रकार का सुख भोगते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य संयोग करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

इडायास्पृष्टं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या
गृभाय । ये ग्राम्यः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां
मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

इडायाः । पदम् । घृत-वत् । सरीसृपम् । जात-वेदः । प्रति ।
हव्या । गृभाय ॥ ये । ग्राम्यः । पशवः । विश्व-रूपाः ।
तेषां । सप्तानां । मयि । रन्तिः । अस्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले पुरुष ! (इडायाः) प्राप्ति योग्य [प्रकृति] के (घृतवत्) सारयुक्त और (सरीसृपम्) अत्यन्त रेंगते हुये (पदम् प्रति) पद से (हव्या=हव्यानि) देने लेंने योग्य वस्तुओं को (गृभाय) प्रदत्त कर । (ये) जो (ग्राम्यः) ग्राम निवासी, (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले (पशवः) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीव हैं, (तेषाम्) उन

प्रकृते । सुप्रजसः । नित्यमसिञ् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति
असिञ् समासान्तः । शोभनपुत्रपौत्रादियुक्ताः । सुवीराः । अ० ३ । ५ । ८ ।
महाशरयुक्ताः । वयम् । मनुष्याः । स्याम । भवेम । पतयः । स्वामिनः ।
रथीणां । धनानाम् ॥

ई-इडायाः । इगुपधक्काप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति इत्
स्वप्नगतिक्षेपणेषु-क, कस्य डः । यद्वा । ईड् स्तुतौ-घञ्, ईकारस्य ह्रस्वत्वम् ।
टाप् । इडा, पृथिवी-निघ० १ । १ । वाक् । ३ । ११ । अजम्-२ । ७ । गौः-२ ।
११ । प्रासज्यायाः स्तुत्यायाः प्रकृतेः । पदम् । पद स्थैर्ये गतौच-पचाद्यच् ।
स्थानम् । गतिः । पादचिह्नम् । घृतवत् । सारोपेतम् । सरीसृपम् ।

सब (सप्तानाम्) आपस में मिले हुये प्राणियों की (रन्तिः) प्रीति वा क्रीड़ा (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि विद्या में निपुण पुरुष ससार के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सब प्राणियों को सुखी रखकर आप सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रिं देवानां सुमती स्याम ।
पुर्णां दर्वे परां पतु सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्तसंभुज्जतीषमूर्जं न आ भूर ॥ ७ ॥

आ । मा । पुष्टे । च । पोषे । च । रात्रिं । देवानांम् ।
सु-मती । स्याम ॥ पुर्णा । दर्वे । परा । पतु । सु-पूर्णा ।
पुनः । आ । पतु ॥ सर्वान् । यज्ञान् । सुम् । भुज्जती ।
द्वषम् । ऊर्जम् । नः । आ । भूर ॥ ७ ॥

सृपेर्यङ्लुगन्तात्-पचाद्यच् । अत्यर्थं सर्पत् गच्छत् । जातवेदः । अ० १।७।२।
हे जातप्रज्ञान ! । प्रति । प्रथं ख्यातौ-इति । व्याप्य । हृदया । इ दानादाना-
वनेषु-वत् । शेलोपः । हव्यानि । दातव्यानि ग्राह्याणि वा वस्तूनि । दैवाभ्यानि ।
गृभाय । छन्दसि शायजाप० पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहेर्लोष्टि श्नः शायच् ।
तत्रैव वार्त्तिकं सिद्धान्तकौमुद्याम् । इन्द्रोर्भश्छन्दसि । इति हस्य भः । गृहाण ।
ये । ग्राम्यः । अ० २ । ३४ । ४ । ग्रामीणाः । पशवः । व्याख्यातम्-अ०
२ । २६ । १ । व्यक्तवचनाश्चाव्यवचनाश्च मनुष्यगवादिप्राणिनः । विश्व-
रूपाः । नानाकाराः । तेषाम् । सप्तानाम् । अ० १ । १ । १ । षण् समवाये-
क । समवेतानां परस्परसंबद्धानां संयुक्तानाम् । मयि । गृहस्वामिनि ।
रन्तिः । रमेः क्तिन्, अनुनासिकलोपाभावः । रतिः । रमणम् । प्रीतिः ।
अस्तु । भवतु ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुख देने वाला वा दुःख हरने वाली, वा रात्रि रूप [प्रकृति] (पुष्टे) धनकी समृद्धि (च) और (पोषे) अन्नादि की वृद्धि में (च) निश्चय करके (मा) मुझको (आ=आ भर) भर दे, [जिससे] (देवानाम्) देवताओं की (सुमती) सुमति में (स्याम) हम रहें । (दर्वे) हे दुःख दलने वाली ! [वा चमसारूप !] (पूर्णा) भरी भराई (परापत) ऊपर आ, और (पुनः) बार २ (सुपूर्णा) भले प्रकार भरी भराई (आ पत) पास आ ! (सर्वान्) सब (यज्ञान्) पूजनीय गुणों का (सम्भुञ्जती) ठीक ठीक पालन करती हुई तू (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल (नः) हमें (आ भर) लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के गुण साक्षात् करके जितना २ आगे बढ़ता है, उतना २ ही वह धनी और बली होकर देवताओं का प्रिय होना और आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

(पूर्णा दर्वे...पुनरा पत) इतना भाग यजुर्वेद अ० ३।४६ में है, वहाँ (दर्वे) के स्थान पर (दर्वि) पद है ॥

७—आ । आ भर—इति मन्त्रस्थान्तपदेन सम्बन्धः । मा । माम् । पुष्टे । पुष पोषणे-भावेक । धनसमृद्धौ । च । समुच्चये । अवधारणे । पोषे । अन्नादिवृद्धौ । रात्रि । म० २ । हे सुखदात्रि । दुःखदत्रि । रात्रिरूपे, एकाष्टके प्रकृते देवानाम् । विदुषाम् । सुमती । कल्याणयां बुद्धौ । स्याम । भवेम । पूर्णा । पू पूर वा पूर्त्ता-क । वा दान्तशान्तपूर्णदस्त० पा० ७ । २ । २७ । इति इडभावो निपात्यते । पूरिता । दर्वे । वृद्धभ्यां विन् । २० ४ । ५३ । इति इड आदरे, यज्ञा, द विदारणे—विन् । आद्रियते विदारयतीति वा । हे दुःखदलनशीले । हे चमसरूपे वा । परा । प्राधान्ये । त्यागे । विक्रमे । गतौ । भङ्गे । पत । पतलू गतौ । आगच्छ । सुपूर्णा । परिपूर्णा । पुनः । वारम्बारम् । सर्वान् । सकलान् । यज्ञान् । अ० १ । ६ । ४ । यष्टव्यान् पूज्यान् देवान् दिव्यगुणान् । सम्भुञ्जती । भुज पालने-शतृ, ऊीप् । सम्यक् पालयन्ती । इषम् । इष्टु इच्छायाम्, गतौ वा—किप् । अन्नम्—निघ० २ । ७ । ऊर्जम् । आ० २ । २६ । ३ । ऊर्जे बलप्राणनयोः—किप् । बलम् । पराक्रमम् । नः । अस्मभ्यम् । आ भर । आनीय धर ॥

आयमगन्तसंवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८ ॥

आ । अयम् । अगन् । सम् - वत्सरः । पतिः । एक-अष्टके ।
तव ॥ सा । नः । आयुष्मतीम् । प्र-जाम् । रायः । पोषेण ।
सम् । सृज ॥ ८ ॥

भाष्यार्थ—(एकाष्टके) अकेली व्यापक रहने वाली, वा अकेली भोजन स्थान शक्ति । [प्रकृति] (अयम्) यह (संवत्सरः) यथावत् निवास देने वाला, (तव) तेरा (पतिः) पति वा रक्षक [परमेश्वर] (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । (सा) लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) बड़ी आयु वाली (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (सं सृज) संयुक्त कर ॥ = ॥

भाष्यार्थ—विद्वान् साक्षात् कर लेते हैं कि परमेश्वर ही प्रकृति, जगत् सामग्री, का स्वामी अर्थात् उसके अंशों का संयोजक और वियोजक है, और कि प्रकृति के यथावत् प्रयोग से मनुष्य अपनी सन्तान सहित चिरंजीवी और धनी होते हैं ॥ = ॥

ऋतून् यजु ऋतुपतीनार्तवानुत हायिनान् ।

समाः संवत्सरान् मासान् भुतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥

ऋतून् । यजे । ऋतु-पतीन् । आर्तवान् । उत । हायिनान् ॥
समाः । सम्-वत्सरान् । मासान् । भुतस्य । पतये । यजे ॥ ९ ॥

९—अयम् । परिदृश्यमानः । आ, अगन् । गमेर्लुङ् । आगमत् । आगतः । संवत्सरः । म० २ । सम्यक् निवासकः । पतिः । रक्षकः । एकाष्टके । म० ५ । हे एकमात्रव्यापिके । एकमात्रभोजनस्थाने । तव । स्वदीयः । सा नः । इति गतं म० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के स्वामियों [सूर्य वायु आदिकों], (आर्तवान्) ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थों से (संवत्सरान्) यथा विधि निवास देने वाले, (मासान्) कर्मों के नापने वाले महीनों (उत्) और (समाः) सब अनुकूल क्रियाओं को (भूतस्य) सत्ता में आये हुये जगत् के (पतये) पति के (यजे यजे) मैं बार बार अर्पण करता हूँ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—तत्त्वज्ञानो पुरुष ग्रीष्म, वर्षा, शीतादि ऋतुओं, और उनके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि, और संसार के अन्य पदार्थों और क्रियाओं का आदि कारण जगत् पिता परमेश्वर को मानते और उसका धन्यवाद करते हैं ॥ ६ ॥

ऋतुभ्यं ध्वार्त्वेभ्यो मातृभ्यः संवत्सरेभ्यः ।

धात्रे विधात्रे समृधे' भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

ऋतु-भ्यः । त्वा । । आर्त्वेभ्यः' । मातृ-भ्यः । सम्-वत्सरेभ्यः ॥

८—ऋतून् । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ-तु, स च कित् । वसन्तादिकालान् । यजे । यज देवपूजादानसङ्कतिकरणेषु । अहं समर्द्धयामि ऋतुपतीन् । ऋतूनाम् अधिष्ठातृन्, सूर्यचन्द्रवायुपृथिव्यादीन् देवान् । आर्तवान् । ऋतोरण् । पा० ५ । १ । १०५ । इति ऋतु-अण्, तदस्य प्राप्तमित्यर्थे । ऋतृज्वान् । ऋतुजातान् । उल । अपि च । हायनान् । इश्च ग्रीहिकालयोः । पा० ३ । १ । १४८ । इति ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च-एयुद् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । दातव्यान् प्राप्तव्यान् ग्रीष्मादीन् भोज्यपदार्थान् । समाः । अ० २ । ६ । १ । अनुकूलाः क्रियाः । संवत्सरान् । म० २ । सम्यग् वासयितृन् द्वादशमासात्मकान् कालान् । मासान् । मस परिमाणे—घञ् । शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकान् कालान् । भूतस्य । भू सत्तायाम्-क । सत्तां प्राप्तस्य वराचरात्मकस्य जगतः । पतये । तादर्थ्ये ऋतुर्षी । पाञ्चकस्य । इक्षामिने ॥

धात्रे । वि-धात्रे । सम्-ऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥१०॥

भाषार्थ—[हे एकाष्टके प्रकृति !] (त्वा) तुझ को (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों के लिये, (मादूभ्यः) महीनों के लिये और (संवत्सरेभ्यः) यथावत् निवास देने वाले वर्षों के [सुधार के] लिये, (धात्रे) धारण करने वाले, (विधात्रे) रचने वाले, (समृधे) यथा नियम बढ़ानेवाले (भूतस्य) जगत् के (पतये) पति के (यजे) मैं समर्पण करता हूँ ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर नियम से जगत् की उत्पन्न करनेवाली प्रकृति की चेष्टाओं को सब ऋतुओं में देखते हुये विद्वान् लोग अपने समय को उपकार में लगाते हैं ॥ १० ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।

गुहानलुभ्यतो वयं सं विशोमोप गोमतः ॥ ११ ॥

इडया । जुह्वतः । वयम् । देवान् । घृत-वता । यजे ॥

गुहान् । अलुभ्यतः । वयम् । सम् । विशेम् । उप । गो-मतः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इडया) स्तुति योग्य प्रकृति [की विद्या] से (घृतवता = घृतवता कर्मणा) सार युक्त [कर्म] के द्वारा (जुह्वतः) होम [आत्म दान] करने वाले (देवान्) देवताओं को (वयम्) हम (यजे = यजामहे) पूजते हैं

१०—ऋतुभ्यः । म० ६ । वसन्तादीनां प्रीत्यर्थम् । त्वा । त्वाम् । एकाष्ट-
काम् । प्रकृतिम् । आर्तवेभ्यः । म० ६ । ऋतूद्भवेभ्यः । मादूभ्यः । पद्मो-
मास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति मासशब्दस्य मास् इत्यादेशः । सस्य तः ।
मासेभ्यः । संवत्सरेभ्यः । म० २ । वर्षेभ्यः । धात्रे । धारयित्रे । विधात्रे ।
सर्वस्य निर्मात्रे । समृधे । सम् + ऋधु वृद्धौ-किप् । समर्घयित्रे । अन्यद्
गतम् —६ ॥

११—इडया । म० ६ । स्तुत्यया प्रातव्यया वा प्रकृत्या । जुह्वतः । हुवाणु-
दानादनेषु-शतृ । शसि कपम् । होमम् आत्मसमर्पणं कुर्वतः । वयम् । पुत्र्याणाम्

[जिससे] (अलुभ्यतः) तृष्णा रहित [सर्वथा भरे पूरे) और (गोमतः) बहुत
सा उत्तम २ गौओं वाले (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (वयम्)
हम (संविशेम) सुख से रहें ॥ ११ ॥

भाषार्थ—संसार के ज्ञान से उत्तम कामों में आत्मदान करने वाले
महात्माओं के हम आदर पूर्वक अनुगामी बनें और सब कामनाओं और घृत
दुग्धादि पोषक पदार्थों को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ १ ॥

ए॒काष्ट॒का तप॑सा त॒प्यमा॑ना जु॒जानु॑ गर्भं॑ महि॒मान्-
मिन्द्र॑म् । तेन॑ दे॒वा व्य॑सहन्तु शत्रू॑न् हुन्ता द॒स्यू॑ना
मभव॑च्छची॒पतिः॑ ॥ १२ ॥

ए॒क-अष्ट॒का । तप॑सा । त॒प्यमा॑ना । जु॒जानु॑ । गर्भं॑म् । महि॒-
महि॑मानम् । इन्द्र॑म् ॥ तेन॑ । दे॒वाः । वि॒ । अस॑सहन्तु । शत्रू॑न् ।
हुन्ता । द॒स्यू॑नाम् । अभ॑वत् । शची॑-पतिः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एकाष्टका) अकेली व्यापक रहने वाली वा अकेली भोजन
स्थान शक्ति [प्रकृति] ने (तपसा) बड़े ऐश्वर्य वाले ब्रह्म द्वारा (तप्यमाना)

देवान् । विजिगीषून् व्यवहारकुशलान् वा पुरुषान् । घृतवता । दांसिमता
सारयुक्तेन वा, कर्मणा-इति शेषः । यजे । तिङ्गां तिङ्गे भवन्ति । वा० पा० ७ ।
१ । ३६ । इत्येकवचनं बहुवचने । यजामहे । पूजयामः । गृहान् । गृह ग्रहणे-
क । गेहानि । अलुभ्यतः । लुभ गार्ध्ये=आकाङ्क्षायां विमोहने च-शत्रु,
दिवादित्वात् श्यन् । शसि रूपम् । तृष्णारहितान् सर्वमनोरथयुक्तान् ।
संविशेम । सुखेन निवसेम । उप । उपेत्य । आगत्य । गोमतः । भूमि
प्रशंसायां च मतुम् । बहुभिः प्रशस्ताभिर्गोभिर्युक्तान् ॥

१२-एकाष्टका । म० ८ । तपसा । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ ।
इति तप दाहेत्ययोः—असुन् । तप्यते धनी, ईश्वरो भवतीत्यर्थः । ऐश्वर्यवता
ब्रह्मणा । तप्यमाना । तप ऐश्वर्य-ज्ञानम् । दिवादिः, आत्मनेपदी । ईशाना

ऐश्वर्य वाली होकर (गर्भम्) स्तुति योग्य, (महिमानम्) पूजनीय (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वाले जीव को (जजान) प्रकट किया । (तेन) उस [इन्द्र, जीव] के द्वारा (देवाः) प्रकाशमान इन्द्रियों ने (शत्रून्) शत्रुओं [दोषों] को (वि) विविध प्रकार से (असहन्त) हराया है, और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों वा बुद्धियों का पति [इन्द्र, जीव] (दस्यूनाम्) दस्युओं (हन्ता) मारने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम से प्रकृति के संयोग वियोग से शरीर पाँकर इन्द्रियों द्वारा परीक्षा करके दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करके आनन्द भोगते और भुगाते हैं ॥ १२ ॥

(तपस्) शब्द ब्रह्म वा परमेश्वर वाची है, जैसे (ओं तपः । ओं सत्यम्) प्राणायाम मन्त्र में है । ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६० मन्त्र १ में भी ऐसा वर्णन है ।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसाऽध्य जायत ॥

(ऋतम्) यथार्थ वेदशास्त्र (च) और (सत्यम्) सत्ता वाला जगत्(च) भी (अभीद्धात्) सर्वथा प्रकाशमान (तपसः अधि) तप अर्थात् ऐश्वर्य वाले ब्रह्म सेही (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

समर्था सती । जजान । जनयामास । प्राकाशयत् गर्भम् । अस्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति गृ शब्दे-भन् । गर्भो गृभेर्गुणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्णात्यर्थे गर्भोभवति-निरु० १० । २३ । गर्भं गर्भभूतं यद्वा गरीयं स्तुत्यं वन्दनीयम्—इति सायणः । महिमानम् । इ भृष्टसृस्तृशृभ्य इमनिच् । उ० ४ । १४८ । इति मह पूजायाम्—इमनिच् । पूजनीयम् । इन्द्रम् । ऐश्वर्यवन्तं जीवम् । तेन । इन्द्रेण सह । देवाः । द्योतनात्मकाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि—इति महीधरो यजु० ४० । ४ । चक्षुरादीन्द्रियाणि वा—तत्रैव द्यानन्दभाष्ये । वि । विविधम् । विशेषेण । असहन्त । अभ्यभवन् । शत्रून् । शातयितृन् । घातकान् । हन्ता । नाशकः । दस्यूनाम् । अ० २ । १४ । ५ । उपक्षपयितृणाम् । चौराणाम् । अभवत् । आसीत् । शचीपतिः । सर्वधातुभ्य इन् उ० ४ । ११८ । इति शच वकायां वाचि—इन् । कृदिकारादकिनः । वा० पा० ४ । १ । ४५ । इति जीप् । शची—वाक्—निघ० १ । ११ । कर्म—२ । १ । प्रह्वा—३ । ६ । शचीनां वाचां कर्मणां प्रह्वाणां वा पातकः वधार्थवक्ता यथार्थकर्मा यथार्थं प्रहो वा ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।

कामान्स्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इन्द्र-पुत्रे । सोम-पुत्रे । दुहिता । असि । प्रजा-पतेः ॥ कामान् ।
अस्माकम् । पूरय । प्रति । गृह्णाहि । नः । हविः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रपुत्रे) हे सूर्य जैसे पुत्रवाली ! (सोमपुत्रे) हे चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! [प्रकृति] तू (प्रजापतेः) प्रजारक्षक परमेश्वर के (दुहिता) कार्यों की पूर्ण करने वाली (असि) है, (अस्माकम्) हमारे (कामान्) मनोरथों को (पूरय) पूर्ण कर, (नः) हमारी (हविः) भक्ति को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रकृति से सूर्य चन्द्रादि लोक और बड़े २ प्रतापी और उपकारी मनुष्य उत्पन्न किये हैं; उस प्रकृति की शक्तियों के ज्ञान और प्रयोग से संसार की भलाई चाहने वाले पुरुष अपनी कामनायें पूरी करते हैं ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

१३—इन्द्रपुत्रे । इन्द्रवत्पुत्रो यस्यास्तादृशि । हे सूर्यवत्पुत्रयुक्ते ।
सोमपुत्रे । हे चन्द्रवत्पुत्रयुक्ते प्रकृते ! दुहिता । नमृनेष्टृत्वष्टृ०। उ० २ ।
६५ । इति दुह प्रपूरणे-तृच् । दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा—निरु० ३ । ४ ।
पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः—निरु० ४ । २१ । अत्र पृथिव्येव दुहितृ-
शब्देनोक्ता, सा हि द्युलोकात् ' दूरे निहिता ' अथवा सा हि द्युलाकं " दोग्धी-
ति " दुहिता—इति देवराजयज्वा तट्टीकायाम् । दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति
सां । कार्याणां प्रपूरयित्री । असि । भवति । प्रजापतेः । प्रजानां मनुष्या-
दीनां रक्षकस्य परमेश्वरस्य । कामान् । मनोरथान् । अस्माकम् । पूरय ।
समर्थय । प्रति । गृह्णाहि । प्रतिगृह्ण । स्वीकुरु । नः । अस्माकम् ।
हविः । आरमदानम् । भक्तिम् ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ११ ॥

१-८ ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता । १-४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनु-
ष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः । ८ षट्पदानुष्टुप् ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कम् ज्ञातयक्ष्मादुत राज-
यक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी
प्रमुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञात-यक्ष्मात् ।
उत । राज-यक्ष्मात् ॥ ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् ।
एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ
(कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग
से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राज रोग से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूँ । (यदि)
जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय में
(एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से

१—मुञ्चामि । विश्लेषयामि । त्वा । प्राणिनम् । हविषा । आत्म-
दानेन । भक्त्या । उपायेन । जीवनाय । प्राणधारणाय । चिरकालायशोधा-
णाय-इत्यर्थः । कम् । अव्ययम् । रुखेन । अज्ञातयक्ष्मात् । अर्चिस्तु-
सुइ० । उ० १ । १४० । इति यक्ष पूजायाम्-मन् । अलक्षितमहारोगात् ।
राजयक्ष्मात् । राजदन्तादिषु परम् । पा० २ । २ । ३१ । इति उपसर्जनस्य
परत्वम् । यक्ष्माणं राजा राजयक्ष्मः, तस्मात् । क्षयरोगात् । ग्राहिः । अ० २ ।

(इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि ! (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छड़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० का० २ सू० ६ म० १ से करो ॥

मन्त्र १-४ ऋग्वेद १०। १६१। १-४ कुछ भेद से, और किर अथर्व० २०। ६६। ६-६ में हैं। ऋग्वेद में इस सूक्तका ऋषि [यक्ष्मनाशनः प्र। जापत्यः] और देवता [राजयक्ष्मघ्नम्] हैं ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्येरन्तिकं नीत
एव । तमा हरामि निऋतेरुपरथादस्पर्षमेनं शत-
शारदाय ॥ २ ॥

यदि । क्षित-आयुः । यदि । वा । परा-इतः । यदि । मृत्योः ।
अन्तिकम् । नि-इतः । एव ॥ तम् । आ । हरामि । निः-
ऋतेः । उप-स्थात् । अस्पर्षम् । एनम् । शत-शारदाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) दृढ़ी आयु वाला, (यदि

६। १। ग्रहणशीला पीड़ा । जग्राह । गृहीतवती । यदि । चेत् । तस्याः ।
प्राज्ञाः सकाशात् । इन्द्राग्नी । सूर्याग्नी । दिव्यपार्थिवपदार्थाः, यद्वा । तद्वत्
तेजस्वी विद्वान् पुरुषः । प्र मुमुक्तम् । मुचेर्विकरणस्य श्लुः । प्रमोक्षयतम् ।
एनम् । शरीरस्थं प्राणिनम् ॥

२—यदि । चेत् । क्षितायुः । क्षीणजीवनः । यदि वा । अथवा ।

वा) अथवा (परेतः) अंग भङ्ग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीतः = नि-इतः) आ चुका है । (तम्) उसको (निऋतिः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूँ, (एनम्) इसको (शतशारदाय + जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओं, वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्पम्) मैंने प्रबल किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर वैद्य बल करके भारी २ रोगियों को चक्का करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रखे ॥ २ ॥

अथर्व० १ । ३५ । १ । में (दीर्घत्वाय शतशारदाय) पाठ है, यहाँ (जीवनाय) पद मन्त्र १ से लाया गया है ॥

अन्य दो संहिताओं, सायणभाष्य और ऋग्वेद में (अस्पार्पम्) पाठ है, परन्तु बम्बई गवर्नमेंट संहिता में शोधा हुआ और अथर्व० का० २० सू० ६६ म० ७ में [अस्पार्शम्] पाठ है । हमने (अस्पार्पम्) लिया है ।

सहस्र-क्षेणं शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्पमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य
पारम् ॥ ३ ॥

सहस्र-क्षेणं । शत-वीर्येण । शत-आयुषा । हविषा ।

परेतः । परा भङ्गे + इण् गतौ-क्त । भङ्गं प्राप्तः । मृत्योः । मरणस्य अन्तिकम् । अन्त-मत्वर्थीयो ठन्, तस्य इकः । निकटम् । नीतः । नि + इतः । नीचै-
र्गतः । एव । अवश्यम् । तम् । रोगिणम् । आ हरामि । आ नयामि ।
निऋतिः । अ० २ । १० । १ । निऋतिः = कृच्छापत्तिः—निरु० २ । ७ । मह-
रोगस्य । अलक्ष्म्याः । उपस्थात् । उपस्थानात् । अङ्गात् । अस्पार्पम् ।
स्पृ प्रीति बलनयोः, छान्दसो लुङ् । प्रबलं कृतवानस्मि । एनम् । समीपस्थम् ।
आत्मानम् । शतशारदाय । अ० १ । ३५ । १ । शतशरद्ऋतुकाय, जीवनाय,
इति शेषः—म० १ ॥

आ । अहार्चम् । एनम् ॥ इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः ।
नयाति । अति । विश्वस्य । दुः-इतस्य । पारम् ॥ ३॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्रवाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों
सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान
वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्चम्) मैंने उभारा है ।
(यथा) जिससे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [देही] को
(विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति=अतीत्य)
निकाल कर (शरदः) [सौ] शरद् ऋतुओं तक (नयाति) पहुँचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन
शक्ति, कर्मशक्ति और जीविकाशक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह
इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझा कर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है ॥३॥

३—सहस्राक्षेण । सहस्रम् बहुनाम-निघ० ३।१। सहो बलम्—
निघ० २।६। रो मत्वर्थीयः । सहस्रं सहस्वत्-निरु० ३।१०। बहुग्रीहो
सकथ्यद्गोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५।४।११३। इति षच् । सहस्रं बहुनि
अक्षीणि चक्षंषि दर्शनशक्तयो यस्य तेन तथोक्तेन । शतवीर्येण । शतम् । शो
तीक्ष्णीकरणे-इतच् । बहुनाम । निघ० ३।१। शतं दशदशतः-निरु० ३।१०।
बहुसामर्थ्योपेतेन । शतायुषा । बहुजीवनसाधनयुक्तेन । हविषा । आत्म-
दानेन । भक्त्या । आ अहार्चम् । इञ् हरणे-लुङ् समन्ताद् अनैषम् ।
उञ्जीतवानस्मि । एनम् । आत्मानम् । देहिनाम् । इन्द्रः । प्रतापी जीवः ।
यथा । येन प्रकारेण । शरदः । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २।३।५।
इति द्वितीया । शतं शरदः संवत्सरान् । नयाति । णीञ् प्रापणे लेटि आडा-
गमः । नयेत् । प्रापयेत् । अति । अतीत्य । विश्वस्य । सर्वस्य । प्रत्येकस्य ।
पारितस्य । अ० २।६।५। पापस्य । कष्टस्य । पारम् । पारकर्मसमाप्तौ-
अच् । तीरम् । अन्तम् ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छुतम् वसु-
न्तान् । शतं तु इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शता-
युषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् ।
शतम् । ऊं इति । वसुन्तान् ॥ शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः ।
सविता । बृहस्पतिः । शत-आयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् ।
एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वर्धमानः + त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतम् शरदः)
सौ शरद् ऋनुओं तक, (शतम् हेमन्तान्) सौ शीत ऋनुओं तक, (उ) और
(शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋनुओं तक (जीव) जीता रह । (इन्द्रः) ऐश्वर्य-
वान्, (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सब का चलाने वाला, (बृहस्पतिः
+ अहं जीवः) बड़े बड़ों के रत्नक मैंने (शतम्) अनेक प्रकारसे (ते) तेरे लिये
(शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से
(एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम् उभारा है ॥ ४ ॥

४—शतम् । बहुनाम । जीव । प्राणान् धारय । शरदः । शरदतून् वर्षा-
कालान् इत्यर्थः । वर्धमानः । वृद्धिं कुर्वाणः । हेमन्तान् । हन्तेर्मुट् हि च । उ०
३।१२६। इति हन वध्रगतयोः—भ्रञ्, हन्तेर्हि, मुडागमः । हन्ति उष्णत्वम् । शीतका-
लान् । उ । समुच्चये । वसन्तान् । तृभूवहिवसिभासि०।उ०३।१२८। इति वस
वासे, निवासे, आच्छादने च—भ्रञ् । पुष्पसमयान् । ग्रीष्मकालान् । शतम् ।
यथा तथा । बहुप्रकारेण । ते । तुभ्यम् । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् । अग्निः ।
अग्नि गतौ—नि । ज्ञानवान् । सविता । सर्वस्य प्रेरकः । बृहस्पतिः । अ०
१।८।२। तथा २।१३।२। बृहत् + पतिः, सुद्, तलोपः । बृहतां विदुषां
कर्मणां वा पालकः । इन्द्रादीनि सत्त्वारि (अहम्) इति पदस्य विशेषणानि ।
अन्यद् व्याख्यातम्—म० ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सह कर बहु प्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्यादि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

ऋग्वेद में (इन्द्रः अग्निः) = [इन्द्राग्नी] और (आ अहार्थम् एनम्) = [इमम् पुनः दुः] ॥

प्र विशतं प्राणपानावनुड्वाहाविव व्रजम् ।

व्यन्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितराञ्छुतम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनुड्वाहौ-इव । व्रजम् ॥ वि ।
अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणपानौ) हे श्वास और प्रश्वास तुम दोनों, [इस शरीर में] (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (अनुड्वाहौ-इव) रथ ले चलने वाले दो बैल जैसे (व्रजम्) गोशाला में (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (व्यन्तु) उलटे चले जावें (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मनुष्य प्राणायाम, व्यायामदि से अपने प्राण और अपान को

५—प्र विशतम् । अन्तः प्राप्नुतम् । प्राणापानौ । शरीरधारकौ श्वास-प्रश्वासौ । अनुड्वाहौ । अनः शङ्कटं वहतीति अनुड्वान् । अनसि वहेः क्प्, अनसो ङकारः । अनसः शङ्कटस्य रथस्य वेढारौ बलीवर्दौ । इव । यथा । व्रजम् । गोचरसंवर० । पा० ३ । ३ । ११६ । इति व्रज गतौ घञोऽपवादत्वेन वप्रत्यायन्तो निपातितः । गोष्ठम् । वि यन्तु । विमुखा गच्छन्तु । अन्ये । धार्मिकमरणाद् भिक्षाः । मृत्यवः । मरणकारणानि । यान् । मृत्युन् । आहुः । ब्रूय व्यक्तायां वाचि-लट् । ब्रुवन्ति । कथयन्ति विद्वांसः । इतरान् अ० ३।१०।५। इ + तृ अभिभवे-अप् । सुकामनाशकान् । शतम् । बहून् ॥

अनुकूल रखकर शारीरिक अवस्था सुधारे रहें और दुराचारों से बचकर अपना जीवन शुभ कामों में लगावें ॥ ६ ॥

इहैव स्त' प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।

शरीरमुस्याङ्गानि जरसे वहतुं पुनः ॥ ६ ॥

इह । एव । स्तम् । प्राणापानौ । मा । अपं । गातम् ।
इतः । युवम् ४ शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् ।
पुनः । ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे स्वास प्रश्वास ! (युवम्) तुम दोनों (इह एव) इस में ही (स्तम्) रहो, (इतः) इससे (मा अप गातम्) दूर मत जाओ । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर और (अङ्गानि) अंगों को (जरसे) स्तुति के लिये (पुनः) अवश्य (वहतम्) तुम दोनों ले चलो ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राण और अपान वायु का संचार ठीक न होने से रुधिर जमकर रोग उत्पन्न होता है। इससे मनुष्य सब शरीर में वायु संचार ठीक रखकर दृढ़ शरीर वाले हों और स्तुति प्राप्त करें ॥ ६ ॥

जुरायै' त्वा परि' ददामि जुरायै' नि धु'वामि त्वा ।

जुरा त्वा भुद्रा नैष्ट व्यं १ न्ये यन्तु मृत्युवी यानाहु-
रितं राञ्छुतम् ॥ ७ ॥

जुरायै' । त्वा । परि' । ददामि । जुरायै' । नि । धुवामि

६—इह एव । अस्मिन्नेव शरीरे । स्तम् । भवतम् । प्राणापानौ ।
श्वासप्रश्वासा । मा अप गातम् । इह गती-माहि युक्ति । माय गच्छतः ।
इतः । अस्माच्छरीरात् । युवम् । युवाम् । शरीरम् । अ० २ । १२ । ८ ।
कायम् । अस्य । पुत्रस्य । अङ्गानि । देहावयववान् । जरसे । अ० १ । २०
२ । ज स्तुतौ, यद्वा, गृ शब्दे—स्तुतौ—अस्तुत् । गत्यजः । स्तुत्यर्थम् । वहतम् ।
युवां प्रापयतम् । पुनः अवधारणे ॥

त्वा ॥ जरा । त्वा । भद्रा । नेष्टु । वि । अन्ये । यन्तु ।
मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझे (जरायै) स्तुति पाने के लिये
(परि) सब प्रकार (ददामि) दान करता हूँ । (जरायै) स्तुति के लिये
(त्वा) तेरे (नि धुवामि) निहोरे करता हूँ [अथवा, तुझे भकभोरता हूँ]
(जरा) स्तुति (त्वा) तुझे (भद्रा=भद्राणि) अनेक सुख (नेष्टु) पहुंचावे ।
(अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटते चले जावें,
(यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ
प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी नम्र, कभी कठोर होकर स्तुति के लिये अपना
आत्मा लगावे, और निर्धनता, रोगादि मृत्यु के कारणों को हटाकर सुखी
रहे ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहितं गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युर्भ्यर्धत्तं जायमानं सुपाशया ।
तं ते मृत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुदं बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अभि । त्वा । जरिमा । अहितं । गाम् । उक्षणम्-इव ।
रज्ज्वा ॥ यः । त्वा । मृत्युः । अभि-अर्धत्तं । जायमानम् ।

-जरायै । विद्वमिवादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जृ स्तुतौ-
अङ्, टाप् । जरा स्तुतिर्जरातेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १० । ८ । स्तुतिप्राप्तये ।
परि ददामि । अ० १ । ३० । २ । समर्पयामि । नि । आदरे । निश्चये ।
अधीभागे । धुवामि । धृञ् कम्पने, तुदादिः सकर्मकः । कम्पयामि । प्रेर-
यामि । त्वा । प्राणिनम् । भद्रा । भद्राणि । मङ्गलानि । नेष्टु । वेद । नयतु
प्रापयतु । अन्यद् गतम्-म० ५ ॥

सु-पाशयाः॥ तम् । ते । सत्यस्य । हस्ताभ्याम् । उत् । अमु-
ञ्चत् । बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

[हे प्राणी !] (जरिमा) निर्बलता ने (त्वा) तुझको (अभि अहित)
बांधा है, (उक्षणम्) बलवान् (गाम् इव) बैल को जैसे, (रज्ज्वाः) रस्सी से ।
(यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (जायमानम्) उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुये (त्वा)
तुझ को (सुपाशया) दृढ़ कंठे से (अभि-अधत्त) बन्धन में किया है, (तम्)
उस [मृत्यु] को (सत्यस्य) सत्य के (ते) तरे (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के हित
के लिये (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों के रक्षक [देवगुरु] परमेश्वर वा आचार्य ने
[तुझ से] (उत् अमुञ्चत्) छुड़ा दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म से लेकर भूख, प्यास, रोग आदि विपत्तियों से
ईश्वरदत्त ज्ञान और विद्वानों की रक्षा तथा शिक्षा द्वारा छूट कर दोनों हाथों
अर्थात् सब प्रकार से धर्म आचरण के लिये आगे बढ़ता है ॥ ८ ॥

८—अभि अहित । अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । अश्वामिधानी=अश्व-
बन्धनरज्जुः । ततो लुङ् । स्थाध्वोरिच्छ । पा० १ । २ । १७ । इति इत्स्वकिस्वे ।
बद्धं कृतवान् । त्वा । त्वां प्राणिनम् । जरिमा । हृभृधृस्त्वशृभ्य इम-
निच् । उ० ४ । १४८ । इति जृप् वयोहानौ — इमनिच् । जरा । निर्ब-
लता । गाम् । वृषभम् । उक्षणम् । श्वनुक्षन्पूषन् ० । उ० १ ।
१५६ । इति उक्ष सेचने वृद्धौ च-कनिन् । उक्षण उक्षतेर्धृद्विकर्मणः—नि० १२ ।
६ । वा षपूर्वस्य निगमे । पा० ६ । ४ । ६ । इति दीर्घाभावः । उक्षणम् । बल-
वन्तम् । इव । यथा र उडवा । सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । इति सृज त्यागे-ड ।
रूपसिद्धिर्निपातः । सृज्यते रज्यते इति । बन्धनसाधनवस्तुना । यः । त्वा ।
मृत्युः । अभि-अधत्त । धाओ लङ् । अबधात् । जायमानः । उत्पद्यमा-
नम् । प्रसिद्धिं कुर्वन्तम् । सुपाशया । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णीच्छेवा० । पा०
७ । १ । ३६ । इति तृतीयाविभक्तौ या । सुपाशेन । दृढबन्धनेन । तम् । मृत्युम्
ते । तव । सत्यस्य । यथार्थनियमस्य । हस्ताभ्याम् । कराभ्याम् तयोर्हि-
तार्थम् । उत् अमुञ्चत् । उदमोचयत् । बृहस्पतिः । म० ४ । बृहतां पतिः ।
देवगुरुः परमेश्वरः । आचार्यः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ । शाला देवता ॥ १, २, ४-६, ८ त्रिष्टुप् । ३
पय्या पङ्क्तिः । ७, ८ अनुष्टुप् ॥

नवशाला निर्माणं प्रवेशश्च—नवीन शाला का निर्माण और प्रवेश ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमं तिष्ठाति घृतमुक्ष-
माणा । तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा
उप सं चरेम ॥ १ ॥

इह । एव । ध्रुवाम् । नि । मिनोमि । शालाम् । क्षेमं । तिष्ठाति ।
घृतम् । उक्षमाणा ॥ ताम् । त्वा । शाले । सर्व-वीराः ।
सु-वीराः । अरिष्ट-वीराः । उप । सम् । चरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ — (इह एव) यहां पर ही (ध्रुवाम्) ठहराऊ (शालाम्)
शालाको (नि मिनोमि) जमाकर बनाता हूं । वह (घृतम्) घी (उक्षमाणा)
लीचती हुई (क्षेमे) लब्ध वस्तु की रक्षा में (तिष्ठाति) ठहरी रहे । (शाले)
हे शाला (ताम् त्वा) उस तुझ में (उप=उपेय) आकर (सर्ववीराः) सब

१—इह । अस्मिन् विचारिते स्थाने । एव । अवधारणे । ध्रुवाम् ।
ध्रु स्थैर्ये गतौ च-क । स्थिराम् । निश्चिताम् । नि मिनोमि । इमिञ् प्रक्षे-
पणे । नितरां प्रक्षिपामि स्थापयामि । शालाम् । तमिविश विडि० । उ० १ ।
११ ८ । इति शो निशाने अल्पीकरणे-कालन् । अथवा, शाल कथने-अच् ।
टाप् । गृहम् । क्षेमे । लब्धवस्तुनो रक्षणे । कुशले । तिष्ठाति । लेटि आडा-
गमः । तिष्ठेत् । घृतम् । आज्यम् । दीप्तिम् । उक्षमाणा । सिचन्ती । प्रय-
च्छन्ती । ताम् । तादृशीम् । त्वा । शाले । सर्ववीराः । अनेकशूरी-
केताः । सुवीराः । शुभगुणवीर्यैर्मुक्ताः । अरिष्टवीराः । रिष दिक्षायाम्-क ।

और पुरुषों वाले (सुवीराः) अच्छे २ पराक्रमी पुरुषों वाले और (अरिहवीराः) गीरोग पुरुषों वाले (संचरेम) हम चलते फिरते रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—हम अपने घर दृढ और उचित विभाग वाले बनावें, जिस से वायु घाम आदि के यथावत् सेवन से सब गृहस्थ की पुरुष सदा दृढ पुष्ट और स्वस्थ रहें ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्ववती गोमती सुनृता-
वती । ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते
सौभगाय ॥ २ ॥

इह । एव । ध्रुवा । प्रति । तिष्ठ । शाले । अश्व-वती ।
गो-मती । सुनृता-वती ॥ ऊर्जस्वती । घृत-वती । पयस्वती ।
उत् । अयस्व । महते । सौभगाय ॥ २ ॥

भावार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (इह एव) यहाँ पर ही (अश्व-वती) बहुत घोड़ों वाली, (गोमती) बहुत गौओं वाली और (सुनृतावती) बहुत प्रिय सत्य वाणियों वाली होकर (ध्रुवा) ठहराऊ (प्रति तिष्ठ) जमी रह । (ऊर्जस्वती) बहुत अन्न वाली, (घृतवती) बहुत घी वाली और (पय-

अहिंसितवीराः । स्वस्थशूरयुक्ताः । उप । उपेत्य । संचरेम । व्यवहरेम ॥

२—ध्रुवा । दृढ़ा । प्रति तिष्ठ । स्थिता भव । वर्तस्य । शाले ।
हे गृह । अश्ववती । मादुपधायाश्च० । पा० ८ । २ । ११ । इति मनुषो
वत्वम् । मन्त्रे सोमाश्चेन्द्रिय० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति मती दीर्घः ।
भूमनिन्दाप्रशंसासु० । इति सर्वत्र भूमि मनुष्य । बहुभिरश्वैरुपेता । गोमती ।
बहुभिर्गोभिर्युक्ता । सु-तावती । सु+नृत् नर्तने-प्रशयै कः । यद्वा । सु+
नृ+तन विस्तारे-ड । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३० । इति दीर्घः ।
वा टाप । सुपुनृत्यतेऽनेन, बह्व, सुपुनृत्यतेऽनेन तावते विस्तीर्णते । बह्व-

स्वती] बहुत दुध वाली होकर (महते) बड़ी (सौभगाय) सुन्दर भाग्यवानी के लिये (उत् भयस्य) ऊँची हो ॥ २ ॥

भाषार्थ--- मनुष्य शाळा में योग्य योग्य स्थान बनाकर उनको आवश्यक पदार्थों से भरपूर रखे ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या । आ त्वा
वत्सो गमे दा कुमार आ धे नवः सायमास्पन्दमानाः ॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्-छन्दाः । पूति-धान्या ॥ आ ।
त्वा । वत्सः । गमेत् । आ । कुमारः । आ । धे नवः । सायम् ।
आ-स्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाळा ! तू (बृहच्छन्दाः) विशाल व्रतवाला,
या बहुत से छन्द या वेद मन्त्रों वाली, (पूतिधान्या) शुद्ध धान्य वाली (धरु-
णी) भण्डार (असि) है । (त्वा) तुझ में (वत्सः) बड़ड़ा (आ) और

ता, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । स्मृतम्, सत्यप्रियवाक्यम् इति कोषे । सत्यप्रिय-
वाग्निर्वासादीनां वाणीभिर्युक्ता । ऊर्जस्वती । ऊर्जं बलप्राणनयोः-असुन् ।
प्र-त्तान्नवता । तवता । बहुवृत्तयुक्ता । न्यस्वता । बहुवृत्ता । उक्तं न्यस्व ।
उद्गता, उत्कृष्टा भव । महते । प्रभूताय । सौभगाय । अ० १ । १८ । २ ।
सुमन-अम् । सुमनत्वाय । ऐश्वर्यवत्त्वाय ॥

३—धरुणी । कृष्टदारिभ्य उन्न । ड० ३ । ५३ । इति धृञ्-उन्न ।
ऊप् । भोगजातस्य धारयित्री । शाले । बृहच्छन्दाः । अन्देरादेश्च छः ।
ड० ४ । २१६ । इति बृहत्+अदि आह्लादे-असुन् । अस्य छः । यद्वा । कृदि
आह्लादने-असुन् । प्रभूताच्छादना । महद्भिश्चक्षुर्दोर्भवेदमन्त्रैरपेता ।
पूतिधान्या । किष्कौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । १७४ । इति पूज्-शोषे-किष् ।
पूतीनि परित्राणि धान्यानि यस्यां सा तथोक्ता । शुद्धधान्ययुक्ता । वत्सः ।

(कुमारः) बालक (आगमेत्) आवे । (सायम्) सायंकाल में (आस्पन्द-
मानाः) कूदती हुई (धेनवः) दुधैल गौर्यें (आ = आगच्छन्तु) आवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है । और २ स्थानों के साथ घरों में वैदिकभवन
भी होवे ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु
प्रजानन् । उक्षन्तुदना मरुतो घृतेन भगो नो राजा
नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

इमाम् । । शालाम् । सविता । वायुः । इन्द्रः । बृहस्पतिः ।
नि । मिनोतु । प्र-जानन् ॥ उक्षन्तु । उद्ना । मरुतः ।
घृतेन । भगः । नः । राजा । नि । कृषिम् । तनोतु ॥ ४ ॥

भावार्थ—(इमाम् शालम्) इस शाला को (सविता) सब का चलाने वाला
पुरुष [वा सूर्य], (वायुः) वेगवान् पुरुष [वा पवन] (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्
पुरुष [वा मेघ] और (प्रजानन्) ज्ञानवान् (बृहस्पतिः) बड़े बड़े कामों का
रक्षक पुरुष [प्रत्येक] (नि मिनोतु) जमाकर बनावे । (मरुतः) शूर देवता

वृत्तवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वद कथने-सप्रत्ययः । वदतीति कःसा ।
आगमेत् । आगच्छेत् । आ । समुच्चये । कुमारः । कमेः कितुच्छोष ।
धायाः । उ० ३ । १३८ । इति कम इच्छायाम्-आरन् । यद्वा । कुमार क्रीडायाम्-
अच् । कमनीयः क्रीडको वा । बालकः । आ । आगच्छेयुः । धेनवः ।
दोग्ध्यो गावः । सायम् । सायंकाले । आस्पन्दमानाः । स्पदि ईषत्कम्पे
शानच् । कूर्दमानः । क्रीडां कुर्वाणाः ॥

४—इमाम् । रच्यमानाम् । शालाम् । ग्रहम् सविता ।
सर्वस्य प्रेरकः पुरुषः सूर्योवा । वायुः । वेगवान् पुरुषः पवनो वा । इन्द्रः ।
ऐश्वर्यवान् पुरुषो मेघो वा । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । १ । बृहतां कर्मणां

[विद्वान् लोग] (उद्भूना) जल से और (घृतेन) घी से (उत्सन्तु) सींचें, और (भगः) भाग्यवान् (राजा) राजा [प्रधान पुरुष] (नः) हमारे लिये (कृषिम्) खेती को (नि) सदैव (तनोतु) बढ़ावे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—शाला निर्माण में प्रधान पुरुष और सब कार्यकर्ता कर्म-कुशल हों, और घाम, वायु और मेघ, और जल, घी आदि सामग्री के लिये यथावत् अवकाश रहे। और निर्वाह के लिये खेती की विद्या का विस्तार करें ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमि-
तास्यग्रे । तृणं वसना सुमना असुस्त्यमथस्मभ्यं
सुहृधीरं रुयिं दाः ॥ ५ ॥

मानस्य । पत्नि । शरणा । स्योना । देवी । देवेभिः ।
नि-मिता । अग्नि । अग्रे ॥ तृणम् । वसना । सु-मनाः । असुः ।
त्वम् । अयं । अस्मभ्यम् । सुह-वीरम् । रुयिम् । दाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मानस्य) हे मान अर्थात् प्रतिष्ठा की (पत्नि) रक्षा करनेवाली, (शरणा) शरण देने वाली, (स्योना) सुखदायिनी, (देवी) उज्जाले वाली रक्षकः पुरुषः । निमिनोतु । इमिञ् प्रक्षेपणे । स्थापयतु । ददां करोतु । प्रजानन् । शालानिर्माणप्रकारं प्रकर्षेण जानन् । उत्सन्तु । सिञ्चन्तु । उद्भूना । पृहृदभोमासू० । पा० ६ । १ । ६३ । इति उदकशब्दस्य उदन् । भसंज्ञायाम् अकारलोपः । उदकेन । मरुतः । अ० १ । २० । १ । शत्रूणां मारणशीलाः । शूराः । घृतेन । घृसेकेदीप्तौ-क । आज्येन । भगः । अ० १ । २६ । २ । भजनीयः । भाग्यवान् । नः । अस्मभ्यम् । राजा । प्रतापी । प्रधानः । कृषिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति कृष विलेखने-इन् । स च कित् । भूमिकर्षणविधायम् । नि । नितराम् । तनोतु । विस्तारयतु ॥

धृमा—मस्य । मान पूजायाम्-प्रज्ञ । वित्त समुत्पत्तेः । सत्कारस्य । पत्नि ।

तू (देवेभिः=०-वैः) देवताओं [विश्वकर्मा पुरुषों] करके (निमिता)
मायी हुई (अग्रे) हमारे सन्मुख (असि) वर्तमान है । (तृणम्) घास को
(वसाना) पहिने हुये (त्वम्) तू (सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः)
हो, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित
(रयिम्) धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ—सब मनुष्य गृहनिर्माण विद्या में कुशल पुरुषों से सम्मति
लेकर बाहिर और भीतर से मनोरम्य घर बनावें, जिससे संसार में सम्मान
हो और सब गृहस्थ स्वस्थ, वीर और उद्योगी होकर धनवान् होवें ॥ ५ ॥

(अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) यह पाद अ० २ । ६ । ५ । में आया है ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्री विराजन्नापं वृद्ध्व
शत्रून् । मा ते रिषन्नुपसुत्तारे गुहाणां शाले शतं
जीवेम शरदुः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन । स्थूणाम् । अधि । रोह । वंशु । उग्रः । वि-राजन् ।
अपं । वृद्ध्व । शत्रून् ॥ मा । ते । रिषन् । उप-सुत्तारः ।
गुहाणाम् । शाले । शतम् । जीवेम । शरदुः । सर्व-वीराः ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(वंश) हे बांस तू (ऋतेन) अपने सत्य से (स्थूणाम्)

अ० ३ । १० । २ । हे पातयिषि । शरणा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ ।
१२७ । इति शरण-अच् मत्वर्थे । टाप् । शरणवती । आश्रयवती । स्योनः ।
स्योनं सुखं व्याख्यातम् । अ० २ । १० । ७ । पूर्ववत् अच् टाप् च । सुखवती ।
देवी । शोचमाना । देवेभिः । देवैः । विश्वकर्मभिः । निर्माणविद्याकुशलैः ।
निमिता । इमिञ् सपे-क । दृढीकृता । असि । वर्तसे । अग्रे । अस्माक-
मभिमुखम् । तृणम् । अ० २ । ३० । १ । तृह हिंसायाम्-क, हलोपः । गवादि-
मक्ष्यम् । वसाना । वस आच्छादने-शानच् । आच्छादयन्ती । सुमनाः ।
शोभनमनस्क । अथः । अस्तेर्लटि अडागमः । भव । अथ...दाः । इतिगतम् ।
अ० २ । ६ । ५ । दाः । ददाः ॥

थूनी [टेक वा खूँटी] पर (अधि रोह) चढ़ जा, और (उग्रः) दड़ वा प्रचंड होकर (विराजन्) विशेष रूप से प्रकाशित होता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओं को (अप वृङ्क्ष्व) दूर हटा दे । (शाले) हे शाला ! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों के (उपसत्तारः) रहनेवाले पुरुष (मा रिषन्) दुःखी न होवें । (सर्ववीराः) सब वीरों को रखते हुये हम लोग (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवेम) जीते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घर ऊँचे, दड़ और प्रकाशयुक्त बनावें जिस से चोर डाकू सिंहादि हिंसक और रोग न सता सकें और सब लोग स्वस्थ होकर घोर रहें ॥ ६ ॥

एमां कु'मारस्तरु'ण आ वृत्सो जगता सुह ।

एमां परि'स्रुतः कुम्भ आ दुध्नः कुलशै'रगुः ॥ ७ ॥

आ । इमाम् । कुमारः । तरुणः । आ । वृत्सः । जगता ।
सुह ॥ आ । इमाम् । परि-स्रुतः । कुम्भः । आ । दुध्नः ।
कुलशैः । अगुः ॥ ७ ॥

६—ऋतेन । सत्यधर्मेण । दड़भावेन । स्थूणाम् । रास्नासास्ना-
स्थूणाधीनाः । उ० ३ । १५ । इति ष्ठा—न प्रत्ययः, आकारस्य ऊकारः । गृहस्त-
म्भम् । अधि रोह । अधितिष्ठ । वंश । वन सेवनशब्दयोः—श प्रत्ययः ।
वद्वा । वश कान्तौ—अच् घञ् वा, तुम् च । हे वेणुस्तम्भ । उग्रः । प्रचण्डः ।
सुदृढः । विराजन् । विशेषेण दीप्यमानः सन् । अप वृङ्क्ष्व । वृजी
वर्जने, रुधादिः । अपवर्जय । शत्रून् । हिंसिकान् सिंहादीन् रोगान् वा । ते ।
तव । मा रिषन् । रिष हिंसायाम् । हिंसिता मा भूवन् । उपसत्तारः ।
पद्वल गतिविषादयोः—तृच् । उपसदनशीलाः । निवासिनः । गृहाणाम् ।
सदनानाम् । शाले । हे भवन । शतम् । शरदः । जीवेम । प्राणान्धरेम ।
सर्ववीराः । सर्ववीरपुरुषसमेताः ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [शाला] में (कुमारः) बालक, (आ) और (तरुणः) युवा, (आ) और (जगता सह) चलने वाले गौआदि के साथ (वत्सः) बकड़ा, (आ) और (इमाम्) इस [शाला] में (परिस्तुतः) पिघलते हुए रस का (कुम्भः) बड़ा (दध्मः) दही के (कलशैः) कलसों के साथ (आ अगुः) आये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहरथ लोग सब प्रकार की आवश्यक सामग्री अपने घरों में रखें ॥ ७ ॥

पुर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन सं-
भृताम् । इमां पातृनुमृतेना समङ्ग्धीष्टापुर्तमभि र-
क्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

पुर्णम् । नारि । प्र । भर । कुम्भम् । एतम् । घृतस्य । धा-
राम् । अमृतेन । सम्-भृताम् ॥ इमाम् । पातृन् । अमृतेन ।
सम् । अङ्ग्धि । इष्टापुर्तम् । अभि । रक्षाति । एनाम् ॥ ८ ॥

७—आ । समुच्चये । इमाम् । परिदृश्यमानां शालाम् । कुमारः ।
म० ३ । बालकः । तरुणः । त्रौ रश्च लो वा । उ० ३ । ५४ । इति तृ तरुणे
अभिभवे च-उत्तर । युवा । वत्सः । म० ३ । गोशिशुः । जगता । अ० १३१५।
गमनशीलेन । गवादिना सह । परिस्तुतः । स्त्रु गतौ-किप् तुक् आगमः ।
परिस्त्रवणशीलस्य रसस्य । कुम्भः । कुं भूमिं उम्भति पूरयति जलेन । कु +
उन्म पूरणे-अच् । शकन्धादिरूपम् । घटः । दध्मः । भाषणां धाम्कुम्सृजनि-
गमिनमिभ्यः किकिनौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति धाञ् धारणे-कि, लिङ्-
वच्च । दुग्धविकृतभेदस्य । कलशैः । कलं शब्दं शवति प्राप्नोति । कल +
श्रु गतौ ड— । यद्वा । कला + शोङ् शयने-ड । कलशः कस्मात् कला अस्मिन्ने-
रते मात्राः कलिस्त्र कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्राः-निरु० ११।१२ । कलसौ घटैः ।
आ अगुः । इण् गतौ-लुङ् । आगमन् । आगता ॥

भाषार्थ—(नरि) हे नर का हित करने वाली गृहपत्नी ! (पतम्) इस (पूर्णम्) पूरे (कुम्भम्) बड़े में से (अमृतेन) अमृत [हितकारी पदार्थ] से (संभृताम्) भरी हुयी (घृतस्य) घी की (धाराम्) धारा को (प्र, भर=हर) अच्छे प्रकार ला । (इमाम्) इस [शाला] को और (पातृन्) पाव कर्ताओं वा रक्षकों को (अमृतेन) अमृत से (सम्) अच्छे प्रकार (अङ्गुष्ठि) पूर्ण कर । (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और वेदों का अध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (एनाम्) इस [शाला] की (अभि) सब ओर से (रक्षति) रक्ष करे ॥८॥

भाषार्थ—गृहपत्नी घर को घृत, दुग्ध आदि अमृत पदार्थों से परिपूर्ण रखकर सब कुटुम्बियों को स्वस्थ और पुष्ट रखे । और सब की पुष्ट धार्मिक, पुण्यार्थी और धनी होकर चोर उचकके सिंहादि दुष्टों से रक्षा करते हुए बस्ती को बसाये रखे ॥ ८ ॥

मनु भगवान् ने अध्याय ५ श्लोक १५० में कहा है ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

श्री सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामोंमें चतुर हो और (सुसंस्कृतोपस्करया) घर की सामग्री, बासन भाँड़े भली भाँति ठीक रखती हुई, व्यय करने में हाथ सकोड़े रहे ॥

८—पूर्णम् । पूरितम् । नरि । अ० १ । ११ । १ । हे नरस्य धर्म्ये हितकारिणि ! प्रभर । इस्य भः । आहर । द्विकर्मकत्वात् (कुम्भम्, धाराम्) इत्ये तयोः कर्मता । कुम्भम् । म० ७ । अपादाने द्वितीया । घटात्—इत्यर्थः । एतम् । घृतस्य । आज्यस्य । धाराम् । घृ-णिच्-अङ्, टाप । सन्तरया पतनम् । अमृतेन । मरणाद्रक्षकेण स्वास्थ्यवर्धकेन पदार्थसमूहेन । संभृताम् । संपादिताम् । इमाम् । यातृन् । पापाने, पा रक्षणे वा—तृच् । पानकतृन् । रक्षकान् । सम् । सम्यक् । अङ्गुष्ठि । अङ्गु व्यकिञ्चलकान्ति-गतिषु—लोद्, अक्ष, संयोजय । इष्टापूर्तम् । अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्यकर्म । अभि । सर्वतः । रक्षति । सेट् । रक्षेत् ॥

इ॒मा आपः॑ प्र भ॑राम्य॒य॒क्ष्मा य॑क्ष्म॒नाश॑नीः ।

गृ॒हानु॑प् प्र सी॒दाम्य॒मृते॑न सु॒हाग्नि॑ना ॥ ६ ॥

इ॒माः । आपः॑ । [आ । अपः॑] प्र । भ॑रामि । अ॒य॒क्ष्माः ।
य॒क्ष्म-नाश॑नीः ॥ गृ॒हान् । उप॑ । प्र । सी॒दामि । अ॒मृते॑न ।
सु॒ह । अ॒ग्निना॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशनीः) रोग-
नाशक (अपः) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मैं लाता हूँ ।
(अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत, दुग्धादि सामग्री और (अग्निना
सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे
प्रकार (सीदामि) मैं बैठता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—गृहपति रोगों से बचने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये अपने घर
में शुद्ध, जल, अग्नि, आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-७॥ आपो देवताः । १-४, ५ अनुष्टुप्, ५. ६ त्रिष्टुप् ।

अपां गुणा उपदिश्यन्ते—जल के गुणों का उपदेश ॥

यदु॒दः संप्र॑यु॒नीर॒हाव॑न॒दता॑ ह॒ते ।

तस्मा॒दा न॒द्यो॑श्च॒ नाम॑ स्थ॒ता वो॒नामा॑नि सिन्ध॒वः ॥ १ ॥

यत् । अ॒दः । सु॒म्-मृ॒यतीः॑ । अ॒ही॑ । अ॒न॑दत । ह॒ते ॥ तस्मा॑त् ।

८—इ॒माः । दृश्य॑मानाः । आ । सम॑न्तात् । अपः । जलानि । प्र ।
भ॑रामि । ह॑रामि । अ॒य॒क्ष्माः । यक्ष्म॑रहिताः । यक्ष्म॑नाशनीः । यक्ष्म॑-
नाशिकाः । स्वा॒स्थ्यव॑र्धयित्रीः । गृ॒हान् । भवनानि । उप । उपेत्य । सी॒दामि ।
उप॑विशामि । अ॒मृते॑न । नास्ति मृतं येन तेन । पौष्टि॑केन । अन्नघृतदुग्धादि-
पदार्थसमूहेन । अ॒ग्निना॑ । पाव॑केन । सह । सहितः ॥

आ । नद्यः । नाम । स्थ । ता । वः । नामानि । सिन्धुवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सिन्धुवः) हे बहने वाली नदियो ! (संप्रयतीः=संप्रयत्यः + यूयम्) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अही हते) मेघ के ताड़े जाने पर (अद्ः) वह (यत्) जो (अनदत्) नाद किया है । (तस्मात्) इसलिये (आ) ही (नद्यः) नाद करने वाली, नदी (नाम) नाम (स्थ) तुम हो, (ता = तानि) वह [वैसे ही] (वः) तुम्हारे (नामानि) नाम हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ—जब मेघ आपस में टकराकर गरजकर बरसते हैं, तब वह जल पृथिवी पर एकत्र होकर नाद करता हुआ बहता है, इससे उसका नदी नाम है । इसी प्रकार वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति समझकर अर्थ करना चाहिये ॥ १ ॥

अजमेर पुस्तक में (संप्रयतिः) है हमने अन्य पुस्तकों से (संप्रयतीः) लिया है ॥

यत् प्रेषिता वरुणे नाच्छीर्षं सुमवलगत ।

तदाप्नोदिन्द्रो' वो युतीस्तस्मादापो अनु' ष्ठन ॥ २ ॥

यत् । प्र-इ'षिताः । वरुणेन । आत् । शीर्षं । सुम्-अवलगत ।
तत् । आप्नोत् । इन्द्रः । वः । युतीः । तस्मात् । आपः ।
अनु' । स्थन् ॥ २ ॥

१—यत् । यत् किञ्चित् । अद्ः । तत् । संप्रयतीः । इण् गतौ शठ्, ऊप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । संभूय, प्रयान्त्यः । अही । अ० २ । ५ । ५ । मेघे । अनदत् । णद्, नदद् । वा अय्यक्ते शब्दे-लङ् । साहितिको दीर्घः । यूयं ध्वनिं कृतवत्यः । हते । ताड़िते । तस्मात् । तस्मात् कारणात् । आ । अवधारणे । नद्यः । नदद् पचाद्यच् । टिड्ढाणाञ् । पा० ४ । १ । १५ । इति ऊप् नद्यः कस्माज्जना भवन्ति शब्द-धन्त्यः—निरु० २ । २४ । नदनशीलाः । सरितः । नाम । अ० १ । २४ । ३ । नामधेयम् । स्थ । भवथ । ता । तानि । वः । युष्माकम् । सिन्धुवः । अ० १ । १५ । १ । स्थन्दनशीलाः । नद्यः ॥

भाष्यार्थ—(यत्) जब (आत्) फिर (वरुणेन) सूर्य करके (प्रेषिताः) भेजे हुये तुम (शीभम्) शीघ्र (समवलगत) मिलकर चले, (तत्) तब (इन्द्रः) जीव ने [वा सूर्य ने] (यतीः) चलते हुये (वः) तुमको (आप्रोत्) प्राप्त किया, (तस्मात्) उससे (अनु) पीछे (आपः) प्राप्ति योग्य जल [नाम] (स्थन) तुम हो ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (आप्रोत्) और (आपः) शब्द एक ही धातु आप्लुट पाना से सिद्ध है। जब सूर्य की शक्ति से जल भूमि पर आकर फैलता है, तब जीव उसे पाता है, [और सूर्य भी फिर ले लेता है] इससे जल का नाम (आपः) पाने योग्य वस्तु है (आपः) शब्द नित्य स्त्री लिङ् बहुवचनान्त है ॥ २ ॥

अपक्रामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वुः शक्तिभिर्देवोस्तस्माद् वानाम वो हितम् ॥३॥

अप-क्रामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वुः । हि । कुम् ॥

इन्द्रः । वुः । शक्ति-भिः । देवोः । तस्मात् । वाः । नाम ।

वुः । हितम् ॥ ३ ॥

२—यत् । यदा । प्रेषिताः । इष गतौ-क । प्रेरिताः । वरुणेन । वरुणीयेन सूर्येण । आत् । अनन्तरम् । शीभम् । शीघ्र कथने—घञ् । क्षिप्रम्—निघ० २ । १५ । समवलगत । बल गतौ-लङ्, भौवादिकः । सूर्य सम्भूय गतवत्यः । तत् । तदा । आप्रोत् । आप्लुट व्याप्तौ-लङ् । प्राप्तवान् । इन्द्रः । जीवः । सूर्यः । वः । युष्मान् । यतीः । इण् गतौ-शत् । गमनं कुर्वतीः । तस्मात् । आपः । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लुट व्याप्तौ-क्विप् । अपतृनतृच्० पा० ६ । ४ । ११ । इति सर्वनामस्थाने दीर्घः । आप आप्नोतेः—निघ० ६ । २६ । प्राप्तव्यानि जलानि । अनु । पश्चात् । स्थन । सूर्य स्थः ॥

भाषार्थ—(वः) वेगवान् वा वरणीय (इन्द्रः) जीव [वा सूर्यः] ने (हि) ही (अपकामम्) व्यर्थ (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुमको (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (कम्) सुख से (अवीवरत) वरण [स्वीकार] अथवा, वारण [रोकना] किया, (तस्मात्) इससे (देवीः=देव्यः) हे दिव्य गुण वाली वा खेलवाली जल धाराओ ! (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वार्) वरण योग्य वा वारण योग्य जल (हितम्) रक्षित गया है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य भूमि पर अन्नादि के लिये और सूर्य आकाश में वृष्टि के लिये जल को चाहता है वा रोकता है, इसलिये जल का नाम (वार्) है । (अवीवरत) किया और (वार्) शब्द दोनों वृ चाहना वा रोकना धातु से बनते हैं ॥ ३ ॥

एके वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम् ।

उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

एकः । वः । देवः । अपि । अतिष्ठत् । स्यन्दमानाः । यथा-
वशम् । उत् । आनिषुः । महीः । इति । तस्मात् । उदकम् ।
उच्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एकः) अकेला (देवः) जयशील परमात्मा (यथावशम्)

३—अपकामम् । विनैव कामेन, व्यर्थम् । स्यन्दमानाः । स्यन्दनं कुर्वाणाः । अवीवरत । वृज् वरणे, यद्वा, वृ वारणे, स्वार्थिके णिच् । वृत् वान् । वारितवान् । वः । युष्मान् । हि । निश्चयेन । कम् । सुखेन । इन्द्रः । जीवः । सूर्यः । वः । गतौ, वा, वृज् वरणे-ड । वायुः, वरुणः । वेगवान् । वरणीयः । शक्तिभिः । स्वलामर्थ्यैः । देवीः । दिवु दीप्तौ, क्रीडायां च-अच्, ऊप् । ३ देव्यः । दिव्यगुणाः । देवनशीलाः । वार् । वृज् वरणे, वा वृ वारणे-णिच् क्तिप् । म्रियते वार्यते वा यत्तद् । जलम् । वः । युष्माकम् । हितम् । धाम् धारणे-क । धृतम् ॥

४—एकः । अद्वितीयः । वः । युष्मान् । देवः । दिवु विजिगीषायाम्-

इच्छानुसार (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुम्हारा (अपि अतिष्ठत्) अधि-
ष्ठाता हुआ । (महीः = महत्यः) शक्ति वाले [आप जल] ने (इति) इस प्रकार
(उत् + आनिषुः) ऊपर को श्वास ली, (तस्मात्) इस लिये (उदकम्) ऊपर
को श्वास लेने वाला उदक वा जल (उच्यते) कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर सामर्थ्य से सूर्य द्वारा जल आकाश में चढ़ता है
इस लिये (उदक) जल का नाम है । (उत् आनिषुः) और (उदकम्) उत् +
अन, श्वास लेना-धातु से बनते हैं ॥ ४ ॥

आपः भद्रा घृतमिदप आसन्नग्नीषोमौ विभ्रत्यापु
इत् ताः । तीव्रो रसो मधुपृचामरंगुम आ मा प्राणेन
सुह वर्चसा गमेत् ॥ ५ ॥

आपः । भद्राः । घृतम् । इत् । आपः । आसन् । अग्नीषोमौ ।
विभ्रति । आपः । इत् । ताः ॥ तीव्रः । रसः । मधु-पृचाम् ।
अरम्-गुमः । आ । मा । प्राणेन । सुह । वर्चसा । गमेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल (भद्राः) मंगलमय, और (आपः) जल

अच्छ । जेता । अपि अतिष्ठत् । अपि = अधि । अधिष्ठितवान् । शसितवान्
स्यन्दमानाः । स्यन्दनशीलाः । यथावशम् । यथेच्छम् । उत् आ-
निषुः । अन प्राणने-लुङ् । उच्छ्वासितवत्यः । महीः । महत्यः । इति ।
एवम् । तस्मात् । उदकम् । रुदाधार्चिकलिभ्यः कः । ७० ३ । ४० । इति
उत् + अन प्राणने-क । नलोपः । यद्वा । उदकं च । ७० २ । ३६ । इति उन्दी क्ले-
दने-क्वुन् । उदकं कस्मादुनसीति सतः-निङ् ० २ । २४ । उच्छ्वासकम् । उन्व-
नशीलम् । जलम् । उच्यते । कथ्यते ॥

५—आपः । प्रापणीयं जलम् । भद्राः । भदि कस्याखकारणे-रक् ।

(इत्) ही (घृतम्) घृत (आसन्) था । (ताः) वह (इत्) ही (आपः) जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और चन्द्रमा को (बिभ्रति) पुष्ट करता है । (मधु-पृचाम्) मधुरता से भरी [जल धाराओं] का (अरंगमः) परिपूर्ण मिलने वाला, (तीव्रः) तीव्र [तीक्ष्ण, शीघ्र प्रवेश होने वाला] (रसः) रस (मा) मुझ को (प्राणेन) प्राण और (वर्चसा सह) कान्ति वा बल के साथ (आ गमेत्) आगे ले चले ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल से (घृत) सारमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जल अग्नि अर्थात् जाठराग्नि, विजुली, बड़वानल आदि और चन्द्र लोक से मिलकर हमें पुष्टि देता है, और कृषि आदि में प्रयुक्त होकर अन्नादि उत्पन्न करके प्राणियों का बल और तेज बढ़ाता है ॥ ५ ॥

आदित् पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति
वाङ् मासाम् । मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्य-
वर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

आत् । इत् । पश्यामि । उत । वा । शृणोमि । आ । मा । घोषः ।
गच्छति । वाक् । मा । आसाम् ॥ मन्ये । भेजानः । अमृ-
तस्य । तर्हि । हिरण्य-वर्णाः । अतृपम् । यदा । वः ॥ ६ ॥

मङ्गलप्रदाः । घृतम् । घृतवत् सारवस्तु । इत् । एव । आसन् । अभवन् ।
अग्नीषोमौ । ईदग्नेः सोमवरुणयोः ॥ पा० ६।३।२५ इति ईद्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोम-
सोमाः ॥ पा० ८।३।२२ इति षत्वम् । अग्निं च सोमं चन्द्रं च । बिभ्रति । धार-
यन्ति । तीव्रः । अजेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ इति बाहुलकात् । तिज तीक्ष्ण-
करणे—रन्, जस्य वो दीर्घन्वं च । तीक्ष्णम् । रसः । सारः । मधुपृचास् ।
पृची संपर्क—किप् । मधुना रसेन संपृक्तानाम् । अरंगमः । अलंगमः ।
पर्याप्तगमनः । अक्षीणाः । प्राणेन । जीवनेन । मा । माम् । वर्चसा ।
तेजसा । बलेन । आ गमेत् । आगमयेत्, प्रापयेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आत्) तब (इत्) ही (पश्यामि) मैं देखता हूं, (उत) और (वा) अथवा (शृणोमि) मैं सुनता हूं, (आसाम्) इसकी [जल के रस की] (घोषः) ध्वनि (मा) मुझे (आ गच्छति) आती है और (वाक्) वाक् शक्ति (मा) मुझे [आती है] । (हिरण्यवर्णाः) हे कमनीय पदार्थ वा सुवर्ण का विस्तार करने वाले [जल] ! (तर्हि) तभी (अमृतस्य) अमृत का (भोजानः) भोग करता हुआ मैं (मन्ये) अपने को मानूं, (यदा) जब (वः) तुम्हारी (अतृपम्) तृप्ति मैंने पायी हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जल के यथावत् प्रयोग से प्राणी में दर्शन शक्ति और श्रवण शक्ति, और (घोष) ध्वन्यात्मिक शब्द और (वाक्) वर्णात्मिक शब्द बोलने की शक्ति होती है, और तभी वह इष्ट सुवर्णादि धन की प्राप्ति से भूख आदि से मृत्यु दुःख का त्याग करके अमृत अर्थात् आनन्द भोगता है ॥

इदं व आपो हृदयमयं वृत्स ऋतावरीः ।

इहेत्थमेतं शक्नोरीयत्रेदं वेश्यामि वः ॥ ७ ॥

इदम् । वः । आपः । हृदयम् । अयम् । वृत्सः । ऋत-वरीः ॥

इह । इत्थम् । आ । इत् । शक्नोरीः । यत्र । इदम् । वेश-
यामि । वः ॥ ७ ॥

६—आत् इत् । अनन्तरमेव । पश्यामि । ईक्षे । उत वा । अपि वा । शृणोमि । आकर्णयामि । मा । माम् । घोषः । घोष स्तुतिविश-
ब्दयोः-घञ् । ध्वन्यात्मिकशब्दः । ध्वनिः । आ गच्छति । प्राप्नोति । वाक् ।
वर्णात्मिकशब्दः । वाणी । आसाम् । अपाम् । जलस्य । मन्ये । जाने । तर्क-
यामि । भोजानः । भज सेवायां लिटिः कानच् । तृफलभजत्रपश्च । पा० ६ । ४
१२२ । इति लिटि अकारस्य एत्वम् अभ्यासलोपश्च । भजमानाः सेवयाताः ।
अमृतस्य । मरणनाशकस्य । सुखस्य । तर्हि । तदा । हिरण्यवर्णाः । अ०
१ । ३३ । १ । वर्णं वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु-घञ् । हिरण्यस्य कमनीय-
पदार्थस्य सुवर्णस्य वा वर्णं विस्तारो याभिस्तास्तथाभूताः । तत्सम्बुद्धौ ।
अतृपम् । तृप तृप्ती लङ् । तृप्तिं प्राप्तवानस्मि । यदा । वः । शुभ्नाकम् ॥

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति के योग्य जल धाराओं ! (इदम्) यह (वः) तुम्हारा (हृदयम्) स्वीकार योग्य हृदय वा कर्म है । (ऋतावरीः) हे सत्यशील [जल धाराओं !] (अयम्) यह (वत्सः) निवास देने वाला, आश्रय है । (शकरीः) हे शक्ति वालियों ! (इत्थम्) इस प्रकार से (इह) यहां पर (आ इत) आओ, (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे (इदम्) जल को (वेश्यामि) प्रवेश करूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—कृषि, यन्त्र, औषधादि में जल के यथायोग्य प्रयोग से प्राणियों को सुख मिलता है ॥ ७ ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-६ ॥ गावो देवताः । १-५ अनुष्टुप्, ६ त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रुय्या सं सुभूत्या ।

अहंजातस्य यन्नाम तेना वृः सं सृजामसि ॥ १ ॥

७—इदम् । उपरोक्तम् । वः । युष्माकम् । आपः । हे प्राप्तव्या जल-धाराः । हृदयम् । वृद्धाः पुष्टुकौ च । उ० । ४ । १०० । इति हृद् हरणे-कथन् दुक् च, हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च । हरणीयं प्राप्तव्यं हृदयं कर्मवा । वत्सः । वृत्तवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे-स । निवासकः । आश्रयः । ऋतावरीः । छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०६ । इति मत्वर्थीयो वनिप् । वनोर च । पा० ४ । १ । ७ । इति ऊर्ध्वेफौ । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति सांहितको दीर्घः । वा छन्दसि । पा० ३ । ४ । ८८ । इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः । हे ऋतवर्यः । सत्योपेताः । इत्थम् । अनेन प्रकारेण । आ इत । आगच्छत । शकरीः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शक्ल् शक्ती-वनिप् । पूर्ववद् ऊर्ध्वेफपूर्वसवर्णदीर्घाः । शक्वर्यः । शक्ताः । समर्थाः । यत्र । इदम् । इन्देः कमिन्नलोपः । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । उदकम्-निघ० १ । १२ । वेश्यामि । प्रवेशयामि । अन्तः स्थापयामि ॥

सम् । वः । गो - स्येन । सु - सदा । सम् । रय्या । सम् । सु - भूत्या ।
अहः - जातस्य । यत् । नाम । तेन । वः । सम् । सृजामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ = [हे गौश्रो !] (वः) तुम को (सुषदा) सुख से बैठने योग्य (गोष्ठेन) गोशाला से (सम्) मिलाकर, (रय्या) धन से (सम्) मिलाकर और (सुभूत्या) बहुत सम्पत्ति से (सम्) मिलाकर और (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम] से (वः) तुमको (सम्, सृजामसि = ०-मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौश्रो को स्वच्छ नीरोग गोशाला में रखकर पाले, और उनको अपने धन और संपत्ति का कारण जानकर अन्य प्राणियों के समान उनके नाम बहुला, कामधेनु, नन्दिनी आदि रखें ॥ १ ॥

सं वः सृजत्वयमा सं पुषा सं बृहस्पतिः ।

समिन्द्रो यो धनं जुयो मयि पुष्यत् यद् वसु ॥ २ ॥

सम् । वः । सृजतु । अयमा । सम् । पुषा । सम् । बृहस्पतिः ।

सम् । इन्द्रः । यः । धनम् - जुयः । मयि । पुष्यत् । यत् । वसु ॥ २ ॥

१--सम् । सृजामसि इति व्यवहितक्रियापदेन सर्वत्र संबन्धः । वः । युष्मान् । गोष्ठेन । गोशालया । सुषदा । षडलु गतौ-बिषप् । सुखेन सीदन्ति यत्रेति सुषत् । सुखसदनयोग्येन । रय्या । धनेन । सुभूत्या । भू सत्तायां प्राप्तौ च-क्तिन् । बहुसम्पत्त्या । अहर्जातस्य । नञि जहातेः । उ० १ । १५८ । इति नञ् + ओहाक् त्यागे, कनिन्, आतो लोपः । न जहाति न त्यजति परिषत् - मानत्वात्, इत्यहः, दिनम् । जनी जन्मनि-क्त । अहन्यहनि जातस्य उत्पन्नस्य प्राणिनः । संसृजामसि । संसृजामः संयोजयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (अर्यमा) अरि-अर्थात् हिंसकों का नियामक [गोपाल] (सम्) मिलाकर; (पूषा) पोषण करने वाला [गृहपति] (सम्) मिलाकर और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक [विद्वान् वैद्यादि पुरुष] (सम्) मिलाकर, और (इन्द्रः) बड़े पेश्वर्य वाला राजा, (यः धनंजयः) जो धनों का जीतने वाला है, (सम् सृजतु) मिलाकर रखवे । (मयि) मुझमें (यत्) पूजनीय (वसु) धनको (पुष्यत) तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और प्रजापालक राजा राज नियम से गौओं को वृद्धि करें जिससे कृषि, व्यापारादि द्वारा संसार में धन बढ़े ॥ २ ॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे कुरीषिणीः ।

विभ्र'तीः सुोम्यं मध्व'नमीवा उपेत'न ॥ ३ ॥

सम्-जग्मानाः । अविभ्युषीः । अस्मिन् । गो-स्थे । कुरीषिणीः ।

विभ्र'तीः । सुोम्यम् । मधु' । अन्मीवाः । उप-एत'न ॥ ३ ॥

२-वः । युष्मान् । सं सृजतु । संयोज्य पालयतु । अर्यमा । अन्ये-भ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति ऋ हिंसायाम्-विच् । पुगन्तलघ्वस्य च । पा० ७ । ३ । ८६ । इति गुणः । ऋणांति हिनरुतीति अर् अरिः । श्वनुक्षन् पूषन्सोहन्क्लोदनस्नेहन्मज्जन्मूर्धन्नर्यमन्० । उ० १ । १५६ । इति अर्+यम नियमे-कनिन् । अर्यमादित्योऽरीक्षियन्नतीति-निह० ११ । २३ । अराम् अरीणां हिंसकानां नियामकः । गोपालः । पूषा । अ० १ । ६ । १ । पुष पुष्टी-कनिन् । पोषकः । गृहपतिः । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । बृहतां वेदादि-शास्त्राणां पालकः । वैद्यादिविद्वान् पुरुषः । इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् राजा । धनंजयः । संज्ञायां भृतृवृजधा० । पा० ३ । २ । ४६ । इति धन+जि जये कच् । अरुद्धिष्वजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । धनानां जेता । पुष्यत । पोषयत । वर्धयत । यत् । त्यजितनियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति यज पूजायाम्-अदि, स च ङित् । यजनीयं पूजनीयम् । वसु । धनम् ॥

भाषार्थ—(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (संजग्मानाः) मिलकर खलती हुई, (अविभ्युषीः=०ष्यः) निर्मय रहती हुई, (करीषिणी=०—त्यः) गोबर करने वाली, (सोम्यम्) अमृतमय (मधु) रस (विभ्रतीः=०—त्यः) धारण करती हुई, (अनमीवाः) नीरोग तुम (उपेतन=उप, आ, इत) चली आओ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य गौओं को हिंसक जीवों से बचाकर मारोग रक्खें जिस से वे रोगनाशक, अमृतमय दूध, घृत आदि पदार्थ देती रहें । गौ के मूत्र, गोबर, दूध आदि के गुण और प्रयोग बहुत हैं ॥ ३ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में गौ के गुण वर्णन करते हुए कहा है ।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना ।

षडङ्गमेतन्मङ्गल्यं पवित्रं सर्वदा गवाम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, घी, दही और गोरोचना, गौओं के यह छह प्रकार के सर्वदा मङ्गलकारी शुद्ध पदार्थ हैं ॥

मनु भगवान् का वचन है—मनुस्मृति, अ० ११ श्लोक २१२ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का पानी, एक दिन [खावे] फिर एक दिन रात उपवास करे । यह कृच्छ्र सान्तपन कहाता है ॥

३—संजग्मनाः । समो गम्यच्छ्रियाम् । पा० १ । ३ । २६ । इति सं-

पूर्वाद् गमेरात्मनेपदत्वात् लिटः कानच् । संजग्मनाः । अविभ्युषीः । विभी भये—लिटः कसुः, डीप् । वसोः संप्रसारणम् । पा० ६ । ४ । ३१ । इति संप्रसारणम् । जसः पूर्वसवर्णदीर्घः । अविभ्यत्यः । करीषिणीः । कृतुष्यामी-षन् । उ० ४ । २६ । इति कृ विक्षेपे, विज्ञाने—ईषन् । अत इतिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति इति । करीषिण्यः करीषेण गोमयेन युक्ताः । विभ्रतीः । मृज् अ-ये-अत् । विभ्रत्यः । धारयन्त्यः । खान् म । मये च पा० ४ । ४ । १३८ । इति

इहैव गाव एतन्ने हो शकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

इह । एव । गावः । आ । इतनु । इहो इति । शका-इव ।

पुष्यत ॥ इह । एव । उत । प्र । जायध्वम् । मयि । सुम्-
ज्ञानम् । अस्तु । वः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओ ! (इह एव) यहां ही (एतत) आओ
(इहो=इह-उ) यहां ही (शका इव) समर्था [गृहपत्नी] के समान (पुष्यत)
पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहां पर ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से
बढ़ो । (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) प्रेम (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे समर्थ गृहपत्नी घर वालों का पोषण करके प्रसन्न
रखती है, ऐसे ही गौयें अपने दूध, घी आदि से अपने रक्तकों को पुष्ट और
स्वस्थ करती हैं । इस से सब मनुष्य प्रीति पूर्वक उन का पालन करें और उन
का वंश बढ़ावें ॥ ४ ॥

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकैव पुष्यत ।

इवैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

सोम-य प्रत्ययः । अमृतमयम् । मधु । मधुरं दुग्धघृतादि । अनमीवाः ।
अ० २ । ३० । ३ । रोगरहिताः । उपेतन । इण् गतौ-लोट । तस्य तनादेशः ।
उपागच्छत ॥

४—आ इतन । एत । आगच्छत । इहो । इह-उ । अत्रैव । शका ।
शकल सामर्थ्ये—पचायच्, टाप् । शक्नोतीति शका-इति सिद्धान्तकौमुदम् [प्र-
त्ययस्थात् कात्० । पा० ७ । ३ । ४४] इति व्याख्यायाम् । समर्था राजपत्नी गृह-
पत्नी वा । पुष्यत । पोषयत । उत । अपि च । प्र जायध्वम् । प्रजा-
यध्वम् । मयि । गोरक्तके । संज्ञानम् । सम्यग् ज्ञानम् । प्रीतिभावः ।
वः । शुष्माकम् ॥

शिवः। वः। गो-स्थः। भवतु। शारिशाका-इव। पुष्यत॥ इह।
 सुव। उत। प्र। जायध्वम्। मया। वः। सम्। सुजामसि॥५॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला (शिवः) मङ्गलदायक
 (भवतु) होवे। (शारिशाका इव) शालि [साठी चाबल] की साखा [उपज]
 के समान (पुष्यत) पोषण करो। (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजाय-
 ध्वम्) बच्चों से बढ़ो। (मया = अस्माभिः) अपने साथ (वः) तुम को (सं-
 सुजामसि = ०—मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जैसे (शारि, शालि) साठी चाबल की साखा (शाका) थोड़े
 प्रयत्न से साठ दिन में ही पक जाती है, वैसे ही मनुष्य यत्न पूर्वक थोड़े परि-
 श्रम से पालन करके गौओं से दूध, घी, और खेती के लिये बैल आदि पाकर
 बहुत लाभ उठाते हैं ॥ ५ ॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोष-
 यिष्णुः। रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्ती-
 रूपं वः सदेम ॥ ६ ॥

मया। गावः। गो-पतिना। सचध्वम्। अयस्वः। गोस्थः
 इह। पोष यिष्णुः॥ रायः। पोषेण। बहुलाः। भवन्तीः।
 जीवाः। जीवन्तीः। उपं। वः। सदेम ॥ ६ ॥

५—शिवः। सुख करः। वः। युष्माकम्। गोष्ठः। गोशलाः। शारि-
 शाका। जनिघसिभ्यामिण्। उ० ४। १३०। इति शल गतौ-इङ्। लस्य रत्वम्,
 शल्यते प्राप्यतेऽसौ शालिः। षष्टिकादिधान्यम्। शक सामर्थ्यं घञ्, टाप्।
 शक्नोति कर्षको यया सा शाका, साखा, इति भाषा। अक्रोत्पत्तिः। पुष्यत।
 पोषयत। मया। एकवचनं बहुवचने। अस्माभिः। अन्यद् व्याख्यानं म० ४, १॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओं ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति से (सचध्वम्) मिली रही । (इह) यहां (अयम्) यह (पोषयिष्णुः) पोषण करने वाली (वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला है । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (बहुलाः) बहुत पदार्थ देनेवाली अथवा वृद्धि करनेवाली (भवन्तीः) होती हुई और (जीवन्तीः) जीती हुई (वः) तुमको (जीवाः) जीते हुये हम लोग (उप) आदर से (सदेम) प्राप्त करते रहें ॥ ६ ॥

भाषार्थ—मनुष्य गौओं की सेवा से दुग्ध, घृत, कृषि आदि की उत्पत्ति करके बहुत काल तक जीते और सुख भोगते रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता । १-६, त्रिष्टुप्, ७ अनुष्टुप्, ८ पूर्वा-
धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप् ॥

व्यापारलाभोपदेशः—व्यापार के लाभ का उपदेश ॥

इन्द्रं मुहं वृणिजं चोदयामि स न ऐतु पुराता नो
अस्तु । नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मुगं स ईशानो धनुदा
अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

इन्द्रम् । अहम् । वृणिजम् । चोदयामि । सः । नः । आ ।

इ—गावः । हे धेनवः । गोपतिना । गोरक्षकेण । सचध्वम् ।
पञ्च समवाये । समवेता भवत । संगच्छध्वम् । पोषयिष्णुः । शेरच्छ्वसि ।
पा० ३ । २ । १३० । इति पोषयते—इष्णुच् । पोषकः । बहुलाः । बहु + ला दा-
क, टाप् । यद्वा । ह्येकलुच् । उ० १ । ६६ । इति बहि वृक्षी-उलच् । न गोपः ।
यद्वा, बह प्रापणे-उलच् । टाप् । बहुपदार्थदात्रीः । वृक्षशीलाः । शेरच्छ्वसि ।
भू सत्तायाम्-शतृ, ङीप् । वर्त्तमानाः । जीवाः । चिरजीविनो वयम् । जीवन्तीः ।
बहुकालजीवनोपेताः । उप । आदरेण । वः । शुभान् । सदेम । सदेरासी-
र्त्तिङि । गच्छेम । प्राप्नुयाम । अन्यद् गतम् ॥

सुतु । पुरः-सुता । नः । अस्तु ॥ नुदन् । अरातिम् । परि-
पन्थिनम् । मृगम् । सः । ईशानः । धन-दाः । अस्तु । मह्यम् ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(अहम्) में (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक्
को (चोदयामि) आगे बढ़ाता हूँ, (सः) वह (नः) हम में (ऐतु)
आवे, और (नः) हमारा (पुराणा) अगुआ (अस्तु) होवे । (अरातिम्)
दौगी, (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) बनेले पशु को (नुदन्) रगेदता
हुआ (सः) वह (ईशानः) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन देने
वाला (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य व्यापारकुशल पुरुष को अपना मुखिया बनाकर वाणिज्य
और मार्ग की ऊँच नीच समझकर वाणिज्यमें धन लगानेसे लाभ उठाते हैं ॥ १ ॥

ये पन्थानो ब्रह्मो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवी
संचरन्ति । ते मां जुपन्तां पर्यसा घृतेन यथा क्रीत्वा
धनमाह्वयिणि ॥ २ ॥

१—इन्द्रम् । ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् । वणिजम् । पणेरिज्यादेभ्य सः ।
उ० २ । ७० । इति पण व्यवहारे—इजि, पश्य सः । व्यापरिणम् । चोदयामि ।
प्रेरयामि । प्रवर्तयामि । नः । अस्मान् । ऐतु । आगच्छतु । पुरःसुता ।
पुरम् + इण् गतौ—तृच् । पुरोगन्ता । अग्रगामी । नः । अस्माकम् । नुदन् ।
पशुं प्रेरणे-शतृ । प्रेरयन् । अपगमयन् । अरातिम् । अ० १ । १८ । १ ।
शत्रुम् । परिपन्थिनम् । अ० १ । २७ । १ । पर्यवस्थातारं मार्गनिरोधक
चोरम् । मृगम् । मृग अन्वेपणे—क । मृगयते अन्वेपयति तृणादिकम्
पशुम् । वन्यपशुम् । ईशानः । ईश ऐश्वर्ये—शानच् । ईश्वरः । नियन्ता ।
धनदाः । आतो मनिन्कनि० । पा० ३ । २ । ७४ । इति धन + ददातेः—विच् ।
वाणिज्यलाभरूपधनप्रदाता । मह्यम् । वणिजे ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी
इति । सुम्-चरन्ति ॥ ते । मा । जुषन्ताम् । पयसा । घृतेन
यथा । ऋत्वा । धनम् । आहराणि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वान् व्यापारियों के यानों रथा-
दिकों के योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी = ०—
व्यौ) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं,
(ते) वे [मार्ग] (पयसा) दूध से और (घृतेन) घी से (मा) मुझको
(जुषन्ताम्) तृप्त करें, (यथा) जिसमें (ऋत्वा) मोल लेकर [व्यापार
करके] (धनम्) धन (आहराणि) मैं लाऊं ॥ २ ॥

भाषार्थ—व्यापारी लोग विमान, रथ, नौकादि द्वारा आकाश भूमि
समुद्र, पर्वत, आदि से देश देशान्तरों में जाकर अनेक प्रकार व्यापार करके
मूलधन बढ़ावें और धनाढ्य होकर घर आवें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्ं इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तर्से
घलाय । यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शत-
सेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

२—पन्थानः । मार्गाः । बहवः । बहुदेशसंबन्धिनः । देवयानाः ।
विषु क्रीडाविजिगीषाव्यहारदिषु-अच् । या गतौ-युट् । देवानां विदुषां व्यव-
हरिणां यानानि गमनसाधनानि विमानरथादीनि चरन्ति येषु तं तथाभूताः ।
अन्तरा । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० ३ । २ । ४ । इति द्वितीया । मध्ये । द्यावा-
पृथिवी । अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमौ । तयोर्मध्य इत्यर्थः । संचरन्ति ।
चरन्ते । ते । पन्थानः । मा । मां वणिजम् । जुषन्ताम् । जुषी प्रीति-
सेवनयोः । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु । पयसा । दुधेन । घृतेन । आज्येन ।
यथा । येन प्रकारेण । ऋत्वा । जुकीम् द्रव्यविनिमये । विनिमयेन गृहीत्वा ।
धनम् । लाभसहितं मूलधनम् । आहराणि । स्वगृहं प्रापयाणि ॥

इध्मेन' । अग्ने । इच्छमानः । घृतेन' । जुहोमि' । हव्यम् ।
तरसे । बलाय ॥ यावत् । ईशे' । ब्रह्मणा । वन्दमानः ।
इमाम् । धियम् । शत-सेयाय । देवीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (इच्छमानः) [लाभ की] इच्छा करता हुआ मैं (इध्मेन) इन्धन और (घृतेन) घृत से (तरसे) तराने वाले वा जिताने वाले (बलाय) बल के लिये (हव्यम्) हवन सामग्री का (जुहोमि) होम करता हूँ, (यावत्) जहाँ तक (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा [दी हुई] (इमाम्) इस (देवीम्) व्यवहार कुशल (धियम्) निश्चल बुद्धि की (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ मैं (शतसेयाय) सैकड़ों उद्यम के लिये (ईशे) समर्थ हूँ ॥

भावार्थ—जैसे समिधा और घृतादि से अग्नि का तेज बढ़ कर अन्ध-कार हटाता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोत्तम वेदविद्या को प्रीति पूर्वक ग्रहण करके

३—इध्मेन । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति इन्धी दीप्तौ-मक् ।
इन्धनेन । अग्ने । हे अग्निवत् तेजस्विन् । विद्वन् । इच्छमानः । इषु इच्छा-
याम्-शानच् । वाणिज्यलाभं कामयमानः । जुहोमि । इ दानादनयोः-लट् ।
दवामि हव्यम् । इदानीदनयोः-यत् । देवयोग्याहम् । हवनीयद्रव्यम् । तरसे ।
तृ तरणे, अग्ने, अभिभवे च-असुन् । तारकाय । जयसाधनाय । वेगाय । बलाय ।
पराक्रमाय । यावत् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् । पा० ५ । २ । ३६ । इति यत्-
वतुप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ६१ । इति आत्वम् । यत्परिमाणम्, ईशे ।
ईश्वरः शक्तो भवामि । ब्रह्मणा । वेदद्वारा दत्ताम् । वन्दमानः । स्तुवन् ।
इमाम् । उपस्थिताम् । धियम् । अ० २ । ५ । ४ । धृञ्, यद्वा, कुधाञ्
धारणे-किप् । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्विम्,
ईशं च किब्लोपेऽपि । यद्वा । ध्यै चिन्तने-किप् संप्रसारणं च । वेदोक्तं कर्म ।
धारणावती बुद्धिम् । शतसेयाय । अको यत् । पा० ३ । १ । ६७ । इति को
अन्तकर्मणि-यत् । आदेच उपदेशेऽशिति । पा० ६ । १ । ४५ । इति आत्वम् ।

सामर्थ्य भर वाणिज्य में उद्योग करके प्रभूत धन पावे' और वरिष्ठतादि को मिटावे' ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, म० ३ सू० १८ म० ३ ॥

इमामग्ने शरणिं मीमृषो नो यमध्वानमगाम दूरम् ।
शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः फलिनं मा
कृणोतु । इदं हुव्यं संविद्वानो जुषेथां शुनं नो अस्तु
चरितमुत्थितं च ॥ ४ ॥

इमाम् । अग्ने । शरणिम् । मीमृषुः । नः । यम् । अध्वानम् ।
अगाम । दूरम् ॥ शुनम् । नः । अस्तु । प्र-पणः । वि-क्रयः ।
च । प्रति-पणः । फलिनम् । मा । कृणोतु ॥ इदम् । हु-
व्यम् । सुम्-विद्वानो । जुषे-थाम् । शुनम् । नः । अस्तु । च-
रितम् । उत्थितम् । च ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (नः) हमारी (इमाम्)
इस (शरणिम्) पीड़ा को [उस माग में] (मीमृषः) तूने सहा है (यम्)
दूरम् अध्वानम्) जिस दूर मार्ग को (अगाम) हम चले गये हैं ।

ईदृति । पा० ६ । ४ । ६५ । इति ईत्स्वमन्त्रार्थधातुत्वे गुणः । शतादिसंख्यापरि-
मितव्यवसायाय बहुधमाय । देवीम् । व्यवहारकुशलाम् ॥

४ अग्ने । म० ३ । शरणिम् । अस्ति सृष्टु० । उ० २ । १०२ । इति शृ-
हिंसायाम्-अनि । हिंसाम् । प्रमादरूपां पीडाम् । मीमृषः । मृष-तिनिष्ठायां
लुक्-अडभावः । स्वार्थिको णिच् । त्वं क्षमितवानसि । नः । अस्माकम् ।
अध्वानम् । अदेर्ध-च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे । यद्वा, अदि-अन्धने
क्वलिप्, दस्य धः । मार्गम् । अगाम । इण्-गतौ-लुक् । वयं गतवन्तः ।
दूरम् । अ० ३ । ३ । २ । विप्रकृष्टदेशम् । शुनम् । अव्ययम् । गेहे कः ।

(नः) हमारा (प्रपणः) क्रय [माल लेना] (च) और (विक्रयः) बिकरी (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) हो। (प्रतिपणः) वस्तुओं का लौट फेर (मा) मुझ को। (फलिनम्) बहुत लाभ वाला (कृणोतु) करे।

(सविदानौ) एक मत होते हुये तुम दोनों [हम और तुम] (इवम् हव्यम्) इस भेट को (जुषेथाम्) सेवे। (नः) हमारा (चरितम्) व्यापार (च) और (उत्थितम्) उठान [लाभ] (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विनय पूर्वक अपनी चूक मानकर विद्वानों की सम्मति से अपना सुधार करते हैं, वे व्यापार में अधिक लाभ उठाकर आनन्द पाते हैं ॥

इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति कुछ भेद से ऋ० म० १ सू० ३१ म० १६ में है ॥

येन धनेन प्रपुणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने सातघ्नो देवान्
हविषा निषेध ॥ ५ ॥

येन । धनेन । । प्र-पुणम् । चरामि । धनेन । देवाः । धनम् ।
इच्छमानः ॥ तत् । मे । भूयः । भवतु । मा । कनीयः । अग्ने ।
सात-घ्नः । देवान् । हविषा । नि । सेध ॥ ५ ॥

पा० ३ । १ । १४४ । इति शुन गतौ-क । सुखनाम-निघ० ३ । ६ । सुखप्रदः ।
प्रपणः । पण व्यवहारे-अच् । क्रयः । व्यापारः । विक्रयः । परच् । पा० ३ ।
३ । ५६ । इति वि+क्रीञ् द्रव्यविनिमये-अच् । विक्रयणम् । विपणनम् । प्रति-
पणः । पण-अच् । सलाभमूल्यस्वीकारेण परेभ्यः प्रदानम् । फलिनम् ।
बहुलाभयुक्तम् । मा । माम् । कृणोतु । कर्णोतु । हव्यम् । हविः । सवि-
दानौ । अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानौ । ऐकमत्यं प्राप्तौ । अहं च त्वं च ।
जुषेथाम् । युवां सेवेथाम् । चरितम् । चर-क । अनुष्ठानम् । विक्रयादि-
कर्म । उत्थितम् । उद्+ष्ठा-क । सलाभं धनम् ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहनेवाला मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) : चलाता हूँ, (तत्) वह धन (मे) मेरे लिये (भूयः) अधिक २ (भवतु) होवे, (कनीयः) थोड़ा (मा) न [होवे] । (अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (सातघ्नः) लाभ नाश करनेवाले (देवान्) मूर्खों को (हविषा) हमारी भक्ति द्वारा (निषेध) रोक दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—नवशिक्षित व्यापारी बड़े बड़े व्यापारियों से लाभ हानि की गति समझकर अपने मूल धन को बढ़ाते रहें और कुव्यवहारियों के फंदे में न पड़ें ॥ ५ ॥

येन धनेन प्रपणं चरामि धेन देवा धनमिच्छमानः ।
तस्मिन् मु इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता
सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

येन । धनेन । प्र-पणम् । चरामि । धनेन । देवाः ।
धनम् । इच्छमानः ॥ तस्मिन् । मे । इन्द्रः । रुचिम् । आ ।

५—प्रपणम् । म० ४ । व्यापारम् । चरामि । करोमि । धनेन ।
मूलधनेन । धनम् । सलाभं धनम् । इच्छमानः । कामयमानः । तत् ।
धनम् । मे । मह्यम् । भूयः । द्विवचनविभज्योपदे तरव्यसुनौ । पा० ५ ।
३ । ५७ । इति बहु—ईयसुन् बहोर्लोपो भू च बहोः पा० ६ । ४ । १५८ ।
इति ईलोपो भू च बहोः । बहुतरम् । मा । न । कनीयः । युवाल्पयोः
कन्यतरस्याम् । पा० ६ । ४ । ६४ । इति अल्प-ईयसुन्, कनादेशः । अल्पतरम् ।

अग्ने । म० ३ । सातघ्नः । षण्णु दाने-क भावे । सातं लाभः । हन बधे
गतौ च-किप् । शसि रूपम् । लाभहन्तृन् । लाभनाशकान् । देवान् । विदु
क्रीडास्तुतिमोदमदादिषु, अत्र मदे-अच् । मत्तान् मूर्खान् । हविषा । भक्ष्य
निषेध । विधु गत्याम् । उपसर्गात् सुनोति पा० ८ । ३ । ६५ । इति षण्णम्
निवाराय ॥

दधातु । प्रजा-पतिः । सविता । सोमः । अग्निः ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ—(देवाः) हे व्यवहारकुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रणामम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूँ, (तस्मिन्) उस [धन] में (मे) मुझे (प्रजापतिः) प्रजापालक, (सविता) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्र [सामान शान्त स्वभाव] (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी], (इन्द्रः) बड़ा समर्थ प्रधान पुरुष (रुचिम्) रुचि (आदधातु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम स्वभाव वाले अनुभवी पुरुषों की सम्मति से व्यापार में मन लगाकर लाभ के साथ मूलधन को बढ़ावे ॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतवैश्वानरस्तुमः ।

स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । नमसा । वयम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः ।

सः । नः । प्र-जासु । आत्म-सु । गोषु । प्राणेषु । जागृहि ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ—(होतः) हे दीनशील ! (वैश्वानर) हे सब नरों के हितकारक

६—तस्मिन् । पूर्वोक्ते धने, मे । मह्यम् । इन्द्रः । प्रधानपुरुषः । रुचिम् । रुच दीप्तावभिप्रीती च—कि । अभिप्रीतिम् । आ दधातु । स्थापयतु । दधातु । प्रजापतिः । पुत्रभृत्यादीनां पालकः । सविता । परमैश्वर्यवान् । सोमः । चन्द्रसमानशान्तस्वभावः । अग्निः । म० ३ । अन्यद् यथा म० ५ ॥

७—उप । पूजायाम् । त्वा । त्वाम् । इन्द्रम् । नमसा । नमस्कारेण । वयम् । व्यापारिणः । होतः । हु दाने—तृच् । हे दातः । वैश्वानर । म० १ । १० । ४ । हे सर्वनरहित ! हे सर्वनायक । स्तुमः । प्रशंसामः । सः ।

वा सब के नायक पुरुष ! (वयम्) हम लोग (नमसा) नमस्कार के साथ
(त्वा) तुझको (उप) आदर से (स्तुमः) सराहते हैं । (सः=सः त्वम्)
सो तू (नः) हमारी (प्रजासु) प्रजाओं पर, (आत्मसु) आत्माओं वा शरीरों
पर (गोषु) गौओं पर और (प्राणेषु) प्राणों वा जीवनों पर (जागृहि) जागता
रह ॥ ७ ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग सर्वहितकारी, कर्मकुशल पुरुष को प्रधान बना
कर अपने धनादिकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सटुमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण समिष्टा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा
रिषाम ॥ ८ ॥

विश्वाहा । ते । सदम् । इत् । भरेम् । अश्वाय-इव ।
तिष्ठते । जात-वेदः ॥ रायः । पोषेण । सम् । इषा ।
मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रति-वेशाः । रिषाम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे उत्तम धन वाले पुरुष ! (विश्वाहा=०—हानि)
सब दिनों (ते) तेरे [उद्देश्य के] लिये (इत्) ही (सदम्) समाज को
(भरेम्) भरते रहें, (इव) जैसे (तिष्ठते) धात पर ठहरे हुए (अश्वाय)
घोड़े को [घास अन्नदि भरते हैं] । (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् !
(रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे

सत्वम् । (नः) अस्माकम् । (प्रजासु) पुत्रपौत्रभृत्यादिषु । (आत्मसु) अ०
१ । १८ । ३ । जीवेषु । शरीरेषु । (गोषु) धेनुषु । (प्राणेषु) जीवनेषु । (जागृहि)
बुध्यस्व । सावधानो वर्तस्व ।

८—(विश्वाहा) सर्वाण्यहानि । (ते) तुभ्यम् । (सदम्) षड्गुण्यौ-
अम् । समाजम् । वणिकमुण्डलीम् । (इत्) एव । (भरेम्) भृज्-विधिलिङ् ।
पोषेयम् । (अश्वाय-इव) घोडकाय यथा । (तिष्ठते) धा-शतृ । स्वस्थाने

प्रकार (मदन्तः) आनन्द करते हुये (ते) तेरे (प्रतिवेशाः) सम्मुख रहने वाले हम लोग (मा रिषाम) न दुःखी होंगे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे मार्ग से आये घोड़े को अन्न घासादि से पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सब व्यापारी बड़ी बड़ी वणिक् मंडली बना कर प्रधान पुरुष की शक्ति बढ़ावें, जिससे सब लोग बहुतसा धन और अन्नादि पाकर आनन्द भोगें ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-७ । वसिष्ठर्षिः । १ लिङ्गोक्तदेवताः, २-६ भगः, ७ उषाः ।

१ जगतीछन्दः । २, ३, ५-७ त्रिष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ॥

बुद्धिबर्धनाय प्रभातगीतिः—बुद्धि बढ़ाने के लिये प्रभाती गीत ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रात-
रुश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोम-
मुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥

प्रातः । अग्निम् । प्रातः । इन्द्रम् । हवामहे । प्रातः । मित्रा-
वरुणा । प्रातः । अश्विना ॥ प्रातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः ।

वर्त्तमानाय । (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । जातानि प्रशस्तानि वेदांसि धनानि यस्य स जातवेदाः । तत्संबुद्धौ । (रायः) धनस्य । (पोषेण) बर्धनेन (सम्) सम्यक् । (मदन्तः) मदी हर्षालेपनयोः—शत्रु दृष्टा भवन्तः । (अग्ने) म० ३ । (प्रतिवेशाः) प्रति + विश-घञ् । आसन्नवर्त्तिनः । (मा रिषाम) रिष हिंसायाम् कर्मणि कर्तृप्रयोगः । हिंसिता विनष्टा मा भूम ॥

पतिम् । प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रातः) प्रातःकाल (अग्निम्) [पार्थिव] अग्नि को, (प्रातः) प्रातःकाल (इन्द्रम्) विजुली वा सूर्य को, (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रावरुणा = ०-१) प्राण और अपान को, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विना) कामों में व्याप्ति रखने वाले माता पिता को (हवामहे) हम बुलाते हैं । (प्रातः) प्रातःकाल (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (पूषणम्) पोषण करने वाले (ब्रह्मणः) वेद, ब्रह्माण्ड, अन्न वा धन के (पतिम्) पति, परमेश्वर को, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) ऐश्वर्य कराने वाले वा मथन किये हुये पदार्थ वा आत्मा [अपने बल] वा अमृत [मोक्ष, वा अन्न, दुग्ध, घृतादि] को (उत) और (रुद्रम्) दुःखनाशक वा ज्ञान दाता आचार्य को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रातःकाल [सूर्य निकलने से छः घड़ी पहिले] परमेश्वर का ध्यान करता हुआ, मन्त्र में वर्णित पार्थिव और सौर अग्नि के प्रयोग आदि अन्य आवश्यक कर्मों का विचार करके आत्मा को बढ़ाता हुआ अपने कर्तव्य में लगे ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद मण्ड ७ सूक्त ४१ म० १-७ और यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ३४-५० में है ।

१—(प्रातः) प्रातस्तेरन् । उ० ५ । ५६ । इति प्र + अत सातत्यमगने-अरन् । सूर्योदयादधिप्रभुहस्तकाले । प्रभातकाले । (अग्निम्) पार्थिवाग्निम् । (इन्द्रम्) विद्युत् सूर्य वा । (हवामहे) आह्वयामः । (मित्रावरुणा) अ० १ । २० । ३ । प्राणपानौ । (अश्विना अ० २ । २६ । ६ । अश्वो व्याप्तिः—इति । कार्येषु व्याप्तिमग्नौ मातापितरौ । (भगम्) अ० १ । १४ । १ । भगो धनम्, ततो अर्थ-आद्यच् । ऐश्वर्यवन्तम् । (पूषणम्) अ० १ । ६ । १ । सर्वपोषकम् । (ब्रह्मणः) अ० १ । ८ । ४ । वदेस्य । ब्रह्माण्डस्य । अन्नस्य-निघ० २ । ७ । धनस्य-निघ० २ । १० । (पतिम्) रक्षकम् । स्वामिनम् । (सोमम्) अ० १ । ६ । ३ । प्रसवैश्वर्ययोः, यज्ञा, पुत्र, अभिषे-मन् । सोमः सूर्यः प्रसवनात्..... सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निघ० १४ । १५ । ऐश्वर्यवन्तम् । अभिषुतं मथितम् । आत्मानम् । अमृतम् । (उत) अपि च । (रुद्रम्) अ० २ । २७ । ६ । रुद्र + र । दुःखनाशकं ज्ञानदातारं आचार्यम् ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदिते र्यो विधर्ता ।
 आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं
 भगं भक्षीत्याहं ॥ २ ॥

प्रातः-जितम् । भगम् । उग्रम् । हवामहे । वयम् । पुत्रम् ।
 अदितेः । यः । वि-धर्ता ॥ आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः ।
 चित् । राजा । चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति । आहं ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (प्रातर्जितम्) प्रातः काल में [अन्धकारादि को]
 जीतनेवाले (भगम्) सूर्य [समान] (उग्रम्) तेजस्वी (पुत्रम्) पवित्र, अथवा
 बहुविधिसे रक्षा करनेवाले, अथवा नरक से बचानेवाले [परमेश्वर] को (हवा-
 महे) बुलाते हैं, (यः) जो [परमेश्वर] (अदितेः) प्रकृति वा भूमि का
 (विधर्ता) धारण करनेवाला और (यम्) जिस [परमेश्वर] को (मन्यमानः)
 पूजता हुआ (आध्रः) सब प्रकार धारण योग्य कंगाल, (चित्) भी, और
 (तुरः) शीघ्रकारी बलवान् (चित्) भी, और (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा

२—(प्रातर्जितम्) मत्सूक्ष्म० । पा० ३ । २ । ६१ । इति प्रातर् + जिजये-
 क्तिप्, तुक् । प्रातःकाले जयशीलम् अन्धकारादिकस्य । (भगम्) सूर्यं यथा ।
 (उग्रम्) तेजस्विनम् (हवामहे) म० १ । (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे क् ।
 यद्वा । पुरु यद्वा, पुत्र् + ऋङ् रक्षणे -ङ् । पवित्रं बहुव्रातारं पुतो नरकात् व्रातारं वा
 परमेश्वरम् । (अदितेः) अ० २ । २८ । ४ । प्रकृतेः पृथिव्या वा । (विधर्ता) विविधं धारकः
 पोषकः । (आध्रः) आञ् + धृङ् -क । आधारयितव्यो द्रिद्रः । (चित्) अपि च ।
 (यम्) परमेश्वरम् । (मन्यमानः) मन्यते, अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । अर्चन् ।
 पूजयन् । स्तुवन् । (तुरः) तुर वेगे, इगुपथलक्षणः कः । त्वरमाणः बलवान् । (राजा)
 अ० १ । १८ । २ । ऐश्वर्यवान् पुरुषः । (यम्) या गतौ, यज देवपूजने, वा, यम परि-
 वेषणे -ङ् । यशः । कीर्तिम् । (भगम्) धनम्, निघ० २ । १० । (भक्षि) भज
 सेवायाम्, आत्मनेपदस्य आशीर्लिङि उत्तमैकवचने छान्दसं रूपम् । अहं भक्षीय ।

(चित्) भी (इति) इस प्रकार (आह) कहता है, “ (यम्) यश और (भगम्) धन को (भक्ति = अहं भक्ष्य) मैं सेवूँ ” ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रातः काल अन्धकार, आलस्यादि मिटाकर जीवों में नयी शक्ति देता है, ऐसेही सब छोटे बड़े जीव और पृथिवी आदि लोक भी परमात्मा की शक्ति से अपनी २ शक्ति बढ़ाते हैं, उसी का धन्यवाद हम सब गिता पुत्रादि मिलकर गावें ॥ २ ॥

(हवामहे) के स्थान पर ऋग्वेद और यजुर्वेद में [हुवेम] पद है ॥

भग॒ प्रणे॑तुर्भग॒ सत्य॑राधो भग॒मां धिय॑मुद॒वा द॑दन्नः ।
भग॒ प्रणो॑जनय॒ गोभि॑रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑न् व॒न्तः॑स्याम॥३॥
भग॑ । प्र-ने॑तः । भग॑ । सत्य॑-राधः । भग॑ । इ॒माम् धि॑यम् । उ॒त् ।
अ॒व । द॑दत् । नः॥ भग॑ । प्र । नः॥ ज॒न॒य । गोभिः॑ । अश्वैः॑ ।
भग॑ । प्र । नृ-भिः॑ । नृ-व॒न्तः॑ । स्या॒म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भग) हे भगवान् ! (प्रणेतः) हे बड़े नेता ! (भग) हे सेवनीय ! (सत्यराधः) हे सत्य धनी ! (भग) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इमाम्) इस [वेदोक्त] (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देता हुआ तू (नः) हमारी (उ॒त्) उत्तमता से (अव) रक्षाकर । (भग) हे ज्योतिःस्वरूप ! (नः) हम को (गोभिः) गौओं से और (अश्वैः) घोड़ों से (प्र जनय) अच्छे प्रकार

सेवेय । (इति) अनेन प्रकारेण । (आह) ब्रूय् व्यक्तायां वाचि—कृत् । अवीति । प्रार्थयते, आधादीनां प्रत्येकम् ॥

३—(भग) भज भागे सेवायां च—वज् । हे विमाजक । सेवनीय । ऐश्वर्य-धन् । ज्ञानस्वरूप । प्रकाशस्वरूप । शिव । आदिकारण । (प्रणेतः) खीज् प्राणणे तुच् । हे प्रकृष्टनायक । (सत्यराधः) राध संसिद्धौ—असुन् । राध इति धन-नाम राधनुबल्येनेन—निद० ४ । ४ । सत्यानि अनश्वराणि राधांसि धनानि यस्य स सत्यराधाः । तत्सम्बुद्धौ । (इमाम् । धियम्) प्रज्ञाम् । (उ॒त्-अव) उत्तमतया रक्ष, सफलं कुरु । (ददत्) ददाज्—शतृ । प्रयच्छन् । (नः)

बद्धा । (भग) हे शिव (नृभिः) नेता पुरुषों के साथ हम (नृवन्तः) नेता पुरुषों वाले होकर (प्र स्याम) समर्थ होवें ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषों को अपनाते हैं, वे संसार में उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्य-वान् होते हैं ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अ-
हाम् । उतोदिती मघवन्तसूर्यस्य वयं देवानां सुमती
स्याम ॥ ४ ॥

उत । इदानीम् । भग-वन्तः । स्याम । उत । प्र-पित्वे ।
उत । मध्ये । अहाम् ॥ उत । उत्-इती । मघ-वन् । सूर्यस्य ।
वयम् । देवानाम् । सु-मती । स्याम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (इदानीम्) इस समय (उत उत) और भी (अहाम्) दिनों के (मध्ये) मध्य (प्रपित्वे) पाये हुये [ऐश्वर्य] में हम (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें । (उत) और (मघवन्) हे

अस्मान् । (प्र जनय) प्रादुर्भावय । प्रवर्धय । (गोभिः) धेनुभिः (अश्वैः)
अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गैः । (नृभिः) नयतेर्ङिच्च । उ० २ । १०० । इति ऋग्-
प्रापणे—ऋ प्रत्ययः, डित्वाट्, टिलोपः । नेतृभिः । वीरैः । (नृवन्तः) प्रशस्तशूरा-
पेताः । (प्र स्याम) प्रभवेम ॥

-(उत) समुच्चये । (इदानीम्) इदम्-दानीम् । इदम् इश् । पा० ५ । ३ ।
३ । दानीं च । पा० ५ । ३ । १६ । इति वर्तमाने दानीम् । अस्मिन् काले । (भग-
वन्तः) सकलैश्वर्ययुक्ताः । (स्याम) भवेम । (उत, उत) नित्यधीप्सयोः । पा०
८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अपि च । (प्रपित्वे) अःयेभ्योऽपि ह्रस्वन्ते । उ०
४ । १०५ । प्र + आप्लु व्यासौ-इत्वन्, आकार लोपः । प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य

महाधनी ईश्वर ! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में (देवानाम्) विद्वानों की (समती) सुमति में (वयम्) हम (स्याम) रहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मन्त्र ३ के अनुसार पाये हुये ऐश्वर्य को हम अब और आगे भी बढ़ावें, और जैसे सूर्य के उदय में प्रकाश बढ़ता जाता है वैसे ही देवताओं के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करें ॥ ४ ॥

(उदितौ) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में [उदिता] है ।

भगं एव भगवाँ अस्तु देवस्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरेता
भवेह ॥ ५ ॥

भगः । एव । भगवान् । अस्तु । देवः । तेन । वयम् । भग-
वन्तः । स्याम ॥ तम् । त्वा । भग । सर्वः । इत् । जोहवी-
मि । सः । नः । भग । पुरः-एता । भव । इह ॥ ५ ॥

भाषार्थ—“(भगः) सेवनीय (देवः) विद्वान् विजयी पुरुष (एव) ही (भगवान्) भगवान् [भाग्यवान्, बड़े ऐश्वर्य वाला] (अस्तु) होवे”-(तेन) इसी [कारण] से (वयम्) हम (भगवन्तः) भाग्यवान् (स्याम) होवें । (तम् त्वा) उस तुझ को, (भग) हे ईश्वर ! (सर्वः=सर्वः अहम्) मैं सब

प्रपित्वे प्राप्ते—निरु० ३ । २० । प्राप्ते सौभाग्ये । (अहाम् मध्ये) दिनानां । मध्ये । भविष्यत्काले । (उदितौ) उद् + इण् गतौ—क्तिन् । उदये । उद्गमने । (भगवान्) अ० २ । ५ । ७ । महि बृद्धौ, दाने च-वज्रर्थे क, मतुप् । मद्यमिति धन नाम-धेयं महंतेर्दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । हे प्रशस्तधनवान् । (सूर्यस्य) आवित्यस्व । (देवानाम्) आप्तबिदुषाम् । (सुसुती) कल्याण्यां बुद्धौ ॥

५—(भगः) सेवनीयः श्रेष्ठः पुरुषः । (भगवान्) ऐश्वर्यवान् । (देवः) विद्वान् । विजयी । (तेन) तेन कारणेन । (तम्) तादृशम् । (सर्वः) सर्वः

(इत्) ही (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ । (सः=सः त्वम्) सो तू, (भग) हे शिव ! (इह) यहां पर (नः) हमारा (पुरपता) अगुआ (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—“सुकर्मी पुरुषार्थी पुरुषही भाग्यवान् होवें,” यह ईश्वर आज्ञा है, इस से सब लोग धार्मिक पुरुषार्थी होकर भाग्यवान् बनें । ईश्वर ही अपने ध्यानी आज्ञा पालकों का मार्गदर्शक होता है ॥ ५ ॥

(देवः, जोहवीमि) के स्थान पर अग्रे और यजुर्वेद में [देवा, जोहवीति] पढ़ें ॥

सम'ध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावैव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाशवा वाजिन
आ वहन्तु ॥ ६ ॥

सम् । अध्वराय । उषसः । नमन्त । दधिक्राव-इव । शुचये
पदाय ॥ अर्वाचीनम् वसु-विदम् । भगम् । मे । रथम्-
इव । अशवाः वाजिनः । आ । वहन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उषसः) उषायें [प्रभात बेलायें] (अध्वराय मार्ग देने के लिये, अथवा हिंसारहित यज्ञ के लिये (सम् नमन्त=०-न्ते) भुक्ती हैं, (दधिकावा इव) जैसे चढ़ाकर चलने वाला, वा हींसने वाला घोड़ा (शुचये)

त्मना सहितोऽहम् । (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (सः) स त्वम् । (पुरपता) अ० ३ । १५ । १ । अग्रगामी । अन्यद् गतं ॥

ई—(अध्वराय) अ० १ । ४ । १ । अध्वन् + रा-क । यद्वा, न + ध्वृ हिंसने-अच् । अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-नि० १ । ८ । मार्गदानाय । अहिंसामयाय व्यवहाराय यज्ञाय । (उषसः) प्रभाताः । (सम् नमन्त) छान्सो-लट् । संनमन्ते । प्रह्वीभवन्ति । (दधिकावा) आह्वगमहनजनः किकिनी लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इति दुधाङ्धारणपोषणयोः-कि, स च लिङ्बत् । इति दधिः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति दधि + क्रमु, पादविलेपे वा क्विआह्वाने, कन्द सातत्यशब्दे-घनिप् । विङ्वनोर्नुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ ।

शुद्ध [अचूक] (पदार्थ) पद रखने के लिये । (वाजिनः) अश्ववान् वा बल-
वान वा ज्ञानवान् (अर्वाचीनम्) नवीन २ और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने
वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (मे) मेरे लिये (आ वहन्तु) लावें (अश्वाः इव)
जैसे घोड़े (रथम्) रथ को [लाते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उपा देवी अन्धकार हटाकर मार्ग खोलती चलती है
अथवा, जैसे बली और बेगवान् घोड़ा अपने अश्वचार वा रथको मार्ग चलकर
ठिकाने पर शीघ्र पहुँचाता है । इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष बड़े बड़े महात्माओं
के सत्सङ्ग और अनुकरण से अपना ऐश्वर्य बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

(मे) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में (नः) पद है ॥

अश्ववतीर्गोमतीर्न उपासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु
भद्राः । घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता युयं पात स्व-
स्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

अश्व'-वती : । गो-मतीः । नः । उषसः । वीर-वतीः । सदम् ।
उच्छन्तु । भद्राः ॥ घृतम् । दुहानाः । विश्वतः । प्र-पीताः ।
युयम् । पात । स्व-स्ति-भिः सदा । नः ॥ ७ ॥

इत्याक्षम् । दधिकावा = अश्वः—निघ० १ । १४ । दधत् कामतीति वा दधत्
क्रन्वतीति वा दधद्वाकारी भवतीति वा—निरु० २ । २७ । दधिः, धारयिता
सर् कामतीति वा क्रन्वतीति वा दधिकावा । दधिकाः । अश्वः । (शुचये)
शुद्धाय । प्रमादशून्याय । (पदार्थ) गमनाय । (अर्वाचीनम्) अर्वाच्—त ।
इदानीन्तनम् । नूननम् । (वसुविदम्) इगुपध० पा० ३१ । १३५ । इति वसु + विद
लाभे-क । धनानां लाभकं प्रापकम् । (भगम्) ऐश्वर्यम् । (मे) मह्यम् । (रथ-
मिव) हनिकुविनीरमिकाशिष्यः कथन् । उ० २ । २ । इति रमु क्रीडने-कथन् ।
यानं यथा । (अश्वाः) घोडाः । (वाजिनः) वज गतौ-वज् । वाजः = अश्वम्, निघ०
२ । ७ । बलम्, निघ० २ । ६ । अत इनिठनौ । पा ०५ । २ । ११५ । इति इनि । अश्व-
वन्तः । बलवन्तः । ज्ञानवन्तः । (आ वहन्तु) आगमयन्तु ॥

भाषार्थ—(अश्ववतीः=०-त्यः) उत्तम २ घोड़ों वाली, (गोमतीः) उत्तम २ गौओं वाली, (वीरवतीः) बहुत वीर पुरुषों वाली और (भद्राः) मङ्गल करने वाली (उषासः=उषसः) उषायें (नः सदम्) हमारे समाज पर (उच्छ्रन्तु) चमकती रहें। (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] को (दुहानाः) दुहते हुए और (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीताः) भरे हुये (यूयम्) तुम [वीर पुरुषो !] (स्वस्तिभिः) अनेक सुखों से (सदा) सदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके अपने घरों को घोड़ों, गौओं और वीर पुरुषों से भरे रखें, और सब मिलकर तत्त्व ग्रहण करके सदा परस्पर रक्षा करें ॥ ७ ॥

(यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः) यह पाद प्रायः ऋग्वेद मण्डल ७ के सब सूक्तों के अन्त में है ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—८ ॥ कृषीबला देवताः । १ गायत्री; २, ५, ८ त्रिष्टुप्, ३ पङ्क्तिः, ४, ६, ८ अनुष्टुप्; ७ पुर उष्णिक्छन्दः ॥

कृषि विद्योपदेशः—खेती की विद्या का उपदेश ॥

७—(अश्ववतीः) प्रशस्ताश्ववत्यः । (गोमतीः) प्रशस्तगोमत्यः । (नः) अस्माकम् । (उषासः) उषसः । प्रपीताः । (वीरवतीः) बहुवीरवत्यः । (सदम्) पद्वत् गती-अच् । कालाध्वनोरत्यत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । समाजं प्रति । (उच्छ्रन्तु) उच्छ्री समाप्तौ, अकर्मकः । अत्र दीप्ती । समाप्ता व्युष्टाः प्रदीप्ता भवन्तु । (भद्राः) मङ्गलकारिण्यः । (घृतम्) सारपदार्थम् । (दुहानाः) दुह प्रपूरणे-शानच् । प्रपूरयन्तः । (विश्वतः) सर्वतः । (प्रपीताः) प्यायः पी । पा० ६ । १ । २८ । इति ओप्यायी वृद्धौ-क्त, पी आदेशः । प्रवृद्धाः । (यूयम्) वीरपुरुषाः । (पात) रक्षत । (स्वस्तिभिः) अनेकसुखैः । (सदा) सर्वस्मिन् काले । (नः) अस्मान् ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयौ युगा वि तन्वते पृथक् ।

धीरा देवेषु सुम्नयौ ॥ १ ॥

सीरा । युञ्जन्ति । कवयः । युगा । वि । तन्वते । पृथक् ॥

धीराः । देवेषु । सुम्नयौ ॥

भाषार्थ—(धीराः) धीर (कवयः) बुद्धिमान् [किसान] लोग (देवेषु)
व्यवहारी पुरुषों पर (सुम्नयौ) सुख पाने [की आशा] में (सीरा=सीराणि)
हलों को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, और (युगा=युगानि) जुगों को (पृथक्)
अलग अलग करके [दोनों ओर] (वि तन्वते) फैलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग खेती करके अन्य पुरुषों को सुख पहुंचाते
और आप सुखी रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर उपकारी होकर
सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

युनक्तु सीरा वि युगा तनोत कृते योतौ वपते ह

१—(सीरा) श्रुतिविमीनां दीर्घश्च । उ० २ । २५ । इति विज् बन्धने-
कन् । दीर्घश्च । सीराणि लाङ्गलानि । (युञ्जन्ति) योजयन्ति कर्णार्थम् ।
(कवयः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । कुशलाः कृषीबलाः । (युगा) उञ्झा-
दीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज संयमे, युतौ-घञ् । अगुणत्वं निपात-
नात् । युगानि । रथहस्तादेरङ्गभेदान् । (वि तन्वते) प्रसारयन्ति । (पृथक्)
प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ क्यतौ-अजि । भिन्नभिन्नो
स्कन्धदेशे । (धीराः) अ० २ । ३५ । ३ । ध्यानवन्तः । (देवेषु) विद्वत्सु ।
व्यवहारिषु पुरुषेषु । (सुम्नयौ) रास्ना सास्ना० । उ० ३ । १५ । इति सु + म्ना
अभ्यासे, वा मा माने-नप्रत्ययः । निपातनात् सिद्धिः । सुम्नं सुखम्-निघ०
३ । ६ । मृगन्वादिप्रत्ययः । उ० १ । ३७ । इति सुम्न + या गतौ प्रापणे च भावे
कृ । सुखस्य गतौ प्राप्तौ प्रापणे वा ॥

योग्य और (प्रफर्ष्यम्) शीघ्र गति वाले (रथवाहनम्) रथयान [गाड़ी] को (उत्) उत्तमता से (वपतु) उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तम साधनों से खेती में अधिक धान्य उत्पन्न होता है, उस से राज्य की और अश्व, बैल आदि की वृद्धि से राजा और प्रजा सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ शब्द भेद से यजुर्वेद १२।७१ में हैं ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पुषाभि रक्षतु ।

सा नुः पर्यस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥ ।

इन्द्रः । सीताम् । नि । गृह्णातु । ताम् । पुषा । अभि । रक्षतु ।
सा । नुः । पर्यस्वती । दुहाम् । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) भूमि जोतेते वाला (सीताम्) हल की रेखा [जुती धरती] को (नि) नीचे (गृह्णातु) दबावे, (पूषा) पोषण करनेवाला [किसान] (ताम्) उस [जुती धरती] की (रक्षतु) रक्षवाली करे । (सा)

रित्सरि० । उ० १ । ७ । इति त्सर छद्मगतौ, कौटिल्ये-उ, त्सरः, मुष्टिः । तेन सह सत्सर । सोमं च सत्सर च सोमत्सर । रज्ज्वादिकेन मुष्टिना च सहितम् । (उत्) उत्तमतया । (इत) एव । (वपतु) डुबप बीजसन्ताने, उत्पादयतु । (गाम्) भूमिम् । (अविम) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति अत्र रक्षादिषु-इन् । रक्षिकाम् । (प्रस्थावत्) प्रस्थानस्य, विजिगीषोः प्रायाणस्य योग्यम्, (रथवाहनम्) वह णिच्-ल्युट् । रथयानम्, (पीथरीम्) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति प्यैङ् वृद्धौ-क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीवरेफौ । वृद्धिशोभाम् (प्रफर्ष्यम्) फर्षं गतौ-अच् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । शाघ्रगमनयोग्यम् । फर्षतिर्गतिकर्मा-इति महीधरः, य० १२ । ७१ । प्रफर्ष्यम्, प्रफर्वितुं नमयितुं योग्यम् इति-तत्रैव दयानन्दभाष्ये ॥

४—(इन्द्रः) अजुन्द्राप्रवज्ज० । उ० २ । २८ । इति इरा + दृ विदारणे रक् । इद्र इरां दृशातीति वा०-निर० १० । ८ । इराया भूमेर्विदारकः कर्षकः । (सीताम्)

वह (पयस्वती) पानी से भरी [जुती धरती] (नः) हमको (उत्तराम्—उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल क्रिया से (दुहाम्) भरती रहे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—किसान बीज बोने के पीछे जुती धरती को पटेले से खौरस कर-
के रक्षा करे और यथा समय पानी देता रहे जिससे खेतों में ठीक ठीक उपज
होवे ॥ ४ ॥

यह मंत्र कुछ भेद से ऋ० ४।५७।७ में है। और इसका उत्तरार्ध
अ० ३।१०।१। में आचुका है है ॥ ४ ॥

शुनं सु'फला वि तु'दन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु'
यन्तु ब्राहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्प-
ला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम् । सु-फालाः । वि । तुदन्तु । भूमिम् । शुनम् । की-
नाशाः । अनु' । यन्तु । ब्राहान् ॥ शुनासीरा । हविषा ।
तोशमाना । सु-पिप्पलाः । ओषधीः । कर्तुम् । अस्मै ॥५॥

भाषार्थ—(सुफालाः) सुन्दर फाले (शुनम्) सुख से (भूमिम्) भूमि
को (वि तुदन्तु) जोतें । (कीनाशाः) क्लेश सहने वाले किसान (ब्राहान्अनु)
बैलादि वाहनों के पीछे पीछे (शुनम्) सुखसे (यन्तु) चलें । (हविषा) जल
से (तोशमाना=तोषमानौ) सन्तुष्ट करने वाले (शुनासीरा=० रौ) हे पवन

दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ६० । इति बिज् बन्धे-क । क्षत्रे हलेन कृता रेखा ।
कर्षितभूमिरित्यर्थः । (नि) नीचैः । (गृहणात्) सम्पादयतु । (पूषा) पोषकः
कृषीबलः । (अभि) सर्वतः । (रक्षतु) पालयतु । (पयस्वती) उदकवती सती ।
(नः) अस्मान् । (दुहाम्) द्विकर्मकः । दुग्धाम् । प्रपूरयतु । (उत्तराम्—उत्त-
राम्) अतिशयेनोत्कृष्टाम् । (समाम्) अ० ३ । १० । १ । समक्रियाम् । अनु-
कूलक्रियाम् ॥

५—(शुनम्) सुखेन । (सुफालाः) फल भेदने-घञ् । फल्यते विद्ययते
भूमिरनेन । शोभनाः फला साक्ष्यबौद्धभेदाः । (वि तुदन्तु) तुद व्यथने । वि-

और सूर्य तुम दानो ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (सुपिप्पलाः) सुन्दर फल
वाला (औषधीः) जौ, चावल आदि औषधियां (वर्तम्) करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर किसान लोग उत्तम कृषिशस्त्रों, उत्तम बैल आदिकों, और
पानी आदि की सुधि रखने से उत्तम अन्नादि पदार्थ उत्पन्न करते हैं, इसीप्रकार
विद्वान् लोग विद्याबल से अनेक शिल्पों का अविष्कार करके संसार को सुख
पहुँचाते और आप सुख भोगते हैं ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुल्लु भेद से ऋ० ४।५७। = और य० १२।६६ में है ॥

यजुर्वेद अ० २२। म० २२ में वर्णन है ।

निक्रामे निक्रामे नः पर्जन्यो' वर्षतु फलवत्यो न ओ-
पयः पच्यन्ताम् ॥

कामना के अनुसार ही हमारे लिये मेह बरसे, हमारे लिये उत्तम फलवाली
जौ आदि औषधें पके ॥

दारयन्तु । विरुषन्तु । (भूमिम्) पृथिवीम् । (कीनाशाः) क्लेशोरीचोपधायाः
कन् लोपश्च लो न.म् च । उ० ५।५६। इति क्लिशू विबाधने, बधे वा—कन् ,
उपधाया इत्वं ललो गो नामागमश्च । क्लेशसहनशालाः । वर्षकाः । (अनु) अ-
नुसृत्य । (यन्तु) गच्छन्तु । (वाहान्) वहनशालान् बलीवर्दादीन् । (शुनासाग)
इमुपव्रजा० । पा० ३।१।१३५। इति शुन गतौ—क । कृ शृपृकटि पटि० । उ० ४।
३०। इति सुगतौ—ईरन्, टि लोपः । शुनश्च सारश्च । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६।३।
२६। इति पूर्वपदद्वन्द्वः । शुनासीरौ शुनो वायुः शु पत्यन्तरिक्षे सार आदित्यः
सरणात् । निरु० ६।४०। हे वाय्वादित्यौ । (हविषा) अ० १।४।३ । उद-
केन, निघ० १।१२। (तोषमाना) यस्य शः । तोषमानौ । सन्तोषकौ । (सु-
पिप्पलाः) कलस्तृपश्च । उ० १।१०४। इति पृ पास्तनपूरणयोः—कलप्रत्ययः ।
पृषोदरादित्वात् साधुः । पिप्पलम्, उदकम्—निघ० १।१२। पिप्पलं पास्तकं
फलम्—इति सायणः—ऋग्वेदभाष्ये म० १।१६४। २२ । शोभनफलोपेताः ।
(औषधीः) अ० १।२३।१ । ब्रीहियवाद्याः । (वर्तम्) युवां कुरुतम् । (अस्मै)
उद्योगिने पुरुषाय ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रा मुदिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।

शुनम् । वरत्राः । बध्यन्ताम् । शुनम् । अष्ट्राम् । उत् । इङ्गया ।

भाषार्थ—(वाहाः) बैल आदि पशु (शुनम्) सुख से रहें । (नरः) हांकने वाले किसान (शुनम्) सुख से रहें । (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुख से (कृषतु) जोते । (वरत्राः) हल की रस्सियां (शुनम्) सुख से (बध्यन्ताम्) बांधी जावें । (अष्ट्राम्) पैना [आर वा कांटे] को (शुनम्) सुख से (उत् इङ्गय) ऊपर चला ॥ ६ ॥

भाषार्थ—किसान लोग सब सामग्री उत्तम रीति से बनाकर रखने से अपने सब काम सुख से चलावें ॥ ६ ॥

मन्त्र ६-८ कुछ भेद से आ० ४ । ५७ । ४-६ में है ।

शुनासीरुह स्म मे जुषेयाम् ।

यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेयाम् ॥ यत् । दिवि ।

चक्रथुः । पयः । तेन । इमास् । उप । सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

६—(शुनम्) सुखेन । (वाहाः) वृषभादयः । (नरः) आ० ३ । १६ । ३ । जयतीति ना । नेतारः कर्षकाः । (कृषतु) विलिखतु । (लाङ्गलम्) हलम् । (वरत्राः) वृषश्चित् । उ० ३ । १०७ । इति वृष संवरणे-अत्रन् । टाप् । बन्धन-रज्जवः । (बध्यन्ताम्) बद्धा भवन्तु । (अष्ट्राम्) अमिचिमिशसिभ्यः कः । उ० ४ । १६४ । इति अश्वङ् व्याप्तौ-क, टाप् । प्रतोदम् । ताङ्गनीम् । (उत् इङ्गय) उपरि गमय । प्रेरय ॥

भाषार्थ—(शुनासीरा=०-री) हे वायु और सूर्य तुम दोनों ! (इह स्म) यहां पर ही (मे) मेरी [विनय] (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (यत् पयः) जो जल (दिवि) आकाश में (चक्रथुः) तुम दोनों ने बनाया है, (तेन) उस से (इमाम्) इस [भूमि] को (उप सिञ्चतम्) सींचते रहो ॥ ७ ॥

भाषार्थ—पवन और सूर्य के द्वारा पृथिवी का जल आकाश में जाकर फिर पृथिवी पर बरसता है, वह खेती के लिये बहुत उपयोगी होता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से निर० ६।४१। में भी है ।

सीते वन्दामहे त्वावाची सुभगे भव ।

यथा नः सुमना असौ यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

सीते' । वन्दामहे । त्वा । अवाची' । सु-भगे । भव ॥ यथा ।

नः । सु-मनाः । असः । यथा । नः । सु-फला । भुवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सीते) हे जुनी धरती ! [लक्ष्मी । खेती] (त्वा) तेरी (वन्दामहे) हम वन्दना करते हैं, (सुभगे) हे सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्य वाली] (अवाची) हमारे सन्मुख (भव) रह, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे लिये

-(शुनासीरा) म० ५ । हे पवनादित्यौ । (इह स्म) अत्रैव । (जुषे) (थाम्) युवां सेवेथाम् । स्वीकुरुतम् । (दिवि) आकाशे । (चक्रथुः) दुरुज् करणे लिट् । युवां कृतवन्तौ । (पयः) उदकम् । निघ० १ । १२ । (इमाम्) दृश्यमानां भूमिम् । (उप सिञ्चतम्) व्याप्य आग्रीकुरुतम् ॥

८—(सीते) म० ४ । लाङ्गलपञ्चतिरूपा कृषिक्रिया लक्ष्मीः । तत्सम्बुद्धौ । (वन्दामहे) वदि अभिवादनस्तुत्योः । अभिवाद्यामः । स्तुमः । (त्वा) त्वाम् । (अवाची) अवर + अञ्चु गतिपूजनयोः- किन्, जीप् । अवादेशः । निकटस्था । अभिमुखी । (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते । ऐश्वर्यवति । (नः) अस्मभ्यम् । (सु-मनाः) प्रसन्नमनस्का । (असः) जेद् । त्वं स्याः । (सुफला) शीघ्रनफलोपेता । (भुवः) जेद् । त्वं भवेः ॥

(सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से (नः) हमारे लिये (सुफला) सुन्दर फल वाली (भुवः) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जेती को मन लगाकर करके चौकसी रखे जिस से अन्नवान् और धनवान् होकर सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता म-
रुद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृत-
वत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम-अक्ता । विश्वैः । देवैः ।
अनु-मता । मरुत्-भिः ॥ सा । नः । सीते । पयसा । अभि-
आववृत्स्व । ऊर्जस्वती । घृत-वत् । पिन्वमाना ॥ ९ ॥

भावार्थ—(घृतेन) घी से और (मधुना) मधु [शहद] से (समक्ता)
यथाविधि सानी हुई (सीता) जुती धरती (विश्वैः) सब (देवैः) व्यवहार
कुशल (मरुद्भिः) विद्वान् देवताओं करके (अनुमता) अङ्गीकृत है । (सीते)
हे जुती धरती ! (सा) सो (ऊर्जस्वती) बलवती और (घृतवत्) घृतयुक्त
[अन्न आदि] से (पिन्वमाना) सींचती हुई तू (पयसा) दूध के साथ (नः)
हमारे (अभ्याववृत्स्व) सब ओर से सन्मुख वर्तमान हो ॥ ९ ॥

९—(घृतेन) आज्येन । (सीता) म० ४ । कृष्ठा भूमिः । (मधुना) क्षौद्रेण ।
(समक्ता) अञ्जु व्यक्तिभक्षणकान्तिगतिषु-क्त । सम्यक् मिथिता । (विश्वैः)
सर्वैः । (देवैः) दिव्य व्यवहारे-अव् । व्यवहारकुशलैः । (अनुमता) अङ्गीकृता ।
(मरुद्भिः) अ० १ । २० । १ । देवैः । अष्टविम्भिः, निघ० ३ । १८ । (सा) सा त्वम् ।
(नः) अस्मान् (पयसा) कुण्डेन । (अभ्याववृत्स्व) बहुलं कुन्दसि । पा० २ ।
४ । ७६ । इति घृतेः । शमः मधुः । अभित आगत्य वर्तस्य । (ऊर्जस्वती) बल-
वती । (घृतवत्) यथा तथा घृतयुक्तेन अजेन । (पिन्वमाना) पिबि लेखने—
शानच् । आशमनेपद् कुम्भसम् । सिद्धयन्ती । वर्धयन्ती ॥

जिससे (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (संविन्दते) यथा-
वत् पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मविद्या परिश्रम पूर्वक प्राप्त करें। ईश्वर ज्ञान से ही
विज्ञान बढ़कर मिथ्याज्ञान का नाश होकर परम ऐश्वर्य वा मोक्ष मिलता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १० सू० १४५। १-६ है। अजमेर वैदिक
ग्रन्थालय की ऋग्वेदसंहिता, मोहमयी [मुम्बै] की शाकल्यसंहिता, और
ऋग्वेदीय सायणभाष्य में [उपनिषत्सप्तनीबाधनम्] इस सूक्तका देवता लिखा
है, इससे इस सूक्त में ब्रह्मविद्या ही का उपदेश है ॥

उत्तानपण्यं सुभगे देवजूते सहस्वति ।

सपत्नी मे परा नुद पति मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तान-पण्यं । सु-भगे । देव-जूते । सहस्वति ॥ स-पत्नीम् ।

मे । परा । नुद । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत्तानपण्यं) हे विस्तृत पालन वाली । (सुभगे) हे बड़े
ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) हे विद्वानों करके प्राप्त की हुई ! (सहस्वति) हे
बलवती [ब्रह्मविद्या] ! (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को
(परा नुद) दूर हटा दे और (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर

(संविन्दते) सम्यक् लभते । (पतिम्) पातेर्डतिः । उ० ४। ५७। इति पा
रक्षणे डति । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४। ११८। इति पत ऐश्ये-इन् । सर्व
रक्षकम् । ऐश्यवन्तं परमेश्वरम् ॥

२—(उत्तानपण्यं) उत् + तनु विस्तारे - घञ् । धापृथस्यज्यतिभ्यो नः । उ०
३। ६। इति पृ पालनपूरणयोः - न । हे उत्तमतया विस्तृतपालनयुक्ते । (सुभगे)
हे सौभाग्यहेतुभूते । (देवजूते) जु गतौ - क्त । विद्वद्भिः प्राप्ते । (सहस्वति)
हे बलवति ब्रह्मविद्ये । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम् । अविद्याम् । (मे)
मम । (परा नुद) पराङ्मुखी गमय । (पतिम्) म० १ । (केवलम्) वृषादिभ्य-
श्चिच् । उ० १। १०६। इति केवृ सेवने-कलच् । निर्णीतम् । सेवनीयम् ।

भाषार्थ—चतुर किसान युक्ति से बीज में वा धरती में घी और मधु आदि मिलाकर धान्य आदि को पुष्ट और मधुर बनावें, जैसे क्रिया विशेष से, माली लोग आम, दाख, केसर, फूल आदि को उत्तम बनाते और मनुष्य उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० १२ म० ७० में है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-६ ॥ ऋषिः-इन्द्राणी । देवता-उपनिषत्सपत्नीबाधनम् । १-५
अनुष्टुप् ६ पङ्क्तिः ॥

उपनिषत्सपत्नीबाधनोपदेशः—ब्रह्मविद्याकी सपत्नी अविद्या के नाश का उपदेश ॥

ह्रमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।

यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥

ह्रमाम् । खनामि । ओषधिम् । वीरुधाम् । बलवत्-तमाम् ॥

यया । स-पत्नीम् । बाधते । यया । स-विन्दते । पतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वीरुधाम्) उगती हुई लताओं [सृष्टि के पदार्थों] में (ह्रमाम्) इस (बलवत्तमाम्) बड़ी बल वाली (ओषधिम्) रोग नाशक ओषधि [ब्रह्म-विद्या] को (खनामि) मैं खोदता हूँ, (यया) जिस [ओषधि] से [प्राणी] (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (बाधते) हटाता है, और (यया)

१—(ह्रमाम्) प्रत्यक्षाम् । (खनामि) खनु विदारे । खननेन अन्वेषणेन संवादयामि । (ओषधिम्) अ० १ । २३ । १ । रोगनाशिकां ब्रह्मविद्याम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलानां लतारूपानां प्रजानां मध्ये । (बलवत्तमाम्) बलवत्-तमप्, टाप् । अतिशयेन बलवतीम् । (यया) ओषध्या । (सपत्नीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति समान+पत्न्य अधोगतौ-इन् । नित्यं सपत्न्यादिषु । पा० ४ । १ । ३५ । इति ङीप् नकारान्तादेशश्च । समानवातनशीलाम् । ब्रह्मविद्याविरोधिनीम् । अविद्याम् । (बाधते) विहन्ति ।

को (मे) मेरा (केवलम्) सेवनीय (कृधि) कर ॥ २ ॥

भाषार्थ—अनन्यवृत्ति पुरुष ब्रह्मविद्या से अविद्या को हटाकर आनन्द स्वरूप जगदीश्वर को जानकर आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

नहि ते नामं जुग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।

परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

नहि । ते । नामं । जुग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ ॥ पराम् । एव । परा-वतम् । स-पत्नीम् । गमयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे सपत्नी अविद्या] (ते) तेरा (नाम) नाम । (नहि) कभी नहीं (जुग्राह) मैं ने लिया है, (अस्मिन्) इस (पतौ) जगत् पति परमेश्वर में (नो) कभी नहीं (रमसे) तू रमण करती है । (पराम्) बैरिनि, (सपत्नीम्) विरोध डालने वाली [अविद्या] को (परावतम् एव) बहुत दूर ही (गमयामसि) हम पहुँचाते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—विद्वान् लोग अविद्या का मान नहीं करके अविद्या रहित सर्वविद्या-युक्त परमात्मा का ध्यान करते, और अविद्या को हटाकर सत्यज्ञान पाते हैं ॥ ३ ॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।

अधः सुपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

(कृधि) कुरु ॥

३—(नहि) नव । (ते) तव । (नाम) नामन्स्त्रीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति स्ना अभ्यासे-मनिन् । नामधेयम् (जुग्राह) अहं गृहीतवान् । (नो) नैव । (अस्मिन्) प्रसिद्धे । (रमसे) त्वं क्रीडसि । (पतौ) म० १ । छान्दोग्ये चिसंज्ञा । पत्यौ । परमेश्वरे । (पराम्) आदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति पृ पात्ननपूरणयोः—अपादाने अप् । टाप् । शत्रुम् । वेरिणीम् । (पध) अवश्यम् । (परावतम्) अ० ३ । ४ । ५ । दूरदेशगतम् । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम् । (गमयामसि) गमयामः । प्रापयामः ॥

उत्-तरा । अहम् । उत्-तरे । उत्-तरा । इत् । उत्-तराभ्यः ॥
अधः । सु-पत्नी^१ । या । मम । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥४॥

भाषार्थ—(उत्तरे) हे अति उत्तम [ब्रह्मविद्या] (अहम्) मैं [प्रजा]
(उत्तरा) अधिक उत्तम [भूयासम्=होजाऊं], (उत्तराभ्यः) अन्य उत्तम
[पशुआदि प्रजाओं] से (इत्) तौ (उत्तरा) अधिक उत्तम [प्रजा अस्मि=
प्रजा हूं] । (मम) मेरी (या) जो (अधरा) नीच (सपत्नी) विरोधिनी
[अविद्या है], (सा) वह (अधराभ्यः) नीच [विपत्तियों] से (अधः)
नीची है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पशु आदि प्राणियों से उत्तम है, इससे वह सब
उत्तम विद्याओं में परम उत्तम, ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट होवे, और सब
विपत्तियों वा क्लेशों के मूल अविद्या को निकालता रहे ॥ ४ ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—योग दर्शन पाद २ सू० ३, ४ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ १ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनूविच्छिन्नोदाराणाम् ॥२॥

१—(अविद्या) मिथ्याज्ञान, २—(अस्मिता) अहंकार, ३—(राग) राग,
वा तृष्णा, ४—(द्वेष) द्वेष वा घृणा, और ५—(अभिनिवेश) शरीर से प्रीति वा
मरण से भय, यह पांच क्लेश हैं ॥१॥

अविद्या पिछले चार [अस्मिता आदि] का जेत है, चाहे वे १—सोते हुये
२—सूक्ष्म, ३—बुधे हुये, वा ४—फैले हुये हों ॥

४—(उत्तरा) उत्कृष्टतरा । (अहम्) मनुष्यरूपा प्रजा । (उत्तरे) हे
उत्कृष्टतरे ब्रह्मविद्ये । (उत्तराभ्यः) अन्यपशवादिप्रजाभ्य उत्कृष्टतराभ्यः ।
(अधः) अधस्तात् । (सपत्नी) म० १ । विरोधिनी । अविद्या । (अधरा)
अन्यनिकृष्टाभ्यो विपत्तिभ्यः ॥

अ॒हम॑स्मि॒ सह॑मानाथो त्वम॑सि सा॒सुहिः॑ ।

उ॒मे सह॑स्वती भू॒त्वा स॒पत्नी॑ मे सहा॒वहै ॥ ५ ॥

अ॒हम् । अ॒स्मि । सह॑माना । अ॒थो इति॑ । त्वम् । अ॒सि । स॒-
सु॒हिः ॥ उ॒मे इति॑ । सह॑स्वती इति॑ । भू॒त्वा । स॒-पत्नी॑म् ।
मे । स॒हाव॑है ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्या] (अहम्) मैं (सहमाना) जयशील [प्रजा]
(अस्मि) हूँ, (अथो) और (त्वम्) तू भी (सासहिः=ससहिः) जयशील
(असि) है । (उमे) दोनों हम [तू और मैं] (सहस्वती=०-त्यौ) जयशील
(भूत्वा) होकर (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (सहा-
वहै) जीत लें ॥ ५ ॥

भावार्थ—योगी जन ब्रह्मविद्या में एकवृत्ति होकर अविद्या को जीतकर
आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

अ॒भि ते॑ऽध्वां सह॑मानामुप॑ ते॑ऽध्वां सही॑यसीम् । माम॒नु
प्र॒ते मनो॑ वृत्सं गौरि॑व धावतु॒ प॒था वारि॑व धावतु॥६॥

अ॒भि । ते॒ । अ॒ध्वाम् । सह॑मानाम् । उप॑ । ते॒ । अ॒ध्वाम् ।
सही॑यसीम् । माम् । अनु॑ । प्र॒ । ते॒ । मनः॑ । वृ॒त्सम् । गौः-
इ॒व । धा॒वतु॒ । प॒था । वाः-इ॒व । धा॒वतु॒ ॥ ६ ॥

५—(सहमाना) वह अभिभवे—शानच् । अभिभवित्री प्रजा । (अथो) अपि
च । (सासहिः) किंकिनाबुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ ।
२ । १७१ । इति वह अभिभवे—कि, लिङ्वद्भावः । छान्दसो दीर्घः । अभिभवित्री ।
(उमे) त्वं च अहं च, आवाम् । (सहस्वती) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ ।
इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । अभिभवनघत्यौ । जयशीले । (सपत्नीम्) म०
१ । विरोधिनीम्, अविद्याम् । (सहावहै) वह अभिभवे—लोट् । आवाम्
अभिभवाव ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (ते) तेरे लिये (सहमानाम्) प्रबल [अविद्या] को (अभि=अभिभूय) हराकर (अधाम्) मैंने रक्खा है, और (ते) तेरे लिये (सहीयसीम्) अधिक प्रबल [ब्रह्मविद्या] को (उप) आदर से (अधाम्) मैंने रक्खा है। सो (ते मनः) तेरा मन (माम् अनु) मेरे पीछे पीछे [योगी के स्वरूप में] (प्रधावतु) दौड़ता रहे और (धावतु) दौड़ता रहे, (गौः इव) जैसे गौ (वत्सम्) अपने बछड़े के पीछे, और (वाः इव) जैसे जल (पथा) अपने मार्ग से [दौड़ता है] ॥ ६ ॥

भाषार्थ—योगी वृत्तियों के निरोध से अविद्या को जीतकर स्वरूप अर्थात् अपनी और परमात्मा की शक्ति को जानकर परोपकार में आगे बढ़ता है, जैसे स्वभाव से गौ अपने छोटे बच्चे के पीछे दौड़ती फिरती है और पानी नीचे मार्ग से समुद्र को चला जाता है ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सू० २, ३ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है ॥ १ ॥

तब देखनेवाले के अपने रूप में चित्त का ठहराव होता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—८ ॥ पुरोहितो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पूर्वार्ध-
स्तिष्टुप्, द्वितीयोऽनुष्टुप्, ५ त्रिष्टुप् ६, उद्धर्षन्तां मघवन्

६—(अभि) अभिभूय । जित्वा । (ते) तव हिताय । (अधाम्) दुषाम्
धारणपोषणयोः—लुङ् । अहम् अधार्थम् । (सहमानाम्) म० ५ । प्रबलाम्
अविद्याम् । (उप) पूजायाम् । (सहीयसीम् । सोढृ-ईयसुन् । सोढृतराम् ।
बलवत्तरां ब्रह्मविद्याम् । (माम्) योगिनम् । (अनु) अनुसृत्य । (ते) तव ।
(मनः) चित्तम् । (वत्सम्) । गोशिशुम् । (गौः इव) धेनुर्यथा । (प्रधावतु)
प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छतु । (पथा) मार्गेण । (वार्) अ० ३ । १३ । ३ । जलम् ॥

इति त्रुष्टुप्, पृथग् घोषा इत्यनुष्टुप्, ७ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीय-
स्त्रिष्टुप्, ८ पङ्क्तिः॥

युद्धविद्याया उपदेशः—युद्धविद्या का उपदेश ॥

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं^१ बलम् ।

संशितं क्षत्रम् जरम्स्तु जिष्णुर्येषामस्मिं पुरोहितः ॥१॥

सम्-शि'तम् । मे । इदम् । ब्रह्म । सम्-शि'तम् । वीर्यम् ।
बलम् ॥ सम्-शि'तम् । क्षत्रम् । अजरम् । अस्तु । जिष्णुः ।
येषाम् । अस्मि । पुरः-हि'तः ॥ १ ॥

भषार्थ—(मे) मेरे लिये [इत वीर्यंका] (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान
या अन्न वा धन (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, और
(वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना बल (संशितम्) यथाविधि सिद्ध
किया गया है, (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया हुआ (क्षत्रम्) राज्य (अजरम्)
अटल (अस्तु) होवे, (येषाम्) जिनका मैं (जिष्णुः) विजयी (पुरोहितः)
पुरोहित अर्थात् प्रधान (अस्मि) हूँ ॥ १ ॥

१—(संशितम्) सम्+शो तनूकरणे-क्त । सम्यक् सम्पादितं साधितम् ।
(मे) ममार्थम् । (इदम्) प्रसिद्धम् । (ब्रह्म) प्रवृद्धं वेदज्ञानाम् । अन्नम्,
निघ० २ । ८ । धनम्, निघ० २ । १० । (वीर्यम्) वीर-भावे यत् । वीरता ।
(बलम्) सैन्यम् । (क्षत्रम्) । अ० २ । १५ । ४ । क्षत्रियकुलम् । राज्यम् ।
(अजरम्) जरारहितम् । (जिष्णुः) ग्लाजिस्थश्च गन्तुः । पा० ३ । २ । १३६ ।
इति जि जये-गन्तु । विजयी । (येषाम्) योद्धृणाम् । (पुरोहितः) पुरस्+
दुधाज धारणपोषणयोः—क्त । पूर्वधराबराणामसिः० । पा० ५ । ३ । ३६ । इति
पूर्व-असि, पुर आदेशः । दधातेर्हिः । पा० ७।४।४२ । इति हि । पुरोहितः पुर एनं
दधति होत्राय वृतः कृपायमणोऽन्वध्यायत् । निघ० २ । १२ । पूर्वम् अग्ने कर्मसु
धीयते, आरोप्यते यः । प्रधानः । अमसरः ॥

भाषार्थ—सेनापति राजा विद्या, अथ, और धन आदि की यथावत् वृद्धि करके अपने वीरों और सेना का उत्साह बढ़ाता रहे, जिससे राज्य चिर-स्थायी हो ॥ १ ॥

सम॒हमे॒षां रा॒ष्ट्रं स्या॑मि॒ समोजो॑ वी॒र्यं॑ । बलं॑म् ।

वृ॒श्चामि॑ शत्रू॒णां बा॒हून्नेन॑ ह॒विषा॑हम् ॥ २ ॥

सम् । अ॒हम् । ए॒षाम् । रा॒ष्ट्रम् । स्या॑मि । सम् । ओ॒जः । वी॒र्यम् । बलं॑म् ॥ वृ॒श्चामि॑ । शत्रू॒णाम् । बा॒हून् । अ॒नेन॑ । ह॒विषा॑ । अ॒हम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [अपने वीरों] के (राष्ट्रम्) राज्य, (ओजः) शारीरिक बल, (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल को (सम्) भले प्रकार (संस्यामि) जोड़ता हूँ । (अहम्) मैं (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (अनेन) इस (हविषा) अथवा आवाहक से (वृश्चामि) काटता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—राजा सत्कारपूर्वक अपने वीरों को, सामाजिक शारीरिक और (हविषा) आर्थिक दश के सुधार से, सन्तुष्ट रखकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

नीचैः प॒दन्ता॑मधरे भवन्तु ये नः सु॒रिं म॒घवा॑नं पृ॒तुन्यान् ।
क्षि॒णामि॑ ब्र॒ह्मणा॑मि॒त्रानु॑न्म॒यामि॑ स्वा॒नुह॑म् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् प्रकारेण । (अहम्) पुरोहितः । राजा । (एषाम्) स्ववीराणाम् । (राष्ट्रम्) अ० ३ । ४ । १ । राज्यम् । (संस्यामि) यो अन्त-कर्मणि । सम् + यो संयोजने । संयोजयामि । वर्धयामि । दृढीकरोमि । (ओजः) अ० १ । १२ । १ । शारीरिकबलम् । (वीर्यम्) वीरताम् । (बलम्) सैन्यम् । (वृश्चामि) ओजश्चू छेदने । क्षिणामि । (बाहून्) भुजान् । पराक्रमान् । (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । अनेन आवाहनेन ॥

नीचैः । पद्यन्ताम् । अधरे । भवन्तु । ये । नः । सूरिम् ।
मघवानम् । पृतन्यान् ॥ क्षिणामि । ब्रह्मणा । अमित्रान् ।
उत् । नयामि । स्वान् । अहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वे [शत्रु] (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरें और (अधरे)
नीचे (भवन्तु) रहें, (ये) जो (नः) हमारे (मघवानम्) धनी (सूरिम्)
सूरमा राजा पर (पृतन्यान्) सेना चढ़ावें । •

(अहम्) मैं (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि)
मारे डालता हूं, और (स्वान्) अपने लोगों को (उन्नयामि) ऊंचा करता हूं ॥३॥

भावार्थ—सैनिक लोग ललकार कर बैरियों पर धावा करके मार गिरावें
और राजा उन अपने वीरों को ऊंची २ पदवी देवे ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥४॥

तीक्ष्णीयांसः । परशोः । अग्नेः । तीक्ष्ण-तराः । उत ॥ इन्द्रस्य ।
वज्रात् । तीक्ष्णीयांसः । येषाम् । अस्मि । पुरो-हितः ॥ ४ ॥

३—(नीचैः) अवाङ्मुखाः । (पद्यन्ताम्) पतन्तु । (अधरे) निकृष्टाः ।
पादाक्रान्ताः । (नः) अस्माकम् । (सूरिम्) सूडः क्रिः । उ० ४ । ६४ । इति
षूङ् प्रसवे, वा षू प्रेरणे—क्रि । सूते अर्थान् । सुवति शत्रून् । शूरम् । राजानम् ।
परिडितम् । (मघवानम्) मघम्=धनम् । निघ० २ । १० । मत्वर्थीयो वनिष् ।
प्रभूतधनवन्तम् । (पृतन्यान्) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ इति पृतना—
क्यच् । क्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि पृतना-
शब्दस्य अन्त्यलोपः । लेटि आडागमः । पृतन्यन्तु पृतनां सेनाम् आत्मन
इच्छन्तु । (क्षिणामि) क्षि हिंसायाम् । नाशायामि । (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन ।
शास्त्रबोधेन । (अमित्रान्) अ० १ । १६ । २ । पीडकान् । (उत् नयामि) उन्न-
तान् करोमि । (स्वान्) स्वकीयान् वीरान् । (अहम्) सेनापतिः ॥

भाषार्थ—वै वीर (परशोः) परसे [कुल्हाड़ी] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण, (अग्नेः) अग्नि से (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण (उत) और (इन्द्रस्य) मेघ के (वज्रात्) वज्र [बिजुली] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (येषाम्) जिनका मैं (पुरोहितः) पुरोहित वा मुखिया (अस्मि) हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना का आत्मबल बढ़ावे । आत्मबल से अस्त्र शस्त्र आदि की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।
एषां क्षत्रम्जरमस्तु जिष्ण्वे ३ एषां चित्तं विश्वेऽ
वन्तु देवाः ॥ ५ ॥

एषाम् । अहम् । आयुधा । सम् । स्यामि । एषाम् ।
राष्ट्रम् । सु-वीरम् । वर्धयामि ॥ एषाम् । क्षत्रम् । अजरम् ।
अस्तु । जिष्णु । एषाम् । चित्तम् । विश्वे । अवन्तु । देवाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [वीरों] के (आयुधा=०—नि)

४—(तीक्ष्णीयांसः) तीक्ष्ण-ईयस्यन् । आत्मबले तीक्ष्णतराः । (परशोः) आङ्परशोः क्षनिशूभ्यां ङिङ् । उ० १ । ३३ । इति शृ हंसायाम्-कु, स च ङित् । परान् शत्रून् शृणाति येन । अस्त्रविशेषात् । कुडारात् । (अग्नेः) पावकात् । (तीक्ष्णतराः) तीक्ष्ण-तरप् । निशिततराः । (उत्) अपि च । (इन्द्रस्य) वायुर्वेन्द्रो बान्तरिक्षस्थानः—निद० ७ । ५ । मेघस्य । (वज्रात्) विद्युतः । अन्यद्वगतम्—म० १ ॥

४—(एषाम्) स्ववीराणाम् । (अहम्) पुरोहितः, सेनापतिः । (आयुधा) आङ् + युध संप्रहारे-करणे धनार्थे क । प्रहस्यसाधनानि । वायव्यकुन्तादीनि । (सं स्यामि ।

हथियारों को (सं स्यामि) जोड़ता हूं [वृद्धं कुरुता हूं], (एषाम्) इन के (सुवीरम्) साहसी वीरों वाले (राष्ट्रम्) राज्य को (वर्धयामि) बढ़ाता हूं, (एषाम्) इन का (क्षत्रम्) क्षत्रियपन (अजरम्) अजर [अटल] और (जिष्णु) विजयी (अस्तु) होवे । (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य [विजयी, कमनीय, वा प्रशंसनीय धार्मिक] गुण (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त को (अवन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति अपने योद्धाओं के वास [तोप, तुपक, धनुषादि,] तरवारि, शक्ति, भाले आदि अस्त्र शस्त्र धनुर्वेद की रीति से दृढ़ बनवावे, और प्रसिद्ध वीरों का पद बढ़ाकर उत्साह बढ़ावे ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद्ध वीराणां जयन्तामेतु
घोषः । पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरन्ताम् ।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

उत् । हर्षन्ताम् । मघ-वन् । वाजिनानि । उत् । वीराणां ।
जयन्ताम् । एतु । घोषः ॥ पृथक् । घोषाः । उलुलयः । केतु-
मन्तः । उत् । उदीरन्ताम् ॥ देवाः । इन्द्र-ज्येष्ठाः । मरुतः ।
यन्तु । सेनया ॥ ६ ॥

भावार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी राजन् ! (वाजिनानि) सेना दत्त

राष्ट्रम्) म० २ । (सुवीरम्) शोभनवीरयुक्तम् । (वर्धयामि) समर्थ-
यामि । (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं क्षत्रियत्वम् (अजरम्) जरारहितं सुदृढम् ।
(जिष्णु) म० १ । (चित्तम्) अन्तःकरणम् (विश्वे) सर्वे । (अवन्तु) तृप्त-
यन्तु । (देवाः) दिव्य विजिगीषाकान्तिस्तुत्यादिषु-अच् । दिव्यानि विजयशी-
लानि, काम्यानि, स्तुत्यानि, धार्मिककर्मणि ॥

६—(उत् हर्षन्ताम्) उत्कर्षेण हर्षयुक्तानि भवन्तु । (मघवन्) म० ३ । हे

(उत् हर्षन्ताम्) मनको ऊँचा उठावें और (जयताम्) जीतते हुये (वीराणम्) वीरों का (घोषः) जयजयकार वा सिंहनाद (उत् एतु) ऊँचा उठे।

(उलुलयः) जलाने वालों के जलानेवाले, (केतुमन्तः) ऊँचे झंडा वाले (घोषाः) जयजयकार शब्द (पृथक्) नाना रूप में (उत् ईरताम्) ऊपर चढ़ें।

(इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्र, प्रतापी पुरुष को ज्येष्ठ वा स्वामी रखनेवाले (मरुतः) शूर (देवाः) जय चाहने वाले देवता लोग (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें ॥ ५ ॥

भावार्थ—समस्त सेनादल बड़ी उमंगसे व्यूह बनाकर मानारूपमें मारु बाजे गाजे के साथ “जय जय” करते हुए आगे बढ़ें, और सब दल पति लोग प्रधान सेनापति की आज्ञानुसार अपनी रटुकरी लेकर धावा करें ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १०।१०३।१० और यजुर्वेद १७।४२।में है

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु ब्राह्मवः । तीक्ष्णैषवोऽ-
बलधन्वनो हतो ग्रायुधा अबलानुग्रवाहवः ॥७॥

म । इत । जयत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । ब्राह्मवः ॥

बहुधनवन् । (वाजिनानि) महेरिण् च । उ० २।५६। इति वज गतौ-इनण् । बलानि हस्त्यश्वरथादीनि । वाजः=बलम् । निघ० २।६। (वीराणाम्) शूराणाम् । (जयताम्) जि-शतृ । जयं प्राप्नुवताम् । (उत् एतु) गद्गच्छतु । (घोषः) जयजयकारः । सिंहनादः । (पृथक्) नानारूपे (उलुलयः) उल्ल+उलयः । उल्ल दाहे—विषप् । इगुपधात् कित् । उ० ४।१२०। इति उल्ल दाहे—इन्, स च कित् । इति उलुलिः । उल्लां दाहकानाम् उलयो दाहकाः शत्रुनाशकाः । (केतुमन्तः) पताकायुक्ताः । (उत् ईरताम्) ईर गतौ, अदादिः, उद्गच्छन्तु । (देवाः) विजिगीषवः । (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रः, पेश्वर्यवान् पुरुषो ज्येष्ठः श्रेष्ठो वृद्धो वा स्वामी येषां ते तथाविधाः । (मरुतः) अ० १।२०।१। मारयन्ति वृष्टान् । शूरा देवाः । (यन्तु) गच्छन्तु । (सेनया) स्वस्वसेनया सार्धम् ॥

तीक्ष्ण-इषवः । अ॒बल-ध॒न्वनः । ह॒त । उ॒ग्र-आ॒युधाः अ॒ब-
लान् । उ॒ग्र-बा॒हवः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नरः) हे नरो (प्र हत) धावा करो, (जयत) जीतो । (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) प्रचण्ड [कट्टर] (सन्तु) होवें । (तीक्ष्णेषवः) हे तीखे बाण वाले ! (उग्रायुधाः) हे कट्टर हथियारों वाले (उग्रबाहवः) हे कट्टर भुजाओं वाले वीरो ! (अबलधन्वनः) निर्बल धनुष वाले (अबलान्) निर्बल [शत्रुओं] को (हत) मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ—(प्रेता जयता) पदों में दीर्घता उत्साह के लिये है । सेनापतिकी आज्ञा से सब सैन्यक लोग उमंग के साथ मारू बजाते गाते धावा करके तुच्छ बैरियों को मारें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १० । १०३ । १३ । और यजुर्वेद १७।४६ में है॥

अ॒व॒सृष्टा॑ प॒रा॒प॒त् श॑र॒व्ये॒ ब्र॒ह्म॑ संशिते । ज॒यामि॒त्रान्
प्र प॑द्यस्व जुहो॑षां वर॑वरं मामी॑षां मोचि॑ कश्च॒न॥८॥
अ॒व॒सृष्टा॑ । प॒रा॒ । प॒त् । श॑र॒व्ये॒ । ब्र॒ह्म॑-संशिते ॥ ज॒य॑ । अ॒मि-
त्रा॑न् । प्र । प॒द्यस्व॑ । जु॒हि॒ । ए॒षाम् । वर॑म्-वरम् । मा ।
अ॒मीषा॑म् । मोचि॑ । कः । च॒न ॥ ८ ॥

७—(प्र हत) प्रक्रम्य रणक्षेत्रं गच्छत । (जयत) अभिभवत । उभयत्र बल-वर्धनाय सांहितको दीर्घः । (नरः) अ० ३ । १७ । ६ । हे नेतारः (उग्राः) प्रचण्डाः । (वः) युष्माकम् । (बाहवः) भुजाः । (तीक्ष्णेषवः) निशितबाणाद्यायुधयुक्ताः । (अबलधन्वनः) । निर्बलधनुराद्यायुधोपेतान् । (हत) नाशयत । (उग्रायुधाः) निशिततरवारिशक्याद्यायुधयुक्ताः । (अबलान्) निर्बलान् । (उग्रबाहवः) दृढभुजाः ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मसंशिते) हे ब्रह्माओं, वेदवेत्ताओं से प्रशंसित वा यथावत् तीक्ष्ण की हुई (शरव्ये) वाण विद्यामें चतुर सेना ! (अवस्तृष्टा) छोड़ी हुई तू (परा) पराक्रम के साथ (पत) ऋपट । (अमित्रान्) बैरियों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे बढ़, (एषाम्) इन में से (वरंवरम्) एक एक बड़े वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छोटे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—धर्मज्ञ और युद्ध विद्या में कुशल आचार्यों से शिक्षा पाकर सेना के स्त्री पुरुष सेनापति की आज्ञा पातेही उमंग से धावा करके शत्रुओं को मार गिरावें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद ६ । ७५ । १६ । और यजुर्वेद १७ । ४५ । में है ॥

सूक्तम् २० ।

१-१० ॥ १, २, ५, अग्निर्देवता, अन्यत्र मन्त्रोक्ता देवताः ।

१-५, ७, ८, १० अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः, ८ जगती ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

अयं ते योनिः ऋत्विगो यतो जातो अरोचथाः ।

तं जानन्नग्न् आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्विगः । यतः । जातः । अरोचथाः ॥

८—(अवस्तृष्टा) सृज-क्त । प्रेरिता । (परा) पराक्रमेण । (पत) शीघ्रं गच्छ । (शरव्ये) अ० १ । १६ । १ । शरु—यत् । हे शरौ वाणविद्यायां कुशले सेने । (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मभिर्वेदवेत्तृभिः प्रशंसिते वा सम्यक् शिते तीक्ष्णकीकृते सुशिक्षिते । (एषाम्) शत्रूणां मध्ये । (वरंवरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । प्रत्येकं श्रेष्ठं वीरम् । (अमीषाम्) दूरे दृश्यमानानां वैरिणां मध्ये । (कश्चन) कोऽपि । (मा मोचि) मुच्ल मोक्षे—कर्मणि माङ्गि लुङि रूपम् । मुक्तो मा भूत । अन्यत् सुगमम् ॥

तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्धय । रयिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमे-
श्वर] (ते) तेरा (ऋत्विजः) सब ऋतुओं [कालों] में मिलने वाला (योनिः)
कारण है, (यतः) जिससे (जातः) प्रकट होकर (अरोचथाः) तू प्रकाशमान
हुआ है, (तम्) उस [योनि] को (जानन्) पहिचान कर (आ रोह) ऊंचा
चढ़, (अथ) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (वर्धय) बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से हमें
बड़ा समर्थ और उपकारी मनुष्य देह दिया है। ऐसा जानकर हम अपना
ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३ । २६ । १० । और यजुर्वेद ३ । १४ ॥ १२ ।
५२ । और १५ ॥ ५६ । में है ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते धनुदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रत्यङ् । नः । सु-मनाः ।

भव ॥ प्र । नः । यच्छ । विशाम् । पते । धनु-दाः । असि ।

नः । त्वम् ॥ २ ॥

१—(अयम्) सर्वत्र दृश्यमानः । (ते) तव । (योनिः) अ० १ । ११ । ३ ।
कारणम् । (ऋत्विजः) अस्मिन्नुच नुः । उ० ऋ गतौ-नु, चकारात् कित् । इन्द्रसि
घस् । पा० ५ । १ । १०६ । इति ऋतु शब्दात् तस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् । इयादेशः ।
सर्वेषु ऋतुषु कालेषु प्राप्तः । (यतः) यस्माद् योनेः । (जातः) उत्पन्नः । प्रकटः
सन् । (अरोचथाः) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च लङ् । त्वम् अदीप्यथाः । दीप्तोऽ-
भवः । (तम्) योनिम् । (जानन्) अवगच्छन् । (अग्ने) अग्नि गतौ-नि । हे
विद्वन् । (आ रोह) उन्नतिं प्राप्नुहि । (अथ) अनन्तरम् । (नः) अस्मभ्यम् ।
(वर्धय) समर्धय । (रयिम्) धनम् । ऐश्वर्यम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अच्छ) अच्छे प्रकार से (इह) यहां पर (नः) हम से (वद) बोल, और (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न मन (भव) हो । (विशाम् पते) हे प्रजाओं के रक्षक ! (नः) हमें (प्र यच्छ) दान दे, (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदाः) धन दाता (असि) है ॥ २ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य विद्वानों से विद्या ग्रहण करके संसार में ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ २ ॥

मन्त्र २-७ ऋग्वेद म० १० सू० १४१ म० १, २, ३, ६, ४, ५ कुछ भेद से हैं । यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ । म० २८ में है ॥

प्र णो यच्छत्वय्यमा प्र भगुः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रीत सुनृता रयिं देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

प्र । नः । यच्छतु । अयमा । प्र । भगः । प्र । बृहस्पतिः ।

प्र । देवीः । प्र । उत । सुनृता । रयिम् । देवी । दधातु । मे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयमा) बैरियों का नियन्ता वीर पुरुष, (प्र) अच्छे प्रकार (भगः) ऐश्वर्यवान्, धनी पुरुष (प्र) अच्छे प्रकार, और (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं का स्वामी, प्रधान आचार्य (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमें (देवीः)

२—(अग्ने) हे विद्वान् । (अच्छ) सम्यक् । (वद) ब्रूहि । उपदिश । (इह) अत्र समाजे । (प्रत्यङ्) प्रत्यक्षन् अभिमुखं गच्छन् । (नः) अस्मान् । अस्मभ्यम् । (सुमनाः) प्रीतिमनाः । (प्र यच्छ) दानं कुरु । (विशांपते) हे प्रजानां पालक । (धनदाः) धन + दा-विच् । ऐश्वर्यस्य दाता । अन्यत् सुगमम् ॥

३—(नः) अस्मभ्यम् । (प्र यच्छतु) ददातु । (अयमा) अ० १ । ११ । १ । अ० ३ । १४ । २ । शत्रुनियन्ता । (प्र) प्रकर्षेण । (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः । (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहतां बोधानां पालकः । आचर्यः । (देवीः)

दिव्य शक्तियां (प्र यच्छतु) प्रदान करे । (उत) और (सूनृता) प्रिय सत्य वाणी (देवी) देवी [दिव्य गुण वाली] (मे) मुझे (रयिम्) ऐश्वर्य (प्र) अच्छे प्रकार (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य, विशेष गुणी आचार्यों से विशेष शिक्षाये पाकर, सत्य-वादी सत्यकर्मी होकर ऐश्वर्यवान् हों ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६।२६। में है ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । गीः-भिः । हवामहे ।

आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अवसे) रक्षा के लिये (गीर्भिः) स्तुतियों से (सोमम्) ऐश्वर्य के कारण, (राजानम्) सबके शासक (अग्निम्) विद्वान् (आदित्यम्) बड़े दीप्यमान, (विष्णुम्) सबमें व्यापक, (सूर्यम्) सब के चलाने वाले, (ब्रह्माणम्) सब में बड़े वेद प्रकाशक ब्रह्मा (च) और (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के

व्यावहारिकाः शक्तीः । (सूनृता) अ० ३।१२।२। सत्यप्रियात्मिका वाक् । सरस्वती । (रयिम्) ऐश्वर्यम् । (देवी) शोभनगुणवती । (दधातु) ददातु । (मे) मह्यम् ॥

४—(सोमम्) अ० १।६।२। ऐश्वर्यहेतुम् । (राजानम्) अ० १।१०।१। सर्वशासकम् । (अवसे) रक्षणाय । (अग्निम्) विद्वान्सम् । (गीर्भिः) वाणीभिः । स्तुतिभिः । (हवामहे) आह्वयामः । (आदित्यम्) अ० १।६।१। आदीप्यमानम् । (विष्णुम्) विप्रेः किञ्च । उ० ३।३६ इति विष्ट, व्याप्तौ-नु । विष्णुः, यज्ञः । निघ० ३।१७। पदनाम, निघ० ४।२। यद्विषितो भवति तद्विष्णु-भवति विष्णुर्विशेतेर्वा व्यश्नोतेर्वा—निरु० १२।१८। व्यापकम् । (सूर्यम्) अ० १।३।५। सर्व प्रेरकम् । (ब्रह्माणम्) अ० २।६।२। सर्ववृद्धम् । वेद प्रका-

रक्षक बृहस्पति [परमेश्वर वा मनुष्य] को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य जगदीश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के ज्ञान और बड़े लोगों के आश्रय से अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुत्र भेद से यजुर्वेद ६। २६ में है ॥

त्वं नो^१ अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म^२ यज्ञं^३ च वर्धय ।

त्वं नो देव दात॑वे रुयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अग्नि-भिः । ब्रह्म । यज्ञम् । च । वर्धय ।

त्वम् । नः । देव । दात॑वे । रुयिम् । दानाय । चोदय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् [परमेश्वर वा पुरुष] (अग्निभिः) विद्वानों के द्वारा (त्वम्) तू (नः) हमारे (ब्रह्म) वेद ज्ञान वा ब्रह्मचर्य (च) और (यज्ञम्) यज्ञ [१—विद्वानों के पूजन, २—पदार्थों के संगतिकरण, और ३—विद्यादि के दान] को (वर्धय) बढ़ा, (देव) हे दानशील ! (त्वम्) तू (नः) हम में से (दात॑वे) दानशील पुरुष को (दानाय) दान के लिये (रुयिम्) धन (चोदय) भेज ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वरके ज्ञानसे अपना ज्ञान और कर्मकौशल्य बढ़ावे और उपकारी कामों में आप सहायक बनें और दूसरों को सहायक बनावे ॥ ५ ॥

शकम् । (बृहस्पतिम् । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां पालकम् ॥

५—(नः) अस्माकम् । अस्माकं मध्ये । (अग्ने) हे विद्वन् परमेश्वर राजन् वा (अग्निभिः) म० १ । विद्वद्भिः सह । (ब्रह्म) वेदज्ञानम् । ब्रह्मचर्यम् । (यज्ञम्) देवपूजनम् । पदार्थसंगतिकरणम् । विद्यादिदानम् (वर्धय) उन्नय । (देव) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा—निरु० ७ । १५ । हे दानशील (दात॑वे) सितनिगमिमसि० । उ० १ । ६६ । इति बुद्वाज्-दाने-तुन् । दाने पुरुषाय । (रुयिम्) धनम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) प्रेरय ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवे ह हवामहे ।

यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानका-
मश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । उभौ । इह । सु-हवी । इह । हवामहे ॥ यथा
नः । सर्वः । इत् । जनः । सम्-गत्याम् । सु-मनाः । असत् ।
दान-कामः । च । नः । भुवत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उभौ) दोनों (सुहवा=०—वौ) सुख से बुलाने योग्य
(इन्द्रवायू) सूर्य और पवन [के समान स्त्री पुरुष] को (इह इह) यहाँ पर
ही (हवामहे) हम बुलाते हैं, (यथा) जिससे (सर्वः इत्) सभी (जनः) जने (नः)
हमारी (संगत्याम्) संगति में (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होवें,
(च) और (नः) हमारी (दानकामः) दान के लिये कामना (भुवत्) हावे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके घर में और सभा में परस्पर परो-
पकारी, प्रसन्न चित्त, धार्मिक और धर्मकार्यों में दानशील हों, जैसे सूर्य अपने
प्रकाश और वृष्टि आदि से, और पवन अपने चेष्टादान और शीघ्रगमन आदि
से असंख्यलाभ पहुंचाते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ३३ । ८६ में है ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रवायू) ईदूदेदूद्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति उभौ परे
प्रकृतिभावः । सूर्यपवनसदृशौ स्त्रीपुरुषौ । (उभौ) द्वौ । (इह इह) अस्मिन्नेव
गृहे समाजे वा । (सुहवा) ईषद् दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । सु + ह्वयते—
जलम् । सुहवौ सुखेन ह्वातुं शक्यौ । (हवामहे) आह्वयामः । (यथा) यस्मात् ।
(नः) अस्माकम् । (इत्) एव । (जनः) लोकः । (संगत्याम्) समितौ ।
सभायाम् । (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः । (असत्, भुवत्) लोटि रूपम् । भवेत् ।
(दानकामः,) दानाय कामः, अभिलाषः ॥

अर्यमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोदय ॥ वातम् ।
विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (अर्यमणम्) वैरियों के रोकनेवाले राजा,
(बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के रक्षक गुरु और (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष
और (वातम्) पवन, (विष्णुम्) यज्ञ, (च) और (वाजिनम्) वेग वाले,
वा अश्ववाले, वा बलवाले (सवितारम्) लोकों के चलाने वाले सूर्य से (सर-
स्वतीम्) विज्ञानों के भंडार सरस्वती, वेद विद्या को (दानाय) दान के लिये
(चोदय) प्रवृत्त कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर भक्त (अर्यमा) राजा वा सेनापति, (बृहस्पति) प्रधान
आचार्य और (इन्द्र) दण्डनेता वा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी अपने २ पदों
पर दृढ़ रह कर, पवन, सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि अद्भुत पदार्थों द्वारा वेद
विज्ञान फैलावे ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ म० २७ में है ॥

मनु महाराज ने लिखा है—मनु० अ० १२ श्लो० १०८ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।

सर्वलाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥ १ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापतिके पद, राजा के पद, और बण्ड
दाताके पद और सब लोगोंपर आधिपत्य [चक्रवर्त्ति राज्य]के योग्य होता है ॥१॥

७—(अर्यमणम्) म० ३ । अरिनियन्तारम् । (बृहस्पतिम्) म० । बृहतां
पालकम् । (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) नय ।
प्रवर्त्तय । अस्य धातोः—लीञ् इत्येतेन सह अर्थनिबन्धनायां द्विकर्मकत्वम् । अ-
कथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अर्यमणमादीनां सप्तपदानाम् अपादाने कर्म-
त्वम् । (वातम्) पवनम् । (विष्णुम्) म० ४ । यज्ञम् । (सरस्वतीम्) सरो-
भिर्विज्ञानैर्युक्तां वेदविद्याम् । (सवितारम्) अ० १ । १८ । २ । लोकानां प्रेरकम्
(वाजिनम्) अ० १ । ४ । ४ । वाज—इनि । वेगवन्तम् । अश्ववन्तम् । बलवन्तम् ॥

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमे मा च विश्वा भुवनान्यु-
न्तः । उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नः सर्व-
वीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

वाजस्य । नु । प्र-सवे । सम् । बभूविम् । इमा । च । विश्वा ।
भुवनानि । अन्तः ॥ उत । अदित्सन्तम् । दापयतु । प्र-जानन् ।
रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । नि । यच्छ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) बल के (प्रसवे) उत्पत्ति में (नु) ही (संबभू-
विम्) हम समर्थ हुए हैं, (च) और (इमा=इमानि) यह (विश्वा=विश्वानि)
सब (भुवनानि) लोक (अन्तः) [उसी के] भीतर हैं । (प्रजानन्) ज्ञानवान्
ईश्वर (अदित्सन्तम्) देने की इच्छा न करने वाले से (उत) भी (दापयतु)
दिलावे । (च) और [हे ईश्वर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सर्ववीरों से युक्त
(रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब चराचर जगत् अन्न के आश्रित ठहरा है । सर्वज्ञ परमेश्वर
अदानी पुरुषों को भी सुपात्रों के लिये दान शक्ति देवे, और हमें और हमारे
वीरों को धनी बनावे ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १६ । २५ व २४ में है ॥

८—(वाजस्य) बलस्य । (नु) एव । (प्रसवे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ ।
५७ । इति प्र+भू प्रेरणे, यद्वा, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-अप् । उत्पत्तौ । (संबभू-
विम्) भू सत्तायाम्-लिट् । वयं समर्था बभूविम् । (इमा) इमानि । परिदृश्य-
मानानि । (विश्वा) सर्वाणि । (भुवनानि) अ० २ । १ । ४ । भू-क्युन् । लोकाः
(अन्तः) वाजप्रसवस्य मध्ये वर्तन्ते । (उत) अपि । (अदित्सन्तम्) नञ्+दा,
सन्-शतृ । सनि मीमाधुरभ० । पा० ७ । ४ । ५४ । इति इसादेशः । सः स्वार्थ-
धातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तकारः । दातुमनिच्छन्तम् । (दापयतु)
दानाय प्रवर्तयतु । (प्रजानन्) अवगच्छन् परमेश्वरः । (रयिम्) धनम् ।
(नः) अस्मभ्यम् । (सर्ववीरम्) सर्ववीरोपेतम् (नि) नियमेन । नित्यम् । (यच्छतु)
प्राप्ताभ्यास्थानादाण० पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने दच्छादेशः । ददातु ॥

दुह्रां मे पञ्च' प्रदिशे। दुह्रामुर्वीर्यथाबलम् ।

प्रापेयं सर्वा आकू'तीर्मनसा हृदयेन च ॥ ६ ॥

दुह्राम् । मे । पञ्च' । प्र-दिशः । दुह्राम् । उर्वीः । यथा-
बलम् । प्राप्तापेयम् सर्वाः । आ-कू'तीः । मनसा । हृदयेनाच ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) फैली हुयी [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तमदान क्रि-
यायें [वा प्रधान दिशायें] (मे) मेरे लिये (उर्वीः) फैली हुई शक्तियों को
(यथा बलम्) यथाशक्ति (दुह्राम्) भरती रहें, (दुह्राम्) भरती रहें । (मनसा)
मन [मनन शक्ति] से (च) और (हृदयेन) हृदय [ग्रहण शक्ति] से (सर्वाः)
सब (आकू'तीः) संकल्पों को (प्र, आपेयम्) मैं पाता रहूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि के दान से अपना सामर्थ्य बढ़ावें और
सब दिशाओं से उत्तम गुण प्राप्त करें, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन
[ध्यान देकर विचार] से अपने मनोरथ सिद्ध करें ॥ ६ ॥

८—(दुह्राम् दुह्राम्) दुह्र प्रपूरणे—लोट् । आत्मेनेपदम् । बहुलं छन्दसि ।
पा० १ । ७ । ८ । इति भूप्रत्ययस्य अतो रुडागमः । लोपस्त आत्मेनेपदेषु । पा०
७ । १ । ४१ । इति तलोपः । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् ।
अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । नित्यं दुह्रताम् । प्रपूरयन्तु ।
(पञ्च) अ० १ । ३० । ४ । पञ्च विस्तारे—कतिन् । विस्तृताः । संख्यावाची
वा । (प्रदिशः) अ० १ । ३० । ४ । दिश दाने क्तिप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः ।
अथवा । प्राच्याद्याश्चतस्रः शिरोविन्दुश्चतेति पञ्च प्रदिशः । (उर्वीः) बोतो
गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति उरु-ङीप् । विस्तीर्णाः शक्तीः । (यथा-
बलम्) यथाशक्ति । (प्र, आपेयम्) आप्लु व्याप्तौ—आशिषि लिङि । अहं
प्राप्नवानि । (सर्वाः) समस्ताः । (आकू'तीः) । अ० ३ । २ । ३ । संकल्पान् ।
(मनसा) मननेन । (हृदयेन) अ० २ । २६ । ६ । हृद् स्वीकारे—कयन्, दुक्, च ।
ग्रहणेन । निदिध्यासनेनेत्यर्थः ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥

गो-सनिम् । वाचम् । उदेयम् । वर्चसा । मा । अभि-उदिहि ।

आ । रुन्धाम् । सर्वतः । वायुः । त्वष्टा । पोषम् । दधातु । मे ॥१०॥

भाषार्थ—(गोसनिम्) गोलोक [गौआं वा स्वर्ग] की देने वाली (वाचम्) वाणी को (उदेयम्) मैं बोलूँ । [हे ईश्वर !] (वर्चसा) तेज के साथ (मा = माम्) मेरे ऊपर (अभ्युदिहि) सब ओर से उदय हो । (वायुः) प्राण वायु [मुझको] (सर्वतः) सब प्रकार से (आ रुन्धाम्) घेरे रहे । (त्वष्टा) विश्व-कर्मा परमेश्वर वा सूर्य (मे) मेरे लिये (पोषम्) पोषण (दधातु) देता रहे ॥१०॥

भाषार्थ—मनुष्य ईश्वरके ध्यानसे सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर अपने प्राणों को वश में रखे और पुरुषार्थी होकर सूर्य से वृष्टि द्वारा अपना पोषण प्राप्त करे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-१० ॥ १-७ अग्नयो देवताः, ८-१० मन्त्रोक्तादेवताः ॥ १-४,

१०—(गोसनिम्) छन्दसि घनसनरक्षिमधाम् । पा० ३ । २ । २७ । इति षण्णु दाने-इन् । गां धेनुं स्वर्गं वा सनोति ददातीति गोसनिः । गोलोकस्य धेनसमूहस्य स्वर्गलोकस्य वा दात्रीम् । (वाचम्) वाणीम् । (उदेयम्) लिङ्घाशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति वद व्यक्तायां वाचि-अङ् । उद्यासम् । (वर्चसा) तेजसा । अनेन-निघ० २ । ७ । (मा) माम् । (अभ्युदिहि) अभित उद्गच्छ प्राप्नुहि । (आ रुन्धाम्) रुधिर आवरणे-लोट् । आवृणोतु । आच्छादयतु । (सर्वतः) सर्वाभ्यो दिग्भ्यः । (वायुः) सूक्ष्मात्मा । प्राणः । (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मकर्ता । विश्वकर्मा परमेश्वरः । सूर्यः । (पोषम्) पुष्टिम् । (दधातु) धारयतु । ददातु । (मे) मह्यम् ॥

७, ८ त्रिष्टुप्; ५ जगती; ६, ८, १० अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ये अग्नयो अप्सवः^१ न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
ये आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतम्
स्त्वेतत् ॥ १ ॥

ये । अग्नयः । अप्स-सु । अन्तः । ये । वृत्रे । ये । पुरुषे । ये ।
अश्म-सु ॥ यः । आ-विवेश । ओषधीः । यः । वनस्पतीन् ।
तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ १ ॥

भावार्थ—(ये) जो (अग्नयः) अग्नियों [ईश्वर के तेज] (अप्सु अस्तः)
जल के भीतर, (ये) जो (वृत्रे) मेघ में, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य
शरीर] में और (ये) जो (अश्मसु) शिलाओं में हैं । (यः) जिस [अग्नि] ने
(ओषधीः) ओषधियों [अन्न, सोम लता आदि] में, और (यः) जिसने (वन-
स्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि] में (आ विवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः)
उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान
[आत्म समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी परमेश्वर का ग्रहण है,
अर्थात् जिस परमेश्वर की शक्ति से समुद्र में बड़वानल, मेघ में बिजुली,
मनुष्य में अन्न पाचक अग्नि और पत्थर में चकमक, ओषधियों में फलपाक
अग्नि आदि अद्भुत उपकारी शक्तियां वर्तमान हैं, उनके प्रेरक परमेश्वर को
हमारा प्रणाम है, ॥ १ ॥

१—(अग्नयः) ईश्वरतेजांसि । (अप्सु) उदकेषु । (अन्तः) मध्ये । (वृत्रे)
अ० २ । ५ । ३ । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा बर्हतेर्वा—निरु० २ । १७ । मेघै—निघ०
१ । १० । (पुरुषे) अ० १ । १६ । ४ । मानुषशरीरे । (अश्मसु) अ० १ । २ । २ ।
पाषाणशिलासु । (आविवेश) प्रविष्टवान् । (ओषधीः) ग्रीहियवादिरूपाः ।
(वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ । सेवकरककान् । वृक्षान् । (हुतम्) हु दाने-
क । हविः । आत्मसमर्पणम् ॥

यः सोमे'अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु ।
य आविवेश' द्विपदो यश्चतु'ष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो
हतम'स्त्वेतत् ॥ २ ॥

यः । सोम' । अन्तः । यः । गोषु' । अन्तः । यः । आ-विष्टः ।
वयः-सु । यः । मृगेषु' ॥ यः । आ-विवेश' । द्वि-पदः । यः ।
चतु':-पदः । तेभ्यः' । अग्नि-भ्यः' । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो [अग्नि] (सोमे) सोम [चन्द्र, अमृत वा दूध, घी, आदि] के (अन्तः) भीतर, (यः) जो (गोषु अन्तः) गौ आदि पालतू पशुओं में, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में और (यः) जो (मृगेषु) बनैले जीवों में (आविष्टः) प्रविष्ट है, और (यः) जिसने (द्विपदः) दोपायों, और (यः) जिसने (चतुष्पदः) चौपायों में (आविवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्म-समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अग्नि चन्द्रमा में सूर्य से है और जो सोमलता वा दूध आदि में रस पकाकर पौष्टिक बनाता है, और जो प्राणियों में वेग, बलवत्ता, जंगलीपन, और अन्य विशेषता का कारण है, उस अग्नि के संयोजक, वियोजक परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सुरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः ।
यं जोहवीमि पृतानासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतम'-
स्त्वेतत् ॥ ३ ॥

२—(यः) अग्निः । (सोमे) चन्द्रे । अमृते । सोमलतादुग्धघृतादौ ।
(अन्तः) मध्ये । (गोषु) ग्राम्यपशुषु । (आविष्टः) प्रविष्टः । (वयः सु) पक्षिषु । (मृगेषु) अ० २ । ३६ । ४ । ग्राम्यपशुषु । (आविवेश) म० १ (द्विपदः) अ० २ । ३४ । १ । पादद्वययुक्तान् मनुष्यादीन् । (चतुष्पदः) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपतान् प्राणिनः । अन्यद्दगम् ॥

यः । इन्द्रेण । सरथम् । याति । देवः । वैश्वानरः । उत ।
विश्व-दाव्यः । यम् । जोहवीमि । पृतनासु । सप्तहिम् । तेभ्यः ।
अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान वा जय चाहने वाला, [अग्नि]
(इन्द्रेण) पेश्वर्यवान् शूर के साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़कर (याति)
चलता है, और [जो हमारे] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (उत) और
[जो शत्रु का] (विश्वदाव्यः) सब कुछ जलाने वाला है, और (यम्) जिस
(सप्तहिम्) विजयी [अग्नि] को (पृतनासु) संग्रामों में (जोहवीमि) बार-
बार आवाहन करता हूँ, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों]
को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जिस परमात्मा के तेज को हृदय में धारण करके साहसी शूर
आग्नेय अस्त्र शस्त्रधारी सेना के द्वारा शत्रुओं को शीघ्र जीत लेता है, उस
जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुयं दातारं प्रतिगृह्-
णन्तमाहुः । यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्नि-
भ्यो हतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

३—(यः) अग्निः । (इन्द्रेण) पेश्वर्यवता शूरेण । (सरथम्) समान-
रथम् । एकरथमारुह्य । (याति) गच्छति । (देवः) दीप्यमानः । विजिगीषुः ।
(वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः । (विश्वदाव्यः) दुन्योरनुपसर्गे ।
पा० ३ । १ । १४२ । इति तु उपतापे-णः । दावः = उपतापः । तत्र साधुः । पा०
४ । ४ । ६८ । इति यत् । शत्रूणां सर्वोपतापने साधुः । सर्वदाहकुशलः ।
(जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (पृतनासु) वीपतिभ्यां
तनन् । उ० ३ । १५० । इति पृङ् व्यायामे-तनन्, स च कित् । टाप् । संग्रामेषु-निघ०
२ । १७ । (सप्तहिम्) अ० ३ । १८ । ५ । सप्तहिम् । अभिभवितारम् । अन्यद्
गतम् ॥

यः । देवः । विश्व-अत् । यम् । ऊ० इति । कामम् । आहुः ।
यम् । दातारम् । प्रति-गृह्णन्तम् । आहुः ॥ यः । धीरः ।
शक्रः । परि-भूः । अदाभ्यः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् ।
अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान अग्नि [बेरियों में] (विश्वात्)
सब का खाने वाला है, (यम्) जिसको (उ) ही (कामम्) कमनीय वा
कामना पूरी करने वाला (आहुः) लोग कहते हैं, (यम्) जिसको (दातारम्)
देने वाला और (प्रतिगृह्णन्तम्) लेने वाला (आहुः) बताते हैं । (यः) जो
(धीरः) पुष्टि करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (परिभूः) सर्वव्यापक और
(अदाभ्यः) न दबने योग्य है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर
तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥४॥

भाषार्थ—जिस परमात्मा को विद्वान् लोग आनन्द दाता और प्रार्थना
का मानने वाला जानते हैं, और जिसके ध्यान से पुरुषार्थी लोग शत्रुओं को
जीतते हैं, उसको हमारा प्रणाम है ॥ ४ ॥

यं त्वा हीतारं मनसाभि सँविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च
मानवाः । वृर्चोधसे' युशसे' सुनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो
हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

४—(देवः) प्रकाशमानोऽग्निः । (विश्वात्) अदोऽनघे । अ० ३ । २ । ६८ ।
इति विश्व+अद् भक्षणे-विट् । शत्रूणां सर्वभक्षकः । (कामम्) कम्पु इच्छा-
याम्-घञ् । कमनीयम् । कामयितारम् । (आहुः) ब्रूञ्-लेट् । ब्रुवन्ति ।
(दातारम्) इष्टफलस्य प्रदातारम् । (प्रतिगृह्णन्तम्) ग्रह-शतृ । प्रार्थनायाः
स्वीकर्तारम् । (धीरः) अ० २ । ३५ । ३ । धाञ्-कन्, ईत्वम् । दधाति पोषय-
तीति । धारकः । पोषकः । (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमान् । (परिभूः)
परि+भू सत्तायाम्, प्राप्ता-किप् । सर्वव्यापकः । (अदाभ्यः) अद्भलोर्गयत् ।
पा० ३ । १ । २२४ । इति दम्भु दम्भे-ययत् । दम्भोति बंधकर्मा-निघ० २ । १६ ।
अहिंस्यः । अजेयः ॥

यम् । त्वा । होतारम् । मनसा । अग्निम् । सम्विदुः । त्रयः-दश ।
भौवनाः । पञ्च । मानवाः ॥ वचोः-धसे । यशसे । सूनृता-वते ।
तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(त्रयोदश) तेरह [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख यह सात शिर के, और दो हात, दो पद, एक उपस्थन्द्रिय, और एक गुदास्थान, यह छः शिर के नीचे के] (भौवनाः) भुवनों से संबन्ध वाले प्राणी, और (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्व] से संबन्ध वासे (मानवाः) मनुष्य (मनसा) मनन शक्ति से (वचो-धसे) तेज धारण करानेवाले और (सूनृतावते) प्रिय सत्य वाणी वाले (यशसे) यश के लिये (यम्) जिस (त्वा) तुझ [अग्नि] को (होतारम्) दानी (अग्नि) सब प्रकार (संविदुः) ठीक ठीक जानते हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

५—(यम् । त्वा) अग्निम् । (होतारम्) दातारम् । मनसा । मननेन । चित्तेन । (अग्नि) अग्निः सर्वतः । (संविदुः) विदुः ज्ञाने-लट् । सम्यग् विदन्ति जानन्ति । (त्रयोदश) त्रयश्च दश च । सप्त शीर्षण्याः षड् अग्रोभागस्थाः पाणिपादोपस्थगुदावयवाः । (भौवनाः) भू सत्तायाम्-क्युन्, इति भुवनम् । अ० २ । १ । ३ । भुवन—अण् । भुवनानि भवनानि गृणाणि इन्द्रियाणि येषां ते भौवनाः प्राणिनः । (पञ्च, मानवाः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति मनु-अण् । मनुर्मननं येषां ते मानवाः । पञ्चभूतसम्बन्धिनो मनुष्याः । अथवा, पञ्च-मानवा एव पञ्चजनाः । पञ्चजनाः, मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । पञ्चजनाः... गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौप-मन्यवो निषादः कस्माक्षिपणमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः—निघ० ३ । ८ । (वचोधसे) दधातेरसुन् । तेजसां दात्रे । (यशसे) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १६१ । इति अश्व व्याप्तौ—असुन्, युडागमश्च, देवनं स्तुतिः । यशःप्राप्तये । (सूनृतावते) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृता, तद्वते । एवंभूताश्च यशसे । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—सब शरीरधारी उस परमपिता की महिमा विचार पूर्वक गाकर सेजस्वी, खत्यवाही और यशस्वी होते हैं, उस को यह हमारा नमस्कार है ॥ ५ ॥

(पञ्च मानवाः) शब्द [पञ्च जनाः] शब्द का पर्यायवाची है जिस का अर्थ-“मनष्य” है-निघ० २।३। उसको व्याख्या, निरु० ३।८ में इस प्रकार की है “पञ्चजनाः...गन्धर्व, पितृ, देव, असुर, और राक्षस, ऐसा कोई २ मानते हैं, चारों वर्ण और निषाद पाँचवां, यह औपमन्यव ऋषि का मन है, निषाद किस लिये, इस में पाप स्थित है ॥

उक्षान्नाय वृशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । वैश्वानर-
ज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

उक्ष-अन्नय । वृशा-अन्नाय । सोम-पृष्ठाय । वेधसे । वैश्वान-
नर-ज्येष्ठेभ्यः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्नदाता, (वृशान्नाय) वशीभूत, निर्बल प्रजाओं के अन्न दाता, (सोमपृष्ठाय) अमृत सींचने वाले और (वेधसे) उत्पन्न करने वाले, (तेभ्यः) उन [चार प्रकार के] (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] दो प्रधान रखने वाले (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

६—(उक्षान्नाय) श्वनुक्षनपूषन् ०। उ० १। १५६। इति उक्ष सेचने, वृद्धौ च-कनिन् । उक्षा महन्नाम-निघ० ३।३। उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः । निरु० १२।६। कृवृजृसिद्रुपन्यनि०। उ० ३। १०। इति अन्न प्राणने-न। इति अन्नम् । उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । प्रबलानां भोजनदात्रे । (वृशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३।३। ५८। इति वश स्पृहायाम्—अपृ, टापृ । वशभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । निर्बलप्रजानां भोजननात्रे । (सोमपृष्ठाय) तिथपृष्ठगूययूयत्राधाः । उ० २। १२। इति पृरु सेवने-यक् । अमृतसेवकाय । (वेधसे) अ० ११। १। विधात्रे । विधानकर्त्रे (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) वैश्वानर इति व्याख्यातम्—अ० १। १०। ४। विश्वनरहितः पर-मेश्वरो ज्येष्ठो वृद्धः प्रधानो येषां तेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जिस (वैश्वानर) सब मनुष्य आदि के हितकारी परमेश्वर की शक्ति से सब प्राणी पुष्ट होते हैं, उसको हमारा नमस्कार है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद = ४३ । ११ में है ।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्वनुन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हतम-
स्त्वेतत् ॥ ७ ॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरिक्षम् । ये । वि-द्युतम् ।
अनु-संचरन्ति ॥ ये । दिक्षु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः ।
तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ये) जो [तेज] (दिवम्) सूर्य लोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) लगातार और (विद्युतम्) बिजुली में (अनुसंचरन्ति) लगातार चलते रहते हैं, (ये) जो (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर और (ये) जो (वाते अन्तः) पवन के भीतर हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभिः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के तेज सब लोकों, सब पदार्थों और सब दिशाओं में हैं, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्र-
मग्निम् । विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं
शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

हिरण्य-पाणिम् । सवितारम् । इन्द्रम् । बृहस्पतिम् । वरु-

७—(दिवम्) सूर्य लोकम् । (पृथिवीम्) भूमिम् । (अनु) अनुप्रविश्य ।
(ये) अग्नयः । (विद्युतम्) अ० १ । १३ । १ । विद्योतमानां तडितम् । (अनु-
संचरन्ति । अनुप्रविश्य सभ्यम् गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । अभ्यङ्ग गतम् ॥

णम् । मित्रम् । अग्निम् ॥ विश्वान् । देवान् । अङ्गिरसः ।
हवामहे । इमम् । क्रव्य-अदम् शमयन्तु । अग्निम् ॥ ८ ॥

भाष्यार्थ—(हिरण्यपाणिम्) सूर्य आदि तेजों से स्तुति किये हुए
(सवितारम्) सब के प्रेरक (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (बृहस्पतिम्) बड़े
लोकों के रक्षक (वरुणम्) सब में श्रेष्ठ (मित्रम्) हितकारी (अग्निम्) ज्ञान
स्वरूप परमेश्वर से (विश्वान्) सब (देवान्) विजय कराने वाले (अङ्गिरसः)
ज्ञानों वा पुरुषार्थों को (हवामहे) हम मांगते हैं, (इमम्) इस (क्रव्यादम्)
मांस ज्ञाने वाले (अग्निम्) अग्नि [समान दुःख] को (शमयन्तु) वे शान्त
कर दें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर के अनुपम गुणों का अनुभव करके पुरुषार्थ
बनें और अग्नि समान तापकारी और शरीर शोषक दुःखों का नाश करें ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

शान्तः । अग्निः । क्रव्य-अत् । शान्तः । पुरुष-रेषणः ॥ अथो
इति । यः । विश्व-दाव्यः । तम् । क्रव्य-अदम् । अशीशमम् ॥ ९ ॥

८—(हिरण्यपाणिम्) हिरण्यम्-इति व्याख्यातम् । अ० १ । ६ । २ । अशि-
पणाव्योदढायलुक् च । उ० ४ । १३३ । इति पण व्यवहारे, पण स्तुतौ च-
इण् । इति पाणिः । हिरण्यपाणिम्—हिरण्यानि सूर्यादनि तेजांसि पाणौ स्तवने
यस्य तम्-इति दयानन्दभाष्ये य० २२ । १० । (सवितारम्) सर्वप्रेरकम्
(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तम् । (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् । (वरुणम्)
वरणीयम् । (मित्रम्) स्नेहिनम् । (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वरम् । (देवान्)
विजिगीषून् । (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । अग्नि गतौ-भावे इति, रुट् च ।
ज्ञानानि । पुरुषार्थान् । (हवामहे) आह्वयामः । याचामहे । द्विकर्मकत्वात्
अग्निम्-इत्यस्य, अङ्गिरसः—इत्यस्य च कर्मत्वम् । (क्रव्यादम्) क्रव्ये च ।
पा० ३ । २ । ६६ । इति अदेर्बिट् मांसभक्षकम् । (शमयन्तु) शान्तं कुर्वन्तु ।
(अग्निम्) अग्निवत्तापकं दुःखम् ॥

भाषार्थ—(क्रव्यात्) मांस खाने वाला (अग्निः) अग्नि [समान तापकारी दुःख] (शान्तः) शान्त हो, (पुरुषेणः) पुरुषों का सताने वाला [कष्ट] (शान्तः) शान्त हो, । (अथो) और भी (यः) जो (विश्वदाव्यः) सब [सुखों] का जलाने वाला है (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [अग्निरूप दुःख] को (अशीशमम्) मैंने शान्त कर दिया है ॥ ६ ॥

भवार्थ—दूरदर्शी पुरुष विघ्नों को हटाकर आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते हैं ॥ ६ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्यः आद्ग्नस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥१०॥

ये । पर्वताः । सोम-पृष्ठाः । आपः । उत्तान-शीवरीः ॥ वातः ।
पर्जन्यः । आत् । अग्निः । ते । क्रव्य-अदम् । अशी-शमन् ॥१०॥

भाषार्थ—(ये) जो (पर्वताः) पहाड़ (सोमपृष्ठाः) सोम [अमृत-अर्थात् ओषधि वा जल] को पीठ पर रखने वाले हैं, [उन्होंने और] (उत्तानशी-वरीः—०-वर्गः) ऊपर को मुख करके सोने वाले [सूर्य की ओर चढ़ने वाले] (आपः) जल, (वातः) पवन, (पर्जन्यः) मेघ, (आत्) और (अग्निः)

८—(शान्तः) सुखकरः । (अग्निः) अग्निवत्तापकरं दुःखम् । (क्रव्यात्) म० ८ । मांसभक्षकः । (पुरुषेणः) रिष बधे-त्युट् । पुरुषहिंसकः । (विश्व-दाव्यः) म० ३ । सर्वसुखनाशनसमर्थः । (अशीशमम्) शमु उपशमे-एयन्तात् लुकि षकि रूपम् । अहं शान्तं कृतवान् । अन्यद् गतम् ॥

१०—(पर्वताः) पर्व पर्वतौ—अतच् । शैलाः । (सोमपृष्ठाः) सोमः, अमृतम् ओषधिर्जलं वा पृष्ठे उपरिभागे येषां ते तथाभूताः । (आपः) जलानि । (उत्तानशीवरीः) उत् + तनु विस्तारे—घञ् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शीकः कनिष् । वनो र ष । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीष् । कौ । ष

अग्नि, (ते) उन सब ने (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [अग्नि रूप दुःख] को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि सोमलता आदि औषध उत्पन्न करने वाले पर्वत, जल, वायु, मेघ, अग्नि आदि सब पदार्थ शुद्ध रहकर सुखदायक हों ॥ १० ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-६ ॥ विश्वे देवा देवताः । १, ३ त्रिष्टुप्, २, ४-६ अनुष्टुप् ॥

कीर्त्ति प्राप्त्युपदेशः—कीर्त्ति पाने के लिये उपदेश ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वःसं ब्रु-
भूव । तत् सर्वं समदुर्महमेतद् विश्वे देवा अदितिः
सजोषाः ॥ १ ॥

हस्ति-वर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । अदित्याः ।
यत् । तन्वः । सम-ब्रूव ॥ तत् । सर्वं । सम् । अदुः । महयम् ।
एतत् । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल से युक्त (बृहत्) बड़ा (यशः)
यश (प्रथताम्) फैले, (यत्) जो (अदित्याः) अदीन वेद वाणी वा प्रकृति के

छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व सवर्णादीर्घः । ऊर्ध्वमुखशयाः ।
सूर्यभिमुखवर्त्तमानाः । (वातः) वायुः । (पर्जन्यः) सेचको मेघः । (आत्) अपि
च । (अग्निः) पावकः । (क्रव्यादम्) मांसभक्षक रोगम् । (अशीशमन्) शमु
गिन्, लुङि । शातं कृतवन्तः ॥

१—(हस्तिवर्चसम्) हस्ताञ्जातौ । पा० ५ । २ । १३३ । इति हस्त-इनि ।
अशं आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वर्चस्—अच् मत्वर्थे । गजस्य बल-
युक्तम् । (प्रथताम्) प्रथ प्रख्याने—लोद् । प्रख्यातं भवतु । (बृहत्) महत् ।
(यशः) कीर्त्तिः । (अदित्याः । अ० २ । २८ । ४ । अदितिः, वाक्—निघ० १।११।

(तन्वः) विस्तार से (संबभूव) उत्पन्न हुआ है, (तत्) सो (एतत्) यह [यश] (मष्टम्) मुझको (सजोषाः) समान प्रीति वाली (अदितिः) अखण्ड वेद वाणी वा प्रकृति और (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान गुणों ने (सर्वे) सर्वव्यापक विष्णु भगवान् में (सम्) ठीक प्रकार से (अदुः) दिया है ॥

भाषार्थ—मनुष्य वेद विद्या और प्रकृति के यथावत् ज्ञान से, जिस सब का केन्द्र परमेश्वर है, हाथी आदि का सामर्थ्य पाकर यशस्वी होता है। म० ६ देखो ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है, योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २३।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ १ ॥

बलों में [संयम करने से] हाथी के से बल होजाते हैं ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।

देवासे विश्वधायसुस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

मित्रः । च । वरुणः । च । इन्द्रः । रुद्रः । च । चेततु ॥

देवासः । विश्व-धायसः । ते । मा । अञ्जन्तु । वर्चसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मित्रः) सब का मित्र, (च) और (वरुणः) अति श्रेष्ठ, (च) और (इन्द्रः) परम पेश्वर्यवान् (च) और (रुद्रः) ज्ञान दाता वा दुःखनाशक

अदीनाया वेदवाण्याः प्रकृतेर्वा । (यत्) यशः । (तन्वः) अ० १ । १ । १ । १ । शरीरात् । विस्तृतेः । (संबभूव) उत्पन्नमभवत् । (सर्वे) सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति सृ गतौ-वन्, यद्वा । सर्वं गतौ-प्रच् । सरति सर्वति वा गच्छति व्याप्नोतीति सर्वः, शिवः, विष्णुः । तस्मिन् व्यापके परमेश्वरे । (सम्) सम्यक् । (अदुः) दाओ लुङ् । दत्तवन्तः । (मष्टम्) मदर्थम् । (विश्वे) सर्वे । (देवाः) दिव्यगुणाः । (अदितिः) अदीना, अखण्डिता वा वेदवाणी प्रकृतिर्वा । (सजोषाः) समान + जुषी प्रीतिसेवनयोः—असुन् । समानप्रीतिः ॥

२—(मित्रः) सर्वप्रेरकः । सर्वहितकारी । (वरुणः) वरणीयः । श्रेष्ठः । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । (रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । रुत्-र । ज्ञानदाता । दुःख-

परमेश्वर (चेततु) चेतता रहे, और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वधायसः) सब जगत् के पोषण करने वाले (देवासः = देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि] (मा) मुझको (वर्चसा) तेज वा बल से (अजन्तु) कान्ति वाला करें ॥ २ ॥

भाषार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की महिमा को जाने और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेकर तेजस्वी और यशस्वी हों ॥ २ ॥

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वस्व-
१'न्तः । येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्च-
साग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

येन। हस्ती। वर्चसा। सम्-बभूव। येन। राजा। मनुष्येषु।
अप्-सु। अन्तः॥ येन। देवाः। देवताम्। अग्रे। आयन्।
तेन। माम्। अद्य। वर्चसा। अग्ने। वर्चस्विनम्। कृणु॥३॥

भाषार्थ—(येन) जिस (वर्चसा) तेज से (हस्ती) हाथी, और (येन) जिस [तेज] से (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (मनुष्येषु) मनुष्यों और (अप्सु अन्तः) जल और अन्तरिक्ष के भीतर (संबभूव) पराक्रमी हुआ है। और

नाशकः परमेश्वरः । (चेततु) चिती ज्ञाने । चेतयतु । (देवासः) असुगागमः । पृथिव्यादिदेवाः । (विश्वधायसः) वहिहाधाभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति विश्व + दधातेरसुन् । आतां युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । सर्वस्य जगतो धातारः पोषयितारः । (ते) प्रसिद्धाः । (अजन्तु) अज्ज् व्यक्तिस्रक्षणाकान्तिगतिषु । प्रकाशयन्तु । संयोजयन्तु । (वर्चसा) तेजसा । बलेन ॥

३—(हस्ती) म० १ । गजः । (वर्चसा) तेजसा । (संबभूव) समर्थो बभूव । (राजा) राजति ईष्टे स राजा । ऐश्वर्यवान् पुरुषः । (मनुष्येषु) अ० ३ । ४ । ६ । मज्ज-यत्, पुगागमः । मननशीलेषु । स्थलप्राणिषु, इत्यर्थः । (अप्सु) उद्केष - निघ० १ । १२ । अन्तरिक्षे - निघ० १ । ३ । (अन्तः) मध्ये । (देवाः)

(येन) जिस [तेज] से (देवाः) देवताओं [महात्मा पुरुषों] ने (अग्ने) पहिले काल में (देवताम्) देवतापन (आयम्) पाया है, (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (वर्चस्विनम्) तेजस्वी (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष हाथी आदि पशुओं, और पूर्वज शूर वीर ऋषि महात्माओं के बुद्धिबल का अनुभव करके (अद्य) आज अर्थात् शीघ्र उपाय से जल, थल, और आकाश में, (अग्नि) परमेश्वर की भक्ति के साथ, अपनी गति बढ़ावें और अग्नि के समान तेजस्वी होकर संसार में कीर्तिमान् हों ॥ ३ ॥

योगीश्वर पतञ्जलि का वचन है—योगदर्शन, समाधिपाद १ सूत्र २१ ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥

[समाधि लाभ] उम्र अच्छे वेग वालों के समीप होता है ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।

यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।

तावन्मे अश्विनो वर्च आ धत्तां पुष्करस्तजा ॥ ४ ॥

यत् । ते । वर्चः । जात-वेदः । बृहत् । भवति । आ-हुतेः ॥

यावत् । सूर्यस्य । वर्चः । आ-सुरस्य । च । हस्तिनः ॥ तावत् ।

मे । अश्विनो । वर्चः । आ । धत्ताम् । पुष्कर-स्तजा ॥ ४ ॥

भावार्थ—(यत्) जिस कारण से (जातवेदः) उत्पन्न संसार के

विजिगीषवो महात्मानः । (देवताम्) देवत्वम् । माहात्म्यम् । (अग्ने) पूर्व-काले । (आयम्) इण् गतौ—लङ् । प्राप्नुवन् । (माम्) उपासकम् । (अद्य) अ० १ । १ । १ । अस्मिन् दिने । तत्कालम् । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । (वर्चस्विनम्) तेजस्विनम् । (कृणु) कुरु ॥

४—(यत्) यस्मात् कारणात् । (ते) तुभ्यम् । (वर्चः) तेजः । स्तजम् । (जात-

ज्ञान वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (आहुतेः) आहुति [आत्मदान] से [हमारा] (वर्चः) तेज (बृहत्) बड़ा (भवति) होता है, (यावत्) जितना (वर्चः) तेज वा बल (आसुरस्य) प्राणियों वा मेघों के हितकारक (सूर्यस्य) सूर्य का (च) और (हस्तिनः) हाथी का है, (तावत्) उतना (वर्चः) तेज वा बल (मे) मेरे लिये (पुष्करस्त्रजा—०—जौ) पोषण देने वाले (अश्विना=०—नौ) माता पिता वा सूर्य चन्द्रमा (आधत्ताम्) सब प्रकार दें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता की सुशिक्षा और सूर्यचन्द्रमा के समान नियम से परमेश्वर की आज्ञा पालनमें मन लगाकर अपना बल बढ़ावें और सूर्य आदि दूरस्थ और हाथी आदि पृथिवीस्थ पदार्थों का बल, विज्ञान द्वारा जानकर उन्नति करें ॥ ४ ॥

यावृचतस्त्रः प्रदिशश्चक्षु र्यावत् समश्नुते ।

तावत् सुमैत्विन्द्रियं मयि तद्वृत्तिवर्त्तुसम् ॥५॥

यावत् । चतस्त्रः । प्र-दिशः । चक्षुः । यावत् । सुम्-अश्नुते ।

तावत् । सुम्-येतु । इन्द्रियम् । मयि । तत् । वृत्ति-वर्त्तुसम् ॥५॥

वेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातस्य उत्पन्नस्य संसारस्य ज्ञातः परमेश्वर ! (बृहत्) महत् । (आहुतेः) दानात् । आत्मसमर्पणात् । (यावत्) अ० ३ । १५ । ३ । तत्परिमाणम् । (सूर्यस्य) आदित्यस्य । (आसुरस्य) असुर इति व्याख्यातम् अ० १ । १० । १ । असुः प्राणः—रो मत्वर्थायः । असुरः प्राणी, तनो अण् प्रत्ययः । प्राणिभ्यो हितस्य । यद्वा, असुरो मेघः—निघ० १ । १० । तेभ्यो हितस्य । (हस्तिनः) गजस्य । (तावत्) तत्परिमाणम् । (मे) ममम् । (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । मातापितरौ । सूर्याचन्द्रमसौ । (आधत्ताम्) समन्तात् स्थापयताम् । प्रयच्छताम् (पुष्करस्त्रजौ) पुषः कित् । उ० ४ । ४ । इति पुष पोषणे—करन् । पुष्पातीति पुष्पकरम् । अश्विदधृक्—स्त्रग० पा० ३ । २ । ५६ । इति स्त्रज यागे=दाने—किन् । पोषणदातारौ ॥

भाषार्थ—(यावत्) जितनी दूर (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महा-दिशाये है, और (यावत्) जितनी दूर (चतुः) आँख [दर्शन शक्ति] (सम-श्नुते) फैलती है, (तावत्) वहाँ तक (मयि) मुझ में (तत्) वह (हस्तिव-र्चसम्) हाथी के बल वाला (इन्द्रियम्) परम ऐश्वर्य (समैतु) आकर मिले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पार्थिव और दिव्य पदार्थों के यथावत् ज्ञान से सामर्थ्य बढ़ाकर उन्नति करे ॥ ५ ॥

हुस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।

तस्य भगेन वर्चसाभि सिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

हुस्ती । मृगाणाम् । सु-सदाम् । अतिस्था-वान् । बभूव । हि ॥
तस्य । भगेन । वर्चसा । अभि । सिञ्चा मि । माम् । अहम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (सुषदाम्) सुख से चढ़ने योग्य (मृगाणाम्) पशुओं में (हस्ती) हाथी (अतिष्ठावान्) प्रतिष्ठावाला (बभूव) हुआ है, (तस्य) उसके (भगेन) सेवनीय (वर्चसा) कान्ति से (अहम्) मैं (माम्) अपने को (अभिषिञ्चामि) भले प्रकार सींचू [शुद्ध करूँ] ॥ ६ ॥

५—(चतस्रः) चतुः संख्याकाः । (प्रदिशः) महादिशः । (चतुः) अ० १ ३३ । ४ । नेत्रम् । दर्शनसामर्थ्यम् । (समश्नुते) सम्यग् व्योप्नोति (समैतु) सम् + आ पतु । सम्यग् आगच्छतु । (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्र-पञ्च । इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य लिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । (मयि) ईश्वरभक्ते । (तत्) प्रसिद्धम् । (हस्तिवर्चसम्) म० १ । गजस्य बलयुक्तम् ॥

६—(हस्ती) गजः । (मृगाणाम्) पशूनां मध्ये । (सुषदाम्) अ० ३ । १४ । १ । सुखेन सदनयोग्यानाम् । (अतिष्ठावान्) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १०६ । इति अति + ष्ठा—अङ्, टाप्, मनुप् । प्रतिष्ठावान् । (हि) यस्मात् कारणात् । (तस्य) गजस्य । (भगेन) भजनीयेन । सेवनीयेन । (वर्चसा) तेजसा । (अभि) सर्वतः । (सिञ्चामि) शोधयामि । (माम्) आत्मानम् । (अहम्) उपासकः ॥

भाषार्थ—जैसे हाथी में अन्य पशुओं से अधिक बुद्धिबल होता है, वैसे ही प्रधान पुरुष अन्य पुरुषों से अधिक बुद्धिबल वाला होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ माता देवता । १—४ अनुष्टुप्, ५ पङ्क्तिः, ६ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, उत्तरार्धोऽनुष्टुप् ।

वीरसन्तानोत्पादनोपदेशः—वीर सन्तान उत्पन्न करने के उपदेश ॥

येन' वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत् त्वत् ।

इदं तदन्यत्र त्वदपं दूरे नि दध्मसि ॥ १ ॥

येन । वेहत् । बभूविथ । नाशयामसि । तत् । त्वत् ॥ इदम् ।

तत् । अन्यत्र । त्वत् । अपं । दूरे । नि । दध्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री] (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) बन्ध्या [बांझ] (बभूविथ) हुई है, (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं । (इदम् = इदानीम्) अभी (तत्) उसको (त्वत्) तुझ से (अन्यत्र) और कहीं (दूरे) दूर (अप = अपहृत्य) हटाकर (नि दध्मसि = ०-ध्मः) हम रखते हैं ॥ ६ ॥

भाषार्थ—सद्वैद्य पुत्रेष्टि यज्ञ करके ओषधि द्वारा बांझपन मिटाकर वीर सन्तान उत्पन्न करते हैं, देखो भीमद् दयानन्दकृत संस्कार विधि—गर्भधान प्रकरण ॥ १ ॥

१—(येन) येन पापजन्यरोगादिना (वेहत्) संश्वततुपद्बेहत् । उ० २ । ८५ । इति वि + हन बधे-अति । इकारस्य एकाग्रो नतोपश्च निपात्येते । विशेष-
षष्ठ हन्ति गर्भं या, गर्भघातिनी । बन्ध्या । (नाशयामसि) नाशयामः । चिकित्सया अपहन्मः । (त्वत्) त्वत्तः सकाशात् । (इदम्) इदानीम् । (दूरे) दूरदेशे । (अप नि दध्मसि) अपहृत्य निक्षिपामः ॥

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाणं इवेषुधिम् ।

आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

आ । ते । योनिम् । गर्भः । एतु । पुमान् । बाणः-इव । इषु-धिम् ॥

आ । वीरः । अत्र । जायताम् । पुत्रः । ते । दश-मास्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे सुभगे] (पुमान्) रक्षा करने वाला, पराक्रमी (गर्भः) गर्भ (ते) तेरे (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे, (बाणः इव) जैसे बाण (इषुधिम्) तीर [तीरो के थैले] में । (अत्र) इस घर में (दशमास्यः) दस महीने तक पुष्ट हुआ, (ते) तेरा (वीरः) वीर, (पुत्रः) कुलशोधक बालक (आ जायताम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भाषार्थ—यधू और वर यथाविधि ब्रह्मचारी रहकर युक्त आहार विहार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिसमें गर्भ अवश्य स्थिर रहे और पूर्ण रीति से पुष्ट होकर वीर सन्तान उत्पन्न हो ॥ २ ॥

यहां पर अथर्ववेद का० १ सू० ११ मन्त्र ६ का मिलान करो ।

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन है—म० ५ सू० ७८ म० ६ ॥

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि लातरि ।

निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥ १ ॥

२—(योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गर्भाशयम् । (गर्भः) अ० १ । ११ । २ । भ्रूणः । उदरस्थबालकः । (आ, एतु) आगच्छतु । (पुमान्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे-डुमसुन् । रक्षणलमर्थः सन्तानः । (बाणः) बाण शब्दे गतौ बा—बद्धः । शरः । नाराचः । (इषुधिम्) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति इषु + धा—कि । निष्कृम् । (वीरः) शूरः । (अत्र) अस्मिन् कुले । (जायताम्) उत्पद्यताम् । (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । कुल शोधकः पुत्रात् । पुत्रो नरकाल् प्राप्तः सन्तानः । यथा, तनयः, सूनुः, इति अपत्यनामः पठितम्—निघ० २ । २ । (दश-मास्यः) अ० १ । ११ । ६ । दशमासान् भूतः ॥

(मातरि अधि) माता के गर्भ में जो (कुमारः) बालक (दश मासान्) दस महीनों तक (शशयानः) सोता रहा है, वह (जीवः) जीता हुआ (अक्षतः) घाघ से रहित (जीवः) जीव (जीवन्त्यः अधि) जीवती हुई माता से (निरैतु) बाहिर आवे ॥

श्री सायणाचार्य ने यह मन्त्र इस प्रकार श्लोक में लिखा है ।

दश मासानुषित्वासौ जननीजठरे सुखम् ।

निर्गच्छतु सुखं जीवो जननी चापि जीवतु ॥ १ ॥

(जननीजठरे) माता के पेट में (सुखम्) सुख से (दश मासान्) दस महीनों तक (उषित्वा) सोकर (असौ जीवः) वह जीव (निर्गच्छतु) बाहिर आवे, (च) और (जननी अपि) माता भी (जीवतु) जीवती रहे ॥

पुमांसं पुत्रं जनयु तं पुमाननु' जायताम् ।

भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥३॥

पुमांसम् । पुत्रम् । जनयु । तम् । पुमान् । अनु' । जायताम् ॥

भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ॥३॥

भाषार्थ—[हे वधू] (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) बहुरक्षक, धीर सन्तान (जनय) उत्पन्न कर, (तम् अनु) उसके पीछे (पुमान्) रक्षा करने वाला धीर बालक (जायताम्) उत्पन्न होवे । (जातानाम्) उत्पन्न हुये (पुत्राणाम्) नरक से बचाने वाले सन्तानों की (माता) माननीय माता (भ-

३—(पुमांसम्) म० २ । रक्षयसमर्थम् । (पुत्रम्) म० २ । पुरुषात्तरम् । नरकात् प्रातरम् । सन्तानम् । (जनय) उत्पादय । (तम् अनु) तमनुसृत्य । तत्पश्चात् । (भवासि) लेटि आडागमः । त्वं भूवाः । (माता) अ० १ । २ । १ माननीया । जननी (जातानाम्) उत्पन्नानाम् । (जनयाः) जनेत्यन्तात् खेदि-

वासि) हो, (च) और [उनकी भी] (यान्) जिनको (जनमाः) तू उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—माता पिता ब्रह्मचर्य और इष्ट भोजन, छादन, व्यायाम आदिसे से प्रयत्न करें कि उन के सब पुत्र पुत्री सदैव पराक्रमी उत्पन्न हों, और माता पिता और संसार की सेवा करके (पुमान्) रत्नक बने रहें ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

यानि । भद्राणि । बीजानि । ऋषभाः । जनयन्ति । च ॥ तैः । त्वम् । पुत्रम् । विन्दस्व । सा । प्र-सूः । धेनुका । भव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(च) और (या नि) जैसे (भद्राणि) मङ्गल दायक (बीजानि) बालकों को (ऋषभाः) सूक्ष्म दर्शी ऋषि लोग, अथवा, ऋषभ ओषधि के रस (जनयन्ति) उत्पन्न करते हैं, (तैः) वैसे ही [सन्तानों] के साथ (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक वा बहुरत्न बालक को (विन्दस्व) प्राप्त कर, (सा=सा त्वम्) सो तू (प्रसूः) जनने वाली (धेनुका) दूध पिलाने वाली माता [अथवा दुधैल गौ के समान] (भव) हो ॥ ४ ॥

आडागमः । त्वं जनये । (यान्) पुत्रान्, तेषामपि—इति शेषः । अन्वद् गतम् ॥

४—(यानि) यादृशानि । (भद्राणि) मङ्गलप्रदानि । अमोघवीर्याणि । (बीजानि) अ० ३ । १७ । २ । अपत्यानि—निघ० २ । २ (ऋषभाः) अ० ३ । ६ । ४ । सूक्ष्मदर्शिनः । ऋतयः । ऋतमौषधविशेषस्य रसाः । तस्य गुणाः । मधुरत्वम् । शीतत्वम् । रक्तपित्तविरेकनाशित्वम् । शुक्रश्लेष्मकारित्वम् । दाहक्षयज्वरहरत्वं च । इति शब्दकल्पद्रुमे । (जनयन्ति) उत्पादयन्ति । (तैः) तथाविधैः । (विन्दस्व) विद् त्वं जामे । लभस्व । (सा) सा त्वम् । (प्रसूः) सत्सूक्ष्मिण० पा० ३ । २ । ६१ । इति प्र+षूङ् प्राणिप्रसवे-क्विप् । सन्तानोत्पादिका । (धेनुका) अ० ३ । १० । १ । धेनुरेष धेनुका । स्वार्थिकः कः । दुग्धदात्री । तर्पयित्री । धेनु बन्त पोषयित्री ॥

भाषार्थ—मनुष्य बड़े लोगों से ब्रह्मचर्य विद्या और औषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करें। और बलवती माता अपने बच्चों को अपना दूध पिला कर बलवान् करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है ॥ ४ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में ऋषभ औषध को मधुर, शीतल, रक्तपित्तविरेक-नाशी, वीर्य श्लेष्म कारी, और दाहज्वरहारी लिखा है ॥

कृणोमि' ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते । विन्दस्व
त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसुच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

कृणोमि' । ते । प्राजा-पत्यम् । आ । योनि'म् । गर्भः । एतु ।
ते ॥ विन्दस्व । त्वम् । पुत्रम् । नारि । यः । तुभ्यम् । शम् ।
असत् । शम् । ऊं इति । तस्मै' । त्वम् । भव' ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) सन्तान रक्षक कर्म [गर्भाधान, पुंसवनादि संस्कार] (कृणोमि) मैं करता हूँ, (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (योनिम्) गर्भशय्य में (आ एतु) आवे । (नारि) हे नर की हितकारिणी ! (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (विन्दस्व) प्राप्त कर, (यः) जो (तुभ्यम्) तुझको (शम्) सुखदायक (असत्) होवे, (उ) और (त्वम्) तू (तस्मै) उसको (शम्) सुख दायक (भव) हो ॥ ५ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य वैद्यक शास्त्र के अनुसार उचित काल में उचित रीति से अमोघ गर्भाधानादि संस्कार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे उस सन्तान का जन्म, आप उसको और माता पिता आदि सब को सुख दायक हो ॥ ५ ॥

५—(कृणोमि) करोमि । (ते) तुभ्यम् । (प्राजापत्यम्) दित्यदित्या-दित्यपत्युत्तरपदाण् एयः । पा० ४ । १ । ८५ । इति प्रजाप्रति-एय । प्रजापते-र्यदृश्यस्य कर्म धर्म वा । गर्भाधानपुंसवनादिसंस्कारम् । (नारि) अ० १ । ११ । १ । हे नरस्य धर्म्ये । (शम्) सुखहेतुः । (उ) अपि च । अन्यद् गतम्—म० २, ४ ॥

यासां द्यौःपिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधा बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावृन्त्वोषधयः ॥६॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् ।
वीरुधाम् । बभूव ॥ ताः । त्वा । पुत्र-विद्याय । दैवीः । प्र ।
प्रवृन्तु । ओषधयः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली अन्नादि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाला, और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ है, (ताः) वे (दैवीः) दिव्य गुणवाली (ओषधयः) ओषधें (पुत्रविद्याय) सन्तान पाने के लिये (त्वा) तेरी (प्र) अच्छे प्रकार (प्रवृन्तु) रक्षा करें ॥६॥

भावार्थ—अन्न आदि अनेक ओषधियां सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पाकर पृथिवी और जल के संयोग से उत्पन्न होती हैं, उनमें से उत्तम २ बल वर्धक ओषधों के उचित खान पान से माता पिता उत्तम सन्तान उत्पन्न करें ॥६॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७॥ प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुप् २ पङ्क्तिः ॥

धान्यसमृद्धिकर्मोपदेशः—धान्य बढ़ाने के कर्म का उपदेश ॥

६—(द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः । (पिता) अ० १ । २ । १ । वृष्टिदानेन रक्षको जनयिता । (पृथिवी) अ० १ । २ । १ । विस्तृता धूमिः । (माता) अ० ३ । ६ । १ । निर्मात्री । जननी । (समुद्रः) अ० १ । १३ । ३ । समुन्दनशीलः सागरः । (मूलम्) अ० २ । ७ । ३ । मुख्यकारणम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणस्वभावानाम् । ओषधीनाम् । (पुत्रविद्याय) संज्ञायां समजनियद्विपत् ० । पा ३ । ३ । ६६ । इति विदूष्य लाभे, छन्दसि भावे व्यप् । सन्तानलाभाय । (दैवीः) अ० १ । १६ । २ । दिव्यः । दिव्याः । अन्यद् गतम् ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।

अथो पर्यस्वतीनामा भुरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

पर्यस्वतीः । ओषधयः । पर्यस्वत् । मामकम् । वचः॥ अथो-
दति । पर्यस्वतीनाम् । आ । भुरे । अहम् । सहस्रः-शः॥१॥

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां, चावल जौ आदि वस्तुये (पर्यस्वतीः
=०-त्यः) सारवाली होवे, और (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (पर्यस्वत्)
सारवाला होवे । (अथो) और भी (अहम्) मैं (पर्यस्वतीनाम्) सार-
वाली [ओषधियों] का (सहस्रशः) सहस्रों प्रकार से (आ) यथा विधि
(भुरे) धारण करूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को उत्तम बनावे और
दृढ़ सत्य वचन बोलें । ऐसा करनेसे शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है॥८॥

मनु महाराज का वचन है, अध्याय १ श्लोक ४६ ॥

उद्विज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।

ओषध्यः फलपकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ १ ॥

सब भूमि को फोड़कर उपजने वाले, और बीज वा शाखा से उगने वाले
वृक्ष हैं, फल पाक के साथ नष्ट होने वाली और बहुत फूल फल वाली ओष-
धियां [चावल, जौ आदि] हैं ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु । संभृत्वा नाम्
यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

१—(पर्यस्वतीः) पर्यस्वत्यः । सारधत्यः (ओषधयः) अ० १ । २३ । १ ।
ग्रीहियवाद्याः (पर्यस्वत्) सारयुक्तम् । (मामकम्) मदीयम् । [वचः] वचनम् ।
(अथो) अपि च । (पर्यस्वतीनाम्) कर्मणि षष्ठी । सारधतीनामोषधीनाम् । (आ)
समन्तात् (भुरे) भवामि । [सहस्रशः] बहुद्वयार्थाच्छ्रुत्वादन्यतरस्याम् । पा०
५ । ४ । ४२ । इति सहस्र-शस् । बहुप्रकारेण ॥

वेद' । अहम् । पयस्वन्तम् । चकार' । धान्यम् । बहु ॥ सम्-
भृत्वा । नाम' । यः । देवः । तम् । वयम् । हवामहे ।
यः- यः । अयज्वनः । गृहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पयस्वन्तम्) सार वाले परमेश्वर को
(वेद) जानता हूँ । (बहु) बहुत सा (धान्यम्) धान्य (चकार) उसने उत्पन्न
किया है । (यः) जो (देवः) दान शील ईश्वर (संभृत्वा) यथावत् पोषक
(नाम) नाम (अयज्वनः) यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में (योयः =
यस्-यः) गति वाला है, (तम्) उस [परमात्मा] का (वयम्) हम
(हवामहे) आवाहन करते हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ—प्रत्येक प्राणी उस उत्तम पदार्थों के भण्डार परमात्मा को
जानता है जो अनेक अन्न उपजा कर [धर्मात्माओं का तो क्या कहना है] पापियों
तक के घर भोजन पहुँचाता है । हम उसकी उपासना नित्य किया करें । ॥ २ ॥

शेख सादी शीराज़ी ने अपनी पुस्तक पुष्पवाटिका [गुलिस्तान] में इस मन्त्र
का आशय इस प्रकार दिखलाया है ।

२—(वेद) वेदि । जानामि । (अहम्) मनुष्यः । (पयस्वन्तम्) सार-
वन्तं परमात्मनः । (चकार) स उत्पादयामास । (धान्यम्) अ० २ । २६ । ५ ।
धारणसाधनम् । अन्नम् (बहु) अधिकम् (संभृत्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।
पा० ३ । २ । ७५ । इति सम्+भृञ् भरणे—कनिप् । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ।
पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । संभरणशीलः । सम्यक् पोषकः । (नाम) एतत्संज्ञः ।
(देवः) दानशीलः । (हवामहे) आह्वयामः । (योयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् ।
७० ४ । १८६ । इति या गतौऽसुन् । इति यस्, या—ड । यस्, गमनं याति प्राप्नो-
तीति योयः । गतियुक्तः । (अयज्वनः) सुयजोर्ब्रुनिप् । पा० ३ । २ । १०३ ।
इति यज—ब्रुनिप् । अकृतयागस्य । देवः जातंगतिकरणदानरहितस्य । (गृहे)
गृहे ॥

“ ये करीमे कि अज खजानै गैब । गब्रो तर्सा बजीफा खुर दारी ॥ १ ॥

बोस्ताँ रा कुजा कुनी महरूम । तो कि बा दुश्मनाँ नज़र दारी ॥ २ ॥”

हे ऐसे उदार कि तू गुप्त कोष से विरोधी और नास्तिक को पेटिया खिलाता है । मित्रों को तू कब निराश करे, जब कि तू द्वेषियों पर आँख रखता है ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।

वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

इमाः । याः । पञ्च । प्र-दिशः । मानवीः । पञ्च । कृष्टयः ॥

वृष्टे । शापम् । नदीः-इव । इह । स्फातिम् । सम्-आवहान् ॥३॥

उदुत्सं शतधारं सुहस्रधारमक्षितम् ।

एवास्माक्रेदं धान्यं सुहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

उत् । उत्सम् । शत-धारम् । सुहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥ एव ।

अस्माकं । इदम् । धान्यम् । सुहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥४॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः (जो (मानवीः = ०—व्यः) मानुषी

(पञ्च) पाँच भूत [पृथिवी आदि] से संबन्धवाली (कृष्टयः) प्रजाये (पञ्च प्रदिशः) पाँच फैली हुई दिशाओं में हैं, वे प्रजाये (शापम्) अनिष्ट वा मलिनता हटा कर (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती को (समावहान्) यथावत् लावें,

३, ४—(इमाः) परिदृश्यमानाः । (याः) कृष्टयः । (पञ्च) पञ्चसंख्या-काः । (प्रदिशः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । चतस्रः प्राच्याद्यः , पञ्चमो ध्रुवा दिग्, ऊर्ध्वा दिग्वा । (मानवीः) अ० ३ । २१ । ५ । मानव—जीप् । मानव्यः मानुष्यः । (पञ्च) पञ्चभूतसंबन्धिन्यः (कृष्टयः) किचकौ चसंज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति कृष विलेखने—किच ।

और (नदीः इव, नद्यः इव) जैसे नदियाँ (वृष्टे) बरसने पर [अनिष्ट वा मलिनता हटा कर] (शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाले और (सहस्रधारम्) सहस्रों विधि से धारण करने वाले, (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने के साधन [भरना, कूप आदि] को (उत् = उदावहन्ति) निकालती हैं, (एव = एवम्) ऐसे ही (अस्माक = अस्माकम्) हमारा (इदम्) यह (धान्यम्) धान्य (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाला और (अक्षितम्) अक्षय [होवे] ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती व्यापार आदि द्वारा पूर्वादि चार दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशा [वायु मंडल वा पाताल] से बहुत धन प्राप्त करे और अनेक प्रयोगों से उसकी यथावत् वृद्धि करे, जैसे बरसा का जल नदियों में एकत्र होकर और भरनों, कूपों, नालियों से खेती आदि में पहुँच कर दरिद्रता आदि मिटा कर संसार को लाभ पहुँचाता है ॥ ३।४ ॥

मन्त्र ३ व ४ युग्मकहै छन्द ।

शतहस्त सुमाहर् सहस्रहस्त सं किं ।

कृतस्य कार्यस्य चेह स्फुटिं सुमावह ॥५॥

प्रजाः । मनुष्याः—निघ० २ । ३ (वृष्टे) भावे—क्त । वर्षणे सति । (शापम्) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अगादाने द्वितीया । शापात् । शापम् अनिष्टं मलं वा वर्जयित्वा । (नदीः इव) नद्यो यथा (इह) अत्र । (स्फातिम्) स्फायो वृद्धौ—किन् । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति यलोपः । धनधान्यवृद्धिम् । (समावहान्) । सम् + आङ् + घहेल्लेटि आडागमः । सम्यग् आनयन्तु । वहेद्विकर्मकत्वात्, शापं स्फातिम्, इत्येतयोः कर्मत्वम् । (उत्) तृतीयमन्त्रसंबन्धात्, उत् + आङ् + घहन्तु । (उत्सम्) अ० १ । १५ । ३ । सेचनसाधनम् । निर्भरम् । कूपम् । (शतधारम्) बहुधारायुक्तम् । (सहस्रधारम्) बहु प्रकारेण धारकम् (अक्षितम्) अक्षीणम् । अनश्वरम् । (एव) एवम् (अस्माक) मलोपश्छान्दसः । अस्माकम् । (इदम्) परिदृश्यामनम् । अन्यद् गतम् ॥

शत-हस्त । सम्-आहर । सहस्र-हस्त । सम् । किरु ॥

कृतस्य । कार्यस्य । च । इह । स्फुतिम् । सम्-आवह ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शतहस्त) हे सैकड़ों हाथों वाले ! [मनुष्य !] [धान्य को—म० ४] (समाहर) बटोर कर ला, और (सहस्रहस्त) हे सहस्रों हाथों वाले (सम्) अच्छे प्रकार से (किर) फैला । (च) और (कृतस्य) किये हुए और (कार्यस्य) कर्तव्य कर्म की (स्फुतिम्) बढ़ती को (इह) यहाँ पर (समावह) मिलकर ला ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सैकड़ों और सहस्रों प्रकार से कर्मकुशल होकर, और सहस्रों कर्मकुशलों से मिल कर धन धान्य एकत्र करे और उत्तम कर्मों में व्यय करके आगा पीछा सोच कर सदैव उन्नति करता रहे ॥ ५ ॥

तिस्त्रो मात्रा गन्धुर्वाणां चतस्त्रो गृहपत्न्याः ।

तासां या स्फुतिमत्तमा तथा त्वाभिर्मृशामसि ॥ ६ ॥

तिस्त्रः । मात्राः । गन्धुर्वाणाम् । चतस्त्रः । गृह-पत्न्याः ॥

तासाम् । या । स्फुतिमत्-तमा । तथा । त्वा । अभि ।

मृशामसि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः) तीन (मात्राः) मात्रायें [भाग] (गन्धुर्वाणाम्)

५—(शतहस्त) हे बहुप्रकारेण हस्तक्रियाकुशल । हे बहुक्रियाकुशल मनुष्य ! (समाहर) समाहृत्य प्राप्तुहि । (सहस्रहस्त) असंख्यहस्तक्रियाकुशल-पुरुषैर्युक्त । (सम्) सम्यक् । शोभनगीत्या । (किर) कृ विक्षेपे । तृत इजातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इत्वम् । विक्षिप । प्रयच्छ । (कृतस्य) निष्पन्नम् । (कार्यस्य) अहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति कृञ्-ण्यत् । कर्तव्यस्य कर्मणः । (स्फुतिम्) म० ४ । समृद्धिम् । (समाहर) सम्यग आनय ॥

६—(तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (मात्राः) द्रुयामाभुभसिभ्यस्तम् । म० ४ । १५८ ।

विद्या वा पृथिवी धारण करने वालों की, और (चतस्रः) चार (गृहपत्याः) गृहपत्नी [घर की पालन शक्ति] की [होवे], (तासाम्) उन सब [मात्राओं] में से (या) जो (स्फातिमत्तमा) अत्यन्त समृद्धि वाली है, (तथा) उस [मात्रा] से (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से (मृशामसि = ०—मः) हम छूते [संयुक्त करते] हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब कुटुम्बी लोग जो धन धान्य कमावे, उसमें से उत्तम अधिकांश अनदेखे विपत्ति समय के लिये प्रधान पुरुष को सौंपें, और शेष के सात भाग करके तीन भाग विद्यावृद्धि और राजप्रबंध आदि और चार भाग सामान्य निर्वाह खान पान वस्त्र आदि में व्यय करें। यह वैदिक शिक्षा सब मनुष्यों के सुख का मूल है ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारै ते प्रजापते ।

ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भुमानुमक्षितम् ॥ ७ ॥

उप-ऊहः । च । समू-ऊहः । च । क्षत्तारै । ते । प्रजा-पते ॥

तो । इह । आ । वहताम् । स्फातिम् । बहुम् । भुमानम् ।

अक्षितम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक गृहस्व ! (उपोहः) योग [प्राप्ति] (च) और (समूहः) संग्रह [क्षेम वा रक्षा] दोनों (च) निश्चय करके

इति माङ्गलानि—अन्, दाप् । परिमाणानि (गन्धर्वाणाम्) अ० २ । १ । २ । गो + धुम्—व । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकाणाम् । (चतस्रः) (गृहपत्याः) गृह-पालनशक्तेः । (तासाम्) सर्वमात्राणाम् (स्फातिमत्तमा) स्फाति + मतुप् + तमप् + दाप् । अतिशयेन समृद्धियुक्ता । (त्वा) प्रधानम् (अभि) सर्वतः (मृशामसि) मृशामः । मृशामः । संयोजयामः ॥

७—(उपोहः) उप + ऊह वितर्क—घञ् । योगः । अ + ऊह वितर्क । (समूहः) सम् + ऊह—घञ् । समुदायः । क्षेमः । गन्धर्वाणाम् (क्षत्तारै) क्षण् बध्ने-क्विप्,

(ते) तेरे (क्षत्तारौ) क्षत्रिय [क्षति वा हानि से बचाने वाले] हैं । (तौ) वे दोनों (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती और (बहुम्) बहुत (अक्षितम्) अचूक (भूमानम्) अधिकार्ह (आ वहताम्) लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग पुरुषार्थ करके विद्या, धन, धान्य आदि जीवन सामग्री की १—प्राप्ति, २—रक्षा और ३—वृद्धि वा ऋद्धि सिद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

यजुर्वेद अ० २२ म० २२ का वचन है ।

योग क्षेमो नः कल्पताम् ॥

(नः) हमारा (योगक्षेमः) योग-अप्राप्त वस्तु का लाभ, और क्षेम - प्राप्त पदार्थ की रक्षा (कल्पताम्) समर्थ अर्थात् पर्याप्त होवे ॥

सूक्रम २५ ॥

१-६ ॥ कामो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

अविद्यानाशेन विद्यालाभोपदेशः—अविद्या के नाश से विद्या प्राप्त का उपदेश ।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।

इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

उत्-तुदः । त्वा । उत् । तुदतु । मा । धृथाः । शयने ॥ स्वे

इति क्षात् । तृ तरणे, शिच्—अच् । तारयतीति तारः । क्षातः क्षतात् रक्षकौ । क्षत्रियौ । (ते) तव । (प्रजापते) हे सन्तानपालक गृहस्थ । (तौ) तादृशौ । उपोहसमूहौ । (आ वहताम्) आनयताम् (स्फातिम्) म० ४ । समृद्धिम् (बहुम्) विपुलम् (भूमानम्) बहु-इमनिच् । बहोर्लोपो भूच बहोः । पा० ६ । ४ । १५८ । इति इमनिच् इकारलोपो बहोर्भूभाषश्च । धनधान्यविवरणं बहुभावम् । (अक्षितम्) क्षयरहितम् ॥

इषुः । कामस्य । या । भीमा । तया । विध्यामि । त्वा ।
हृदि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे अविद्या !] (उत्तुदः) तेरा उखाड़ने वाली [विद्वान्]
(त्वा) तुझको (उत् तुदतु उखाड़ दे । (स्वे शयने) अपने शयन स्थान (हृदय)
में (मा धृथाः) मत ठहर । (कामस्य) सुकामना का (या) जो [तेरे लिये]
(भीमा) भयानक (इषुः) तीर है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय
में (विध्यामि) बधेता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में स्त्री लिङ्ग शब्द अविद्या और विद्या के लिये
आये हैं । पहिले तीन मन्त्र अविद्यापरक, और पिछले तीन विद्यापरक हैं ।
अलङ्कार से अविद्या को दुःख दायिनी और विद्या को सुखदायिनी मानकर
संबोधन किया है ।

मन्त्र का आशय—सब स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्यादि तपोबल द्वारा अविद्या
को हृदय से मिटावें, जैसे शूर वीर योद्धा शत्रु सेना को अस्त्र शस्त्रों से मार
गिराता है ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषु संकल्पकुलमलाम् ।
तां सुननतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वां हृदि ॥ २ ॥
आधी-पुर्णाम् । काम-शल्याम् । इषुम् । संकल्प-कुलमलाम् ॥

१—(उत्तुदः) उत् + तुद व्यथने — क । ऊर्ध्वमुखं व्यथयिता । अविद्यायाः सर्व-
नाशको विद्वान् (त्वा) अविद्याम् (उत् तुदतु) उत्कृष्य व्यथयतु नाशयतु । (मा-
धृथाः) धृम् धारणो—लुङ्, लुङ्, योगे अङ्भावः ॥ शिता मा भूः (शयने) । शीङ्—
ल्युट् । निद्रास्थाने । ब्रह्मचारिहृदये—इत्यर्थः । (स्वे) आत्मयी । (इषुः) तीरम् ।
(कामस्य) सुकामस्य । विद्याभिलाषस्य । (भीमा) भियःपुण् वा । उ० १ । १४८
इति हि भी—अपादाने मक्, टाप् । भयानका (तया) इष्वा (विध्यामि) व्यथ
ताडने । ताडयामि (हृदि) हृदये ॥

ताम् । सुसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा ।
हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आधीपर्णाम्) अधिष्ठान वा प्रतिष्ठा के पंख वाले,
(कामशल्याम्) वीर्य [तपोबल] की अणि वाले (संकल्पकुलस्ताम्) संकल्प के
बंड छिद्र वाले (ताम्) उस [प्रसिद्ध, बुद्धि रूपी] (इषुम्) तीर को (सुसंन-
ताम्) ठीक २ लक्ष्य पर सीधा (कृत्वा) करके (कामः) सुन्दर मनोरथ (त्वा)
तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदया में (विध्यतु) बेधे ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी योगी बुद्धि बल से अविद्या को हटाकर प्रतिष्ठा-
वान्, बलवान्, और सत्य संकल्पी होता है ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषद् का वचन है, मुण्ड २ खण्ड २ मन्त्र ४ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्येत ।
अप्रममत्तेन वेद्वाव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १ ॥

(प्रणवः) ओ३म् (धनुः) धनुष् (आत्मा हि) आत्मा ही (शरः) तीर, और
(ब्रह्म) ब्रह्म (तल्लक्ष्यम्) उसका लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है, (अप्रमत्तेन)
अप्रमत्त, अति सावधान मनुष्य (वेधव्यम्) बेधे, और वह (शरवत्) तीर के समान
(तन्मयः) उसमें लय (भवेत्) हो जावे ॥

।२—(आधीपर्णाम्) आ+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, डीप् । धापूवहव-
ज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पृ पालनपूरणयोः—न । आधी अधिष्ठानं प्रतिष्ठा
पणं पत्रमिव यस्यास्तां तथाविधाम् । (कामशल्याम्) शल्यः । अ० २ । ३० । ३ ।
कामं वीर्यं तपोबलं शल्यो वाणाप्रभाग इव यस्यास्तां तथोक्ताम् (इषुम्) तीरम् ।
(संकल्पकुलमलाः) सम्+कृप् साकर्ष्ये—घञ्, रस्य लः । कुलमलम् । अ०
२ । ३० । ३ । संकल्पो हृद्विचारः कुलमलं वाणदण्डद्विप्रमिव यस्यास्तां तथाक्ताः ।
(ताम्) प्रसिद्धाम् । (सुसंनताम्) सु+सम्+णम नतौ ।—क । सुष्ठु सम्यङ् नतां
लक्ष्यीकृताः । (कृत्वा) विधाय (कामः) कमु-घञ् । सुमनोरथः, यथा धर्माद्य-
काममोहाः । (विध्यतु) म० १ । ताडयतु (त्वा) त्वामविद्याम् (हृदि) हृदये ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।

प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

या । प्लीहानम् । शोषयति । कामस्य । इषुः । सु-संनता ।
प्राचीन-पक्षा । वि-ओषा । तया । विध्यामि । त्वा ।
हृदि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामस्य) सुन्दर मनोरथ का (सुसंनता) ठीक २ लक्ष्य पर चलाया हुआ, (प्राचीनपक्षा) प्राचीन [वेदविज्ञान] का पँख रखने वाला, (व्योषा) विविध प्रकार से [अविद्या का] दाह करने वाला [बुद्धिरूपी] (या) जो (इषुः) तीर [अविद्या की] (प्लीहानम्) गति [वा तिल्लीनाम मर्मस्थान] को (शोषयति) सुखा देता है, (तया) उससे (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बेधता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और दृढ़ प्रतिज्ञा से वेदविज्ञान द्वारा अविद्या मिटाकर आनन्द भोगे, जैसे शर बैरी का मर्म स्थान छेद कर सुखी होता है ॥ ३ ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।

मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुग्रता ॥ ४ ॥

शुचा । विद्धा । वि-ओषया । शुष्क-आस्या । अभि । सर्प ।
मा ॥ मृदुः । नि-मन्युः । केवली । प्रिय-वादिनी । अनु-ग्रता ४

३—(प्लीहानम्) अ० २ । ३३ । ३ । सिंह गतौ-कनिम । गमनम् । कुक्षिधाम-पार्श्वस्थमंसलण्डम् (शोषयति) दहति (कामस्य) सुमनोरथस्य (इषुः) तीरम् (सुसंनता) सुष्ठु सम्यक् लक्ष्यीकृता (प्राचीनपक्षा) प्राचीनं वेदविज्ञानं पक्षा इव यस्याः सा तथोक्ता (व्योषा) वि + उष दाहे-पचाद्यच्, टाप् । विशेषेण दाह-शीला । अन्यद्वगतम्-म० १ ॥

४—(शुचा) शुच शोके-किप् । शोकेन । पीडया (विद्धा) ताडिता (व्योषया)

भाषार्थ—[हे विद्या,] (व्योषया) विशेष दाह करने वाली (शुचा) पीड़ा से (विद्धा) विधी हुई, (श्रुत्वा) सूखे मुखे वाली, (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली (निमन्युः) निरभिमान, (केवली) सेवनीया, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलने वाली और (अनुव्रता) अनुकूल आचरण वाली [पतिव्रता स्त्री के समान] तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) चली आ ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहाँ से तीन मन्त्र विद्यापरक हैं। मन्त्र का आशय यह है, जो ब्रह्मचारी विद्या के लिए पूरी लात्तसा से यत्नपूर्वक परिश्रम करता है, विद्या शीघ्र ही उसको मिल कर हितकारिणी होती है, जैसे सती गुणवती स्त्री मन, वचन, और कर्म से अपने पति की सेवा करती है ॥ ४ ॥

ऋग्वेद के परब्रह्मज्ञान सूक्त वा विद्यासूक्त में भी विद्या की उपमा पतिव्रता स्त्री से दी है, ऋ० म० १० सू० ७१ म० ४ ॥

उत त्वः पश्यन्न दृदर्शं वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम ।
उतो त्वस्मै तन्वन् वि सन्ने जायेव पत्य उशती सुवासाः १

(त्वः) एक पुरुष ने (पश्यन् उत) देखते हुये भी (वाचम्) बौद वाली को (न ददर्श) नहीं देखा है, (त्वः) एक पुरुष (शृण्वन् उत) सुनता हुआ भी (एनाम्) इसको (न शृणोति) नहीं सुनता है । (उतो) किन्तु (त्वस्मै) एक पुरुष को [अपना] (तन्वम्) स्वरूप [परमज्ञान] (विसन्ने) उसने दिखाया है, (इव) जैसे (उशती) अनुरागवती (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र वाली (जाया) पत्नी [अपने] (पत्ये) पति को ॥ १ ॥

म० ३। विशेषेण दाहशीलया (शुष्कास्या) शुष्कमुखयुक्ता (अभि) अभिगत्य । उपेत्य (सर्प) गच्छ (मृदुः) प्रथिन्नदिभ्रस्त्रां० उ० १। २८ । इति ब्रह्म ऋदे—कु । संप्रसारणं च । कोमलस्वभावा (निमन्युः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३। २० । इति मन गर्वे—युच् । निरभिमाना (केवली) अ० ३। १८ । २ । केवलमामक० । पा० ४। १ । ३० । इति डीप् । सेवनीया । सेवमाना वा (प्रियवादिनी) हितभाषिणी (अनुव्रता) अनुकूलाचरणपरा ॥

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः ।

यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

आ । अजामि । त्वा । आ-अजन्या । परि । मातुः ।

अथो इति । पितुः ॥ यथा । मम । क्रतौ । असः । मम ।

चित्तम् । उप-आयसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हे विद्या !) (त्वा) तुझ को (आजन्या) पूरे उपाय से [अपनी] (मातुः) माता से (अथो) और (पितुः) पिता से (परि) सब ओर (आ) यथानियम (अजामि) प्राप्त करता हूं, (यथा) जिस से (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) दूर रहे, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता आदि से विद्या पाकर परीक्षा द्वारा साक्षात् करके हृदय में दृढ़ करें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से अथर्व० १ । ३४ । २ । में आया है ॥

द्यस्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम् ।

अथै'नामक्रतुं कृत्वा ममेव कृणुतं वशै ॥ ६ ॥

वि । अस्यै । मित्रावरुणौ । हृदः । चित्तानि । अस्यतम् ॥

५-(आ) समन्तात् (अजामि) अज गतिकोपगयोः । गच्छामि । प्राप्नोमि (आजन्या) आ + अज गतौ- ल्युट्, ऊिप् । समन्ताद् गत्या । पूर्णोपायेन (परि) सर्वतः (मातुः) जनन्याः सकाशात् (अथो) अपि च (पितुः) पालकात् । जनकात् (यथा) येन प्रकारेण । अन्यद् व्याख्यतम्—अ० १ । ३४ । २ ॥

६—अथै । अस्या विद्यायाः प्राप्तये (मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । हे प्राणा-

अथ । एनाम् । अक्रतुम् । कृत्वा । मम । एव । कृणु-
तम् । वशे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान (अस्यै) इस [विद्या]
के लिये [मेरे] (हृदः) हृदय के (चित्तानि) विचारों को (वि अस्यतम्)
कैलाओ । (अथ) और (एनाम्) इस को (अक्रतुम्) अहिंसिका [हित-
कारिणी] (कृत्वा) करके (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्)
करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्राण और अपान अर्थात्
इन्द्रियों को जीतकर अपने विचारों को बढ़ाकर महाहितकारिणी विद्या को
उपयोगी बनावें ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:०:—

सूक्तम् २६ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः । जगती त्रिष्टुप् वा छन्दः ॥

युद्धगीतिः—मारु गीत ॥

ये ३' स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम' हे वास्तेषां वो
अग्निरिषवः । तेनो मृदतु ते नोऽधि ब्रूत तभ्यो वो नम-

पानौ (हृदः) मम हृदयस्य (चित्तानि) ज्ञानानि । विचारान् (वि + अस्यतम्)
असु क्षेप्यो । विस्तारयतम् (अथ) अनन्तरम् (एनाम्) निर्दिष्टाम् (अक्रतुम्)
कृञ् कतुः ३० १ । ७ ६ । इतिकृञ् हिंसायाम्—कतु । अहिंसाशीलाम् । सुक-
प्रदाम् (कृत्वा) विधाय (कृणुतम्) कुरुतम् (वशे) आयत्तत्वे । प्रभुत्वे ॥

स्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि । हेतयः । नाम ।
देवाः । तेषाम् । वः । अग्निः । इषवः ॥ ते । नः । मृडतु ।
ते । नः । अधि । ब्रूतु । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः ।
स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व वा सन्मुख
(दिशि) दिशामें (हेतयः) वज्र रूप (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने
वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारी (अग्निः) अग्नि [अग्नि
विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडतु) सुखी करो, (ते)
वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूतु) बोलो, (तेभ्यः
वः) उन तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे
लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा] होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—सेनानी अपनी सेना का व्यूह करके आग्नेय अस्त्र वाले शूर

१-(ये) ये यूयं शूराः (अस्याम्) निर्दिष्टायाम् (स्थ) भवथ (प्राच्याम्) ऋत्वि-
ग्वधृक्छग० । पा० ३ । २ । ५६ इतिप्र+अञ्चू गतिपूजनयोः—किन् । अनिदितां
हल उप० । पा० ६ । ४ । २ । ४ । इति नलोपः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । अत्र वार्त्ति-
कम् । अञ्चतेश्चोपसंस्थानम् । इति ऊीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति
अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति पूर्वपदस्य दीर्घः । स्वस्थानात् पूर्व-
स्याम् । स्वाभिमुखीभूतायाम् (दिशि) दिशायाम् (हेतयः) अ० १ । १३ । ३ ।
वज्ररूपाः । हन्तारः (नाम) प्रसिद्धाः (देवाः) विजिगषीवः (तेषाम्) पूर्वदिक्-
स्थानाम् (वः) युष्माकम् (अग्निः) पावकः (इषवः) अ० १ । १३ । ४ ।
वाणाः । तीराणि (ते) ते यूयम् (नः) अस्मान् (मृडतु) सुखयत (नः) अस्-
वर्धम् (अधि) अधिकारेण । ऐश्वर्येण (ब्रूतु) वदत । विज्ञापयत (तेभ्यः)
तथाविधेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (नमः) सत्कारः । अन्नम्-निघ० २ । ७ (स्वाहा)
अ० २ । १६ । १ । वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । सुवाणी । प्रशंसा ॥

बीरों को पूर्व दिशा में वा अपने सन्मुख स्थान में रखने, वे लोग शत्रुओं को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ १ ॥

ये ३' स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ॥ ते नो मृडतु ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इषवः ॥ ते । नः । मृडतु । ते । नः । अधि । ब्रूतु । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण की दाहिनी (दिशि) दिशा में (अविष्यवः) रक्षा की इच्छा वाले (नाम) नाम देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (कामः) मनोरथ (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें..... [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—दक्षिण दिशा वा दाहिनी ओर वाले रक्षक विजयी वीर दृढ़ मनोरथ से शत्रुओं को जीत कर..... [म० १] ॥ २ ॥

२—(अस्याम्) स्यादभावश्चान्दसः । दक्षिणस्याम् । दक्षिणहस्तसितायाम् (अविष्यवः) अर्चिशुचि इसिः । उ० २ । १०८ । इति अव रक्षणे-इसि । इति अविः, रक्षणम् । छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उपत्ययः । अवनेच्छवः । पररक्षणेच्छवः । (कामः) दृढ़मनोरथः । इष्टविषयोऽभिलाषः । अन्य गतम्—म० १ ॥

युं ३ 'स्यां स्थ प्रतीच्या' दिशि वैराजा नाम देवास्ते-
षां व आप इषवः ॥ ते नो मृडतु ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो
वो नमुस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्रतीच्याम् । दिशि । वैराजाः ।
नाम् । देवाः । तेषाम् । वः । आपः । इषवः ॥ ते । नः ।
मृडतु । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः ।
तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा
पीछे वाली (दिशि) दिशा में (वैराजाः) विविध ऐश्वर्य वाले क्षत्रिय (नाम)
नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा
(आपः) जल [जल विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें
..... [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—पश्चिम वा पीछे वाली दिशा के क्षत्रिय लोग वारुणेय वा
जलालों से शत्रुओं को जीत कर [म० १] ॥ ३ ॥

युं ३ 'स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्ते-
षां वो वातु इषवः । ते नो मृडतु तो नोऽधि ब्रूत तेभ्यो

३—(प्रतीच्याम्) प्राच्याम्, म० १ । त्यत्रोक्तपकारेण रूपसिद्धिः । पश्चि-
मायाम् । पश्चिमोक्तायां स्थितायाम् (आपः) जलानि (वैराजाः) राजति, ऐश्वर्य-
कमुत्पु-निघ० २ । २१ । वि + राजृ ऐश्वर्ये—भावे कृप् । तद्वयेदम् । पा० ४ । ३ ।
१२० । इति अण् । विराट्, विविधं राज्यं येषां ते वैराजाः । क्षत्रियाः । विविधै-
श्वर्यवन्तः । अन्यद्वगतां म० १ ॥

व्यो नमुस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ४ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । उदीच्याम् । दिशि । प्र-विध्यन्तः ।
नाम । देवाः । तेषाम् । वुः । वातः । इषवः ॥ ते । नः ।
मृडत । ते । नः । अधि । ब्रुत । तेभ्यः । वुः । नमः । तेभ्यः ।
वुः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (उदीच्याम्) उत्तर वा
बायीं ओर वाली (दिशि) दिशा में (प्रविध्यन्तः) वेधने वाले (नाम) नाम
(देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (वातः)
पवन (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तर वा बायीं ओर वाली दिशा में बरछी, भाले, गोली
आदि से छेदने वाले, वायु विद्या में कुशल योधा, वायव्य अस्त्र शस्त्र, विमानों
द्वारा बैरियों को जीत कर [म० १] ॥ ४ ॥

ये ३' स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्ते-
षां वु ओषधी रिषवः । तेनो मृडत ते नोऽधि ब्रुत तेभ्यो
व्यो नमुस्तेभ्यो वुः स्वाहा ॥ ५ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ध्रुवायाम् । दिशि । नि-लिम्पाः ।

४—(उदीच्याम्) उत्पूर्वाद् अञ्चतेः पूर्ववत् किनादि-म० १ । उद् ईत् ।
पा० ६ । ४ । १३६ । इति धात्वकारस्य ईकारः । उत्तरस्याम् । वामभागवर्त्तमाना-
याम् (वातः) पवनः । वायुविद्या (प्रविध्यन्तः) व्यध वेधने-शत । प्रकषेण वेधनं
कुर्वन्तः । अन्यद्गतम्-म० १ ॥

५—(ध्रुवायाम्) अ० २ । २६ । ४ । स्त्रियायाम् । निश्चिन्तायाम् (निलिम्पाः)

नामं । देवाः । तेषाम् । वृः । ओषधीः । इषवः ॥ ते । नुः ।
मृडुतु । ते । नुः । अधि । ब्रूतु । तेभ्यः । वृः । नमः ।
तेभ्यः । वृः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिर वा
निश्चित (दिशि) दिशा में (निलिम्पाः) लेप करने लाले वैद्य (नाम) नाम
(देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, तेषाम् वः) उन तुह्यारी (ओष-
धीः) अन्न, सोमलतादि ओषधियां (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः)
हमें.....म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—लेप, पट्टी आदि करने वाले सङ्घैद्यदृढ निश्चित स्थान
में औषधालय बना कर सैनिकों को स्वस्थ रखकर शत्रुओं को जीत कर.....
[म० १] ॥ ५ ॥

ये ३' स्यां स्योर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां
वो वृहस्पतिरिषवः । ते नो मृडुतु ते नोऽधि ब्रूतु तेभ्यो
वो नमुस्तेभ्यो वृः स्वाहा ॥ ६ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ऊर्ध्वायाम् । दिशि । अवस्वन्तः ।
नामं । देवाः । तेषाम् । वृः । वृहस्पतिः । इषवः । ते ।
नुः । मृडुतु । ते । नुः । अधि । ब्रूतु । तेभ्यः । वृः ।
नमः । तेभ्यः । वृः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर

नी लिम्बेरिति वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । १३८ । इति नि + लिप लेपे मुच्चादिः—
शमत्ययः । कितरां लेपनकर्तारः सङ्घैद्याः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । ओष-
धयः । ब्रीहियवसोमलताद्याः । अन्यद् गतम् म० १ ॥

६—ऊर्ध्वायाम् । उद् उपरि ध्वन्यते । ध्वन शब्दे उ । आदेशुरादेशः ।

वाली (दिशि) दिशा में (अवस्वन्तः) रक्षा के अधिकारी (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्व) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (बृहस्पतिः) बड़ों का स्वामी, मुख्य सेनापति (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोले, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (वमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बड़े साहसी रक्षाधिकारी, युद्ध विद्या में कुशल योधा लोग ऊँचे स्थान पर रहकर मुख्य सेनापति की सहायता से बैरियों को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६॥ मन्त्रोक्ता देवताः । प्रथमापङ्क्तिः—द्विपदा त्रिष्टुप्, द्वितीया द्विपदा भुरिग्जगती, तृतीया द्विपदानुष्टुप् ॥

सेनाव्यूहोपदेशः—सेना व्यूह का उपदेश ॥

प्राची दिग्ग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो
नम एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म-
स्तं वो जम्भे दधमः ॥ १ ॥

प्राची । दिक् । अग्निः । अधि-पतिः । असितः । रक्षिता ।

टाप् उपरि वर्त्तमानायाम् (अवस्वन्तः) अव रक्षणगतिस्पृहादिषु—असुन् , मतुप् च । अवनवन्तः । रक्षाधिकारिणः (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां योद्धाणां पतिः । मुख्यसेनापतिः । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

१—प्राची । प्राच्याम् । सू० २६ मा० १ । इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः ।

आदित्याः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपतिभ्यः । नमः ।
रक्षितृभ्यः । नमः । इषुभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः ।
जम्भे । दध्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राची = प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक् =

दिशः) दिशा का (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या में निपुण सेनापति] (अधिपतिः)
अधिष्ठाता हो, (असितः) कृष्ण सर्प [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता)
रक्षक हो, (आदित्याः) सूर्य से संबंध वाले (इषवः) वाण हों । (तेभ्यः)
उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाओं और (रक्षितृभ्यः) रक्षकों के लिये (नमोनमः)
बहुत बहुत सत्कार वा अन्न और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) वाणों [वाण
वालों] के लिये (नमोनमः) बहुत सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (यः)
जो [बैरी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस
[बैरी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) बैर करते हैं, [हे शत्रु] (तम्) उसको
(वः) तुम्हारी (जम्भे) जबड़े में (दध्मः) हल धरते हैं ॥ १ ॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तिलोपः । प्राच्याः । पूर्वायाः । अग्निमुः
खीभूतायाः (दिक्) विभक्तिलोपः । दिशः (अग्निः) अग्निविद्यायां कुशलः पुरुषः
(अधिपतिः) अधिष्ठाता । स्वामी (असितः) अ० १ । २३ । ३ । अबद्धः । कृष्ण-
वर्णः सर्पः—इति सायणः । कृष्णसर्पवत् सेनाव्यूहः (रक्षिता) रक्षकः (आदित्याः)
अ० १ । ६ । १ । दित्यदित्यादित्य० पा० ४ । १ । ५८ । इति आदित्य—एय प्रत्ययः ।
आदित्यस्य सूर्यस्य सम्बन्धिनः । सूर्यविद्युदग्निप्रयोगेण सिद्धाः (इषवः) अ०
१ । १३ । ४ । आयुधानि—इति सायणः । इक्षुरीषतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा—
निरु० ६ । १८ । वाणः । अन्नशस्त्राणि । इषुधारिणः । शूराः (तेभ्यः) दूरस्थेभ्यः ।
(नमः नमः) अतिशयेन सत्कारोऽन्नं वा । नमः = अन्नम्—निरु० २ । ८ (एभ्यः)
समीपस्थेभ्यः (यः) दुष्टः । शत्रुः (द्वेष्टि) बाधते (द्विष्मः) बाधामहे (वः)
सुष्माकम् । शूराणाम् (जम्भे) जम्भि नाशे-वञ् । हनौ [Jaw] (दध्मः)
धारयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भावार्थ—(आदित्याः इषवः) वाण अर्थात् सब अन्न शन्न सूर्य वा बिजुली वा अग्नि के प्रयोग से चलने वाले हों । शत्रु दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो अपनी दुष्टता से धर्मात्माओं को बुरा जानते हैं, दूसरे वे जिन को धर्मात्मा लोग उनकी दुष्टता के कारण बुरा समझते हैं । उक्त दिशा में (अग्नि) पद वाला सेनापति (असित) नाम काले साँप के समान सेना व्यूह से ऐसे दुष्टों को जीत कर सैनिकों सहित यशस्वी होकर धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिग्निन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितरु
इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम
इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं
द्विवृष्मस्तं वो जग्महे दधमः ॥ २ ॥

दक्षिणा । दिक् । इन्द्रः । अधि-पतिः । तिरश्चि-राजिः ।
रक्षिता । पितरः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः ।
रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विवृष्मः । तम् ।
यः । जग्महे । दधमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणा—०—णायाः) दक्षिण वा दाहिनी ओर वाली

२—(दक्षिणा) दक्षिणायाः (दिक्) दिशः । दिशायाः । उभयत्र चित्रकोर्ण
(तिरश्चिराजिः) अश्विनदधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति तिरस् + अश्वि गति-
पूजनयोः— किन् । अनिदितां हस्त उप० । पा० ६ । ४ । २४ । इति गतोषः । उभि-
तश्च । पा० ४ । १ । ६ । अत्र वार्तिकम् । अश्विनदधृक्पसंख्यान् । इति क्रीप् ।
छान्दसो ह्रस्वः । वसिष्ठपिपजिराजि० । उ० ४ । १२५ । इति राज्ञु वीसी, देव्यै
व-दधम् । तिरश्च्यः तिर्यग् अवस्थिताराजयः, भावकयः, यस्मै तथा विषः स्वर्ग-

(दिक् = दिशः) दिशा का (इन्द्रः) बड़े पेश्वर्य वाला इन्द्र [अधिकारी सेना-पति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (तिरश्चिराजिः) तिरछी धारी वाले सांप यद्वा पशु पक्षी आदि की पंक्ति [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (पितरः) रक्षा करने वाले (इषवः) वाण होवें । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठानाओं और..... [म० ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—उक्त दिशा में (इन्द्र पदधारी सेनापति (तिरश्चिराजि) नाम सेना व्यूह करके शत्रुओं को जीत कर.....[म० १] ॥ २ ॥

प्रतीची गिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नुमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम
एभ्यो अस्तु । यो ३' स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विवृष्मस्तं वो
जम्भे दधमः ॥ ३ ॥

प्रतीची । दिक् । वरुणः । अधि-पतिः । पृदाकुः । रक्षिता ।
अन्नाम् । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः ।
रक्षितृभ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥
यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विवृष्मः । तम् ।
वः । जम्भे । दधमः ॥ ३ ॥

इति सायणः । तथाविद्यत्वात् सनाहः । यद्वा तिरश्चीनां तयर्गजातीनां
पञ्चपादानां पङ्क्तिवत् पङ्क्तिर्यस्य तथाविधः सेना व्यूहः (पितरः) अ० १ ।
२ । १ । रक्षकाः । इषवः, इत्यस्य विशेषणम् । अन्यद् गतम् ॥

३—(प्रतीची) प्रतीक्याः परिचमायाः वश्चाद्भागस्याया वा (दिक्)

भाषार्थ—(प्रतीची = ०—च्याः) पश्चिम वा पीछे की (दिक् = दिशः) दिशा का (वरुणः) शत्रुओं का रोकने वाला, वरुण [पदवाला सेनापति (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (पृदाकुः) अजगर, बिच्छू, बाघ, चीता वा हाथी [के समान सेनाव्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, और (अन्नम्) अन्न (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और..... [म० १] ॥ ३ ।

भाषार्थ—उक्त दिशा में (वरुण) नाम अधिकारी सेनापति (पृदाकु) नाम सेनाव्यूह बना कर, और अन्न आदि सामग्री एकत्र रखकर शत्रुओं को जीत कर..... [म० १] ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम
एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विषुष्मस्तं वो
जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

उदीची । दिक् । सोमः । अधि-पतिः । स्वजः । रक्षिताः ।
अशनिः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः ।
रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । यः ।
अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विषुष्मः । तम् । वः ।
जम्भे । दध्मः ॥ ४ ॥

दिशः (वरुणः) वारयति शत्रूनि । शत्रुनिवारकः सेनापतिः (पृदाकुः) अ०
१ । २७ । १ । अजगरः । वृश्चिकः । व्याघ्रः । चित्रकः । गजः । तद्वत् सेना व्यूहः
(अन्नम्) अन्न भक्षण- क । सेनारक्षासाधनं भोजनम् । अन्यद् गतम् ॥

४—(उदीची) उदीच्याम्-सू० २६ म० ४ । तत्रवद् रूपसिद्धिः । उदीच्याः । उत्तर-

भाषार्थ—(उदीची = ० - व्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (सोमः) प्रेरक वा उत्तेजक [सोम पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (स्वजः) आप उत्पन्न होने वाले वा बहुत दौड़ने वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण होवे । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और..... [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस दिशा में (सोम) नाम अधिकारी सेनापति (स्वज) नाम सेना व्यूह रच कर बिजुली के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीत कर..... [म० १] ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कुल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुधु
इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम
इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं
दिवुष्मस्तं वो जम्भे दधमः ॥ ५ ॥

ध्रुवा । दिक् । विष्णुः । अधिपतिः । कुल्माष-ग्रीवः ।
रक्षिता । वीरुधुः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-
भ्यः । नमः । रक्षितृभ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः ।
एभ्यः । अस्तु ॥ यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् ।

भागस्थितायाः । वामभागवर्त्तमाना याः (सोमः) अ० ३ । १६ । १ । पू प्रेरणे-
मन्, तुदादिः । प्रेरकः । उत्तेजकः सेनापतिः (स्वजः) स्व+जः । यद्वा । सु+
अज गतिकेपणयोः—अच् । स्वयमेवोत्पन्नः स्वजनशीलो वा सर्पः स्वजः—इति
सायणः । तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूहः (अशनिः) अर्तिस्तेष्टधूम्यभ्यङ्ग, उ०
२ । १०२ । इति अश भक्षणे; वा अशू व्यासौ—अनि । नि । अथा ॥ अन्यद्
गतम् ॥

द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवा = ध्रुवायाः) स्थिर (दिक् = दिशः) दिशाका (विष्णुः) कामों में व्यापक [सदैव] (अधिपतिः) अधिष्ठाता होवे, (कल्माषग्रीवः) चितकबरे वा काले गले वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (वीरधः) जड़ी बूटी ओषधें (इषवः) वाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और..... [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—सदैव दृढ़ वा निश्चित स्थान में औषधालय से सैनिकों को स्वस्थ रखे और उसके साथ सेना (कल्माषग्रीवा) नाम व्यूह बनाकर रहे, और सब मिलकर शत्रुओं को जीतकर..... [म० १] ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमि-
षवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषु-
भ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो ३ स्मान् द्वेष्टि यं वुयं द्वि-
ष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वा । दिक् । बृहस्पतिः । अधिपतिः । श्वित्रः । रक्षिता ।
वर्षम् । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपतिभ्यः । नमः ।
रक्षितृभ्यः । नमः । इषुभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥

५—(ध्रुवा) अ० २ । २६ । ४ । ध्रुवायाः । स्थिरायाः (दिक्) दिशः ।
(विष्णुः) अ० ३ । २० । ४ । वेवेष्टि कार्याणि स विष्णुः सदैवः (कल्माषग्रीवः)
कल गतौ—किप्, मष बधे—अण् । शेवायङ्गिङ्गाग्रीवा० । उ० १ । १५४ । इति
गुनिगलने—बन् । कल्माषः कृष्णवर्णः ग्रीवासु यस्य स कल्माषग्रीवः, एतदाख्यः
सर्पः—इति सायणः । चित्रग्रीवायुक्तः कृष्णग्रीवायुक्तो वा सर्प इव सनाहः
(वीरधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला ओषधयः । शिष्टं स्पष्टम् ॥

[कृपया इस पत्र को तृतीय काण्ड पृष्ठ ५८१ पर लगा लीजिये]

टिप्पणी—यही मन्त्र [अथर्व का० ३ सू० २७ म० १-६] महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत पुस्तक “पञ्चमहायज्ञविधिः” में “मनसा परिक्रमा मन्त्राः” के नामसे ईश्वर परब्रह्म अर्थ में आये हैं, वह अर्थ इस प्रकार होता है ॥

भाषार्थ—(प्राची=प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (असितः) बन्धन रहित (रक्षिता) रक्षक है, [जिसके] (आदित्याः) प्राण और किरणें (इषवः) बाण [के समान] हैं । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाता, (रक्षितृभ्यः) रक्षा करने वाले ईश्वर गुणों को (नमो नमः) बारं बार नमस्कार, और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) बाणों [पापियों के लिये बाणरूप गुणों] को (नमो नमः) बारम्बार नमस्कार (अस्तु) होवे । (यः) जो [अज्ञानी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [अज्ञानी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) बैर करते हैं, [हे ईश्वर गुणो !] (तम्) उस को (वः) तुम्हारे (जन्मे) मुख वा वश में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सन्मुख और पूर्व दिशा में जगद्रक्षक परमात्मा को साक्षात् जानकर पापों से बचें और सब प्राणी अज्ञान और बैर छोड़कर परस्पर मित्र रहें । यही भावार्थ अगले मन्त्रों में लगाले ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणा=दक्षिणस्याः) दक्षिण वा दाहिनी (दिक्=दिशः) दिशा का (इन्द्रः) पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमेश्वर, (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (तिरश्चिराजिः=०—जेः) तिरछे चलने वाले कीट, पतङ्ग बिच्छू आदि की पंक्ति से (रक्षिता) बचाने वाला है, और (पितरः) ज्ञानी लोग (इषवः) बाण [के समान] हैं । (तेभ्यः) उन...[म० १] ॥ २ ॥

१—(अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (असितः) बिज् बन्धने—क्त । बन्धनरहितः (आदित्याः) प्राणाः किरणाश्च (तेभ्यः) ईश्वरगुणेभ्यः । अन्यद्गतं स्पष्टं च ॥

२—(इन्द्रः) परमेश्वर्ययुक्तः परमेश्वरः (तिरश्चिराजिः) पञ्चम्यर्थे प्रथमा । तिर्यग्गतीनां कीटपतङ्गवृश्चिकादीनां पङ्क्तैः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(प्रतीची—०-च्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (वरुणः) सब में उत्तम परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता, (पृदाकुः=०-कुभ्यः) बड़े २ अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से (रक्षिता) बचाने वाला है, अन्नम्) जिसके अन्न [अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ] (इषवः) बाण [बाणों के समान श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के लिये] हैं । (तेभ्यः) उन.....[म० १] ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उदीची=०-च्याः) उत्तर वा बाईं (दिक्=दिशः) दिशा का (सोमः) सब जगत् का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (स्वजः) अच्छे प्रकार अजन्मा (रक्षिता) बचाने वाला है, [जिसके] (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण हैं । (तेभ्यः) उन.....[१] ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवा=ध्रुवायाः) नीचे वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (कल्माषघ्नीवः) हरित रंग वाले वृक्षादि की प्रांवा वाला (रक्षिता) बचानेवाला है, [जिसके] (वीरुधः) सब वृक्ष (इषवः) बाण [के समान] हैं । (तेभ्यः) उन.....[म० १] ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वा=ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़ी वाणी अर्थात् वेदशास्त्र, और बड़े आकाशादि का स्वामी परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (शिवत्रः) ज्ञानमय और वृद्धिमय (रक्षिता) बचाने वाला है, जिसके (वर्षम्) बरसा के बिन्दु (इषवः) बाण [के समान] हैं । (तेभ्यः) उन.....[म० १] ॥ ६ ॥

३—(वरुणः) सर्वोत्तमः परमेश्वरः (पृदाकुः=पृदाकुभ्यः) अजगर-सर्पादिमहाविषधारिभ्यः प्राणिभ्यः (अन्नम्) कृवृज० । उ० ३ । १० । इति अन्न जीवने—न । पृथिव्यादिपदार्थः ॥

४—(सोमः) सर्वजगदुत्पादकः (स्वजः) सु-अजः । सुष्ठु अजन्मा ॥

५—(ध्रुवा=ध्रुवायाः) अधः स्थायाः (विष्णुः) व्यापक ईश्वरः (कल्माषघ्नीवः) कल्माषा हरितवर्णा वृक्षादयो प्रांवापद् यस्य सः (वीरुधः) वृक्षाः ।

६—(बृहस्पतिः) बृहत्या वाचो बृहतो वेदशास्त्रस्य बृहतामाकाशादानां च पतिः (शिवत्रः) अमिचिमिशसिभ्यः लूः । उ० ४ । १६४ । इति दुर्भोशिव गति-वृद्धयोः-क । ज्ञानमयो वृद्धिमयश्च ॥

यः । अस्मान् । द्रुवेष्टि' । यम् । वृयम् । द्रियुष्मः । तम् ।
वः । जम्भे । द्रुध्मः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक् = दिशः)
दिशा का (बृहस्पतिः) बड़े २ शरों का स्वामी, बृहस्पति [पद वाला सेनापति]
(अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (श्वित्रः) श्वेत वर्ण वाले सांप [के समान सेना
व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, (वर्षम्) वर्षा [वृष्टि विद्या] (इषवः) वाण होवे ।
(तेभ्यः अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः) उन अधिष्ठाओं और रक्षकों के लिये (नमो
नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न, और (एभ्यः इषुभ्यः) इन वाणों (वाण वालों)
को (नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (यः) जो [बैरी]
(अस्मान् द्रुवेष्टि) हम से बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्
द्रियुष्मः) हम बैर करते हैं, [हे शरो !] (तम्) उस को (वः जम्भे) तुम्हारे
जबड़े में (द्रुध्मः) हम धरते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—(बृहस्पति) मुख्य सेनापति पर्वत आदि उच्च स्थान में
(श्वित्र) नाम सेना व्यूह रच कर ठहरे और वारुणेय अर्थात् जल संबन्धी अस्त्र
शस्त्रों से, अथवा अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके बैरियों को मिटा कर संसार में
सैनिकों समेत कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६ ॥ यमिनी देवता ॥ १ भुरिग् जगती । २, ३ अनुष्टुप्,

६—(ऊर्ध्वा) सू० २६ म० ६ । ऊर्ध्वायाः । उपरि वर्तमानायः । (दिक्)
दिशः । दिशायाः (बृहस्पतिः) बृहतां शराणां स्वामी । मुख्यसेनापतिः (श्वित्रः)
स्फायितश्चिवश्चि० । उ० २ । १३ । इति श्वित्रा द्रुवो—रक् । श्वित्रः श्वेतवर्णः,
पतस्संज्ञः सर्पः—इति सायणः । श्वेतसर्पवत् सेनाव्यूहः (वर्षम्) वृष्टिजल-
विद्या । वृष्टिवदायुधवृष्टिः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

४ स्वराड् गायत्री । ५ त्रिष्टुप् । ६ पूर्वार्धः स्वराड् गायत्री,
द्वितीयस्त्रिष्टुप् , ॥

सुनियमेन सुखं भवति-उत्तम नियम से सुख होता है ।

एकै'कयैषा सृष्ट्या संव'भूव यत्र गा असृ'जन्त भूतकृतो
विश्वरू'पाः । यत्र विजायते यमिन्य'पुतुः सा पशून् क्षि-
णाति रिफुती रुशेती ॥ १ ॥

एकै-एकया । एषा । सृष्ट्या । सम् । बभूवु । यत्र । गाः ।
असृजन्त । भूत-कृतः । विश्व-रूपाः ॥ यत्र । वि-जायते ।
यमिनौ । अप-ऋतुः । सा । पशून् । क्षिणाति । रिफुती ।
रुशेती ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एषा) यह [साधारणी सृष्टि] (एकैकया) एक एक
(सृष्ट्या) सृष्टि [सृष्टि के परमाणु] से (सम् = संभूय) मिलकर (बभूव)
हुई है, (यत्र) जिसमें (भूतकृतः) पृथ्वी आदि भूतों से बनाने वाले (विश्व-
रूपाः) नाना रूप वाले [ईश्वर गुणों] ने (गाः) भूमि, सूर्य आदि लोकों को

१—(एकैकया) भिन्नभिन्नया । व्यास्तपया (सृष्ट्या) सृज विसर्गे-किन् ।
सृजमानया (एषा) समस्तिरूपा सृष्टिः (सम्) संभूय (यत्र) यस्मिन् स्थाने ।
(गाः) गौः, पृथिवी—निघ० १ । १ । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति
यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति—निरु० २ । ५ । गौरित्यादित्यो भवति गमयति
रसान् गच्छन्त्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । भूमिसूर्यादीन् लोकान् (असृजन्त)
उदपादयन् (भूतकृतः) उक्कृज् करणे-किप् । पृथिवीजलतेजावायुगगन-तै-
र्निर्मातारः (विश्वरूपाः) नानारूपाः परमेश्वरगुणाः (विजायते) विविधं प्रादु-
र्भवति (यमिनौ) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति यम-इनि । आग्नेय्यो

(असृजन्त) सृजा है । (यत्र) जहाँ पर (यमिनी) उत्तम नियम वाली [बुद्धि] (अपर्तुः) ऋतु अर्थात् क्रम वा व्यवस्था से विरुद्ध (विजायते) हो जाती है, [वहाँ] (सा) वह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (रिफती) पीड़ा देती हुई और (कशती) सताती हुई (पश्यन्) व्यक्त वाणी वाले और अभ्यक्त वाणी वाले जीवों को (क्षिणाति) नष्ट कर देती है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से एक एक परमाणु के संयोग से नियमानुसार यह इतनी बड़ी सृष्टि रची है, जो प्राणी ईश्वरीय नियम तोड़ता है, वह दुःखदायी होता है ॥ १ ॥

एषा पृथून् सं क्षिणाति क्रव्याद् भुत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

एषा । पृथून् । सम् । क्षिणाति । क्रव्य-अत । भुत्वा । वि-
अद्वरी ॥ उत । एनाम् । ब्रह्मणे । दृढघात् । तथा । स्योना ।
शिवा । स्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एषा) यह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (क्रव्याद्) माँस

कीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति कीप् । भूमिदेव्याणां नित्ययोगेऽतिशयने ।
संबन्धेऽस्तिविषयायां भवन्ति मनुबादयः । पा० पा० ५ । २ । ६४, प्रशस्तप्रतयुक्ता
स्टष्टिः प्रजा बुद्धिर्वा (अपर्तुः) अपगतो वर्जित ऋतुर्नियमितकालः क्रमो
व्यवस्था यस्याः सा तथामृता (सा) अपर्तुर्बुद्धिः (पश्यन्) पश्यतो व्यक्तवाचश्चा-
व्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । मनुष्यगवादीन् जीवान् (क्षिणाति) क्षि हिंसा-
याम् । नाशयति (रिफती) रिफ हिंसायाः-शब्द । पीडां कुर्वती (कशती) कश-
क्षिणाति—शब्द । दुःखं प्रापयन्ती ॥

२—(एषा) अपर्तुर्बुद्धिः (पश्यन्) द्विपदश्चतुष्पदः प्राणिनः (संक्षिणाति)

खाने वाली और (व्यद्वरी) अनेक विधि से भक्षणशीला (भूत्वा) होकर (पशून्) दोपाये और चौपाये जीवों को (संक्षिणाति) सर्वथा नष्ट करती है । (उत) इसलिये (एनाम्) इस [अनिष्ट बुद्धि को] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [ईश्वर, वेद, वा ब्राह्मण को] (दद्यात्) वह सौंपे, (तथा) तौ वह (स्योना) सुखदायिनी और (शिवा) कल्याणी (स्यात्) हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुबुद्धि पापी मनुष्य परमात्मा वा वेद वा उत्तम विद्वान् की शरण लेकर उत्तम कर्म करने से सुधर जाता है ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

शिवा । भव । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । शिवा ॥

शिवा । अस्मै । सर्वस्मै । क्षेत्राय । शिवा । नः । इह ।

एधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(हे यमिनी, उत्तम नियम वाली बुद्धि !) (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवा) कल्याणी, और (गोभ्यः) गौओं को और (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (शिवा) कल्याणी (भव) हो, (इह) यहां (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब क्षेत्र को (शिवा) कल्याणी और (नः) हम को (शिवा) कल्याणी (एधि) हो ॥ ३

सर्वथा नाशयति (क्रव्याद्) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षिका (व्यद्वरी) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इतिवि + अद् भक्षणे—चनिप् । वनो र च । पा० ७ । १ । ७ । इति ऊंग्रेफौ । विविधिं भक्षणशीला (उत) एवंविधे । (एनाम्) अपतुं बुद्धिम् (ब्रह्मणे) ईश्वरस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य वा शरणाय । (दद्यात्) समर्पयेत् (तथा) तेन प्रकारेण (स्योना) अ० १ । ३३ । १ । सुखकरी । (शिवा) कल्याणी । (स्यात्) भवेत् ॥

३—(क्षेत्राय) अ० २ । ८ । ५ । शालिगोधूमादिकेदारवर्धनाय (एधि)

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान से उत्तम बुद्धि पाकर सब संसार को सुखदायी होता है ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रं सातमा भव ।

पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

इह । पुष्टिः । इह । रसः । इह । सहस्रं-सातमा । भव ॥

पशून् । यमिनि । पोषय ॥ ४ ॥

भावार्थ—(इह) यहां पर (पुष्टिः) पुष्टि, और (इह) यहां पर ही (रसः) रस हावे । (यमिनि) हे उत्तम नियम वाली बुद्धि ! (इह) यहां पर (सहस्रसातमा) अत्यन्त करके सहस्रों प्रकार से धन देने वाली (भव) हो, और (पशून्) व्यक्त और अव्यक्त वाली वाले जीवों को (पोषय) पुष्ट कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तम नियम युक्त बुद्धि से मनुष्य अनेक प्रकार की वृद्धि, और दूध, घी, आदि रस, और बहुत सा धन पाकर सब जीवों की रक्षा करता है ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तुन्वं १ः
स्वायाः । तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्

अस्तेल्लोति रूपम् । भव । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(पुष्टिः) वृद्धिः । समृद्धिः । (रसः) क्षीरदुग्धादिरूपः (सहस्रसातमा) जनसप्तजनकामामो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति सहस्र + षण्णु दाने-विट् । विड्व-नोरदुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आस्वम् । अतिशयने तमविष्टनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । टाप् । अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री (पोषय) समर्धय । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

पुरुषान् पशून् च ॥ ५ ॥

यत्र । सुहार्दः । सुकृतः । मदन्ति । विहाय । रोगम् ।
तन्वः । स्वायाः ॥ तम् । लोकम् । यमिनी । अभि-संबभूव ।
सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च । ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः)
सुकर्मी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) त्याग
कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं । (तम्) उस (लोकम्) लोक [जनसमूह]
को (यमिनी) उत्तम निबन्ध वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर
मिली है । (सा) वह [सुमति] (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों (च) और
(पशून्) दोनों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस घर में परस्पर हितैषी पुण्यात्मा श्री पुरुष नीरोग
रहकर विद्या और धन को भोगते हैं, वह उनकी नियमवती सुमति देवी का

५—(यत्र) यस्मिन् लोके गृहे (सुहार्दः) हृदये भवं हार्दम् । प्राग्बीज्य-
तोऽण् । पा० ४ । १ । ८३ । इति हृदय-अण् । हृदयस्य लोकास्तेषु ।
पा० ६ । ३ । ५० । इति हृदयस्य हृत् । अभ्यलोपश्चाम्बसः । यद्वा । हार्दम् आनु-
कूल्यं करोति हार्दयति । हार्दयतेः क्तिपि णिलोपेरूपम् । शोभनहार्दः । सुहृदयाः ।
अनुकूलकारिणः । (सुकृतः) सुकर्मपापमन्त्रपुराणेषु कृजः । पा० ३ । २ । ८६ ।
उकृप् करणे-क्तिप् । शोभनकर्माणः । (मदन्ति) मदी = हर्षे । हृष्यन्ति (विहाय)
ओहाक् त्यागे-ल्यप् । त्यक्त्वा (रोगम्) व्याधिम् (तन्वः) शरीरस्व । (स्वायाः)
स्वकीयस्य (लोकम्) लोक दर्शने To look घञ् । जनसमूहम् (यमिनी)
म० १ । नियमवती सुमतिः (अभिसंबभूव) भू सत्तायाम् प्रातौच-तिट् आभि-
मुख्येन सम्यक् प्राप्तवती (मा हिंसीत्) मा हिंस्तु (नः) अस्माकः (पुरुषान्)
कलत्रपुत्रपौत्रभृत्यादीन् । (पशून्) गवश्वादीन् ॥

साक्षात् फल है । वहाँ पर सब मनुष्य और गौ, घोड़े आदि बहुत काल तक जीकर आपस में उपकारी होते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० का० ६ सू० १२० म० ३ में इस प्रकार है ।

यत्रा सुहादः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तुन्वं १ः
स्वायाः । अश्लोणा अङ्गैरहुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ
च पुत्रान् ॥

जहाँ पर सुन्दर हृदय वाले सुकर्मी लोग अपने शरीर का रोग त्याग कर आनन्द भोगते हैं, (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) बिना लँगड़े हुये और (अङ्गैः अहुताः) अंगों से बिना टेढ़े हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) सन्तानों को (पश्येम) देखते रहें ॥

यत्रा सुहादा सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः । तंलोकं
यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूश्च ॥६॥
यत्र । सु-हादाम् । सु-कृताम् । अग्निहोत्र-हुताम् । यत्र ।
लोकः ॥ तम् । लोकम् । यमिनी । अभि-संबभूव । सा ।
नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहादाः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृताम्) सुकर्मीयों का और (यत्र) जहाँ पर (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र

६—(सुहादाम्) म० ५ । शोभनहृदयानां शोभनज्ञानानाम् । (सुकृताम्) म० ५ । शोभनं कर्म कृतवताम् (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र + हु दानादानादने कृत्, तुक्च् । अग्नौ होमादिकं जुहुतां कुर्वताम् । अन्यद् गतम् ॥

करने वालों का (लोकः) लोक [जन समूह] है, (तम् लोकम्) उस लोक को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है । (सा) वह [सुमति] (नः पुरुषान्) हमारे पुरुषों (च) और (पश्यन्) दोनों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहाँ सब स्त्री पुरुष एक मन रहकर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते अर्थात् वेद मन्त्रों से अग्नि में मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चढ़ा कर वायुशुद्धि करते और अग्निविद्या द्वारा अग्निनौका, अग्नियान, विमान आदि रचते, वहाँ (यमिनी) नियमवती सुमति के निवास से सब जने आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २९ ॥

१—८ ॥ १—६ अविर्देवता, ७, ८ कामो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः । २, ४—६ अनुष्टुप् । ३ पङ्क्तिः, ७ साम्नी गायत्री । ८ पूर्वार्धो द्विपदानुष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदानुष्टुप् ॥

मनुष्यः परमेश्वर भक्त्या सुखं लभते = मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सुख पाता है ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापुर्तस्य' षोडशं यमस्यामी
सुभासदः । अविस्तस्मात् प्र मु'ञ्चति वृत्तः शितिपात्
स्वधा ॥ १ ॥

यत् । राजानः । वि-भजन्ते । इष्टापुर्तस्य । षोडशम् ।
यमस्य । अमी इति । सुभा-सदः ॥ अविः । तस्मात् ।

प्र । मुञ्चति । दुःखः । शिति-पात् । स्वधा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (यमस्य) नियमकर्ता परमेश्वर के (अमी सभासदः) यह सभासद् (राजानः) ऐश्वर्य वाले राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म के [फल], (षोडशम्) सोलहवें पदार्थ मोक्ष को [चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए का अच्छे मार्ग में व्यय करना, इन पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान से पाये हुए सोलहवें मोक्ष को]

१—(यद्) यस्मात् कारणात् (राजानः) अ० १।१०।१। ईश्वराः । समर्थाः (विभजन्ते) विशेषेण सेवन्ते (इष्टापूर्तस्य) अ० २।१२।४। यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादिपुण्यकर्मणः (षोडशम्) तस्य पूरणे इट् । पा० ५।२।४८। इति षोडशन्—उट् । षष्ठ उत्वं दत्तृदशाधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । वा० पा० ६।३।१०६। इति उत्त्वष्टुत्वे । षोडशानां पूरकम् । चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः भ्रवण मनन निदिध्यासनानि त्रीणि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्ता, लब्धस्य यत्नेन रक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययकरणमेष चतुर्विधः पुरुषार्थः । एतैः पञ्चदशभिः प्राप्तं षोडशं मोक्षम् यथा दयानन्दभाष्ये, यजुर्वेदे ६।३४ (यमस्य) यमयतीति यमः । यम परिवेषणे—अच् । नियन्तुः । नियामकस्य । धर्मराजस्य । परमेश्वरस्य (अमी) परिदृश्यमानाः (सभासदः) सभा + षट् लुगतौ, उपवेशने—क्लिप् । समेयाः (अविः) अ० ३।१७।३। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु—इन् । रक्षकः । गतिवान् । प्रभुः । सूर्यः, सूर्यरूपः परमात्मा (तस्मात्) पूर्वोक्तात् कारणात् (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चति) दुःखात् मुक्तं करोति (इत्तः) आत्मने समर्पितः (शितिपात्) कर्मितमिश्रतिस्तम्भामत इच्च उ० ४।१२२ इति शिति, हिंसायाम्—इन् । स च कित्, अत इकारः । पादस्य लोपोऽहस्ययादिभ्यः । पा० ५।४।१३८। इति अकारलोपः । शितिः शुक्लः, कृष्णश्च । तयोर्मध्ये पादो गमनं यस्य स तथाभूतः । प्रकाशान्धकारयोः समानगमनः । (स्वधा) अ० २।२६।७। स्वम् अस्माकमात्मानं पुण्याति धनं ददातीति वा, । अमृतरूपः । अन्नरूपो भूत्वा ॥

(विभजन्ते विशेष करके भोगते हैं, (तस्मात्) उसी कारण से [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) उज्याले और अन्धेरे में गति वाला, (अविः) प्रभु (स्वधा) हमारे आत्मा का पुष्ट करने वाला वा धन का देने वाला अमृत रूप वा अन्न रूप होकर [पुरुषार्थी को] (अ) अच्छे प्रकार से (मुञ्चति मुक्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—धर्मराज परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले पुरुषार्थी स्त्री पुरुष मोक्ष सुख भोगते रहते हैं, इसी से सब लोग उस अन्तर्यामी को हृदय में रख कर पुरुषार्थ से (स्वधा) अमृत अर्थात् आत्म बल और धनधान्य पाकर मोक्ष आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।

आकुतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

सर्वान् । कामान् । पूरयति । आ-भवन् । प्र-भवन् । भवन् । आकुति-प्रः । अविः । दत्तः । शिति-पात् । न । उप । दस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आकुतिप्रः) संकल्पों का पूरा करने वाला, [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) प्रकाश और अप्रकाश में गति वाला (अविः) रक्षक प्रभु (आभवन्) व्यापक, (प्रभवन्) समर्थ और (भवन्) वर्तमान होता हुआ (सर्वान् कामान्) सब सुन्दर कामनाओं को (पूरयति) पूरा करता है, और (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ २ ॥

२—(सर्वान्) समस्तान् (कामान्) शुभाभिलाषान् (पूरयति । संपूर्णान् करोति (आभवन्) भू सत्तायां व्याप्तौ च-शब्द । आ समास्ताद् भवन् व्याप्नुवन् (प्रभवन्) समर्थः प्रबलः सन् (भवन्) वर्तमानः सन् (आकुतिप्रः) आकुति + प्रा पूरणे-क । संकल्पपूरकः (नोपदस्यति) दस्तु उपक्षये । न गच्छति । अपि नु वर्धते । अन्यद् गतं म० ॥ १ ॥

भावार्थ—उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इतना बड़ा कोश है कि सब सृष्टि की शुभ कामनाओं को पूरा करते २ श्री भरपूर ही बना रहता है ॥२॥

इशावस्योपनिषद् के आरंभ में पाठ है।

ओ३म् । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ १ ॥

ओ३म् । वह [ब्रह्म] पूर्ण [भरपूर] है, यह [जगत्] पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है ॥ १ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।

स नाकमुभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबुलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । ददाति । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-
मितम् । सः । नाकम् । अभि-आरोहति । यत्र । शुल्कः ।
न । क्रियते । अबुलेन । बलीयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (लोकेन) संसार कर के (संमितम्) सन्मान किये गये, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाले (अविम्)

३—(यः) यः कश्चित् (ददाति) स्वात्मने प्रयच्छति, समर्पयति । (शिति-
पादम्) म० १ । प्रकाशान्धकारगतिवन्तम् । (अविम्) म० १ । प्रभुम् । (लोकेन)
संसारेण (संमितम्) माङ् माने-क । दतिस्त्यतिमास्वामित् ति किति । पा०
७ । ४ । ४० । इति इकारः । सन्मानितः (नाकम्) अ० १ । ६ । २, न+अकम् ।
स्वर्गम् । शुल्कम् (अभ्यारोहति) अभित आरुढो भवति । अभिप्राप्नोति (यत्र)
स्वर्गे (शुल्कः) शुल्क कथने, सर्जने, वर्जने च—घञ् । करः (न) निषेधे (क्रियते)
कीयते (अबुलेन) निर्बलेन (बलीयसे) बलवत्—ईयसुन् । विन्मतोलुक् । पा०
५ । ३ । ६५ । इति मतोलुक् । बलवत्तराय ॥

रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (ददाति) दान करता है, (सः) वह पुरुष (नाकम्) दुःख रहित स्वर्ग को (अभ्यारोहति) चढ़ जाता है, (यत्र) जहाँ पर (अबलेन) निर्बल करके (बलीयसे) अधिक बलवान् को (शुल्कः) शुल्क [कर] (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो कोई सर्वभ्रेष्ठ परब्रह्म को अपने में ग्रहण करता है, वह सन्मार्गी बड़ों और छोटों के साथ एक सा न्याय करता हुआ सदा आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपाटुमविं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोपं जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

पञ्च'-अपूपम् । शिति'-पाद'म् । अवि'म् । लोकेन' । सम्-
मितम् ॥ प्र-दाता । उप' । जीवति । पितृणाम् । लोके ।
अक्षितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे

४—(पञ्चापूपम्) सप्यश्रव्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पञ्चि ग्यक्ती-
कारे विस्तारे च-कनिन् । इति पञ्च विस्तीर्णः संख्यावाचको वा । पानीविषिभ्यः
पः । उ० ३ । २३ । इति पूयी विशरणे दुर्गन्धेच पप्रत्ययः, यलोपः । अपूपः, अविशर-
णम् अहानिः गोधूमादिपिष्टकं वा । विस्तीर्णाविशरणम् । संपूर्णवृद्धि-कम् ।
यद्वा मध्यपदलोपः । पञ्चसु विद्म अपूपः, अविशरणम् अहानिः पूर्णता यस्य,
यद्वा, दुर्गन्धरहितं पिष्टकं यस्मात् तं तथाभूतम् (प्रदाता) न लोकाभ्ययनिष्ठा० ।
पा० २ । ३ । ६६ । इति तु अन्तत्वात् कर्मणि षष्ठ्या निषेधे द्वितीयैव । प्रदायकः
(उ० जीवाते) उपमुङ्क्ते (पितृणाम्) रक्षकाणाम् । जननीजनकादिमान्यानां
विदुषां शूराणाम् (लोके) जनसमूहे (अक्षितम्) नपुंसके भावे कः । पा० ३ ।
३ । ११४ । इति द्वि क्ये-भावे क । अक्षयत्वम् । सम्पग्वृद्धिम् । अम्बु-
गतम् ॥

की पाँचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (दाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (पितृणाम्) रक्षक पुरुषों [बलवान और विद्वानों] के (लोके) लोक में (अक्षितम्) अक्षयता [नित्य वृद्धि] को (उपजीवति) भोगता है ॥ ४)

भावार्थ—अक्षय शक्ति वाले, सृष्टि भर को नित्य नवीन भोजन देने वाले, सर्वद्रष्टा परमेश्वर का उपासक माता पिता आदि विद्वान् वीर पितरों के साथ अक्षय (नित्य नवीन) सुख पाता है ॥ ४ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।

प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

पञ्च-अपूपम् । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम-मितम् ॥ प्र-दाता । उप । जीवति । सूर्यामासयोः । अक्षितम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की पाँचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (प्रदाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (सूर्यामासयोः) सूर्य और चन्द्रमा

५—(सूर्यामासयोः) सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । अ० १ । ३ । ५ । मसी परिमासे-घञ् । मस्यते परिमीयते गगनं येन स मासः, चन्द्रमाः । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति आनङ् । सूर्याचन्द्रमसोर्नियमेन । अन्यदुपरि व्याख्यातम् ॥

में [उनके नियम में] (अक्षितम्) अक्षयता [नित्यवृद्धि] को (उप जीवति) भोगता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य आकर्षण और वृद्धि आदि से पृथिवी आदि लोकों का धारण करता और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाकर हमें पुष्टि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अपने हृदय में रखकर परोपकार करता है उसका सुख नित्य बढ़ता है ॥ ५ ॥

इरैव नोप दस्यति समुद्र इव पयो महत् ।

देवौ सवासिनाविव शितिपात्नोप दस्यति ॥ ६ ॥

इरा-इव । न । उप । दस्यति । समुद्रः-इव । पयः । महत् ॥

देवौ । सवासिनौ-इव । शिति-पात् । न । उप । दस्यति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शितिपात्) प्रकाश और अन्धकार में घटनेवाला पर-
मेश्वर (इरा इव) भूमि वा विद्या के समान और (समुद्रः) समुद्र, अर्थात्
(महत्) बड़े (पयः इव) जलराशि के समान (न) नहीं (उप दस्यति)
घटता है, और (देवौ) दिव्य गुण वाले (सवासिनौ इव) साथ साथ
निवास करने वाले दोनों [प्राण और अपान वा दिनरात] के समान वह (न)
नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि, विद्या, जल, वायु आदि उचित प्रयोग से
अधिक अधिक उपकारी होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर का उपकारी कोश विज्ञान
द्वारा मनुष्य को बढ़ता चला जाता है ॥ ६ ॥

६—(इरा) अ० अ० २० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ-रक् । अथवा,
इं कामं कामनां राति ददाति । रा दाने-क । टाप् । भूमिः । वाक् । विद्या (नोप-
दस्यति) म० २ । नोपक्षीयते (समुद्रः) जलधिः । अन्तरिक्षं वा (पयः)
जलधौः (महत्) चैराजम् (देवौ) दिव्यगुणौ (सवासिनौ) सह
समानं वा निवसन्तौ । अश्विनौ प्राणापानौ । अन्यद् व्याख्यातं ॥

क इदं कस्मै अदात् कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ।

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत् ते ॥ ७ ॥

कः । इदम् । कस्मै । अदात् । कामः । कामाय । अदात् ॥

कामः । दाता । कामः । प्रति-ग्रहीता । कामः । समुद्रम् ।

आ । विवेश ॥ कामेन । त्वा । प्रति । गृह्णामि । काम ।

एतत् । ते ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) किसने (इदम्) यह [कर्मफल] (कस्मै) किस को (अदात्) दिया है ? [इसका उत्तर] (कामः) मनोरथ [वा कामना योग्य परमेश्वर] ने (कामाय) मनोरथ [वा कामना करने वाले जीव] को (अदात्) दिया है ।

(कामः) मनोरथ [वा कमनीय ईश्वर] (दाता) देने वाला और (कामः) मनोरथ [वा कामना वाला जीव] (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है । (कामः) मनोरथ ने (समुद्रम्) समुद्र [पार्थिव समुद्र वा अन्तरिक्ष] में (आ विवेश) प्रवेश किया है ।

(काम) हे मनोरथ ! [वा कमनीय ईश्वर] (त्वा) तुझ को (प्रति गृह्णामि) मैं जीव ग्रहण करता हूँ, (एतत्) यह [सब काम] (ते) तेरा है ॥ ७ ॥

भाषार्थ—संसार में देना लेना आत् सब उपकारी काम कामना

७—(इदम्) कर्मफलम् (अदात्) दत्तवान् (कामः) कामु-घञ् । कामना । सर्वैः कमनीयः परमेश्वरः । कामयमानो जीवः (दाता) कर्मफलस्य प्रदायकः (प्रतिग्रहीता) स्वीकर्ता (समुद्रम्) गम्यस्थानम् । जलधिम् । अन्तरिक्षम् । (आ विवेश) प्रविष्टवान् । प्राप्तवान् (त्वा) कामम् (प्रति गृह्णामि) अङ्गीकरोमि (एतत्) कर्म (ते) बुभ्यम् । अन्यत् सुगमम् ॥

से सिद्ध होते हैं, कामना से ही प्रयत्न के साथ मन देने पर मनुष्य के सब कठिन कामों को परमेश्वर सुगम करदेता है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुल भेद से यजुर्वेद ७। ४८ में है। उसका अर्थ श्रीमद् दया-नन्द सरस्वती के भाष्य के आधार पर किया है।

कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥

(कः) किस ने [कर्म फल] (अदात्) दिया है, और [कस्मै] किस को [अदात्] दिया है। इन दो प्रश्नों के उत्तर, (कामः) कामनायोग्य परमेश्वर ने (अदात्) दिया है, और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) दिया है। (कामः) योगीजनों के कामना योग्य परमेश्वर [दाता] देने वाला है। (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है। (काम) हे कामना करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये (एतत्) यह सब है ॥

भूमिष्टु । प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि रा-
धिषि ॥ ८ ॥

भूमिः । त्वा । प्रति । गृह्णातु । अन्तरिक्षम् । इदम् ।
महत् ॥ मा । अहम् । प्राणेन । मा । आत्मना । मा ।
प्र-जया । प्रति-गृह्य । वि । राधिषि ॥ ८ ॥

भाषार्थ(हे) काम (भूमिः) भूमि और (इदम्) यह (महत्) बड़ा

८—(भूमिः) भूमिस्वपदार्थाः, इत्यर्थः (त्वा) कामम् (प्रतिगृह्णात्) अङ्गी-
करोतु (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्वपदार्थाः । (मा) निषेधे (प्राणेन) (मुखना-

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (त्वा) तुमको (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे । (अहम्) मैं जीव, (प्रतिगृह्य) पाकर, (मा) न (प्रायेन) प्राण से, [शरीर बल] से, (मा) न (आत्मना) आत्मबल से, और (मा) न (प्रजया) प्रजा से, (वि राधिषि) अलग हो जाऊँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सत्य कामना से भूमि और आकाश का राज्य हस्तगत कर लेता है, और शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल इढ़ करके संसार में सुखी रहता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-७ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-४ अनुष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् जगती वा । ६ प्रस्तारपङ्क्तिः । ७ त्रिष्टुप् ।

परस्परप्रीत्युपदेशः—परस्पर मेल का उपदेश ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वृत्सं जातमिवाध्न्या ॥ १ ॥

स-हृदयम् । साम्-मनस्यम् । अवि-द्वेषम् । कृणोमि । वः ॥

अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत । वृत्सम् । जातम्-इव । अध्न्या ॥ १ ॥

भावार्थ—(सहृदयम्) एक हृदयता, (सांमनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं करता हूँ । (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभि) सब ओर से (हर्यत) तुम प्रीति से चाहो, सिकाभ्यां संचरता जीवस्थितिलिङ्गेन वायुना, शारीरिकबलेन । (आत्मना) आत्मिकबलेन । (प्रजया) सामाजिकबलेन । (मा + वि + राधिषि) अ० १ । १ । ४ । अहं विराजो वर्जितो वियुक्तो मा भूवम् ॥

१—(सहृदयम्) गृहोः पुगुको च । उ० ४ । १०० । इति ह्यहं हरणे=स्वीकारे कयन्, दुक् च । सहस्य सभावः । सहप्रहणम् । सहवीर्यम् । (सांमनस्यम्) सम् + मनस्—भावे ष्यञ् । सामानमननत्वम् । ऐकमस्यम् (अवि-

(अग्न्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को [प्यार करती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है, सब मनुष्य वेदानुगामी होकर सत्य ग्रहण करके एकमत करे और आपा छोड़ कर सच्चे प्रेम से एक दूसरे को सुधारें, जैसे गौ आपा छोड़ कर तद्रूप होकर पूर्ण प्रीति से उत्पन्न हुए बछड़े को जीभ से चाट कर शुद्ध करती और खड़ा करके दूध पिलाती और पुष्ट करती है ॥ १ ॥

१—कठोपनिषद् के आरम्भ में पाठ है ।

ओ३म् । सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं कर-
वावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥१॥

ओ३म् । (सःह) वही (नौ) हम दोनों को (अवतु) बचावे । (सःह) वही (नौ) हम दोनों को (भुनक्तु) पाले । हम दोनों (सह) मिलकर (वीर्यम्) उत्साह [(करवावहै) करें] । (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा हुआ (तेजस्वि) तेजस्वी (अस्तु) होवे । (मा विद्विषावहै) हम दोनों भगड़ न करें ॥

२—भगवान् यास्क मुनि कहते हैं ।

(अग्न्या) गौ का नाम है—निघ० २ । ११ । वह अहस्तव्या, [अग्न्या न मारने योग्य] अथवा, अघघ्नी [पाप अर्थात् शारीरिक दुःख अथवा दुर्भिक्षादि पीड़ नाश करने वाली] होती है—निरुक्त ११ । ४३ ॥

द्वेषम् । द्विष वैरे-घञ् । अशनुताम् । सक्यम् (कृणोमि) उत्पादयामि । (वः) युष्मभ्यम् । (अन्यो अन्यम्) छान्दसं द्विषदत्वम् । परस्परम् । (अभि) सर्वतः (हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः । कामयध्वम् । (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । गोर्दि शुम् । (जातम्) नवोत्पन्नम् । (इव) यथा । (अग्न्या) अग्न्यादयश्च । उ ४ । ११२ । नञि अघे घोषपदे हेन्तेर्यगन्तो निपातः । गौः—निघ० २ । ११ । अग्न्य अहस्तव्या भवत्यघघ्नीति वा—निरुक्त ११ । ४३ । अग्न्याः । गावः । गोवचस्योपपादकपत्वाद्घञन्तुमयोग्या अग्न्या उच्यन्ते—इति श्रीमन्महीश्वरो बज्रुर्वेदभाष्ये १ ।

श्रीमान् महीधर यजुर्वेदभाष्य अ० १ म० १ में लिखते हैं—अग्न्या गौये हैं । गोबध उपपातक [भारी पाप] है, इसलिये वे न मारने योग्य (अग्न्या) कही जाती हैं ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अनुव्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु।सम्-मनाः ॥ जाया ।

पत्ये । मधु-मतीम् । वाचम् । वदतु । शन्ति-वाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुत्रः) कुल शोधक पवित्र, बहुरक्तक वा नरक से बचाने वाला पुत्र [सन्तान] (पितुः) पिताके (अनुव्रतः) अनुकूल भती होकर (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) होवे । (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु में सनी और (शन्तिवाम्) शान्ति से भरी (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ २ ॥

भाषार्थ—सन्तान माता पिता के आज्ञाकारी, और माता पिता सन्तानों के हितकारी, पत्नी और पति आपस में मधुर भीषी और सुखदायी हों । यही वैदिक कर्म आनन्द मूल है । मन्त्र १ देखो ॥ २ ॥

२—(अनुव्रतः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । इति वृज् वरणे अतच्-किष्वाद् गुणाभावे यथादेशः । व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः—निरु० २ । १३ । अ-रु-लकमा । (पितुः) रक्तकस्य । जनकस्य (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः कुलशोधकः । पवित्रः । पुरुत्राता पुतो नरकात् जाता वा । सन्तानः । (मात्रा) अ० १ । २ । १ । माननीयया जनन्या सह । (संमनाः) समानमनस्कः । (जाया) अ० ३ । ४ । ३ । जनयति वीरान् । भार्या । पत्नी । (पत्ये) भर्त्रे । (मधुमतीम्) क्षौद्रयुक्तां यथा । माधुर्यवतीम् । (शन्तिवाम्) शमु उपशमे-किन् । क्षान्दसो ह्रस्वः । वप्रकरणेऽभ्येभ्योऽपि दृश्यते । वा० पा० ५ । २ । १०६ । इति मत्स्ये वप्रत्ययः । टाप् । शान्तियुक्ताम् । सुखोपेताम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।

सुम्यञ्चः सव्रता भुत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा ॥

सुम्यञ्चः । स-व्रता । भुत्वा । वाचम् । वदतु । भद्रया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम्) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं । (सुम्यञ्चः) एक मत वाले और (सव्रताः) एक व्रती (भुत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ॥ ३ ॥

भावार्थ—भाई भाई, बहिन बहिन, और सब कुटुम्बी नियम पूर्वक मेल से वैदिक रीति पर चल कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।

तत् कृणुमो ब्रह्म वो गृहे सुज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

येन देवाः न वि-यन्ति । नो इति । च । वि-द्विषते । मिथः ॥

तत् । कृणुमः । ब्रह्म । वः । गृहे । सु-ज्ञानम् । पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [वेद पथ] से (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (न) नहीं (वियन्ति) विरुद्ध चलते हैं (च) और (नो) न कभी (मिथः) आपस

३—(भ्राता) अ० १ । १४ । २ । आजते यः । सहोदरः । (मा द्विक्षत्) मा द्विष्यात् । (स्वसारम्) अ० १ । २८ । ४ । भगिनीम् । (सुम्यञ्चः) । अत्वि-गृधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति सम् + अञ्च् गृतिपूजनयोः—क्विन् । समः समि । पा० ६ । ३ । ६३ । इति समि इत्यादेशः । समञ्चनाः सङ्गताः । समान-ज्ञानाः । सम्यक् पूजनशीलाः । (सव्रताः) सहकर्माणि । (वाचम्) वाणीम् । (वदत) कथयत । (भद्रया) कल्याणया रीत्या । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(देवाः) विजिगीषवः (वियन्ति) इष्ट गती । विरुद्धं गच्छन्ति (विद्विषते) द्विष अप्रीतौ-अदादिः । विद्वेषं कुर्वते (मिथः) परस्परम् (कृणुमः)

में (विद्विषते) विद्वेष करते हैं । (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषों के लिये (संज्ञानम्) ठीक ठीक ज्ञान का कारण (कृणुमः) हम करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सार्वभौम हितकारी वेद मार्ग पर चलकर घरके सब लोग आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः
सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत'
साध्रीचीनान् वः समनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायस्वन्तः । चित्तिनः । मा । वि । यौष्ट । सुम् । राधयन्तः ।
स-धुराः । चरन्तः ॥ अन्यः । अन्यस्मै । वल्गु । वदन्तः ।
आ । इत् । सध्रीचीनान् । वः । सम्-मनसः । कृणोमि ॥ ५ ॥

भावार्थ—(ज्यायस्वन्तः) बड़ों का मान रखने वाले (चित्तिनः) उत्तम चित्त वाले, (संराधयन्तः) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुये और (सधुराः) एक धुरा होकर (चरन्तः) चलते हुये तुम लोग (मा वि यौष्ट) अलग २ न होओ, और (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे से (वल्गु) मनोहर (वदन्तः) बोलते हुये (एत) आओ । (वः) तुमको (साध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (समनसः) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूँ ॥ ५ ॥

कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्मः (ब्रह्म) वेद ज्ञानम् (संज्ञानम्) सम्पन्न ज्ञानम् । अन्यत् सुगमम् ॥

५—(ज्यायस्वन्तः) ज्यायस्-वन्तः । ज्य च । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६१, ६२ । इति प्रशस्यस्य वृद्धस्यस्य वा ज्य इत्यादेशः, ईयसुनि प्रत्यये । ज्यादादीयसः । पा० ६ । ४ । १९० । इति ईकारस्य आकारः । ततो मतुप् प्रशंसायाम् । ज्यायांस्तौ प्रशस्या वृद्धा वा प्रशंसनीया येषां ते तथोक्ताः । (चित्तिनः) उत्तमचित्तवन्तः ।

भाषार्थ—वेदानुयायी मनुष्य विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्धों का आदर करके उत्तम गुणों की प्राप्ति, और मिलकर उद्योग से, धन धान्य राज आदि बढ़ाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

स॒मानो प्र॒पा सह वोऽन्नभागः स॒माने योक्त॑ स॒ह वो
युन॑जिम् । सम्य॒ज्जोऽग्निं स॑पर्य॒त॒रा नाभि॑मिवा॒भितः॑ ॥६॥

स॒मानो । प्र॒-पा । सह । वः । अ॒न्न-भागः । स॒माने । योक्त॑ । सह ।
वः । युन॑जिम् ॥ सम्य॒ज्जः । अ॒ग्निम् । स॒पर्य॑त । अ॒राः । नाभि॑म्-
इव । अ॒भितः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वः) तुल्यारी (प्रपा) जल शाला (समानी) एकही, और
(अन्नभागः) अन्न का भाग (सह) साथ साथ हो, (समाने) एकही [योक्ते]
जोते में (वः) तुम को (सह) साथ साथ (युनजिम्) में जोड़ता हूं । (सम्यज्जः)
मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्निम्) अग्नि [ईश्वर

(मा वि यौष्ट) यु मिश्रणमिभ्रणयोः, माडि लुडि रूपम् । इडभावश्छान्दसः ।
मा पृथग् भूत । वियुक्ता मा भवत । (संराधयन्तः) राध संसिद्धौ, णिच्-शतृ ।
सम्यक् संसिद्धिकाः । समानकार्याः । (सधुराः) ऋक्पूरब्धूः पथ्यामानक्षे ।
पा० ५ । ४ । ७४ । इति सह+धुर—अकारः समासान्तः । सहकार्योद्ध-
हनाः । (चरन्तः) गच्छन्तः । (वल्यु) अ० २ । ३६ । १ । मनोहरम् । प्रिय-
वाक्यम् । (वदन्तः) भाषमाणाः (एत) आ+इत । आगच्छत (सध्रीचीनान्)
ऋत्विग्वद्भूक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति सह+अञ्चू गतिपूजनयोः—किन्
सहस्य सधिः । पा० ६ । ३ । ६५ । इति सधिः । विभाषाश्चेरदिक् स्त्रियाम् ।
पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थिकः खः । अकारलोपे दीर्घत्वम् । सहाङ्गतः
कार्येषु सहप्रवृत्तान् (समनसः) समानमनस्कान् । (कृणोमि) करोमि ॥

ई—(समानी) अ० २ । १ । ५ । साधारणा । एका । (प्रपा) प्रणीयतेऽ
स्याम् । पा पाने—ड, टाप् । पानीयशाला । (सह) मिलित्वा । (वः) युष्माकम् ।
युष्मान् । (अन्नभागः) भोजनस्य अंशः । (समाने) एकस्मिन् (योक्ते)

वा भौतिक अग्नि] को (सपर्यत) पूजो (इव) जैसे (अराः) अरा [पहिये के ढंडे] (नाभिम्) नाभि [पहिये के बीच वाले काठ] में (अमितः) चारों ओर से [सटे होते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे अरे एक नाभि में सटकर पहिये को रथ का बोझ सुगमता से लेचलने योग्य करते हैं, ऐसेही मनुष्य एक वेदानुकूल धार्मिक रीति पर चलकर अपना खान पान मिलकर करें और मिलकर रहें और मिलकर ही (अग्नि) को पूजें अर्थात् १—परमेश्वर की उपासना करें, २—शारीरिक अग्नि को, जो जीवन और वीरपन का चिन्ह है, स्थिर रखें, ३—हवन करके जल, वायु शुद्ध रखें, और ४—शिल्प व्यवहार में प्रयोग करके उपकार करें और सुख से रहें ॥ ६ ॥

सुध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणीम्येकंश्नुष्टीन्त्सुं वन-
नेन सर्वान् । देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः
सौमन्सो वो अस्तु ॥ ७ ॥

सुध्रीचीनान् । वः । सम्-मनसः । कृणीमि । एकं-श्नुष्टीन् ।
सुम्-वननेन । सर्वान् ॥ देवाः-इव । अमृतम् । रक्षमाणाः ।
सायम्-प्रातः । सौमन्सः । वः । अस्तु ॥ ७ ॥

भावार्थ—(संवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (वःसर्वान्) तुम सब को (सुध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा ज्ञान] वाले, (संम-
दास्मीशसयुयुज० । पा० ३ । २ । १८२ । इति युजयोगे—ष्टून् । युगेन सहयुज्यते
आवध्यतेऽनेन तस्मिन् । योत्रे । बन्धने । स्नेहपाशे । (युनजिम) युजिर युतौ ।
बध्नामि । (सम्यञ्चः) म० ३ । सङ्गताः । (अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा ।
(सपर्यत) सपर पूजायाम् । कण्डवादित्वाद् यक् । पूजयत । (अराः) अ
गती—अक् । अककीलकाः । (नाभिम्) अ० १ । ३ । रथचक्रस्य मध्यभागम् ।
(अमितः) सर्वतः । अमितः परितः समया० । वा० पा० २ । ३ । २ । इति
नाभिम् इति द्वितीया ॥

७—(एकश्नुष्टीन्) णसु अदने, आदाने, च—किन् । एकभुक्तीन् । समान-

नसः) एक मन वाले और (एकशुष्ठीन्) एक भोजनवाले (कृणोमि) मैं करता हूँ । (देवाः इव) विजय चाहने वाले पुरुषों के समान (अमृतम्) अमर-पन [जीवन की सुफलता] को (रक्षमाणाः) रक्षते हुये तुम [बने रहो] (सायं प्रातः) सायंकाल और प्रातः काल में (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (वः) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ—(देव) पुरुषार्थी विजयी पुरुष मिलकर मृत्यु के कारण आलस्य आदि छोड़ने से अमर अर्थात् यशस्वी होते हैं । इसी प्रकार सब मनुष्य आपस में मिलकर उद्योग करके सुखी रहें और सायं प्रातः दो काल परमेश्वर की आराधना करके चित्त प्रसन्न करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—११ ॥ प्रजापातवता । १—४, ६—११ अनुष्टुप्, ५ बृहती ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने का उपदेश ॥

वि देवाः जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।

व्यं १ हं सर्वेण प्राप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

वि । देवाः । जरसा । अवृतन् । वि । त्वम् । अग्ने । अरात्या ।

वि । अहम् । सर्वेण । प्राप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम । आयुषा ॥ १ ॥

भाष्यार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (जरसा) आयु के घटाव से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं । (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (त्वम्) तू

भोजनान् । (संवनेन) घन संभक्तौ-रुयुद् । सम्यक् सेवनेन व्यापारेण ।

(देवाः) विजिगीषवः । पुरुषार्थिनः । (अमृतम्) अमरत्वम् । जीवनसाफल्यम् । (रक्षमाणाः) पालयन्तो भवत-इति शेषः (सायंप्रातः) उभयसंध्याकाले ।

(सौमनसः) तस्येवम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति सुमनस्—भाषे अण् । सुमनसो

भाषः । सुहृद्भाषः । चित्तप्रसादः । अन्यद्गतम् ॥ ५ ॥

१—(देवाः) विजिगीषवः । (जरसा) विद्विदादिभ्योऽङ् । इति जृष्-वयो-दानौ—अङ् । ऋह्योऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । टाप् । जराया

(अरात्या) कंजूसी वा शत्रुता से (वि=वि वर्तस्व) अलग रह । (अहम्) मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप कर्म से (वि) अलग और (यक्ष्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=वि वर्त) अलग रहें, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम् वर्त) मिला रहें ॥ १ ॥

भाषार्थ—पुरुषार्थी लोग ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से सदा बलवान् रहे हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य मानसिक पाप और शारीरिक रोग के त्याग और शुभ गुणों के सेवन से बल बढ़ाकर अपना जीवन सफल करें ॥ १ ॥

व्यात्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया ।

व्य॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समा॒युषा॑ ॥ २ ॥

वि । आ॒त्या । पव॑मानः । वि । श॒क्रः । पा॒प-कृत्य॑या ॥ वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आ॒युषा॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) शोधन करने वाला पुरुष (आत्या) पीड़ा से (वि) अलग, और (शक्रः) शक्तिमान् पुरुष (पापकृत्यया) पाप क्रिया से (वि=वि वर्तताम्) अलग रहें । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ २ ॥

जरसन्यतरस्याम् । पा० ७ । २ । १०१ । इति जरस् । वयोहन्या । (वि) पृथग्भूय (अवृतन्) वृत्तु वर्तने, भावे—लुङ्, अभूवन् । (वि) वि वर्तस्व । पृथग्भव । (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (अरात्या) अ० १ । २ । २ । अदानेन । शत्रुतया (पाप्मना) नामन्सीमन् व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति पा रक्षणे—अपादाने मनिन्, पुक्, च । मानसेन पापेण । दुष्टकर्मणा । (वि) वि वर्त । पृथग्भवानि । (यक्ष्मेण) अ० २ । १० । ५ । शरीरेण राजरोगेण । क्षयादिना । (सम्) सं वर्त । सम्भूय भवानि । (आयुषा) चिरकालजीवनेन ॥

२—(वि) विवर्तताम् । वियुक्तो भवतु । (आत्या) आङ् + आ. हिंसने-किन् । पीड़या । रोगेन । (पवमानः) पूढ्यजोः शानच् । पा० ३ । २ । १८ ।

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध आचरण से सामाजिक आत्मिक और शारीरिक पीड़ा मिटावे और बलवान् होकर पाप को हटावे ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्ण्यासरन् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

वि । ग्राम्याः । पशवः । आरण्यैः । वि । आपः । तृष्ण्या । असरन् ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ग्राम्याः) गाम वाले (पशवः) जीव (आरण्यैः) जङ्गली जीवों से (वि) अलग, और (आपः) जल (तृष्ण्या) पियास से (वि) अलग, (असरन्) चले हैं । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ग्राम्य पशु जङ्गली जीवों से अलग रहकर प्रसन्न रहते हैं और जल की उपस्थिति में पियास से निवृत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य पाप से निवृत्त होकर सब के सुख में प्रवृत्त हों ।

वी३ मे द्वावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशदिशम् ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥

इति पूज् शोधने—शानच् । आने मुक् । पा० ७ । २ । ८२ । इति मुक् । संशोधकः (शकः) अ० २ । ५ । ४ । शकः । इन्द्रः । (पापकृत्यया) पापम् इति व्याख्यातम्—अ० २ । १२ । ५ । कृजः श च । पा० ३ । ३ । १०० । इति डुकृज् करणे, यद्वा, कृज् हिंसायाम्—क्यप् तुक् । पापक्रियया महाहिंसया । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(ग्राम्याः) अ० २ । ३४ । ४ । ग्राम—य । ग्रामीणाः । (आरण्यैः) अरण्य—प्यज् । अरण्यजातैः । (आपः) जलानि । (तृष्ण्या) तृषिषुषिरसिभ्यः क्त् । उ० ३१२ । इति तृषिर् आकाङ्क्षायां—न, स च कित् । टाप् पानेच्छया । पिपासया । (वि असरन्) स गतौ—लुङ् । विगता अभूवन् । अन्यद् गतम् ॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः ।
दिशम्-दिशम् ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि ।
यद्मेण । सम् । आयुषा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वि)
अलग अलग (इतः) चलते हैं, (पन्थानः) सब मार्ग (दिशदिशम्) दिशा
दिशा को (वि=वियन्ति) अलग अलग जाते हैं । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना)
सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य पृथिवी और मार्ग अलग अलग रहकर संसार का क्लेश
हरते हैं, ऐसे ही सब मनुष्य दुःख का नाश करके सुख भोगें ॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यद्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनक्ति । इति । इदम् । विश्वम् । भुव-
नम् । वि । याति ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि ।
यद्मेण । सम् । आयुषा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी को (वहतुम्
दायज [स्त्री धन] (युनक्ति=वि युनक्ति) अलग करके देता है । (इति) इसी
प्रकार (इदम् विश्वम्) यह प्रत्येक (भुवनम्) लोक (वि याति) अलग २
चलता है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥५॥

४—(इमे) परिदृश्यमाने । (द्यावापृथिवी) अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी ।
(इतः) गच्छतः । (पन्थानः) मार्गाः । (वि) वियन्ति ॥ अन्यद् गतम् ॥

५—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । व्यवहाराणां तनूकर्ता, पिता । (दुहित्रे)
अ० २ । १४ । २ । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणांति दुहिता तस्यै । पुत्र्यै । (वहतुम्)

भाषार्थ—जैसे पिता पुत्री को दायज देकर सदा हित करता रहता है, सब लोक और पदार्थ अलग अलग रहकर परस्पर उपकार करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष हटाकर परस्पर सुख बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद १०।१७१।१ में इस प्रकार है।

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति॥

(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी के लिये (वहतुम्) दायज (कृणोति) करता है, (इति) इस प्रकार (इदम् विश्वम् भुवनम्) यह सब जगत् (समेति) मिलकर चलता है ॥

अग्निः प्राणान्तसं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः ।

व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

अग्निः । प्राणान् । सम् । दधाति । चन्द्रः । प्राणेन । सम्-हितः ॥

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि।यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥६॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि (प्राणान्) प्राणों, जीवन शक्तियों को (सम्= सम्भूय) मिलकर (दधाति) पुष्ट करता है, और (चन्द्रः) चन्द्र (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) सन्धि वाला है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥ ६ ॥

एधिवह्योश्चतुः । उ० १ । ७७ । इति वह प्राणोश्चतुः । विवाहकाले कन्यायै देयवस्तु (युनक्ति) विधुनक्ति पृथग् बध्नाति । (इति) अनेन प्रकारेण । (भुवनम्) अ० २ । १ । ३ । भूतजातम् । लोकः । (वि याति) पृथग् गच्छति । अन्यद् गतम् ॥

६—(अग्निः) 'अशितपीतपरिणामहेतुर्जाठररूपः सूर्यतापः (प्राणान्) अ० २ । १२ । ७ । जीवनहेतून् श्वासप्रश्वासादीन् । अक्षुराक्षीन्द्रियाणि वा । (सं दधाति) संभूय पोषयति, स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । (चन्द्रः) अ०

भावार्थ—सूर्य का ताप श्वास प्रश्वास द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर नेत्र आदि इन्द्रियों को अन्न रस हहंवाता है, और चन्द्रमा की शीतलता प्राण द्वारा रुधिर आदि में प्रणित रस से इन्द्रियों को पुष्ट करती है। ऐसेही मनुष्य अपने दोष मिटाकर शुभ गुणों से युक्त होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र १—५ में दोषों से (वि) वियोग के और मन्त्र ६—१० में पुरुषार्थ से (सम्) संयोग के वर्णन से आयु बढ़ाने का उपदेश है ॥

प्राणेन' विश्वतो'वीर्यं देवाः सूर्यं समै'रयन् ।
व्य'हं सर्वेण पाप्मन् । वि यक्ष्मे'ण समायु'षा ॥ ७ ॥

प्राणेन' । विश्वतः-वीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐरयन् ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मन् । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयु'षा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले महात्माओं ने (विश्वतोवीर्यम्) सब ओर से वीर्यवान् (सूर्यम्) सर्वप्रेरक वा सर्वव्रगति परमेश्वर वा सूर्य को (प्राणेन) प्राण से (सम्) मिलकर (ऐरयन्) पाया है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मन्) सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय वीरों ने आत्मा के सहारे, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मबल से, परमात्मा को पाकर और सूर्य आदि लोकों तक गति करके परम पद पाया है। मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष मिटाकर जीवन सुफल करें ॥ ७ ॥

१ । ३ । ४ । चदि आह्लादने—रक् । आह्लादादकः । सोमः । चन्द्रमाः (प्राणेन) जीवनहेतुना सह (संहितः) सम्+धा—क । सन्धियुक्तः । संश्लिष्टः । अन्यद्गतम् ॥

७—(प्राणेन) जीवनहेतुना । (विश्वतोवीर्यम्) सर्वतःसामर्थ्यम् । सर्वशक्तिमन्तम् । (देवाः) विजिगीषवो जितेन्द्रिया योगिनः । (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सुवति प्रेरयति लोकान् सूर्यं वा सरति सर्वत्र स सूर्यः । लोकप्रेरकम् । सर्वव्रगतिं परमात्मानं (सम्) सम्भूय । (ऐरयन्) अ० १ । ११ । २ । ईर गतौ-लङ् । अगच्छन् । प्राप्नुवन् । अन्यद् गतम् ॥

आयु'ष्मतामायुष्कृतां' प्राणेन जीव मा मृ'थाः ।

व्य'हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मे'ण समायु'षा ॥ ८ ॥

आयु'ष्मताम् । आयुः-कृताम् । प्राणेन । जीव । मा । मृथाः ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मे'ण । सम् । आयु'षा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(आयुष्मताम्) बड़ी आयु वाले, और [दूसरों की] (आयु-
ष्कृताम्) बड़ी आयु करने वाले [देवताओं] के (प्राणेन) प्राण के साथ
(जीव) जीता रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना)
सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने और दूसरों के सुधारने वाले चीर योगियों [देव-
ताओं—म०] के अनुकरणी होकर पुरुषार्थ करें और आलस्य आदि में व्यर्थ
जन्म न खोवे ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणे'हैव भव मा मृ'थाः ।

व्य'हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मे'ण समायु'षा ॥ ९ ॥

प्राणेन । प्राणताम् । प्र । अन् । इह । एव । भव । मा । मृथाः ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मे'ण । सम् । आयु'षा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(प्राणताम्) जीते हुआ के (प्राणेन), श्वास से (प्राण) श्वास
ले, (इह) यहां पर (एव) ही (भव) रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्)
मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से.....[म० १] ॥ ९ ॥

८—(आयुष्मताम्) प्रशस्तेन दीर्घेणायुषा तद्वताम् । (आयुष्कृताम्)
अन्येषां प्रशस्तदीर्घायुषः कर्तृणां देवानाम्—म० ७ । (प्राणेन) अ० २ । १५ । १ ।
जीवनवलेन । (जीव) प्राणान् धारय । (मा मृथाः) मृड् प्राणव्योगे—लुड्,
माङि अडभावः । प्राणान् मा त्याक्षीः । अन्यद् गतम् ॥

९—(प्राणेन) प्रकृष्टजीवनेन । श्वासप्रश्वासव्यापारेण । (प्राणताम्)

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों के समान अपने श्वास श्वास पर कतव्य करे और संसार में रहकर भूल, आलस्य आदि दोष छोड़कर कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

उदायु'षा समायुषोदोष'धीनां रसेन ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मे'ण समायु'षा ॥१०॥

उत् । आयु'षा । सम् । आयु'षा । उत् । ओष'धीनाम् । रसेन ॥

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि यक्ष्मे'ण । सम् । आयु'षा ॥१०॥

भाषार्थ—(आयुषा) जीवन [उत्साह] के साथ (उत्=उद्भव) खड़ा हो (आयुषा) जीवन के साथ (सम्=सम् भव) पराक्रमी हो । (ओषधीनाम्) ओषधियों, अन्न आदि, के (रसेन) रस [भोग] से (उत्=उद्भव) ऊंचा हो । (अहम्) (मैं सर्वेण पाप्मना) सब कर्म से... [म० १] ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जीवन भर उद्योगी और पराक्रमी रहे, और अन्न आदि पदार्थों के भोगों के अनुसार उपकार का प्रतिफल देकर जीवन सुफल करे ॥१०॥

इस मन्त्र में (भव) पद की अनुवृत्ति मन्त्र ६ से आती है ॥

आ पुर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम् ।

व्यं१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मे'ण समायु'षा ॥ ११ ॥

आ । पुर्जन्यस्य । वृष्ट्या । उत् । अस्थाम् । अमृताः । वयम् ॥

वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि यक्ष्मे'ण । सम् । आयु'षा ॥११॥

प्र + अन जीवने-शतृ । श्वसताम् । आत्मवताम् । (प्राण) प्राणान् धारय । (इह एव) अस्मिन्नेव जन्मनि लोके वा । (भव) वर्तस्व । अन्यद् गतम् ॥

१०—(उत्) अत्र पूर्वमन्त्राद् भव इति क्रियापदम् अनुवर्तते । उद्भवा ऊर्ध्वो वर्तस्व । (आयुषा) जीवनेन । उत्साहेन । (सम्) सम्भव । पराक्रमी भव । (ओषधीनाम्) अ० ३ । ५ । १ । ब्रौह्मिवादीनाम् । (रसेन) आयुष्करेण सारेण । अन्यन् स्पष्टम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (अमृताः) अमर होकर (पर्जन्यस्य) सींचने वाले मेघ की (वृष्ट्या) बरसा से [जैसे] (अहम्) सब ओर से (उत् अस्थाम्) उठ खड़े हुये हैं । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से (वि) अलग, और (यद्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्ते) अलग रहूँ, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम्-वर्ते) मिला रहूँ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य इस सूक्त में वर्णित उपदेश के अनुसार ब्रह्मज्ञान के श्रवण मनन, और निदिध्यासन [विचार] से ऐसे हर्ष में बड़े हैं जैसे अन्न आदि औषधें जल की बरसा से नवीन जीवन पाकर उगती हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष छोड़कर अपना जीवन का लाभ उठावे ॥ ११ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति तृतीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजीराव गायकवाडा-

धिष्ठित बडोदे पुरीगतभावणमासदक्षिणायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-

भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपरिडित क्षेमकरणादास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे रामनवम्याम् [शुक्लनवम्याम्] १९७१ तमे
वक्रमीयेसंवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि श्री राजराजश्वर जार्ज
पञ्चम महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आपाढ़ शुक्ल पूर्णमास्यां संवत् १९७१ ता० ७ जुलाई १९१४ ॥

११—(आ) समन्तात् (पर्जन्यस्य) अ० १ । २ । १ । सेचकस्य । मेघस्य (वृष्ट्या) वर्षजलेन । (उत् अस्थाम्) तिष्ठतेर्लुङ् । उत्थिता अभूम् । (अमृताः) मरणरहिता अमृतत्वं जीवनत्वं प्राप्ताः सन्तः । (वयम्) उपासकाः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये ।]

अथर्ववेदभाष्यम् ब्रह्म जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व आते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे । अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है । परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा घुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० छेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बना कर प्रकाशित कर रहे हैं ।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर साम्बन्ध भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य रूप मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुँचना है । वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महाराजे, सेठ साहूका, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें । छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है । पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक बी० पी० द्वारा वा मगद काम पर दिये जाते हैं ।

मूल्य स्थायी ग्राहकों से

काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२, १॥	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१॥ १)
काण्ड ३—छप गया, पृष्ठ २५०	१॥ १)
काण्ड ४—शीघ्र प्रकाशित होगा ।	

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य १) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्व्य उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेजी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य १०) ॥

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य ॥

७ जुलाई १९१४ } पता—पं० छेमकरणदास त्रिवेदी.

अथर्ववेदभाष्य—सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० जेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यामित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३ ।

...श्री पं० जेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सन्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, शंतिम, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्य समाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रखे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ कर के एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो, छपाई और कागज़ भी अच्छा है ।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीराम जी जिज्ञासु—मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुलकांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६ ।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूँ, आपका परिश्रम सराहनीय है ।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदन्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता वेदाध्यापक काकड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र = फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेदभाष्य । श्री पं० लोमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है । आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं । आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है ।

श्रीयुत परिणित भीमसेन शर्मा—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़रवरी १९१३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के परिणित लोमकरण दास, त्रिवेदी, ने प्रकाशित किया है । इसका क्रम ऐसा रखा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ मेंअभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है.....भाष्यकर्त्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, और यह प्रशंसा तो बहुत ठीक है ॥

श्रीयुत परिणित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत लोमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है । आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है, बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं । स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ हिन्दी में सान्त्वय अर्थ, भावार्थ, पठान्तर टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है.....आप की राय है कि "वेदों में आर्यसामाजिक विज्ञान का उपदेश है" । आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है ॥

श्रीयुत परिणित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदृशाप्रवर्त्तक कृतेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३ ॥

हर्ष की बात है, कि जिन वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ हो गया । वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है । प्रथम मंत्र पुनः पदार्थ युक्त भावार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये

धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है...वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य लिया जा सकता है ॥

बाबू कालिका प्रसाद जी सिलकमचेंस्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी,
पत्र संख्या ५८६ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रमत्त हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । ...आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लिजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना ॥

भूयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्म्मा, मु० एकलडा,
पोस्ट किशुन पुर, ज़िन्ना फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आप ने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आप को वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करे ॥

भूयुन विख्यात पण्डित श्रीधर पाठक जी, मनोविनोद आदि
अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटेरियट पी० डब्ल्यू० डी०
श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३ ।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ । आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्राञ्जल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है ॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda
State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

.....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्.....It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund".

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan,

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.....

Lettr dated 30th april 1914.

I very much admire your labor of lore and hope the venture with not fail for want of pecuiary support.....

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE Atharva Veda Bhashya or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre eminent position in Sanskrit literature....The arrangement is good the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious ; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini. *Unadikosha* of Dyananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works....The Pandit appears to have labored very hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind....Cross reference to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.....

N. B.—The printing and paper are good ; the price of Book is moderate.

हवनमन्त्रः—सम्मतियां ।

पण्डित शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ—कान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—
पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि, सम्पादक आर्यमित्र, आगरा २६
फरवरी १९१३ ।...आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन का
सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक वक्ता पृथक् पृथक्
अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं
होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये ॥

सुद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९१८ ..आज कल
लोग हवन मन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते,
उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रेल १९१२.....इस में ईश्वरस्तुति,
स्वस्तिवाचन, शान्ति कर्ण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा
में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेदप्रकाश, मेरठ—मई १९१२-।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब
तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय खुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण १८।
...आप ने हवन मन्त्रों का भवानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप
मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लें, अब प्रकाशित हो रुद्राष्टाध्याय
भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देंगे ।

मिलने का पैता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

७ जुलाई १९१४ । } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ ।

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मां कृणु दे॒वेषु॑ प्रियं राज॑सु मा कृणु ।
प्रियं सर्व॑स्य पश्य॑त उ॒त शु॒द्र उ॒तायै ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।

प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शुद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

चतुर्थं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुण महिम धीर वीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दाक्षिणापरी-~~ताराम~~ श्रृक्षसामाथर्ववेदभाष्येषु
सम्प्रदक्षिणेन

श्रीपरिणित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman
Griffith's Trans. Athurva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः परिणित ओङ्कारनाथ वाजपेय्यसंस्कृत-
प्रयागनगरे ओङ्कार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीनपद रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ	}	संवत् १८७२ वि०	}	मूल्यम् २)
१००० पुस्तकानि		सन १८९४ ई०		

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ब्रह्म जज्ञानम्	वेनः	ब्रह्म का विचार	त्रिष्टुप्
२	य आत्मदा बलदा	प्रजापति	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
३	उदितस्त्रयः	इन्द्र	शत्रु नाश	पथ्यापङ्क्ति इत्यादि
४	यां त्वा गन्धर्वो	वृषा, इन्द्र	मनुष्य बल	अनुष्टुप्
५	सहस्रशृङ्गा	इन्द्र	बच्चों के सुलाना	अनुष्टुप् पथ्यापङ्क्ति
६	ब्राह्मणो जज्ञे	विष	विष दूर करना	अनुष्टुप् इत्यादि
७	वाग्निं वारयातै	विष	विष नाश	अनुष्टुप्
८	भूतो भूतेषु	भूतानामधिपति	राज तिलक यज्ञ	त्रिष्टुप् इत्यादि
९	एहि जीवम्	आज्यजन	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् इत्यादि
१०	वानाज्जातो	शङ्ख	विघ्नो के हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
११	अनड्वान् दाधार	अनड्वान्	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२	रोहण्य सिराह	धाता	दोष मिटाना	अनुष्टुप् आदि
१३	जन देवा अवहितं	आत्मा	स्वास्थ्य रक्षा	अनुष्टुप्
१४	अजो ह्यग्नेर	अग्नि	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
१५	समुपतन्तु प्रदिशे	पजन्य	वृष्टि प्रार्थना	जगती इत्यादि
१६	वृहस्पामधिष्ठाता	वरुण	वरुण की सर्वज्ञता	अनुष्टुप् इत्यादि
१७	ईशानां त्वा भेषजा	अप्रामार्ग	राजा का लक्षण	अनुष्टुप्
१८	समंज्योतिः सूर्येण	अप्रामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप्
१९	उतो अस्य बन्धुक्	अप्रामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप् इत्यादि
२०	आपश्यति प्राति	ब्रह्म	ब्रह्म की उपासना	अनुष्टुप्
२१	आ गावे अगमन्	गावः	विद्या के गुण	त्रिष्टुप् जगती
२२	इममिन्द्र वर्धय	इन्द्र	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
२३	अग्नेर्मन्वे	अग्नि	कष्ट हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	इन्द्रस्य मन्महे	इन्द्र	पूर्ण सुख	जगती अनुष्टुप्
२५	वायोः सवितुर्	पवन	पवन और सूर्य	अनुष्टुप् इत्यादि
२६	मन्वे वां द्यावा पृथि	सूर्य पृथिवी	सूर्य और पृथिवी	अनुष्टुप् इत्यादि
२७	मरुतां मन्वे	मरुतः	पवन के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२८	भवाशर्वो मन्वेअधि	भवाशर्वो	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२९	मन्वे वां मित्रा	मित्र, वरुण	पुरुषार्थ	अनुष्टुप् इत्यादि
३०	अहं रुद्रेभिः	राष्ट्री	परमेश्वर के गुण	त्रिष्टुप् जगती
३१	त्वया मन्यो सरथ	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप् जगती
३२	यस्ते मन्योऽवि	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
३३	अप नः शोशुचद्	अग्नि	सर्व रक्षा	गायत्री
३४	ब्रह्मास्य शीर्ष	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् इत्यादि
३५	यमोदनं प्रथमजा	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् जगती
३६	तान्सत्यौजाः	अग्नि	राज धर्म	अनुष्टुप्
३७	त्वया पूर्वमथर्वा	ओपधि, इत्यादि	गन्धर्व आदि	अनुष्टुप् इत्यादि
३८	उद्भिदन्ती संज्ञय	अप्सरा	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
३९	पृथिव्यामग्नयं	अग्नि इत्यादि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् जगती इत्यादि
४०	ये पुरस्ताज्जुह्वति	जातवेदाः	शत्रुनाश	त्रिष्टुप् इत्यादि

२-अथर्ववेद, काण्ड ४ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ४) सूक्त मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वा-चिक, उत्तरा-चिक इत्यादि
१	ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं	१।१		१३।३	पू० ४।३।६
२	य आत्मदा बलदा	२।१	१०।१२१।२,३	२५।१३.११	
३	यः प्राणतो निमिषतो	२।२	१०।१२१।३,२	२५।११,१२	
४	यं कन्दसी अवतश्च यस्यासौ पन्था	२।३	१०।१२१।६	{ ३२।७ ३२।६	
५	यस्य विश्वे हिम	२।५	१०।१२१।४	२५।१२	
६	आपो अग्रे विश्व	२।६	१०।१२१।७, ८	२७।२५, २६	
७	हिरण्य गर्भः सम	२।७	१०।१२१।१	१३।४; २५।१०	
८	आपो वत्सं जनयन्ती	२।८	१०।१२१।७	२७।२५	
९	सहस्र शृङ्गावृषभो	५।१	७।५५।७		
१०	प्रोष्ठे शयास्तल्पे	५।३	७।५५।८		
११	य आस्ते यश्चर	५।५	७।५५।६		
१२	स्वमु माता स्वमु	५।६	७।५५।५		
१३	सनेयमश्वं गां	६।७	१०।६७।४	१२।७, ८	
१४-१८	उत देवा अवहितं	१३।१-५	१०।१३७।१-५		
१६	अयं मे हस्तो भगवान्	१३।६	१०।६०।१२		
२०	हस्ताभ्यां दश शाखा	१३।७	१०।१३७।७		
२१	अजो ह्यग्नेर	१४।१		१३।५१	
२२	कमध्वमग्निना नाक	१४।२		१७।६५	
२३-२५	पृष्ठात् पृथिव्या अह	१४।३-५		१७।६७-६९	
२६	अर्वाङ्गितेन	१५।११	५।८३।६		
२७	अपोनिपिञ्चन	१५।१२	५।८३।६		
२८	संवत्सरं शशयाना	१५।१३	७।१०३।१		
२९	महान्तं काशमुद्	१५।१६	५।८३।८		
३०-३६	आ गावो अगमन्तु	२१।१-७	६।२८।१-७		
३७	मा वस्तेन	२१।७		१।१	
३८	परि वो रुद्रस्य	२१।७		१६।५०	
३९-४६	अहं रुद्रे भिर	३०।१-८	१०।१२५।१-८		
४७-५२	त्वया मन्या	३१।१-७	१०।८४।१-७ (अ)		
५३-५६	यस्ते मन्यो	३२।१-७	१०।८३।१-७		
६०-६७	अप नः शोशुचदध	३३।१-८	१०।६७।१-८		
६५	विश्वानि देव	३६।१०		४०।१६	

(अ)—सूक्त ३१ म० १ के साथ यह टिप्पणी छपने से छुट गयी है॥

"यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १०।८४। वहां पर सूक्त के अग्नि मन्यु तामस और देवता मन्यु हैं ॥"

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

चतुर्थं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ वेनो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सृष्टि विद्यया ब्रह्मविचारः—सृष्टि विद्या से ब्रह्म का विचार ।

ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
 स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सुतश्च योनिमसंत-
 श्च वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्मं । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सु-
 रुचः । वेनः । आवः ॥ सः । बुध्न्या । उप-माः । अस्य ।
 वि-स्थाः । सुतः । च । योनिम् ॥ असंतः । च । वि । वः ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्)
 पहिले काल में (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म)
 बृद्धि के कारण अन्न को और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतः)

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ब्रह्म) अ० १।८।४। बृद्धिकारणम्
 अन्नम्—निरु० २।७। (जज्ञानम्) जनी प्रादुर्भावे—शानचि शपः श्लौ सति

सीमाओं वा छोरों से (वि आवः) फैलाया है । (सः) उस ने (बुध्याः) अन्तरिक्ष में वर्तमान (उपमाः) [परस्पर आकर्षण से] तुलना करने वाले (विष्ठाः) विशेष विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चय करके (वि वः) खोला है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे उत्पन्न होने से पहिले बालक के लिये माता के स्तनों में दूध हो जाता है, ऐसेही जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्रत्येक शरीरों के लिये प्रभूत (ब्रह्म) अन्न वा पालन शक्ति और पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदि को बनाया, जो परस्पर आकर्षण से स्थिर हैं । यही सब

रूपम् । जायमानम् । दृश्यमानम् (प्रथमम्) अ० १ । १२ । १ । प्रख्यातम् । (पुस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । पा० ५ । ३ । २७ । इति पूर्व-अस्ताति । अस्ताति च । पा० ५ । ३ । ४० । इति पूर्वस्य पुगादेशः । अतीते प्रथमे काले वा । सृष्ट्यादौ । (वि) व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति व्यवधानम् । (सीमन्तः) मामन्सीमन्व्योमन् ० । ३० । ४ । १५१ । इति षिञ् बन्धने—मनिन् । अपादाने चाहीयरुहोः । पा० ५ । ४ । ४५ । इति तसि । सीमन्तः सीमतः सीमातो मर्यादातः । सीमा मर्यादा विषीव्यनि देशाविति-निरु० १ । ७ । सीमभ्यः । लोकमर्यादाभ्यः (सुरुवः) रुक्लृ प्रीति-प्रकाशयोः—किप् । सुष्ठु रोचमानान् लोकान् । (वेनः) अ० २ । १ । १ । दीप्यमानः परब्रह्मात्मकः—इति सायणोऽपि । मेधावी—निघ० २ । १५ । (वि आवः) वृञ् वरणे-लुङ् । मन्त्रे वस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । हल्ङ्यादिलोपे । छन्दस्यपि कथ्यते । पा० ६ । ४ । ७३ । इति आडागमः । विवृतानकरोत् । (सः) वेनः । (बुध्याः) बन्धेर्ग्रथिबुध्री च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक् । बुधादेशः । बुध्ना मेघो मूलमन्तरिक्षं वा । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । बुधमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा इदमपीतरद् बुधमेतत् । देव बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति योऽहिः स बुध्याबुधमन्तरिक्षं तन्निवासान् । निरु० १० । ४४ । बुध्नेऽन्तेरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः (उपमाः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । इति उप+माङ् माने-अङ्, टाप् । उपग्रीयमानाः । मानं प्राप्ताः । (अस्य) दृश्यमानस्य जगतः । (विष्ठाः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । वि+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अङ्,

लोक कार्य वा मूर्त और कारण वा अमूर्त दो प्रकार के जगत् के भण्डार हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद अ० १३ म० ३ और सामवेद पूर्वार्चिक प्र० ४ व० ३ म० ६ में है ॥

इयं पित्र्या राष्ट्रये त्वग्ने' प्रथमायं जनुषे' भुवनेष्ठाः ।
तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमायं
धास्यवे' ॥ २ ॥

इयम् । पित्र्या । राष्ट्री । एतु । अग्ने । प्रथमायं । जनुषे ।
भुवने-स्थाः । तस्मै । एतम् । सु-रुचम् । ह्वारम् । अह्यम् ।
घर्मम् । श्रीणन्तु । प्रथमायं । धास्यवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पित्र्या) पिता [जगत्पिता परमेश्वर] से आई हुई, (भुवनेष्ठाः) सब जगत् में ठहरी हुई (इयम्) यह (राष्ट्री) राजराजेश्वरी शक्ति [वेद वाणी] (प्रथमायं) सब से उत्तम (जनुषे) जन्म के लिये (अग्ने) हमारे आगे (एतु) आवे, [अर्थात्] “ (तस्मै) उस (प्रथमायं) सब से ऊपर विराजमान (धास्यवे) संसार का धारण पोषण चाहने वाले परमात्मा के लिए (एतम्) इस (सुरुचम्) बड़े रुचिर (ह्वारम्) अनिष्ट को भुका देने वाले (अह्यम्) प्राप्ति के योग्य, वा प्रति दिन वर्तमान (घर्मम्) यज्ञ को (श्रीणन्तु) सब लोग परिपक्व करें” ॥ २ ॥

टाप् । उपसर्गात् सुनोतिसुवति ० । पा० ८ । ३ । ६५ । इति । पन्वम् (सतः) विद्यमानस्य । मूर्तस्य । स्थूलस्य (च) समुच्चये । अवधारणे (योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गृहम्—निघ० ३ । ४ । आकाशम् । कारणम् (वि वः) वि + वृज् धरणे-लङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेलुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ् योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । इति अडभावः । विवृतमकरोत् ।

२—(इयम्) परिदृश्यमाना (पित्र्या) पितुर्यच्च । पा० ४ । ३ । ७६ । इति पितृ-यत्, टाप् । पितृस्त्रकाशाद् आगता । पैतृका । (राष्ट्री) राजतिः, ऐश्वर्य-कर्मा—निरु० २ । २१ । सर्वधातुभ्यः प्रून् । उ० ४ । १५६ । इति राजृ दीप्ती,

भावार्थ—जैसे पैतृक धन सब सन्तानों को यथावत् मिलता है वैसे ही जगत् पिता परमेश्वर की सर्वव्यापिनी, सर्वनियन्त्री यह वेदवाणीरूप शक्ति सब के हृदय में बसे कि सब मनुष्य अपना यज्ञ अर्थात् पुरुषार्थ परमात्मा को समर्पण करें जिससे मनुष्य जन्म सफल होवे ॥ २ ॥

प्र यो जुज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा वि-
वक्ति । ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः
स्वधा अभि प्र तस्थौ ॥ ३ ॥

प्र । यः । जुज्ञे । विद्वान् । अस्य । बन्धुः । विश्वा । देवा-
नाम् । जनिम् । विवक्ति । ब्रह्म । ब्रह्मणः । उत् । उभार ।
मध्यात् । नीचैः । उच्चैः । स्वधाः । अभि । प्र । तस्थौ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः विद्वान्) जो विद्वान् परमेश्वर (अस्य) इस [जगत्]

पेश्वर्ये—पूत । अश्चभ्रस्ज० । पा० ८ । ३ । ३६ । इति षत्वम् । पिप्त्वात् डीप् । पा०
४ । १ । ४१ । राष्ट्रौ, ईश्वरनामसु, निघ० । २ । २२ । राज्ञी । ईश्वरी । सर्वजगद्-
व्यवहारस्य नियन्त्री शक्तिः (एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु । (अग्रे) अभिमुखम्
(प्रथमाय) ए० १ । प्रथयाताय । प्रधानाय, (जनुपे) जनेरसिः । उ० २ । ११५ ।
इति जनी प्रादुर्भावि—उसि । जन्मने । जीवनाय (भुवनेष्टाः) अ० २ । १ । ४ ।
सर्वलोके स्थिता व्याप्ता (तस्मै) वेनाय (एतम्) समीपस्थम् (सुरुचम्)
म० १ । सुष्ठु रोचमानम् (ह्यारम्) ह्य कौटिल्ये एयन्तात् पचाद्यच् । अनिष्टस्य
कुटिलीकारकम् । (अहम्) अहि गतौ—एयत् । संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति
परिभाषया वृद्धेरभावः । गन्तव्यम् प्राप्यम् । यद्वा । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ -
११० । इति अहन्—यत् । नस्तद्धिते । पा० । ६ । ४ । १४४ । इति टिलोपः ।
अहनि भवम् (धर्मम्) धर्मप्राप्नोति । उ० १ । १४६ । इति घृ सेचनदीप्तयोः—
मक् । आतपम् । प्राप्नम् । स्वेदम् । यज्ञम्, निघ० ३ । १७ (श्रीणन्तु) श्रीजो
पाके । पचन्तु । पक्वं कुर्वन्तु । संस्कुर्वन्तु (आस्यवे) अ० २ । १ । ४ । जगतो
धारणपोषणेच्छुवे ॥

३ (प्र) प्रकर्षेण । सर्वोपरि (यः) वेतः परमेश्वरः (जज्ञे) जनी

का (बन्धुः) बन्धन वा नियम करने वाला, अथवा, बन्धु हितकारी (प्र) अच्छं प्रकार (जज्ञे) प्रकट हुआ था, और जो (देवानाम्) भूमि, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा) जन्मों को (विवक्ति) बतलाता है । उसने (ब्रह्मणः) ब्रह्म [अपने परब्रह्म स्वरूप] के (मध्यात्) मध्य से (ब्रह्म) वेद को (उज्जहार) उभारा था, वही (नीचैः) नीचे और (उच्चैः) ऊँचे (स्वधाः) अनेक अमृतों वा अन्नों को (अभि=अभिलक्ष्य) सम्मुख करके (प्र) उत्तमता से (तस्थौ) स्थित हुआ था ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनादि, सर्वज्ञ सर्वोत्तम परमात्मा ने सब चराचर जगत् को यथानियम रचा और वेद विद्या को अपने में से प्रकट करके नीचे ऊँचे लोकों की सृष्टि के अनकूल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न किये हैं, सब मनुष्य उस जगत् नियन्ता की उपासना द्वारा पुरुषार्थ करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का (विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) यह पाद अथ० २ । २८ । २ । में आया है ।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतुस्था मही क्षेमं रोदसीं
अस्कभायत् । महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां
सहम् पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥

प्रादुर्भावे—लिट् । यद्धृत्ताभित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । प्रादुर्बभूव (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । ज्ञानी (अस्व) दृश्यमानस्य जगतः (बन्धुः) अ० २ । १ । ३ । बन्धकः । नियामकः । बान्धवः (विश्वा) विश्वानि । सर्वाणि (देवानाम्) पृथिवीसूर्यादीनां दिव्यपदार्थानाम् । महात्मनाम् (जनिम=जनिमानि) अ० १ । ८ । ४ । जन्मविधानानि (विवक्ति) अ० २ । २८ । २ । वच परिभाषणे । आदादिकः । शपः श्लुः । कथयति । उपदिशति (ब्रह्म) वेदम् (ब्रह्मणः) स्वपरब्रह्मस्वरूपस्य (उज्जहार) हृज् हरणे—लिट् । हृज् हरोर्भ-शृण्वन्ति । वार्त्तिकम् । इति भकारः । उज्जहार । उद्धृतवान् । उत्थापितवान् (मध्यात्) मध्यभागात् (नीचैः) अ० २ । ३ । ३ । अधोदेशे (उच्चैः) उद्दिचेर्डीसः । उ० ५ । १२ । इति उत्+चिञ् चयने—डैसि । उपरिभागे (स्वधाः) अ० २ । २६ । ७ । अन्नानि । पाषकद्रव्याणि (अभि) अभिलक्ष्य (तस्थौ) स्थितवान् ॥

सः । हि । दिवः । सः । पृथिव्याः । ऋतु-स्थाः । मही इति ।
क्षेमम् । रोदसी इति । अस्कभायत् । महान् । मही इति ।
अस्कभायत् । वि । जातः । द्याम् । सद्यः । पार्थिवम् । च । रजः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) उस (सः) विष्णु वा शिव ने (हि) ही (दिवः)
सूर्य के और (पृथिव्याः) पृथिवी के (ऋतस्थाः + सन्) सत्य वा कारण में
स्थित होकर (मही = महत्यौ) विशाल (रोदसी = ०... स्यौ) सूर्य और पृथिवी
को (क्षेमम्) क्षेम के साथ (अस्कभायत्) ठहराया । (महान्) उस विशाल
परमेश्वर ने (जातः + सन्) प्रकट होकर (मही = महत्यौ) दोनों विशालों,
अर्थात् (द्याम्) सूर्यरूप (सद्यः) घर (च) और (पार्थिवम्) पृथिवी वाले
(रजः) लोक को (वि) अलग अलग (अस्कभायत्) स्थिर किया ॥ ४ ॥

४—(सः) प्रसिद्धः (हि) अवश्यम् (दिवः) द्युलोकस्य । सूर्यस्य (सः)
यो अन्तर्कर्मणि—इ । स्यति नाशयति दुष्टानिति सः । विष्णुः । ईश्वरः । शिवः ।
(पृथिव्याः) भूलोकस्य (ऋतस्थाः) अश्विघृत्सिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति
ऋ गतौ, हिंसने च—क्त । ऋतं सत्यनाम—निघ० ३ । १० । उदकम्—निघ० १ ।
१२ । आतो मनिन्कनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति ऋत + णा गति-
निवृत्तौ—विच् । ऋते सत्ये कारणे स्थितः । कारणस्य कारणमित्यर्थः (मही)
मह पूजायाम्—क्लिप् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । घा० पा० ७ । १ । ३६ ।
इति ईकारो विभक्तौ । महत्यौ । विशाले । (क्षेमम्) अ० ३ । ३ । ५ । कुशलम् ।
(रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रुधेरसुन् । धस्य ढकारः,
उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति डीप् । वा छुन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ ।
इति पूर्वसवर्णः । आभ्यां हि रुद्धानि सर्वभूतानि । रोदस्यौ । द्यावापृथिव्यौ—
निघ० ३ । ३० (अस्कभायत्) स्कन्भु गतिप्रतिबन्धे—लङ् । छुन्दसि शाय-
जपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति श्नः शायच् । अस्कभ्नात् । स्थापितवान् (महान्)
विशालः (मही) पूर्ववत् । महत्यौ । (वि) पृथक् पृथक् (जातः) प्रादुर्भूतः ।
(द्याम्) अ० १ । २ । ४ । द्योतमानं सूर्यात्मकम् (सद्यः) सर्वधातुभ्यो मनिन् ।
उ० ४ । १४५ । इति षट् । विशरणगत्यवसादनेषु—मनिन् । संग्रामनाम—निघ०
२ । १७ । गृहनाम—निघ० ३ । ४ । उदकनाम—निघ० १ । १२ । सदनम् । गृहम् ।

भावार्थ—सूर्य आदि के (ऋतस्थाः) कारण के कारण परमेश्वर ने सूर्य आदि लोकों को रचा, और परस्पर आकर्षणरूप डोरी लगाकर उन को पृथक् पृथक् कर दिया। उस परमेश्वर की ऐसी बड़ी महिमा देखकर हम सदा : पुरुषार्थ करें ॥ ४ ॥

स बुध्न्यादाष्ट्रं जुनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य
सम्राट् । अहुर्यच्छुक्रं ज्योतिषोऽजनिष्ठार्थं द्युमन्तो वि
वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

सः । बुध्न्यात् । आष्ट्रं । जुनुषः । अभि । अग्रम् । बृहस्पतिः ।
देवता । तस्य । सम्-राट् । अहः । यत् । शुक्रम् । ज्योतिषः ।
जनिष्ठ । अर्थ । द्यु-मन्तः । वि । वसन्तु । विप्राः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः) ईश्वर (जुनुषः) उत्पन्न जगत् के (बुध्न्यात्) मूल देश से लेकर (अग्रम् अभि) उपरि भाग तक (आष्ट्रं=आष्ट्र) व्याप्त हुआ । (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी (देवता) प्रकाशमान परमेश्वर (तस्य) उस [जगत्] का (सम्राट्) सम्राट् [राजराजेश्वर] है । (यत्) क्योंकि (ज्योतिषः) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर से (शुक्रम्) चमचमाता हुआ (अहः) दिन [सूर्य] (जनिष्ठ=अजनिष्ठ) उत्पन्न हुआ, (अर्थ) तभी (विप्राः) इन्द्रियां वा बुद्धिमान् लोग (द्युमन्तः) प्रकाशमान होकर (वि) विविध प्रकार से (वसन्तु) निवास करें ॥ ५ ॥

(पार्थिवम्) अ० २ । २८ । ३ । भौमम् (रजः) भूरजिज्ज्यां कित् । उ० ४ । २१७ । इति रज्ज रागे-असुन् । रजो रजतेज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांश्चुच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्येते-निरु० ४ । १६ । लोकम् ॥

५—(सः) म० ४ । ईश्वरः (बुध्न्यात्) म० १ । मूले भवाद् देशात् (आष्ट्रं) अश्व व्याप्तौ-छान्दसे लुङ् । आष्ट्र । आश्रुत । व्याप्नोत् (जुनुषः) म० २ । प्रादुर्भूतस्य संसारस्य (अभि) अभितः सर्वतः (अग्रम्) उपरिभागम् (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां स्वामी (देवता) देवात् तल् । पा० ५ । ४ । २७ ।

भावार्थ—परमेश्वर इस सब जगत् के आदि अन्त में विराजमान है, वही सार्वभौम शासक है, उसी ने सूर्य को बनाया है जिससे इन्द्रियां प्रकाश पाकर अपना व्यापार करती हैं। उसी से पंडित जन विद्या प्रकाश करके कीर्तिमान होते हैं ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता और सायणभाष्य में (आष्ट) के स्थान में [आष्ट] है ।

नूनं तदस्य काव्यो हि नोति मुहो देवस्य पुर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वं अर्धं विषिते सु-
सन् नु ॥ ६ ॥

नूनम् । तत् । अस्य । काव्यः । हिनोति । मुहः । देवस्य ।
पुर्व्यस्य । धाम । एषः । जज्ञे । बहु-भिः । साकम् । इत्था ।
पूर्वं । अर्धं । वि-सिते । सुसन् । नु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(काव्यः) स्तुतियोग्यपरमेश्वर [वेनः, म० १] (अस्य) इस (पूर्वस्य) समग्र जगत् के हित करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान सूर्यके (तत्) उस (मुहः)

इति स्वार्थे तत् । देवः । प्रकाशमानः परमेश्वरः (तस्य) जगुषा जगतः (सम्राट्) सत्सूद्विप० । पा० ३ । २ । ६१ । इति सम् + राजृ दीप्त्यंश्वर्ययोः क्तिप् । सो राजि समः क्वौ । पा० ८ । ३ । २५ । इति समो मस्य अनुस्वाराभावः । सम्यक् राजमानः । राजाधिराजः । चक्रवर्त्ती (अहः) दिनम् (यत्) यस्मात् कारणात् (शुक्रम्) अ० ५ । २ । १२ । ५ । दीप्यमानम् (ज्योतिषः) अ० १ । ६ । १ । द्योतमानात् परमेश्वरात् (जनिष्ट) जनो प्रादुर्भावे लुङ्, अङ्-भावः । प्रादुरभूत् (अथ) अनन्तरम् । तस्मात् कारणात् (द्युमन्तः) दीप्ति-मन्तः (वि वसन्तु) विविधं वर्तन्ताम् (विप्राः) अ० ३ । ३ । २ । विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४ । १३ । इन्द्रियाणि । मेधाविनः पुरुषाः ॥

६ (नूनम्) निश्चयेन (तत्) प्रसिद्धम् (अस्य) दृश्यमानस्य (काव्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति कष्टुस्तुतौ-र्ण्यत् । वयदोरैक्यम्

विशाल (धाम) तेज को (नूनम्) अवश्य (हिनोति) भेजता है । (ससन्) सोता हुआ (एषः) यह परमेश्वर (पूर्वे) समस्त (अर्धे) प्रवृद्ध जगत् के (विधिते) खुलने पर (इत्या) इस प्रकार से [जैसे सूर्य] (बहुभिः साकम्) बहुत [लोकों] के साथ (तु) शीघ्र (जङ्घे) प्रकट हुआ है ॥ ६ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर प्रलय की अवस्था में सोता हुआ सा था, उस ने सृष्टि उत्पन्न करने पर, आकर्षण, आतप वृष्टि आदि द्वारा संसार के हित के लिये सूर्य, पृथिवी, बृहस्पति, शुक्र आदि असंख्य लोक रचे । उस जगदीश्वर का सामर्थ्य विचार कर हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करें ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसा च
गच्छात् । त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कुविदेवो न
दभायत् स्वधावान् ॥ ७ ॥

यः । अथर्वाणम् । पितरम् । देव-बन्धुम् । बृहस्पतिम् ।
नमसा । अथ । च । गच्छात् । त्वम् । विश्वेषाम् । जनिता ।
यथा । असः । कुविः । देवः । न । दभायत् । स्वधावान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) गतिवाला, पुरुष (अथर्वाणम्) निश्चल, (पितरम्) पिता, (देवबन्धुम्) विद्वानों वा सूर्यादि दिव्य लोकों का बन्धु वा यथा, काव्या=बुद्धिः । स्तुत्यः परमेश्वरः (हिनोति) हि गतौ वृद्धौ च । प्रेरयति (महः) विशालम् (देवस्य) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (पूर्वस्य) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति पूर्व—यत् । पूर्वाय समस्ताय जगते हितम् (धाम) अ० १ । १३ । ३ । प्रभावम् । लोकम् । तेजः (एषः) पुरोवर्त्ती परमेश्वरः (जङ्घे) प्रादुर्बभूव (बहुभिः) असंख्यैर्देवैर्लोकैः (साकम्) सार्धम् (इत्या) या हेतौ च च्छन्दसि । पा० ५ । ३ । २६ । इति इदम्—या । अनेन प्रकारेण यथा सूर्यः (पूर्वे) पुर्वं पूर्वं पूरणे, निवासे—अच । समस्ते (अर्धे) श्रुध वृद्धौ-घञ् । प्रवृद्धे संसारे (विधिते) वि विरोधे । पिञ् बन्धने—क । विवृत्ते प्रकाशिते सति (ससन्) षस स्वप्ने—शतृ । निद्रां गच्छन् सन् । प्रलयकालेऽज्ञातदशायां वर्तमान इत्यर्थः ॥

७—(यः) यातीति यः । या गतौ-ङ । याता । गतिवान् । उद्योगी पुरुषः (अथर्वाणम्) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थवर्तितश्चरतिकर्मा ऋप्रतिषेधः—निद्र० ११ ।

नियामक, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के स्वामी परमेश्वर को (नमसा) नमस्कार के साथ (च) निश्चय करके (अथ गच्छात्) पहिचाने । [हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (विश्वेपाम्) सब [सुखों] का (जनिता) उत्पादक (असः) हो, (यथा) क्योंकि (कविः) मेधावी, (स्वधावान्) अन्नवान् वा स्वयं धारण सामर्थ्य वाला (देवः) परमेश्वर (न) कभी नहीं (द्भायत्) टगता है ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्य विश्वास करके सत्य स्वाभाव परमेश्वर से प्रार्थना करें " हे ईश्वर आप दुःखों से मुक्ति दाता हैं और आप कभी किसी को नहीं सताते " और पुरुषार्थ से पाप कर्मों को त्यागकर सुख प्राप्त करें ॥ ७ ॥

१८। स्नामदिपद्यास्ति पृथक्किभ्यो वनिप् । उ० ४। ११३। इति अ+थर्व चरणे=गतौ—वनिप् । वकारलोपो विकल्पेन । न थर्वति न चरतीति अथर्वा निश्चलः परमेश्वरः । यद्वा । अथ+गत्तौ—वनिप् । अथ लोकमङ्गलाय ऋच्छति गच्छति व्याप्नोतीति अथर्वा । निश्चलं मङ्गलाय व्यापकं वा परमात्मानम् (पितरम्) अ० १। २। १। पातारं पालयितारं वा—निरु० ४। १६ (देवबन्धुम्) देवानां विदुषां सूर्यादिविद्यलोकानां वा बन्धुं हितकरं बन्धकं नियामकं वा (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् । नमसा) नमस्कारेण । कराभ्यां शिरः संयोगविशेषेण स्वापकर्पसूचकेन व्यापारभेदेन (च) अवधारणे (अथ गच्छात्) अवगच्छेत् जानीयात् (त्वम्) अथर्वा वेनो वा परमेश्वरः (विश्वेपाम्) सर्वेषां सुखानाम् (जनिता) अ० २। १। ३। जनयिता (यथा) यस्मात् कारणात् (असः) भवेः (कविः) सर्वधानुभ्य इन् । उ० ४। ११८। इति कवु स्तुतौ वर्णे च—इन् । यद्वा अच इः । उ० ४। १३६। इति कु शब्दे—इ । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा निरु० १२। १३। अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगत् ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः—निघ० ३। १५ मेधावी—निघ० ३। १५। ब्रह्मा परिशुतः । (देवः) दीप्यमानः (न) नहि (द्भायत्) दम्भु दम्भे=वञ्चने । छन्दसि शायजपि पा० ३। १। ८४। इति शतः शायच् । इकारलोपश्च । दम्भोति वञ्चति (स्वधावान्) अन्नवान् । स्वयं धारणवान् ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१—८ ॥ कः प्रजापतिर्देवता । १-७ त्रिष्टुप् छन्दः, ८ आपो वत्समिति अनुष्टुप्, कस्मै देवायेति त्रिष्टुप् पादः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासन्ते प्रशिषं यस्य देवाः । यो ई स्येशं द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

यः । आत्म-दाः । बल-दाः । यस्य । विश्वं । उप-पासन्ते । प्र-शिषम् । यस्य । देवाः । यः । अस्य । ईशं । द्वि-पदः । यः । चतुः-पदः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ १ ॥

भाषार्य—(यः) जो (आत्मदाः) प्राण [आत्मबल] का देने वा शुद्ध करने वाला और (बलदाः) शारीरिक बल का देने वा शुद्ध करने वाला है, (यस्य) जिस (यस्य) व्यापक वा पूजनीय के (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (विश्वं) सब (देवाः) देवता [सूर्य चन्द्रादि सब लोक] (उपासन्ते) सेवते हैं, (यः) जो (यः) व्यापक वा पूजनीय (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये और (चतुष्पदः) चौपाये जीव समूह का (ईशं=ईष्टे) ईश्वर है, उस (कस्मै=काय) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ १ ॥

१—(यः) कः परमेश्वरः (आत्मदाः) आतां मनिन्कनिब्वनिपश्च । ॥० ३ । २ । ७४ । इति आत्मन्+दाप् दाने, दैप् शोधने वा—विच् । आत्मनः तणस्य आत्मबलस्य दाता शोधयिता वा (बलदाः) इति पूर्ववत् सिद्धिः । शरीरबलस्य दाता शोधयिता वा (यस्य) ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (उपासन्ते) तास उपवेशने—अदादिः । सेवन्ते । भजन्ते (प्रशिषम्) कौ च शास इत्वं भवतीति कव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति शासु अनुशिष्टौ, इति क्तिबन्तस्य उप-या इत्वम् । शसिबसिबसीनां च । पा० ८ । ३ ६० । इति । षत्वम् । प्रकृष्टं

भाषार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब देवता [यजु० १४ । २०] और मनुष्य गौ आदि सब प्राणी चलते हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके हम लोग आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर सुख भोगें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १९१ । २, ३, और य० २५ । १३, ११ में है ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा वि-
धेम ॥ २ ॥

यः । प्राणतः । नि-मिषतः । महि-त्वा । एकः । राजा । ज-
गतः । बभूव । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः ।
कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (महित्वा=०—त्वेन) अपनी महिमा से (प्राणतः)

शासनम् । आज्ञाम् (यस्य) या गतो वा यज पूजायाम्—इ । याति व्याप्नोति यद्वा
इज्यते पूज्यते स यः । व्यापकस्य । पूज्यस्य (देवाः) अग्निवायुसूर्यादयः—यथा
यजु० १४।२०। (अस्य) दृश्यमानस्य (ईशे) ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु ।
पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (द्विपदः) अ० २।३४।१ ।
पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः (यः) व्यापकः । यजनीयः (चतुष्पदः) अ० २ ।
३४ । १ । पादचतुष्टयापेतस्य गवाश्ववादेः (कस्मै) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ ।
२ । १०१ । इति कच दीप्ती वा क्रमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौच—इ प्रत्ययः ।
छान्दसी सर्वनामता । द्वितीयार्थे चतुर्थी । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा
निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम—निघ० ३ । ६ । काय । दीप्यमानाय प्रजा-
पतये । सुखकारकाय (देवाय) दिव्यगुणाय—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ४ । ३५
(हविषा) अ० १ । ४ । ३ । आत्मदानेन । भक्त्या (विधेम) अ० १ । १२ । २ ।
परिचरेम । सेवेमहि । परिचरणं कुर्याम ॥

२—(यः) प्रजापतिः कः (प्राणतः) अन्न प्राणने—शब्द । प्रश्वसतः । चेतनस्य

श्वास लेतेहुए, चेतन और (निमिषतः) आंख मूंदे हुए, अचेतन (जगतः) जगत् का (एकः) एक (राजा) राजा (बभूव) हुआ है । (यस्य) जिसकी (छाया) छाया [छाया समान अनुगामी अथवा आश्रय वा कान्ति अर्थात् ज्ञान] (अमृतम्) अमरपन [जीवन वा पुरुषार्थ वा जीवन की सफलता, मोक्ष पद] है और (यस्य = यस्यच्छाया) जिसकी [छाया अर्थात् छाया समान अनुगामी अथवा अनाश्रय, वा प्रकाश का ढकना, अज्ञान] (मृत्युः) मरण [शरीर त्याग वा निरुत्साह, वा जीवन की विफलता, नरक] है, उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) भेष्ट गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) सेवा किया करें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब चेतन और अचेतन जगत् के एक स्वामी परमेश्वर की आज्ञा में चलता है, वह जीते जागते हृदय वाला पुरुष पुरुषार्थ करके अमर [यशस्वी वा मुक्त] होजाता है और इसके विपरीत मरेमन वाला निरुत्साही मृतक सा होकर नरक भोगता है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १०।१२१।३, २ और यजु० २५।११, १३ में है ॥
यं क्रन्दसी अवन्तश्चस्कभाने भियसन्ति रोदसी अह्वये-
याम् । यस्यासौ पन्था रजसो विमानुः कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(निमिषतः) मिष स्पर्धायाम्—शत्रु । तुदादिवात् शः । निमेषणं निमीलनं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वतः । अचेतनस्य (महित्वा) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मह पूजायाम्—इन् । महेर्महतो भावो महित्वम् । यद्वा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति मह—भावे इत्वन । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति तृतीयाया आकारः । महित्वेन । महत्त्वेन (एकः) अद्वितीयः (राजा) शासकः अधिपतिः (जगतः) संसारस्य (बभूव) (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (छाया) माङ्गाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति छो छेदने—य, टाप् । गृहनाम्—निघ० ३ । ४ । आश्रयः, इत्यर्थः । कान्तिः प्रकाशः । प्रतिविम्बम् । प्रकाशावरणम् अज्ञानमित्यर्थः । यद्वा । छायेव अनुगामी वशीभूतः (अमृतम्) भावे—क्त । अमरणम् । जीवनम् । जीवनसाफल्यम् (यस्य) यस्यच्छाया (मृत्युः) मरणम् । जीवनवैफल्यम् । अन्यद् गतम् ॥ म० १ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । अवतः । चस्कभाने इति । भिय-साने
इति । रोदसी इति । अह्वयेथाम् । यस्य । असौ । पन्थाः ।
रजसः । वि-मानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥३॥

भाषार्थ—(यम्) जिसको (चस्कभाने) परस्पर रोकती हुई (क्रन्दसी)
खलकारती हुई हो सेनाये (अवतः) प्राप्त होती हैं , और [जिसको] (भि-
यसाने) हो डरती हुई (रोदसी) सूर्य और भूमि ! (अह्वयेथाम्) तुम दोनों
ने पुकारा है । (यस्य) जिसका (असौ पन्थाः) यह मार्ग (रजसः) संसार
का (विमानः) विविध प्रकार नापने वाज़ा वा विमान रूप है, उस (कस्मै)
प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) उत्तम गुण के लिये (हविषा)
भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को ही हो लड़ती हुई सेनाये पुकारती हैं, उसी की
आज्ञा में सूर्य आदि लोक रहते हैं, उसी की व्याप्ति संसार भर में है, उसी
परब्रह्म की भक्ति करके सब मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ६ और यजु० ३२ । ७
और उत्तरार्ध यजु० ३२ । ६ में है ॥

३—(यम्) प्रजापतिम् (क्रन्दसी) सर्वधातुभ्य इन् । उ० । ४ । ११८ ।
इति क्वि आह्वाने रोदनेच—असुन् । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् ।
वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णाः । क्रन्दस्यौ । आक्रोशन्त्यौ ।
आह्वानं शब्दं वा कुर्वाणे द्वे सेने (अवतः) अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु ।
अत्र गतौ प्राप्तौ—लट् । गच्छतः । प्राप्नुतः (चस्कभाने) स्कभि प्रतिबन्धे—
कानच् । प्रतिबन्धं कुर्वाणे (भियसाने) छन्दस्यसानच् श्रुतृभ्याम् । उ० २ ।
८६ । इति अि भी भये—असानच् । बिभ्यत्यौ (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । भूता-
नां निरोधनशीले छावापृथिव्यौ (अह्वयेथाम्) द्वेभ्य आह्वाने, स्पर्धायां शब्दे
च—लङ् । युवाम् आह्वनवत्यौ । (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (असौ) प्रसिद्धः ।
दृश्यमानः (पन्थाः) पतस्थ च । उ० ४ । १२ । इति पतलृ गतौ—इन् । मार्गः ।
(रजसः) अ० ४ । १ । ४ । लोकस्य (विमानः) वि+माङ् माने ल्युट् ।
परिच्छेदकः सर्वमानः । देवस्थः । व्योमयानम् । विमानवत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्वरन्तरिक्षम् ।
यस्यासौ सूरौ विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा
विधेम ॥ ४ ॥

यस्य । द्यौः । उर्वी । पृथिवी । च । मही । यस्य । अदः ।
उरु । अन्तरिक्षम् । यस्य । असौ । सूरः । वि-ततः । महि-
त्वा । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (उर्वी)
विस्तीर्ण (द्यौः) सूर्य (च) और (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी है, (यस्य)
जिसकी [महिमा से] (अदः) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक
है । (यस्य) जिसकी [महिमा से] (असौ) यह (सूरः) धर्म प्रचारक विद्वान्
मनुष्य (विततः) विस्तारवाला है, उस (कस्मै) प्रजापति, सुखदाता परमेश्वर
की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम
सेवा किया करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सूर्य आदि अनेक लोकों को रचकर परस्पर
आकर्षण द्वारा स्थिर किया है, और जिसने मनुष्य को अद्भुत शक्तियां देकर
पेश्वर्यवान् और प्रतापी बनाया है, उसकी भक्ति करके हम पुरुषार्थ के साथ
अपनी उन्नति करें ॥ ४ ॥

४—(यस्य) कस्य । प्रजापतेः (द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः
(उर्वी) अ० ३ । २० । ४ । विस्तीर्णा (पृथिवी) भूलोकः (मही) महती ।
विशाला (अदः) एतत् । दृश्यमानम् (उरु) अ० २ । १२ । १ । विस्तीर्णम्
(अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । मध्यलोकः (असौ) प्रत्यक्षं दृश्यमानः (सूरः)
सुसुधाज्गुधिभ्यः क्रन् । उ० २ । ४ । इति पू प्रेक्षणे वा बूङ् प्राणिगर्भविमोचने,
क्रन् । सुवति प्रेरयति, यद्वा, सूते उत्पादयति लोकं धर्मं वा । सूर्यः । परिहृतः
(महित्वा) म० २ । महित्वेन । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामि-
दाहुः । इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ५ ॥

यस्य । विश्वे । हिम-वन्तः । महि-त्वा । समुद्रे । यस्य । र-
साम् । इत् । आहुः । इमाः । च । प्र-दिशः । यस्य । बाहू
इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (विश्वे)
सब (हिमवन्तः) हिम वाले पहाड़ हैं, और (यस्य) जिसकी [महिमा से]
(समुद्रे) समुद्र [अन्तरिक्ष, वा पार्थिव समुद्र] में (रसाम्) नदी को (इत्)
भी (आहुः) बताते हैं । (च) और (इमाः) यह (प्रदिशः) बड़ी दिशायें
(यस्य) जिसकी (बाहू) दो भुजायें हैं, उस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति
परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम)
हम सेवा किया करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपनी दो भुजाओं के बल से अर्थात् शारीरिक
और आत्मिक सामर्थ्य से प्रजा पालन आदि बड़े २ बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार
परमेश्वर ने दिशाओं अर्थात् अवकाश के भीतर सब लोकों को रचकर परस्पर
आकर्षण द्वारा स्थापित किया है, उच्च जगदीश्वर की आज्ञा में चलकर हम
यज्ञ से उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ४ और यजु० २५ । १२ में है ॥

५—(यस्य) कस्य । ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (हिमवन्तः) भूमि मतुप्,
मस्य वः । बहुहिमयुक्ता महागिरयः (महित्वा) म० २ । महित्वे (समुद्रे)
अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षे । पार्थिवसागरे (रसाम्) नन्दिप्रहि० । पा० ३॥
१ । १३४ । इति रस शब्दे—पचाद्यच् । यद्वा । रस उदकम्—निघ० १ । १२ ।
रसोऽस्त्यस्यामिति रसा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति रस—
अच् । रसा नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः—निरु० ११ । २५ । नदीम् । जल-
धाराम् (इत्) पव (आहुः) ब्रुवन्ति (इमाः) दृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा
दिशाः (बाहू) अ० २ । २७ । ३ । भुजद्वयवद् वर्तमानाः । अन्यद् गतम्—म० १॥

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधानाऽमृताऽऽतृज्ञाः ।
यासु' देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै' देवाय हविषा
विधेम ॥ ६ ॥

आपः । अग्रे । विश्वम् । आवन् । गर्भम् । दधानाः । अमृताः ।
ऋत-ज्ञाः । यासु' । देवीषु' । अधि' । देवः । आसीत् ।
कस्मै' । देवाय' । हविषा' । विधेम ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गर्भम्) बीज को (दधानाः) धारण करते हुए, (अमृताः)
मरण रहित [जीवन शक्तिवाले] (ऋतज्ञाः) सत्य नियम को जानने वाले
(आपः) उन व्यापक जलों [वा तन्मात्राओं] ने (अग्रे) पहले (विश्वम्)
जगत् को (आवन्) रक्षा की थी, (यासु देवीषु अधि) जिन दिव्य गुण वालों
के ऊपर (देवः) परमेश्वर (आसीत्) था उस (कस्मै) सुखदायक प्रजा-
पति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुणके लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम)
हम सेवा किया करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि की आदि में ईश्वर नियम से जल [वा तन्मात्रा] के
भीतर जगत् का बीज और जीवन सामर्थ्य था, जिससे यह सृष्टि हुई है। उसी
परमात्मा के नियम पर चलकर हम अपने जीवन को पुरुषार्थ करके सुधारें ॥६॥

६—(आपः) अ० १ । ४ । ३ । जलानि । व्यापिकास्तन्मात्राः—इति दया-
नन्दो यजुर्वेदभाष्ये २७ । २५ (अग्रे) सृष्ट्यादौ (विश्वम्) सर्वं जगत् (आवन्)
अव रक्षणगत्यादिषु—लङ् । अरक्षन् (गर्भम्) अ० ३ । १० । १२ । बीजम् ।
मूलम् । प्रधानम् (दधानाः) दधातेः शानच् । धारयन्त्यः । धरन्त्यः सत्यः
(अमृताः) नास्ति मृतं मरणं याभिस्ताः । मरणरहिताः । प्राप्तजीवनशक्तयः
(ऋतज्ञाः) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति ऋत+ज्ञा बोधे-क ।
टाप् । ऋतं सत्यं नियमं जानानाः (यासु) अण्सु (देवाषु) दिव्यगुणसंपन्नासु
(अधि) अधिकम् । उपरि (देवः) परमेश्वरः (आसीत्) अभवत् । अन्यद्
व्याख्यातम्—म० १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से श्रु० १०। १२१। ७, ८ और यजु० २७। २५, २६ में हैं।
मनु महाराज ने भी ऐसा कहा है—मनु १। ८ ॥

सोऽभिधाय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

उस परमात्मा ने सब ओर ध्यान करके अपने शरीर [अभ्याकृत रूप वा सामर्थ्य] से नाना विध प्रजायें उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये जलही पहिले उत्पन्न किया और उसमें बीज छोड़ दिया ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रं भूतस्य जातः पतिरकं आ-
सीत् । स दाधार पृथिवीमत् द्यां कस्मै' देवाय ह-
विषा विधेम ॥ ७ ॥

हिरण्य-गर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रं । भूतस्य । जातः ।
पतिः । एकः । आसीत् । सः । दाधार । पृथिवीम् । उत ।
द्याम् । कस्मै' । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः) तेजवाले लोकों का आधार (अग्रं) पहिले ही पहिले (सम्) ठीक ठीक (अवर्तत) वर्त्तमान था । वही (जातः) प्रकट होकर (भूतस्य) पृथिवी आदि पंचभूत का (एकः) एक (पतिः) पति, ईश्वर (आसीत्) हुआ, (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ७ ॥

७—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यं व्याख्यातम्—अ० १। ६। २। गर्भश्च, अ० ३। १०। १२। हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति—वा निरु० १०। २३। हिरण्यनि सूर्यादितेजांसि गर्भे यस्य स परमात्मा—इति दयानन्द भाष्ये यजु० २५। १० (सम्) प्रकर्षेण (अवर्तत) वृत्तु वर्तने—लङ् । वर्तमान आसीत् (अग्रं) स्टब्धेः प्राक् (भूतस्य) पृथिव्यतेर्ज्ञावाख्याकाशपञ्चकस्य

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् अविनाशी परमात्मा प्रलयकाल में विद्यमान था । उसके कर्मों से ज्ञात होता है कि उस अकेले ने मूढम पंचभूत का यथावत् संयोग वियोग करके पृथिवी, सूर्य आदि सृष्टि को रचा और धारण किया है, उसकी उपासना से उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्द भांगें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुल्ल भेद से ऋ० १० । १२१ । १. यजु० १३ । ४ तथा २५ । १० और निरु० १० । २३ में है ॥

आपा वृत्स जनयन्तागभमग्रे समैरयन् ।

तस्योत जायमानुस्योत्वं आसीद्विरणययः कस्मै देवाय
हविषा विधेम ॥ ८ ॥

आपः । वृत्सम् । जनयन्तीः । गर्भम् । अग्रे । सम् । ऐरयन् ।
तस्य । उत । जायमानस्य । उत्वं । आसीत् । विरणययः ।
कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले ही पहिले (यन्मम्) निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को (जनयन्तीः=०-न्त्यः) उत्पन्न करते हुए (आपः) जल धाराओं [वा तन्मात्राओं] ने (गर्भम्) यालक [रूप संसार] को (समैरयन्) यथावत् प्रकट किया, (उत) और (तस्य) उस (जायमानस्य)

वस्तुतत्त्वस्य । उदकस्य—निघ० १ । १२ । (जातः) उत्पन्नः । प्रादुर्भूतः । प्रसिद्धः सन् (पतिः) अ० १ । १ । १ । पाता । रक्षिता । ईश्वरः । स्वतन्त्रः (एकः) मुख्यः । अद्वितीयः (आसीत्) अभवत् (दाधार) धृजू धारणे—लिट् । धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) अ० २ । १२ । ६ । प्रकाशम् । सूर्यम् । अन्यद् गतम् ॥

—(आपः) जलानि । तन्मात्राः (वृत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । वृत्तवदिवचि-
षसि० । उ० ३ । ६२ । इति वद कथने यद्वा वस निवासे—सः । वसन्ति भूता-
न्यस्मिंस्तं संसारम् । वदति सततमिति वत्सो बालस्तं वा—इति दयानन्दभाष्ये
यजु० ३३ । ५ (जनयन्तीः) जनयतेः शृत् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । जनयन्त्यः ।

उत्पन्न होते हुए [बालक, संसार] का (उल्वः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] (हिरण्ययः) तेजोमय परमात्मा (आसीत्) था, इस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ = ॥

भावार्थ—जल [वा तन्मात्राओं] की उत्पादन शक्तिसे यह संसार उत्पन्न हुआ है और सृष्टि का आदिकारण परमेश्वर है, जो सृष्टि को सब ओर से गर्भ की झिल्ली के समान ढके हुए है और बाज में भी उत्पादन शक्ति देनेवाला वही है—मन्त्र ६ देखो ॥ = ॥

यह मन्त्र कुल भेद से ऋ० १० । १२१ । ७ और यजु० २७ । २५ में है ॥

मनु भगवान् ने इस प्रकार कहा है—म० १ । ६ ।

तदण्डमभवद्दुर्मं सहस्रांशुतमप्रभम् ।

तस्मिञ्ज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

यह [बीज] सूर्य के समान प्रकाशवाला चमकीला अंडा होगया, उस [अण्डे] में ब्रह्मा [परमात्मा] सब लोकों का पितामह [दादा] अपने आप प्रकट हुआ [अर्थात् उसमें परमात्मा की महिमा जान पड़ी] ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १ पश्या पङ्क्तिः, २, ४-७ अनुष्टुप्, ३ गायत्री ।

शत्रुनाशोपदेशः—वैरी के नाश का उपदेश ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः । हिरुग्वि
यन्ति सिन्धुवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमस्तु
शत्रवः ॥ १ ॥

उत्पादयन्त्यः (गर्भम्) मूलं प्रधानम् । वीर्यम् । शिशुम् (अग्रे) प्राकाले (सम्) सम्पक् । यथावत् (ऐरयन्) ईर गतौ गयन्ताल्लङ् । प्रेरितन्त्यः । प्रकाशितवत्यः (तस्य) प्रसिद्धस्य (उत) अपि च (जायमानस्य) उत्पद्यमानस्य गर्भस्य (उल्वः) उल्वोदयश्च । उ० ४ । ६५ । इति उच्च समवाये—वन चस्य कृत्वा गुणाभावश्च । यद्वा । वल संवरणे—वनप्रत्ययः संप्रसारणं च । जरायुः । गर्भवेष्टनः (आसीत्) अभवत् (हिरण्ययः) मल्लापः । हिरण्यमयः । तेजोमयः । अन्यद् गतम् म० ॥ १॥

उत् । इतः । त्रयः । अक्रमन् । व्याघ्रः । पुरुषः । वृकः ।
हिरुक् । हि । यन्ति । सिन्धवः । हिरुक् । देवः । वनस्प-
तिः । हिरुक् । नमन्तु । शत्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीनों, (व्याघ्रः) संघकर पकड़ने वाला, याघ,
(पुरुषः) आगे बढ़नेवाला, [चोर] मनुष्य, और (वृकः) हुंडार वा भेड़िया
(इतः) यहां से (उदक्रमन्) फलांगकर निकल गये । (सिन्धवः) नदियां
(हि) अवश्य (हिरुक्) नीचे को (यन्ति) जाती हैं, (देवः) दिव्य गुणवाला
(वनस्पतिः) सेवकों का रक्षक, वृक्ष भी (हिरुक्) नीचे को, [इसी प्रकार]
(शत्रवः) हमारे बैरी (हिरुक्) नीचे को (नमन्तु) झुकें । ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि हिंसक मनुष्य और अन्य प्राणी वशीभूत
होकर झुकें रहें, जैसे नदी और वृक्ष नीचे को झुकते हैं ॥

परंणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।

परंण दुस्वती रज्जुः परंणाघ्रायुरर्षतु ॥ २ ॥

१—(उत्) उपसर्गः क्रियायोगे (इतः) अस्मात् स्थानात् (त्रयः) त्रि-
संख्यकाः (उदक्रमन्) क्रमु पादविक्षेपे—लङ् । क्रमः परस्मैपदेषु । पा० ७ ।
३ । ७६ । इति दीर्घाभावश्छान्दसः । उदक्रामन् । उत्क्रान्ता उत्थिता अभवन्
(व्याघ्रः) आतश्चापसर्गं । पा० ३ । १ । १६ । इति वि+आङ्+घ्रा गन्धोपादाने
क । व्याजिघृति विशिष्टाघ्राणमात्रेण प्राणिनो हन्तीति । हिंसकजन्तुविशेषः
(पुरुषः) अ० १ । १६ । ४ । पुर-कुषन् । पुरति अग्रेऽगच्छतीति । चोरः । पर-
मेणोत तस्करः । इति उत्तरत्र म० २, तस्यैवानुकीर्तनात् (वृकः) सृष्टृभूश-
पिमुपिभ्यः कक् । इति वृज् वरणे-कक् । यद्वा । वृक आदाने-क । कुकुरप्रमाण-
हरिणादिप्रजन्तुविशेषः । हुण्डार इति भाषा (हिरुक्) हि गतौ-रुक् । वर्जने ।
त्यागे । अधमे । घिना । निर्णीतान्तर्हितनाम-निघ० ३ । २५ । अन्तर्हितम् (हि)
प्रसिद्धौ (यन्ति) गच्छन्ति (सिन्धवः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ ।
११ । इति स्यन्दू प्रस्रवणे-उ । दस्य धः । सिन्धुः स्यन्दनात्-निरु ६ । २६ ।
स्यन्दनशीला नद्यः (देवः) दिव्यगुणयुक्तः (वनस्पतिः) वनानां सेवकानां पाता
रक्षकः । वृक्षः (नमन्तु) प्रक्षीभवन्तु (शत्रवः) शतनशोलाः । विरोधिनः ॥

परैण । एतु । पथा । वृकः । परमेण । उत । तस्करः । प-
रेण । दत्वती । रज्जुः । परैण । अघ-युः । अर्पतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृकः) हुण्डार वा भेड़िया (परैण) दूर (पथा) मार्ग से
(एतु) चला जावे, (उत) और (तस्करः) पीड़ा देने वाला चोर (परमेण)
अधिक दूर मार्ग से । (दत्वती) दान्तवाली (रज्जुः) रस्सी अर्थात् साँप
(परैण) दूर से, और (अघायुः) बुरा चीतनेवाला पापी (परैण) दूर से
(अर्पतु) भाग जावे ॥२॥

भषार्थ—मनुष्य अपने घर ऐसे बनावें और ऐसा प्रबन्ध करें जिससे
दुष्ट मनुष्य और हिंसक जीवों से रक्षा रहे ॥ २ ॥

अक्षयौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।

आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अक्षयौ । च । ते । मुखम् । च । ते । व्याघ्र । जम्भयामसि ।

आत् । सर्वान् । विंशतिम् । नखान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(व्याघ्र) हे बाघ ! (ते) तेरी (अक्षयौ) दोनों [हृदय और

२—(परैण) अन्येन दूरेण (एतु) गच्छतु (पथा) मार्गेण (वृकः) म० १ ।
अरण्यश्वा (परमेण) दूरतरेण (उत) अपि (तस्करः) त्यजितनियजिभ्यो ङित् ।
उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु-अदि । तनति उपतापय-
तांति तद्, उपतापः पीड़ा । दिवाविभानिशा० । पा० ३ । २ । २१ । इति तत्
इत्युपपदे कृञ् करणे—इप्रत्ययः । तद्बृहन्नोः कर्पत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलो-
पश्च । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुट् तलोपौ । तत् उपतापं करोतांति तस्करः ।
चोरः । (दत्वती) दन्त-मनुष्यं डाँप । पद्वन्मामास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति
दन् । दन्तवती (दत्वती रज्जुः) दन्तयुक्ता रज्ज्वाकृतिः सर्पः (अघायुः) अ०
१ । २० । २ । अनिष्टचारी । पापात्मा (अर्पतु) शृषी गती । गच्छतु ॥

३—(अक्षयौ) अ० १ । २७ । २ । अक्षयौ । उभे मानसिकमस्ति कनेत्रे ।

मस्तक की] आंखों को (च) और (च) भी (ते मुखम्) तेरे मुख को, (आत्) और भी (सर्वान्) सब (विंशतिम्) बीसों (नखान्) नखों को (जम्भयामसि=०—मः) हम नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे हिंसक जन्तुओं को अंग भंग करके नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने अपने शत्रुओं को सेनादि और शरीर के अंगों से नष्ट करके प्रजा में शान्ति रखे ॥ ३ ॥

व्याघ्रं दृत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।

आहु' प्तेनमथो अहि' यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

व्याघ्रम् । दृत्वताम् । वयम् । प्रथमम् । जम्भयामसि । आत् ।
ज् इति । स्तेनम् । अथो इति । अहिम् । यातु-धानम् ।
अथो इति । वृकम् ॥४॥

भावार्थ—(दृत्वताम्) दान्त वालों में से (प्रथमम्) पहिले (व्याघ्रम्) बाघ, (आत् उ) और भी (अहिम्) साँप, (अथो) और भी (वृकम्) भेड़िये, (स्तेनम्) चोर (अथो) और भी (यातुधानम्) पीड़ा देनेवाले राजस को (वयम्) हम (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक दुष्ट जन्तुओं और उनके समान दुष्ट स्वभाववाले चार डाकुओं और रोगों तथा दोषों को नष्ट करें ॥ ४ ॥

(मुखम्) अ० २ । ३५ । ५ । आस्यम् (ते) तव (व्याघ्र) म० १ । हे व्याघ्रेव हिंसक पुरुष (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत्) अनन्तरम् (सर्वान्) सकलान् (विंशतिम्) पङ्क्तिविंशति० । पा० ५ । १ । ५६ । इति विन् शब्दात् शतिच् प्रत्ययान्तो निपातः । द्वे दशती । पादचतुष्टये पञ्चशोऽवस्थितान् (नखान्) अ० २ । ३३ । ६ नखरान् ॥

४—(व्याघ्रम्) म० १ । हिंसकजन्तुविशेषं शार्दूलम् । (दृत्वताम्) म० २ । दन्तवतां दंशनशालानां हिंसाणां मध्ये (वयम्) मनुष्याः (प्रथमम्) अग्रे (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत् उ) अनन्तरमेव (स्तेनम् स्तेन चौर्ये—पचाद्यच् । चोरम् (अथो) अनन्तरमेव (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारम् । सर्पम् (यातुधानम्) अ० १ । ७ । १ । पीडाप्रदं राजसम् (वृकम्) म० १ । अरण्यश्वानम् ॥

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।

पथामपध्वं सेनै त्विन्द्रो वज्रै न हन्तु तम् ॥ ५ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आ-अयति । सः । सम्-पिष्टः । अपं ।
अयति । पथाम् । अपध्वं सेनै । एतु । इन्द्रः वज्रेण । हन्तु । तम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः स्तेनः) जो कोई चोर (अद्य) आज (आयति) आवे,
(संपिष्टः) चूर चूर किया हुआ (सः) वह (अप अयति) हटजावे और
(पथाम्) मार्गों के (अपध्वं सेन) विनाश से (एतु) चला जावे, (इन्द्रः) ऐश्वर्य-
वान् प्रतापी मनुष्य (वज्रेण) वज्र से (तम्) उसको (हन्तु) मार डाले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य घर और रक्तकों का ऐसा प्रबन्ध करे कि यदि चोर
आदि आ भा जावे तौ मार्ग भूलकर निराश होकर भागने लगे, और राजा पकड़
कर उसे यथोचित दंड देवे ॥ ५ ॥

मुर्णा मुगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।

निमुक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

मुर्णाः । मुगस्य । दन्ताः । अपि-शीर्णाः । ऊ-इति । पृष्टयः ।
नि-मुक् । ते । गोधा । भवतु । नीचा । अयत् । शशयुः । मृगः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे चोर !] (मुगस्य) पशु [अर्थात् तेरी गाह] के (दन्तः)
दन्त (मूर्णा) बन्द वा मोंथरे (उ) और (पृष्टयः) पसलियां (अपि शीर्णाः)

५—(यः) (अद्य) अस्मिन् दिने (स्तेनः) म० ४ । चोरः (आ-अयति)
अय गतौ । आगच्छतु (सः) चोरः (संपिष्टः) पिप्लु संचूर्णने-क्त । सर्वथा चूर्णी-
कृतः (अप-अयति) निर्गच्छतु (पथाम्) मार्गाणाम् (अपध्वं सेन) ध्वंसु
गतौ, अद्यः पतने-वज्र । विनाशेन (एतु) गच्छतु (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः
(वज्रेण) अस्त्रभेदेन (हन्तु) मारयतु (तम्) चोरम् ॥

६—(मूर्णाः) मुर्वे बन्धने-राल्लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति वकीरलोपः ।
रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । पा० ८ । २ । ४२ । इति तस्य नः । बद्धाः ।

चूर चूर [हो जावें] (ते) तेगी (गोध्रा) गोह (निघ्नक्) नीचे (भवतु) हो जावे, और (मृगः) वह पशु (शशयुः) सांता हुआ [निरुद्यमी होकर] (नीचा) नीचे (अयान्) आ जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(गोध्रा) गोह वा गोसां प एक छपकली जानि का जन्तु होता है, चोर उसको पूंछमें डोरी बांधकर ऊंचे घरोंपर फेंक देते, और उसे पकड़ कर ऊपर चढ़ जाते हैं । मनुष्य घर ऐसे चिकने और दृढ़ बनावें और सावधानी रखें कि चोर, डाकुओं की गोह आदि फंदे घरों पर न चिपट सकें किन्तु निकम्मे होकर नीचे फिसल पड़ें ॥ ६ ॥

यत् संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः ।

इन्द्रजाः सोमजा अर्थगमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

यत् । सम्-यमः । न । वि।यमः । वि। यमः । यत् । न । सम्-यमः । इन्द्र-जाः । सोम-जाः । आर्थवृणम् । असि । व्याघ्र-जम्भनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिससे (इन्द्रजाः) परमेश्वर से प्रकट हुआ, और (सोमजाः) मथन करने वाले तत्ववेत्ताओं अथवा सर्वप्रेरक शूवीर पुरुषों से

कुण्ठिताः (मृगस्य) अ० २ । ३६ । ४ । अन्वेपणशीलस्य । पशोः । गोधायाः (दन्ताः) हस्मिन्निगवाभिदमि० । उ० ३ । २६ । इति दमु उपशमे-तन् । रदनाः । दशनाः (अपि - शीर्णाः) शृ हिंसने-क्त । हिंसिताः । विदीर्णाः । त्रोटिताः (उ) अपि (पृष्टयः) पृष्ठु सेके-क्तच् । पशवः । पार्श्वस्थीनि (निघ्नक्) नि + घ्र, चु गतौ—क्रिप् । नीचगतिः (ते) तव । चोरस्य (गोध्रा) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति गुध परिघेष्टने-घञ् । टाप् । धनुर्गुणाघातवारणाय प्रकोष्ठबद्धा चर्मपट्टिका । जन्तुविशेषः (भवतु) (नीचा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति नीचैः डा । नीचैः (अयत्) अय गतौ लेट् । अडागमः । अयताम् गच्छतु (शशयुः) मृमृशीङ्त्० उ० १ । ७ । इति शीङ् स्वप्ने-उ । बाहुलकाद् द्विर्वचनम् । शयुः शयानः । निरुद्यमः (मृगः) पशुः ॥

७—(यत्) यस्मात् कारणात् (संयमः) सम्यङ् नियमः सुनियमः :

प्रकाशित हुआ (संयमः) यथावत् नियम (वि यमः) विरुद्ध नियम (न) नहीं होता, और (यत्) जिस से (वि यमः) विरुद्ध नियम (संयमः) यथावत् नियम (न) नहीं होता है, [इस लिये हे मनुष्य तू] (आथर्वणम्) निश्चल वा मंगलप्रद परमेश्वर से आया हुआ (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रों [व्याघ्र स्वभाववाले शत्रुओं और विघ्नों] के नाश का सामर्थ्य (असि) है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने, और वेदवेत्ता आप्त पुरुषों ने जिन कर्मों को सत्य, और जिनको विरुद्ध वा असत्य बताया है, वे सर्वदा वैसे ही हैं, इसलिये मनुष्य विवेक पूर्वक विघ्नों को निर्मूल करके सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

सूक्त ॥ ४ ॥

१-८ ॥ वृषेन्द्रश्च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यो बलं वर्धयेत्—मनुष्य बल को बढ़ावे ॥

यां त्वां गन्धर्वो अखन्तु वरुणाय मृतभ्रजे ।

तां त्वां वयं खन्तामस्योपधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

याम् । त्वा । गन्धर्वः । अखन्त । वरुणाय । मृत-भ्रजे ।

ताम् । त्वा । वयम् । खन्तामसि । ओषधिम् । शेपः-हर्षणीम् ॥ १ ॥

प्रबन्धः (वि यमः) विरुद्ध नियमः (इन्द्रजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति इन्द्र + जनी प्रादुर्भावि-विट् । विद्वनोऽग्ननासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । इन्द्रात् परमेश्वराज्जातः प्रादुर्भूतः (सोमजाः) पूर्ववद् विट् प्रत्यये सिद्धिः । पुत्र् अभिपद्ये, यद्वा प्रप्रेरणे-मन् । सोमेभ्यो मन्धन-शीलेभ्यः सर्वप्रेरकेभ्यो वा पुरुषेभ्यः प्रकाशितः (आथर्वणम्) अथर्वा, इति व्याख्यातः—अ० ४ । १ । ७ । तत आगतः । पा० २ । ३ । ७३ । इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । इति अणि प्रकृतिभावः । अथर्वणो निश्चलात् मङ्गल-प्रदाद् वा परमेश्वराद् आगतं प्राप्तम् (असि) हे मनुष्य त्वं भवसि (व्याघ्रजम्भ-नम्) व्याघ्रस्वभावानां हिंसकानां शत्रूणां नाशसामर्थ्यम् ।

भाषार्थ—(याम् त्वा) जिस तुभ को (गन्धर्वः) वेद विद्या धारण करनेवाले पुरुष ने (मृतभ्रजे) नष्ट बल वाले (वरुणाय) उत्तम गुण युक्त मनुष्य केलिये (अन्नन्) खना है, (ताम् त्वा) उस तुभ (शेषहर्षणीम्) सामर्थ्य बढ़ानेवाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खनते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्व ऋषियों ने मनुष्य के हित के लिये परीक्षा करके श्रेष्ठ ओषधियों को प्राप्त किया है, उसी प्रकार हम उत्तम ओषधियों की परीक्षा और सेवन से बलवान् होकर सुखी रहें ॥ १ ॥

संहिता के (शेषहर्षणीम्) के स्थान पर पदच्छेद में (शेषः हर्षणीम्) है ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं माम्कं वचः ।

उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

उत् । उषाः । उत् । ऊं इति । सूर्यः । उत् । इदम् । माम्-
कम् । वचः । उत् । एजतु । प्रजा-पतिः । वृषा । शुष्मेण ।
वाजिना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वाजिना) वेग रखने वाले (शुष्मेण) बल वा प्रभाव से (उषाः) प्रभात बेला (उत् = उदेजतु) ऊंची होवे, (उ) और (सूर्यः) सूर्य

१—(याम् त्वा) याम् त्वाम् ओषधिम् (गन्धर्वः) अ० २ । १ । २ । गान् वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः । वेदवेत्ता पुरुषः (अन्नन्) विदारितवान् (वरुणाय) अ० १ । ३ । ३ । वरेण्याय वरणीयाय जीवाय (मृत-भ्रजे) भ्रस्ज पाके-किप्, सलोपः । नष्टपाकसामर्थ्याय । नष्टबलाय (वयम्) आयुर्वेदज्ञाः (खनामसि) खनामः । विदारयामः (ओषधिम्) अ० १ । ३० । ३ । भेषजम् (शेषहर्षणीम्) गान्धर्विभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति शीङ्-शयने-प प्रत्ययः । शेते वर्तते स शेषः सामर्थ्यम् । हृष्यतेः करणे ल्युट्, टित्वाद् डोप् । शेषस्य बीर्यस्य वर्धनीम् ।

२—(उत्) उदेजतु (उषाः) उपः किञ्च । उ० ४।२३४ । इति उप दाहे षधे च, यद्वा, उद्धी विवासे, यद्वा, वश कान्तौ असि । उषाः कस्मादुच्छतीति

(उत्) ऊँचा चढ़े. (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्) ऊँचा होवे, (प्रजापतिः) प्रजाओं की पालन करनेवाली (वृषा) बल बढ़ाने वाली [कोई आपधि वा मूसाकजी आपधि विशेष] (उदेजतु) ऊँची होवे ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—मनुष्य प्रभात समय उठकर ईश्वर चिन्तनादि, सूर्य के उदय पर जीविकादि, की प्राप्ति और आप्त पुरुषों से वेद अध्ययनादि, और बल वर्धक वृषा आदि आपधि सेवन से बलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥

वृषा [स्त्रीलिंग] आपधि के नाम अमरकोश १४ । २७, २८ में ये हैं ।

चित्रोपचित्रा न्यग्रोधी द्रवन्ती शम्बरी वृषा ।

प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी रण्डा मूपिकपर्णीपि ॥

चित्रा, उपचित्रा, न्यग्रोधी, द्रवन्ती, शम्बरी, वृषा, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, रण्डा, मूपिकपर्णी, ये दस नाम मूषा पर्णी के हैं ॥

यथा स्म ते विरोहंतोऽभितप्तमिवानति ।

ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोपधिः ॥ ३ ॥

सत्या रात्रे रपरकालः—निरु० २ । १८ । उषा वष्टेः कान्ति कर्मण उच्छ्रुतेरितरा माध्यमिका—निरु० १२ । ५ । कृत्यम् । प्रभातकालः (उ) अपि (सूर्यः) रविः (इदम्) मन्त्रात्मकम् (मामकम्) अ० १ । २६ । ५ । मदीयम् (वचः) वचनम् (उदेजतु) एजृ कम्पने । उत्कम्पयतु । उदेतु (प्रजापतिः) प्रजायन्ते प्रजाः । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० २।२।२६ इति प्र + जनी प्रादुर्भावि-ड । प्रजानां पालयित्रां (वृषा) अ० १।१२।१ । वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः—कनिन् । यद्वा कप्रत्ययः, टाप् स्त्रियाञ् । बलसेचिका । आपधिविशेषः । तत्पर्यायाः । चित्रा । उपचित्रादयः—अमरकोशे १४ । २७, २८ = (शुष्मेण) अर्वासिब्रित्तिमुपिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति शुप शोषणे—मन् । शुष्ममिति बलनाम शोषयतीतिः सतः—निरु० २ । २४ । बलेन । प्रभावेण (वाजिना) वज गतौ—घञ् । वाजो वेगः । अन्नम्—निघ० २ । ७ । बलम्—निघ० २ । ६ । अत इतिठनौ पा० ५ । २ । ११५ । इति इति । वेगवता अन्नवता ॥

यथा । स्म । ते । वि-रोहतः । अभितप्तम्-इव । अनति ।
ततः । ते । शुष्मवत-तरम् । इयम् । कृणोतु । ओषधिः ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (यथा स्म) जिस प्रकार से ही (ते विरोहतः)
तुम्हें वृद्धिशाल का [मन विद्या से] (अभितप्तमिव) प्रतापयुक्त सा (अनति)
चेष्टा करता है, (ततः) उस प्रकार से ही (ते=त्वाम्) तुम्हें (इयम् ओषधिः)
यह ओषधि (शुष्मवत्तरम्) अधिक बलयुक्त (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्याभ्यास से मनुष्यों का मन बढ़ता जावे उसी
प्रकार परीक्षित उत्तम उत्तम बलवर्धकवृषा आदि ओषधि और यथावत् आहार
विहार से अपना शरीर बल भी बढ़ावें ॥ ३

उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम् ।

सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमुस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

उत् । शुष्मा । ओषधीनाम् । सारा । ऋषभाणाम् । सम् ।
पुंसाम् । इन्द्र । वृष्ण्यम् । अस्मिन् । धेहि । तनु-वशिन् ॥४॥

भाषार्थ—(ऋषभाणाम्) श्रेष्ठ [अथवा कांकड़ासिंगी आदि]
(ओषधीनाम्) ओषधियों में से (शुष्मा) बल वाली (सारा) श्रेष्ठ [वा वृषा
नाम ओषधि] (उत्=उदेजतु) उदय हो । (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में

३—(यथा) येन प्रकारेण (स्म) खलु (ते) तव मनः (विरोहतः) रुद्ध
बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—शतृ । वृद्धिशालस्य (अभितप्तम् इव) तप
दाहैश्वर्योः—क । प्रतापयुक्तं यथा (अनति) अनिति चेष्टते (ततः) तेनैव
प्रकारेण (ते) द्वितायार्थे पष्ठो । त्वाम् (शुष्मवत्तरम्) अधिकबलयुक्तम् (इयम्)
पूर्वोक्ता वृषा (कृणोतु) करोतु (ओषधिः) औषधम् ॥

४—(उत्) उदेजतु—म० २ (शुष्मा) म० २ । बलवती (ओषधीनाम्)
वीरुधां मध्ये (सारा) सू-घञ्, टाप् । श्रेष्ठा । यद्वा । सू णिच्—अच्, टाप्
दूर्वा । शातला—यथा । शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा । तथा

रखने वाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले सदैव ! (पुंसाम्) रक्षाशील पुरुषों के मध्य (वृष्ण्यम्) बल (अस्मिन्) इस मनुष्य में (संधेहि) यथावत् धारण करदे ॥ ४)

भावार्थ—सदैव प्रयत्न करें कि उत्तम सारवती बलवर्धक [वृषा आदि] ओषधियों के सेवन से मनुष्य ऐसे वीर्यवान् हों कि शूरवीरों के मध्य उनके बल की प्रशंसा होवे ॥ ४ ॥

(ऋषभ) और (सारा) श्रेष्ठ वाचक हैं और ओषधि विशेष भी हैं ॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।

उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

अपाम् । रसः । प्रथम-जः । अथो इति । वनस्पतीनाम् । उत ।

सोमस्य । भ्राता असि । उत । आर्शम् । असि । वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ओषध !] तू (अपाम्) व्यापन शील जलों का (अथो) और भी (वनस्पतीनाम्) अपने सेवा करनेवालों के पालक वृक्षों का (प्रथमजः) प्रथम उत्पन्न होने वाला (रसः) रस, (उत । और (सोमस्य) अमृत वा

निगदिता भूरिरेफा चर्मकपेत्यपि ॥ इति शब्द कल्पद्रुमः (ऋषभाणाम्) अ० ३ । २३ । ४ । ऋष गतौ दर्शने च—अभक् । टाप् । श्रेष्ठानाम् । ऋषभीषधा-दिरसानाम् (सार ऋषभाणाम्) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृति-भावः । (पुंसाम्) अ० १ । ८ । १ । पारक्षणे—डुमसुन् । रक्षणशीलानां पुरुषाणां मध्ये (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् सदैव (वृष्ण्यम्) अत्यवमापतिलवृषब्रह्मणश्च । पा० ५ । १ । ७ । इति वृषन्—यन् । वृष्णे—इन्द्राय जीवाय हितं बलम् । वीर्यम् । (अस्मिन्) पुरुषे (संधेहि) सम्यग् धारय (तनूवशिन्) अ० १ । ७ । २ । हे तनूनां शरीराणां वशयितः ॥

५—(अपाम्) व्यापनशीलानां जलानाम् (रसः) सारः (प्रथमजः) प्रथमं जातः प्रादुर्भूतः (अथो) अपि च (वनस्पतीनाम्) अ० २ । १२ । ३ । वनानां सेवकानां पत्नीनां पालकानां वृक्षाणाम् (उत) अपि (सोमस्य) अमृत-

पेश्वर्य का (भ्राता) प्रकाशक वा धारक और पोषक (असि) है, (उत) और (आर्शम्) शूरो का हितकारक (वृण्यम्) बल (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम जल और उत्तम वृत्तों और अन्न आदिकों के यथावत् सेवन से मनुष्य पेश्वर्यवान् और बलवान् होते हैं ॥ ५ ॥

अद्याग्ने अद्य सवितरुद्य देवि सरस्वति ।

अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनु'रिवा तानयो पसः ॥ ६ ॥

अद्य । अग्ने । अद्य । सवितुः । अद्य । देवि । सरस्वति । अद्या ।

अस्य । ब्रह्मणः । पते । धनुः—इव । आ । तानय । पसः ॥६॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अग्ने) हे भौतिक अग्नि ! (अद्य) आज (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य ! (अद्य) आज (देवि) दिव्य गुण वाली (सरस्वति) विज्ञानवति विद्या ! (अद्य) आज (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद, वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ ६ ॥

स्य । पेश्वर्यस्य (भ्राता) अ० १ । १४ । २ । भ्रातृ दीप्तौ-तृन् । प्रकाशकः । अथवा । डुभृज् धारणपोषणयोः—तृन् । अन्योऽन्यभरणशीलः । भ्राता भरते हर्तृ-कर्मणा हरते भागं भर्त्तव्यो भवतीतिवा—निरु० ४ । २६ । भ्रातृसमानगुणः (असि) भवसि (आर्शम्) इगुपधक्षा ० । पा० ३ । १ । १३५ । इति ऋश हिसायाम्-कु, सौत्रौ धातुः । ऋशति शूर्यते हिनस्ति शत्रूनिति ऋशः शूरः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् । ऋशाय शूराय हितम् (वृण्यम्) म० ४ । बलम् ॥

६—(अद्य) वर्तमानदिने । (अग्ने) भौतिकाग्ने (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य (देवि) हे दिव्यगुणे (सरस्वति) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १=८ । इति सृ गतौ—असुन् । मतुप, मस्य वः, डीप् । सरो नीरं विज्ञानं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती । वाक्—निघ० १।११। सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति—निरु० २ । २३ । हे विज्ञानवति विद्ये (अस्य) शूर पुरुषस्य (ब्रह्मणस्पते)

भावार्थ—मनुष्य यथावत् ओषधि सेवन से अपना शारीरिक और मान-
सिक बल बढ़ाकर अग्नि, सूर्य आदि पदार्थों और अनेक उत्तम विद्याओं से
नित्य उपकार करता हुआ, ईश्वर के आश्रय से अन्न आदि प्राप्त करके अपना
राज्य और सुख फैलावे, जैसे धनुष को लक्ष्य के लिये दृढ़ तानते हैं ॥ ६ ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।

क्रमस्वशी इव रोहितुमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्-इव । धन्व-
नि । क्रमस्व । ऋशः-इव । रोहितम् । अनव-ग्लायता । सदा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को
(आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूँ (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्व-
नि अधि) धनुष में । (अनवग्लायता) बिना ग्लानि वा धकावट के (सदा)
सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशः-इव) जैसे हिंसकजन्तु,
सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ७ ॥

अ० १ । २६ । २ । ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा । ब्रह्म, अन्नम्-
निघ० २ । ८ । धनम्—निघ० २ । ११ । हे ब्रह्मणेऽन्नस्य, धनस्य, वेदस्य विप्रस्य
वा पालक परमेश्वर (धनुर्वि) अर्त्तिपूर्वपियाज० । उ० २ । ११७ । इति धन
धान्ये—उसि । चापं यथा (आ) समन्तान् (तानय) तनु विस्तारं—णिच् ।
विस्तारय (पसः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पस वन्धे, वाधे च-
असुन् । राज्यप्रबन्धम् । राष्ट्रम्—इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २३ । २२ ॥ ६ ॥

७—(आ) समन्तान् (अहम्) नीतिज्ञः (तनोमि) विस्तारयामि (ते)
तव (पसः) म० ६ । राष्ट्रम् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (ज्यामिव) मौर्वीमिव
(धन्वनि) कनिन् युवुपितत्तिराजिधन्वि० । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ-
कनिन् । धनुषि (क्रमस्व) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः । पा० १ । ३ । ३८ । इति
आत्मनेपदम् । आक्रमस्व (ऋशः) इगुपधत्ता० । पा० ३ । १ । १३५ इति ऋश

भावार्थ—जैसे लक्ष्य वेधने के लिये धनुष में डोरी को दृढ़ कसते हैं, वैसे ही बलवान् पुरुष राज्य प्रबन्ध को प्रजा के सुख के लिये यथाशास्त्र दृढ़ रखे, और जैसे सिंह आदि हस्ति आदि को दयोच लेते हैं, वैसे ही शत्रुओं पर धावा करके कुरीतियों को मिटावे ॥ ७ ॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेतृस्य च ।

अथ ऋषभस्य यं वाजास्तानास्मन् धेहि तनूवांशन् ॥८॥

अश्वस्य । अश्वतरस्य । अजस्य । पेतृस्य । च । अथ । ऋष-
भस्य । ये । वाजाः । तान् । अस्मिन् । धेहि । तनु-वांशन् ॥८॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) घोड़े के, (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (च) और (पेतृस्य) मेंढ़े के, (अथ) और भी (ऋषभस्य) बलवर्द्ध के (ये वाजाः) जो बल हैं, (तान्) उनको, (तनूवांशन्) हे शरीरों को वश में रखने वाले शूर ! (अस्मिन्) इस पुरुष में (धेहि) धारण कर ॥ ८ ॥

हिंसायाम्-क । ऋशति शूर्यतेहितस्ति शत्रूनि ऋशः । शूरो हिंसको जन्तुर्वा (रोहितम्) हृमृहृयुपिभ्य इति । ३० १ । ६७ । इति रुह प्रादुर्भावि-इति । मृगं हारणम् - यथा, शार्दूलाय रोहिन् । य० २४ । ३० । एको रोहिद् ऋष्यः शार्दूलाय—इति तद्भाष्ये महीधरः । शार्दूलाय महासिंहाय रोहिन् रक्तगुणविशिष्टो मृगः—इति तत्रैव दयानन्दभाष्ये (अनवगतायता) संश्लक्ष्ण्यद्वेहत् । ३० २ । ८५ । इति अन् + अच् + ग्लै हर्षक्षये—अति प्रत्ययः, सच शतृवत् अहर्षक्षयेण । अग्लानेन । आनन्देन (सदा) सर्वदा ॥ ७ ॥

८—(अश्वस्य) अ० १ । १६ । ४ । अश्वः कस्मादश्वनुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । ओट्स्य (अश्वतरस्य) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे । पा० ५ । ३ । ६१ । इति अश्व-प्टरच् तनुत्वे । अश्यायां गर्दभेन जातस्य पशुविशेषस्य खच्चरस्य (अजस्य) अज गतिक्षेपणयोः—अच् । छागस्य (पेतृस्य) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । ३० ४ । १०५ । इति पा पाने, वा पतल पतने—

भाषार्थ—शूरावीर पुरुष अश्व आदि उपकारी पशुओं को पालकर खेती, बालिज्य, सेना आदि के यथायोग्य कामों में लगाकर संसार में सुख बढ़ावे ॥ २ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १-६ अनुष्टुप्, ७ पद्या पङ्क्तिः ॥

प्रजास्थापनार्थं गीतम्—बच्चों के सुलाने का गीत अर्थात् लोरी ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।

तेना सहस्र्येना वयं नि जनान्स्वापयामसि ॥ १ ॥

सहस्र-शृङ्गः । वृषभः । यः । समुद्रात् । उत-आचरत् । तेन ।

सहस्र्येन । वयम् । नि । जनान् । स्वापयामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (वृषभः) सुख बरसाने वाला (सहस्रशृङ्गः) सहस्रों तेज अर्थात् नक्षत्रों वाला चन्द्रमा [अथवा सहस्रों किरणों वाला सूर्य] (समुद्रात्) आकाश से (उदाचरत्) उदय हुआ है । (तेन) उस (सहस्र्येन) बल के लिये हितकारक [चन्द्रमा] से (वयम्) हम लोग (जनान्) सब जनों को (नि स्वापयामसि) सुलादे ॥ १ ॥

त्वन्, पृषोदगादिरूपम् । पेतवः पतनशीलो वेगवान् पशुः—इति महाधरो यजुर्वेदभाष्ये—२६ । ५२ । मेघस्य (अथ) अपि च (ऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां कित् । ३०३ । १२३ । इति ऋष गतौ—अभच् । बलावर्दस्य (वाजाः) बलानि । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च म० ४ ॥

१—(सहस्रशृङ्गः) सहो बलम्—निघ० २ । ६ । रो मत्वर्थे । सहस्रं बहुनाम—निघ० ३ । १ । शृणातेर्ह्रस्वश्च । ३० । १ । १२६ । इति शृ हिंसायाम्-गन्, स च कित् नुडागमः । शृङ्गाणि ज्वलतो नामसु—निघ० १ । १७ । शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति घा निघ० २ । ७ । सहस्राणि बहूनि शृङ्गाणि तेजांसि नक्षत्राणि किरणा वा यस्य सः

भाषार्थ—माता पिता आदि बच्चों को चन्द्रमा के दर्शन कराते हुये सुलाये, जिस से उनके शरीर की पुष्टि और नेत्रोंकी उद्योति बढ़े [(सहस्रशृङ्गः) का अर्थ सूर्य भा है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश आने से यह घर स्वास्थ्यकारक है। हम सब सोवें] ॥ १ ॥

इस सूक्त के चार मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद म० ७। सू० ५५ के हैं जिनका इन्द्र देवता है, इससे यहां भी सूक्त का इन्द्र ही देवता है। यह मन्त्र उक्त सूक्त का मन्त्र ७ है ॥

न भूमिं वाती अति वाति नाति पश्यति कश्चन ।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २॥

न । भूमिम् । वातः । अति । वाति । न । अति । पश्यति ।
कः । चन । स्त्रियः । च । सर्वाः । स्वापय । शुनः । च । इन्द्र-
सखा । चरन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न (वातः) पवन (भूमिम्) भूमि पर (अति) अन्यन्त (वाति) चलता है, और (न) न (कश्चन) कोई जन (अति) ऊपर से (पश्यति) देखता है [हे पवन!] (इन्द्रसखा) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को अपना सखा

बहुतेजाः । असंख्यातनक्षत्रः । चन्द्रः । सूर्यः (वृषभः) ऋषिर्बृषभ्यां कित्
उ० ३। १२३। इति वृषसेवने—अभच् । यद्वा, बृह बृहौ—अभच्, हस्त पकारः ।
वृषभः प्रजां वर्षतीति वातिवृद्धति रेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः—
निरु० ६। २२। किरणद्वारा सुखस्य वर्षकः (यः) (समुद्रात्) अ० १। ३। ८।
अन्तरिक्षात्—निघ्न० १। ३ (उत्+आ+अचरत्) उदागात् (तेन) प्रसिद्धेन
तादृशेन (सहस्येन) तस्मै हितम् । पा० ५। १। ५। इति सहस्—य
सहसे बलाय हितेन चन्द्रेण (वयम्) (नि) नित्यम् । सर्वथा (जनाः
गृहस्थप्राणिनः) (स्वापयामसि) स्वापयामः । निद्रापयामः ॥

२—(न) निपेधे (भूमिम्) पृथिवीम् (वातः) अ० १। ११। ६। लः
(अति) अतिशयेन (वाति) गच्छति (पश्यति) प्रेक्षते (कश्चन) अपि-
जनः (स्त्रियः) अ० १। ८। १। स्त्रियायति स्तौति वा गुणान् स्तूयते सा

रखने वाला तू. (चरन्) चलता हुआ, (सर्वाःस्त्रियः) सब स्त्रियों (च) और (शुनः) कुत्तों को (च) भी (स्वापय) सुला दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि रात्री को सोते नमय तीव्र वायु वा अन्य किसी तुच्छ कारण से निद्रा भंग न हो और न बाहिरी पुरुष गुप्त बातें सुने ॥२॥

प्रोष्ठे श्रुवास्तल्पेशुया नारीर्या वह्यशीवरीः ।

स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३॥

प्रोष्ठे-श्रुयाः । तल्पे-श्रुयाः । नारीः । याः । वह्य-शीवरीः ।

स्त्रियः । याः । पुण्य-गन्धयः । ताः । सर्वाः । स्वापयामसि ॥३॥

भावार्थ—(प्रोष्ठेशयाः) बड़े घर वा बड़े आंगन में सोने वाली, (तल्पे-श्रुयाः) खाटों पर सोने वाली, और (वह्यशीवरीः=०-र्याः) हिंडोला आदिमें सोने वाली (याः) जो (नारीः=नार्यः) नारियां हैं, और (याः) जो (स्त्रियः) स्त्रियां (पुण्यगन्धयः) पुण्य गति वाली हैं, (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि=०—मः) हम सुलाते हैं ॥ ३ ॥

स्त्री । नारीः (सर्वाः) (स्वापय) निद्रापय (शुनः) श्वनुत्तनपूषन्० । उ० १ । १५६ । इति दुःश्रुतिवृद्धयोः—कनिन् । श्वयतीति श्वा । कुक्कुगन् (च) (इन्द्रसखा) इन्द्रियभिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ६३ । इति इन्द्र आत्मा । “इन्द्र आत्मा स सखा यन्म प्राणवायोस्तदात्मकः” — इति सायणः । आत्म-प्रियः । वातः (चरन्) देहे वर्तमानः ॥

३—(प्रोष्ठेशयाः) उपिकुपिगर्त्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । इति उप दाहे—न् । इति ओष्ठः । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ६४ । अत्र वार्त्तिकम् । ओत्वो-द्धः समासे वा । इति पररूपम् । अधिकरणे शेतः । पा० ३ । २ । १५ । इति प्रो+शङ् शयने—अच् । शयवासवासिष्वकालात् । पा० ६ । ३ । १८ । इति सप्त्या अलुक् । प्राष्ठे अतिशयेन प्रौढे गृहे प्राङ्गणे वा शयानाः (तल्पेशयाः) खल्लपशण्० । उ० ३ । २८ । इति तल प्रतिष्ठायाम्—पप्रत्ययः । शये पूर्ववत् सिद्धि खट्वास् शयानाः । (नारीः) नार्यः । (वह्यशीवरीः) वह्यं करणम् । पा० ३ । १०२ । इति वह प्राणणे—यत् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ ।

भावार्थ—गृहस्थ लोग स्त्रियों के रहने के घर ऐसे उत्तम बनावें जिससे रात्री को वे सुख पूर्वक सोया करें ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ७।५५।८ में है ॥

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।

अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

एजत्-एजत् । अजग्रभम् । चक्षुः । प्राणम् । अजग्रभम् । अङ्गानि । अजग्रभम् । सर्वा । रात्रीणाम् । अति-शर्वरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एजदेजत्) इधर उधर पड़ी हुई प्रत्येक वस्तु को (अजग्रभम्) मैंने संग्रह करलिया है, (चक्षुः) नेत्र और (प्राणम्) प्राण मार्ग [नासिका] को (अजग्रभम्) मैंने ग्रहण करलिया है, और (रात्रीणाम्) रात्रियों के मध्य (अतिशर्वरे) अत्यन्त अन्धकार में (सर्वा=सर्वाणि) सब (अङ्गानि) अंगों को (अजग्रभम्) मैंने थांभ लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रिय निग्रह करके शान्त चित्त होकर रात्रि में सोवें ॥ ४ ॥

७५ । इति वह्य + शीङ्—कनिप् । वनो र च । पा० ४।१ । ७ । इति डीवरेकौ । वा लृन्दसि । पा० ६ । १ । १०१ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वह्ये वहन्माधने आन्दोलिकादी शयनस्वभावाः (पुण्यगन्धयः) पूजां यण् गुग्गुस्वश्च । उ० ५ । १५ । इति पृञ् शोधे-यत्, एक् च । सर्वधानुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु—इन् । पुण्यं पवित्रं गन्धिगमनं यासांताः पवित्र-गतयः । अन्यद् गतम् ॥

४—(एजदेजत्) एजृ कम्पने—शतृ । इतस्ततः पतत् प्रत्येकं वस्तु (अजग्रभम्) ग्रह उपादाने—लङ् । इत्य भत्वम् । अहं संगृहीतवानस्मि (चक्षुः) दर्शनसाधनं नेत्रम् (प्राणम्) प्राणसंचारमार्गं घ्राणम् । (अजग्रभम्) निद्रया सह गृहीतवानस्मि (अङ्गानि) हस्तपादादीनि (अजग्रभम्) (सर्वा) सर्वाणि (रात्रीणाम्) रात्रीणां मध्ये (अतिशर्वरे) कृ गृशृषृचतिभ्यः स्वरच् । उ० २ । १२१ । इति श हिंसायाम्—स्वरच् । शर्वरं तमः । अत्यन्ततमसि ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।

तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

यः । आस्ते । यः । चरति । यः । च । तिष्ठन् । वि-पश्यति ।

तेषाम् । सम् । दध्मः । अक्षीणि । यथा । इदम् । हर्म्यम् । तथा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (आस्ते) बैठता है, (यः) जो (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो (तिष्ठन्) खड़े होकर (विपश्यति) विविध प्रकार से देखता है, (तेषाम्) उनकी (अक्षीणि) आँखों को (तथा) उस प्रकार से (संदध्मः) हम मूँदते हैं, (यथा) जैसे (इदम्) इस (हर्म्यम्) हर्म्य [धनियों के मनोहर घर] को ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे धनिक लोगों के घर सुरक्षित होते हैं, जिन्हें बन्ध करके सुख पूर्वक वे सोते हैं वैसेही घर सब गृहस्थ बनावें, जिनमें निर्भय होकर रात्रि को आनन्द से सोवें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद मं० ७ । ५५ । ६ । में है ॥

स्वप्तु' माता स्वप्तु' पिता स्वप्तु' श्वा स्वप्तु' विश्वपतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः' ॥ ६ ॥

स्वप्तु' । माता । स्वप्तु' । पिता । स्वप्तु' । श्वा । स्वप्तु' ।
विश्वपतिः । स्वपन्तु । अस्यै । ज्ञातयः । स्वप्तु' । अयम् । अभितः । जनः' ॥ ६ ॥

५—(यः) (आस्ते) उपविशति (यः) (चरति) संचरति (यः च) (तिष्ठन्) स्थितः सन् (विपश्यति) विविधम् इतस्ततः पश्यति (तेषाम्) (संदध्मः) संहितानि निमीलितानि अदर्शकानि कुर्मः (अक्षीणि) चक्षूँषि (यथा) येन प्रकारेण (इदम्) दृश्यमानम् (हर्म्यम्) अग्न्यादयश्च । उ० ४।११२ । इति हर्म्यहरणे—यक्, मुट् च । हरति मनांसि । धनिनां वासम् । मनोहरं गृहम् (तथा) तेन प्रकारेण ॥

भाषार्थ—(अस्यै) इम [सन्तति, पुत्रा वा पुत्री के हित] के लिये (माता) माता (स्वप्नु) सोवे, (पिता) पिता (स्वप्नु) सोवे, (श्वा) कुत्ता (स्वप्नु) सोवे, (विशपतिः) प्रजापालक गृहपति (स्वप्नु) सोवे । (ज्ञातयः) ज्ञाति के लोग (स्वप्नु) सोवें, और (अयम्) यह (जनः) सब जने (अमितः) चारों आर (स्वप्नु) सोवें ॥ ॥

भावार्थ—अब रात्री में सब लोग चुप चाप सो जावें, खलबल न मचावें जिससे यह बालक सुखपूर्वक सो जावे ॥

यह मन्त्र कुल्य भेद से ऋग्वे ७।५४।५ में है ॥

स्वप्नं स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि स्वापया जनम् । ओ-
त्सूर्यानन्यान्स्वापयाव्युषं जागृतादुहमिन्द्र इव अरिष्टा
अक्षितः ॥ ७ ॥

स्वप्नं । स्वप्न-अभिकरणेन । सर्वम् । नि । स्वापय । जनम् ।
आ-उत्सूर्यम् । अन्यान् । स्वापय । आ-व्युषम् । जागृतात् ।
अहम् । इन्द्रः-इव । अरिष्टः । अक्षितः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे निद्रा ! (स्वप्नाभिकरणेन) नींद के उपाय वा साधन से (सर्वं जनम्) सब जनों को (नि, स्वापय) सुलादे । (अन्यान्) दूसरे

६—(स्वप्नु) त्रिष्वप शयने । इडभावश्छान्दसः । स्वपितु । निद्रातु (माता) जननी (पिता) जनकः (श्वा) म० २ । गमनशीलः । वृद्धिशीलः । कुकुरः (विशपतिः) विशां प्रजानां पालको गृही । गृहाधिपतिः (स्वप्नु) निद्रान्तु (अस्यै) दृश्यमानायै प्रजायै सन्तत्यै । कन्यायाः पुत्रस्य वा हिताय (ज्ञातयः) क्तिच्क्ती च संज्ञायाम् । पा० ३ । १७४ । इति ज्ञा ज्ञाने—क्तिच् । जानाति कुलस्थितिं स ज्ञातिः । एककुलोत्पन्नाः पितृव्यादयः । बान्धवाः । सम्बन्धिनः (अमितः) परितः स्थितः (जनः) लोकः । मनुष्यसमूहः ॥

७—(स्वप्न) त्रिष्वप् शये-नन् । हे निद्रे (स्वप्नाभिकरणेन) निद्राजनकेन साधनेन कर्मणा द्रव्येण वा (सर्वम्) सकलम् (नि स्वापय) सर्वथा निद्रापय

पुरुषों का (ओत्सूर्यम्) सूर्य उदय तक (स्वापय) सुला. (अहम्) मैं (इन्द्रः इव) प्रतापी मनुष्य के समान (अरिष्टः) नाश रहित और (अक्षितः) हानि रहित (आद्युषम्) प्रभात तक (जागृतात्=जागराणि) जागरण करूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—घर के अन्य सब स्त्री पुरुष अपने अपने स्थानों पर सो जावें और गृहपति यथावत् जाग कर सावधानी रखे ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ विषं देवता । १, ३—८ अनुष्टुप्, २ यावतीति त्रिष्टुप्, वाचमित्यनुष्टुप् ॥

विषनिवारणयोपदेशः—विष दूर करने के लिये उपदेश ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।

स सोमं प्रथमः पृषौ स चकारारुसं विषम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणः । जुज्ञे । प्रथमः । दश-शीर्षः । दश-आस्यः । सः ।

सोमंम् । प्रथमः । पृषौ । सः । चकार । अरुसम् । विषम् ॥१॥

(जनम्) मनुष्यसमूहम् (ओत्सूर्यम्) उद्यन् सूर्यो यस्मिन् काले स उत्सूर्यः कालः । सूर्योदयपर्यन्तम् (अन्यान्) इतरान् मनुष्यान् । (आद्युषम्) उप बध्ने दाहे च—क, वा टाप् । उपः, उपा वा रात्रिशेषः । उपः कालावधि । रात्र्यवसानपर्यन्तम् (जागृतात्) जागृ निद्राक्षये लोद्, उत्तमपुरुषस्य छन्दसि प्रथमपुरुषः । अहं जागराणि । जागृतो भवानि (अहम्) गृहपतिः (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अरिष्टः) अहिंसितः (अक्षितः) क्षयरहितः ॥

भाषार्थ—(प्रथमः) सब वर्णों में प्रधान, (दशशीर्षः) दस प्रकार के [१—दान, २—शील, ३—क्षमा, ४—वीर्य, ५—व्यान, ६—बुद्धि, ७—सेना, ८—उपाय, ९—गुप्त दूत, और १०—ज्ञान] बलोंमें शिर रखनेवाला, और (दशाम्यः) दस दिशाओं में मुख के समान पोषण शक्ति वाला वा दस दिशाओं में स्थिति वाला (ब्राह्मणः) ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । (सः प्रथमः) उस प्रधान पुरुष ने (सोमम्) सोम नाम ओषधि का रस (पपी) पिया, और (सः) उसने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्गुण कर दिया ॥ १ ॥

भाषार्थ—जैसे वेदवेत्ता सद्धैर्यों ने पूर्ण विद्या प्राप्त करके सब दिशाओं में खोजकर संसार के उपकार के लिये सोम रस को पाया और आयोग्यनाशक और शरीरविकारक विष को हटाया है, हम लोग इसी प्रकार सोमलता आदि ओषधियों की प्राप्ति और परीक्षा करके संसार का कण्ट मिटाकर सब को सुख पहुँचावें और ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता होकर अमुआ बनें ॥ १ ॥

सोम का विशेष वर्णन ऋग्वेद मण्डल ६, और सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक १ आदि में है, यहां दो मन्त्र लिखते हैं ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।

इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥

रक्षेहा विश्वचर्पणिरुभि येतिमयोहतम् ।

हुणा सुधस्थुमासदत् ॥ २ ॥

ऋग्वेद ६।१।१, २ ॥ यजु० २६।२५, २६ ॥ साम उत्तरा० प्र० १ अ० १ प्रक १५ ॥

(सोम) हे सोम रस (स्वादिष्ठया) बड़ी स्वादिष्ठ और (मदिष्ठया) ति आनन्द कारक (धारया) धारा से (इन्द्राय) बड़े प्रतापी इन्द्र, पुरुष लिये (पातवे) पीने को (सुतः) छुनकर (पवस्व) शुद्ध हो ॥ १ ॥

१—(ब्राह्मणः) तदधीते तद्धेद । पा० ४।२।५६, इति ब्रह्मन्—अण् । ह्योऽजातौ । पा० ६।४।१७१ । इति न टिलोपः । वेदपाठी । वेदवेत्ता पुरुषः तज्ञे) जनी—लिट् । प्रादुर्बभूव (प्रथमः) सर्ववर्णेषु प्रधानः । अग्रिमः शशीर्षः) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किञ्च । उ० ४।१६४ । श्रिञ् सेवायाम्—मुञ्, शिरादेशः । शिरः शब्दस्य शीर्षं वा । उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना

(रक्षोहा) रोगादि दुष्टराक्षसों के नाश करने वाले, (विश्वचर्षणिः) सब मनुष्यों के हितकारक उस [सोम] ने (अयोहतम्) सुवर्ण से बने हुये (सधस्थम्) एक साथ ठहरने योग्य (योनिम्) स्थान (द्रुणा=द्राणे) द्रोण कलश में (अग्नि) व्याप कर (आ अमदत्) पाया है ॥ २ ॥

सोम का वृतांत सुश्रुतचरक आदि वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तार है वहां देख लेवे ॥

याव॑ती द्यावा॑पृथि॒वी व॑रि॒म्णा याव॑त् सु॒प्त सिन्ध॑वा
वि॒त॒ष्ठि॒रे । वाचं॑ वि॒षस्य॑ दूष॑णीं॒ तामि॑तो निर॑वा-
दि॒षम् ॥ २ ॥

याव॑ती इति । द्यावा॑पृथि॒वी इति । व॑रि॒म्णा । याव॑त् । सु॒प्त ।
सिन्ध॑वः । वि॒त॒स्थि॒रे । वाचं॑ । वि॒षस्य॑ । दूष॑णीम् । ताम् ।
इतः॑ । निः । अ॒वादि॒षम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यावापृथिवी=०-व्या) सूर्य और पृथिवी लोक (वरिम्णा)

मस्तकोऽस्त्रियाम् । इत्यमरः, १६।६५। दानशीलक्षमावीर्यध्यानप्रज्ञा बलानि च ।
उपायः प्रणिधिर्ज्ञानं दश बुद्धबलानि च । इति शब्दकल्पद्रुमवचनाद् दशसु बलेषु
शीर्षशिरोबलं यस्य स तथाभूतः पुरुषः (दशास्यः) ऋहलोग्यत् । पा० ३।१।२४।
इति असु क्षेपणे-ग्यत् । अस्यतेऽन्नमस्मिनिति आस्यं मुखम् । यद्वा । आस उपवेशने
-ग्यत् । टाप् आस्या स्थितिः, आसनम् । दशसु दिक्षु आस्यं मुखवत् पोषणं यस्य ।
यद्वा । दशसु दिक्षु आस्या स्थितिर्यस्य स तथाभूतः (सः) ब्राह्मणः (सोमम्)
अ० १।६।२ । सोमलतारसम् । ओपधिः सोमः सुनेतेर्यदेनमभिषुगवन्ति । बहुल-
मस्य नेघगटुकं वृत्तमाश्चर्यमिव प्राधान्येन तस्य पावमानीषु—निरु० ११ । २ ।
(प्रथमः) प्रधानः । (पपौ) पीतवान् (चकार) कृतवान् (अरसम्) रसगहितं
निर्वीर्यम् (विषम्) विष विप्रयोगे, यद्वा, विष्णु व्याप्तौ—क । विषमित्युदक-
नाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्धयर्थस्य विपूर्वस्य वा सचतेः निरु० २२ । २६
आरोग्यस्य शरीरस्य वानशिकं द्रव्यम् ॥

२—(यावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् पा० ५ । २ । ३६ । इति यत्—

अपने विस्तार से (यावन्ती=०-त्यौ) जितने हैं, और (सप्त) जीव से मिली हुई वा गमन शील, वा सात (सिन्धवः) बहने वाली नदी रूप इन्द्रियां [दो कान, दो लथने, दो आंखें और एक मुख] (यावत्) जितने (वितष्टिरे) फैलकर स्थित हैं। (इतः) इस स्थान से (विषस्य) विष की (दूषणीम्) खंडन करने वाली (ताम्) उस (वाचम्) वाणी को (निरवादिषम्) मैं ने कह दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उपाय करें कि आकाश और पृथिवी के सब गोचर पदार्थों में विष का संमर्ग न हो और पुष्टिकारक और बलवर्धक वस्तुओं के स्पर्श, दर्श, श्रवण, मनन, संभोग आदि से आनन्द प्राप्त हो ॥ २ ॥

सुपुर्णस्त्वा गुरुत्मान् विष' प्रथममावयत् ।

नामीदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

सु-पुर्णः । त्वा । गुरुत्मान् । विष' । प्रथमम् । आवयत् । न ।

अमीमदः । न । अरूरुपः । उत । अस्मै । अभवः । पितुः ॥३॥

[तुप् । डीप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ६१ । इति आत्वम् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । यावत्यौ । यावत्परिमाण-क्ते (यावापृथिवी) पूर्वसवर्णदीर्घः । सूर्यपृथिव्यौ (वरिष्ण) पृथ्वादिभ्य मनिज्वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति उरु-इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । १५७ इति वर्-आदेशः । उरुत्वेन । विस्तारेण (सप्त) सप्यशुभ्यां तुट् च । ०१ । १५७ । इति षप समावये, यद्वा, सृलपृ गतौ कनिन् । तुट् च, ऋकारस्य कारः । सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या प्तादित्यरश्मय इति निरु० ४ । २६ । जीवेन सह समवेताः सर्पणा गमनशीला सप्तसङ्ख्याका वा (सिन्धवः) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीलानि नदी- । । लि शोर्षणयानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि-व्याख्यातम् । अ० २।१२। ७ । [तष्टिरे] ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लिट् । समवप्रविभ्यः स्थः । पा० १ । ३ । २२ । इति मनेपदम् । विस्तारेण स्थिताः (वाचम्) वाणीम् (दूषणीम्) दुष वैरुक्ते-न्तात् ल्युट् । डीप् । नाशनीम् (ताम्) तादृशीम् (इतः) अस्माद् देशात् नः अवादिषम्) वद वाक्ये-लुङ् । वदग्रजहलन्तस्याचः । पा० ७ । २ । ३ । । वृद्धिः । अहं निर्गमय्य उच्चारितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(विष) हे विष ! (सुपर्णाः) शीघ्रगामी (गरुत्मान्) सुदन्त
पंख वाले गरुड़ ने (प्रथमम्) प्रसिद्ध (त्वा) तुझ को (आवयत्) खाया, तू
ने [उसे] (न) न तौ (अभीमदः) मत्त किया और (न) न (अरुरूपः)
घबरा दिया, (उत) किन्तु तू (अस्मै) उसके लिये (पितुः) अन्न (अभवः)
हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे गरुड़, मोर आदि पक्षी अपनी विष पाचक शक्ति से विष-
धारी सर्प को खाकर अपना शरीर पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सज्जैय ओपधि
द्वारा विष जनक रोगों का नाश करके संसार में नीरोगता फैलाते हैं ॥ ३ ॥

यस्तु आस्यत् पञ्चाङ्गुरिव्क्राच्चिदधि धन्वनः ।

अपस्कम्भस्य शल्यान्तरवाचमह विषम् ॥ ४ ॥

यः । ते । आस्यत् । पञ्च'-अङ्गुरिः । वक्रात् । चित् । अधि ।
धन्वनः । अप-स्कम्भस्य । शल्यात् । निः । अवाचम् । अहम् ।
विषम् ॥ ४ ॥

३—(सुपर्णाः) आ० १ । २४ । १ । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः,
सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि—निरु० ३ । १२ । शीघ्रगतिः । शोभनपक्षयुक्तः
(त्वा) त्वां विषम् (गरुत्मान्) मृगोरुतिः । उ० १ । ६४ । इति गृ शब्दे-उति ।
गृणाति शब्दायते वायुवेगात् स गरुत् पक्षः । ततो मतुप् । उरगाशनः पक्षि-
विशेषः । गरुड़ः (विष) (प्रथमम्) प्रधानम् । अतिप्रभावयुक्तमित्यर्थः
(आवयत्=आ अवयत्) वा गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखान्नेषु—लङ् ।
आवयतिः, अत्तिकर्मा—निघ० २ । ८ । अभक्षयत् (न) निषेधे (अभीमदः)
मदी हर्षग्लेपनयाः । ग्लेपनं दैन्यम् । एयन्नात् लुङि चङि रूपम् । मत्तं ज्ञान—
विकृतम् अकार्षीः (अरुरूपः) रूप विमोहने एयन्नात् लुङि चङि रूपम् ।
विमूढम् अकार्षीः (उत) अपि तु (अस्मै) गरुत्मते (अभवः) लङ् (पितुः)
कमिसनि० । उ० १ । ७१ । इति पा रक्षणे, वा पा पाने, अथवा ओप्यायी वृद्धौ
तु प्रत्ययः । धातोः पिभावः । पितुरित्यङ्नाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु०
६ । २४ । अन्नम् ॥

भाषार्थ—(यः) जिस किसी पुरुष ने (पञ्चाङ्गिः) पाँचों अंगुली जमा कर (वक्रात्) टेढ़े (चित्) ही (धन्वनः अधि) धनुष परसे (अपस्कम्भस्य) तीर के बन्धन की (शल्यात्) अणि व पैनी कील से (ते) तेरे लिये [विष] (आस्यत्) चलाया है, (अहम्) मैंने (विषम्) उस विष को (निः) निकाल कर (अवाचम्) बचन बोला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु अपने छल बल से दृढ़ हाथ से छोड़े हुये विष में बुझे तीरसे किसी बीर मनुष्य के शरीर में विष प्रवेश करदे, चतुर वैद्य उसकी चिकित्सा करके यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।

अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

शल्यात् । विषम् । निः । अवोचम् । प्र-अञ्जनात् । उत ।
पर्ण-धेः । अपाष्ठात् । शृङ्गात् । कुल्मलात् । निः । अवोचम् ।
अहम् । विषम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शल्यात्) बाण की अणि से, (प्राञ्जनात्) लेप से (उत) और (पर्णधेः) पंखवाले तीर के भाग से (विषम्) विष को (निः) निकाल

४—(यः) कश्चित् पुरुषः (ते) तुभ्यम् (आस्यत्) असु क्षेपणे लङ् । प्राक्षिपत् (पञ्चाङ्गिः) बालमूलतलघ्वसुरालमङ्गुलीमां वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम् । वा० पा० ८।२।१८ इति लस्य रत्वम् । बाणाक्षेपणे पञ्च अङ्गुरयः अङ्गुलयो यस्य स-तथोक्तः । दृढहस्तः सन् (वक्रात्) स्फायितश्चिवश्चि० । उ० २ । १३ । इति घञ् प्रलम्भने—रक । कुटिलात् । कूगात् (चित्) अपि (अधि) उपरिभावे (धन्वनः) अ० १ । ३ । ६ । चापात् (अपस्कम्भस्य) स्कभि गतिप्रतिबन्धे—घञ् । शर-बन्धनात् (शल्यात्) अ० २ । ३० । ३ । शल गतौ—य । बाणाग्रभागात् (निः) ओषधियत्नेन निः सार्यं (अवाचम्) उक्तवानस्मि (विषम्) हलाहलम् ॥

५—(शल्यात् । विषम् । निः । अवोचम्) गतम्—म० ४ । (प्राञ्ज-नात्) अन्तु व्यक्तिगतप्रक्षेपेषु—ल्युट् । प्रलेपात् (उत) अपि (पर्णधेः) पत्रयुक्तशरकाण्डात् (अपाष्ठात्) अप + आङ् + ष्ठा—क । अपस्थिताद्

कर (अवोचम्) मैं ने बचनबोला है । (शृङ्गात्) तीक्ष्ण (अपाष्ठात्) चाण के फल से और (कुलमलात्) चाण छिद्र से (विषम्) विष को (निः=निर्गमय्य) निकालकर (अहम्) मैंने (अवोचम्) बचन कहा है ॥ ५ ॥

भावाय—विषैले चाण के जिस जिस खंड से जहां जहां शरीर में घाव हों, बुद्धिमान् वैद्य वहां वहां से सावधानी के साथ विष निकालकर घायल पुरुष को स्वस्थ करे ॥ ५ ॥

अरुसस्तं इषो शल्योऽथो ते अरुसं विषम् ।

उतारसस्य वृक्षस्य धनुः'ष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

अरुसः । तेः । इषो इति । शल्यः । अथो इति । ते । अरुसम् । विषम् । उत । अरुसस्य । वृक्षस्य । धनुः । ते । अरुस । अरुसम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इषो) हे हिंसक बैरी ! (ते) तेरे (शल्यः) चाण की अणि (अरुसः) निर्बल (अथो) और भी (ते) तेरा (विषम्) विष (अरुसम्) निर्बल [हो जावे] । (उत) और (अरुस) हे निर्बल शत्रु ! (अरुसस्य) निर्बल (वृक्षस्य) वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष (अरुसम्) निकम्मा [हो जावे] ॥६॥

चाणफलात् (शृङ्गात्) अ० २ । ३२ । ६ । शृङ्गिंसायाम्—गन , नुट् च । शृङ्गातीति शृङ्गं तीक्ष्णम् । तीक्ष्णात् (कुलमलात्) अ० २ । ३० । ३ । चाणदण्डच्छिद्रात् । गतमन्यत् ॥

६—(अरुसः) निर्बलः (ते) तब । (इषो) ईषेः क्तिञ्च । उ० १ । १३ । ईषति हिनस्तीति इषुः । हे हिंसक ! हे चाण ! हे चाणधारिन्—इत्यर्थः (शल्यः) म० ४ । चाणाग्रभागः (अथो) अपि च (अरुसम्) निर्वीर्यम् । निष्प्रभावम् (विषम्) (उत) अपि च (अरुसस्य) निःसारस्य (वृक्षस्य) अ० १ । २ । ३ । अ० ३ । ६ । ८ । वृक्ष वरणे—क । स्वीकरणीयस्य । विटपस्य । वृक्षकाष्ठस्येत्यर्थः (धनुः) अ० ४ । ४ । ६ । चापः (ते) तब (अरुस) निर्वीर्यशत्रो ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग ऐसी उत्तम संजीवनी औषधें उपस्थित रखें जिनसे शत्रुओं के अस्त्र शस्त्रों के घाव योधाओं के अंगों में भर कर तुरन्त अच्छे हो जावें ॥ ६ ॥

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।

सर्वे ते वध्रयः कृता वध्निर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

ये । अपीषन् । ये । अदिहन् । ये । आस्यन् । ये । अव-असृजन् ।

सर्वे । ते । वध्रयः । कृताः । वध्निः । विष-गिरिः । कृतः ॥७॥

भाषार्थ—(ये) जिन शत्रुओं ने [विष को] (अपीषन्) पांसा है, (ये) जिन्होंने (अदिहन्) लेप किया है, (ये) जिन्होंने (आस्यन्) दूर से फेंका है, और (ये) जिन्होंने (अव-असृजन्) पास से छोड़ा है । (ते सर्वे) वे सब (वध्रयः) असमर्थ (कृताः) कर दिये गये, और (विषगिरिः) विष पर्वत भी (वध्निः) निर्वीर्य (कृतः) करदिया गया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा विष प्रयोगी पुरुषों को यथावत् दंड देकर सर्वथा बलहीन करदेवे, और विष के उत्पत्ति स्थानों को भी नियम बद्ध रखे ॥ ७ ॥

वध्रयस्तेखनितारो वध्निस्त्वमस्योषधे ।

वध्निः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

वध्रयः । ते । खनितारः । वध्निः । त्वम् । अस्मि । ओषधे ।

वध्निः । सः । पर्वतः । गिरिः । यतः । जातम् । इदम् । विषम् ॥८॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे दाह [जलन] के धारण करने वाले विष ! (ते)

७ - (ये) जनाः (अपीषन्) पितृष्ट संचूर्णने लङि छान्दसंरूपम् । अपीषन् । पिष्टवन्तः । विषमिति शेषः (अदिहन्) दिह उपचये=वृद्धौ—लङ् । लिप्तवन्तः (आस्यन्) म० ४ । दूरात् लिप्तवन्तः (अव—असृजन्) सृज विसर्गे—लङ् । अवसृष्टवन्तः । समीपे त्यक्तवन्तः (सर्वे) (ते) पूर्वोक्ता जनाः (वध्रयः) अ० ३ । ६ । २ । बन्ध बन्धने क्रिन् । विफलाः । निर्वीर्याः । (कृताः) निष्पादिताः । (वध्निः) निर्वीर्यः (विषगिरिः) विषोत्पत्तिहेतुः पर्वतः ॥

८—(वध्रयः) म० ७ । असमर्थाः (ते) तव (खनितारः) खननकर्तारः

तेरे (स्रनितारः) खोदने वाले (वध्रयः) असमर्थ [हो जावे] और (त्वम्) तू भी (वध्रिः) निर्वीर्य (असि) है । (सः) वह (पर्वतः) अवयव वाला (गिरिः) पहाड़ (वध्रिः) असमर्थ [हो जावे], (यतः) जिस से (इदम् विषम्) यह विष (जातम्) उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजाविष व्यापारियों और विष स्थानों का नीति विधान से अपने वश में रखने ॥ ८ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१—७ ॥ विषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विषनाशयोपदेशः—विष नाश करने का उपदेश ॥

वारिदं वारयातै वरुणावत्यामधि ।

तत्रामृतस्यामिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

वाः । इदम् । वारयातै । वरुण-वत्याम् । अधि । तत्र । अमृतस्य । आ-सिक्तम् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरुणावत्याम् अधि) उत्तम गुण वाली क्रिया में [अभवा वरुण नामवाली ओषधि में] वर्तमान (इदम्) यह (वाः) जल (वारयातै) [विष को] हटावे । (तत्र) उस [जल] में (अमृतस्य) अमृत अर्थात्

(वध्रिः) निर्वीर्या । निर्वीर्यः । (त्वम् असि) (ओषधे) अ० १ । २३ । १ । उप दाहे—अञ् + डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । हे दाहधारक विष (सः) (पर्वतः) अ० १ । १२ । ३ । पर्व पूरणे ऋतच् । पर्वति पूरयति भूमिम् । यद्वा । पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्वन्—तन् मत्वर्थे । पर्ववान् । अवयवयुक्तः (गिरिः) अ० २ । २५ । ४ । शैलः (यतः) यस्माद् गिरेः (जातम्) उत्पन्नम् (इदम् , विषम्) ।

१—(वाः) अ० ३ । १३ । ३ । वारि । जलम् (इदम्) (वारयातै) वारयतेर्लेटि आडागमः । निवारयतु विषम् (वरुणावत्याम्) सुयुरुवृञो युच् । उ० २ । ७४ । इति वृञ् वरणे—युच् । शरादीनां च । पा० ६ । ३ । १२० । इति मतौ पूर्वपदस्य

स्वास्थ्य का (आसिक्तम्) रस है । (तेन) उस [जल] से (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) मैं दृष्टाता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—१—यथावत् क्रिया से किये हुये जलके अभिप्रेक आदि से और २—वरुण नाम औषध के रस प्रयोग से विष और विष जनक रोगों की निवृत्ति होती है ॥ १ ॥

अरुसं प्राच्यं विषमरुसं यदुदीच्यम् ।

अथेदमधुराच्यं करम्भेण वि कल्पते ॥ २ ॥

अरुसम् । प्राच्यम् । विषम् । अरुसम् । यत् । उदीच्यम् ।

अथ । इदम् । अधुराच्यम् । करम्भेण । वि । कल्पते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राच्यम्) पूर्व वा सन्मुख दिशा का (विषम्) विष (अरुसम्) अरुस होवे, और (यत्) जो (उदीच्यम्) उत्तर वा बायी दिशा में

दीर्घः । वरुणीयगुणयुक्तायां क्रियायाम् । अथवा वरुणो वरुणो वृक्षविशेषः । वरुण-रसवत्याम् औषधौ वर्तमानम् । वरुणस्य गुणाः । कटुत्वम्, उष्णत्वम् रक्तक्ष-शीतवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम्, दीपनत्वं च—इति शब्दकल्पद्रुमात् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (तत्र) तस्मिन् जले (अमृतस्य) अमरणस्य, स्वास्थ्यस्य (आसिक्तम्) पिच क्षरणे—भावे क । आसेचनम् । समन्ताद् वर्णणम् । रसः (तेन) उदकेन (वारये) अहं निवारयामि (विषम्) विषप्रभावम् ॥

२—(अरुसम्) नीरसम् । निष्प्रभावम्, भवतु (प्राच्यम्) द्युप्रागपा-गुदकप्रतीचो यत् । पा० ४ । २ । १०१ । इति प्राच्—यत् । पूर्वदिग्भवम् (स्वा-भिमुखदिशि भवम्) (यत्) यद् विषमस्ति तदपि (उदीच्यम्) उदच्—यत् पूर्ववत् । उत्तरदिशि भवम् वामदिशि भवम् (अथ) अनन्तरम् (इदम्) (अधुराच्यम्) अधुराच्—यत् । अधस्ताद् वर्तमानायां दिशि भवम् । (करम्भेण) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति क+रभि शब्दे, अत्र सेके—घञ् । रभेरशव्लिटोः । पा० ७ । १ । ६३ । इति लुम् । केन जलेन रभ्यते सिच्यते मिश्रीक्रियते वा स करम्भः तेन, जलसेचनकर्मणा । यद्वा दधिमिश्रितशकुभिः (विकल्पते) कृषू सामर्थ्ये । कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । विगतसामर्थ्यं भवति ॥

है [वह भी] (अरसम्) अरस होवे । (अथ) और (इदम्) यह (अध-
राच्यम्) नीचे की दिशा का [विष] (करम्भेण) जल सेचन से [वा दही
मिले सत्तुओं से] (विकल्पते) असमर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग विष और विषैले रोगों को यथावत् जल
सेचन से अथवा सत्तुओं के प्रयोग से हटावे ॥ २ ॥

(करम्भ) शब्द का अर्थ जल क्रिया वा जल सेचन का और दही सत्तुओं
का है [करम्भो दधिसक्तवः—इत्यमरः, १६।४८]

कुरम्भं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमु'दारथिम् ।

क्षुधा किल' त्वा दुष्टनो जक्षि'वान्तस न रू'रुपः ॥३॥

कुरम्भम् । कृत्वा । तिर्यम् । पीवः-पाकम् । उदारथिम् ।

क्षुधा । किल' । त्वा । दुस्तनो इति दुः-तनो । जक्षि-वान् ।

सः । न । रूरुपः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दुष्टनो) हे शरीर के दुःख दायक [विष !] (किल)
तिरस्कार के साथ (त्वा) तेरे लिये [तेरे हटाने के लिये] (तिर्यम्) रोग
जीतने में समर्थ, (पीवस्पाकम्) मुटाई वा चर्बी रोग पचाने वाले और

३—(करम्भम्) म० २ । जलसेचनम् । दधिसक्तून् (कृत्वा) विधाय
(तिर्यम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति तृप्लवनतरणयोः—असुन् ।
गुणविषये इर् । तरतीति तिरः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६८ । इति यत् ।
अव्ययानां च० । वा० पा० ६।४। १४४ । इति टिलोपः । तरणे रोगजये समर्थम् ।
रोगतिरस्कारे कुशलम् (पीवस्पाकम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ ।
इति पीव स्थौल्यं—असुन् । पञ्चे करणे—वञ् । पीवः स्थौल्यं मेदो वा रोग-
विशेषः पच्यते येन तम् (उदारथिम्) उद्यत्तेश्चिच् । उ० ४ । ८८ इति उत् +
श्रृ गतौ-घथिन् । छान्दसो दीर्घः । उदरथिम् । उद्गमयितारम् जाठराग्नेरुद्दीप-
यितारम् (क्षुधा) बुभुक्षया (किल) तिरस्कारेण । निश्चयेन (त्वा) सुपां
सुषो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, त्वदर्थम् । तव-
निवारणायेत्यर्थः (दुष्टनो) दुर्-तनो । हे शरीरदूषक ! (जक्षिवान्) अदेर्लिटः

कसुः । (उदारथिम्) जाठर अग्नि बढ़ाने वाले (करम्भम्) जल सेचन [वा दही सत्तुओं] को (कृत्वा) बनाकर (क्षधा) भूख के कारण (जन्तिवान् = यः जन्तिवान् तम्) जिस ने खालिया, उसको (सः = स त्वम्) उस तू ने (न) नहीं (रूपः) मूर्छित किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जल सेचन और सत्तुओं के सेवन से विपैले रोगों का नाश होता है ॥ ३ ॥

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि ।

प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

वि । ते । मदम् । मद-वति । शरम्-इव । पातयामसि । प्र ।

त्वा । चरुम्-इव । येषन्तम् । वचसा । स्थापयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मदावति) हे मूर्छा करने वाली [विष पीड़ा] (ते) तेरे (मदम्) मद्यपन को (शरमिव) तीर के समान (वि) अलग (पातयामसि = ०-मः) हम फेंके देते हैं । और (येषन्तम्) खदबदाते हुये (चरुमिव) चरुये [यासन] के समान (त्वा) तुझको (वचसा) वचन मात्र से [शीघ्र] (प्र स्थापयामसि = ०-मः) हम हटाते हैं ॥ ४ ॥

लिट्यन्यतरस्याम् । पा० २ । ४ । ४० । इति घस्तु आदेशः । त्वस्वेकाजाद् घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इति इटि कृते उपधालापे स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनादि । भक्षितवान् यः पुरुषः, तम् इति शेषः (सः) स त्वम् (न) नहि (रूपः) रूप विमोहने । गन्ताल् लुङि चङि रूपम् अङ्भावः । अरुरूपः । अमृमुहः । मूर्छितम् अकार्षीः ॥

४—(वि) वियोगे (ते) त्वदीयम् (मदम्) मदी स्वप्ने, जाङ्ग्ये, मदे—अच्छ । मद्यम् । मत्तताम् । विकलताम् (मदावति) शरादीनां च । पा० ६ । ३ । १२० । इति मतौ दीर्घः । हे मूर्छाकरगुणयुक्ते विषपीडे (शरमिव) शृ हिंसायाम्—अप् । चापाद् विमुक्तं तीरमिव (वि पातयामसि) शरीराद् विश्लेषयामः (त्वा) त्वाम् (चरुमिव) भृशशीङ्गुचरि० उ० १।७। इति चर गमने, अदत्ते, आचारे—उ । चर्यते भक्षते अग्निना, अन्नपाक भाण्डं यथा (येषन्तम्) जूविशिभ्यां भक्ष् ।

भावाय—वैद्य लोग विषैली, मदकरी पीडाओंको बहुत शीघ्र प्रयत्न करके हटावें, जैसे धनुष से तीर को फेंकते अथवा अतितप्त बरतन को आग पर से हटाते हैं ॥ ४ ॥

परि ग्राममिवाचितुं वचसा स्थापयामसि ।

तिष्ठा वृक्ष इव स्थामन्यभिखाते न रुरूपः ॥ ५ ॥

परि । ग्रामम्-इव । आ-चितम् । वचसा । स्थापयामसि ।
तिष्ठ । वृक्षः-इव । स्थाम्नि । अभि-खाते । न । रुरूपः ॥५॥

भाषार्थ—(आचितम्) एकत्र हुए (ग्रामम् इत्) जन समूह [शत्रु वृन्द] के समान [तुल्यको] (वचसा) वचन मात्र से (परिःस्थापयामसि=०—मः) हम घेरते हैं । (वृक्षः इव) वृक्ष के समान (स्थाम्नि) अपने स्थान पर (तिष्ठ) ठहर । (अभिखाते) हे कुदाल से खोदी हुई ! तूने (न) नहीं (रुरूपः) मूर्छित किया है ॥ ५ ॥

भावाय—विद्वान् वैद्य विचार पूर्वक उपाय के साथ विष को प्रभाव रहित करके निकाल देते हैं जैसे शूरा पुरुष शत्रुसेना को घेरकर हरा देते हैं ॥ ५ ॥

उ० ३ । १२६ । इति येषु प्रयत्ने—भक्ष् । येषमाणम् । प्रयतमानम् अङ्ग-प्रत्यङ्गानि व्याप्नुवन्तम् प्रतप्तं वा (वचसा) वचनमात्रेण (प्र स्थापयामसि) दूरा कुर्मः ॥

५—(परि) परितः सर्वतः (ग्रामम्) ग्रसेरा च । उ० १ । १४३ । इति प्रस ग्रहणे, भक्षणे—मन्, धातोराकारः । जनसमूहम् । शत्रुवृन्दम् (इव) यथा (आचितम्) आङ्+चि-क्त । आकीर्णम् । व्याप्तम् (वचसा) वचनमात्रेण (स्थापयामसि) दध्मः (तिष्ठ) स्थिता भव (वृक्ष इव) यथा वृक्षो निश्चलो भूत्वा (स्थाम्नि) सर्वधातुभ्यो यनिन् उ० ४ । १४५ । इति ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् स्वस्थाने । मूलं (अभिखाते) सर्वधातुभ्य इन् उ० ४ । ११८ । इति अभ्र गतौ—इन् अपादाने । अभ्रिः काष्ठकुदालः । तीक्ष्णाग्रो लोहदण्डः । खन विदारि—क । हे खन—नसाधनेन विदारिते ओषधे (न) नहि (रुरूपः) म० ३ । अमृमुहः ॥

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिरजिनैरुत ।

प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभिखाते न रूरुपः ॥ ६ ॥

पवस्तैः । त्वा । परि । अक्रीणन् । दूर्शेभिः । अजिनैः । उत ।

प्र-क्रीः । असि । त्वम् । ओषधे । अभि-खाते । न । रूरु-पः ॥६॥

भाषार्थ—(त्वा) तुम से (पवस्तैः) मंडप वा घरों के लिये, (दूर्शे-भिः=दूर्शैः) वस्त्र गृहों के लिये, (उत) और (अजिनैः) चर्म के लिये (परि अक्रीणन्) उन्होंने [पुरुषों ने] व्यापार किया है । (ओषधे) हे दाह-धारण करनेवाली ! (त्वम्) तू (प्रक्रीः) बिकाऊ वस्तु (असि) है । (अभि-खाते) हे कुदाल से खोदी हुई ! तू ने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य अपने लाभ के लिये विष का व्यापार भी करते हैं, विद्वान् लोग अपनी योग्यता से विष को निर्बल करके रखते हैं ॥ ६ ॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।

वीरान् नो अत्र मा दभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥७॥

अनाप्ताः । ये । वः । प्रथमाः । यानि । कर्माणि । चक्रिरे । वी-
रान् । नः । अत्र । मा । दभन् । तत् । वः । एतत् । पुरः । दधे ॥७॥

६—(पवस्तैः) पवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अस्माद् औणादिको अस्तप्रत्ययः । पवन्ते गच्छन्ति यत्र मण्डपैः । गृहैः । अत्र सर्वत्र निमित्तं तृतीया । पवस्तशब्दो द्यावापृथिव्योर्वाचको दृष्टः । ऋ० १० । २७ । ७ । (त्वा) त्वां विषरूपाम् (परि अक्रीणन्) डुक्रौश् द्रव्यविनिमये—लङ् । परिक्रीतवन्तः पुरुषाः (दूर्शेभिः) दुर्+शो तनूकरणे—ङ । दुर् दुःखं श्यतीति दूर्शम् । दूर्शैः । दृश्यैः । दृष्यैः । वस्त्रनिर्मितगृहैः (अजिनैः) अजेरज च । उ० २ । ४८ । इति अज गतिकेपणयोः—इनच् । चर्मभिः (उत) अपि च (प्रक्रीः) प्रपूर्वात् क्रीणान्ते कर्माणि संपदादित्वात् क्तिप् । प्रकर्षेण क्रीता (असि) भवसि (त्वम्) (ओषधे) हे तापधारिणि । अन्यद् गतम्—म० ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहां पर (मा दमन्) न मारें (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि जगत् हितकारी महात्मा लोग आनन्द प्राप्त करके सब की यथावत् रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र अ० ५।६।२। में भी है।

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१—७ ॥ भूतानामधिपतिर्देवता ॥ १, ३, ७ त्रिष्टुप्, शिष्टानुष्टुप् ॥

राजसूयश्लोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

भुतो भुतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्वभूव ।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्य-
तामिदम् ॥ १ ॥

भुतः । भुतेषु । पयः । आ । दधाति । सः । भूतानाम् । अधि-
पतिः । बभूव । तस्य । मृत्युः । चरति । राज-सूयम् । सः ।
राजा । राज्यम् । अनु । मन्यताम् । इदम् ॥ १ ॥

७—(अनाप्ताः) आप्त व्याप्तौ—क्त । आप्ता यथार्थज्ञातारः । न सन्ति आप्ता येभ्यस्ते अनाप्ताः, अनुत्तमाः । अतिशयेन आप्ताः (ये) पुरुषाः (वः) युष्मभ्यम् (प्रथमाः) प्रधानाः (यानि) यज्ञ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ड । यज्ञनीयानि । पूज्यानि (कर्माणि) कर्तव्यानि । आचरणानि (चक्रिरे) कृतवन्तः (वीरान्) शूरान् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् संसारे विषनिवारणकर्मणि वा (मादमन्) दन्भु दम्भे=कपटे । मा हिंसन्तु ते शत्रवः (तत्) तस्मात् (वः) युष्माकम् (एतत्) क्रियमाणं कर्म (पुरः) पुरस्तात् (दधे) धारयामि ॥

भाषार्थ—(भूतः) विभूति वा ऐश्वर्यवान्ना पुरुष (भूतेषु) सब स्थावर जंगम पदार्थों में (पयः) दुध, अन्न जल आदि (आ) अच्छे प्रकार (दधाति) धारण करता है, (सः) वहां (भूतानाम्) प्राणी और अप्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता (बभूव) हुआ है। (मृत्युः) मृत्यु [मारणसामर्थ्य] (तस्य) उसके (राजसूयम्) राज तिलक यज्ञ में (चरति) अनुचर होता है। (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) अङ्गीकार करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रतापी पुरुष को विद्वान् पुरुषों ने राजा बनाया है, वह अपनी बुद्धि, नीति और बीरता से प्रजा के प्राण और धन की रक्षा करता है, और वही शिष्टों का पालन करके मृत्यु से बचाता और दुष्टों को दण्ड देकर मारता है ॥ १ ॥

अभि प्रेहि मापं वेन उग्रश्चेत्ता संपत्नहा ।

आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

१—(भूतः) भू सत्तायां प्राप्तो च, यद्वा, शुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु—क । भवति विद्यते भूयते प्राप्यते वा भूतः । प्राणी । भूतिवान् ऐश्वर्यवान् राजा (भूतेषु) सत्तां प्राप्तेषु स्थावरजङ्गमद्रव्येषु (पयः) रपेरत पञ्च । ४।१६० । इति पय गतौ, पीड्वा पा पाने—असुन् । पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु २ । ५ । पयः, रात्रिनाम—निघ० १ । ७ । उदकनाम—निघ० १ । १२ । अन्ननाम—निघ० २ । ७ । दुग्धाजजलादि-पदार्थजातम् (आ) सम्यक् (दधाति) स्थापयति (सः) राजा (भूतानाम्) प्राणिनाम् (अधिपतिः) अधिष्ठाता । स्वामी । (बभूव) (तस्य) राज्ञः (मृत्युः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युक्तौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे—त्युक् । अन्तर्भावितरणर्थः । मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं व्यावयतीति वा शतबलाक्षा मौद्गल्यः—निरु० ११ । ६ । मारणसामर्थ्यम्, दुष्टनिग्रहेण शिष्टपरिपालनेन च (चरति) अनुचरति । सेवते (राजसूयम्) राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । इति राजन्+षुम् अभिषवे—क्यप् । अभिषवः स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासंधानं च । राजा सूयते अभिषिच्यते यत्र । राजाभिषेकयज्ञम् (सः) कृताभिषेकः (राजा) ऐश्वर्यशाली । प्रतापवान् (राज्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । इति राजन्—यक् । राज्ञः कर्म प्रजारक्षणादिकम् (अनु मन्यताम्) अनुजानातु । अङ्गीकरोतु (इदम्) प्रत्यक्षम् ॥

अभि । प्र । इ हि । मा । अप । वे नः । उग्रः । चेत्ता । सपत्न-हा ।
आ । तिष्ठ । मित्र-वर्ध न । तुभ्यम् । देवाः । अधि । ब्रुवन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् ।] (उग्रः) तेजस्वी, (चेत्ता) चैतन्य स्वभाव
और (सपत्नहा) शत्रुनाशक तू (अभि) सब ओर से (प्रेहि) आगे बढ़,
(मा अप वेनः) पीछे न हट । (मित्रवर्धन) हे मित्रों के बढ़ाने हारे ! (आ-
तिष्ठ) [सिंहासन वा हाथी आदि पर] आकर बैठ । (देवाः) विजय चाहने
वाले वीर विद्वानों ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (अधि ब्रुवन्) यह अनुग्रहवचन
दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—(देवाः) मुख्य मुख्य शूर विद्वान् लोग राजा को सहाय बचन
के साथ अभिनन्दन कर के राजसिंहासन और हाथी आदि यान पर बिठलावे
और (मित्रवर्धन) राजा माननीय पुरुषों का आदर मान करे ॥ २ ॥

आतिष्ठन्तुं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति
स्वरोचिः । महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो
अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥

आ-तिष्ठन्तम् । परि । विश्वे । अभूषन् । श्रियम् । वसानः ।
चरति । स्व-रोचिः । महत् । तत् । वृष्णः । असुरस्य । नाम ।
आ । विश्व-रूपः । अमृतानि । तस्थौ ॥ ३ ॥

२—(अभि) अभितः सर्वतः (प्रेहि) प्रगच्छ (मा अप वेनः) वेनतिः
कान्तिकर्मा—निघ २ । ६ । गतिकर्मा—२ । १४ । अर्चितकर्मा—३ । १४ । माप
गच्छ (उग्रः) तीव्रस्वभावः (चेत्ता) चित्ती संज्ञाने—तृन् । चेतिता । ज्ञानवान्
(सपत्नहा) अ० १ । २६ । ५ । शत्रूणां हन्ता (आतिष्ठ) राजासनं हस्त्यश्वा-
दियानं च आरोह (मित्रवर्धन) नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति
वृधेर्ण्यन्तात्—ल्यु । हे मित्राणां वर्धयितः (तुभ्यम्) (देवाः) विजिगीषवो
विद्वांसः (अधि ब्रुवन्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लङ् । अधि अब्रुवन् । अधि-
वचनम् अनुग्रहवचनम् उच्चारितवन्तः ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब जनों ने (आतिष्ठन्तम्) [रि हासन आदि पर] बैठते हुये राजा को (परि अभूषन्) सब प्रकार से अलंकृत वा प्राप्त किया है । (धियम्) राज लक्ष्मी को (वसानः) धारण करता हुआ, (स्वरोचिः) स्वयं प्रकाशमान वह (चरति) वर्त्तमान होता है । (वृष्णः) उस ऐश्वर्य वाले (असुरस्य) प्राणदाता का (तत्) वह (महत्) विशाल (नाम) नाम इ । (विश्वरूपः) अनेक प्रकार के स्वभाव वाले उसने (अमृतानि) अनश्वर सुखों को (आ तस्थौ) प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजा गण सिंहासन पर बैठे हुये राजा को भेट आदि देकर सेवा करें, और राजा यथायोग्य सब से वर्त्तान करके आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।

विशंस्त्वा सर्वा वाञ्छुन्त्वापौ दिव्याः पर्यस्वतीः ॥ ४ ॥

व्याघ्रः । अधि । वैयाघ्रे । वि । क्रमस्व । दिशः । महीः । विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छुन्तु । आपः । दिव्याः । पर्यस्वतीः ॥ ४ ॥

३—(आतिष्ठन्तम्) सिंहासनादिकम् आरोहन्तम् (परि), परितः सर्वतः (विश्वे) विश्वे देवाः । सर्वे शूरविद्वांसः (अभूषन्) भूष अलंकारे लुङ् । यद्वा, भू प्राप्नो ह्यान्दसे लुङि सिप् । अलंकृतवन्तः । प्राप्त वन्तः (धियम्) क्विप् क्वचिप्रच्छिभ्रिस्त्रु० । उ० २ । ५७ । इति भ्रिभ् सेवने—क्विप् दीर्घश्च । अयति पुरुषार्थिनं सा श्रीः । राजलक्ष्मीम् । सम्पत्तिम् (वसानः) वस आच्छादने—लटः शानच् । धारयन् (चरति) राज्यपालने वर्तते (स्वरोचिः) वसौ रुचेः संज्ञायाम् । उ० २ । १११ । रुच दीप्तौ अभिप्रीप्तौ च—इसिन् । स्वयंरोचमानो दीप्यमानः । स्वरुचिः । स्वतन्त्रः (महत्) अधिकम् । विशालम् (तत्) प्रसिद्धम् (वृष्णः) अ० १ । १२ । १ । वर्षकस्य । ऐश्वर्ययुक्तस्य । इन्द्रस्य (असुरस्य) अ० १ । १० । १ । दीप्यमानस्य । प्राणप्रदस्य । शूरस्य (नाम) अ० १ । २४ । ३ । म्ना अभ्यासे—मनिन् । अभ्यस्तं नामधेयम् । संज्ञा । (आ) समन्तात् (विश्वरूपः) शत्रु मित्र कलत्रादिषु नानास्वभावः । यथायोग्यं वर्त्तमानः (अमृतानि) अनश्वरसुखानि (आ तस्थौ) आरूढवान् । प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (व्याघ्रः) बाघ के समान पराक्रमी तू (वैद्याघ्रे अधि) बाघ के स्वभाव में [स्थित होकर] (महीः दिशः) बड़ी दिशाओं को (वि क्रमस्व) विक्रम से जीत । (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें, और (दिव्याः) उन्नत (पयस्वतीः = ०—त्यः) सार वाली (आपः) जल धारायें (त्वा) तुझ को (वाञ्छन्तु) चाहें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—राजा व्याघ्र के समान पराक्रमी और जल के समान उपकारी होवे, सब प्रजागण उस से प्रीति करें और राज्य में अनावृष्टि आदि न हो ॥३॥ या आपो' दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् । तासां त्वा सर्वासामुपामुभि सिञ्चामि वर्चसा ॥५॥ याः । आपः । दिव्याः । पयसा । मदन्ति । अन्तरिक्षे । उत । वा । पृथिव्याम् । तासाम् । त्वा । सर्वासाम् । उपाम् । अभि । सिञ्चामि । वर्चसा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में की (उत वा) और भी (पृथिव्याम्) पृथिवी पर की (याः) जो (दिव्याः) दिव्य (आपः) जल धारायें (पयसा) अपने रस से (मदन्ति) [प्राणियों को] तृप्त करती हैं, (तासाम्)

४—(व्याघ्र) अ० ४ । ३ । १ । व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्तीति वा निरु० ३ । १८ । लुप्तोपममेतत् । व्याघ्रवद् दुष्प्रधर्षः (अधि) उपरि उपविष्टः सन् (वैद्याघ्रे) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति व्याघ्र—अण् । न खाभ्यां पदान्ताभ्याम् ० । पा० ७ । ३ । ३ । इति यकारात् पूर्वम् ऐच् । व्याघ्रस्यायं स्वभावस्तस्मिन् (विक्रमस्व) वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति क्रमेरात्मनेपदम् । विक्रमेण शौर्येण व्याप्नुहि । विजयस्व (दिशः) प्राच्याद्याः (महीः) महतीः (विशः) प्रजाः (त्वा) त्वां राजानम् (सर्वाः) (वाञ्छन्तु) वाञ्छि इच्छायाम् । स्वामित्वेन इच्छन्तु (आपः) जलानि (दिव्याः) दिवि भवः—यत् । उन्नतगुणयुक्ताः (पयस्वतीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः ॥

५—(याः) (आपः) जलधाराः (दिव्याः) श्रेष्ठाः (पयसा) रसेन । सारेण (मदन्ति) मदं तृप्तियोगे । तर्पयन्ति प्राणिनः (अन्तरिक्षे) आकाशे वर्त-

उन (सर्वासाम्) सब (अपाम्) जल धाराओं के (वर्चसा) बल दायक सार से (त्वा) तुझको (अभि पिञ्चामि) अभिषेक कराता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजगद्दी पर बैठने के समय राजा को ओषधियों के रस से मिले हुये घृष्टि, नदी, कूप आदि के उत्तम जलों से स्नान करावे, जिस से उस का शरीर पुष्ट रहे और जल के समान वह अपने प्रजा को सुख पहुँचावे ॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचिन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।

यथासौ मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अभि । त्वा । वर्चसा । असिचिन् । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ।
यथा । अस्तः । मित्र-वर्धनः । तथा । त्वा । सविता । करत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—[हे राजन् !] (त्वा) तुझ को (दिव्याः) दिव्य (पयस्वतीः = पयः) सारयुक्त (आपः) जल धाराओं ने (वर्चसा) अपने बलदायक सार से (अभि असिचिन्) सब प्रकार सींचा है, (यथा) जिससे तू (मित्रवर्धनः) मित्रों की वृद्धि करने वाला (अस्तः) होवे । (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (तथा) वैसे गुण वाला [जैसा जल] (करत्) करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—अभिषेक के उपरान्त सब लोग आशीर्वाद दे, हे राजन् ! तुझे यह अभिषेक वा स्नान इस लिये कराया है कि जैसे जल अन्न आदि उत्पन्न

मानाः (उत वा) अपि वा (पृथिव्याम्) भूम्याम् अवस्थिताः (तासाम्) तथा-
विधानाम् (त्वा) राजानम् (सर्वासाम्) सर्वत्र व्याप्तानाम् (अपाम्) जल-
धाराणाम् (अभि पिञ्चामि) अभिषेकयुक्तं करोमि (वर्चसा) तेजसा । बल-
करेण सारेण ॥

६—(अभि असिचिन्) पित्र क्षरणे, सेके—लुङ् । अभिषेकयुक्तं कृतवत्यः
(त्वा) राजानम् (वर्चसा) स्वकीयेन सारेण (आपः) (दिव्याः) (पयस्व-
तीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः (यथा) येन प्रकारेण (अस्तः) अस्तेर्लैटि अडा-
गमः । त्वं भवेः (मित्रवर्धनः) म० २ । मित्राणां वर्धयिता (तथा) तेन प्रका-
रेण । अलपत्स्वभावेन (सविता) सर्वप्रेरको देवः परमेश्वरः (करत्) लेट् ।
कुर्यात् ॥

करके संसार का उपकार करता है, वैसे ही सर्व प्रेरक परमेश्वर के अनुग्रह से तू प्रजाप्रेरक होकर अपने हितैषी जनों की सदा उन्नति करता रहे ॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते
सौभगाय । समुद्रं न सुभुवंस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते
द्वीपिनमृष्वं ११न्तः ॥ ७ ॥

एना । व्याघ्रम् । परि-सस्वजानाः । सिंहम् । हिन्वन्ति ।
महते । सौभगाय । समुद्रम् । न । सु-भुवंः । तस्थि-वांसम् ।
मर्मृज्यन्ते । द्वीपिनम् । अप्-सु । अन्तः ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ—(परिषस्वजानाः) सब ओर से चिपटे हुये लोग (एना= एनम्) इस (व्याघ्रम्) व्याघ्ररूप और (सिंहम्) सिंह समान [पराक्रमी राजा] को (महते) बहुत ही (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, और (सुभुवंः) सुन्दर जन्म वा बड़ी भूमि वाले पुरुष (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (तस्थिवांसम्) स्थिति हुये, (समुद्रम् न) समुद्र के समान [गम्भीर स्वभाव] और (द्वीपिनम्) चीते [के तुल्य पराक्रमी राजा] को (मर्मृज्यन्ते) अनेक प्रकार से शुद्ध करते वा सजाते हैं ॥ ७ ॥

७—(एना) द्वितीयादौस्त्वेनः । पा० २ । ४ । ३४ । इति एतच्छब्दस्य एनादेशो द्वितीयायाम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेः आच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति चित्वाद् अन्तोदात्तः । एनम् (व्याघ्रम्) व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्तम् (परिषस्वजानाः) स्वञ्ज सङ्गे-लिटः कानच् । आलिङ्गन्तः । परितः संगच्छमानाः पुरुषाः (सिंहम्) सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च । उ० ५ । ६२ । इति पिच क्षरणे कप्रत्ययः, चस्य हकारो नुम् च । यद्वा । आद्यन्त-विपर्यये । हिसि वधे-अच् । दिनस्तीति सिंहः । पञ्चास्यः । सिंहः सहनाद्धिं सेर्वा स्याद् विपरीतस्य सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति वा-निरु० ३ । १८, सिंहतुल्यपराक्रमवन्तं राजानम् (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने । इदिश्वान्नुम् । प्रीणयन्ति । तर्पयन्ति (महते) अधिकाय (सौभगाय) प्राणभृज्जातिवयो—बचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२६ । इति सुभगमन्त्रे, इति उद्गात्रादिषु पाठाद् भावे अर्न् । जितरादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १६७ । इति आच् शक्तः ।

भावार्थ—अभिषेक विधि के समाप्त हो चुकने पर सब बड़े बड़े लोग प्रशंसा करके राजा का उत्साह बढ़ावे और अलंकार आदि से उसको यथावत् शोभायमान करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-१० ॥ आञ्जनं देवता ॥ १, २, ४-१० अनुष्टुप् । ३ पद्या पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्यापदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्य । स्यक्ष्यम् ।

विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

आ । इहि । जीवम् । त्रायमाणम् । पर्वतस्य । अस्ति । अक्ष्यम् । विश्वेभिः । देवैः । दत्तम् । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥१॥

भाषार्थ—(एहि) आ । (जीवम्) जीव को (त्रायमाणम्) पालता हुआ, (पर्वतस्य) पूर्ति करने वाले वा अवयवों वाले मेघ के (अक्ष्यम्) व्यवहार के लिये हितकारक, (विश्वेभिः) सब (देवैः) दिव्य गुणों के साथ (दत्तम्) दिया हुआ (कम्) तू सुख स्वरूप ब्रह्म (जीवनाय) हमारे जीवन के लिये (परिधिः) परकोटा रूप (अस्ति) है ॥ १ ॥

सुभगत्वाय । शोभनैश्वर्याय (समुद्रम् न) समुद्रवद् गम्भीरस्वभावम् (सुभुवः) सु + भू-क्विप् । शोभना भूरुपत्तिर्भूमिर्वा यस्य स सुभूः शोभन-जन्मानः । यद्वा । शोभनभूमयः पुरुषाः (तस्थिवांसम्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-कसु । स्थितवन्तम् (ममृज्यन्ते) मृजू शौचालंकारयोः । यङि निपातनादभ्यासस्य रुगागमः । पुनः पुनः, अत्यर्थं वा शोधयन्ति अलंकुर्वन्ति वा (द्वीपिनम्) द्वि + ई गतौ-पप्रत्ययः । द्वौ वर्णौ ईयते द्वोपं द्विवर्णं चर्म । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । १२५ । इति इनि । शार्दूलवद् अधृष्यं राजानम् (अप्सु) उदकेषु (अन्तः) मध्ये ॥

१—(एहि) आगच्छ (जीवम्) इगुपधत्वा ० । पा० ३ । १ । १३५ ।

इति जीव प्राणधारणे—क । जीवति प्राणयतीति जीवः । प्राणिनम् । आत्मानम्

भावार्थ—परमेश्वर मेघ के समान जगत् की रक्षा करने वाला हमारे हृद्यों में विराजमान होकर हमारा प्राणाधार है, ऐसा समझ कर हम पुरुषार्थ के साथ सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

पुरिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।

अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

पुरि-पाणंम् । पुरुषाणाम् । परि-पानंम् । गवाम् । असि ।

अश्वानाम् । अर्वताम् । परि-पानाय । तस्थिषे ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (पुरुषाणाम्) अग्रगामी मनुष्यों का (परिपाणम्) रक्षा-साधन, और (गवाम्) गौओं का (परिपाणम्) रक्षा साधन (असि) है । और (अर्वताम्) शीघ्र गामी (अश्वानाम्) घोड़ों के (परिपाणाय) पूर्ण रक्षा के लिये (तस्थिषे) तू ही स्थित हुआ है ॥ २ ॥

(त्रायमाणम्) त्रैङ् पालने—शानच् । पालयन् (पर्वतस्य) भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे—अतच् । यद्वा । पर्वतो मेघः—निघ० १ । १० । पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः । वा० पा० ५।३।१२२ । इति पर्वन्—मत्वर्थे तन् । पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा । निरु० १ । २० । इष्टपूरकस्य यद्वा अवयवयुक्तस्य मेघस्य (असि) भवसि (अक्षयम्) अशेर्देवने । उ०।३। ६५ । इति अशू व्याप्तौ—स । अतो व्यवहारः । अक्ष—यत् । अक्षाय व्यवहाराय हितम् (विश्वेभिः) सर्वैः (देवैः) दिव्यगुणैः सह (दत्तम्) हृदये समर्पितम् (परिधिः) उरसगे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । इति परि+धाञ्—कि । परितो धीयते परिधिः प्राकारः (जीवनाय) चिरकालजीवनार्थम् (कम्) कच दीप्तौ—इ । सुखस्वरूपं ब्रह्म ॥

२—(परिपाणम्) पातेः करणे—ल्युट् । वा भावकरणयोः । पा० ८ । ५ । १० । इति विकल्पेन नस्य णः । परिरक्षणसाधनम् (पुरुषाणाम्) अ० १।१६।४ । पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रत्य—नि १०२ । ३ । अग्रगामिनी । मनुष्याणाम् (गवाम्) धेनूनाम् (असि) भवसि (अश्वानाम्) मार्गव्यापनशीलानां तुङ्गाणाम् (अर्वताम्) स्नामदिपशुर्धिपशुकिभ्यो

भाषार्थ—वह परब्रह्म कृपा करके हमसे सब पदार्थों की रक्षा कराता है, इस कारण अभिमान छोड़कर हम पुरुषार्थ करते रहें ॥ २ ॥

उतासिं परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन । उतामृतस्य त्वं
वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

उत । असि । परि-पानम् । यातु-जम्भनम् । आ-अञ्जनम् ।

उत । अमृतस्य । त्वम् । वेत्थ । अथो इति । असि । जीव-
भोजनम् । अथो इति । हरित-भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उत) और (आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! तू (परिपाणम्) हमारी रक्षा का साधन, (यातुजम्भनम्) पीड़ाओं का नाश करने वाला (असि) है, (उत) और (त्वम्) तू (अमृतस्य) अमृत अर्थात् मोक्ष सुखका (वेत्थ) ज्ञाता है, (अथो) और भी तू (जीवभोजनम्) जीवों का पालने वाला (अथो) और भी (हरितभेषजम्) रोग से उत्पन्न पीतरंग की ओपधि (असि) है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—संसार के कर्ता धर्ता परमेश्वर के उपकारों को देखकर मनुष्य प्रयत्न पूर्वक विद्यादि सुख साधनों की प्राप्ति से मोक्षानन्द भोगे ॥ ३ ॥

वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । अर्वाण्यस्त्रसावनप्रः । पा० ६ । ४ । १२७ । इति नकारस्य वृ = तकारः । गन्तृणाम् । शीघ्रगामिनाम् (परिपाणाय) परिरक्षणाय (तस्थिषे) प्ठा-लिट् । स्थितं बभूविथ त्वं ब्रह्म ॥

३—(उत) अपि च (असि) भवसि (परिपाणम्) म० २ । परिरक्षण-साधनम् (यातुजम्भनम्) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति यत् ताडने-उण् । जभि नाशने-ल्युट् । यातूनां यातनानां पीडानां नाशनम् (आञ्जन) आङ्-पूर्वाद् अञ्ज् व्यक्तिस्रक्षणकान्तिगतिषु—ल्युट् । आसमन्ताद् अनक्ति व्यक्तिक व्यक्तं करोति अव्यक्तं जगत् आञ्जनम् । तत्सम्बुद्धौ । हे यथावत् संसारस्य व्यक्तीकारक ब्रह्म (अमृतस्य) मोक्षस्य । परमानन्दस्य (त्वम्) (वेत्थ) विदो लटो वा।पा० ३।४। ८३ । इति थल् आदेशः । ज्ञाता भवसि(अथो) अपि च (जीव-भोजनम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—ल्युट् । जीवानां जीवतां प्राणिनां पालनम्

यस्याञ्जनं प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुषपरुः ।

ततो यक्ष्मं वि बाधसे उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

यस्य । आ-अञ्जित् । प्र-सर्पसि । अङ्गम्-अङ्गम् । परुः-परुः ।

ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधसे । उग्रः । मध्यमशीः-इव ॥ ४ ॥

भाष्यार्थ—(आञ्जन) हे संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म ! तू (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में और (परुषपरुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) व्याप जाता है, (ततः) उस पुरुष से (यक्ष्मम्) राजरोग को (विबाधसे) तू सर्वथा हटा देता है, (इव) जैसे (उग्रः) प्रबल (मध्यमशीः) बिचौलिया पुरुष ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पूर्ण भक्ति से परमात्मा को अपने रोम २ में व्यापक जानकर पुरुषार्थ करता है । परमात्मा उसके सब विघ्नों का नाश कर देता है, जैसे सदैव बड़े बड़े रोगों को, और नीति कुशल मध्यस्थ राजा आदि वादी और प्रतिवादी के टंटों को मिटा देता है ॥ ४ ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभि शोचनम् ।

नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा विभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

(हरितभेषजम्) दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति हृद् हरणे—इतन् । हरति सुखमिति हरितः । भेषं रोगं जयतीति भेषजम् । भेष + जि-ड । हरि-तस्य रोगजनितस्य पीतवर्णस्यौषधम् । तद्वद् उपकारकम् ॥

४—(यस्य) पुरुषस्य (आञ्जन) हे सम्यक् संसारस्य व्यक्तिकारक ब्रह्म (प्रसर्पसि) प्रकर्षेण व्याप्नोषि (अङ्गमङ्गम्) प्रत्येकमङ्गम् (परुषपरुः) अस्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । इति पृ पालनपूरणयोः—उसि । प्रत्येकपरुः । प्रत्येकग्रन्थिम् (ततः) तस्मात् पुरुषात् (वि बाधसे) विविधं निवारयसि (यक्ष्मम्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयम् (उग्रः) उद्गूर्णबलः । प्रबलः (मध्यमशीः) किप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मध्यम + शीङ्-किप् । मध्यदेशे शेते वर्तते सः । वादिप्रतिवादिनोर्वाक्यादिविषयविमर्शपूर्वकं तत्त्वनिर्णायकः । मध्यवर्त्ती । मध्यस्थः (इव) यथा ॥

न । ए॒नम् । म । आ॒प्नो॒ति । श॒पथः । न । कु॒त्या । न । अ॒भि-
शोच॑नम् । न । ए॒नम् । वि-स्क॑न्धम् । अ॒श्नु॒ते । यः । त्वा ।
विभ॑र्ति । आ-अ॒ञ्ज॒न ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) ननौ (ए॒नम्) इस [पुरुष] को (श॒पथः) क्रोध
वचन, (न) न (कु॒त्या) हिंसा क्रिया और (न) न (अ॒भि-
शो॒क (प्राप्नोति) पहुँचता है, और (न) न (ए॒नम्) इसको (वि॒स्क॑न्धम्)
विघ्न (अ॒श्नु॒ते) व्यापता है, (यः) जो [पुरुष] (आ॒ञ्ज॒न) हे संसार को
व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (त्वा) तुझको (विभ॑र्ति) धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा को आत्मा में स्थिर
करता है, उसको आध्यात्मिक शान्ति होने से आधिभौतिक और आधिदैविक
शान्ति भी मिलती है ॥ ५ ॥

अ॒स॒न्म॒न्त्राद् दु॒ष्व॒न्याद् दु॒ष्कृ॒ताच्छ॒र्म॒लाद् उ॒त ।

दु॒र्हा॒र्द॒श्चक्षु॑षो घो॒रात् तस्मा॑न् नः पा॒ह्याञ्ज॑न ॥ ६ ॥

अ॒स॒त्-म॒न्त्रात् । दुः-स्व॒प्न्यात् । दुः-कु॒तात् । श॒र्म॒लात् । उ॒त ।

दुः-हा॒र्दः । चक्षु॑षः । घो॒रात् । तस्मा॑त् । नः । पा॒हि । आ-
अ॒ञ्ज॒न ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आ॒ञ्ज॒न) हे संसारके व्यक्त करने वाले ब्रह्म! तू (अ॒स॒न्म॒-

५—(न) नहि (ए॒नम्) पुरुषम् (प्राप्नोति) गच्छति (श॒पथः) शीङ्
शपिरुगमि ० । उ० ३ । १३ । इति शप आक्रोशे-अथ । मिथ्यापवादः । उपद्रवः ।
क्रोधवचनम् (कु॒त्या) विभाषा कृवृषोः । पा० ३ । १ । १२० । इति कृप् हिंसा-
याम्—कृप्, तुक् टाप् च । हिंसाक्रिया (अ॒भि-
शो॒चनम्) शुच शोके-त्युट् ।
इष्टवियोगानुचिन्तनम् । चित्तविकलता (वि॒स्क॑न्धम्) अ० १ । १६ । ३ ।
विशेषेण शोषकः । विघ्नः (अ॒श्नु॒ते) व्याप्नोति (यः) आत्मा (त्वा) त्वाम्
(विभ॑र्ति) आत्मनि धारयति (आ॒ञ्ज॒न) म० ३ । हे जगतो व्यक्तीकारक
ब्रह्म ॥

६—(अ॒स॒न्म॒न्त्रात्) असत्+मन्त्रि गुप्तभाषणे-वध् । मन्त्रा मननात्—

न्त्रात्) असत्य भाषण से, (दुष्पन्थ्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुए कुविचार से, (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्म से, (शमलात्) अशुद्धता से (उत) और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (घोरात्) घोर वा भयानक (चक्षुषः) नेत्र से (तस्मात्) इस सब से (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सहाय से प्रयत्न करें कि वे कभी मिथ्या न बोलें, स्वप्न में बुरा विचार न करें, और दुष्कर्मों से बच कर शुद्ध आचरण रखें और नेत्र आदि इन्द्रियों से कुचेष्टा न करें ॥ ६ ॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।

सुनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

इदम् । विद्वान् । आ-अञ्जन । सत्यम् । वक्ष्यामि । न ।

अनृतम् । सुनेयम् । । अश्वम् । गाम् । अहम् । आत्मानम् ।

तव । पूरुष ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! तेरे (इदम्) परम पेश्वर्य को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (सत्यम्) सत्य (वक्ष्यामि) बोलूंगा, (अनृतम्) असत्य (न) नहीं । (पूरुष = पुरुष) हे सब के अगुआ पुरुष,

निरु० ७ । १२ । असत्यभाषणात् (दुष्पन्थ्यात्) दुःस्वप्न—यत् । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् (दुष्कृतात्) दुष्टकृतात् । पापात् (शमलात्) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शम उपशमे-कलप्रत्ययः । अशुद्धव्यवहारात् (उत) अपि च (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । हार्दयतेः किपि णिलोपे रूपम् । दुष्टहृदययुक्तात् (चक्षुषः) नेत्रात् (घोरात्) क्रूरात् (तस्मात्) उपयुक्तात् सर्वस्मात् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आञ्जन) म० ३ । हे जगतो व्यक्ती-कारक ब्रह्म ।

७—(इदम्) इन्द्रेः कमिञ्जलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्यं कमिन्, नलोपः । परमैश्वर्यम् । महाप्रभुताम् (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । विद्वाने—शत्रु । वसुरादेशः । जानन् (सत्यम्) यथार्थम् (वक्ष्यामि) वच-लृट् । वक्ष्यामि (न) नहि (अनृतम्) असत्यम् (सुनेयम्) षण सम्भक्तौ-लिट् ।

परमेश्वर ! (तव) तेरे [दिये हुये] (अश्वम्) घोड़े, (गाम्) गौ वा भूमि और (आत्मानम्) आत्मबल को (अहम्) मैं (सनेयम्) सेवन करूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा देखकर सदा सत्य ही बोले और पुरुषार्थ पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवे ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्थ ऋ० १०। ६७। ४ और यजु० १२। ७८ में इस प्रकार है ।

सुनेयुमश्वं गां वासं आत्मानं तव पूरुष ॥

हे पुरुष ! तेरे [दिये हुये] घोड़े, गौ वा भूमि वस्त्र और आत्मबल को सेवन करूँ ॥

त्रयो दासा आज्ञनस्य तुक्मा बलासु आदहिः ।

वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिकुक्नुनाम ते पिता ॥ ८ ॥

त्रयः । दासाः । आ-अज्ञनस्य । तुक्मा । बलासुः । आत् ।

अहिः । वर्षिष्ठः । पर्वतानाम् । त्रि-कुक्नु । नाम । ते । पिता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(तुक्मा) जीवन को कष्ट देने वाला ज्वर, (बलासः) बल का गिराने वाला संनिपात, कफादि रोग, (आत्) और (अहिः) जीवों को मारने वाला सांप, (त्रयः) यह तीनों (अज्ञनस्य) संसार के व्यक्त करने वाले

संभजेयम् (अश्वम्) हयम् (गाम्) धेनुं भूमिं वा (अहम्) उपासकः (आत्मानम्) अ० १। १८। ३। आत्मबलम् । पुरुषार्थम् (तव) तव प्रसादात् (पूरुष) म० २। छान्दसो दीर्घः । हे अग्रगामिन् परमात्मन् ॥

८—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः (दासाः) दंसेष्टनौ न आ च । उ० ५ । १० इति दसि दर्शने—ट । दंसयति पश्यतीति दासः । यद्वा । दास दाने—अच् । दासति ददाति आत्मानं स दासः । सेवकाः (आज्ञनस्य) म० ३। जगतो व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (तुक्मा) अ० १। २५। १। कृच्छ्रजीवनकारी ज्वरः (बलासः) बल + अमुक्ते पथे—अण् । बलमस्यति क्षिपतीति । श्लेष्मविकारः (आत्) अपि च (अहिः) अ० २। ५। ५। आहन्ता । सर्पः (वर्षिष्ठः) प्रियस्थिर० । पा० ६। ४। १५७। इति वृद्ध—इष्टन् । वर्षि इत्यादेशः । वृद्धतमः (पर्वतानाम्) म० १। पर्ववान् पर्वतः—निरु० १। २०। पर्ववतां लोकानाम् (त्रिकुक्नु) त्रि +

ब्रह्म के (दासाः) दास हैं । [हे आज्ञन, ईश्वर !] (वर्षिष्ठः) सब में बृद्ध, (पर्वतानाम्) अवयव वाले स्थूल लोकों का (पिता) पालन कर्ता, (त्रिककुत्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] सुखों का पहुँचाने वाला यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाला (ते) तेरा (नाम) नाम है ॥८॥

भावार्थ—ईश्वरीय नियम तोड़ने वाले मनुष्यों को परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से रोग आदि कष्ट देता है, और अपने आज्ञाकारियों को वह अत्यन्त सुख पहुँचाता है ॥ ८ ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतुस्परि ।

यातूश्च सर्वांन् जुम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

यत् । आ-अञ्जनम् । त्रैककुदम् । जातम् । हिम-वतः । परि ।

यातून् । च । सर्वांन् । जुम्भयत् । सर्वाः । च ॥ यातु-धान्यः ॥९॥

भाषार्थ—(यत्) सब का पूजनीय वा पदार्थों की संगति करने वाला, (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुँचाने वाले यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर, (जातम्) सब में

क+कुत् । कं सुखम्—निघ० ३ । ६ । कवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । कुङ् गतिशोषणयोः—क्रिप्, तुक् च । अन्तर्भाषितव्यर्थः, पृषोदरादित्वात् तस्य दः । आध्यात्मकादीनि त्रीणि कानि सुखानि कावयति गमयति स त्रिककुत् । यद्वा । मृगोरुतिः । ७० १ । ६४ । इति त्रि+ककि गतौ—उति, तस्य दः । त्रिषु लोकेषु कालेषु वा ककुद् गतिर्यस्य सः (नाम) संज्ञा (ते) तव (पिता) सर्वस्य पाता पालयिता वा ॥

८—(यत्) यजितनियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति यज देवपूज सङ्गतिकरणदानेषु—आदि, स च ङित् । यजनीयं पूजनीयम् । पदार्थानां सङ्गति-कारकम् (आज्ञनम्) म० ३ । लोकानां व्यक्तीकारकम् ब्रह्म (त्रैककुदम्) तस्येश्वरः । पा० ५ । १ । ४२ । इति बाहुलकात् त्रिककुद्—अण् । त्रिककुद्—इति व्याख्यातम् म० ८ । त्रिककुदम् आध्यात्मादित्रिप्रकारस्य सुखस्य प्राप-कर्ता, यद्वा, त्रिषु लोकेषु कालेषु गतिवतां मनुष्याणां ईश्वरम् (जातम्)

प्रसिद्ध, (हिमवतः) हिंसावाले कर्म से (परि) पृथक् वर्तमान, (आञ्जनम्) संसार का व्यक्त करने वाला ब्रह्म (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ा देने वाले दुष्टों (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः=०—नीः) पीड़ा देने वाली शत्रु सेनाओं को (च) भी (जम्भयत्) नाश करने वाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो पुरायात्मा पुरुष विद्या बल से सब प्रकार के सुखों को पहुंचाते, और तीनों द्वावापृथिवी और अन्तरिक्ष लोकों, और तीनों भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों के श्रुतान्त जानते हैं, वे परब्रह्म की छत्र छाया में रहकर सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।

उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जुन ॥ १० ॥

यदि । वा । असि । त्रैककुदम् । यदि । यामुनम् । उच्यसे ।

उभे इति । ते । भद्रे इति । नाम्नी इति । ताभ्याम् । नः ।

पाहि । आ-अञ्जुन ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यदि वा) चाहे तू (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुंचाने वाले, यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर (असि है, (यदि=यदि वा) चाहे तू (यामुनम्) यमों, नियन्ताओं, न्यायकारियों का हितकारी (उच्यसे) कहा जाता है, (उभे) दोनों (ते) तेरे (नाम्नी) नाम (भद्रे) कल्याण कारक हैं, (आञ्जन) हे

सर्वत्रप्रादुर्भूतम् (हिमवतः) हन्तेहि च । उ० १ । १४७ । इति हन हिंसागत्योः मक्, हिरादेशः । मतुप् । हिंसायुक्तात् कर्मणः (परि) वर्जने । पृथग् वर्तमानम् (यातून्) कृवापा० । उ० १ । १ । इति यत ताड़ने—उण् । पांडकान् राक्षसान् (सर्वान्) अशेषान् (जम्भयत्) नाशयद् वर्तते (सर्वाः) (च) (यातुधान्यः) अ० १ । २८ । २ । शसः स्थाने जस् । यातुधानीः । पीडादायिनीः शत्रुसेनाः ॥

१०—(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (त्रैककुदम्) व्याख्यातम् म० ६ (यदि) अथवा (यामुनम्) अज्जियमिश्रीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति यम नियमने—उनच् । यमयतीति यमुनः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् ।

संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (ताभ्याम्) उन दोनों से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम उत्तम गुणों का चिन्तन करके पुरुषार्थ के साथ दुष्कर्मों से बचकर सदा आनन्द भोगें ॥ १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१—७ ॥ शङ्खो देवता ॥ १-५ अनुष्टुप्, ६ पथ्या पङ्क्तिः, ७ पञ्चपदा त्रिष्टुप् ॥

विघ्ननिवारणायोपदेशः—विघ्नों के हटाने के लिये उपदेश ।

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्पतिः ।

स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशः पातृत्वंहंसः ॥ १ ॥

वतात् । जातः । अन्तरिक्षात् । वि-द्युतः । ज्योतिषः । पतिः ।

नः । हिरण्य-जाः । शङ्खः । कृशः । पातु । अंहंसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वातात्) पवन से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (विद्युतः) बिजुली से, और (ज्योतिषः) सूर्यसे (परि) ऊपर (जातः) प्रकट होने वाला (सः) दुःख नाशक ईश्वर (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (कृशः) सूक्ष्म रचना करने वाला, (शङ्खः) सबों का विवेचन करने वाला

यमुनेभ्यो यमेभ्यो न्यायकारिभ्यो हितम् (उच्यसे)^१ त्वं कथ्यसे (उभे) त्रैक-कुदं यामुनमिति (ते) तव (भद्रे) कल्याणकरे (नाम्नी) नामनी, संज्ञे (ताभ्याम्) नामभ्याम् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आङ्जन) म० ३ । हे संसारस्य व्यक्तीकारक, ब्रह्म ॥

१—(वातात्) अ० १ । ११ । ६ । वायुसकाशात् (जातः) प्रादुर्भूतः (अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३ । सर्वमध्ये दृश्यामानात् । आकाशात् (विद्युतः) भ्राजभासधुर्विद्यतोर्जि० । पा० ३ । २ । १७७ इति वि+द्युत दीप्तौ—किप् । विद्यातमानायाः । तडितः सकाशात् (ज्योतिषः) अ० १ । ६ । १ । दीप्यमानात् सूर्यात् (परि) अधि । उपरि भागे जातः । पञ्चम्याः पराध्वयर्थे । पा० ८ । ३ । ५१ । इति विसर्गनीयस्य सत्वम् (सः) षो अन्तर्कर्मणि—ड । दुःखनाशकः । विष्णुः । ईश्वरः (नः) अस्मान् (हिरण्यजाः) हिरण्यम् । अ० १ । ६ । २ । जन

वा देखने वाला, वा शान्ति देने वाला परमेश्वर (नः) हमको (अंहसः) रोग जनक दुष्कर्म से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के सब सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों का रचने वाला और हमारे गुप्त प्रकट कर्मों का देखने और विचारनेवाला है, उसका सदा ध्यान करके हम दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्म करते रहें ॥ १ ॥

यो अंग्रुतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।

शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

यः । अग्रुतः । रोचनानाम् । समुद्रात् । अधि । जज्ञिषे ।

शङ्खेन । हत्वा । रक्षांसि । अत्रिणः । वि । सहामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः=यः त्वम्) जो तू (रोचनानाम्) प्रकाशमान लोकों के (अग्रुतः) आगे और (समुद्रात्) जल समूह समुद्र से भी (अधि) ऊपर [देश-और काल में] (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, [उस तुझ] (शङ्खेन) सबों के विवेचन करनेवाले, वा देखने वाले, वा शान्ति देने वाले, परमेश्वर [के आश्रय]

सनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति जन जनने, वांजनो प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनो रनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ इति आत्वम् । हिरण्यानां तेजसां सूर्यादीनां सुवर्णादिधनानां च जनयिता (शङ्खः) शमेः खः । उ० १ । १०२ । इति शम आलोचने=विवेचने । यद्वा शमो दर्शने । यद्वा । शमु उपशमे, शान्तीकरणे—ख प्रत्ययः । सर्वेषां विवेचको विचारकर्ता दर्शको शान्तिदायको वा परमेश्वरः (कृशः) कृपवृजि० । उ० २ । ८१ । इति कृश तनूकरणे—कयु । कृशनं हिरण्य म—निघ० १ । २ । रूपमं—निघ० ३ । ७ । तनूकर्ता । सूक्ष्मरचयिता (पातु) रक्षतु (अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । ११३ । इति अम रोगे गतौ च—असुन् हुक् च । पापात् ॥

२—(यः) हे शङ्ख यस्त्वम् (अग्रुतः) अग्रे । आदौ (रोचनानाम्) अनुदा-त्तेश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४६ । इति रुच दीप्तौ—युच् । प्रकाशमानानां नक्षत्रादीनाम् (समुद्रात्) जलसमूहात् (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) जनी-लिट् । त्वं प्रादुर्बभूविथ (शङ्खेन) म० १ । सर्वेषां विवेचकेन दर्शकेन शा-

से (रक्षांसि) जिन से रक्षा की जावे उन राक्षसों को (हत्वा) मारकर (अत्रि-
णः) पेढार्थियों को (वि) विविध प्रकार से (सहामहे) हम दबाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वदा सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर की महिमा और
उपकारों के विचारकर, हम लोग कुव्यवहार से बचकर पुरुषार्थ के साथ आन-
न्द भोगें ॥ २ ॥

शृङ्गेनामीवाममतिं शृङ्गेनीत सुदान्वाः ।

शृङ्गे नो विश्वभेषजः कृशनः पातृवंहसः ॥ ३ ॥

शृङ्गे न । अमीवाम् । अमतिम् । शृङ्गे न । उत । सुदान्वाः ।

शृङ्गः । नुः । विश्व-भेषजः । कृशनः । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शृङ्गेन) सबों के विचार करने वाले परमेश्वर से (अमी-
वाम्) अपनी पीड़ा और (अमतिम्) कुमति का (उत) और भी (सृङ्गेन)
सबों के देखने वाले परमेश्वर से (सुदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, यद्वा,
दानवाँ, दुष्टों के साथ रहने वाली निर्धनता आदि विपत्तियों का [विषहामहे
म० २] [हम दबाते हैं म० २] । (शृङ्गः) शान्ति देने वाला, (विश्वभेषजः)
सब भय का जीतने वाला, (कृशनः) सूक्ष्म रचना करने वाला परमात्मा (नः)
हम को (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर के सर्वोपकारक गुणों को विचारता हुआ
प्रयत्न करके दुष्कर्मों से अपनी रक्षा करे ॥ ३ ॥

न्तिदायकेन वा परमेश्वरेण (हत्वा) नाशयित्वा (रक्षांसि) अ० १॥ २१ । ३ ।
राक्षसान् । शत्रून् (अत्रिणः) अ० १ । ७ । ३ । अद भक्षणे-त्रिणि । भक्षण-
शीलान् । उदरपोषकान् (वि) विशेषेण (सहामहे) अभिभवामः ॥

३—(शृङ्गेन) म० १ तथा २ (अमीवाम्) इण्शीभ्यां षन् । उ० १ । १५२ ।
इति अम रोगे-षन् । ईडागमः । टाप् । पीडाम् । रोगम् (अमतिम्) कुमतिम् ।
अज्ञानम् (उत) अपि च (सुदान्वाः) अ० २ । १४ । १ । सदा नोनूयमानाः
शब्दायमानाः । यद्वा । सदानवाः, दानवैः सह वर्तमाना दरिद्रतादिविपत्तीः, “विष-
हामहे”—इत्यनुषज्यते—मा० २ (शृङ्गः) म० १ । (नः) अस्मान् (विश्वभेषजः)
अ० २ । ४ । ३ । सर्वभयजेता । सबौषधः (कृशनः पातु अंहसः) व्याख्यातं
म० ॥ १ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतरपर्याभूतः ।

स नो हिरण्यजाः शुद्ध आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

दिवि । जातः । समुद्र-जः । सिन्धुतः । परि । आ-भूतः । सः ।

नः । हिरण्य-जाः । शुद्धः । आयुः-प्रतरणः । मणिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दिवि) सूर्य मण्डल में (जातः) प्रकट, (समुद्रजः) अन्तरिक्ष में प्रकट, (सिन्धुतः) पार्थिव समुद्र से (परि) ऊपर (आभूतः) सर्वथा पुष्टि को प्राप्त, (सः) दुःखनाशक, (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (शुद्धः) शान्तिकारक, (मणिः) प्रशंसा योग्य परमेश्वर (नः) हमारा (आयुष्प्रतरणः) जीवन बढ़ाने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब के ऊपर, नीचे, मध्य में विराजमान होकर अपनी न्याय व्यवस्था से हमारे उत्तम कर्मों के अनुसार हमें उत्तम फल देता है ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकुरः ।

सो अस्मान्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

समुद्रात् । जातः । मणिः । वृत्रात् । जातः । दिवा-कुरः । सः ।

अस्मान् । सर्वतः । पातु । हेत्याः । देव-असुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वृत्रात्) ढकने वाले मेघ से (जातः) प्रकट हुये (दिवाकुरः)

४—(दिवि) ध्रुलोके । सूर्यमण्डले (जातः) प्रादुर्भूतः । वर्तमानः (समुद्रजः) सप्तम्यां जनेर्दः । पा० ३ । २ । ६७ । इति इप्रत्ययः । अन्तरिक्षे प्रत्यक्षः (सिन्धुतः) पार्थिवजलौघात् (परि) म० १ । अधि । उपरि (आभूतः) समन्तात् पुष्टिं प्राप्तः (सः) म० १ । दुःखनाशक ईश्वरः (नः) अस्माकम् । अस्मभ्यम् (हिरण्यजाः) म० १ । तेजसां जनयिता (शुद्धः) म० १ । शान्तिकारकः (आयुष्प्रतरणः) आयुषो जीवनस्य प्रवर्धयिता (मणिः) अ० १ । २६ । १ । रत्नम् । प्रशंसनीयः परमेश्वरः ॥

५—(समुद्रात्) अन्तरिक्षात् । अन्तरिक्षस्थलोकजातात् (जातः) प्रादु-

सूर्य [के समान] (समुद्रात्) अन्तरिक्ष से (जातः) प्रकट हुआ. (मणिः) प्रशंसा योग्य (सः) दुःखनाशक, विष्णु (अस्मान्) हम को (सर्वतः) सब ओर से (हेत्या) अपने वज्र द्वारा (देवासुरेभ्यः) देवताओं के गिराने वाले शत्रुओं से (पातु) बचावे ॥५॥

भावार्थ—जैसे सूर्य मेघ मंडल से निकल कर देदीप्यमान होता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तरिक्षस्थ प्रत्येक पदार्थ से विज्ञानियों को प्रकाशमान दीखता है। वह जगदीश्वर दुष्टों को दंड और शिष्टों को आनन्द देता है ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे । रथे
त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचुनस्त्वं प्रण आयूषि
तारिषत् ॥ ६ ॥

हिरण्यानाम् । एकः । असि । सोमात् । त्वम् । अधि ।
जज्ञिषे । रथे । त्वम् । असि । दर्शतः । इषु-धौ । रोचुनः ।
त्वम् । प्र । नुः । आयूषि । तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यानाम्) सूर्यादि तेजों के बीच तू (एकः) एक (असि) है, (त्वम्) तू (सोमात्) सूर्य लोक से (अधि) ऊपर (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, (त्वम्) तू (रथे) रथ में (दर्शतः) दृश्यमान और (त्वम्)

भूतः । ज्ञातः (मणिः) म० ४ । प्रशंसनीयः परमेश्वरः (वृत्रात्) अ० २ । ५ ।
३ । आवरकाद् मेघात् (दिवाकरः) दिवाधिभानिशा० । पा० ३ । २ । २१ । इति
दिवा + कृञ् करणे—ट । दिवा दिनं करोतीति । सूर्यः । लुप्तोपममेतत् । तद्वत्
प्रभानिशययुक्तः परमेश्वरः (सः) म० १ । दुःखनाशक ईश्वरः (अस्मान्)
वेदानुगामिनः पुरुषान् (सर्वतः) सर्वस्मादुपद्रवात् (पातु) रक्षतु (हेत्या)
अ० १ । १३ । ३ । वज्रण—निघ० ३ । २० (देवासुरेभ्यः) असेरुन । उ० १ ।
४२ । इति अमु क्षेपणे—उरन् । अस्याति क्षिपति देवान् सोऽसुरः । देवानां
धर्मात्मनाम् असुरेभ्यः क्षेपकेभ्यः सकाशात् ॥

६—(हिरण्यानाम्) अन्धकारहरणशीलानां सूर्यादितेजसां मध्ये (एकः)
अद्वितीयः (असि) (सोमात्) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु० १४ । १२ ।

तू (इषुधौ) तूणीर में (रोचनः) प्रकाशमान (अस्ति) है । [आप] (नः) हमारे (आयूषि) जीवनो को (प्रतारिषत्) बढ़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्यादि लोकों से काल और विस्तार में बड़ा है, वही रथारूढ़ और वाणधारी शूर को रणक्षेत्र में बल देता है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम अपना जीवन धार्मिक बनाकर आनन्द भोगें ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशानं बभूव तदात्मन्वच्चरत्युत्स्व॑न्तः ।
तत् ते बध्नाम्यायु॑षे वर्च॑से बला॑य दीर्घायु॑त्वाय॑ शुत-
शारदा॑य काशु॑नस्त्वाभि रक्ष॑तु ॥ ७ ॥

देवानाम् । अस्थि॑ । कृशान॑म् । बभूव॑ । तत् । आत्मन्-वत् ।
चरति॑ । अप्-सु । अन्तः । तत् । ते । बध्ना॑मि । आयु॑षे । वर्च॑से
बला॑य । दीर्घायु॑-त्वाय॑ । शुत-शारदा॑य । काशु॑नः । त्वा ।
अभि । रक्ष॑तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कृशानम्) सूक्ष्म रचना करने वाला ब्रह्म (देवानाम्) दिव्य गुणों और प्रकाशमान पदार्थों का (अस्थि) प्रकाशक (बभूव) हुआ था ।

सूर्यलोकात् (त्वम्) (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) प्रादुर्बभू-
विथ (रथे) हनिकुपिनीरमिकाशभ्यः कथन् । उ० २ । २ । इति रमु क्रीडने
कथन् । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिन्-
स्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु० ६।११। रमणीये याने । रथारूढे, इत्यर्थः
(त्वम् अस्ति) (दर्शतः) भृशदृशि० । उ० ३ । ११० । इति दृशिर् प्रेक्षणे—
अतच् । दृश्यमानः (इषुधौ) अ० ३ । २३ । । वाणाधारे । तूणीरे (रोचनः)
रोचमानः । दीप्यमानः (नः) अस्माकम् (आयूषि) जीवनानि (प्रतारिषत्)
अ० २ । ४ । ६ । लेटि रूपम् । प्रवर्धयेत् , भवान् इति शेषः ॥

७—(देवानाम्) दिव्यगुणानां प्रकाशमानानां पदार्थानां च (अस्थि)
असिस्त्रिभ्यां विथन् । उ० ३ । १५४ । इति अस्तु लोपे, यद्वा । अस्त गतिदीप्यादा-
नविद्यामानतासु—विथन् । प्रदीपकं प्रकाशकम् (कृशानम्) अ० १ । सूक्ष्मकारकं

(तत्) विस्तृत ब्रह्म (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर [ठहरें हुये] (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत् में (चरित) विचरता है । [हे प्राणी !] (तत्) उस ब्रह्म को (ते) तेरे (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) तेज वा यश के लिये (बलाय) बल के लिये, और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये [अन्तः करण के भीतर] (बभ्रामि) मैं बांधता हूं । (कार्शनः) अनेक सुवर्णदि धनों और तेजों वाला परमेश्वर (त्वा) तुझको (अभि) सब प्रकार (रक्षतु) पाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—विश्वकर्मा ब्रह्म ने बुद्धि आदि गुण और मनुष्य शरीर आदि विव्य पदार्थ रचे हैं, वही सब में रमकर जीवन शक्ति दे रहा है, उसी को मनुष्य हृदय में धारण करके पुरुषार्थ के साथ यशस्वी होकर आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

इति द्वतीयोऽनुवाकः ।



ब्रह्म (तत्) विस्तृतम् ब्रह्म (आत्मन्वत्) आत्मन्—मनुष्य । मादुपधायाश्च० । पा० ८ । २ । ६ । इति वत्वम् । अनो नुट् । पा० ८ । २ । १६ । इति नुट् । सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् । (चरति) गुच्छति व्याप्नोति (अप्सु) अन्तरिक्षे—निघ० १ । ३ । (तत् ते.....शतशारदाय) व्याख्यातम्—अ० १ । ३५ । १ । (तत्) प्रसिद्धम् (ते) तव (बभ्रामि) धारयामि (आयुषे) आयुष्य । लाभाय (वर्चसे) तेजसे । यशसे (बलाय) पराक्रमाय (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) शतशरदृतुयुक्ताय । शतसंवत्सरयुक्ताय (कार्शनः) कुशनः—मा० १ । कुशनं हिरण्यम्—निघ० १ । २ । रूपम्—निघ० ३ । ७ । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति कुशन—अण् । कुशनानि हिरण्यानि सुवर्णादिधनानि तेजांसि च यस्य स कार्शनः (त्वा) प्राणिनम् (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पालयतु ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१-१२ ॥ अनड्वान् देवता ॥ १-६ त्रिष्टुप्, ७ षट्पदा त्रिष्टुप्,)

८-१२ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्या पुरुषार्थश्चोपदिश्येते । ब्रह्म विद्या और पुरुषार्थ का उपदेश ॥

अनुड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व-
१ न्तरिक्षम् । अनुड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनु-
ड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनुड्वान् दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अनुड्वान् दा-
धार । उरु । अन्तरिक्षम् । अनुड्वान् दाधार । प्र-दिशः ।
षट् । उर्वीः । अनुड्वान् विश्वम् । भुवनम् । आ । विवेश ॥१॥

भाषार्थ—(अनड्वान्) प्राण जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (पृथिवीम्)
पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया था । (अनड्व-
वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्)
मध्य लोक वा आकाश को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण
और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (षट्) पूर्वादि, नीचे और ऊपकरी
छह (उर्वीः) चौड़ी (प्रदिशः) महादिशाओं को (दाधार) धारण किया था ।
(अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (विश्वं भुवनम्)
सब जगत् में (आ विवेश) सब प्रकार प्रवेश किया था ॥ १ ॥

१—(अनड्वान्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति अन प्राणने-
असुन् । अनो वायुरनितेरपि वोपमार्थं स्यादन्तस इव शकटादिव, अनः शकटमान-
डमस्मिंश्चीवरमनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण उपजीवत्येनन्मेघोऽप्यन एतस्मादे-
व—निरु० ११ । ४७ । अनः प्राणं जीवनं वायुं मेघं शकटं वहति वा गमयतीति
विग्रहे । क्विप् ख । पा० ३ । २ । ७६ । इति अनसि वहेः क्विप् अनसो डश्च ।

भावार्थ—पुनरुक्ति निश्चय द्योतक है, अर्थात् एक परमात्मा ही सब जीवन साधन देकर सब पदार्थों को रचता है। सब मनुष्य भक्ति पूर्वक उसकी अपार महिमा को विचार कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्चक्रो त्रिभि-
मीते अध्वनः । भुतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा
देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अनड्वान् । इन्द्रः । सः । पशु-भ्यः । वि । चष्टे । त्रयान् ।
शक्रः । वि । त्रिमीते । अध्वनः । भुतम् । भविष्यत् । भुवना ।
दुहानः । सर्वा । देवानाम् । चरति । व्रतानि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर (पशुभ्यः) व्यक्त वाग्मी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों के लिये (वि) विविध प्रकार से (चष्टे) देखता है (शक्रः) वह समर्थ परमात्मा (त्रयान्) तीन अवयव [भूमि सूर्य और अन्तरिक्ष] वाले

वचिस्वपियजादीनां किति । पा० ६ । १ । १५ । इति यजादित्वान् संप्रसारणम् । अनडुहस् इति स्थते । आमुमुसुलोपेषु कृतेषु संयोगान्तलोपेन हकारलोपः । अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः प्रापकः परमेश्वरः (दाधार) तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम् । धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (प्रदिशः) महादिशः (षट्) प्राक्यादिनीचेष्टषट् संख्याकाः (उर्वी) विस्तीर्णाः (विश्वं भुवनम्) सर्वं जगत् (आ विवेश) सर्वतः प्रविष्टवान् ॥

२—(अनड्वान्) म० १ । अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (सः) प्रसिद्धः (पशुभ्यः) अ० २ । २६ । १ । व्यक्तवाग्भ्योऽव्यक्त-वाग्भ्यो जीवेभ्यः—निघ० ११।२६ । तेषां हिताय (वि) विविधम् (चष्टे) चक्षिङ् व्यकायां वाचि दर्शने च । चष्टे पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । परयति कथयति वा (त्रयान्) संख्याया अथवा तयप् । पा० ५ । २ । ४२ । इति तयप् । द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । पा० ५।२।४३ । इति तयस्य अयच् । अव्ययवान् (शक्रः)

(अध्वनः) मार्गों का (वि) विशेष करके (मिमीते) नापता है । (भूतम्) भूत, (भविष्यत्) भविष्यत् और (भुवना = ० - नि) लोकों वा वर्तमान वस्तुओं का (दुहानः) परिपूर्ण करता हुआ वह (देवानाम्) इन्द्रियों के (सर्वा व्रतानि) सब कामों का (चरति) सिद्ध करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के कर्मों का साक्षी होकर तीनों लोकों और तीनों कालों की सुधि रखता, और देखना आदि सब काम करता है ॥ २ ॥

इन्द्रो^१ जातो मनुष्येष्वन्तर्धुर्मस्तुप्तश्चरति शोशु^२ चानः ।
सुप्रजाः सन्तस उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनुदु-
हो विजानन् ॥ ३ ॥

इन्द्रः^१ । जातः । मनुष्येषु । अन्तः । धर्मः । तप्तः । चरति । शोशु-
चानः । सु-प्रजाः । सन् । सः । उद्-आरे । न । सर्षत् । यः । न ।
अश्नीयात् । अनुदुहः^२ । वि-जानन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तप्तः) तपते हुये (धर्मः) सूर्य के समान (शोशुचानः) अत्यन्त प्रकाशमान (इन्द्रः) परमेश्वर (मनुष्येषु अन्तः) मननशील मनुष्यों के भीतर (जातः) प्रकट होकर (चरति) विचरता है । (यः) जो पुरुष शक्तः समर्थः (वि) विशेषे ॥ (मिमीते) माङ्गमाने शब्दे च । भृजामित् । पा० ७ । ४ । ७६ । इत्यभ्यासस्य इत्वम् । परिमितान् करोति (अध्वनः) अ० १ । ४ । १ । मार्गान् (भूतम्) गतम् (भविष्यत्) अनागतम् (भुवना) भुवनानि । लोकान् वर्तमानानि वस्तूनि वा (दुहानः) दुह प्रपूरणे—शानेच् । प्रपूरयन् (सर्वा) सर्वाणि (देवानाम्) इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते—निघ० १३ । ११ । इन्द्रियाणाम् (व्रतानि) कर्माणि (चरति) करोति ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (मनुष्येषु) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलेषु (अन्तः) मध्ये (धर्मः) अ० ४ । १ । २ । दीप्यमानः । घृणिः सूर्य इव । धर्मः, अहर्नाम—निघ० १ । ६ (तप्तः) तापयुक्तः (चरति) संचरति । वर्तते (शोशुचानः) शुच दाप्तौ यङ्गन्तात् शानच् । देदीप्यमानः (सुप्रजाः) उत्तमान् पुत्रपौत्रभृत्यादीन् (सन्) अस भुवि—शतृ । विद्यमानः पुरुषः (सः)

(अनडुहः) प्राण और जीविका पहुँचाने वाले परमेश्वर का (न विजानन्) विज्ञान न रखता हुआ (अशनीयात्) भोजन करे, (सः) वह (सन्) विद्यमान पुरुष (उदारे) बड़े पद पर वर्तमान (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा गणों को (न सर्पत्) न पावे ॥ ३ ॥

भावावर्त—परमात्मा मनुष्यादि प्राणियों में निःसन्देह प्रकाशमान है। जो अज्ञानी पुरुष उसकी महिमा को नहीं जानता, वह दुष्ट आप, और उसके साथी प्रजा गण महा दुःख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनुड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् । पर्जन्ये धारामरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अनुड्वान् । दुहे सु-कृतस्य । लोके । आ । एनम् । प्याययति । पवमानः । पुरस्तात् । पर्जन्यः । धाराः । मरुतः । ऊधः । अस्य । यज्ञः । पयः । दक्षिणा । दोहः । अस्य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अनुड्वान्) प्राण वा जीविका पहुँचाने वाला परमेश्वर (सुकृतस्य) पुण्य के (लोके) स्थान में (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है, (पवमानः) शुद्ध करने वाला परमात्मा (पुरस्तात्) पहिले से ही (एनम्) इस

(उदारे) उत्+आङ्+रा दानादानयोः—क । यद्वा । उत्+ञ् गतिप्रापणयोः घञ् । महति पदे । 'उदारो दातृमहतोः, इत्यमरः—२३ । १६२ (न) नहि (सर्पत्) सृ गतौ लेटि अडागमः, सिप् च । प्रप्नुयात् (यः) पुरुषः (न) नहि (अशनीयात्) अश भोजने—विधिलिङ् । भक्षयेत् (अनडुहः) म० १ । प्राणस्य जीवनस्य च वाहकस्य परमेश्वरस्य (विजानन्) विशेषेण ज्ञानं प्राप्नुवन् ॥

४—(अनुड्वान्) म० १ । प्राणस्य जीवनस्य वा प्रापकः परमेश्वरः (दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । दुग्धे । इष्ट प्रपूरयति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोके) लोक दर्शने—घञ् । भुवने । गृहे (एनम्) इमं जीवं संसारं वा (आ प्याययति) प्रवर्धयति, (पवमानः) अ० ३ । ३१ । २ । संशोधकः परमेश्वरः (पुरस्तात्) अग्रतः । सृष्ट्यादौ (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ ।

[जीव] को (आ प्याययति) सब प्रकार बढ़ाता है । (अस्य) इस [पर-
मेश्वर] की (धाराः) धारण शक्तियां (पर्जन्यः) मेघ [के समान] हैं, और
(ऊधः) वहन वा लेंचलने का सामर्थ्य (मरुतः) पवन [के समान] है,
(अस्य) इसकी (यज्ञः) संगति क्रिया (पयः) दूध [के समान] है, और
(दक्षिणा) दान शक्ति (दोहः) दोहनी [के समान] है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वह जगदीश्वर पुण्यात्माओं की इच्छा पूर्ण करता है, और
सृष्टि की आदि में वेद देकर सब की वृद्धि करता है और जैसे मेघ, वायु आदि
पदार्थ उपकारी हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा मेघ, पवन आदिकों का धारण
करने वाला आदिमूल है ॥ ४ ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रति-
ग्रहीता । यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मने
ब्रूत यत्तमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥

यस्य । न । ईशे । यज्ञ-पतिः । न । यज्ञः । न । अस्य । दाता ।
ईशे । न । प्रति-ग्रहीता । यः । विश्व-जित् । विश्व-भृत् ।
विश्व-कर्मा । घर्मन् । नः । ब्रूत । यत्तमः । चतुः-पात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) न तौ (यज्ञपतिः) संगतिकर्ता पुरुष, और (न) न

मेघ इव (धारा) धृ धारणे णिच्-अङ्, टाप् । धार्यते यथा । धारण-
शक्तयः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुरिव (ऊधः) श्वेः सम्प्रसारणं च ।
उ० ४ । १६३ । इति वह-असुन् । धातोः सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्ता-
देशः । वहनसामर्थ्यम् (अस्य) अनडुहः परमेश्वरस्य (यज्ञः) संगतिकर-
णम् (पयः) दुग्धमिव (दक्षिणा) दुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष
वृद्धिशैप्रयोः—इनन् । टाप् । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः, दक्षिणो हस्तो
दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वास्याद् दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । दानशक्तिः
(दोहः) दुह प्रपूरणे—घञ् । दोहनपात्रमिव ॥

५—(यस्य) घर्मस्य । अभीगर्थदयेशं कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति

(यज्ञः) संगतिकर्म (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (ईशे = ईष्टे) ईश्वर है, (न) नतौ (दाता) दाता, (न) न (प्रतिग्रहीता) ग्रहणकर्ता (अस्य) इस का (ईशे) ईश्वर है, (यः) जो (विश्वजित्) सब का जीतने वाला, (विश्वभृत्) सब का पोषण करने वाला, (विश्वकर्मा) सब काम करने वाला, और (यतमः) जौन सा (चतुष्पात्) चारो दिशाओं में स्थिति वा गति वाला है, (धर्मम्) उस प्रकाशमान सूर्यसदृश परमात्मा को (नः) हमें, [हे ऋषियो !] (ब्रूत) बताओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा को शासक कोई अन्य नहीं है, वह सर्वशक्तिमान् सर्वरक्षक, सर्वव्यापक प्रकाश स्वरूप है। उसकी उपासना और अन्वेषणा से सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

येन' देवाः स्वराः रुहुर्हि त्वा शरीरमुमृतस्य नाभिम् । तेन
गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः ॥६॥
येन' । देवाः । स्वः । आ-रु-रुहुः । हित्वा । शरीरम् । अमृ-
तस्य । नाभिम् । तेन' । गेष्म । सु-कृतस्य । लोकम् । धर्मस्य ।
व्रतेन' । तपसा । यशस्यवः ॥ ६ ॥

कर्मणि षष्ठी (न) नहि (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । ईष्टे । शासिता भवति (यज्ञपतिः) यजमानः सङ्गतिकर्ता (यज्ञः) संगतिक्रिया (दाता) दानशीलः (प्रतिग्रहीता) दानस्य स्वीकर्ता (यः) अनङ्वान् । धर्मः (विश्वजित्) विश्वस्य जेता (विश्वभृत्) सर्वस्य भर्ता पोषयिता वा (विश्वकर्मा) विश्वं सर्वं कर्म कर्तव्यं व्यापारो यस्य । सर्वव्यापारकर्ता (धर्मम्) म० ३ । तं दीप्यमानम् । आदित्यरूपं । अनङ्वाहं परमात्मानम् (नः) अस्माभ्यम् (ब्रूत) कथयत । उपदिशत (यतमः) वा बहूनां जातिपरिग्रहे डतमच् । पा० ५ । ३ । ६३ । इति यत्—डतमच् । बहूनां मध्ये निर्द्धारित एकः । एषां मध्ये यः (चतुष्पात्) पद स्थैर्ये, गतौ च—घञ् । इति पादः । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । ४ । १४० । इति बहुव्रीहेः पादान्तस्य लोपः । चतसृषु दिक्षु पादः स्थितिर्गतिर्वा यस्य सः ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [परमात्मा] के द्वारा (देवाः) व्यवहार कुशल पुरुष (शरीरम्) नाशमान शरीर [देह अभिमान] (हित्वा) छोड़ कर (अमृतस्य) अमरपन के (नाभिम्) केन्द्र (स्वः) स्वर्ग को (आरुढुः) चढ़े थे । (तेन) उसी [ईश्वर] के सहारे से (यशस्यवः) यश चाहने वाले हम लोग (धर्मस्य) दीप्यमान सूर्य के [समान] (व्रतेन) कर्म और (तपसा) सामर्थ्य से (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक [परमात्मा] को (ग्रेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज महात्मा परमात्मा की भक्ति से मोक्ष सुख पाकर अमर अर्थात् कीर्तिमान हुये हैं, उसी प्रकार हम परमेश्वर की आज्ञा पाल कर संसार में उपकार करके यशस्वी होंगे, जैसे सूर्य अपने तेज से वृष्टि दान और आकर्षण आदि करके लोक का उपकार करता है ॥ ६ ॥

इन्द्रो' रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानुदुह्यक्रमत ।
सोऽदृयत सोऽधारयत ॥ ७ ॥

इन्द्रः । रूपेण । अग्निः । वहैन । प्रजा-पतिः । परमे-स्थी ।
वि-राट् । विश्वानरे । अक्रमत । वैश्वानरे । अक्रमत ।
अनुदुहि । अक्रमत । सः । अदृयत । सः । आधारयत ॥७

ई—(येन) अनडुहा । परमेश्वरेण (देवाः) व्यवहारिणः पुरुषाः (स्वः) अ० २ । ५ । २ । स्वर्गम् । देवालयम् (आरुढुः) आरुढवन्तः (हित्वा) ओहाकृत्यागे—कृत्वा । त्यक्त्वा । (शरीरम्) अ० २ । १२ । ८ । शीर्यमाणं देहम् । देहाभिमानमित्यर्थः (अमृतस्य) अमरणस्य । मोक्षसुखस्य (नाभिम्) अ० १ । १३ । ३ । मध्यस्थानम् । केन्द्रम् (तेन) अनडुहा (ग्रेष्म) गेषु अन्विच्छायाम्-लोष्टि छान्दसं रूपम् । गोषामहै । अन्विच्छाम । अन्वेषणेन प्राप्नवाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) गृहम् (धर्मस्य) म० ३ । प्रकाशमानस्य । आदित्यस्य (व्रतेन) धरणीयेन कर्मणा (तपसा) पेश्वर्येण (यशस्यवः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति यशस्—क्यच् । क्वाच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उपत्ययः । यशः कीर्तिमात्मन इच्छन्तः ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) उत्पन्न पदार्थों का रक्षक, (परमेष्ठी) ऊंचे स्थान पर ठहरने वाला, (विराट्) विशेष प्रकाशमान, (अग्निः) व्यापक वा अग्निरूप (इन्द्रः) सूर्य (रूपेण) अपने रूप से और (वहेन) चलाने के सामर्थ्य से (विश्वानरे) सब के नायक परमात्मा में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ, (वैश्वानरे) सब नायकों के हित कारी परमेश्वर में (अक्रमत्) प्राप्त हुआ, (अनडुहि) जीवन पहुंचाने वाले जगदीश्वर में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ है, (सः) उस [जगदीश्वर] ने [सूर्य को] (अदहयत) दह किया और (सः) उसने ही (अधारयत) धारण किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्य अर्थात् सूर्य आदि बड़े बड़े लोक अपने आकर्षण आदि शक्तियों के साथ सर्वनियन्ता जगदीश्वर में स्थित हैं, वही उनका धारण पोषण करता है। उसीकी उपासना हम सदा करें ॥ ७ ॥

मध्यमे तदनुडुहो यत्रैष वह आहितः ।

एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् सुमाहितः ॥ ८ ॥

मध्यम् । एतत् । अनुडुहः । यत्र । एषः । वहः । आ-हितः ।

एतावत् । अस्य । प्राचीनम् । यावान् । प्रत्यङ् । सुम्-आहितः ॥ ८

भाषार्थ—(अनडुहः) जीविका पहुंचाने वाले परमात्मा का (एतत्)

७—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्यः (रूपेण) तेजसा (अग्निः) व्यापकः । अग्निरूपः (वहेन) वहनसामर्थ्येन । आकर्षणेन (प्रजापतिः) प्रजानां प्रजातानां पदार्थानां पालकः (परमेष्ठी) अ० १।७।२ । परमे प्रधानस्थाने स्थितः (विराट्) राज्ञो दीप्तौ—किप् विशेषेण दीप्यमानः (विश्वानरे) विश्व + न्द नीतौ—अच् । नरे संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । १२६ । इति दीर्घः । सर्वनायके परमेश्वरे (अक्रमत) अक्रामत संक्रान्तवान् प्राप्तवान् (वैश्वानरे) अ० १ । १० । ४ । विश्वनरेभ्यः सर्वनायकेभ्यो हिते परमात्मनि (अनडुहि) म० १ । जीवनप्रापके परमेश्वरे (सः) अनड्वान् (अदहयत) दहमकरोत् (अधारयत) धृतवान् ॥

८—(मध्यम्) अ० १ ! ३३ । २ । द्वयोरन्तरालम् । गोलस्य मध्यस्थानम्

यह [स्थान वा काल] (मध्यम्) मध्य है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) [आकर्षित] भार (आहितः) धरा हुआ है । (अस्य) सर्वव्यापक वा सर्वरक्षक विष्णु का (एतावत्) उतना ही (प्राचीनम्) प्राचीन काल वा देश है, (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) आगामी काल वा देश (समाहितः) सिद्ध है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की सर्व व्यापकता और नित्यता को विचार कर मनुष्य सावधानी से प्रयत्न करता रहै ॥

यो वेदानुद्बुहो दोहान् सुप्तानुपदस्वतः ।

प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥९॥

यः । वेद । अनुद्बुहः । दोहान् । सुप्त । अनुप-दस्वतः । प्र-जाम् । च । लोकम् । च । आप्नोति । तथा । सप्त-ऋषयः । विदुः ॥९॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (अनुद्बुहः) जीवन पहुँचाने वाले परमेश्वर के (दोहान्) पूर्ति के प्रवाहों को (सप्त) नित्य संबन्ध वाले और (अनुप-दस्वतः) अक्षय (वेद) जानता है, वह (प्रजाम्) प्रजा (च) और (लोकम्) लोक (च) भी (आप्नोति) पाता है, (तथा) ऐसा (सप्तऋषयः) सात व्यापन शील वा दर्शनशील, [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आँख और मुख यह सात छिद्र] (विदुः) जानते हैं [प्रत्यक्ष करते हैं] ॥ ९ ॥

(एतत्) दृश्यमानं सर्वम् (अनुद्बुहः) म० १ । जीवनप्रापकस्य परमेश्वरस्य (यत्र) यस्मिन् स्थाने (एषः) अयम् (वहः) वहनीयः पदार्थो भारो वा (आहितः) धा—क्त । स्थापितः (एतावत्) एतत्परिमाणयुक्तम् (अस्य) अतति सर्वं व्याप्नोतीति अः । अत सातत्यगमने—ड । यद्वा अवति रक्षतीति अव-रक्षणे ड । अः विष्णुः । सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा परमेश्वरस्य (प्राची-नम्) विभाषाञ्चतेरदिक्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे क्तः । कस्य ईनादेशः । प्राक् पूर्वः कालो देशो वा (यावान्) यत्परिमाणवान् (प्रत्यङ्) प्रति + अन्बु—किन् । पश्चिमकालः । पश्चिमदेशः (समाहितः) निष्पन्नः ॥

ट—(यः) यः पुरुषः (वेद) वेत्ति (अनुद्बुहः) म० १ । प्राणप्रापकस्य (दोहान्) म० ४ पूर्तिप्रवाहान् (सप्त) सप्तश्लेषां तुट् च । उ० १ । १५७ ।

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष जीवनदाता परमेश्वर के सर्वव्यापी और अनन्त कोश को अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा साक्षात् करके अपना आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥

पुद्भिः सेदिमवक्रामुन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ॥

अमेणानुङ्वान् कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः ॥ १० ॥

पुत्र-भिः । सेदिम् । अव-क्रामन् । हराम् । जङ्घाभिः । उत्-
खिदन् । अमेण । अनुङ्वान् । कीलालम् । कीनाशः । च ।
अभि । गच्छतः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(कीनाशः) निन्दित कर्म का नाश करने वाला (अनुङ्वान्)
जीवन पहुँचाने वाला परमेश्वर, (अमेण) परिश्रम से (अभिगच्छतः) चलते

इति षप समवाये—कनिन् । अथवा कप्रत्ययः । सुपां सुलुक् ० । पा० ७ । १ ।
३६ । इति विभक्तिलोपः । समवेतान् । नित्यसम्बद्धान् । अथवा, सप्तपुत्रं
सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या सप्तादित्यरश्मयः ।
निरु० ४ । २६ । इति यास्कवचनात् सूर्यरश्मिवत् परस्परसंयुक्तान् (अनुपद-
स्वतः) दसु उपक्षये—असुन्, मतुप् । अक्षयान् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिकम्
(च) समुच्चये । अवधारणे (लोकम्) संसारम् । संसारराज्यम् (आप्नोति)
लभते (तथा) तेनैव प्रकारेण (सप्तऋषयः) सप्त समवेताः । इगुपधात् ।
कित् । उ० ४ । १२० । इति ऋप गतौ दर्शने च—इन् । ऋत्यकः । पा० ६ । १ ।
१२८ । इति प्रकृतिभावः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । य० ३४ । ५५ । सप्त
ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी । निरु० १२ । ३७ । कः सप्त खानि वित-
तत् शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ० १० । २ । दात्वक्चक्षुः श्रवण-
रसनाघ्राणमनोबुद्धयः । अथवा । शीर्षणानि सप्तच्छिद्राणि (विदुः) जानन्ति ।
प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥

१०—(पद्भिः) पद स्थैर्ये गतौ च—विषप् । स्वस्थितिभिः (सेदिम्)
किंकिनाबुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति

फिरते पुरुष के (सेदिम्) विषाद को (पद्भिः) अपनी स्थितियों से (अव-
क्रामन्) दबाता हुआ, (च) और (जङ्घाभिः) अपनी अत्यन्त व्याप्तियों से
[उस के] (कीलालम्) बन्ध के निवारण, अर्थात् (इराम्) अन्न को (उत्-
खिदन्) उत्पन्न करता हुआ [वर्तमान है] ॥ १० ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुष सब स्थानों में परमेश्वर रचित पदार्थों से
अन्नादि प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ १० ॥

द्वादश वा एता रात्रीर्ब्रत्या आहुः प्रजापतेः ।

तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद् वा अन्तुहो' व्रतम् ॥ ११ ॥

द्वादश । वै । एताः । रात्रीः । ब्रत्याः । आहुः । प्रजा-पतेः ।

तत्र । उप । ब्रह्म । यः । वेद । तद् । वै । अन्तुहः । व्रतम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(द्वादश) बारह (एताः) प्राप्तियोग्य (रात्रीः) विषय
ग्रहण करने वाली और विज्ञान देनेवाली मन बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और

षट् लक्ष विशरणगत्यवसादनेषु—कि । अवसादनम् । दरिद्रताम् (अवक्रामन्)
अवाङ्मुखी कुर्वन् (इराम्) ऋज्जन्द्र० । उ०२ । २८ । इति इण् गतौ—रन्, गुणा-
भावः । अन्नम्—निघ० २।७ (जङ्घाभिः) अच् तस्य जङ्घ च । उ०५ । ३१ । इति
जनी प्रादुर्भावे—अच्, जङ्घ इत्यादेशः । प्रादुर्भावैः । यद्वा । अन्येष्वपि दृश्यते ।
पा०३ । २ । १०१ । इति हन हिंसागत्योः—यङ्लुगन्तात्—ङ प्रत्ययः । अतिवेग-
गतिभिः । अत्यन्तव्याप्तिभिः (उत्खिदन्) खिद दैन्ये, परिघाते । उत्पूर्वात् खिद
उत्पादने—शतृ । उत्पादयन् वर्तते (अमेण) भ्रम तपसि, आयासे, खेदे च—घञ्
आयासेन । प्रयत्नेन (अनड्वान्) म० १ । जीवनप्रापकः (कीलालम्) कील
बन्धे—घञ् + अल वारणपर्याप्तिभूषासु—अण् । बन्धनिवारणम् । अमृतम् ।
जीवनसाधनम् (कीलाशः) अ०३ । १७ । ५ । कुकुत्सितं नाशयतीति । काः कीति
आदेशः । निन्दितकर्मनाशकः परमेश्वरः (अभि गच्छतः) अभितो गच्छतः
पुरुषस्य ॥

११—(द्वादश) द्वा च दश च (वै) वा गतौ—डै । निश्चयेन (एताः)
हस्तिमृमिण्वा० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ—तन् । प्राप्तव्याः । (रात्रीः)

पांच कर्मेन्द्रियों को (प्रजापतेः) प्रजापालक परमात्मा के (ग्रन्थाः) ग्रन्थयोग्य (वै) निश्चय करके [वे विज्ञानी] (आहुः) बताते हैं । (तत्र) उन [मन बुद्धि सहित इन्द्रियों] में (यः) गतिशील पुरुषार्थी पुरुष (अनडुहः) जीवन पहुँचाने वाले परमेश्वर के (तत्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद विज्ञान और (व्रतम्) व्रत को (वै) निश्चय करके (उप) आदर से (वेद) जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन बुद्धि और इन्द्रियों से योगी पुरुषार्थी लोग परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव को जान कर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ११ ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यं दिनं परि ।

दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विदुमानुपदस्वतः ॥१२॥

दुहे । सायम् । दुहे । प्रातः । दुहे । मध्यं दिनम् । परि । दोहाः ।

ये । अस्य । संयन्ति । तान् । विदुम् । अनुप-दस्वतः ॥१२॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (सायम्) सायंकाल में (परि) सब ओर से (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है । (प्रातः) प्रातः काल (दुहे) पूर्ण करता है । (मध्यं दिनं) मध्याह्न में (दुहे) पूर्ण करता है । (अस्य) सर्वव्यापक वा

राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४।६७। इति रा दानग्रहणयोः—त्रिप् । विषयग्रहीतृणि विज्ञान-दातृणि मनोबुद्धिसहितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च (ग्रन्थाः) व्रतं व्याख्यातम्—अ० २ । ३० । २ । व्रत—यत् । व्रतहिताः । कर्मयोग्याः (आहुः) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रुवन्ति विज्ञानिनः (प्रजापतेः) प्रजापालकस्य अनडुहः (तत्र) रात्रिषु (उप) आदरेण (ब्रह्म) अ० १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् (यः) या गतौ—ड । याता । गतिशीलः (वेद) वेत्ति (तत्) त्यजितनि० । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि । विस्तृतम् (अनडुहः) म० १ । प्राण-प्रापकस्य परमेश्वरस्य (व्रतम्) वरणीयं कर्म ॥

१२—(दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । दुग्धे प्रपूरयति अनड्वान् (सायम्) यो अन्तर्कर्मणि—णम्, युगागमः । दिना-न्ते (प्रातः) प्राततेरन् । उ० ५ । ५६ । इति प्र+व्रत स्नातयगमने—अरन् ।

सर्वरक्षक विष्णु के (ये) जो (दोहाः) पूर्ति प्रवाह (संयन्ति) बटुरते रहते हैं (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अक्षय (विद्म) हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का सदा अक्षय भण्डार है। ऐसा जानकर मनुष्य विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ता रहे ॥ १२ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१-७ ॥ धाता देवता । १ गायत्री, २-५ अनुष्टुप्, ६ पद-
पङ्क्तिः, ७ बृहती छन्दः ॥

स्वधोऽग्निवाग्वायोपदेशः—अपने दोष मिटाने का उपदेश ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थनश्छिन्नस्य रोहणी ।

रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

रोहणी । असि । रोहणी । अस्थनः । छिन्नस्य । रोहणी ।

रोहय । इदम् । अरुन्धति ॥ १ ॥

भाषार्थ[हे मानुषी प्रजा तू] (छिन्नस्य) टूटी (अस्थनः) हड्डी की (रोहणी) पूरनेवाली (रोहणी) रोहिणी वा लाक्षा [के समान] (रोहणी) पूरनेवाली शक्ति (असि) है । (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति तू ! (इदम्) ऐश्वर्य (रोहय) सम्पूर्ण कर ॥ १ ॥

प्रभातकाले (मध्यं दिनम्) राजदन्तदित्वात् मध्यशब्दस्य पूर्वत्वम् । पृषोदरा-
दित्वात् नकारागमः । दिनस्य मध्यम् । मध्याह्नम् (परि) परितः । सर्वतः ।
(दोहाः) पूर्तिप्रवाहाः (अस्य) म० ८ । सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा विष्णोः
परमेश्वरस्य (संयन्ति) इण् गतौ । संगच्छन्ते (तान्) दोहान् (विद्म)
विदे लटो वा । पा० ३ । ४ । ८३, इति मसो मादेशो वा । विद्मः । जानीमः
(अनुपदस्वतः) म० ६ । क्षयरहितान् ॥

१—(रोहणी) रुह प्रादुर्भावे-शिच्-ल्युट्, ङीप् । रोहयित्री पूरयित्री
शक्तिः । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् (असि) भवसि
(अस्थनः) अ० १ । २३ । ४ । मांसाभ्यन्तरस्थस्य धातुविशेषस्य (छिन्नस्य)

भाष्यार्थ—बुद्धिमान् पुरुष विज्ञान पूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को मिटावे जैसे सदैव रोहिणी वा लाक्षा [लाख वा लाह] आदि ओषधि से रोगों को निवृत्त करता है ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (रोहिणी) पदके स्थान में [रोहिणी] मानकर “ लाक्षा ” अर्थ किया है ॥

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्टं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

यत् । ते । रिष्टम् । यत् । ते । द्युत्तम् । अस्ति । पेष्टम् ।
ते । आत्मनि । धाता । तत् । भद्रया । पुनः । सम् । दधत्
परुषा । परुः ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा (रिष्टम्) दूटा हुआ और (यत्) जो (ते) तेरा (द्युत्तम्) जलता हुआ, और जो (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पेष्टम्) पिसा हुआ (अस्ति) है । (धाता) पोषण करने वाला वैद्य (भद्रया) कल्याण करने वाली क्रिया से (तत् परुः) उस जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (पुनः) फिर (सं दधत्) सन्धि कर देवे ॥ २ ॥

भिन्नस्य (रोहिणी) व्युत्पत्तिः पूर्ववत् । रोहिणी एव रोहिणी, ओषधिविशेषः । तत्पर्यायाः शब्दकल्पदुमे । कटुम्भरा । सोमवलकः । सोमवृक्षः । सायणमते तु रोहिणी लाक्षा नामौषधिविशेषः (रोहय) प्ररोहय । पूरय (इदम्) इन्देः कमि नलोपश्च । ७०४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । परमैश्वर्यम् (अरुन्धति) नञ् + रुधिर् आवरणे—शत्रु, डीप । हे अरोधनशीले । हे अवारयित्रि शक्ते ॥

२—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (द्युत्तम्) द्योतते, ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । द्योतितम् । प्रज्वलितम् (अस्ति) (पेष्टम्) सर्वधातुभ्यः ष्टन् । ७०४ । १५६ । इति पिषल् चूर्णे—ष्टन् । पिष्टम् । चूर्णितम् (आत्मनि) शरीरे (धाता) पोषयिता पुरुषः (तत्) सर्वमङ्गम् (भद्रया) कस्याप्यपि क्रियया

भावाय—विचारवान् पुरुष आप ही अपने दोषों का वैद्य होता है ॥ २ ॥

सं ते मज्जा मज्जा भवतु समु' ते परुषा परुः ।

सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥ ३ ॥

सम् । ते । मज्जा । मज्जा । भवतु । सम् । जं इति । ते ।
परुषा । परुः । समु' । ते । मांसस्य । वि-स्रस्तम् । सम् । अस्थि ।
अपि । रोहतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्] (ते) तेरे (मज्जा) हाड़की मींग (मज्जा) हाड़ की मींगसे (संभवतु) मिल जावे (उ) और (ते परुः) तेरा जोड़ (परुषा) जोड़ से (सम्=संभवतु) मिल जावे । (ते) तेरे (मांसस्य) मांस का (विस्रस्तम्) हटा हुआ अंश (सम्=सं रोहतु) जुड़ जावे, और (अस्थि) हाड़ (अपि) भी (सं रोहतु) जुड़ कर ठीक होजावे ॥ ३ ॥

भावाय—मनुष्य अपने चंचल मन को ज्ञान प्राप्ति में ऐसा जोड़ दे जैसे वैद्य विचलित अवयवों को जोड़ देता है ॥ ३ ॥

मज्जा मज्जा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।

असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥

मज्जा । मज्जा । सम् । धीयताम् । चर्मणा । चर्म । रोहतु ।
असृक् । ते । अस्थि । रोहतु । मांसम् । मांसेन । रोहतु ॥ ४ ॥

(पुनः) अवधारणे । द्वितीयवारं (संदधत्) संदधातु संयुक्तु (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(ते) तव (मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहः (मज्जा) अस्थिस्नेहेन (सं भवतु) संयुक्तो भवतु (उ) अपि (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व (मांसस्य) मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः । रक्तजघातुविशेषस्य (विस्रस्तम्) वि+स्रस्तु पतने—क । विचलितो भागः (अस्थि) शरीरस्थधातुविशेषः (अपि) (सं रोहतु) संहितं भवत् ॥

भाषार्थ—(मज्जा) हाड़ की मींग (मज्जा) हाड़ की मींग से (सं धीयताम्) मिल जावे, (चर्म) चाम (चर्मणा) चाम के साथ (रोहतु) जम जावे । (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) जमे, और (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस के साथ (रोहतु) जमे ॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान ॥ ४ ॥

लोम॑ लोम्ना॑ सं कल्पया॑ त्वचा॑ सं कल्पया॑ त्वच॑म् ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु॑ छिन्नं॑ स॒धेहि॑षधे ॥ ५ ॥
लोम॑ । लोम्ना॑ । सम् । कल्पय॑ । त्वचा॑ । सम् । कल्पय॑ ।
त्वच॑म् । असृ॑क् । ते॒ । अस्थि॑ । रोहतु॑ । छिन्नम् । सम् ।
धेहि॑ । ओषधे॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ताप नाशक ओषधि [के समान मनुष्य !] (लोम) रोम को (लोम्ना) रोम के साथ (सं कल्पय) जमा दे, (त्वचम्) त्वचा को (त्वचा) त्वचा के साथ (संकल्पय) जोड़ दे, (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) उगे, (छिन्नम्) टूटा अंग भी (संधेहि) अच्छे प्रकार मिलादे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर विचार से अपने दोषों की चिकित्सा करे जैसे वैद्य ओषधि से करते हैं ॥ ५ ॥

४—(मज्जा) अस्थिस्नेहः (मज्जा) अस्थिस्नेहेन (सं धीयताम्) संहितः संयुक्तो भवतु (चर्मणा) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति चर गतौ—मनिन् । शरीरावरणम् (चर्म) त्वचा (रोहतु) प्ररूढं भवतु संयुज्यताम् (असृक्) असु क्षेपे—ऋजिप्रत्ययः । अस्रयते क्षिप्यते इतस्ततो नाडीभिः । रुधिरः । अन्यत् सुगमम् ॥

५—(लोम) अ० ३ । ३३ । ७ । देहजातं केशाकारं द्रव्यम् । रोम । (लोम्ना) रोम्णा (संकल्पय) संल्लुप्तं पुनः स्वस्थानगतं कुरु । संयोजय (त्वचा) चर्मणा (त्वचम्) चर्म (छिन्नम्) भिन्नमग्रङ्गम् (संधेहि) संहितं संलिष्टं व्यापारक्षमं कुरु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः ।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

सः । उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । रथः । सु-चक्रः ।
सु-पविः । सु-नाभिः । प्रति । तिष्ठ । ऊर्ध्वः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः=स त्वम्) सो तू (उत्तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) आगे बढ़,
(सुचक्रः) सुन्दर पहिये वाले, (सुपविः) दृढ़नेमि वा पुट्टी वाले, (सुनाभिः)
सुन्दर मध्य छिद्र वाले (रथः) रथ [के समान] (प्र द्रव) वेग से चल
और (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक आगे बढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त करे जैसे उत्तम
शिल्पी का बनाया हुआ सुदृढ़ रथ अन्य रथों से आगे निकल जाता है ॥ ६ ॥

यदि कृतं पतित्वा सशस्त्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जुघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

यदि । कृतम् । पतित्वा । सम्-शस्त्रे । यदि । वा । अश्मा ।
प्र-हृतः । जुघान । ऋभुः । रथस्य-इव । अङ्गानि । सम् ।
दधत् । परुषा । परुः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यदि) यदि (कृतम्) कटारी आदि हथियार ने (पतित्वा)

ई—(सः) तादृशो विचारवान् त्वम् (उत्तिष्ठ) उद्गच्छ । सावधानो
भव (प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (प्रद्रव) प्रधाव (रथः) हनिकुषिनीरमि० । उ० २।
२ । इति रमु क्रोडायाम्, वा रंदतेर्गतिकर्मणः कथन् । रथो रहतेर्गतिकर्मणः स्थिर-
तेर्वास्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु ६ ।
११ । वेगवान् । स्यन्दनो यथा (सुचक्रः) सुदृढैश्चक्रैर्युक्तः (सुपविः) सुदृढ़ः पविर्न-
मिश्चक्रधारा यस्य स तथोक्तः (सुनाभिः) दृढया नाभ्या, अक्षच्छिद्रेण युक्तः
(प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (ऊर्ध्वः) उत्थितः सन् ॥

७—(यदि) पक्षान्तरे । सम्भावनायाम् (कृतम्) कृती छेदने—घञ् ।

गिर कर (संश्ले) काट कर दिया है, (यदि वा) अथवा (प्रहृतः) फेके
हुये (अश्मा) पत्थर ने (जघान) चोट लगाई है । (ऋभुः) बुद्धिमान्
पुरुष (रथस्य अङ्गानि इव) रथ के अंगों के समान (परुः) एक जोड़े को
(परुषा) दूसरे जोड़े से (सं दधत्) मिला तेवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपने विचलित मन को इस प्रकार ठीक करे,
जैसे चिकित्सक चोट को, और शिल्पी टूटे रथ को फिर जोड़कर सुधार लेते
हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—७ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

उत । देवाः । अव-हितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः । उत ।

आगः । चक्रुषम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल (देवाः) विद्वान् लोगो । (अव-
हितम्) अधोगत पुरुष को (उत) अवश्य (पुनः) फिर (उन्नयथ) तुम उठाते
हो । (उत) और भी, (देवाः) हे दानशील (देवाः) महात्माओ ! (आगः)

कर्तकं छेदकमायुधम् । कर्त्तरी । कृपाणी (पतित्वा) अधः प्राप्य (संश्ले)
शृ हिंसायाम्—लिट् । संश्लेणाति स्म । संहिनस्ति स्म (यदि वा) अपि वा
(अश्मा) प्रस्तरः (प्रहृतः) प्रक्षिप्तः (जघान) हन—लिट् । हतवान् (ऋभुः)
अ० १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । ५ (रथस्य) (इव) यथा (अङ्गानि)
अक्षचक्रेषायुगादीनि (सं दधत्) संदधातु । संयोजयतु (परुषा)
पर्वान्तरेण (परुः) पर्व ॥

१—(उत) निश्चयेन (देवाः) हे व्यवहारकुशलाः (अव हितम्) अव
परिभवे + धाञ्—क । अधोधृतम् । अवनीतं पुरुषम् (देवाः) दिव्यगुणवन्तो
विद्वांसः (उन्नयथ) उन्नतं कुरुथ (पुनः) (उत) अपि च (आगः) इण

अपराध (चक्रुषम्) करने वाले प्राणी को (पुनः) फिर (जीवयथ) तुम जिलाते हो ॥ १ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग स्वभाव से ही अधोगत पुरुषों को ऊंचा करते और मृतक समान अपराधियों को पाप से छुड़ा कर उन का जीवन सुफल कराते हैं । मनुष्य सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को त्याग कर जीवन सुधारे ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५, ७ ऋग्वेद १० । १३७ के म० १—५, ७ कुछ भेद से हैं ॥

द्वाविमौ वातौ' वातु आ सिन्धोरा परावतः ।

दक्ष' ते अन्य आवातु व्य'न्यो वातु यद् रपः ॥ २ ॥

द्वौ । इमौ । वातौ' । वातुः । आ । सिन्धोः । आ । परा-वतः ।
दक्षम् । ते । अन्यः । आ-वातु' । वि । अन्यः । वातु । यत् । रपः ॥ २

भाषार्थ—(इमौ) यह (द्वौ) दोनों (वातौ) पवन, अर्थात् प्राण और अपान वायु (आसिन्धोः) बहने वाले इन्द्रियदेश तक और (आ परावतः) बाहिर दूर स्थान तक (वातः) चलते रहते हैं । (अन्यः) एक [प्राण वायु] (ते) तेरा (दक्षम्) वृद्धि करने वाले बल को (आवातु) बह कर लावे और (अन्यः) दूसरा [अपान वायु] (यत् रपः) जो दोष है उसे (विवातु) बहकर निकाल देवे ॥ २ ॥

आगोऽपराधे च । ७० ४ । २१२ । इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः । अपराधम् (चक्रुषम्) करोतेर्लिट् कसुः । अमि भत्वाभावेऽपि छान्दसं वसोः संप्रसारणम् । चक्रुषांसम् । कृतवन्तं पुरुषम् (देवाः) हे दानशीलाः (देवाः) महात्मानः (जीवयथ) जीवनवन्तं कुरुथ ॥

२—(द्वौ) (इमौ) दृश्यमानौ (वातौ) पवनौ । प्राणापानौ (वातः) वा गतिगन्धनयोः । गच्छतः संचरतः (आसिन्धोः) मर्यादायामाकारः । स्यन्दनशील-नाडीदेशपर्यन्तम् (आ परावतः) शरीराद् बाह्यदेशपर्यन्तम् (दक्षम्) दक्ष । वृद्धौ—अत्र वृद्धिकरं बलम् (ते) तव (अन्यः) एकः प्राणवायुः (आवातु)

भावाय—मनुष्य शुद्ध स्थान में शुद्ध वायु के सेवन से प्राण वायु के सञ्चार द्वारा शरीर का बल बढ़ाकर और अपान से पसीना आदि मल दोष नाश करके स्वस्थ रहें ॥ २॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।

त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

आ । वात । वाहि । भेषजम् । वि । वात । वाहि । यत् । रपः ।
त्वम् । हि । विश्व-भेषज् । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वात) हे वायु (भेषजम्) स्वास्थ्य को (आ वाहि) बह कर ला और, (वात) हे वायु (यत् रपः = यत् रपः तत्) जो दोष है उसे (विवाहि) बह कर निकाल दे (हि) क्योंकि (विश्वभेषज) हे सर्व रोग-नाशक वायु ! (त्वम्) तू (देवानाम्) इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच (दूतः) चलने वाला वा दूत [समान सन्देश पहुंचाने वाला] होकर (ईयसे) फिरता रहता है ॥ ३ ॥

भावाय—वायु के संचार से शरीर का मल निकलकर स्वास्थ्य मिलता है और तार, विमान, ताप, वृष्टि आदि का संचार होता है ॥ ३ ॥

आगमयन्तु (अन्यः) द्वितीयोऽपानवायुः (वि वातु) विगमयन्तु । निवारयन्तु (यत्) (रपः) रप कथने—असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । पापम् दोषम् ॥ २ ॥

३—(वात) हे वायो ! (आ वाहि) आवह । आगमय (भेषजम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति भेषज—अण् । निपातनाद् गुणः । भिषजो वैद्यस्येदम् । स्वास्थ्यम् । (वि वाहि) विगमय । विनाशय (यत्) यत्किञ्चित् (रपः) पापम् । दोषः (हि) यस्मात् कारणात् (विश्वभेषज) भेषं भयं जयतीति । जि—ड । सर्वव्याधिनिवर्तक वायो ! (देवानाम्) इन्द्रियाणां विदुषां सूर्यादीनां च मध्ये (दूतः) दूतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ६० । इति दु गतौ उपतापे वा—कर्त्तरि क् । गन्ता । यद्वा दूतवरसन्देशहरः (ईयसे) ईङ् गतौ—श्यन् । संचरसि ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गुणाः ॥

त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरुपा असत् ॥ ४ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गुणाः ॥

त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरुपाः । असत् ॥४॥

भाषार्थ—(देवाः) इन्द्रिषां (इमम्) इस [जीव] की (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, और (मरुताम्) पर्वतों [श्वास प्रश्वासों] के (गुणाः) प्रवाह (त्रायन्ताम्) रक्षा करें । और (विश्वा=०—नि) सब (भूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, पांच तत्त्व (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (यथा) जिस से (अयम्) यह [प्राणी] (अरुपाः) दोष रहित (असत्) रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के शोधन और श्वास प्रश्वास के यथावत् प्राणायाम से पंच भूतों को सम रख कर सदा दृष्ट पुष्ट रहें ॥ ४ ॥

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।

दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥

आ । त्वा । अगमम् । शन्ताति-भिः । अथो इति । अरिष्ट-

ताति-भिः । दक्षम् । ते । उग्रम् । आ । अभारिषम् । परा ।

यक्ष्मम् । सुवामि । ते ॥ ५ ॥

४—(त्रायन्ताम्) रक्षन्तु (इमम्) प्राणिनम् (देवाः) इन्द्रियाणि (मरुताम्) वायूनां श्वासप्रश्वासानाम् (गुणाः) समूहाः । प्रवाहाः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि (यथा) येन प्रकारेण (अयम्) देहस्थो जीवः (अरुपाः) न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्मिन्निति बहुव्रीहौ । नञ्सुभ्याम् । पा० ६ । २ । १७२ । इति उत्तरपदान्तोदात्तः । अपापः । निर्दोषः (असत्) लोट् । भवेत् ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (शन्तातिभिः) शान्तिदायक कर्मों से (अथो) और भी (अरिष्टतातिभिः) अहिंसाकारक कर्मों से (आगमम्) मैं प्राप्त हुआ हूँ । (ते) तेरे लिये (उग्रम्) उग्र (दक्षम्) वृद्धिकारक बल (आ अभारिषम्) मैं लाया हूँ, [उससे] (ते) तेरे (यक्षमम्) महारोग को (परा सुवामि) दूर हटाता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों की यथावत् समता और ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों द्वारा दुष्कर्मों से बच कर बलवान् धनवान् और नीरोग होवे ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

अयम् । मे । हस्तः । भग-वान् । अयम् । मि । भगवत्-तरः ।

अयम् । मे । विश्व-भेषजः । अयम् । शिव-अभिमर्शनः ॥६॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मे) मेरा (हस्तः) [बायां] हाथ (भगवान्) भाग्यवान् है, और (अयम्) यह (मे) मेरा [दायां हाथ] (भगवत्तरः) अधिक भाग्यवान् है । (अयम्) यह (मे) मेरा [हाथ] (विश्वभेषजः) सर्वरोगनाशक, और (अयम्) यह (शिवाभिमर्शनः) छूने में मंगल दायक है ॥६॥

५—(त्वा) त्वां प्राणिनम् (आगमम्) गमेर्लुङि रूपम् । आगतवान् प्राप्तवानस्मि (शन्तातिभिः) शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति करणेऽर्थे तातिल् प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १४३ । इति प्रत्ययपूर्वं उदात्तः । शंकरैः सुखकरैः कर्मभिः (अथो) अपि च (अरिष्टतातिभिः) पूर्ववत् तत्तिल्, उदात्तत्वं च । अरिष्टम् अहिंसा । तत्करैः श्रेयोहेतुभिः कर्मभिः (दक्षम्) वृद्धिकरं बलम् (ते) तुभ्यम् (उग्रम्) उद्गूर्णम् । तीव्रम् (आ अभारिषम्) हस्य भकारः । आहार्यम् । आहृतवानस्मि । आनैषम् (यक्षमम्) महारोगम् (परा सुवामि) पू प्रेरणे, तौदादिकः । पराङ्मुखं प्रेरयामि (ते) तव ॥

६—(अयम्) अयम् । वामहस्तः (मे) मदीयः (हस्तः) करः (भगवान्) भाग्यवान् । समर्थः (अयम्) दक्षिणहस्तः (भगवत्तरः) वामहस्ताद्

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों के परिज्ञान से स्पर्श द्वारा रोगों का निदान करके शरीर को रोग रहित और पुष्ट करे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६ । म० १२ ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥७॥

हस्ताभ्याम् । दश-शाखाभ्याम् । जिह्वा । वाचः । पुरः-गवी ।

अनामयित्नु-भ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । अभि ।

मृशामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दशशाखाभ्याम्) दश शाखा वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के द्वारा (जिह्वा) जिह्वा (वाचः) वाणी की (पुरोगवी) आगे ले चलने वाली है । (ताभ्याम्) उन (अनामयित्नुभ्याम्) आरोग्य देने वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (त्वा) तुझ को (अभि मृशामसि) हम छूते हैं ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान और पंच भूत परीक्षा द्वारा दस अंगुलियों से दस इन्द्रियों और दस दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करके दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति करे ॥ ७ ॥

अधिकभाग्यवान् (विश्वभेषजः) सर्वरोगनिवर्तकः (शिवाभिमर्शनः) मङ्गल-स्पर्शयुक्तः । सुखस्पर्शः ॥

७—(हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (दशशाखाभ्याम्) दश अङ्गुल्यः शाखा-मृता ययोस्तादृशाभ्याम् (जिह्वा) रसना (वाचः) वाण्याः (पुरोगवी) गोरत-क्षितलुकि । पा० ५।४ । ६२ । इति पुरस् + गो समासे टच्, स्त्रियां ङीप्, अन्तर्गत-व्यर्थः । पुरो, अग्रे गौर्गमयित्री (अनामयित्नुभ्याम्) अनामय-इत्नुच् । अनामय-शीलाभ्याम् । आरीमग्रहेतुभ्याम् (त्वा) त्वां प्राणिनम् (अभि मृशामसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मल्लः स्थाने मसि । अभितः स्पृशामः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ५-७ त्रिष्टुप् । २, ४ अनुष्टुप् । ३
प्रस्तारपङ्क्तिः । ८ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

अजो ह्य' १ अग्नेर'ज'निष्ट'शोकात्' सो अपश्यज्जनितार-
मग्रं । तेन' दे'वा दे'वतामग्रं आयुन् तेन' रोहान् रुरु-
हुर्मध्यासः ॥ १ ॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् ।
जनितारम् । अग्ने । तेन । देवाः । देवताम् । अग्ने । आयुन् ।
तेन । रोहान् । रुरुहुः । मेध्यासः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा, वा गतिशील, अज अर्थात् जीवात्मा
(शोकात्) दीप्यमान (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि अर्थात् परमेश्वर से (हि)
ही (अजनिष्ट) प्रकट हुआ । (सः) उस (जीवात्मा) ने (अग्ने) पहिले से
वर्तमान (जनितारम्) अपने जनक [परमात्मा] को (अपश्यत्) देखा । (तेन)
उस [ज्ञान] से (देवाः) देवताओं ने (अग्ने) पहिले कालमें (देवताम्)
देवतापन (आयुन्) पाया, (तेन) उस से ही (मेध्यासः) मेधावी वा पवित्र-
स्वभाव पुरुष (रोहान्) चढ़ने योग्य पदों पर (रुरुहुः) चढ़े ॥ १ ॥

१—(अजः) न जायते यः । नञ्+जन-ङ । यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः, अच् ।
अजन्मा । गतिशीलः । जीवात्मा—इति शब्दस्तेममहानिधिः (हि) निश्चयेन
(अग्नेः) अग्नि गतौ—नि । सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (अजनिष्ट) प्रादुरभूत्
(शोकात्) शुच शौचे, शोके च—घञ् । दीप्यमानात्—इति महीधरः य० १३ । ५१ ।
(सः) अजः । जीवात्मा (अपश्यत्) दृष्टवान् (जनितारम्) जनयितारं स्वो-
त्पादकं प्रजापतिम् अग्निम् (अग्ने) सृष्टेः प्राग् वर्तमानम् (तेन) जनयितृज्ञानेन
(देवाः) विद्वांसः । महात्मानः (देवताम्) तस्य भावस्त्वतलौ—पा० ६ । १

भावार्थ—मनुष्य आदि पिता जगदीश्वर से अपना शरीर और सामर्थ्य पाकर अपने जन्म और वंश का गौरव बढ़ाते हैं, जैसे पूर्वज महात्माओं ने परमात्मा की महिमा पहचानकर मोक्ष आदि उच्च पद पाये हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १३।५१ में है ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः ।

दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

क्रमध्वम् । अग्निना । नाकम् । उख्यान् । हस्तेषु । बिभ्रतः ।

दिवः । पृष्ठम् । स्वः । गत्वा । मिश्राः । देवेभिः । आध्वम् ॥२॥

भाषार्थ—[हे वीरो !] (उख्यान्) पके हुये आहारों को (हस्तेषु) हाथों में (बिभ्रतः) भरे हुये तुम (अग्निना) अग्नि अर्थात् परमेश्वर के सहारे से [अथवा अपने शरीर की उष्णता वा बल से] (नाकम्) पूर्ण सुख (क्रमध्वम्) पराक्रम से प्राप्त करो । और (देवेभिः) विद्वानों के साथ (मिश्राः) मिलते हुये तुम (दिवः) व्यवहार के (पृष्ठम्) सींचने वा बढ़ानेवाले अथवा पीठ के समान सहायक (स्वः) सुख स्वरूप परमात्मा को (गत्वा) प्राप्त होकर (आध्वम्) बैठो ॥ २ ॥

१५६ । इति तल् । देवभावम् । दिव्यगुणताम् (अग्ने) अस्मत्पूर्वकाले वर्त्तमानाः (आयन्) इण् गतौ—लङ् । प्राप्नुवन् (रोहान्) रुह-घञ् । आरोहणीयान् सुखलोकान् (रुहुः) आरुढवन्तः (मेध्यासः) उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति मेधा-यत् । असुगागमः । मेधायै हिताः । मेध्याः । मेधाविनः । पवित्राः पुरुषाः ॥

२—(क्रमध्वम्) पराक्रमेण प्राप्नुत (अग्निना) परमेश्वरसहायेन । यद्वा स्वशरीरस्थेन उष्णत्वेन (नाकम्) अकेन दुःखेन रहितं पूर्णसुखम् (उख्यान्) श्लोल्याद्यत् । पा० ४ । २ । १७ इति उक्ता—“संस्कृतं भक्षाः”—इत्यर्थे यत् । उक्तायां पाकपात्रे संस्कृतान् आहारान् (हस्तेषु) करेषु दानाय (बिभ्रतः) धरन्तः (दिवः) व्यवहारस्य (पृष्ठम्) तिथपृष्ठयूथ० । उ० २ । १२ । इति पशु सेके—यक् । सेवकं वर्धकम् । यद्वा पृष्ठवत् सहायकम् (स्वः) सुखस्वरूपं

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अपार सृष्टि में पुरुषार्थ पूर्वक परोप-
कार के लिये अन्न प्राप्त करें और विद्वानों से व्यवहार शिक्षा पाकर आनन्द
भोग ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से य० १७। ६५ में है ॥

पृष्ठात् पृथिव्याः अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्
दिवमारुहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वः १ ज्योति-
रगामहम् ॥ ३ ॥

पृष्ठात् । पृथिव्याः । अहम् । अन्तरिक्षम् । आ । अरुहम् ।
अन्तरिक्षात् । दिवम् । आ । अरुहम् । दिवः । नाकस्य ।
पृष्ठात् । स्वः । ज्योतिः । अगाम् । अहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठात्) पृष्ठ से
(अन्तरिक्षम्) मध्य लोक, आकाश को (आ अरुहम्) चढ़ गया, (अन्तरिक्षात्)
आकाश लोक से (दिवम्) सूर्य लोक को (आ अरुहम्) मैं चढ़ गया । (नाकस्य)
सुख देने हारे (दिवः) प्रकाशमान सूर्य लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्)
मैंने (स्वः) सुख स्वरूप और (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप परमात्मा को (अगाम्)
प्राप्त किया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—योगी पुरुष विद्याभ्यास और योगभ्यास से पृथिवी, अन्तरिक्ष

परमात्मनम् (गत्वा) प्राप्य (मिश्राः) मिश्रिताः । मिलिताः सन्तः (देवेभिः)
देवैः । विद्वद्भिः (आध्वम्) आस उपवेशने—लोटे । उपविशत् ॥

३—(पृष्ठात्) तलात् (पृथिव्याः) भूमेः (अहम्) विद्वान् योगी जनः
(अन्तरिक्षम्) आकाशम् (आ अरुहम्) रह-लुङ् । आरुहवान् (अन्तरिक्षात्)
आकाशात् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (दिवः) सूर्यस्य (नाकस्य) सुखनि-
मित्तस्य अन्धकारनाशकत्वात् (पृष्ठात्) उपरिभागात् (स्वः) सुखवरूपम्

और सूर्य लोक में खोजता हुआ तुरीय अर्थात् इन तीनों से चौथे आनन्दघन, ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द में मग्न होजाता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० १७। ६७ में हैं ॥

स्वः १ यन्ती नापैक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोऽधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥

स्वः । यन्तः । न । अप । ईक्षन्ते । आ । द्याम् । रोहन्ति ।

रोदसी इति । यज्ञम् । ये । विश्वतः-धारम् । सु-विद्वांसः ।

वि-ते निरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सुविद्वांसः) बड़े विद्वान् योगी जन (द्याम्) अन्तरिक्ष और (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक तक (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, और जिन्होंने (विश्वतोऽधारम्) सब प्रकार से धारण शक्ति वाले (यज्ञम्) देव अर्थात् ब्रह्म के पूजन को (वितेनिरे) फैलाया है, वे ही योगी पुरुष (यन्तः न) चलते फिरते उद्योगी पुरुषों के समान (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अपेक्षन्ते) हृदय से चाहते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ—जो विद्वान् योगी जन संसार के सब पदार्थों के विज्ञानी होकर परमात्मा की महिमा को विचारते हैं, वे ही उससे प्रीति करके आत्मबल पाकर यशस्वी होते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ६८ ॥

(ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूपं परमात्मानम् (अगम्) इण्गतौ—लुङ् । आग-मम् । प्राप्तवान् ॥

४—(स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तः) गच्छन्तः । उद्योगिनः पुरुषाः (न) इव—निरु० ३। १५। (अप ईक्षन्ते) अप+ईक्ष दर्शने । आकाङ्क्षन्ति । समालोकन्ते ते सुविद्वांसः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (आ रोहन्ति) आरूढ़ा भवन्ति ये सुविद्वांसः (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ च (यज्ञम्) देवस्य परब्रह्मणः पूजनम् (ये) (विश्वतोऽधारम्) सर्वतो धारणशक्तिभिर्भुक्तम् (सुविद्वांसः) सुष्ठु विशेषेण कर्मप्रकारं जानन्तः परिष्ठता योगिनः (वितेनिरे) तजु—क्षिप् । विस्तारितवन्तः ॥

अग्ने प्रेहिं प्रथुमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानु-
षाणाम् । इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यज-
मानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

अग्ने । प्र । इहि । प्रथुमः । देवतानाम् । चक्षुः । देवानाम् ।
उत । मानुषाणाम् । इयक्षमाणाः । भृगु-भिः । स-जोषाः ।
स्वः । यन्तु । यजमानाः । स्वस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (प्रेहि) प्राप्त हो, तू
(देवतानाम्) सब विद्वानों में (प्रथमः) पहिला, और (देवानाम्) सूर्य आदि
लोकों का (उत) और भी (मानुषाणाम्) मनुष्य जातियों का (चक्षुः) नेत्र
[के समान देखने वाला] है । (इयक्षमाणाः) संगति चाहने वाले, (भृगुभिः)
परिपक्व विज्ञानी वेदज्ञ ब्राह्मणों के साथ (सजोषाः) एकसाी प्रीति करते हुये,
(यजमानाः) दानशील यजमान लोग (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म और (स्वस्ति)
कल्याण को (यन्तु) प्राप्त होवे ॥ ५

भावार्थ— परमात्मा सब का आदि गुरु है वही सब का साक्षी और
नियन्ता है, पुरुषार्थी सदाचारी पुरुष विज्ञानी महात्माओं के सत्संग से ब्रह्मज्ञान
की प्राप्ति करके परमगति प्राप्त करें ।

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७। ६६ ॥

५—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (प्रेहि) प्रगच्छ । अस्मान् प्राप्नुहि
(प्रथमः) आदिमः । मुख्यः (देवतानाम्) देव-स्वार्थे तत् । देवानां विदुषाम्
(चक्षुः) नेत्रवद् द्रष्टा (देवानाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानु-
षाणाम्) मनोज्ञतावश्यतौ शुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-अञ्, पुगा-
गमः । मनुष्यजातीनाम् (इयक्षमाणाः) यजेः सन् । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७६ ।
इति अभ्यासाकारस्य इकारः, यलोपश्रृङ्गान्दसः । यियक्षमाणाः । यष्टुं संगन्तु-
मिच्छन्तः (भृगुभिः) अ० १ । ५ । ३ । परिपक्वविज्ञानैः । अनूचानब्राह्मणैः ।
(सजोषाः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—घञ् । समानस्य सभावः । समानप्रीतयः ।
प्रतिमन्तः (स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (यजमानाः) यज-
मानव । दानशीलाः (स्वस्ति) कल्याणं च ॥

अजम'नजिम् पयसा घृतेन दिव्यं सु'पूर्णं पयसं बृह-
न्तम् । तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वरारोहन्तो अभि
नाकमुत्तमम् ॥ ६ ॥

अजम् । अनजिम् । पयसा । घृतेन । दिव्यम् । सु-पूर्णम् ।
पयसम् । बृहन्तम् । तेन । गेष्म । सु-कृतस्य । लोकम् ।
स्वः । आ-रोहन्तः । अभि । नाकम् । उत्-तमम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुण वाले, (सुपूर्णम्) बड़े पूर्ण शुभ लक्षण
वाले (पयसम्) गतिवान् वा उद्योगी (बृहन्तम्) बड़े बली (अजम्) जीवात्मा
को (घृतेन) प्रकाशमान (पयसा) ज्ञान से (अनजिम्) मैं [मनुष्य] संयुक्त
करता हूं । (तेन) उस [ज्ञान] से (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) दुःख रहित
(स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लक्ष कर (आरोहन्तः)
चढ़ते हुये हम (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य लोक को (गेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की दी हुई अद्भुत शक्तियों से अपना ज्ञान
बढ़ावे, और उस आनन्दस्वरूप जगत्पति की अनन्त महिमा को खोजता हुआ
निरन्तर उन्नति करके मोक्ष पद प्राप्त करे ॥ ६ ॥

६-(अजम्) म० १ । अजनशीलम् जीवात्मानम् (अनजिम्) अज्ञ व्यक्ति-
मूलकान्तिगतिषु । मूलयामि । मिश्रयामि (पयसा) पय गतौ-असुन् । ज्ञानेन
(घृतेन) घृ भासे, सेके च-क्त । प्रकाशमानेन (दिव्यम्) प्रकाशार्हम् । मनोहरम्
(सुपूर्णम्) पूर्णपालनयोः-न । शोभनानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य
तम्-यथा दयानन्दभाष्ये य० १७७२ (पयसम्) अत्यविचमि० । उ० ३।११७ इति पय
गतौ-असच् । गतिशीलम् । उद्योगिनम् (बृहन्तम्) महान्तं बलिनम् (तेन)
उक्तप्रकारेण (गेष्म) अ० ४ । ११।६ । अन्विच्छाम (सुकृतस्य) शुभकर्मणः (लोकम्)
स्थानम् अ० ४ । ११ । ६ । (स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (आरोहन्तः) रुह-शतृ ।
अधिरोहन्तः (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखशून्यम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् ॥

पञ्चौ'दनं पञ्चभिर्'ङ्गुलिभिर्द्वयो'द्वर पञ्चधैतमो'दनम् ।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य' धेहि दक्षि'णायां दिशि
दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

पञ्च'-ओदनम् । पञ्च-भिः । अङ्गुलि-भिः । द्वयो' । उत् । हर ।
पञ्च-धा । एतम् । ओदनम् । प्राच्याम् । दिशि । शिरः । अज-
स्य' । धेहि । दक्षिणायाम् । दिशि । दक्षिणम् । धेहि । पार्श्वम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(एतम्) इस (पञ्चधा) पांच प्रकार पर (पञ्चौदनम्)
पांच भूतों से सींचे हुये (ओदनम्) वृद्धि करने वाले आत्मा को (पञ्चभिः)
विस्तृत (अङ्गुलिभिः) चेष्टाओंके साथ (द्वयो) विदारण वा पृथक् करण शक्ति
से (उद्धर=उत्हर) ऊपर ला, (प्राच्याम्) अपने से पूर्व वा सन्मुख (दिशि)
दिशा में (अजस्य) जीवात्मा का (शिरः) शिर (धेहि) धर, (दक्षिणायाम्
दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणम्) दाहिने (पार्श्वम्) कक्षाके नीचे भाग को
(धेहि) धर ॥ ७ ॥

७—(पञ्चौदनम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति पचि व्यक्ती-
करणे विस्तारे'च-कनिन् । उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । इति उन्दी क्लेदने-
युच् । ओदनो मेघः-निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्-निरु० ६ । ३४ ।
पञ्चभिर्भूतैः ओदनः सेचनं यस्यतम् (पञ्चभिः) विस्तृताभिः (अङ्गुलिभिः)
ऋतन्यञ्जि० । उ० ४ । २ । इति अङ्ग पदे=चेष्टायाम्-उलिप्रत्ययः । अङ्गुलयः
कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति
वाङ्मना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः । निरु० ३ । ८ ।
चेष्टाभिः (द्वयो) वृद्ध्यां विन् ' उ० ४ । ५३ । इति वृ विदारणे विन्, ङीष् ।
विदारणशक्त्या । वियोगशक्त्या (उद् हर) उद्धृत्य स्थापय (पञ्चधा) पञ्च-
प्रकारेण विभज्य (एतम्) आ—इण्-क्त । आगतं दृश्यमानं वा (ओदनम्)
व्याख्यातम् । सेचनसमर्थं यद्वा, अन्नवद् वृद्धिकरम् आत्मानम् (प्राच्याम्)
अ० ३ । २६ । १ । स्वस्थानात् पूर्वस्याम् । स्वाभिमुखी भूतायाम् (दिशि)
दिशायाम् (शिरः) अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् (अजस्य) म० १ । अजन-

भाषार्थ—पंच भूत निर्मित स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर वाला आत्मा इन्द्रियो सहित रहता है। योगी विवेक दृष्टि द्वारा आत्मा को स्थूल शरीर से पृथक् करे, और आत्मा के सूक्ष्म अवयवों को मन्त्र ७ व ८ के अनुसार स्थापित करके मन्त्र ६ के अनुसार मोक्ष फल प्राप्त करे ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि भुसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं
धेहि पार्श्वम् । ऊर्ध्वायां दिश्यं जस्यानूकं धेहि दिशि
ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥८॥

प्रतीच्याम् । दिशि । भुसदम् । अस्य । धेहि । उत्तरस्याम् ।
दिशि । उत्तरम् । धेहि । पार्श्वम् । ऊर्ध्वायाम् । दिशि ।
अजस्य । अनूकम् । धेहि । दिशि । ध्रुवायाम् । धेहि ।
पाजस्यम् । अन्तरिक्षे । मध्यतः । मध्यम् । अस्य ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (अस्य) इस [जीवात्मा] के (भुसदम्) दीप्ति वा कटि भाग को (धेहि) धर, (उत्तरस्याम्) उत्तर वा बाईं (दिशि) दिशा में (उत्तरम्) बाये (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर । (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा का (अनूकम्) रीढ़ को (धेहि)

शीलस्य जीवात्मनः (धेहि) धर (दक्षिणायाम्) दक्षिणस्याम् (पार्श्वम्) स्पृशेः श्वश्रुनौ पृ च । ७० ५ । २७ इति स्पृश संपर्क-श्वश्रु, धातोः पृ इत्यादेशः । कक्षयोरधोभागम् ॥

८—(प्रतीच्याम्) अ० ३ । २६ । ३ । पश्चिमायाम् पश्चात् स्थितायाम् (दिशि) दिशायाम् (भुसदम्) शृङ्गभसोऽदिः । ७० १ । १३० । इति भस भर्त्सनदीप्तयोः-अदि । कटिप्रदेशं जघनं वा (अस्य) अजस्य (धेहि) स्थापय (उत्तरस्याम्) उदीच्याम् । वामभागवर्तमानायाम् (उत्तरम्) वामभागस्थम् (पार्श्वम्) म० ७ (ऊर्ध्वायाम्) अ० ३ । २६ । ६ । उपरि वर्तमानायाम् [अजस्य] म० १ । जीवात्मनः (अनूकम्) अनु + उच् समवाये

धर, (ध्रुवायाम्) स्थिर (दिशि) दिशा में (अस्य) इसके (पाजस्यम्) बल देने वाले उदर को, और (अन्तरिक्षे) आकाश में (मध्यतः) बीचबीच (मध्यम्) मध्य भाग को (धेहि) धर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ।

श्रुतम् जं श्रुतया प्रोणु^१हि त्वचा स^२र्वैरङ्गैः संभृ^३तं विश्व-
रू^४पम् । स उत् तिष्ठे^५तो अभि नाक^६मुत्तमं पद्विश्च-
तुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु ॥ ९ ॥

श्रुतम् । अजम् । श्रुतया । प्र । ऊर्णु^१हि । त्वचा । सर्वैः ।
अङ्गैः । सम्-भृ^३तम् । विश्व-रूपम् । सः । उत् । तिष्ठ । इतः
अभि । नाकम् । उत्-तमम् । पत्-भिः । चतुः-भिः । प्रति ।
तिष्ठ । दिक्षु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (विश्वरूपम्) संपूर्ण रूप से (सर्वै) सब (अङ्गैः) अंगों के साथ (संभृतम्) भले प्रकार पुष्ट, और (श्रुतम्) परिपक्व [दृढ़ ज्ञानी] (अजम्) जीवात्मा को (श्रुतया) परिपक्व (त्वचा) विस्तृत शक्ति से (प्र) भले प्रकार (ऊर्णुहि) ढकले । (सः) सो तू (इतः) यहां से (उत्तमम्) सर्वोत्तम (नाकम्) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि = अभिलक्ष्य) लखकर (उत् तिष्ठ) उठ, और (चतुर्भिः पद्विः) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थों के सहित (दिक्षु) सब दिशाओं में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

घञर्थे कः । न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७ । ३ ५३ । इति कुत्वम् । पृष्ठवंशम् (ध्रुवायाम्) अ० २ । २६ । ४ । स्थिरायाम् । अधस्तात् (पाजस्यम्) पाज इति बलनाम-निघ० २ । ६ । पाजसे हितम् । बलकरमङ्गम् । उदरम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (मध्यतः) मध्यभागे (मध्यम्) शरीरमध्यभागम् (अस्य) निर्दिष्टस्य ॥

९—(श्रुतम्) शा वा औ पाके-क्त । श्रुतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । इति श्रुभावः । पक्वम् । परिपक्वज्ञानम् (अजम्) म० १ । जीवात्मानम् (श्रुतया) परिपक्वया । दृढया (प्र ऊर्णुहि) ऊर्णुञ् आच्छादने । प्र कर्षेणाच्छादय (त्वचा) तनोतेरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारं-चिक् । अनश्च वः । यद्वा, त्वच

भाषार्थ—मनुष्य उपरोक्त रीति से पंच भूत और जीवात्मा के विवेक से पक्का ज्ञानी होकर सब प्रकार पुष्ट और परमात्मा में लवलीन होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति से संसार भर में प्रतिष्ठावान् होता है ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-१६ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ १-३, ५ जगती, ४, ७, ८, १३-१५ अनुष्टुप्, ६, १०, ११, १६ त्रिष्टुप् १२ जगती ज्योतिष्मती, ॥
वृष्टेः प्रार्थना गुणाश्चोपदिश्यन्ते—वृष्टि की प्रार्थना और गुणोंका उपदेश ॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समुभ्राणि वातजूतानि यन्तु । म॒ह॒ ऋ॒ ष॒भ॒स्य॒ न॒द॒तो॒ नभ॑स्वतो वा॒ग्ना आपः पृथि॒वीं त॑र्पयन्तु ॥ १ ॥

सम्-उत्पतन्तु । प्र-दिशः । नभस्वतीः । सम् । अ॒भ्राणि॑ । वात॑-जूतानि । यन्तु । म॒ह॒-ऋ॒ ष॒भ॒स्य॑ । न॒द॒तः॑ । नभ॑स्वतः । वा॒ग्नाः । आपः॑ । पृथि॒वीम् । त॑र्प॒यन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नभस्वतीः = ०-त्यः) बादल से छापी हुई (प्रदिशः) दिशाये (समुत्पतन्तु) भले प्रकार उदय हों, (वातजूतानि) पवन से चलाये गये (अ॒भ्राणि) जल भरे बादल (संयन्तु) छा जावें । (मह॒ऋ॒ ष॒भ॒स्य) बड़े

संवरणे—किप् । विस्तृतशक्त्या । ज्ञानावरणेन वा (सर्वैः) अशेषैः (अङ्गैः) अवयवैः (संभृतम्) सम्यक् पुष्टम् (विश्वरूपम्) यथा तथा । सर्वरूपेण । सर्वाकारेण (सः) तादृशः परिपक्वज्ञानः (उत् तिष्ठ) उद्गच्छ (इतः) अस्माद् देशात् (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखरहितं परब्रह्म (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (पाङ्गः) पद स्थैर्यं गतौ च—किप् । धर्मार्थकाममोक्षाख्यैः पदार्थैः (चतुर्भिः) (प्र तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (दिक्षु) सर्वासु दिशासु ॥

१—(समुत्पतन्तु) सम्यग् उद्गच्छन्तु । उद्यन्तु (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशः (नभस्वतीः) नभः—म० ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवरणं दीर्घः । नभस्वत्यः । मेघवत्यः (अ॒भ्राणि] अभू गतौ=पचाद्यच् । पा० ६ । १ ।

गमन शील (नदतः) गरजते हुये (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की (वाभ्राः) धड़ धड़ाती (आपः) जल धाराये (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥१॥

भावार्थ—पवन द्वारा वर्षा होने से दिशाये निर्मल और पृथिवी अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य उपकारी बनें ॥१॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः
सचन्ताम् । वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमि पृथग् जाय-
न्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

सम् । ईक्षयन्तु । तविषाः । सु-दानवः । अपाम् । रसाः । ओ-
षधीभिः । सचन्ताम् । वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् ।
पृथक् । जायन्ताम् । ओषधयः । विश्व-रूपाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तविषाः) विशाल गुण वाले (सुदानवः) बड़े दान करने वाले [मेघ, हमें वृष्टि] (समीक्षयन्तु) दिखावें, (अपाम्) जल के (रसाः) रस (ओषधीभिः) अन्नादि ओषधियों से (सचन्ताम्) एक रस हो जावें । (वर्षस्य)

१३४ । यद्वा, अप्—भृञ्—क । अपो जलानि बिभृति धारयन्तीति । मेघाः (वात-
जूनानि) जु वेगे-क्त, दीर्घत्वम् । वायुना प्रेरितानि (संयन्तु) संगच्छन्ताम्
(मह ऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति आप गतौ—अभच्
स च कित् । महागतिशीलस्य (नदतः) गरजतः (नभस्वतः) आकाश-
स्थस्य मेघस्य (वाभ्राः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वाश्ट शब्दे-
रक् । शब्दायमानाः (आपः) जल धाराः (पृथिवीम्) भूमिम् (तर्पयन्तु)
तृप्ताम् ओषधिप्ररोहणसमर्थां कुर्वन्तु ॥

२—(समीक्षयन्तु) ईक्ष दर्शने, णिच् । संदर्शयन्तु अस्मान् वृष्टिम्
(तविषाः) तवेणिङ्गो । उ० १ । ४८ । इति तु वृद्धिहिंसापूर्तिषु—टिषच् । तविषो
महन्नाम निघ० ३ । ३ महान्तः (सुदानवः) दाभाभ्यां जुः । उ० ३ । ३२ । इति
दा—जु । शोभनदाना मेघाः (अपाम्) उदकानाम् (रसाः) श्रेष्ठगुणाः (ओष-
धीभिः) ब्रीहियवादिभिः । अन्नैः । (सचन्ताम्) षच् समवाये । समवयन्तु

वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्व-
रूपाः) नाना रूपवाली (ओषधयः) चावल, यवादि ओषधें (पृथक्) नाना
प्रकार से (जायन्ताम्) उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मेघों की वर्षा से सब लोग आनन्द पाते हैं, वैसे ही
मनुष्य विद्वानों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ २ ॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासुः पृथगुद् विज-
न्ताम् । वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां
वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

सम् । ईक्षयस्व । गायतः । नभांसि । अपाम् । वेगासः ।
पृथक् । उत् । विजन्ताम् । वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम्
पृथक् । जायन्ताम् । वीरुधः । विश्व-रूपाः ॥ ३ ॥

भावार्थ—[हे ईश्वर !] (गायतः) गान करने वाले लोगों को (नभां-
सि) बादलों का (समीक्षयस्व) दर्शन करा । (अपाम्) जल के (वेगासः)
प्रवाह (पृथक्) नाना प्रकार से (उद् विजन्ताम्) उमड़कर चलें । (वर्षस्य)
वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्व-

(वर्षस्य) वृष्टिजलस्य (सर्गाः) सृज्यमानाः प्रवाहाः (महयन्तु) मह वृद्धौ ।
वर्धयन्तु । समर्थयन्तु (भूमिम्) पृथिवीम् भूमिस्थ पदार्थानित्यर्थः (पृथक्)
नानाप्रकारेण जातिभेदेन (जायन्ताम्) उत्पद्यन्ताम् (ओषधयः) व्रीहियवाद्याः
(विश्वरूपाः) नानाविधाः ॥

३—(समीक्षयस्व) द्विकर्मकः । सन्दर्श्य (गायतः) स्तुवतो लोकान्
(नभांसि) नहेर्दिवि भश्च । उ० ४ । २११ । इति णह बन्धने-असुन् हस्य भः ।
यद्वा णभ हिंसायाम्-असुन् । नभ उदकम्-निघ० १ । १२ । नभ आदित्यो भवति
नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽपि वा भन एव स्याद् विपरीतो नभ भातीति वैतेन
द्यौव्याख्याता-निरु० २ । १४ । अभ्राणि (अपाम्) उदकानाम् (वेगासः) वेगाः
प्रवाहाः (पृथक्) भिन्नभिन्नप्रकारेण (उद् विजन्ताम्) ओविजी भयचलनयोः ।
उरुचलन्तु (वीरुधः) विरोहणशीला आरण्या ओषधिवनस्पतयः । अन्यत् पूर्व-
वत् ॥

रूपाः) नाना रूप (वीरुधः) भाङ् लतायें (पृथक्) नाना प्रकार से (जाय-
न्ताम्) उपजें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ३ ॥

गुणास्त्वोपं गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

गुणाः । त्वा । उपं । गायन्तु । मारुताः । पर्जन्य । घोषिणः ।
पृथक् । सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! (घोषिणः) आनन्द ध्वनि करने वाले
(मारुताः) ऋत्विज् लोगों के (गुणाः) समूह (त्वा) तेरा (पृथक्) नाना
प्रकार से (उप) आदर पूर्वक (गायन्तु) गान करें । (वर्षतः) बरसते हुये
(वर्षसा) वृष्टि जल की (सर्गाः) धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनु-
कूल (वर्षन्तु) बरसें ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृष्टि से अन्न आदि यज्ञ के पादार्थ उत्पन्न होते और याजक
गण वृष्टि के गुणों को गागाकर आनन्द मनाते हैं ॥ ४ ॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्की नभ उत् पात-
याथ । महुः ऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः
पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

४—(गुणाः) समूहाः (त्वा) त्वाम् (उप गायन्तु) उप आदरेण स्तु-
वन्तु (मारुताः) मरुतः—अ० १ । २० । १ । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । मरुत्—
अण् । ऋत्विक्संबन्धिनः (पर्जन्य) अ० १ । २ । १ । हे सेचक, मेघ ! (घोषि-
णः) आनन्द घोषयुक्ताः (पृथक्) नानात्वेन (सर्गाः) प्रवाहाः (वर्षस्य)
वृष्टिजलस्य (वर्षतः) सिञ्चतः (वर्षन्तु) आद्रीकुर्वन्तु (पृथिवीम्) (अनु)
अनुकूलम् ॥

उत् । ईरयत् । मरुतः । समुद्रतः । त्वेषः । अर्कः । नभः । उत् ।
पातयाथ । महा-ऋषभस्य । नदतः । नभस्वतः । वाग्नाः ।
आपः । पृथिवीम् । तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे वायुवेगो ! (अर्कः=अर्कस्य) सूर्य के (त्वेषः=
त्वेषेण) प्रकाश द्वारा (नभः) जलको (समुद्रतः) समुद्र से (उदीरयत)
उठाओ और (उत् पातयाथ) ऊपर लेजाओ । (महा ऋषभस्य) बड़े गमन
शील, (नदतः) गरजते हुये, (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की
(वाग्नाः) धड़धड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्प-
यन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल, पवन और प्रकाश द्वारा पृथिवी से मेघमंडल में चढ़ता
और फिर पृथिवी पर बरसकर अनेक पदार्थ उपजाता है, इसी प्रकार सज्जन
पुरुष विज्ञान से परिपूर्ण होकर संसार में विद्या फैलाते हैं ॥ ५ ॥

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पर्यसा
समङ्धि । त्वया सुष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कुशगु-
रे त्वस्तम् ॥ ६ ॥

अभि । क्रन्द । स्तनय । अर्दय । उद्-धिम् । भूमिम् ।
पर्जन्य । पर्यसा । सम् । अङ्धि । त्वया । सुष्टम् । बहुलम् ।
आ । एतु । वर्षम् । आशार-एषी । कुश-गुः । एतु । अस्तम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! तू (अभि) सब ओर (क्रन्द) गड़गड़
कर, (स्तनय) गरज, (उदधिम्) समुद्र को (अर्दय) हिलावे, (भूमिम्) भूमि

५—(उदीरयत) ऊर्ध्व प्रेरयत जलम् (मरुतः) वायुवेगाः (समुद्रतः)
पार्थिवसमुद्रात् (त्वेषः) त्विष दीप्तौ—घञ् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३३
इति तृतीयायां प्रथमा । त्वेषेण । प्रकाशेन (अर्कः) अर्क स्तवने तापे च—अच् ।
षष्ठ्यर्थे प्रथमा । सूर्यस्य (नभः) म० ३ । उदकम् (उत् पातयाथ) पत गतौ—
णिच्, लोट् । उद्गमयत । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

६—(अभि) अभितः (क्रन्द) शब्दं कुरु (स्तनय) घोषय । गर्ज (अर्दय)

(पयसा) जलसे (सम्प्रडधि) भरदे । (त्वया) तुझ करके (सृष्टम्) भेजा हुआ (बहुलम्) बहुत पदार्थ लाने वाला (वर्षम्) वृष्टि जल (ऐतु)आवे, (आशारैषी) शरण चाहने वाला, (कृशगुः) दुबली गौ बैल वाला किसान (अस्तम्) अपने घर (एतु) जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी पर वृष्टि होने से अनेक पदार्थ उपजते हैं, तब किसान आनन्द पूर्वक थके दुर्बल पशुओं को चराकर घर ले जाती हैं ॥ ६ ॥

सं वोऽवन्तु सुदानंव उत्सा अजगुरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

सम् । वः । अवन्तु । सु-दानवः । उत्साः । अजगुराः । उत ।

मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यों !] (सुदानवः) महा दानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) स्रोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अघर्तु) तृप्त करें । (मरुद्भिः) पवन से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ के समान परस्पर उपकार करें ॥

पीडय (उदधिम्) जलधिम् (भूमिम्) (पर्जन्य) हे मेघ (पयसा) वृष्टिजलेन (सम् अङ्धि) अङ्ग व्यक्तिसंज्ञकान्तगतिषु । समकां संसिकां कुरु (त्वया) (सृष्टम्) प्रेरितम् (बहुलम्) अ० ३ । १४ । ६ । बहून्थान् लातीति, बहु + ला दानादानयोः-क। बहुपदार्थप्रापकम् (आ एतु) आगच्छतु (वर्षम्) वृष्टिजलम् (आशारैषी) शृ वायुवर्णनिवृत्तेषु। वा० पा० ३ । ३ । २१ । इति आङ्+शृ हिंसायाम्-घञ् । आशृणाति दुःखम् आशारः शरणम् । आशारमिच्छतीति, इष-गिनि । शरणेच्छुः (कृशगुः) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १ । २ । ४८ । इति ह्रस्वः । कृशा दुर्बल गावः पशवो यस्य तथाविधिः कर्षकः (एतु) गच्छतु (अस्तम्) हसिमृगिण० । उ० ३ । ८६ । अस गतिदीप्त्यादानेषु-तन् । गृहम्-निघ० ३ । ४ ॥

७—(सम्) सम्यक् । एकीभूय (वः) युष्मान् हे जनाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (सुदानवः) म० २ । महादातारः (उत्साः) अ० १ । १५ । ३ । स्रोतां-

आशामाशां वि द्यो'ततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।

मरुद्भिः प्रच्यु'ता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु' ॥८॥

आशाम्-आशाम् । वि । द्योतताम् । वाताः । वान्तु । दिशः-
दिशः । मरुत्-भिः । प्र-च्यु'ताः । मेघाः । सम् । युन्तु ।

पृथिवीम् । अनु' ॥८॥

भाषार्थ—(वाताः) पवने (दिशोदिशः) दिशा दिशा से (द्योतताम्) दीप्यमान (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा का (वि) विविध प्रकार से (वान्तु) चलें । (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (संयन्तु) उमड़ कर आवें ॥८॥

भावार्थ —जैसे मेह पवन द्वारा एक देश से दूसरे देश में बरसते हैं वैसे ही मनुष्य प्रयत्न करके देश देशान्तरों में वेद विद्या फैलावें ॥८॥

ओषो विद्मुदुभ्र'वर्षं सं वोऽवन्तु सुदान'व उत्सा' अज-
गरा उत । मरुद्भिः प्रच्यु'ता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु' ॥९॥

आपः । वि-द्युत् । अम्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु ।
सु-दान'वः । उत्साः । अजगराः । उत । मरुत्-भिः । प्र-च्यु'ताः ।
मेघाः । प्र । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु' ॥ ९ ॥

सि । कूपाः-निघ० ३ । २३ । (अजगराः) अज+गृ निगरणे-अच् । अजान् गतिशीलान् जन्तून् गिरन्तिभक्षयन्ति ये । बृहत्सर्पाः । तद्वत् स्थूलाकाराः (उत) अन्यर्थम् । एव । (मरुद्भिः) वायुभिः (प्रच्युताः) प्रेरिताः (मेघाः) मिह सेचने-अच्, कुत्वम् । वारिवाहाः (वर्षन्तु) सिंचन्तु (पृथिवीम्) (अनु) अनुकूलमे ॥

८—(आशामाशाम्) दिशंदिशम् आश्रित्य (द्योतताम्) भृमृदशि० । उ० ३ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-अतच्, टाप् । द्योतमानाम्, दीप्यमानाम् (वाताः) पवनाः (वि वान्तु) विविधं संचरन्तु (दिशोदिशः) सर्वस्या अपि दिशः सकाशात् (संयन्तु) संगता भवन्तु (अनु) अनुलक्ष्य । अन्यद् यथा म० ॥७॥

भाषार्थ—(आपः) जल धारायें, (विद्युत्) बिजुली, (अभ्रम्) जल से भरा मेह (वर्षम्) बरसा और (सुदानवः) महादानी, (अजगराः) अजर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) स्रोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (भवन्तु) तृप्त करें । (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनु) अनुकूल (प्र) भले प्रकार (भवन्तु) तृप्त करें ॥६॥

भावार्थ—जैसे जल, बिजुली आदि मिलकर जगत् का उपकार करते हैं, वैसेही मनुष्य परस्पर मिलकर संसार का सुधार करें ॥६॥

मन्त्र ७ व ८ का मिलान करो ॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा
बभूव । स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो
अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥

अपाम् । अग्निः । तनूभिः । सुम्-विदानः । यः । ओषधीनाम् ।
अधि-पाः । बभूव । सः । नः । वर्षम् । वनुताम् । जात-वेदाः ।
प्राणम् । प्र-जाभ्यः । अमृतम् । दिवः । परि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) अग्नि [सूर्य ताप] (अपाम्) जलों के (तनूभिः) विस्तारों से (संविदानः) मिलता हुआ (ओषधीनाम्) चावल, यवादियों का (अधिपाः) विशेष पालन कर्ता (बभूव) हुआ है । (सः) वह (जातवेदाः) धनों का उत्पन्न करने वाला, वा उत्पन्न पदार्थों में सत्ता वाला अग्नि (नः प्रजाभ्यः) हम प्रजाओं के लिये (दिवः) अन्तरिक्ष से (परि) सब

६—(आपः) जलधाराः (विद्युत्) तडित् (अभ्रम्) उदकपूर्णो मेघः (वर्षम्) वृष्टिजलम् (प्र) प्रकर्षेण । अन्यद् यथा म० ७॥

१०—(अपाम्) जलानाम् (अग्निः) सूर्यतापः (तनूभिः) विस्तारैः । कथैः (संविदानः) संगच्छमानः (यः) (ओषधीनाम्) ग्रीहियवादीनाम् (अधिपाः) अधि+पा रक्षणे-विच् । विशेषरक्षकः (बभूव) (सः) तादृशोऽअग्निः (नः) अस्मभ्यम् (वर्षम्) वृष्टिजलम् (वनुताम्) प्रयच्छतु (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । वेदः=धनम्-निघ० २ । १० । जातानि वेदांसि धनानि यस्मात्, यद्वा

और (वर्षम्) बरसा, (प्राणम्) प्राण और (अमृतम्) अमृत [मरण से बचाव का साधन] (वनुताम्) देवे ॥१०॥

भाषार्थ—जैसे सूर्य जल को खँच लेकर फिर बरसा कर सब प्राणियों का जीवन आधार होता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धन प्राप्त करके संसार का उपकार करे ॥१०॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिर्मर्दयाति ।
प्रप्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङ्तेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

प्रजा-पतिः । सलिलात् । आ । समुद्रात् । आपः । ईरयन् ।
उद-धिम् । अर्दयाति । प्र । प्यायताम् । वृष्णः । अश्वस्य ।
रेतः । अर्वाङ् । एतेन । स्तनयित्नुना । आ । इहि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक सूर्य (सलिलात्) व्यापक (समुद्रात्) आकाश से (आपः=अपः) जल (आईरयन्) भेजता हुआ (उदधिम्) [पार्थिव] समुद्र को (अर्दयाति) दबावे [जलखँचे] । (अश्वस्य) व्यापक (वृष्णः) बरसने वाले मेघ का (रेतः) जल (प्रप्यायताम्) अच्छे प्रकार बड़े । [हे पर्जन्य ! तू] (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) गर्जन के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख (आ इहि) आ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—मन्त्र १० के समान है ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद (अर्वाङ्तेन...) ऋ० ५ । ८३ । ६ का तीसर पाद है ॥

जातेषु पदार्थेषु वेदः सत्ता यस्य स तथाभूतः (प्राणम्) जीवनम् (प्रजाभ्यः) सृष्टिपदार्थेभ्यः (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् । अमरणम् (दिवः) अन्तरिक्षात् (परि) परितः ॥

११—(प्रजापतिः) प्रजानां पालयिता वृष्टिप्रदः सूर्यः (सलिलात्) सलिलकल्पनि० । उ० १ । ५४ । इति बल गतौ-इलच् । व्यापनशीलात् (आ) समन्तात् (समुद्रात्) अन्तरिक्षात्-निघ० १ । ३ (आपः) सुपां सुलुक्० ।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां
वरुणाव नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निवाहवो मु-
ण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

अपः । नि-सिञ्चन् । असुरः । पिता । नः । श्वसन्तु । गर्गराः ।
अपाम् । वरुण । अव । नीचीः । अपः । सृज । वदन्तु । पृश्नि-
वाहवः । मुण्डूकाः । इरिणा । अनु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (पिता) पालन करने वाला (असुरः) प्राण
दाता मेघ (अपः) जल धारायें (निषिञ्चन्) उडेलता हुआ [वर्तमान हो] ।
(अपाम्) जलके (गर्गराः) गड़गड़ाते हुये गगरे ((श्वसन्तु) श्वास लेवें ।
(वरुण) हे वरणीय मेघ ! (अपः) जल धाराओं को (नीचीः) नीचे की
ओर (अव सृज्) छोड़दे । (पृश्निवाहवः) छोटी २ भुजा वाले (मुण्डूकाः)
शोभा बढ़ाने वाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडके (इरिणा=इरिणानि) ऊसर
भूमियों को (अनु=अनुदाय) छोड़कर (वदन्तु) ध्वनि करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—बरसा होने पर जैसे मेंडकों में फिर प्राण आजाते हैं इसी
प्रकार अनेक पदार्थ उगकर आनन्द दायक होते हैं ॥ १२ ॥

इस मन्त्रका पहिला पाद (अपो...नः) ऋ० ५ । ८३ । ६ का चौथा पाद है ॥

पा० ७ । १ । ३६ । इति शसः स्थाने जस् । अपः । उदकानि (ईरयन्) प्रेरयन्
(उदधिम्) जलधिम् (अर्दयाति) अर्दयतेल्लेटि आडागमः । अर्दयतु । रश्मि-
भिर्जलादानेन पीडयतु (प्रप्यायताम्) प्रवर्धताम् (वृष्णः) वर्षकस्य मेघस्य
(अश्वस्य) व्यापकस्य (रेतः) स्रुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २० २ । इति रि,
रीङ् स्रवणे—असुन्, तुट् च । उदकम्—निघ० १ । १२ । (अर्वाङ्) अभि-
मुखः सन् (एतेन) पूर्वोक्तेन (स्तनयित्नुना) स्तनिह्वयिपुषि० । उ० ३ । २६ ।
इति स्तन देवशब्दे—इत्युच् । गर्जनेन सह (आ—इहि) आगच्छ हे पर्जन्य ॥

१२—(अपः) जलानि (निषिञ्चन्) न्यग्भावेन नितरां वा वर्षयन्
(असुरः) अ० १ । १० । १ । असून् प्राणान् रातीति । असू+रा दाने-क । प्राण-
प्रदः । मेघः—निघ० १ । १० (पिता) पालकः (नः) अस्माकम् (श्वसन्तु)
उच्छ्वसिता भवन्तु (गर्गराः) मुद्दिमोर्गमौ । उ० । १ । १२८ । इति ग् शब्दे—गप्र-

संवत्सरं शश्याना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

सम्-वत्सरम् । शश्यानाः । ब्राह्मणाः । व्रत-चारिणः ।

वाचम् । पर्जन्य-जिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥१३॥

भाषार्थ—(संवत्सरम्) बोलने के समय तक (शश्यानाः) शयन करने वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ानेवाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडुके, (व्रतचारिणः) व्रतधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों के समान, (पर्जन्यजिन्विताम्) मेह से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र) अच्छे प्रकार (अवादिषुः) बोले ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे वेदज्ञानी पुरुष वेदों में मौन [मनन] व्रत साधकर सत्य ज्ञान से तृप्त होकर संसार में उपदेश करते हैं, इसी प्रकार मेंडुके वृष्टि होने से संतुष्ट होकर बोलते हैं ॥ १४

यह मन्त्र ऋ० ७ । १०३ । १ में है । और निरुक्त ६ । ६ में भी व्याख्यात है ॥

त्ययः । गर्ग+रा-क । गर्गं शब्दं रान्ति ददतीति । शब्दं कुर्वाणः कलसा जल-
पात्राणि । प्रकाहाः (अपाम्) उदकानाम् (वरुण) हे वरणीय जलेश मेघ (नीचीः)
न्यग्भावं गताः (अपः) वृष्टिधाराः (अव) नीचैः (सृज) त्यज (वदन्तु) ध्व-
निं कुर्वन्तु (पृश्निबाहवः) स्वल्पभुजयुक्ताः (मण्डूकाः) शलिमण्डभ्यामू-
कण् । उ० ४ । ४२ । इति मडि भूपणे-ऊकण् । यद्वा । मस्ज स्नाने-ऊकण्,
जकारस्य डकारे नुमि घुत्वम् । मण्डयन्ति भूषयन्ति जलाशयं निमज्जन्ति जले
वा । मण्डूका मज्जूका मज्जनात्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो
मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड पपामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा—निरु०
६।५। मण्डनशीलाः । मज्जनस्वभावाः । मज्जूकाः । भेकाः (इरिणा) अर्तेः किदिच्च ।
उ० २ । ५१ । इति ऋ० हिंसागतिप्रापणेषु—इनन्, शोर्लोपः । इरिणानि । ऊषर-
भूमीः (अनु) हीने । विहाय ॥

१३—(संवत्सरम्) संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति बाहुलकात् सम्
+वद कथने—सरन् प्रत्ययः, सच चित् । चित्वादन्तोदात्तः । सम्यग् वदन-
पर्यन्तम् । वर्षारम्भपर्यन्तम् इत्यर्थः (शश्यानाः) शिश्यानाः श्यानाः । शयन-
शीलाः । निद्रालवः (ब्राह्मणाः) अ० २ । ६ । ३ । वेदपाठिनः । ब्रह्मज्ञानिनो यथा

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।

मध्ये हृदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः ॥ १४ ॥

उप-प्रवद । मण्डूकि । वर्षम् । आ । वद । तादुरि ।

मध्ये । हृदस्य । प्लवस्व । वि-गृह्य । चतुरः । पदः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(मण्डूकि) हे शोभा बढ़ाने वाली वा डुबकी लगाने वाली मेंडुकी ! (उप प्रवद) पास आकर बोल, (तदुरि) हे तैरनेवाली वा उतने [शरीर जितना] उदरवाली (वर्षम्) वर्षा को (आवद) बुला (हृदस्य) पोखर के (मध्ये) बीच में (चतुरः) चारों (पदः) पदों को (विगृह्य) फलाकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे मेंडुकी वर्षा होने पर आनन्द से जल के भीतर तैरती फिरती है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या में मग्न होकर विचरते हैं ॥ १४ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ६।७ में उदाहृत है ॥

खण्वखाश्नु खैमुखाश्नु मध्ये तदुरि ।

वर्षं वनुध्वं पितरे मरुतां मन इच्छत ॥ १५ ॥

खण्वखाश्नु । खैमुखाश्नु । मध्ये । तदुरि ।

वर्षम् । वनुध्वम् । पितरः । मरुताम् । मनः । इच्छत ॥ १५ ॥

(व्रतचारिणः) व्रत + चर-णिनि । कृतसंयमाः (वाचम्) वाणीम् (पर्जन्यजि-
न्विताम्) जिवि प्रीणने—क । पर्जन्येन प्रीतां तर्पिताम् (प्र) प्रकर्षेण (मण्डूकाः)
म० १२ । मज्जूकाः । भेकाः (अवादिषुः) वद—लुङ् । अबोचन् ॥

१४—(उपप्रवद) उपेत्य प्रकृष्टं घोषं कुरु (मण्डूकि) मण्डूक, म० १२
स्त्रियां ङीष् । हे मण्डनशीले । निमज्जनस्वभावे । भेकि (वर्षम्) वृष्टिम् (आ
वद) आभाषय (तदुरि) तरणशीले ! अथवा तावत् उदरि ! यावच्छरीरं ताव-
देवोदरं तस्याः—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्—६।७ । ददुरि इत्यस्यैव
इन्द्राक्ष रूपम् । मकुरददुरौ । उ० १ । ४० । इति इ विदारणे—उरच्, निपातनात्
साधुः । इणाति भूमिं करणौ वा स ददुरः । ङीष् । हे ददुरि ! मण्डूकि ! (मध्ये)
मध्यदेशे (हृदस्य) हाद अव्यक्तशब्दे—अच् । पृषोदरादि ह्रस्वत्वम् । जला-
शयस्य (प्लवस्व) प्रतर (विगृह्य) प्रसार्य (चतुरः) (पद) पादान ॥

भाषार्थ—(खण्वखा ३ इ=खण्वखे) हे खनती में लंगड़ाने वाली (खेमखा ३ इ=खेमखे) हे कष्ट में ठहरी हुई (तदुरि=ददुरि) हे [भूमि वा कान] फोड़नेवाली दादुरी ! (मध्ये) [जल के] भीतर वर्तमान ! और (पितरः) हे पालन करनेवाले विद्वान् किसान आदि लोगो ! (वर्षम्) वर्षा का (वनध्वम्) सेवन करो (मरुताम्) याजकों के (मनः) मन को (इच्छत) चाहो [प्रसन्न करो ॥ १५ ॥

भावार्थ—वृष्टि होने से अन्न आदि पदार्थों की उत्पत्ति से सब प्राणी मेंडुकी के समान प्रसन्न होते हैं और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होते हैं ॥१५॥

महान्तं कोशमुदचाभि पिञ्च सविद्युतं भवतु वातु
वातः । तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनी-
रोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

महान्तम् । कोशम् । उत् । अच । अभि । सिञ्च । स-विद्युतम् ।
भवतु । वातु । वातः । तन्वताम् । यज्ञम् । बहु-धा । वि-
सृष्टाः । आ-नन्दिनीः । ओषधयः । भवन्तु ॥ १६ ॥

१५—(खण्वखा ३ इ=खण्वखे) अशुप्रुपि० । उ० । १ । १५१ । इति खनु अव-
दारणे—कन् । एत्वं छान्दसम् । खजि गतिवैकल्ये—ड । टाप् । एचेऽप्रगृह्यादूरा-
द्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ । पा० ८ । २ । १०७ । इति एकारं विगृह्य अका-
रस्य प्लुतः । खण्वे खनने छिद्रे खजति सा खण्वखा, तत्सम्बुद्धौ खण्वखे ।
हे बिले पङ्गुगते ! (खेमखा ३ इ=खेमखे) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति
खै स्थैर्यं, खनने, हिंसायां चेति शब्दकल्पद्रुमः—ततो मन् प्रत्ययः, स च णित् ।
पुनः खै—ड, टाप् । खैमे हिंसायां कष्टे खायति तिष्ठति सा खैमखा । हे कष्ट-
स्थिते (तदुरि) म० १४ ! हे ददुरि ! मण्डूकि (वर्षम्) वृष्टिम् (वनध्वम्)
वन सम्मकौ । सेवध्वम् (पितरः) हे पालयितारो विद्वांसो यूयं च (मरुताम्)
ऋत्विजाम्—निघ० ३ । १८ । दोषनाशकानां याजकानाम् (मनः) चित्तम्
(इच्छत) कामयध्वम् ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (महान्तम्) बड़े (कोशम्) धन भण्डार-
को (उत् अच) ऊंचा कर, (अभि) सब ओरसे (सिञ्च) बरसा दे । (सवि-
द्युतम्) समान विविध प्रकाशित [जगत्] (भवतु) होवे । (वातः) वायु (वातु)
[अनुकूल] चले । (बहुधा) अनेक प्रकार से (विस्टृष्टाः) फैली हुई (ओषधयः)
आविल, यव आदि ओषधे (यज्ञम्) यज्ञ को (तन्वताम्) फैलावें, और (आन-
न्दिनीः = ०—न्यः) आनन्द युक्त (भवन्तु) होवें ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा के अगुग्रह से मनुष्य प्रयत्न पूर्वक धन संचय करें
और वायु, वृष्टि आदि से उपकार लेकर यज्ञ अर्थात् अनेक विज्ञान युक्त कर्मों
को फैलावें और अन्न आदि पदार्थ को पुष्टिकारक करें ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद (महातं...सिञ्च) ऋ० ५ । ८३ । ८ में है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-८ ॥ वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २-६ त्रिष्टुप् ७ जगती,
८, ९, त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

वरुणस्य सर्वव्यापकतोपदिश्यते—वरुण की सर्वव्यापकता का उपदेश ॥

बृहन्नैषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।

यस्तायन्मन्यते चरन्तसर्वे देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

बृहन् । एषाम् । अधि-स्थाता । अन्तिकात्-इव । पश्यति ।

यः । तायत् । मन्यते । चरन् । सर्वम् । देवाः । इदम् । विदुः ॥ १ ॥

१६—(महान्तम्) विशालम् (कोशम्) कुश श्लेषे-घञ् । हिरण्यादिस्थापन-
गृहम् । मेघम्-निघ० १ । १० (उत् अच) अञ्चु गतौ । ऊर्ध्वं प्राप्नुहि । उत्थापय
(अभि) अभितः (सिञ्च) वर्षय (सविद्युतम्) स+वि+द्युत दीप्तौ—क ।
समानं विविधं प्रकाशितं जगत् (भवतु) (वातु) अनुकूलं संचरतु (वातः) पवनः
(तन्वताम्) विस्तारयन्तु (यज्ञम्) यजनीयं कर्म (बहुधा) नामाप्रकारेण
(विस्तृष्टाः) उत्पन्नाः । वितीर्णाः (आनन्दिनीः) आनन्द-इनि, डीप् । आनन्दिन्यः ।
हर्षयुक्ताः (ओषधयः) ओषधिवतरुगुल्मादयः ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [लोकों] का (बृहन्) बड़ा (अधिष्ठाता) अधिष्ठाता [वह वरुण] (अन्तिकात् इव) समीप में वर्तमान सा (पश्यति) देखता है, (यः) जो [वरुण] (तायत्) विस्तार वा पालन (चरन्) करता हुआ (सर्वम्) सब जगत् को (मन्यते) जानता है । (देवाः) व्यवहार में कुशल देवता लोग (इदम्) यह बात (विदुः) जानते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ—परमात्मा सर्व नियन्ता, सर्वज्ञाता, सर्वस्वष्टा और सर्वरक्षिता है, इस बात को ऋषि महात्मा साक्षात् करते हैं ॥ १ ॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति
यः प्रतङ्कम् । द्वौ सन्निषद्य यन्मुन्त्रयेते राजा तद् वेदु
वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

यः । तिष्ठति । चरति । यः । च । वञ्चति । यः । नि-लायन् ।
चरति । यः । प्र-तङ्कम् । द्वौ । सुम्-निषद्य । यत् । मुन्त्रयेते
इति । राजा । तत् । वेदु । वरुणः । तृतीयः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तिष्ठति) खड़ा होता है, वा (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो पुरुष (वञ्चति) ठगी करता है, और (यः) जो (निलायन्) भीतर घुसकर, और (यः) जो (प्रतङ्कम्) बाहिर निकलकर

१—(बृहन्) महान् (एषाम्) दृश्यमानानां लोकानाम् (अधिष्ठाता) नियन्ता (अन्तिकात्) इव समीपदेशाद् यथा (पश्यति) अवलोकयति (यः) वरुणः (तायत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छ्रुत्कच । ३० २ । ८४ । इति तायु सन्तानपालनयोः—अति । विस्तारम् । पालनम् (मन्यते) जानाति (चरन्) चर आचारे-शत् । कुर्वन् सन् (सर्वम्) सरणशीलं जगत् (देवाः) व्यवहार-कुशलाः । विद्वांसः (इदम्) निर्दिष्टं वृतम् (विदुः) विदन्ति । जानन्ति । साक्षात् कुर्वन्ति ॥

२—(यः) पुरुषः (तिष्ठति) स्थितो भवति (चरति) गच्छति (वञ्चति) प्रतारयति । वञ्चनं करोति (निलायन्) नि + ली श्लेषे द्रावणे च—शत् । निलीनः अदृश्यः सन् (चरति) आचरति (प्रतङ्कम्) प्र + तङ्कि कृच्छ्रजीवने-णमुत् ।

(चरति) काम करता है और (द्वौ) दो जने (संनिपद्य) एक साथ बैठकर (यत्) जा कुछ (मन्त्रयेते) कानाफूँसी करते हैं, (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरुणीय वा दुष्टनिवारक वरुण परमेश्वर (तत्) उसे (वेद) जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्राणियों के गुप्त से गुप्त कर्मों को सर्वथा जानता और उनका यथावत् फल देता है ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहतीदुरेअन्ता ।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३

उत । इयम् । भूमिः । वरुणस्य । राज्ञः । उत । असौ । द्यौः । बृहती । दुरे- अन्ता । उतो इति । समुद्रौ । वरुणस्य । कुक्षी इति । उत । अस्मिन् । अल्पे । उदके । नि-लीनः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इयम् भूमिः) यह भूमि (उत) भी, (उत) और (असौ) वह (बृहती) बड़ा, (दुरे अन्ता) [पृथिवी से] दूर गति वाला (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा का है, (उतो) और भी [पृथिवी और आकाश के] (समुद्रौ) दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं, (उत) और वह (अस्मिन्) इस (अल्पे) थोड़े से (उदके) जल में भी (निलीनः) लीन हो रहा है ॥ ३ ॥

प्रकृष्टगमनं बहिर्गमनं प्राप्य (द्वौ) यौ पुरुषौ (संनिपद्य) सहोपविश्य (यत्) यत्किञ्चित् कार्यम् (मन्त्रयेते) मन्त्रि गुप्तभाषणे । रहसि गुप्तं भाषेते (राजा) ईश्वरः (सर्वम्) (वेद) वेत्ति (वरुणः) वरुणीयो दुष्टानां निवारको वा (तृतीयः) त्रेः संप्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि—तीय, संप्रसारणं च । त्रयाणां पूरकः ॥

३—(उत) अपि (इयम्) दृश्यमाना (भूमिः) (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (राज्ञः) ईश्वरस्य । समर्थस्य (असौ) विप्रकृष्टा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यलोकः (बृहती) महती (दूरेअन्ता) दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर + इण् गतौ—रक् । इति दूरम् । हसिमृप्रिणवामि० । उ० ३ । ८६ । इति

भावार्थ—वरुण परमात्मा की ईश्वरता बड़ों से बड़े और छोटों से छोटे पदार्थों में है, अर्थात् यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् उसी के आकर्षण, धारण, संयोग, वियोग सामर्थ्य में स्थित हैं। उसकी उपासना करके सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ ३ ॥

उत यो द्यामंति सर्पात् परस्तान्न स मुच्यतै वरुणस्य राज्ञः । दिवं स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

उत । यः । द्याम् । अति--सर्पात् । परस्तात् । न । सः । मुच्यतै । वरुणस्य । राज्ञः । दिवः । स्पशः । प्र । चरन्ति । इदम् । अस्य । सहस्र-अक्षाः । अति । पश्यन्ति । भूमिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (यः) जो [दुष्ट] (परस्तात्) दूर देश में (द्याम्) सूर्य लोक को (अतिसर्पात्) पार करके चुपके से रेंग जावे, (सः) वह पुरुष (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की (न मुच्यतै) मुक्ति न पासके । (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) इस [वरुण] के (स्पशः) बन्धन सामर्थ्य (इदम्)

अम गतौ—तन् । अन्तो अततेः—निरु ४ । २५ । पृथिव्या दूरे अन्तं गमनं यस्याः सा । (उतो) अपि च (समुद्रौ) अन्तरिक्षभूमिस्थौ जलधी (कुक्षी) प्लुषि कुषिशुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । इति कुष निष्कर्षेः क्सि । उदरस्य दक्षिणवाम-पाश्वौ यथा (अस्मिन्) निकटस्थे (अल्पे) अन्न वारणपर्याप्तिभूषासु-पप्रत्ययः । लेशमात्रे (उदके) जले (निक्षीनः) अन्तर्हितः ॥

४—(उत) अपि च (यः) दुष्टः (द्याम्) सूर्यलोकम् (अतिसर्पात्) सृप—लेट् । अतिक्रम्य सर्पेत् गुप्तं गच्छेत् (परस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी० । पा० ५ । ३ । २७ । इति पर-अस्ताति । परिस्मन् दूरे देशे (न) नहि (सः) पुरुषः (मुच्यतै) मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः, वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ६६ । इति ऐकारः । मुक्तिं प्राप्नुयात् (वरुणस्य) वरुणस्य परमेश्वरस्यो (राज्ञः) ईश्वरस्य (दिवः) प्रकाशमानस्य (स्पशः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः—किप । बाधमानाः । बन्धाः । पाशाः (प्र चरन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति (इदम्)

इस [जगत्] में (प्र चरन्ति) चलते रहते हैं, [उन्न को] (सहस्राक्षाः) सहस्र प्रकार की दृष्टि वा व्यवहार वाले पुरुष (भूमिम् अति) भूमि के पार (परयन्ति) देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—चाहे कोई दुष्कर्म करके कहीं छिप जावे, तौ भी वह वरुण परमेश्वर के अखंड दण्ड से नहीं बच सकता । वह अपनी करनी का फल इस जन्म वा परजन्म में अवश्य पाता है ॥ ४ ॥

सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्
पुरस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनानामुक्षानिव
श्वघ्नी नि मिनाति तानि ॥ ५ ॥

सर्वम् । तत् । राजा । वरुणः । वि । चष्टे । यत् । अन्तरा ।
रोदसी इति । यत् । पुरस्तात् । सम्-ख्याताः । अस्य । नि-
मिषः । जनानाम् । उक्षान्-इव । श्व-घ्नी । नि । मिनाति ।
तानि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(राजा वरुणः) राजा वरुण (तत् सर्वम्) वह सब (वि चष्टे) देखता रहता है, (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) सूर्य और भूमि के बीच में, और (यत्) जो कुछ (पुरस्तात्) परे है । (जनानाम्) मनुष्यों के (निमिषः) पलक मारने (अस्य) इस [वरुण] के (संख्याताः) गिने हुये

दृश्यमानं जगत् (अस्य) वरुणस्य (सहस्राक्षाः) अ० ३ । ११ । ३ । सहस्र + अक्षि-बच् । यद्वा । सहस्र + अक्ष । सहस्राणि बहूनि अक्षीणि दर्शनसामर्थ्यानि, अथवा, अक्षा व्यवहारा येषां ते तथाभूताः । बहुदर्शकाः बहुव्यवहारशीलाः पुरुषाः (अति) अतीत्य (परयन्ति) साक्षात्कुर्वन्ति तान् स्पशः (भूमिम्) भूलोकम् ॥

५—(सर्वम् तत्) सकलं वृत्तम् (राजा वरुणः) समर्थः परमेश्वरः (विचष्टे) अ० ४ । ११ । २ । विशेषेण पश्यति (यत्) (रोदसी अन्तरा) आवा-पृथिव्योर्मध्ये (पुरस्तात्) म० ४ । दूरदेशे (संख्याताः) परिगणिताः (अस्य) वरुणस्य (निमिषः) मिष स्पर्धायाम्—किप । निमेषाः । चक्षुः । स्पन्दनकालाः ।

हैं, वह (तानि) हिंसा कर्मों को (नि मिनोति) गिरा देता है (श्वघ्नो इव)
जैसे धन हारने वाला जुआरी (अज्ञान्) पासों को [गिरा देता है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—वरुण सर्वज्ञ सर्वनिपन्ता है, वह दुष्टों को दण्ड देकर ऐसे
गिरा देता है जैसे हारा जुआरी निर्धन होकर क्रोध से पासे आदि पटक देता है ।
यहां गिराने मात्र में दृष्टान्त है ॥ ५ ॥

ये ते पाशा वरुण सुप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता
रुशन्तः । छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्त यः सत्यवादाति
तं सृजन्तु ॥ ६ ॥

ये । ते । पाशाः । वरुण । सुप्त-सप्त । त्रेधा । तिष्ठन्ति ।
वि-सिताः । रुशन्तः । छिनन्तु । सर्वे । अनृतम् । वदन्तम् ।
यः । सत्य-वादी । अति । तम् । सृजन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्ट निवारक परमेश्वर ! (सप्तसप्त=सप्त-
सप्ताः) सात धाम [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट् अर्थात् स्थूल जगत्,
परमाणु और प्रकृति] से सम्बन्धवाले, (त्रेधा) तीन प्रकार से [भूत, भविष्यत्
और वर्तमान काल में] (विषिताः) फैले हुए (रुशन्तः) [दुष्टों वा दोषों

(जनानाम्) प्रीणिनाम् (अज्ञान्) अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अश्व व्याप्तौ-
स । छूतसाधनानि (इव) यथा (श्वघ्नी) कर्मणि हनः । पा० ३ । २ । ७६ इति ।
स्व+हन—णिनि । सस्य शः । श्वघ्नो कितवो भवति, स्वं हन्ति स्वं पुनराश्रितं
भवति—निरु० ५ । २२ । स्वहा, स्वघाती । धननाशकः । छूतकारकः (निमि-
नोति) डुमिञ् प्रक्षेपणे । नीचैः क्षिपति (तानि) तर्द हिंसे-ड । तर्दनानि ।
हिंसनानि ॥

ई—(ये) (ते) तव (पाशाः) अ० १ । ३१ । २ । बन्धनानि (वरुण)
परमेश्वर (सप्तसप्त) सप्तशब्दां तुद् च । उ० १ । १५७ । इति षपसप्रवाये-
कनिर्दुद् च । षप—क्त । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्ते लुक्
मध्यपदलोपश्च । सप्तसप्ताः । सप्तधामभिः पृथिवीजलाग्निवायुविराट्परमा-
णुप्रकृतिभिः संवेताः संबद्धाः—यथा [पृथिव्याः सप्त धामभिः] ऋ० १ । २२ ।

को] नाश करते हुये (ये) जो (ते) तेरे (पाशाः) फांस वा जाल (तिष्ठन्ति) स्थित हैं । (सर्वे) वे सब [फांस] (अनृतं वदन्तम्) मिथ्या बोलने वाले को (छिनन्तु) छिन्न भिन्न करें, और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तम्) उसकां (अति) सत्कार पूर्वक (सृजन्तु) छोड़ें ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा प्रत्येक वस्तु और काल में व्यापक होकर दुष्टों को यथावत् दण्ड और शिष्टों को यथावत् आनन्द देता है ॥ ६ ॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते' मोच्यन्तुवाङ्
नृचक्षः । आस्तां जालम् उदरं श्रंशयित्वा केश इवा-
बन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

शतेन । पाशैः । अभि । धेहि । वरुण । एनम् । मा । ते ।
मोचि । अनृत-वाक् । नृ-चक्षुः । आस्ताम् । जालम् । उदरम् ।
श्रंशयित्वा । केशः-इव । अबन्धः । परि-कृत्यमानः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्टनिवारक परमेश्वर ! (शतेन) सौ (पाशैः) फांसों से (एनम्) इस [मिथ्यावादी] को (अभि धेहि) बांध ले, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखनेवाले ! (अनृतवाक्) मिथ्यावादी पुरुष (ते) तेरी (मा मोचि) मुक्ति न पावे । (जालम्) नीच अन्यायी (उदरम्) युद्ध कर्म को (श्रंशयित्वा =

१६ । इत्यत्र दयानन्दभाष्ये (त्रेधा) त्रिप्रकारं भूतभविष्यत्तत्तमानकालेषु (तिष्ठन्ति) वर्तन्ते (विविताः) विभ्र वन्धने-क्त । विविधं बद्धाः । विस्तृताः (रुशन्तः) दुष्टान् दायान् वा हिंसन्तः (छिनन्तु) छिन्दन्तु (सर्वे) पाशाः (अनृतम्) असत्यम् (वदन्तम्) कथयन्तम् (यः) (सत्यवादी) सत्यवक्ता (तम्) (अति) अत सातत्यगमने—इन् । पूजयाम् । उत्कर्षे । (सृजन्तु) त्यजन्तु मुञ्चन्तु ॥

७—(शतेन) बहुभिः (पाशैः) दण्डबन्धनैः (अभि धेहि) अभिपूर्वा दधातिर्बन्धने । बधान (वरुण) हे दुष्टनिवारक (एनम्) अनृतवादिनम् (ते) तव (मा मोचि) मुक्तिं न प्राप्नुयात् (अनृतवाक्) मिथ्यावादी (नृचक्षः) चक्षो-र्बुद्धौ शिञ्च । उ० ४ । २३३। नृ + चक्षिर्बुद्धौ—असुन् । हे नृणां मनुष्याणां साध्व-साधुश्च रित्राणां द्रष्टः (आस्ताम्) तिष्ठन्तु (जालम्) जल अपवारणे—मप्रत्ययः ।

संसयित्वा) नीचे गिराकर (परिकृत्यमानः) कटी हुई, (अबन्धः) अपने से छुटी (कोशः इव) फूल की कली के समान (आस्ताम्) बैठा रहे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के दण्ड से कोई मिथ्यवादी नहीं छूट सकता, और अधर्मी दुष्ट धर्मात्माओं के सम्मुख ऐसा गिर जाता है, जैसे फूल की अधखिली कली अधिक पवन आदि के कारण गिरकर कुहलता जाती है ॥७॥

यः समाम्यो वरुणो यो व्याम्यो यः संदेश्यो वरुणो यो विदेश्यः । यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः ॥८॥

यः । सम-आम्यः । वरुणः । यः । वि-आम्यः । यः । सम-देश्यः । वरुणः । यः । वि-देश्यः । यः । दैवः । वरुणः । यः । च । मानुषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) वरुण परमेश्वर (यः) व्यापक, (समाम्यः) समान सेवनीय, (यः) सर्वनियन्ता और (व्याम्यः) पीड़ा रहित है, (वरुणः) वरुण ही (यः) यत्नशील, (संदेश्यः) समान देशीय, (यः) संयोग और वियोग

जालयति दूरी करोति हितज्ञानमिति । पामरः । क्रूरः (उदरम्) उद्दिष्टातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १६ । इति उद्+ट् विदार-अच् । उद्दो दस्य लोपः । उद्दिदारणं युद्धम् (अंशयित्वा) संसु अवसंसने=अधः पतने लिचि क्त्वा, सकारस्य शकारः । संसयित्वा । अधः पातयित्वा (कोशः) कुश संश्लेषे-अच् । कोशोऽस्त्री कुड्मले, इत्यमरः—२३ । २१८ । कुड्मलः । विकासोन्मुखकलिका (इव) यथा (अबन्धः) बन्धेन शास्त्रासंयोगतन्तुना विश्लिष्टः (परिकृत्यमानः) कृती छेदने-कर्मणि यक्, शानच्, मुक् च । परिच्छिद्यमानः ॥

८—(यः) या गतौ-ङ । व्यापकः (समाम्यः) ऋहलोर्णयत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति सम्+अम गतौ, भजने च-एयत् । सम्यग् आम्योः भजनीयः सेवनीयः (वरुणः) वरुणीयः सर्वश्रेष्ठः (यः) यम-ङ । नियन्ता (व्याम्यः) वि+अम पीडने-भावे एयत् । विगतम् आम्यं पीडनं यस्मात् सः । पीडारहितः । आनन्द-स्वरूपः (यः) यती बल-ङ । यत्नशीलः (संदेश्यः) दिगादिभ्यो यत् । पा० ४ । ३ । ५४ । इति देश-यत् । समानदेशे भवः (यः) यु मिभ्रणामिभ्रणयोः—ङ । यविता संयोक्ता वियोक्ता च (विदेश्यः) पूर्ववद्-यत् । विदेशे भवः (यः) यज देवपू-

करने वाला, (विदेश्यः) विदेशीय है । (वरुणः) वरुण ही (यः) पूजनीय, (दैवः) दिव्य गुण वालों में वर्तमान, (च) और (वः) दाता, और (मानुषः) मननशील मनुष्यों में वर्तमान है ॥८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा भले प्रकार जान कर अपने आत्मा की उन्नति करें ॥८॥

तैस्त्वा सर्वैरुभि ष्यामि पाशैरसात्रामुष्यायणामुष्याः

पुत्र । तानु ते सर्वाननु संदिशामि ॥ ९ ॥

तैः । त्वा । सर्वैः । उभि । ष्यामि । पाशैः । असौ । आमु-
ष्यायण । अमुष्याः । पुत्र । तान् । जं इति । ते । सर्वान् ।
अनु-संदिशामि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(असौ=असौ त्वम्) वह तू (आमुष्यायण) हे अमुक पिता के पुत्र ! और (अमुष्याः पुत्र) हे अमुक माता के पुत्र ! (त्वा) तुझ को (तैः सर्वैः) उन सब (पाशैः) नियम बन्धनों से (उभि ष्यामि) मैं [वरुण] बांधता हूं, और (तान् सर्वान्) उन सबों को (जं) अवश्य (ते) तेरे लिये (अनुसंदिशामि) समीप से समझाता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने वेद द्वारा स्पष्ट दिखा दिया है कि सत्कर्म सुख के और दुष्कर्म दुःख के मूल हैं । इस लिये मनुष्य दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्म करके आनन्द भोगें ॥ ९ ॥

जने-ड । पूजनीयः (दैवः) देवाद् यजमौ । वा० पा० ४।१।८५। इति दैव-अज् । देवेषु दिव्यगुणवत्सु भवः (यः) यज दाने—ड । दाता (च) समुच्चये (मानुषः) अ० ४ । १४ । ५ । मनुष्येषु मननशीलेषु भवः ॥

९—(तैः) सुप्रसिद्धैः (त्वा) त्वां मनुष्यम् (सर्वैः) (उभि ष्यामि) अभिपूर्वः षो बन्धने । बध्नामि, अहं वरुणः (पाशैः) बन्धैः (असौ) स त्वम् (आमुष्यायण) अमुष्य, अदस् इत्यस्य षष्ठी, फक्, षष्ठ्या, अलुक् । हे अमुष्य-पुरुषस्य पुत्र । हे प्रक्यातकुलोद्भव (अमुष्याः) स्त्रियाम् अदस्-षष्ठी । अमुक-जनन्याः (पुत्र) (तान्) (सर्वान्) पाशान् (जं) अवश्यम् (ते) तुभ्यम् (अनुसंदिशामि) दिश दाने आज्ञापने । अनु सामीप्येन विज्ञापयामि निरूपयामि ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्वापामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे ।

चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

ईशानाम् । त्वा । भेषजानाम् । उत्-जेषे । आ । रभामहे ।

चक्रे । सहस्र-वीर्यम् । सर्वस्मै । ओषधे । त्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ईशानाम्) समर्थ (भेषजानाम्) भय निवारक पुरुषों में (त्वा) तेरा (उज्जेषे) [शत्रुओं को] जीतने के लिये (आ-रभामहे) हम आभय लेते हैं । (ओषधे) हे ताप नाशक [वा अन्न आदि ओषधि के समान उपकारक !] (सर्वस्मै) सब जनों के लिये (त्वा) तुझे (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाला (चक्रे) उस [परमात्मा] ने बनाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों में महा पुरुषार्थी पुरुष को अपना प्रधान बनावे और उससे अपनी रक्षा का सहारा लें ॥ १ ॥

सुत्यजितं शपथुयावन्तीं सहमानां पुनः सुराम् ।

सर्वाः समूह्योषधीरिति नः पारयादिति ॥ २ ॥

सुत्य-जितम् । शपथ-यावन्तीम् । सहमानाम् । पुनः-सुराम् ।

सर्वाः । सम् । अ-हि । ओषधीः इति । नः । पारयात् । इति ॥ २ ॥

१—(ईशानाम्) ईश ऐश्वर्य—क । ईश्वराणां समर्थानाम् (त्वा) त्वां राजानम् (भेषजानाम्) भेष + जि जये-ड । भेषस्य भयस्य जेतृणां मध्ये (उज्जेषे) तुमर्थे लेलेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति जि-सेप्रत्ययः । उज्जेतुं निवारयितुं शत्रून् (आ रभामहे) आङ् पूर्वको रभ स्पर्शे । संस्पृशामः । आभयामः (चक्रे) स परमेश्वरः कृतवान् (सहस्रवीर्यम्) अपरिमितसामर्थ्ययुक्तम् (सर्वस्मै) सर्वजनहिताय (ओषधे) हे दाहनाशक ! अन्नाद्योषधिवद् उपकारक (त्वा) त्वाम् ॥

भाषार्थ—(सत्यजितम्) सत्य से जीने वाली, (शपथयावनीम्) शाप वा क्रोध वचन हटाने वाली, (सहमानाम्) शत्रुओं को हराने वाली, और (पुनः सराम्) बारंबार आगे बढ़ाने वाली सेना को, और (सर्वाः) सब (ओषधीः) ताप नाश करने वाली प्रजाओं को (सम् अहि) यथावत् मैंने आवाहन किया है, (इतः) इस [कठिन कर्म] से (नः) हमें (पारयात्) वह [पुरुषार्थी] पार लगावे, (इति) इस अभिप्राय से ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा प्रतिनिधि सब हितकारी सेना और प्रजा गणों को बुला कर शत्रुओं से बचने के लिये राजा बानाने का प्रयोजन प्रकाशित करे ॥ २ ॥

या शुशाप् शपनेन याघं मूरमादधे ।

या रसस्य हरणाय जातमरे मे लोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

या । शुशाप । शपनेन । या । अघम् । मूरम् । आ-दधे ।

या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रे मे । लोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवनचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिसने (अघम्) दुःख देने वाली (मूरम्) मूलको (आदधे) जमा लिया है । और (या) जिसने (रसस्य) रस के (हर-

२—(सत्यजितम्) जि-क्विप्, तुक् । सत्येन जयशीलाम् (शपथयावनीम्) शु अभिश्रणे-णिच्, ल्युट्-डीप् । शपथस्य आक्रोशस्य क्रोधवचनस्य पृथक्कर्त्री-नाशयित्रीम् (सहमानाम्) अभिभवशीलाम् (पुनः सराम्) पुनः पुनः सरति प्रवर्तते सा तां सेनां प्रजां वा (सर्वाः) (सम्) सम्यक् । (अहि) अहे । आ-हृतवानस्मि (ओषधीः) तापनिवारिकाः प्रजाः (इतः) अस्मात् कठिनकर्मणः (नः) अस्मान् (पारयात्) पार कर्मसमाप्तौ । अस्मत्कर्तव्यं समापयेत् । पारं गमयेत् स राजा (इति) अनेन हेतुना ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १ । २८ । ३ । इह शब्दार्थो दीयते । (या) शत्रुसेना (शशाप) अनिष्टकथनं कृतवती । (शपनेन) शापेन कुवचनेन (अघ-म्) दुःखकरम् (मूरम्) लस्य रः । मूलं प्रतिष्ठाम् (आदधे) परिजग्राह (रसस्य) सारस्य । आनन्दस्य (हरणाय) नाशनाय (आरेमे) आलम्बे । स्पृष्टवती (लोकम्) वर्धनम् । सन्तानम् (अत्त) भक्षयतु (सा) शत्रुसेना ॥

णाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) छूआ है, (सा) वह [शत्रुसेना] (नोकम्) अपनी बढ़ती वा संतान को (अस्तु) खा लेवे ॥३॥

भावार्थ—जल शत्रु सेना दुर्वचन बोलती और उपद्रव मचाती बढ़ती आवे, युद्ध कुशल सेनापति उनमें भेद डाल दे कि वह लोग अपने संतान अर्थात् इष्ट मित्रों को ही नाश करदे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र पहले आ चुका है—अ० १ । २८ । ३ ॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते ।

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि ॥४॥

याम् । ते । चक्रुः । आमे । पात्रे । याम् । चक्रुः । नील-लोहिते ।

आमे । मांसे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । तया । कृत्या-कृतः ।

जहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हिंसाकारियों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (नीललोहिते=नीलरोहिते) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति में (चक्रुः) उन्होंने किया है । (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को [तेरे] (यामे) चलने में वा (मांसे) ज्ञान वा काल वा मांस में (चक्रुः)

४—(याम्) कृत्याम् (ते) तव (चक्रुः) कृतवन्तः ते कृत्याकृतः (आमे) अम गतिभोजनादिषु-घञ् । भोजने (पात्रे) दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति पा पाने-त्रन् । पाने जलभाजने वा (नीललोहिते) नि नितराम् इलन्ति प्राप्नुवन्ति यं स नीलो निधिः कोशः । नि+इल गतौ-क । रुहेश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति रुह बीजजन्मनि, प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्यलः । निधीनां प्रदुर्भावे, उत्पत्तौ (आमे) अम गतौ-घञ् । गमने (मांसे) मनेर्दीघश्च । उ० ३ । ६४ । इति मन ज्ञाने, अच्छे, गर्वे, धृनौ-सप्रत्ययः, दीर्घश्च । मन्यते ज्ञायते ध्रियते वानेन तन्मांसम् । ज्ञाने । मांसः कालः, कीटः—इति शब्दकलपद्रमः । काले । यद्वा रक्त-जघातुविशेषः (कृत्याम्) अ० ४ । ६ । १ । हिंसाक्रियाम् । विपत्तिम् (तया) कृत्या (कृत्याकृतः) कृत्या + उकृञ् करणे-क्विप्, तुक् । हिंसाकारिणः पुरुषान् हन-लोड् । नाशय ॥

उन्होंने किया है, (तथा) उस [हिंसा] के कारण (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) नाश करदे ॥४॥

भावार्थ—जो दुष्कर्मी राजा के खान, पान, धनसंचय, मार्ग, वा सत्य सत्य जानने, वा काल के सुप्रयोग वा शरीर में विपत्ति डालें, राजा उनको यथा-वत् दंड देकर नाश कर दे ॥ ४ ॥

दौष्वप्यन्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।

दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

दौः-स्वप्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः ।

दुः-नाम्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥५॥

भाषार्थ—(दौष्वप्यम्) नीद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राजसूय, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा ऐसी नीति बलावे कि प्रजागण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नीद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लग्न रहें ॥ ५ ॥

५—(दौष्वप्यम्) दुर्+स्वप्+प्यञ् । बाह्याभ्यन्तरकारणैः स्वप्नावसादं निद्रामग्नम् (दौर्जीवित्यम्) दुर्+जीवित+प्यञ् । दुर्जीवनत्वम् (रक्षः) राजसूयम् (अभ्वम्) अश्व प्रुषि० । ७० १ । १५१ । इति अग्नि शब्दे-बवन्, नलोपः । अभवो महत्त्वम्—निघ० ३ । ३ । महद् । अतिभयकरम् । (अराय्यः) अ० २ । १४ । ३ । शसि जस् । अरायीः । अलक्ष्मीः । विपत्तीः (दुर्णाम्नीः) दुर्+नामन्—ऊष् दुष्टनामोपेताः (सर्वाः) दुर्वाचः । दुष्टवाणीः (ताः) (अस्मत्) अस्मत्क-काशात् (नाशयामसि) नाशयामः ॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।

अपामार्गत्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ६ ॥

क्षुधा-मारम् । तृष्णा-मारम् । अगोताम् । अनप-त्यताम् ।

अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अपं । मृज्महे ॥६॥

भाषार्थ—(क्षुधामारम्) भूख से मरना, (तृष्णामारम्) पिबास से मरना, (अगोताम्) गौओं की हानि, और (अनपत्यताम्) बच्चों का अभाव, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक ! [वा अपामार्ग औषध के समान उपकारी राजन् !] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (अपं मृज्महे) शोधते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा के सुप्रबन्ध से सुखा के समय भी अन्न, जल, गौ, बैल आदि की बहुतायत से मनुष्य यथावत् बढ़ते रहते हैं ॥ ६ ॥

(अपामार्ग) का अर्थ सर्वथा संशोधक है, और एक औषध भी है, जिस से कफ, बवासीर, खुजिली, उदर रोग और विष रोग का नाश होता है ॥ ६ ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराज्यम् ॥

अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ७ ॥

तृष्णा-मारम् । क्षुधा-मारम् । अथो इति । अक्ष-पराज्यम् ।

अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अपं । मृज्महे ॥७॥

६—(क्षुधामारम्) मृज्—घञ् । क्षुत्पीडया मरणम् (तृष्णामारम्) पिबासया मरणम् (अगोताम्) गवाम् अभावम् (अनपत्यताम्) अपत्यानां राहित्यम् (अपामार्गं) अप+आङ्+मृज् शौचालंकारयोः—घञ् । हे सर्वथा संशोधक । हे अपामार्गौषधवद् उपकारिन् ! अपामार्गपर्यायः—अपामार्गः शैस्वरिको धामार्गवमयूरकौ—इत्यमरः, १४ । ८८ । अस्यगणाः । कफार्शः कण्डूदरामक्षि-षरोगनाशित्वम्—इति शब्दकल्पद्रुमः (त्वया) राज्ञा (वयम्) प्रजागणाः (सर्वम्) (तत्) एतत् [अपमृज्महे] अपमार्जयामः शोधयामः, विनाशयामः—इत्यर्थः ॥

भाषार्थ—(तृष्णामारम्) पियास से मरना, (क्षुधामारम्) भूख से मरना, (अथो) और भी (अक्षपराजयम्) व्यवहारों वा इन्द्रियों की हार, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्गं) हे सर्व संशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम् अमृज्महे) हम शोधते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा के उत्तम प्रबन्ध से न तो जल, अन्न और दैनिक काम काज का हानि, और न शरीर और आत्मा की दुर्बलता होती है ॥ ७ ॥

अपामार्गं ओषधीनां सर्वासामेक इह वृशी ॥

तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अपामार्गः । ओषधीनाम् । सर्वासाम् । एकः । इत् । वृशी ।
तेन । ते । मृज्मः । आ-स्थितम् । अथ । त्वम् । अगदः । चर ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) सब दोषों का शोधने वाला परमेश्वर (सर्वासाम्) सब (ओषधीनाम्) तापनाशक अन्न आदि पदार्थों का (एकः इत्) एक ही (वृशी) वृश में रखने वाला है। (तेन) उस [के आश्रय] से [हे राजन् !] (ते) तेरे (आस्थितम्) उपस्थित [भय] को (मृज्मः) हम शोधते हैं, (अथ) इस लिये (त्वम्) तू (अगदः) नीरोग होकर (चर) विचर ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रजागण कहते हैं “परमात्मा सब संसार का स्वामी है, उसी सहारे से हम आप पर यह राज्य भार रखते हैं, आप भी उसी के सहारे से निश्चिन्त होकर अपना कर्तव्य करें” ॥ ८ ॥

७—(अथो) अपि च (अक्षपराजयम्) अक्ष व्याप्तौ—पचाद्यच् घञ् वा । यद्वा । अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ सप्रत्ययः । अक्षाणां व्यवहाराणाम् इन्द्रियाणां वा पराजयं पराभवम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(अपामार्गः) म० ६ । सर्वदोषशोधकः परमेश्वरः (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणाम् अन्नादिपदार्थानाम् (सर्वासाम्) अशेषाणाम् (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (वृशी) वृशयिता (तेन) अपामार्गेण परमेश्वरेण (ते) तव (मृज्मः) मार्जयामः शोधयामः (आस्थितम्) आपतितं राज्यभारं रूपं भयम् (अथ) अनन्तरम् (त्वम्) राजन् (अगदः) गद व्यक्तायां वाचि रोगे च-अच् । रोगशून्यः स्वस्थः (चर) चिरकालं वर्तस्व ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्रौ समावती ।

कृणोमि सत्यमुतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

समम् । ज्योतिः । सूर्येण । अह्ना । रात्रौ । सम-वती ॥

कृणोमि । सत्यम् । ऊतये । अरसाः । सन्तु । कृत्वरीः ॥१॥

भाषार्थ—(ज्योतिः) ज्योति (सूर्येण समम्) सूर्य के साथ साथ और (रात्रौ) रात्रौ (अह्ना समावती) दिन के साथ वर्तमान है, [ऐसे ही] मैं (सत्यम्) सत्यकर्म को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणोमि) करता हूँ (कृत्वरीः=कृत्वयः) कतरने वाली विपत्तियाँ (अरसाः) नीरस (सन्तु) हो जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे प्रकाश के साथ सूर्य का और दिन के साथ रात्रौ का नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही मनुष्य का सत्य के साथ नित्य सम्बन्ध है । इससे राजा और प्रजा सदा सत्य में प्रवृत्त होकर मिथ्या कामों की विपत्तियों से बचें ॥ १ ॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गुहम् ।

वृत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पश्यताम् ॥ २ ॥

१—(समम्) सह वर्तमानम् (ज्योतिः) प्रभामण्डलम् (सूर्येण) आदित्येन (अह्ना) दिवसेन (रात्रौ) अ० २ । ८ । २ । निशा (समावती) सम-मतुप् । छान्दसो दीर्घः । समं समानं वर्तमाना (कृणोमि) करोमि (सत्यम्) यथार्थं कर्म (ऊतये) रक्षणार्थम् (अरसाः) निर्बलाः (सन्तु) भवन्तु (कृत्वरीः) इण् नश्जिसर्त्तिभ्यः करप् । पा० ३ । २ । १६३ । इति कृती छेदने-करण् । टिड्ढाणञ्० । पा० ४ । १ । १५ । इति डीप् । पूर्वसवर्ण-दीर्घः । कर्तनशीलाः । विपत्तयः । बाधाः ॥

यः । दे॒वाः । कु॒त्याम् । कु॒त्वा । ह॒रात् । अ॒विदुषः । गृ॒हम् ॥
व॒त्सः । धा॒रुः-इ॒व । मा॒तर॑म् । तम् । प्र॒त्यक् । उ॒प । प॒द्य॒ताम् ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानों ! (यः) जो पुरुष (कृत्याम्) हिंसा (कृत्वा) करके (अविदुषः) अज्ञान मनुष्य के (गृहम्) घर को (हरात्) हर लेवे । वह दुष्कर्म (प्रत्यक्) लौट कर (तम्) उसी [दुष्कर्मी] को (उप पद्यताम्) जा मिले, (इव) जैसे (धारुः) दूध पीने वाला (वत्सः) बछड़ा (मातरम्) अपने माता [गौ के पीछे पीछे दौड़ता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—दुष्ट मनुष्य को उसकी दुष्टता का दण्ड राज प्रबन्ध वा ईश्वर व्यवस्था से अवश्य पहुंचता है, जैसे छोटा बछड़ा अनेक गौओं में से अपनी ही माता को चिपट जाता है ॥ २ ॥

अ॒मा कु॒त्वा पा॒प्मानं॑ यस्ते॒नान्यं॑ जिघांसति ।

अ॒श्मान॑स्तस्यां दुग्धायां बहु॒लाः फट्॑ क॒रि॒क्रति॑ ॥ ३ ॥

अ॒मा । कु॒त्वा । पा॒प्मानं॑म् । यः । ते॒न । अ॒न्यम् । जिघांसति ।

अ॒श्मानः॑ । तस्यां॑ । दुग्धायां॑ । बहु॒लाः । फट्॑ । क॒रि॒क्र॒ति॑ ॥३॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तेन अमा) चौर वा म्लेच्छ के साथ होकर (पाप्मानम्) पाप कर्म (कृत्वा) करके (अन्यम्) दूसरे को (जिघांसति) मारना चाहे, (बहुलाः] वृद्धि करने वाले (अश्मानः) व्यापनशील वा

२—(यः) शत्रुः (देवाः) हे विद्वान्सः (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्वा) विधाय (हरात्) लेटि आडागमः । हरेत् (अविदुषः) अज्ञानानस्य (गृहम्) गृहम् (वत्सः) वदनशीलः । गोशिशुः (धारुः) दाधेत्सिशदसदो रुः । पा० ३ । २ । १५६ । इति धेट पाने-रु । स्तनपानकर्ता (इव) यथा (मातरम्) जननीम् (तम्) दुष्टम् (प्रत्यक्) प्रतिनिवृत्त्य (उप पद्यताम्) उप गच्छतु ॥

३—(अमा) अम गतौ- का । सह (कृत्वा) (पाप्मानम्) अ० ३ । ३१ । १ । पाति यस्मात् स पाप्मा । पापम् (यः) शत्रुः (तेन) तर्द हिंसे-ड । तर्दति दिनस्तीति तः । चौरः । म्लेच्छः । चोरेण । पामरेण (अन्यम्) सत्कर्मणम् (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (अश्मानः) अ० १ । २ । २ । व्यापनशीलाः वाषा-

पाषाण के समान दृढ़स्वभाव पुरुष (तस्याम्) उस [दुष्क्रिया] के (दग्धा-
याम्) भस्म किये जाने पर (फट्) [उस दुष्ट का] नाश (करिक्रति) कर
डालें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष दुष्टों से मिल कर लोगों में उपद्रव मचावे, राज
पुरुष अनुसन्धान करके उन दोनों को यथावत् दण्ड देवे ॥ ३ ॥

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवान् छायाया त्वम् ।

प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावन्ते हर ॥ ४ ॥

सहस्र-धामन् । वि-शिखान् । वि-ग्रीवान् । शायय । त्वम् ।

प्रति । स्म । चक्रुषे । कृत्याम् । प्रियाम् । प्रिय-वन्ते । हर ॥४॥

भाषार्थ—(सहस्र धामन्) हे सहस्रों धारण, पोषण और दान वाले
राजन् ! (त्वम्) तू (विशिखान्) विरुद्ध प्रकार से सोने वाले, वा विरुद्ध
गति वाले, (विग्रीवान्) विरुद्ध रीति से खाने वाले [दुष्टों] को (शायय)
सुला दे [गिरा दे] । (कृत्याम्) दुष्क्रिया (चक्रुषे) करने वाले पुरुष को
(प्रति) प्रत्यक्ष (स्म) अवश्य [वैसी ही दण्ड पीड़ा] (हर) पहुंचा [जैसे]
(प्रियाम्) प्रिया, भार्या को (प्रियावन्ते) उसके स्वामी के पास [प्रत्यक्ष पहुंच-
वाते हैं] ॥ ४ ॥

एवम् दृढ़स्वभावा वा राजपुरुषाः (तस्याम्) पूर्वोक्तायां कृत्यायाम्—म० २
(दग्धायाम्) भस्मीकृतायां नष्टायां सत्याम् (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धि-
शीलाः (फट्) अफला विशरणे—क्लिप् । डलयोरैक्यम् । तस्य विशीर्णम्
(करिक्रति) करोतेर्यङ्लुगन्तात् लोटि । रुप्रिकौ च लुकि । पा० ७ । ४ ६१ । इति
अभ्यासस्य रिगागमः । पुनः पुनः कुर्वन्तु ॥

४—(सहस्र धामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४१ । इति दुधाज्
धारणपोषणदानेषु—मनिन् । हे असंख्यातधारणपोषणदानयुक्त राजन् ! (वि-
शिखान्) शीङो ह्रस्वश्च । उ० ५ । २४ । इति शीङ् शयने—ख, ह्रस्वो गुणाभा-
वश्च । यद्वा, शिखि गतौ—क, नलोपः । विरुद्धनिद्रान् । विरुद्धगतीन् (विग्रीवान्)
शेवायङ्गिह्वाग्रीवा० । उ० १ । १५४ । इति गृ निगरणे—वन् । प्रो इत्यादेशः । विरुद्धं
निगलनशीलान् भक्षकान् द्रष्टान् (शायय) शीङ् शयने—खि । स्वापय ।

भावार्थ—राजा अनेक प्रकार से प्रजा का रक्षण आदि करता हुआ दुष्टों को दण्ड पहुँचावे, जैसे भूली भटकी स्त्री को उसके स्वामी के पास प्रत्यक्ष पहुँचा देते हैं ॥ ४ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।

यां क्षेत्रे चक्रुर्या गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ।

याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ॥

भावार्थ—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधिरूप [ताप-नाशक तुल्य राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अदूदुषम्) खंडित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गौओं में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राज पुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शस्त्रे पादमङ्गुरिम् ।

चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शस्त्रे । पादम् । अङ्गुरिम् ।

चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । आत्मने । तपनम् । तु । सः ॥ ६ ॥

निद्रापय पातय । (त्वम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (स्म) अवश्यम् (चक्रुषे) करोतेः क्तुः । कृतवन्ते पुरुषाय (कृत्याम्) हिंसां दुष्क्रियाम् (प्रियाम्) प्रीञ् प्रीणने-क, टाप् । भार्या यथा (प्रियावते) प्रियया भार्यया तद्वते (हर) प्रापय=दण्डपीडां प्रापय ॥

५—(अनया ओषध्या) अनेक ओषधिरूपेण तापनाशकेन राजा सह (अहम्) प्रजागणः (सर्वाः) (कृत्याः) हिंसाः (अदूदुषम्) दुषेय्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । दूषितवान् खण्डितवानस्मि (याम्) कृत्याम् (क्षेत्रे) शस्यवपनयोग्ये प्रदेशे (चक्रुः) कृतवन्तः शत्रवः (गोषु) गोषु मध्ये (वा) अथवा (ते) तव (पुरुषेषु) मनुष्येषु ॥

भाषार्थ—(यः) जिस दुष्ट ने (कर्तुम्) हिंसा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अंगुरिम्) अंगुरी (शब्धे) तोड़ली । (सः) उसने (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्रम्) आनन्द, और (आत्मने) अपने लिये (तु) तौ (तपनम्) तपन (चकार) कर लिया ॥ ६ ॥

भावार्थ—पापी का आत्मा दुर्बल होता है, वह दण्ड पाने से आप ही अपने हाथ पैर में कुल्हाड़ी मारता है । उससे शिष्टोंको सुख और उस दुष्ट को दुःख होता है ॥ ६ ॥

अपामार्गोऽप माष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः ।

अपाहं यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

अपामार्गः । अप । माष्टु । क्षेत्रियम् । शपथः । च । यः ।

अप । अहं । यातु-धानीः । अप । सर्वाः । अराय्यः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) दोषों का शोधने वाला राजा (क्षेत्रियम्) देह वा वंश के दोष को, (च) और (यः) जो कुछ (शपथः) दुर्वचन हो [उसे भी] (अप माष्टु) शुद्ध कर देवे । (अह) अरे (यातुधानीः) यातना देने वाली शत्रु सेनाओं को (अप = अप माष्टु) शुद्ध कर डाले, और (सर्वाः) सब (अराय्यः = अरायीः) अलक्षितियों को (अप = अप माष्टु) शुद्ध कर डाले ॥ ७ ॥

६—(यः) दुष्टपुरुषः (चकार) कृतवान् (न) नहि (शशाक) शक्तः समर्थ आसीत् (कर्तुम्) सितनिगमि० । उ०३। १६ । इति कृञ् हिंसायाम्-तुन् । हिंसाम् (शब्धे) शृ हिंसायाम्-तिट् । शीर्णवान् । छिन्नवान् (पादम्) चरणम् (अंगुरिम्) अ० २ । ३३ । ६ । अङ्गुलिम् (भद्रम्) मङ्गलम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (आत्मने) स्वस्मै (तपनम्) दहनं पीडनम् (तु) किन्तु (सः) दुष्कर्मी ॥

७—(अपामार्गः) अ० ४ । १७ । ६ । सर्वथा शोधको राजा (अप माष्टु) मृज्जूष-शुद्धी । शोधयतु । अपगमयतु (क्षेत्रियम्) अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र-वच् । देहे वंशे वा भवदोगं दोषं वा (शपथः) क्रोधः । दुर्वचनम् (च) (यः)

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से प्रजा के दुःखों का नाश करके उनके स्वास्थ्य और धन की वृद्धि करे ॥ ७ ॥

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।

अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥८॥

अप-मृज्य । यातु-धानान् । अप । सर्वाः । अराय्यः ।

अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥८॥

भावार्थ—(यातुधानान्) पीड़ा देने वाले राजाओं को (अपमृज्य) शोधकर, और (सर्वाः) सब प्रकार की (अराय्यः) दरिद्रताओं को (अप=अपमृज्य) शोधकर, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (तत् सर्वम्) उस सब [कष्ट कर्म] को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—नीति निपुण राजा के शासन में सब प्रजागण अपने कष्टों को दूर करके आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध सूक्त १७ मन्त्र ६ में आया है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ १, ३-८ अनुष्टुप्, २ पद्या पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उतो अस्यबन्धुकुदुतो असि नु जामिकृत् ।

उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥

यः, तमपि (अप) अप माष्टु (अह) विनिग्रहे (यातुधानीः) अ० १ । २८ ।

२ । पीडादायिनीः शत्रुसेनाः (सर्वाः) (अराय्यः) अ० ४ । १७ ५ । अलक्ष्मीः ॥

८—(अपमृज्य) सम्यक् शोधयित्वा (यातुधानान्) अ० १ । ७ । १ ।

पीडाप्रदान् राज्ञसान् (अप) अपमृज्य (सर्वाः) (अराय्यः) म० ७ । अरायीः

अलक्ष्मीः । अन्यद् व्याख्यार्तं सू० १७ म० ६ ॥

उतो इति । असि । अबन्धु-कृत् । उतो इति । असि । नु ।
जामि-कृत् । उतो इति । कृत्या-कृतः । प्र-जाम् । नडम्-इव ।
आ । छिन्धि । वार्षिकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] तू (अबन्धुकृत्) अबन्धुओं का काटनेवाला (उतो) भी (असि) है, (नु) और (जामिकृत्) बन्धुओं का बनानेवाला (उतो) भी (असि) है । (उतो) इससे (कृत्याकृतः) हिंसा करते वालों और (प्रजाम्) उनके सेवकों को (आ छिन्धि) काट डाल, (इव) जैसे (वार्षिकम्) वर्षा में उत्पन्न (नडम्) नरकट घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने उत्तम शासन से हिंसक दुष्टों का नाश करके इष्ट मित्रों में मेल बढ़ावे ॥ १ ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । सेनेवैषि त्वि-
षीमतो न तत्र भुयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥

ब्राह्मणेन । परि-उक्ता । असि । कण्वेन । नार्षदेन । सेना-इव ।
एषि । त्विषि-मती । न । तत्र । भुयम् । अस्ति । यत्र । प्र-
प्राप्नोषि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] तू (ब्राह्मणेन) वेदज्ञानी ब्राह्मण, (कण्वेन) मेधावी, (नार्षदेन) नायकों की सभा के हितकारी पुरुष करके (पर्युक्ता) उप-

१—(उतो) अपि च (असि) (अबन्धुकृत्) कृती छेदने-क्रिप् । अबन्धूनां शत्रूणां कर्तृकश्छेदकः (नु) अनुनये (जामिकृत्) जामिइति व्याख्यातम्-अ० २ । ७ । २ । जामिः, बन्धुः-यथा सायणः-ऋ० १ । ७५ । ३ । करोतेः क्रिप् । बन्धूनां कर्ता सम्पादकः (कृत्याकृतः) हिंसाकर्तृन् (प्रजाम्) तेषां जनान् भृत्यादीन् च (नडम्) नल बन्धे=पचाद्यच् । तस्य डत्वम् । सुच्छेद्यं तृणवि-शेषम् (इव) यथा (आ) समन्तात् (छिन्धि) भिन्धि । विदारय (वार्षिकम्) छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १६ । इति वर्षा-ठञ् । वर्षाकालोद्भवम् ॥

२—(ब्राह्मणेन) वेदज्ञेन विदुषा (पर्युक्ता) उपदिष्टौषधिवत् (असि) (कण्वेन) अ० २ । ३२ । ३ उपदेशकेन । मेधाविना-निघ० ३ । १५ (नार्षदेन)

दृष्ट [ओषध समान] (अस्ति) है । (त्विषीमती) प्रकाशयुक्त (सेना) सेना, अर्थात् सूर्य की किरण पुंज के (इव) समान (एषि) तू चलता है । (तत्र) वहां पर (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं होता, (यत्र) जहां पर ओषधे हे ओषधि तुल्य तापनाशक राजन् (व्याप्नोषि) तू व्यापक होता है ॥ २ ॥

भाष्यार्थ—जैसे सङ्घ की बतलाई ओषधि बड़ी गुणकारी होती है और जैसे सूर्य अपने किरणों से अन्धकार मिटाता है, वैसे ही राजा वेदज्ञानी, बुद्धिमान् नरशिरोमणि पुरुषों के उपदेशक और सत्संग से प्रतापी होकर शत्रुओंका नाश करके प्रजाको सुख देता है ॥ २ ॥

अग्रमे ष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् ।

उत त्रातासि पाकस्याथो हुन्तासि रुक्षसः ॥ ३ ॥

अग्रम् । एषि । ओषधीनाम् । ज्योतिषा-इव । अभि-दीपयन् ।
उत । त्राता । अस्ति । पाकस्य । अथो इति । हुन्ता । अस्ति ।
रुक्षसः ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ—[हे राजन् !] (ज्योतिषा इव) अपने तेज से जैसे (अभि-दीपयन्) सब ओर प्रकाश फैलाता हुआ (ओषधीनाम्) ओषधि तुल्य उपकारी पुरुषों में (अग्रम्) आगे आगे (एषि) तू चलता है । (उत) और तू (पाकस्य) पका [दढ़] करने योग्य अथवा रक्षा योग्य दुर्बल पुरुष का (त्राता)

नरो नायकाः सीदन्ति यत्रेति नृषत् । तस्मै हितम् । पा० ५।१ ५ । इति नृषद्-अण । नृणां नायकानां सभाया हितकारकेण (सेनाइव) यथा सेना सूर्यकिरण-समूहः (एषि) गच्छसि (त्विषीमती) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति त्विष दीप्तौ-इन्'स च कित् ङीप् । दीप्तियुक्ता (न) (तत्र) (भयम्) भीतिः दूरः (अस्ति) (यत्र) (प्राप्नोषि) व्याप्नोषि (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ॥

३—(अग्रम्) अग्रतः (एषि) गच्छसि (ओषधीनाम्) ओषधिसमान-हितकारकाणां मध्ये (ज्योतिषा) तेजसा स्वप्रतापेन (अभि दीपयन्) अभितः सर्वतः प्रकाशयन् (उत) अपि च (त्राता) रक्षिता (अस्ति) (पाकस्य) पच पाके-घञ् । पकव्यस्य दृढीकरणीयस्य । यद्वा, इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ ।

रक्षक (असि) है (अथो) और भी तू (रक्षसः) राक्षस का (हन्ता) हनन करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा सब उपकारी पुरुषों में अग्रगामी होकर यथावत् शासन करता है ॥ ३ ॥

यदुदो देवा असुरांस्त्वयाग्रै निरकुर्वत ।

तत्स्त्वमधोषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥ ४ ॥

यत् । अदः । देवाः । असुरान् । त्वया । अग्रै । निः-अकुर्वत ।

ततः । त्वम् । अधि । ओषधे । अपामार्गः । अजायथाः ॥४॥

भावार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (अग्रै) पूर्वकाल में (त्वया) तेरे साथ होकर (देवाः) देवताओं [विद्वान् शूरों] ने (असुरान्) असुरों को (निरकुर्वत) निकाल दिया है, (ततः) उसीसे (ओषधे) हे ओषधि समान तापनाशक राजन् ! (त्वम्) तू (अपामार्गः) संशोधक (अधि) अधिक करके (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रशंसनीय काम करने से ही संसार में प्रशंसा पाते हैं ॥ ४ ॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।

प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥५॥

वि-भिन्दती । शत-शाखा । वि-भिन्दन् । नाम । ते । पिता ।

प्रत्यक् । वि । भिन्धि । त्वम् । तम् । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ ५ ॥

इति पा रक्षणे—कन् । रक्षणीयस्य दुर्बलस्य पुरुषस्य (अथो) अपि च (हन्ता) नाशयिता (रक्षसः) राक्षस्य ॥

४—(यत्) यस्मात् (अदः) तत् (देवाः) विद्वान्सः शूराः (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (त्वया) राज्ञा (अग्रै) पूर्वकाले (निरकुर्वत) निराकृतवन्तः । निवारितवन्तः (ततः) तस्मात् कारणात् (त्वम्) (अधि) उपरि वर्तमानः श्रेष्ठः सन् (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ! (अपामार्गः) दोषाणाम् अपमार्जनशीलः संशोधकः (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (विभिन्दती) रोगों को छिन्न भिन्न करनेवाली (शतशाखा) नैकड़ों शाखावाली [ओषधि के समान्] (विभिन्दन्) शत्रुओं को छिन्न फिन्न करनेवाला (नाम) प्रसिद्ध (ते) तेरा (पिता) पिता है । (त्वम्) तू भां (प्रत्यक्) लौटाकर (तम्) उसको (वि भिन्धि) छिन्न भिन्न करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सताता रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—शूरवीर पिता का पुत्र भी अपने पिता के तुल्य शूरवीर होकर बैरियों का नाश करता है ॥ ५ ॥

असद् भूम्याः समभवत् तदामेति महद् व्यचः ।

तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

असत् । भूम्याः । सम् । अभवत् । तत् । याम् । एति । महत् । व्यचः । तत् । वै । ततः । वि-धूपायत् । प्रत्यक् । कर्तारम् । अृच्छतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह (महत्) बड़ा (व्यचः) परस्पर मिला हुआ वा फैला हुआ (असत्) अनित्य जगत् (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न हुआ है, [जो जगत्] (याम्) जिस [भूमि] को (एति) चला जाता है । (ततः) उसी कारण से (तत्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) अवश्य (प्रत्यक्) लौटाकर (कर्तारम्) हिंसक को (विधूपायत्) संताप देता हुआ [उसको ही (अृच्छतु) पडुंचै ॥ ६ ॥

५—(विभिन्दती) भिदिर् विदारणे—शत्रु । रोगविदारणशीला (शतशाखा) बहुशाखायुक्ता यथौषधिः (विभिन्दन्) शत्रूणां विभेदकः । विदारणशक्तिः (नाम) प्रसिद्धः (ते) तव (पिता) पालकः । जनकः (प्रत्यक्) प्रति गमनेन प्रति-निवार्य (वि भिन्धि) विदारय (त्वम्) हे राजन् (तम्) अस्मदीयं शत्रुम् (यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) दास बन्धे-वैदिकः । अभितो हिनस्ति ॥

६—(असत्) सत् नित्यम् असत् अनित्यं नश्वरं कार्यरूपं जगत् (भूम्याः) भूमिसकाशात् (समभवत्) उदपद्यत (तत्) असद् यत् (याम्) भूमिम् (एति) प्राप्नोति प्रतिनिवृत्त्य (महत्) विशालम् (व्यचः) व्यच कृते । सम्बन्धे-असुन् । सम्बद्धं व्याप्तम् (तत्) शत्रुकृतं कर्म (वै) अवश्यम् (ततः)

भाषार्थ—जैसे ईश्वर नियम से कार्य रूप स्थूल पदार्थ भूमि आदि तत्त्वों से उत्पन्न होकर फिर छिन्न भिन्न होकर भूमि आदि अपने कारणों में लौट जाते हैं, ऐसे ही राजा के दण्ड से दुष्ट की दुष्टता उसी को ही लौटती और सताती है ॥ ६ ॥

बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि जर्मनी के भट्ट रोथ और व्हिटनी महाशय के मतमें (याम्) के स्थान पर [याम्] होना चाहिये और अफ़फ़िथ महाशय ने भी [याम्] मान कर स्वर्ग [heaven] अनुवाद किया है, परन्तु पद पाठ और सायण भाष्य में (याम्) है, और हमारे मत में भी (याम्) ही शुद्ध है ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनं त्वत्त्वम् ।

सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वृधम् ॥ ७ ॥

प्रत्यङ् । हि । सम्-बभूविथ । प्रतीचीनं-फलः । त्वम् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवय । वृधम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वम्) तू (हि) ही (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (प्रतिचीनफलः) प्रतिकूल गति में रहने वालों का नाश करने वाला (संबभूविथ) हुआ है, [इस कारण] (मत्) मुझ से [शत्रु के] (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों को और (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण (वृधम्) दधि-यार को (अधि) अधिकार पूर्वक (यवय) पृथक् कर ॥ ७ ॥

तस्मात् कारणात् (विधुपायत्) धूप संतापे । शुपूधूपविच्छि० । बा० ३ । १ । २८ । इति आयप्रत्ययः स्वार्यै, ततः शत् । संतापयत् शत्रुम् (प्रत्यक्) प्रति-निवृत्त्य (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्-त्च् । हिंसकम् (अच्छत्) गच्छतु ॥

७—(प्रत्यङ्) प्रति + अङ्क्षु-क्विन् । प्रत्यङ्चनः । प्रतिगतः । अभिमुखः सन् (हि) एव (संबभूविथ) सम्यग् विद्यमानो बभूविथ (प्रतीचीनफलः) प्रत्यच्—अप्रत्ययः, अफला विशरणे-अच् । प्रत्यक् प्रतिगमनं तत्र भवानां फलं विशरणं नाशनं यस्मात् स तथाभूतः । प्रतिगतिभवानां शत्रूणां विदारकः (त्वम्) राजन् (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् । शत्रु कृतानि

भावार्थ—पराक्रमी विजयी राजा शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख पहुँचावे ॥ ७ ॥

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।

इन्द्रस्ते वीरुधां पते उग्र ओज्मानमा दधत् ॥ ८ ॥

शतेन । मा । परि । पाहि । सहस्रेण । अभि । रक्ष । मा ।

इन्द्रः । ते । वीरुधाम् । पते । उग्रः । ओज्मानम् । आ ।

दधत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (शतेन) सौ [उपाय] से (मा) मेरा (परि पाहि) सब प्रकार पालन कर, (सहस्रेण) सहस्र साधन से (मा) मेरी (अभि) सब ओर से (रक्ष) रक्षा कर । (वीरुधां पते) हेविविध प्रकार बढ़ने वाली प्रजाओं के पालक ! (उग्रः) महाबली (इन्द्रः) परमेश्वर (ते) तुझको (ओज्मानम्) पराक्रम (आ) यथावत् (दधत्) देता हुआ वर्तमान है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा की सदा रक्षा करे । वह पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वरकी न्याय व्यवस्था से सब बल पाता रहता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-८ । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।

दिवमुन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् दैवि पश्यति ॥ १ ॥

तुर्वाक्याणि (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरु-ईयसुन् । उरुतरं विस्तीर्ण-
तरम् (ध्वय) पृथक् कुरु (ध्वम्) हननसाधनम् । आयुधम् ॥

८—(शतेन) शतसंख्याकेन रक्षणोपायेन (मा) माम् (परि) परितः (पाहि) रक्ष (सहस्रेण) सहस्रसंख्याकेन, साधनेन (अभिरक्ष) सर्वतः पालय (इन्द्रः) परमेश्वरः (ते) तुभ्यम् (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां लता-
रूपाणां वा प्रजानाम् (पते) अधिपते (उग्रः) उद्गूणबलः । महाबली (ओ-
ज्मानम्) सर्वयातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति ओज्ज बल-मनिन् । बलम् ।
पराक्रमम् (आ) समन्तात् (दधत्) दुधाञ् दाने-शतृ । ददत् प्रयच्छन् वर्तते ॥

आ । पश्यति । प्रति । पश्यति । परा । पश्यति । पश्यति ।
दिवम् । अन्तरिक्षम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । तत् । देवि ।
पश्यति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्यशक्ति परमात्मन् ! तू (तत्) विस्तार करने वाला वा विस्तीर्ण ब्रह्म आप (आ) अभिमुख (पश्यति) देखता है, (प्रति) पीछे से (पश्यति) देखता है, (परा) दूर से (पश्यति) देखता है, और (पश्यति) सामान्यतः देखता है । (दिवम्) सूर्य लोक, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (आत्) और भी (भूमिम्) भूमि अर्थात् (सर्वम्) सब को (पश्यति) देखता है ॥ १ ॥

भाषार्थ—वह ब्रह्म सब संसार को एक रस देखता रहता है, इस लिये सब मनुष्य उस की उपासना करके दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

तिस्त्रो दिवंस्तिस्त्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

तिस्त्रः । दिवः । तिस्त्रः । पृथिवीः । षट् । च । इमाः । प्र-
दिशः । पृथक् । त्वया । अहम् । सर्वा । भूतानि । पश्यानि ।
देवि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य शक्ति, (ओषधे) तापनाशक परमात्मन् । (त्वया) तेरे सहारे से (अहम्) मैं (तिस्त्रः) तीनों (दिवः) सूर्य लोकों,

१—(आ) अभिमुखम् (पश्यति) अवलोकयति (प्रति) प्रतिमुखम् (परा) दूरतः (पश्यति) अविशेषेण साक्षात्करोति (दिवम्) सूर्यलोकम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आत्) अपि च (भूमिम्) पृथिवीम् (सर्वम्) सकलम् (तत्) त्यजितनियजिभ्यो ङित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोप-
कृतिशब्दोपतापेषु—अदि, स च ङित् । विस्तारकं विस्तारोपा, अह्नामैतत् ।
(देवि) हे दिव्यशक्ते त्वं तद् ब्रह्म भवत् (पश्यति)

२—(तिस्त्रः) उत्तममध्यमाधमरूपेण त्रिसंख्याकाः । (दिवः) द्युलोकान् (पृथिवीः) भूलोकान् (षट्) प्राच्याद्या ऊर्ध्वाधोदिग्भ्यां सह षट्संख्याकाः

(तिस्रः) तीनों (पृथ्वीः) भूमियों (च) और (इमाः) इन (षट्) छह (प्रदिशः) फैली हुई दिशाओं और (सर्वा) सब (भूतानि) सृष्ट पदार्थों को (पृथक्) नाना प्रकार से (पर्यानि) देखूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा के साथ तीन उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार से संसार के सब पदार्थों को साक्षात् करके विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेवे ॥ २ ॥

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कुनीनिका ।

सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं आन्ता बधूरिव ॥ ३ ॥

दिव्यस्य । सु-पर्णस्य । तस्य । ह । असि । कुनीनिका । सा । भूमिम् । आ । रुरोहिथ । वह्यम् । आन्ता । बधूः-इव ॥३॥

भावार्थ—(तस्य) उस (दिव्यस्य) दिव्य गुण वाले (सुपर्णस्य) यथावत् पालनीय जीव की तू (ह) अवश्य (कुनीनिका) कमनीया देवी, अथवा नेत्र तारा समान (असि) है । (सा=सा त्वम्) उस तूने (भूमिम्) हृदय भूमि को (आ रुरोहिथ) प्राप्त किया है, (इव) जैसे (आन्ता) थकी हुई, वा शान्त स्वभाव, वा जितेन्द्रिय (बधूः) स्त्री (वल्लम्) अपने पाने योग्य पदार्थ को [प्राप्त करती है] ॥ ३ ॥

(च) (इमाः) परिदृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (पृथक्) नानाकारक (त्वया) ब्रह्मणा सहायेन (अहम्) उपासकः (सर्वा) सर्वाणि (भूतानि) भूतजातानि (पर्यानि) साक्षात्करवाणि (देवि) हे दिव्यशक्ते (ओषधे) हे अजाद्योषधिवत् ताप नाशक परमात्मन् ॥

३—(दिव्यस्य) दिव्यस्वभावस्य (सुपर्णस्य) पृ पालनपूरणयोः—न । सुष्ठु यथावत् पालनीयस्य जीवस्य (तस्य) प्रसिद्धस्य (ह) प्रसिद्धौ (असि) (कुनीनिका) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—ईन, कन्, टाप्, अत इत्वम् । कमनीया । यद्वा, चक्षुस्तारावत् प्रदर्शिका (सा) सा त्वं देवी (भूमिम्) योगिनो हृदय-भूमिम् (आ रुरोहिथ) आकृष्टवती, प्राप्तवती (वल्लम्) अघ्न्यादयरच । उ० ४ । ११२ । इति वह—यक् । यद्वा । वल्लं करणम् । पा० ३ । १ । १०२ । इति वह—यत् । प्रापणीयं पदार्थं स्थानं वा (आन्ता) अन्तः तपःशोद्धयोः=क ।

भाषार्थ—जैसे जैसे योगी समाधि लगाकर परमात्मा की महिमा देखता है वैसे वैसे ही परमात्मा उस के हृदय में दृढ़ भूमि होता है, जैसे जितेन्द्रिय स्त्री वा पुरुष ठिकाने पर पहुँचकर ठहर जाता है ३

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।

तथाहं सर्वं पश्यामि यच्च शुद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

ताम् । मे । सहस्र-अक्षः । देवः । दक्षिणे । हस्ते । आ । दधत् ।

तया । अहम् । सर्वम् । पश्यामि । यः । च । शुद्रः । उत । आर्यः ॥४॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) असंख्य दर्शन शक्ति वाला अथवा सहस्रों व्यवहारों वाला (देवः) प्रकाश स्वरूप परमात्मा (दक्षिणे) प्रवृद्ध (हस्ते) प्रकाश के निमित्त (ताम्) उपकारशक्ति (मे) मुझ को (आ) सब ओर से (दधत्) दान कर रहा है, (तथा) उस [उपकारशक्ति] से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूँ, (यः च) जो कोई (शुद्रः) शोचनीय शुद्र अर्थात् मूर्ख (उत) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ४ ॥

अध्वभ्रमयुक्ता । शान्ता । जितेन्द्रिया (वधूः) बहर्धरश्च । उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे—ऊप्रत्ययः, इत्य धः । वहति सुखानि । यद्वा । बन्ध—ऊः, न लोपः, बध्नाति प्रेम्णा या । नारी, स्त्री (इव) यथा ॥

४—(ताम्) तनु विस्तारे, उपकृतौ च—ड । टाप् । विस्तृतिः । उपकृतिम् (मे) ममम् (सहस्राक्षः) अ० ४ । १६ । ४ । बहुदर्शकः । बहुव्यवहारवान् । असंख्यदर्शनः । (देवः) प्रकाशशानादिगुणयुक्तः परमेश्वरः (दक्षिणे) अ० ४ । ११ । ४ । समर्थे । प्रवृद्धे (हस्ते) हसिमृगिण् ० । उ० ३ । ८६ । इति हस्त विक्रायो—तन् । विक्राशे । प्रकाशे निमित्ते (आ) समन्तात् (दधत्) ददद् वर्तते (तथा) विस्तृत्या (अहम्) उपासकः (सर्वम्) शुद्रमार्यश्च (पश्यामि) साक्षात्करोमि निर्णयामि (यः) (च) पक्षान्तरे (शुद्रः) शुचेर्दर्शश्च । उ० २ । १६ । इति शुच शोके—रक्, अस्य दः, धातोर्दीर्घश्च । शोचनीयः । मूर्खः (उत) विकल्पे (आर्यः) अहङ्कोर्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति ऋ गतौ—एयत् ।

भाषार्थ—सर्व व्यवहार कुशल, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता जगदीश्वर की दी हुई उपकारशक्ति द्वारा मनुष्य सब मनुष्यों और पदार्थों का यथावत् विवेक करके संसार की उन्नति करे ॥ ४ ॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानुमप गूहयाः ।

अथो' सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः' ॥ ५ ॥

आविः । कृणुष्व । रूपाणि । मा । आत्मानम् । अप । गूहयाः ।
अथो इति । सहस्रचक्षो इति सहस्र-चक्षो' । त्वम् । प्रति ।
पश्याः । किमीदिनः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(रूपाणि) [पदार्थों के] रूपों अर्थात् बाहिरी आकार को (आविष्कृणुष्व) प्रकट करदे, (आत्मानम्) [वस्तुओं के] आत्मा अर्थात् भीतरी स्वभाव को (मा अप गूहयाः) गुप्त मत रख (अथो) और भी (सहस्रचक्षो) हे असंख्य दर्शन शक्ति वाले परमात्मन् ! (त्वम्) तू (किमीदिनः) अब क्या, यह क्या हो रहा है, ऐसे गुप्त कर्म करने वाले को तुमने लोगों को (प्रति) अत्यन्त (पश्याः) देखले ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पदार्थों के आकार और गुण को स्थूल और सूक्ष्म रीति से पहिचानकर दोषों से बचें और दूसरों को बचावें ॥ ५ ॥

अर्चुं प्राप्तुं योग्यः । पूज्यः । श्रेष्ठः विद्वान् । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वा । महा-कुलकुलीनार्यसभ्यसञ्जनसाधवः—इत्यमरः, १७ । ३ ।

५—(आविष्कृणुष्व) प्रकटो कुद । प्रकाशय (रूपाणि) लक्ष्यशिल्पशष्प० ।
उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-पप्रत्ययः, दीर्घश्च । यद्वा, रूप रूपस्य दर्शने करणे वा-अच् । पदार्थानां बाह्याकारान् (मा अप गूहयाः) गुह्य संवरणे । संवृतम् आच्छादितं मा कार्षीः (आत्मानम्) अ० १ । १८ । ३ । पदार्थानां सूक्ष्मस्वभावं सारं तत्त्वं वा (अथो) अपि च (सहस्रचक्षो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति षक्षिङ् कथने दर्शनेच- उ । हे बहुदर्शनशक्ते परमात्मन् (त्वम्) । (प्रति) प्रत्यक्षम् (पश्य) दृशेल्लेष्टि आडागमः । अवलोकय (किमीदिनः) अ० १ ७ । १ । किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते-इत्येवमन्वेषमाख्यानं पिशुनान् राक्षसान् ॥

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।

पिशाचान्तसर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

दर्शय । मा । यातु-धानान् । दर्शय । यातु-धान्यः । पिशा-
चान् । सर्वान् । दर्शय । इति । त्वा । आ । रभे । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (यातुधानान्) यातना देने वाले दोषों को (मा) मुझे (दर्शय) दिखा, (यातुधान्यः = ०-नीः) महापीड़ा देने वाली कुवासनाओं को (दर्शय) दिखा । (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस खाने वाले विघ्नों कां (दर्शय) दिखा, (ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (इति) इस के लिये (त्वा) तेरा (आरभे) मैं सहारा लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य की बाहिरी कुचेष्टाये और भीतरी कुवासनाये उस की उन्नति के महाविघ्न हैं । इस लिये वह विवेक पूर्वक उनका संशोधन करे ॥ ६ ॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।

वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

कश्यपस्य । चक्षुः । अस्ति । शुन्याः । च । चतुः-अक्ष्याः ।

वीध्रे । सूर्यम्-इव । सर्पन्तम् । मा । पिशाचम् । तिरः । कुरः ॥७॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (कश्यपस्य) रस पीने वाले सूर्य का (च) और (चतुरक्ष्याः) पूर्वादि चार प्रकार से व्याप्ति वाली (शुन्याः) बढ़ी हुई दिशा का (चक्षुः) देखने वाला ब्रह्म (अस्ति) है । (पिशाचम्) मांस

६—(दर्शय) आविष्कारय, प्रकाशय (मा) माम् (यातुधानान्) पीडाप्रदान् दोषान् (यातुधान्यः) धातुधानीः । पीडाप्रदायिकाः कुवासनाः (सर्वान्) (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । पिशितस्य मांसस्य भक्षकान् महा-दुःखदायिनो विघ्नान् (इति) एवमर्थम् (त्वा) त्वां परमात्मानम् (आरभे) आलभे । स्पृशामि । धारयामि ॥

७—(कश्यपस्य) अ० २ । ३७ । ७ । कश्यं जलरसं पिबतीति, तस्य, सूर्यस्य (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (अस्ति) (शुन्याः) श्वनुत्तनपूषन्० । उ० १ ।

ज्ञाने वाले [पीड़ादायक] विघ्न को (मा तिरस्करः) गुप्त मत रख [प्रकाश करदे], (वीधे) विशेष चमकने के समय अर्थात् मध्याह्न में (सर्पन्तम्) चलते हुये (सूर्यमिव) सूर्य को जैसे [नहीं छिपा सकते] ॥ ७ ॥

भाषार्थ—परमात्मा इस सब विशाल संसार को सर्वथा देखता है और सब के दोषों को इस प्रकार जानता है, जैसे दोपहर के सूर्य को। इससे सब मनुष्य दोषों को त्याग कर सदा सुख से रहें ॥ ७ ॥

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम् ।

तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शुद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

उत् । अग्रभम् । परि-पानात् । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।

तेन । अहम् । सर्वम् । पश्यामि । उत । शुद्रम् । उत । आर्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(परिपाणात्) रक्षास्थान [अपने हृदय देश] से (यातु-धानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) पिशुन रूप अपने दोष को (उत् अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है। (तेन) उसी से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूँ, (यः च) जो कोई (शुद्रः) शोचनीय शुद्र अर्थात् मूर्ख, (उत!) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ८ ॥

१५६। इति दुष्प्रोशिव गतिवृद्धयोः—कनिन्, नान्तत्वात् डीप् । व्याप्तायाः प्रवृद्धाया दिशायाः (चतुरदयाः) चतुर् + अन् व्याप्तौ—इन—डीप् । पूर्वादि दिगूपेण चतुर्विधानि अक्षीणि व्यापनानि यस्याः सा चतुरक्षी तस्याः । चतुर्विधव्यापन-क्षीलायाः (वीधे) बाबिन्धेः । उ० २। २६ । इति वि + इन्ध्री दीप्तौ—क्रन् । विशेष-दीप्तिकाले । मध्याह्ने) (सूर्यमिव) (सर्पन्तम्) गच्छन्तम् (पिशाचम्) पिशितभक्षकं विघ्नम् (मा तिरस्करः) करोतेर्माङि लुङि । कृमृद् रुहि-भ्यश्चुन्दसि । पा० ३ । १ । ५६ । इति च्लेः अङ् आदेशः । अन्तर्हितं मा कार्षीः । सर्वथा प्रकाशय—इत्यर्थः ।

८—(उत् अग्रभम्) उत्कर्षेण अग्रहं गृहीतवानस्मि वशीकृतवानस्मि (परिपाणात्) परिरक्षणस्थानात् । हृदयदेशात् (यातुधानम्) यातनाप्रदम्

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मदोष के निवारण और बुरे भले के विवेक से शिवसंकल्पी होकर अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश करके सुखी होता है ॥ ८ ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्ध के लिये मन्त्र ४ देखो ॥

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।

भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥ ९ ॥

यः । अन्तरिक्षेण । पतति । दिवम् । यः । च । अति-सर्पति ।

भूमिम् । यः । मन्यते । नाथम् । तम् । पिशाचम् । प्र । दर्शय ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [उपद्रवी] (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्ती हृदय अवकाश द्वारा (पतति) नीचे गिरता है, (च) और (यः) जो (दिवम्) व्यवहार वा प्रकाश को (अतिसर्पति) लांघकर रेंगता है, और (यः) जो (भूमिम्) अपनी सत्ता को [अहंकार से] (नाथम्) ईश्वर (मन्यते) मानता है, (तम्) उस (पिशाचम्) मांसभक्षक, दुःखदायक, आत्मा को (प्रदर्शय) तू दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मनोविकार से वेद मार्यादा छोड़ कुकर्मी बनजाता है, वह मनुष्य ईश्वर भक्ति से अपने अविद्यादि दोषों को छोड़कर सुखी होवे ॥ ९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

(किमीदिनम्) म० ५ । पिशुनरूपं स्वदोषम् (तेन) तेन कारणेन दोषनिग्रहेण । अन्यद् व्याख्यातं म ४ ॥

८—(यः) आत्मदोषः । उपद्रवी जनो वा (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्तिना हृदयावकाशेन, तत्सहायेन (पतति) अधोगच्छति (दिवम्) इगुपध-ज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारादिषु—क प्रत्ययः । व्यवहारम् । प्रकाशम् (यः) (च) (अतिसर्पति) (अर्तात्य, उल्लङ्घ्य गच्छति (भूमिम्) अ० १ । ११ । २ । भू सत्तायाम्—मि । सत्ताम् (यः) (मन्यते) अहंकारेण जानाति (नाथम्) नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—अच् । प्रभुम् । ईश्वरम् (तम्) (पिशाचम्) पिशिताशिनम् । दुःखदायकमात्मानम् (प्रदर्शय) अवगमय ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-७ ॥ गावो देवताः । १, ५-७ त्रिष्टुप् २-४ जगती ॥

विद्यागुणोपदेशः—विद्या के गुणों का उपदेश ॥

ओ गावो अगमन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे ।

प्रजावतीः पुरु रूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वोरुपसो दुहानाः ॥१

आ । गावः । अगमन् । उत । भद्रम् । अक्रन् । सीदन्तु । गो-
स्थे । रणयन्तु । अस्मे इति । प्रजा-वतीः । पुरु-रूपाः । इह ।
स्युः । इन्द्राय । पूर्वीः । उपसः । दुहानाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गावः) पाने वा स्तुति योग्य, विद्यायें (आ अगमन्)
प्राप्त हुई हैं, (उत) और उन्होंने ने (भद्रम्) कल्याण (अक्रन्) किया है । वे
(गोष्ठे) हमारी गोठ अर्थात् विद्यासमाज में (सीदन्तु) प्राप्त होवें और
(अस्मे) हमें (रणयन्तु = रमयन्तु) सुख देवें । वे (इह) यहां समाज में
(इन्द्राय) परम पेश्वर्य वाले पुरुष के लिये (पूर्वीः) बहुत (उपसः) प्रभात
वेलाओं तक (प्रजावतीः) उत्तम मनुष्यों वाली, (पुरु रूपाः) अनेक लक्षण
वाली होकर (दुहानाः) [कामनाओं को] पूर्ण करती हुई (स्युः) रहें ॥ १ ॥

१—(गावः) गमेडोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लट गतौ गाने वा-डो ।
गौरिति वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । प्रपणीया गानयोग्या वा वाचः । विद्याः
(आ अगमन्) मन्त्रे घसव्हर० । पा० २ । ४ । ८० । इति लुङि च्लेलुक् । अगमन्
आगताः प्राप्ता अभवन् (उत) अपिच (भद्रम्) कल्याणम् (अक्रन्) पूर्ववत्
लुङ् । अक्राप्सुः (सीदन्तु) षट् लृ गतौ । ताः प्राप्नुवन्तु (गोष्ठे) गावो वाच-
स्तिष्ठन्ति यत्र । विद्यासमाजे (रणयन्तु) रणाय रमणीयाय संग्रामाय-निरु०
१० । ४७ । इति निर्देशात् मस्य णः । रमयन्तु सुखयन्तु (अस्मे) विभक्तेः शे ।
अस्मान् (प्रजावतीः) प्रजावत्यः । प्रशस्तजनवत्यः (पुरु रूपाः) बहुरूपाः ।
नानाविधाः (इह) अस्मिन् गोष्ठे (स्युः) भवेयुः (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय

भावार्थ—विद्यार्थे परमेश्वर से आकर संसार को महा उपकारी हुई हैं । मनुष्य ईश्वर विद्या, शिल्प विद्या आदि अनेक विद्याओं को प्राप्त करें और (इन्द्र) महापुरुषार्थी प्रधान पुरुष के सहायक होकर बहुत काल तक सुख भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है, म० ६ सू२ २८ म० १—७ । उस में सूक्त के भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं ॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षते उपेद् ददाति न स्वमुपायति । भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन् अभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥ २ ॥

इन्द्रः । यज्वने । गृणते । च । शिक्षते । उपे । इत् । ददाति । न । स्वम् । मुपायति । भूयः-भूयः । रयिम् । इत् । अस्य । वर्धयन् । अभिन्ने । खिल्ये । नि । दधाति । देव-युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (यज्वने) यज्ञ करने वाले (च) और (गृणते) उपदेशक पुरुष को (शिक्षते) शिक्षा देता है, और (उप=उपेत्य) आदर करके (स्वम्) धन (ददाति) देता है, और (न) न (मुपायति) चुराता है, और (देवयुम्) दिव्य गुण वा विद्वानों के प्राप्त कराने

पुरुषाय (पूर्वीः) पुरु बहुनाम-निघ० ३ । १ । ततो ङिष् । पूर्वीः । बर्हीः (उपसः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । उपः-कालोपलक्षितान् दिवसान् । सर्वकालम् (दुदानाः) दुह प्रपूरणे-शानच् । कामान् प्रपूरयन्त्यः ॥

२—(इन्द्रः) राजा (यज्वने) सुयजोङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ङ्वनिप् । यज्ञकर्त्रे (गृणते) गृ शब्दे-शतृ । उपदेशकाय जनाय (च) (शिक्षते) उपदिशति (उप) उपेत्य (इत्) अवधारणे (ददाति) सुपात्राय प्रयच्छति (न) निषेधे (स्वम्) धनम् (मुपायति) छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति मुष स्तेये शनः शायच् । मुष्णानि चोरयति (भूयोभूयो) बहुतरम् (रयिम्) धनम् (इत्) (अस्य) संसा-

वाले (रयिम्) धन को (भूयोभूयः) अधिक अधिक (इत्) ही (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (अस्य) इस संसार के (अभिघ्ने) अद्वैत (खिल्ये) कण कण प्राप्ति के लाभ मैं (निदधाति) निधि रूप से रखता है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा स्वार्थ छोड़कर विद्यादानादि में धन को व्यय करता है, विद्याबल से धन बढ़ाता हुआ संसार को बहुत लाभ पहुंचाता है ॥ २ ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरो दधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सुह ॥ ३ ॥

न । ताः । नशन्ति । न । दभाति । तस्करः । न । आसाम् । आमित्रः । व्यथिः । आ । दधर्षति । देवान् । च । याभिः । यजते । ददाति । च । ज्योक् । इत् । ताभिः । सचते । गोपतिः । सुह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताः) वे [विचार्य] (न) नहीं (नशन्ति) नष्ट होती हैं, (न) न [उन्हें] (तस्करः) चोर (दभाति) ठगता है, (न) न (आमित्रः) पीडा देने वाला (व्यथिः) व्यथाकारी शत्रु (आसाम्) इनकी (आ दधर्षति) हंसी उड़ाता है । (च) और (गोपतिः) विद्याओं का स्वामी, वाचसति (याभिः)

रस्य (वर्धयन्) समर्धयन् (अभिघ्ने) अच्छिन्ने । निरुपद्रवे (खिल्ये) खिल कणश आदाने—क । ततो यत् । कणश आदानस्थाने, अप्रहते देशे भवे सुरक्षिते लाभे (निदधाति) निधिरूपेण स्थापयति (देवयुम्) मृगयवाइयश्च । उ० १ । ३७ । इति देव + या प्रापणे—कु । देवानां दिव्यगुणानां विदुषां वा प्रापकम् ॥

३—(न) नहि (ताः) गावः । विद्याः (नशन्ति) णश अदर्शने, श्यनःशप् । नश्यन्ति (दभाति) दम्भु दम्भे = वञ्चने, छान्दसं रूपम् । दम्भयति दम्भोति वञ्जति ताः तस्करः) अ० ४ । ३ । २ । उपतापकरः । चोरः (आसाम्) गवाम् । विद्यानाम् (आमित्रः) अमेद्विषिति चित् । उ० ४ । १७४ । इति आङ् + अम पीङने—इत्रिच् । आ समन्ताद् आमयति पीडयतीति सः । शत्रुः (व्यथिः) सर्व-

जिन [विद्याओं] से (देवान्) दिव्य गुणों को (यजते) पूजता (च) और (ददाति) देता है, (ताभिः सह) उन [विद्याओं] के साथ (ज्योक्स्त्) बहुत ही काल तक वह (सचते) मिला रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्या अक्षय कोश है। जो मनुष्य विद्याओं को सत्कारपूर्वक ग्रहण करके संसार में फैलाता है। वह यशस्वी होकर सदा आनन्द भोगता है ॥३॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति
ता अभि ॥ उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य
वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

न । ताः । अर्वा । रेणु-ककाटः । अश्नुते । न । संस्कृतत्रम् ।
उप । यन्ति । ताः । अभि । उरु-गायम् । अभयम् । तस्य । ताः ।
अनु । गावः । मर्तस्य । वि । चरन्ति । यज्वनः ॥ ४ ॥

भावार्थ — (न) न तौ (अर्वा) घोड़े के समान विषयासक्त, अथवा हिंसक पुरुष, और (न) न (रेणुककाटः) धूलि के कूये के समान गिरजाने वाला मनुष्य (ताः) उन [विद्याओं] को (अश्नुते) पाता है। (ताः) वे विद्यायें (संस्कृतत्रम्) संस्कृत [शुद्ध] विद्याओं के रक्षक जनको (अभि) सब ओर से (उप यन्ति) आती हैं। (ताः गावः) वे विद्यायें (तस्य) उस (यज्वनः)

धातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति व्यथ भयसंचलनयोः—इन् । व्यथाजनको दुष्टः (आ दधर्षति) धृष प्रहसने । आधर्षति आधर्षणं प्रहसनं तिरस्कारं करोति (देवान्) दिव्यगुणान् (च) (याभिः) गोभिः । विद्याभिः (यजते) पूजयति (ददाति) प्रयच्छति (च) (ज्योक्) निरन्तरम् (इत्) (ताभिः) गोभिः । विद्याभिः (सचते) समवैति (गोपतिः) गवां विद्यानां स्वामी । वाचस्पतिः (सह) सहितः ॥

४—(न) निषेधे (ताः) गाः । वाचः । विद्याः (अर्वा) अद्यावमाध-
मार्वरैफाः कुत्सिते । उ० ५ । ५४ । इति ऋ गतौ हिंसायां च—वन् । अर्वा, अश्वनाम-
निघ० १ । १४ । अर्वैरणवान्—निर० १० । ३१ । निकृष्टप्रतिकृष्टावैरेफ० । इत्यमरः—
२१ । ५४ । ऋच्छति मार्गम्, ऋणेत्यन्यान् । अश्व इव विषयासक्तो हिंसको

देवताओं के पूजने वाले (मर्त्तस्य) मनुष्य के (उरुगायम्) बड़े प्रशंसनीय (अभयम्) निर्भय राज्य में (अनु) अनुकूलता से (विचरन्ति) बिचरती हैं ॥४॥

भाषार्थ—विषयी, अदृढस्वभाव, दुष्ट जन विद्या के उत्तम फल को नहीं पासकते हैं । जितेन्द्रिय, विद्वानों के सत्कार करने वाले राजा के सुरक्षित राज्य में अनेक उत्तम विद्यायें उन्नति को प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥

गाव् । भगो गाव् इन्द्रो मु इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथ-
मस्य भक्षः । इमा या गावः स जनासु इन्द्र इच्छामि
हुदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

गावः । भगः । गावः । इन्द्रः । मे । इच्छात् । गावः । सोमस्य ।
प्रथमस्य । भक्षः । इमाः । याः । गावः । सः । जनासुः ।
इन्द्रः । इच्छामि । हुदा । मनसा । चित् । इन्द्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गावः) विद्यायें ही (भगः) धन हैं, (गावः) विद्यायें (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं, (गावः) विद्यायें (प्रथमस्य) अति श्रेष्ठ (सोमस्य) सोमरस अर्थात् अमृत वा मोक्ष का (भक्षः) सेवन हैं, [इति] (मे इच्छात्)

वा कुत्सितः पुरुषः (रेणुककाटः) रेणु + क + काटः । अजिवृरीभ्यो निच्च ।
उ० ३ । ३८ । इति री गतिरेषणयोः—नु । इति रेणुः । कटे वर्षावरणयोः—घञ् ।
कस्य जलस्य काटो वर्षणं सेचनं यस्मात् स ककाटः कूपः । धूलिकूप इवपतन-
स्वभावः (अश्नुते) प्राप्नोति (संस्कृतवम्) संस्कृत + त्रैङ् रक्षणे—क ।
संस्कृतानां देववाणीनां शोभनविद्यानां रक्षकम् (उपयन्ति) आगच्छन्ति
प्राप्नुवन्ति (अभि) आभिमुख्येन (उरुगायम्) अ० २ । १२ । १ । बहुप्रशंसनीयम्
(अभयम्) निर्भयं राज्यम् (तस्य) विद्यारक्षकस्य (ताः) (अनु) अनुकूलतया
(गावः) विद्याः (मर्त्तस्य) हसिमृगिणः० उ० ३ । ३६ । इति मृङ् प्राणत्यागे—तन् ।
मारयति द्रोणान् स मर्तः । मनुष्यस्य (विचरन्ति) विविधं गच्छन्ति (यज्वनः)
म० २ । याजकस्य । देवपूजकस्य ॥

५—(गावः) वाचः । विद्याः (भगः) भजनीयं धनम्—निय० २ । १०
(इन्द्रः) परमैश्वर्यं सन्ति (मे) मम (इच्छात्) इषु इच्छायां लोटे आडागमः ।
इच्छा भवेत्—इति (सोमस्य) ऐश्वर्यवतो अमृतस्य मोक्षस्य (प्रथमस्य)

[यह] मेरी इच्छा हो । (जनासः) हे मनुष्यो ! (इमाः) ये (याः) जो (गावः) विद्यायें हैं, (सः) सो ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं । (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य की (चित्) ही (हृदा) हृदय अर्थात् आत्मा और (मनसा) विज्ञान के साथ (इच्छामि) मैं चाह करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं को धन, ऐश्वर्य और मोक्ष का मुख्य साधन जानकर पूर्ण भ्रद्धा से प्राप्त करें ॥ ५ ॥

युयं गावो मेदयथा कुशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सु-
प्रतीकम् । भद्रं गुहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वयं
उच्यते सुभासु' ॥ ६ ॥

युयम् । गावः । मेदयथ । कुशम् । चित् । अश्रीरम् । चित् ।
कृणुथ । सु-प्रतीकम् । भद्रम् । गुहम् । कृणुथ । भद्र-वाचः ।
बृहत् । वः । वयः । उच्यते । सुभासु' ॥ ६ ॥

भावार्थ—(गावः) हे विद्याओ ! (युयम्) तुम (कुशम्) दुर्बल से (चित्) भी, (अश्रीरम्) श्रीरहित निर्धन से (चित्) भी (मेदयथ) स्नेह करती हो और (सुप्रतीकम्) बड़ी प्रतीति वाला वा बड़े रूप वाला (कृणुथ) बना देती हो । (भद्रवाचः) हे कल्याणी विद्याओ ! (गृहम्) घर को (भद्रम्)

अतिश्रेष्ठस्य (भक्तः) वृत्तवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । इति भज सेवने-स ।
सेवनम् । भोगः (इमाः) (याः) (वाचः) (सः) स एव (इन्द्रः) ऐश्वर्यम्
(जनासः) हे जनाः । विद्वांसः (इच्छामि) अहं कामये (हृदा) हृदयेन ।
आत्मना (मनसा) विज्ञानेन (चित्) अपि । एव (इन्द्रम्) विद्यारूपम्
ऐश्वर्यम् ॥

६—(युयम्) (गावः) हे विद्याः (मेदयथ) जि मिदा स्नेहने-णिच् ।
स्नेहयथ । आप्याययथ (कुशम्) अनुपसर्गात् पुल्लक्ष्मीबहुशोभायाः । पा० ८ ।
२ । ५५ । इति कुश तनूकरणे-कप्रत्ययान्तो निपात्यते । क्षीणं निर्बलम् (चित्)
अपि (अश्रीरम्) रो मत्वर्थायः । अश्रीयुक्तम् । निर्धनम् । अमङ्गलम् (कृणुथ)
कुरुथ (सुप्रतीकम्) अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । इति सु+प्र+इण् गतौ-

मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो, (सभासु) विद्वानों से प्रकाशमान सभाओं में (वः) तुम्हारा ही (वयः) बल (बृहत्) बड़ा (उच्यते) बखाना जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्या से दुर्बल मनुष्य सबल, और निर्धन बड़ा विश्वासी और रूपवान् होता है, विद्वानों के घर में सदा आनन्द रहता, और विद्वानों की ही राज सभा और पंचायतों में बड़ाई होती है ॥ ६ ॥

प्रजावन्तोः सुयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः । मा व स्तेन ईशत् माघशंसुः परि वो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु ॥ ७ ॥

प्रजा-वन्तीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्रपाणे । पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशत् । मा । अघ-शंसः । परि । वः । रुद्रस्य । हेतिः । वृणक्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ!] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलोंको (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत्) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतनेवाला, डाकू उचका आदि [वशमें करे] ।

कीकन्, धातोस्तुद्व । शोभनप्रतीतिवन्तम् । शोभनावयवम् । सुरुपम् (भद्रम्) कल्याणकरम् (गृहम्) गेहम् (भद्रवाचः) हे शोभना वाचो विद्याः (बृहत्) महत् (वः) युष्माकम् (वयः) अ० २ । १० । ३ । यौवनम् । बलम् (उच्यते) प्रशस्यते (सभासु) सह + मा दीप्तौ-अङ्, टाप्, सहस्य सः । विद्वद्भिः प्रकाशमानासु परिवन्तु ॥

७—(प्रजावतीः) उत्तमसन्तानयुक्ताः [हे प्रजाः—इति शेषः] (सुयवसे) अत्यविचमि० । उ० ३।११७ । इति सु + यु मिअणामिअणयोः—असच् । शोभनानि यवाद्यन्नानि यस्मिन् तस्मिन् गृहे (रुशन्तीः) रुश हिंसायाम्-शत् । अन्नं भक्षयन्तीः (शुद्धाः) निर्मलाः (अपः) जलानि (सुप्रपाणे) सुन्दरे जलपानस्थाने (पिबन्तीः)

(रुद्रस्य) पीडानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति. (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागो रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विचार्यें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥ ७ ॥

(मा वस्तेन इति) यह पाद य० १ । १ और (परि वो रुद्रस्येति) यह पाद य० १६ । ५० में है ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामजयायोपदेशः—संग्राम में जय के लिये उपदेश ॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामैकवृषं कृणु त्वम् ।
निर्मित्रानक्षुण्णस्य सर्वास्तान् रन्धया समा अहमुत्त-
रेषु ॥ १ ॥

इमम । इन्द्र । वर्धय । क्षत्रियम् । मे । इमम् । विशाम् ।
एक-वृषम् । कृणु । त्वम् । निः । अमित्रान् । अक्षुण्णिहि । अस्य ।
सर्वान् । तान् । रन्धय । अस्मै । अहम्-उत्तरेषु ॥ १ ॥

पानं कुर्वतीः (वः) शुष्मान् (स्तेनः) चोरः (व स्तेन) सर्परे शरिषा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ८ । ३ । ३६ । इति विसर्गलोपः । (मा ईशत) मा ईशिष्ट । अधिकारे वशे न करोतु (मा) मा ईशत (अघशंसः) अघ पापकरणे-पचाद्यच्, शसि इच्छायाम्-अच् । अघं पापं शंसति इच्छतीति यः । अनिष्टचिन्तकः (परि) सर्वतः (वः) शुष्मान् (रुद्रस्य) रुद्र + रस्य । रुद्रिर् अश्रुविमोचने-क्लिप्, इति रुद्र् पीडा । रुद्र् गतिहिंसनयोः-ड । रुद्रं पीडां रवते नाशयतीति रुद्रः, तस्य दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य (हेतिः) ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ६७ इति हन वधे क्तिन् । हन्यते ताड्यते अनया । हननशक्तिः (वृणक्तु) वृजी वर्जने । वर्जयतु । त्यजत ॥

भावाय—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (क्षत्रियम्) राज्य करने में चतुर राजा को (मे) मेरे लिये (वर्धय) बढ़ा, और (इमम्) इसको (विशाम्) मनुष्यों का (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान अर्थात् सार्वभौम शासक (कृणु) बना । (अस्य) इसके (सर्वान्) सब (अमित्रान्) वैरियों को (निरक्षुहि) निर्बल करदे, और (तान्) उन्हें (अस्मै) इसके लिये (अहमुत्तरेषु) मैं ऊँचा होता हूँ, मैं ऊँचा होता हूँ, ऐसे कथन स्थान रण क्षेत्रोंमें (रन्धय) नाश कर वा वश में कर ॥ १ ॥

भावाय—प्रजागण सर्व श्रेष्ठ पुरुष को राजा बनावें जो परमेश्वर में विश्वास करके युद्ध भूमि में शत्रुओं को मारकर प्रजाको सुखी रखें ॥ १ ॥

सायणाचार्य ने (अहमुत्तरेषु) पद को पदपाठ के विरुद्ध [अहम् उत्तरेषु] ऐसे दो पद मानकर व्याख्या की है ॥

ए० भंजु ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भंजु यो अमित्रो
अस्य । वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रु रन्धय
सर्वमस्मै ॥ २ ॥

आ । इ० मम् । भ० जु । ग्रामे । अश्वेषु । गोषु । निः । तम् ।
भ० जु । यः । अमित्रः । अस्य । वर्ष्म । क्षत्राणाम् । अयम् ।
अस्तु । राजा । इन्द्र । शत्रुम् । रन्धय । सर्वम् । अस्मै ॥ २ ॥

१—(इमम्) अस्माकं मध्ये वर्त्तमानम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन् (वर्धय) समर्थय (क्षत्रियम्) क्षत्राद् भः । पा० ४ । १ । १३८ । इति क्षत्र-घ । क्षत्रे राष्ट्रे साधुम् । राजानम् (मे) मह्यम् (विशाम्) विश प्रवेशने-क्विप् । विशः, मनुष्यनाम-निध० २ । ३ । मनुष्याणाम् । प्रजानाम् (एकवृषम्) वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः-क । अद्वितीयप्रधानम् । एकवीरम् । सार्वभौमम् (कृणु) कुरु (त्वम्) (अमित्रान्) अ० १ । १६ । २ पीडकान् शत्रून् (निः अक्षुहि) अक्ष व्याप्तौ । निर्गतव्याप्तिकान् निर्बलान् कुरु (अस्य) राक्षः (सर्वान्) तान् तथाविधान् शत्रून् (रन्धय) रथ हिंसापाकयोः । रथिजमोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुमागमः । रथतिर्वशगमने-निरु० १० । ४० । नाशय । वशीकुरु (अस्मै) राज्ञे (अहमुत्तरेषु) अहम् + उत्तरेषु । अहमुत्तरो भवामि अहमुत्तरो भवामि इति कथनं यत्र । परस्परोटकर्षाय योयानां भावनकर्मसु । महासंग्रामेषु ॥

भाषार्थ—(इमम्) इसको (ग्रामे) ग्राममें, (अश्वेषु) घोड़ों में, और (गोषु) गौ आदिकों में (आभज) भाग्यवान् कर, और (यः) जो (अस्य) इसका (अमित्रः) बैरी है, (तम्) उस को (निर्भज) अलग कर दे । (अयम्) यह (राजा) राजा (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों का (वर्ष्म) मस्तक [समान ऊँचा] (अस्तु) होवे । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्र भगवान् ! (अस्मै) इसके लिये (सर्वम्) सब (शत्रुम्) शत्रु को (रन्ध्रय) वश में कर ॥ २ ॥

भाषार्थ—राजा परमेश्वर में भज्जा रखता हुआ अपनी प्रजा, सेना, और गौ आदि पशुओं की रक्षा करता हुआ अपने सब शत्रुओं का नाश करके क्षत्रियों का शिरोमणि बने ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विशपतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महिर्वर्चसि धत्तुर्विष्णुर्हिशत्रुमस्य ॥३॥
अयम् । अस्तु । धन-पतिः । धनानाम् । अयम् । विशाम् ।
विशपतिः । अस्तु । राजा । अस्मिन् । महि । इन्द्र । वर्चसि ।
धेहि । अर्चसम् । कृणुहि । शत्रुम् । अस्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (धनानाम्) बहुत प्रकार के धनों का (धन-पतिः) धनपति (अस्तु) होवे । (अयम्) यह (राजा) राजा (विशाम्) बहुत प्रजाओं का (विशपतिः) प्रजापति (अस्तु) होवे । (इन्द्र) हे परमेश्वर !

२—(इमम्) राजानम् (आ भज) भज सेवाविधायनयोः । समन्तात् सेवस्व । भागं देहि (ग्रामे) अ० ४ । ७ । ५ । वसतौ । (अश्वेषु) तुरङ्गेषु (गोषु) धेन्वादिपशुषु (तम्) शत्रुम् (निर्भज) निर्भक्तं वियुक्तं क्रुद्ध (यः) (अमित्रः) पीडकः शत्रुः (अस्य) राज्ञः (वर्ष्म) अ० ३ । ४ । २ । उन्नतस्थानम् । शिरोबहु-
जतः (क्षत्राणाम्) अ० २ । १५ । ४ । क्षत्रायाणां क्षत्रियाणां मध्ये (अस्तु) (राजा) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन् (शत्रुम्) रिपुम् (रन्ध्रय) म० १ । वशीकुरु (सर्वम्) (अस्मै) राजहिताय ॥

३—(अयम्) (अस्तु) (धनपतिः) धनानां निधीनां पालकः (धनानाम्) बहुविधधनानाम् (विशाम्) बहुप्रजानाम् (विशपतिः) प्रजापालकः (राजा) (अस्मिन्) राजानि (इन्द्र) हे परमात्मन् (महि) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ ।

(अस्मिन्) इस राज्य में (महि—महीनि) बड़े बड़े (वर्चांसि) तेजों को (धेहि) धारण कर, (अस्य) इसके (शत्रुम्) बैरी को (अथर्वसम्) निस्तेज (कृणुहि) करदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक बहुत धन एकत्र करके प्रजा की रक्षा करे और महा प्रतापी होकर शत्रुओं को बश में रखे ॥ ३ ॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुधे इव धेनू । अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशुनाम् ॥ ४ ॥

अस्मै । द्यावापृथिवी इति । भूरि । वामम् । दुहाथाम् । घर्म-
दुधे इवेति घर्मदुधे-इव । धेनू इति । अयम् । राजा । प्रियः ।
इन्द्रस्य । भूयात् । प्रियः । गवाम् । ओषधीनाम् । पशुनाम् ॥४॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों ! (अस्मै) इसराजा के लिये (घर्मदुधे) यज्ञ की पूर्ति करने वाली (धेनू इव) दो गौओं के समान (भूरि) बहुत (वामम्) उत्तम धन (दुहाथाम्) पूर्णकरो । (अयम्) यह (राजा) राजा (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (प्रियः) प्रिय (गवाम्) विद्याओंका, (ओषधीनाम्) सब अन्नों का और (पशुनाम्) दोंपाये और चौपाये जीवों का (प्रियः) प्रिय (भूयात्) होवे ॥ ४ ॥

११८ । इति मह पूजायाम्—इन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३६ । इति शसः सुः । महीनि महासि (वर्चांसि) तेजांसि (धेहि) धारय (अथर्वसम्) अतेजस्कम् (कृणुहि) कुरु (शत्रुम्) (अस्य) ॥

४—(अस्मै) राज्ञे (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिव्यौ । सूर्यभूलो-
कौ । तत्रस्थपदार्थाः, इत्यर्थः (भूरि) प्रभूतम् (वामम्) अर्तिस्तुलुङ्० । उ० १ ।
१४० । इति वा गतिगन्धनयोः—मन् । यज्ञा । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ ।
इति वन सम्भक्तौ याचने च—मक् । नस्य आकारः । प्रशस्यम्—निघ० ३ । ८ ।
धनम् (दुहाथाम्) दुग्धम् । प्रपूरयतम् (घर्मदुधे) घर्म + दुधे । घर्म इति

भावार्थ—राजा सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों और पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन संचय करे, और अनेक विद्याओं और अन्नों और सब प्राणियों की वृद्धि करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

युनजिमं त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराज-
यन्ते । यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं
मानवानाम् ॥ ५ ॥

युनजिम । ते । उत्तर-वन्तम् । इन्द्रम् । येन । जयन्ति । न ।
परा-जयन्ते । यः । त्वा । करत् । एक-वृषम् । जनानाम् ।
उत । राज्ञाम् । उत्-तमम् । मानवानाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरे लिये (उत्तरावन्तम्) अत्यन्त उत्तम गुण वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (युनजिम) मैं संयुक्त करता हूँ, (येन) जिसके साथ [शूर जन] (जयन्ति) जय पाते हैं, और (न) कभी नहीं (पराजयन्ते) हारते हैं । (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान, और (मानवानाम्) मनन शील अथवा माननीय (राज्ञाम्) राजाओं में (उत्तमम्) अति श्रेष्ठ (करत्) करे ॥ ५ ॥

व्याख्यातम्—अ० ४ । १ । २ । दुहः कब्धश्च । पा० ३ । २ । ७० । इति दुह प्रपूरणे-कप्, हस्य घश्च । टाप् । घर्मस्य यज्ञस्य प्रपूरयिष्यौ यज्ञाय दोग्ध्यौ (इष) यथा (धेनू) गावौ (अयम्) (राजा) (प्रियः) इष्टः । तर्पकः । (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (गवाम्) वाणीनाम् । विद्यानाम् (ओषधीनाम्) ब्रौहियवादिसस्यानाम् (पशूनाम्) द्विपाच्चतुष्पदां प्राणिनाम् ॥

५—(युनजिम) योजयामि (ते) तुभ्यम् (उत्तरावन्तम्) क्षाम्दसौ दीर्घः । अत्युत्कृष्टगुणयुक्तम् (इन्द्रम्) परमात्मानम् (येन) इन्द्रेण सह (जयन्ति) शूरा जयं प्राप्नुवन्ति (न) निषेधे (पराजयन्ते) विपराभ्यां जेः । पा० १ । ३ । १६ । इति आत्मनेपदम् । शत्रुभ्यः सकाशात् पराभवं प्राप्नुवन्ति (यः) इन्द्रः (त्वा) त्वां राजानम् (करत्) करोतेर्लेट् । ङेटोऽङाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ ।

भाषार्थ—विद्वान् पुरुष राजा को परमेश्वर का उपदेश करें, जिसके आश्रय से वह राजा धीरे धीरे होकर प्रजाका पालन करे और उसमें में उत्तम राजा हो ॥ ५ ॥

उत्तरुस्त्वमधरे ते सुपत्ना ये के च राजन् प्रतिशत्र-
वस्ते । एकवृष इन्द्रसखा जिगीवान् छत्रूयातामा भ्रू-
भोजनानि ॥ ६ ॥

उत्तरः । त्वम् । अधरे । ते । सु-पत्नाः । ये । के । च । राजन् ।
प्रति-शत्रवः । ते । एक-वृषः । इन्द्र-सखा । जिगीवान् । शत्रु-
यताम् । आ । भ्रू । भोजनानि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[राजन् !] हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) अधिक ऊँचा हो, (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्ती शत्रु और (ते) तेरे (सपत्नाः) साथ भगड़नेवाले हैं, [वे] (अधरे) मोचे होंगे । (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रुओं जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन, धन धान्यों को (आभर) लाकर भर दे ॥६॥

इति अडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ६७ । इति इकारलोपः । कुर्यात् (एकवृषम्) म० १ । अद्वितीयं सुखसेचकं सार्वभौमम् (जनानाम्) शूरजनानाम् (उत) अपि च (राक्षाम्) क्षत्रियाणाम् (उत्तमम्) मुख्यं सर्वश्रेष्ठं प्रजापरिपालनशौर्यादिगुणैरुत्कृष्टम् (मानवानाम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति । मनु—अण् । मननशीलानाम् । यद्वा । कुन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०६ । इति मान-वप्रत्ययो मत्वर्थे । मान्यानाम् ॥

६—(उत्तरः) ऊर्ध्वतरः (त्वम्) राजन् (अधरे) नीचाः (ते) त्वदीयाः (सपत्नाः) अ० १ । ६ । २ । सहपतित्ववन्तः । शत्रवः (ये के च राजन्) (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्तिनो वैरिणः (एकवृषः) म० १ । अद्वितीयशक्तः (इन्द्रसखा) इन्द्रेण परमेश्वरेण सखित्वयुक्तः (जिगीवान्) जि जये + क्वसु । सन्निहोर्जः । पा० ७ । ३ । ५७ । इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । छान्दोग्यो दीर्घः । जयशक्तः (शत्रूयताम्) अ० ३ । १ । ३ । शत्रु-क्यच्, —शत् । शत्रुवदाचरताम्

भावार्थ—राजा प्रतिकृतवर्ती सब शत्रुओं को परमेश्वर के सहाय से जीतकर सर्वथा निर्बल करे और प्रजा को सुख देवे ॥ ६ ॥

सिंहप्रतीका विशो^१ अद्भि^२ सर्वा^३ व्याघ्रप्रतीको^४ अत्र बाधस्व^५
शत्रून्^६ । एकवृष^७ इन्द्रसखा^८ जिगीवान्^९ छत्रयुतामा^{१०}
खिदा^{११} भोजनानि ॥ ७ ॥

सिंह-प्रतीकः । विशः । अद्भिः । सर्वाः । व्याघ्र-प्रतीकः । अत्र ।
बाधस्व । शत्रून् । एक-वृषः । इन्द्र-सखा । जिगीवान् ।
शत्रु-युताम् । आ । खिद । भोजनानि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हेराजन् !] (सिंहप्रतीकः) सिंह तुल्य पराक्रमी तू
(सर्वाः) सब [शत्रुओंके] (विशः) मनुष्यों के (अद्भिः) खाले, (व्याघ्र-
प्रतीकः) व्याघ्र समान भपट कर (शत्रून्) दुष्ट वरियों के (अत्र बाधस्व)
हटादे । (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः)
अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रु जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि)
भोगों के साधन धन धान्यों के (आ खिद) छीमले ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा पूर्ण पराक्रमसे शत्रुओं की सेनाओं और शत्रुओं का नाश
करे और सब प्रकार से विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन रखे ॥ ७ ॥

(आ भरा) छान्दसो दीर्घः । आनीय धर (भोजनानि) ह्युट् च । पा० ३ । ३ ।
११५ । इति भुज पालनाभ्यवहारयोः—ह्युट् । भोगसाधनानि धान्यानि
धनानि च ॥

७—(सिंहप्रतीकः) सिंह इति । गतम्-अ० ४ । ८ । ७ । अलीकादयश्च ।
उ० ४ । २५ । इति प्रति + इण् गतौ-कीकन् । प्रतीयते स प्रतीकः । प्रतीतिः ख्यातिः ।
सिंहतुल्यपराक्रमः (विशः) प्रजाः शत्रूणाम् (अद्भिः) अद् भक्षणो—लोह । भुङ्क्त्व
नाशय (सर्वाः) सकलाः (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्रवदपराक्रमशीलः (अत्र बाधस्व)
निवारय (शत्रून्) शानयितुन् । हिंसकान् (आखिद) खिद दैन्ये परिधाते
च । आङ्पूर्वः खिदिः आच्छेदने । आच्छिन्धि । अपहरेत्यर्थः । अन्यद् व्याख्यातं
म० ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१-७ ॥ अग्निर्देवता । १, २, ५, ७, पादत्रयं जगती, अन्ति-
मोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ पूर्वार्ध-
स्त्रिष्टुप्, उत्तरोऽनुष्टुप् ॥

कष्टनिवारणायोदेशः—कष्ट हटाने के लिये उपदेश ॥

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा
यमिन्धते । विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्च-
त्वंहसः ॥ १ ॥

अग्नेः । मन्वे । प्रथमस्य । प्रचेतसः । पाञ्च-जन्यस्य । बहुधा ।
यम् । इन्धते । विशः-विशः । प्रविशि-वांसम् । ईमहे । सः ।
नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रथमस्य) सबसे पहिले वर्तमान, (प्रचेतसः) बड़े ज्ञान वाले
(पाञ्चजन्यस्य) पांच भूतों से उत्पन्न मनुष्य आदि के हितकारक (अग्नेः)
सर्वव्यापक अग्नि, अर्थात् परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, (यम्)
जिसको [ऋषि लोग] (बहुधा) बहुत प्रकार से (इन्धते) प्रकाशित करते
हैं (विशोविशः) सब प्रवेश स्थानों में (प्रविशिवांसम्) प्रवेश करने वाले पर-
मेश्वर को (ईमहे) हम पहुँचते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा
से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

१—(अग्नेः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (मन्वे) मनु अवबोधने ।
मननं करोमि (प्रथमस्य) आद्यस्य । मुख्यस्य (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानस्य
(पाञ्चजन्यस्य) पञ्चजनाः, इति मनुष्य नाम-निघ० २ । ३ । पञ्चभिर्भूतैर्जाताः,
इत्यर्थः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति पञ्चजन-ज्य । पञ्चजनेभ्यो मनुष्ये-
भ्यो हितस्य (बहुधा) बहुप्रकारेण (यम्) अग्निम् (इन्धते) दीपयन्ति प्रका-
शयन्ति (विशोविशः) विश आवेशने-क्विप् । सर्वप्रवेशस्थानानि । सर्वाः प्रजाः
(प्रविशिवांसम्) विश प्रवेशने । छान्दसं रूपम् । प्रविशिवांसम् । प्रवि-
ष्टवन्तम् । (ईमहे) ईङ्गतौ । प्राप्नुमः । याचामहे—निघ० ३ । १६ । (सः)

भाषार्थ—सबके आदि कारण, सर्वज्ञ, सर्वहितकारक, सर्वव्यापक परमेश्वर की महिमा विचारते हुये मनुष्य पुरुषार्थ करके अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यथा हव्यं वहंसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन् । एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्च त्वंहसः ॥ २

यथा । हव्यम् । वहंसि । जात-वेदः । यथा । यज्ञम् । कल्प-यसि । प्र-जानन् । एव । देवेभ्यः । सु-मतिम् । नः । आ । वह । स । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उपन्नपदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार से (हव्यम्) देने वा खाने योग्य अन्न को (वहंसि) तू पहुंचाना है, (यथा) जिस प्रकार से (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (प्रजानन्) अच्छे प्रकार जानना हुआ (कल्पयसि) तू रचता है । (एव) वैसही (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिये (सुमतिम्) सुमति (नः) हमें (आवह) पहुंचा, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भवार्थ—परमेश्वर ने पुष्टि कारक और सुखदायक अन्न सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न करके हम पर बड़ा उपकार किया है, उसके गुणों को जानकर विज्ञानपूर्वक अपनी धार्मिक बुद्धि बढ़ावें और दुष्कर्मों से पृथक् रहकर जीवन लाभ उठावें ॥ २ ॥

अग्निः (नः) अस्मान् (मुञ्चतु) मोचयतु वियोजयतु (अंहसः) अ० २ । ४ ३ । अमेर्दुक्च । उ० ४ । २१३ इति अम रोगे, पीडने-असुप्त, दुक्च । रोगात् पीडकात् कष्टात् ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (हव्यम्) अ० ३ । ३ । ४ इति दानादनयोः—यत् । दातव्यं भोक्तव्यं वान्नम् (वहंसि) प्रापयसि (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ जानामास्यन्तानां वेदिनः (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयं कर्म (कल्पयसि) विरचयसि (प्रजानन्) प्रकर्षणावगच्छन् (एव) एवम् । तथा (देवेभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (सुमतिम्) धार्मिकं बुद्धिम् (नः) अस्मान् (आवह) द्विकर्मकः । प्रापय । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यामन्यामुन्नपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम् । अग्नि-
मीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥

यामन्-यामन् । उप-युक्तम् । वहिष्ठम् । कर्मन्-कर्मन् । आ-भगम् ।
अग्निम् । ईडे । रक्षः-हनम् । यज्ञ-वृधम् । घृत-आ-हुतम् ।
सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यामन् यामन्) प्रत्येक गति वा उद्योग में (उपयुक्तम्)
उपयोग किये, (कर्मन्कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (आभगम्) अच्छे प्रकार से
भक्ति योग्य, (वहिष्ठम्) अतिबली, (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करनेहारे,
(यज्ञवृधम्) पूजनीय कर्म के बढ़ाने वाले, (घृताहुतम्) प्रकाश के भलीभांति
देनेवाले, (अग्निम्) सर्वज्ञ अग्नि, परमात्मा की (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ ।
(सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ३ ॥

भवार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक कर्म में परमात्मा का ध्यान करके उद्योग
करते हैं, वही बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को हटाकर संसार में सुख
भोगते हैं ॥ ३ ॥

३—(यामन् यामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति या
प्राणये—मनिन् । सप्तम्या लुक् । यामनि यामनि । सर्वस्यां गतौ (उपयुक्तम्)
उपयोगीभूतम् (वहिष्ठम्) तुश्लुन्दसि । पा० ५ । ३ । ५६ । इति वोढु—इष्टन् ।
तुरिष्ठेमेयस्तु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । वोढुनमम् । अतिशयेन प्राप-
कम् । वहिष्ठम् (कर्मन् कर्मन्) डुकृञ् करणे—मनिन् । सप्तम्या लुक् । सर्व-
स्मिन् कर्मणि (आभगम्) आभक्त्यम् । आसेव्यम् (अग्निम्) सर्वज्ञं
परमात्मानम् (ईडे) ईड स्तुतौ । अग्निमीडेऽग्निं यात्रामाङिर्ध्येषणाकर्मा
पूजाकर्मा वा—निर० ७ । १५ । स्तौमि (रक्षोहणम्) रक्षस्+हन् हिंसागत्योः-
किप् । रक्षसां हन्तागम् (यज्ञवृधम्) यज्ञस्य पूजनीयकर्मणां वर्धयितारम्
(घृताहुतम्) घृत+आङ्-डु दाने-क्विप्, तुक् च । घृतस्य प्रकाशस्य सम्यक्
दातारम् । अन्यत् पूर्ववत् अ० १ ॥

सुजातं जातवेदसमुग्निं वैश्वानुरं विभुम् ।

हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्च त्वंहसः ॥ ४ ॥

सु-जातम् । जात-वेदसम् । अग्निम् । वैश्वानरम् । वि-भुम् ।

हव्य-वाहम् । हवामहे । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुजातम्) बड़े प्रसिद्ध, (जातवेदसम्) उत्पन्नपदार्थों के जानने वाले अथवा धन प्राप्त कराने वाले (वैश्वानरम्) सब नरों [नायकों] के हित करने वाले, (विभुम्) सर्वशक्तिमान्, (हव्यवाहम्) उत्तम अन्न पहुंचाने वाले (अग्निम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (हवामहे) हम पुकारते हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुण और कर्मों को जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावे और परस्पर उपकार करके आनन्दित रहें ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बृलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयु-
वन्त मायाः । येनाग्निना पुणीनिन्द्रो जिगाय स नो
मुञ्च त्वंहसः ॥ ५ ॥

येन । ऋषयः । बृलम् । अद्योतयन् । युजा । येन । असुरा-
णाम् । अयुवन्त । मायाः । येन । अग्निना । पुणीन् । इन्द्रः ।
जिगाय । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस (युजा) मित्र परमेश्वर के साथ (ऋषयः)

४—(सुजातम्) जनी प्रादुर्भवि-क्त । सुप्रसिद्धम् (जातवेदसम्) म० २ । जानानां वेदितारम् । धनस्य जनयितारं प्रापकम् । (अग्निम्) सर्वव्यापकम् (वैश्वानरम्) अ० १ । १० । ४ । सर्वेषां नराणां नायकानां हितम् (विभुम्) विप्रसंख्यो ड्वसंज्ञायाम् । पा० ३ । २ । १८० । इति वि+भृ डु । सर्वतम् । प्रभुम् (हव्यवाहम्) हव्यं वहतीति । हव्य+वह-अण् । अन्नप्रापकम् (हवामहे) आह्वयामः । अन्यद् गतम् ॥

५—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । ऋषिर्व-

असुर लोगों ने (बलम्) बल (अघोतयन्) प्रकाशित किया है, और (येन) जिसके साथ (असुराणाम्) असुरों की (मायाः) मायाओं [छलों] को (अयुषन्त) हटाया है । और (येन) जिस (अग्निना) सर्व व्याहक परमेश्वर के साथ (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पणान्) कुव्यवहारी मनुष्यों को (जिगाय) जीता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—जिस परमात्मा का आश्रय लेकर सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश किया है और जिस पर विश्वास करके प्रतापी मनुष्यों ने दुष्टों को जीता है, उसी परमात्मा की शरण लेकर हम विघ्नो को हटा कर सुख पावें ॥५॥

येन देवा अमृतमन्वविन्दन् येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन् ।
येन देवाः स्व १ राभरन्त्स नो मुञ्च त्वंहसः ॥ ६ ॥

येन । देवाः । अमृतम् । अन्-अविन्दन् । येन । औषधीः ।
मधु-मतीः । अकृण्वन् । येन । देवाः । स्वः । आ-अभरन् ।
सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(येन) जिसके द्वारा (देवाः) विद्वान् देवताओं ने (अमृतम्)

शंसात्—निरु० २ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः । सन्मार्गदर्शकाः । अतीन्द्रियार्थ-
दर्शिनः (बलम्) सामर्थ्यम् (अघोतयन्) घुत दीप्तौ णिचि लङि रूपम् ।
अदीपयन् (युजा) सख्या, मित्रेण सह (असुराणाम्) सुरविरोधिनाम् । सत्ता-
नाम् (अयुषन्त) यु मिश्रणा मिश्रणयोः—आत्मनेपदं छान्दसम् । अयुषन् ।
पृथक् कृतवन्तः (मायाः) माह्वासत्तिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति माङ् माने—
य । टाप् । प्रज्ञाः—नि घ० ३ । ६ । छलानि । मिथ्याज्ञानान् (अग्निना) परमा-
त्मना (पणान्) सर्वथा नुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पण व्यवहारे स्तुनौ
ञ-इन् । पणिवर्णभवेति पणिः पणनात्—निरु० २ । १७ । कुव्यवहारिणः
पुरुषान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (जिगाय) जि जये-लिट् । जितवान्
अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

६—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (देवाः) विद्वान् (अमृतम्) अमृतम्,

अमरपन [मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष वा कीर्ति] को (अनु-अविन्दन्) अनन्तर पाया है, और (येन) जिसके आश्रय से (ओषधीः) यव आदि पदार्थों को (मधुमतीः) मधुर रस वाली (अकृण्वन्) बनाया है, और (येन) जिसके द्वारा (देवाः) देवताओं ने (स्वः) स्वर्ग अर्थात् महा आनन्द (आ-अभरन्) यथावत् धारण किया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—जिस परमेश्वर की महिमा से महापुरुषों ने पुरुषार्थ करके अमरपन अर्थात् सुन्दर नाम प्राप्त किया है, और सांसारिक पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अन्यन्त सुख पाया है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम भी उद्योग करके दुःख से छूटें ॥ ६ ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च
केवलम् । स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्च-
त्वंहमः ॥ ७ ॥

यस्य । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । यत् । जातम् ।
जनितव्यम् । च । केवलम् । स्तौमि । अग्निम् । नाथितः ।
जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(केवलम्) केवल (यस्य) जिस परमेश्वर के (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह [जगत्] है, अर्थात् (यत्) जो कुछ (विरोचते) चमकता है और (यत्) जो कुछ (जातम्) उत्पन्न हुआ है (च) और (जनि-

मोक्षम् (अनु-अविन्दन्) विद्वत् लाभे—लब्ध् । अनुक्रमेण अनभन्त (ओषधीः) ब्रीहियवाद्यास्तरुगुल्माद्याश्च (मधुमतीः) मधुररसयुक्ताः (अकृण्वन्) अकुर्यान् (स्वः) स्वर्गं सुखम् (आ-अभरन्) दुभृजधारण-पोषणयोः—लब्ध् स्मर्यन् अधारयन् । अलभन्तेत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यस्य) अग्नेः परमेश्वरस्य (इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (प्रदिशि) प्रदेशेन । प्रशासने (यत्) (विरोचते) विविधं दीप्यते (यत्) (जातम्) उत्पन्नम् (जनितव्यम्) जनयितव्यम् । जनिष्यमाणम् (च) समुच्चये (केव-

तव्यम्) उत्पन्न होगा । (नाथितः) मैं भक्त (अग्निम्) उस सर्वव्यापक परमेश्वर को (स्तौमि) सराहता हूँ और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूँ । (सः) वह (नः) हमे (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जगत्पिता परमेश्वर की आज्ञा में यह सब जगत् वर्तमान है, उसी की प्रार्थना उपासना करके मनुष्य अपने विघ्नों को हटाकर सदा धर्म में प्रवृत्त होकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १, ४ पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, २, ३, ५-७ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

सर्वं सुखं प्राप्स्युपदेशः—पूर्णं सुखं पाने का उपदेश ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न सोमा उपमेम आगुः । यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहुसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । मन्महे । शश्वत् । इत् । अस्य । मन्महे । वृत्र-घ्नः । स्ते । माः । उप । मा । हुमे । आ । अगुः । यः । दाशुषः । सु-कृतः । हवस् । एति । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमपेश्वर्य वाले परमात्मा का (मन्महे) हम मनन करते हैं । (शश्वत् इत्) सदाही (अस्य) इस (वृत्रघ्नः) शत्रु नाशक

लम्) अ० ३ । १८ । २ । निश्चिनम् । अनन्यसाधारणम् (स्तौमि) प्रशंसामि (अग्निम्) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (नाथितः) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् । पा० ५ । २ । ३६ । इति नाथ-इतच् । नाथः स्वामी संजातो यस्य स नाथितः । नाथवान् । भक्तः (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । अन्यद् व्याख्याम् म० १ ॥

१—(इन्द्रस्य) परमेश्वर्ययुक्तस्य परमात्मनः (मन्महे) मनुमहे । मननं कुर्मः (शश्वत्) सर्वदा (इत्) निश्चयेन (अस्य) इन्द्रस्य (वृत्रघ्नः) अ० १ ।

वा अन्धकार निवारक का (मन्महे) हम मनन करते हैं । (इमे) ये (स्तोमाः) स्तुति के ज्ञान (मा) मुझको (उप आ अगुः) प्राप्त हुये हैं । (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील और (सुकृतः) सुकर्मी पुरुष के (हवम्) आवाहन को (एति) प्राप्त होता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुणों को नित्य गाते हुए हम लोग पापसे बचकर धर्म प्रचार करें ॥ १ ॥

य उग्रीणांमुग्रबाहुयुयो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२॥
यः । उग्रीणाम् । उग्रबाहुः । युयुः । यः । दानवानाम् । बलम् ।
आ-रुरोज । येन । जिताः । सिन्धवः । येन । गावः । सः । नः ।
मुञ्चतु । अंहसः ॥ २ ॥

भावार्थ—(यः) जो (युयुः) शीघ्रगामी परमात्मा (उग्रीणाम्) प्रचण्ड सेनाओं के (उग्रबाहुः) भुजाओं का प्रचण्ड करने वाला है, (यः) जिसने (दानवानाम्) छेदनशील राज्ञों का (बलम्) बल (आरुरोज) तोड़ दिया है, (येन) जिस परमेश्वर करके (सिन्धवः) जल और (येन)

२१ । १ । शत्रुबाधकस्य । अन्धकारनिवारकस्य (स्तोमाः) अर्तिस्तुसुहु० ।
उ० १ । १४० । षुञ् स्तुतौ—मन् । स्तोत्राणि (उप) समीपे (मा) मां सेवकम्
(इमे) वक्ष्यमाणाः (आ अगुः) इण् गतौ—लुङ् । आगमन् (यः) इन्द्रः
(दाशुषः) दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च । पा० ६ । १ । १२ । इति दाश्ट दाने—क-
सौ निपात्यते । दानशीलस्य (सुकृतः) शोभनकर्मणः । धार्मिकस्य पुरुषस्य
(हवम्) अ० १ । १५ । २ । आवाहनम् (एति) गच्छति प्राप्नोति । अन्यद्
व्याख्यातम् ॥

२—(यः) इन्द्रः (उग्रीणाम्) बिद्गौरादिभ्यश्च । पा० । ४ । १ । ४१ ।
इति उग्र—डीषू । उग्रस्वभावानां प्रजानां सेनानां वा (उग्रबाहुः) उग्रा बाहवो
यस्मात् स तथाभूतः । अतिशयेन बलदाता, इत्यर्थः (युयुः) यो ह्येव । उ० १ ।
२१ । इति या प्रापणे—उग्रत्ययः, द्वित्वं च । शीघ्रगामी (दानवानाम्) दो

जिस करके (गावः) वायु, सूर्य, और भू लोक (जिताः) जीते गये हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सब विघ्नों का नाश करके जल पृथिवी आदि पदार्थों को उपकारी बनाया है, उसीकी उपासना से हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर क्लेशों से बचें ॥ २ ॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्वित् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति
नृम्णम् । यस्याध्वरः सुप्रहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥
यः । चर्षणि-प्रः । वृषभः । स्वः-वित् । यस्मै । ग्रावाणः । प्र-
वदन्ति । नृम्णम् । यस्य । अध्वरः । सुप्र-होता । मदिष्ठः ।
सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (चर्षणिप्रः) उद्योगी पुरुषों का मनोरथ पूरा करने वाला, (वृषभः) सुख की वर्षा करने वाला, श्रेष्ठ और (स्वर्वित्) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने द्वारा है और (यस्मै) जिसके [आज्ञा पालन के] लिये (ग्रावाणः) शास्त्र वेत्ता परिडित जन (नृम्णम्) बल वा धन (प्रवदन्ति) बताते हैं । (यस्य) जिसका (अध्वरः) सन्मार्गदर्शक वा हिंसारहित

अवखण्डने-ल्युट् । इति दानं छेदनम् । ततः छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ॥५॥१॥ १०६ । इति-वप्रत्ययो मत्वर्थे । छेदनशीलानां रान्तसानाम् (बलम्) सामर्थ्यम् (आ-रुरोज) रुजो भङ्गे-लिट् । सर्वतो बभञ्ज (येन) इन्द्रेण (जिताः) वशी-कृताः (सिन्धवः) स्यन्दनशीलानि जलानि (गावः) गच्छतीति गौः । वायुसूर्य-भूलोकाः । अन्यद्गतम् ॥

३—(यः) इन्द्रः (चर्षणिप्रः) अर्तिसुधृ० । उ० २ । १०२ । इति चर गतौ—अनि, पुगागमश्च । यद्वा । कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष विलेखने-अनि, आदेश्च चः । चर्षणयो मनुष्याः-निघ० २ । ३ । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति प्रा पूरणे-क । मनुष्याणां मनोरथपूरकः । (वृषभः) अ० ४ । ५ । १ । सुखस्य वर्षकः । श्रेष्ठः (स्वर्वित्) अन्तर्गतार्थः । स्वर्गस्य-प्रापयिता (यस्मै) इन्द्राय (ग्रावाणः) अ० ३ । १० । ५ । नृ विज्ञापे-कवनिप् ।

व्यवहार (सप्तहोता) सातहोताओं से [अर्थात् विषयों के ग्रहण करने और देने वाले त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि से] साक्षात् किया हुआ (मदिष्टः) अतिशय आनन्द दायक है, (सः) वह (नः) हमें (अहंसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥३॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सुखदायक गुणों को साक्षात् करके पुरुषार्थ पूर्वक कष्टों का नाश करके आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

यहां पर [सप्त प्राणान्] अ० २ । १२ । ७ और [सप्त ऋषयः] अ० ४ । ११ । ६ । इन पदों की भी व्याख्या देखो ॥

यस्य वृशासं ऋषभासं उक्षणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः
स्वर्विदे । यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्च-
त्वंहंसः ॥ ४ ॥

यस्य । वृशासः । ऋषभासः । उक्षणः । यस्मै । मीयन्ते । स्वरवः
स्वः-विदे । यस्मै । शुक्रः । पवते । ब्रह्म-शुम्भितः । सः ।
नः । मुञ्चतु । अहंसः ॥ ४ ॥

शास्त्रविज्ञापकाः । परिहृताः (प्रवदन्ति) प्रकथयन्ति (नृम्णम्) एवम प्रहृत्वे-
शब्दे, च-पचाद्यच् । पृषोदरादित्वादाद्यन्तवियर्ययोऽलोपश्च । इति नृणाम्, रूपं
जातम् । नृम्णं च बले नृजतम्-निरु० ११ । ६ । नृन् नमयति प्रह्वीकरोतीति ।
बलम्-निघ० २ । ६ । धनम्-निघ० २ । १० । (यस्य) इन्द्रस्य (अध्वरः) अ०
१ । ४ । २ । सन्मार्गदाता हिंसारहितो वा व्यवहारः (सप्तहोता) सप्त + हु
दानादानादनतर्पणेषु-तृच् । सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति,
सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा-नि रु० ११ । २३ । सप्त त्वक्चक्षुः भवण-
रसनाग्राणमनेबुद्धयो होतारो विषयाणां ग्रहीतारो दातारः साक्षात्कर्तारो यस्य
स सप्तहोता । अत्र [सप्त प्राणान्] इत्यस्य पदस्य, अ० २ । १२ । ७ । तथा
[सप्त ऋषयः] इतिपदस्यच, अ० ४ । ११ । ६ । व्याख्या द्रष्टव्या । (मदिष्टः)
मदी हर्षे-तृच् । तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५६ । इति इष्टन् । तुरिष्ठेमेयस्सु ।
या० ६।४।१५४ । इति तृलोपः अतिशयेन मादयिता हर्षकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस परमेश्वर के (वशासः) वशी भूत होकर (ऋषभासः) धर्म जाननेवाले ऋषि लोग (उक्षाणः) सुख की वर्षा करने वाले होते हैं, और (यस्मै) जिस (स्वर्विदे) सुख प्राप्त कराने वाले के लिये (स्वरवः) जयस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े जाते हैं । (यस्मै) जिसके लिये (ब्रह्म-शुम्भितः) वेदों से कहा गया (शुक्रः) निर्मल सोम रस [अमृत वा मोक्षानन्द] (पवते) शुद्ध किया जाता है । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा पालन से ऋषि महात्मा वेदों का उपदेश करके संसार को सुख देते हैं और शूरवीर लोग शत्रुओं पर जय पाते हैं और ब्रह्मज्ञानी मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं, वही परमात्मा हमारे कष्टों को मिटावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तुं
गविष्टौ । यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो
मुञ्चत्वंहंसः ॥ ५ ॥

यस्य । जुष्टिम् । । सोमिनः । कामयन्ते । यम् । हवन्ते । इषु-
मन्तम् । गो-वृष्टौ । यस्मिन् । अर्कः । शिश्रिये । यस्मिन् ।
ओजः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहंसः ॥ ५ ॥

४—(यस्य) इन्द्रस्य परमेश्वरस्य (वशासः) असुगागमः । वशाः ।
अधीनाः सन्तः (ऋषभासः) अ० ३ । ६ । ४ । असुगागमः । ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति-
सर्वान् मन्त्रानिति ऋषभाः । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः । ऋषिदर्शनात्—निरु०
२ । ११ । श्रेष्ठः (उक्षाणः) अ० ३ । ११ । ८ । उक्षाणः । बलवन्तः (यस्मै)
इन्द्राय (मीयन्ते) डुमिञ् प्रक्षेपणे । स्थाप्यन्ते (स्वरवः) शृङ्खलुस्निहि० । उ० ।
१ । १० । इति स्तु शब्दोपतापयोः—उ । यूपाः । जयस्तम्भाः (स्वर्विदे) म०
३ । स्वर्गप्रापकाप (शुक्रः) अ० २ । ११ । ५ । शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—
निरु० ८ । ११ । निर्मलो रसवान् सोमः (पवते) गच्छति—निघ० २ । १४ । पूयते
(ब्रह्मशुम्भितः) शुम्भ भाषणभासतर्हिंसासु—कः । ब्रह्मभिर्वेदैः शुम्भितो भाषितः
कथितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(सोमिनः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य वाले पुरुष (यस्य) जिस परमात्मा की जुष्टिम्) प्रीति की (कामयन्ते) कामना करते हैं, (यम्) जिस (इषुमन्तम्) दृष्टिवाले परमात्मा को (गविष्टी) वज्रों के दान स्थान, संग्राम में [शूर लोग] (हवन्ते) पुकारते हैं । (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) अन्न और (यस्मिन्) जिसमें (ओजः) पराक्रम (शिश्रिये) आश्रित हुआ है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के आश्रय से ऐश्वर्य, विजय, अन्न, और पराक्रम प्राप्त होते हैं, उसी के विश्वास पर हम पुरुषार्थ पूर्वक दुखों का नाश करें ॥ ५ ॥

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जुज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानु-
बुद्धम् । येनाद्यतो वज्रो ऽभ्यायताहिं स नो मुञ्च त्वंहसः ॥६॥
यः । प्रथमः । कर्म-कृत्याय । जुज्ञे । यस्य । वीर्यम् । प्रथमस्य ।
अनु-बुद्धम् । येन । उत्-यतः । वज्रः । अभि-आयत । अहिम् ।
सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) मुख्य परमात्मा (कर्मकृत्याय) कर्म करने वाले के हित के लिये (जुज्ञे) प्रगट हुआ है, (यस्य) जिस (प्रथमस्य)

५—(यस्य) परमात्मनः (जुष्टिम्) जुषी प्रीतिसेवनयेः—क्तिन् । प्रीतिम् (सोमिनः) सोमवन्तः । ऐश्वर्यवन्तः (कामयन्ते) अभिलषन्ति (यम्) इन्द्रम् (हवन्ते) आह्वयन्ति (इषुमन्तम्) ईषेः किञ्च । उ० १।१३ । इति ईष गतिहिंसा-दर्शनेषु—उ । ह्रस्वश्च । दर्शनवन्तम् (गविष्टी) गौरिति वज्रम् । इत्यमरः—२३ । २५ । यज दाने—क्तिन् । गवां वज्राणां शस्त्रणामिष्टिर्दानं यत्र । संग्रामे (यस्मिन्) इन्द्रे (अर्कः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । इति अर्च पूजायाम्—क अर्कः—अन्ननाम—दिघ० २ । ७ । अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतानि—नि० ५ । ४ । अन्नम् (शिश्रिये) शिञ् सेवायाम्—लिट् । आश्रितो बभूव (ओजः) बलम् । पराक्रमः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (प्रथमः) मुख्यः । श्रेष्ठः । (कर्मकृत्याय) विभाषा कृत्षोः । पा० ३ । १ । १२० । इति दुहुञ् करणे—कर्तरि ण्यप् तुकञ् ।

श्रेष्ठ परमात्मा का (वीर्यम्) सामर्थ्य (अनुबुद्धम्) सर्वत्र जाना गया है। (येन) जिस परमात्मा करके (उद्यतः) उठाये गये (वज्रः) वज्र ने (अहिम्) हनन करने वाले शत्रुको (अभ्यायत) हनन कर दिया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वैदिक कर्म करने वालों का सदा आनन्द दायक है, उसी शत्रुनाशक जगदीश्वर की कृपा से हम अपने दोषों को त्याग कर सदा प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

यः संग्रामान् नयति सं युधे वृशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि । स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्च त्वंहसः ॥ ७ ॥

यः । सम्-ग्रामान् । नयति । सम् । युधे । वृशी । यः । पुष्टानि । सम्-सृजति । द्वयानि । स्तौमि । इन्द्रम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (वृशी) स्वतन्त्र परमात्मा (संग्रामान्) संग्राम करने वाले योधामों को (युधे) युद्ध करने के लिये (संनयति) यथावत् ले चलता है, और (यः) जो (द्वयानि) दो प्रकार की [शारीरिक और आत्मिक]

कर्मणां कर्तुर्हिताय (जज्ञै) जातवान् । प्रादुर्बभूव (यस्य) (वीर्यम्) सामर्थ्यम् (प्रथमस्य) श्रेष्ठस्य (अनुबुद्धम्) अनुज्ञातम् (येन) इन्द्रेण (उद्यतः) उद्द्युतः (वज्रः) दण्डः (अभ्यायत) आङ्पूर्वाद् यमेर्लुङिच्त्वेः सिच् । यमो गन्धने । पा० १ । २ । १५ । इति सिच्चेः क्तिष्वात् । अनुदात्तोपदेशः । पा० ६ । ४ । ३७ । इति अनुनासिकलोपः । ह्रस्वादङ्गात् । पा० ८ । २ । २७ । इति सिज्जलोपः । अभितः सर्वतोऽहंसीत् (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारम् । क्लेशप्रदम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (संग्रामान्) संग्राम युद्धे-पञ्चाद्यच्च।योद्ध्यन् (संनयति) सम्यक्प्रापयति (युधे) युद्धाय (वृशी) स्वतन्त्रः (पुष्टानि) पोषणानि (संसृजति) सम्यग् ददाति (द्वयानि) संख्याया अवयवे तयम् ।

(पुष्टानि) पुष्टियां (संसृजति) यथावत् देता है । (नाथितः) मैं भक्त (इन्द्रम्) परमैश्वर्य वाले परमात्मा को (स्तौमि) सगाहता हूँ और (जोहवीमि) बार-बार पुकारता हूँ (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥७॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सत्यवादी शूरां का जय करता है और वेद द्वारा शरीर और आत्मा का सुख देता है । उसी परमात्मा की उपासना और प्रार्थना से सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर कष्टों को निवारें ॥७॥

सूक्तम् २५ ॥

१-७ ॥ वायुसवितारौ देवते १, २, ४-६ पादत्रयं त्रिष्टुप्,
अन्तिमोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ७ ७ बृहती छन्दः ॥

वायुसूर्यगुणोपदेशः—पवन और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

वायोः सवितुर्विदधानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो
यौ च रक्षथः । यौ विश्वस्य परिभू बभूवुस्तौ नो मुञ्च-
तमंहसः ॥ १ ॥

वायोः । सवितुः । विदधानि । मन्महे । यौ । आत्मन्-वत् ।
विशथः । यौ । च । रक्षथः । यौ । विश्वस्य । परिभू
इति परि-भू । बभूवुः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(वायोः) गतिशील वा दोषनाशक पवन के और (सवितुः)
सर्व प्रेरक सूर्य के (विदधानि कर्मों) को (मन्महे) हम विचारते हैं । (यौ)
जो तुम (यौ) गमनशील होकर (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत में (विशथः)

पा० ५ । २ । ४२ । इति द्वि-तयप् । द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । पा० ५ । २ । ४३ । इति
तयस्य अयच् । द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयम् । छन्दानि । शारीरिकात्मिकानि
(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् । अन्यद् व्याख्यातम्—सू० २३ म० ७ ॥

१—(वायोः) ऊवापा० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः—उण्,
युगागमः । गमनशीलस्य दोषनाशकस्य वा जगदाधारेभूतस्य वातस्य
(सवितुः) सर्वप्रेरकस्य सूर्यस्य (विदधानि) विद ज्ञाने—अथ । वेदितव्यानि
कर्माणि (मन्महे) जानीमः । विचारयामः (यौ) वायुसवितारौ युवाम् (आत्म-

प्रवेश करते हो (च) और (रक्षयः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दोनों (विश्वस्य) सब जग के (परिभू) सहारा देने वाले (बभूवथुः) हुये हो, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भाषार्थ—वायु और सूर्य के यथावत् गुण जानकर मनुष्य आत्मिक शारीरिक और सामाजिक उन्नति करें ॥ १ ॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपित-
मन्तरिक्षे । ययोः प्रायं नान्वानुशे कश्चन तौ नो
मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

ययोः । सम्-ख्याता । वरिमा । पार्थिवानि । याभ्याम् । रजः ।
युपितम् । अन्तरिक्षे । ययोः । प्र-प्रायम् । न । अनु-शानुशे ।
कः । चन । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों [वायु सूर्य] के (संख्याता) गिने हुए (पार्थिवानि) पृथिवी के (वरिमा) विस्तार हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों करके (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजः) जल वा जगत् (युपितम्) विमोहित किया गया [मेघ मण्डल में ताड़न शक्ति से रोका गया] है । (ययोः) जिन दोनों की

न्वत्) अ० ४ । १० । ७ । सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् । जीवनशक्तियुक्तम् (विशयः) प्रविशयः (यौ) या प्रापणे-ड । यातारौ । गन्तारौ सन्तौ (रक्षयः) पालयथः (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः (परिभू) अ० ३।२।१।४। सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः । परिग्रहीतारौ । सर्वतो व्यापकौ (बभूवथुः) (तौ) तथाभूतौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(ययोः) वायुसवित्रोः (संख्याता) संख्यातानि परिगणितानि (वरिमा) पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति । उरु-इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ । इति वर् आदेशः शैलोपिः । वरिमाणि । उरु-त्वानि । महत्त्वानि । (पार्थिवानि) पृथिव्या जाजौ । वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति पृथिवी-अज् । पृथिव्यां भवानि जातानि (याभ्याम्) वायुसवितृभ्याम् (रजः) अ० ४ । १ । ४ । उदकम् । जगत् (युपितम्) युपु विमोहने-क ।

(प्रायम्) उत्तम गति को (कश्चन) कोई भी जीव (न) नहीं (अन्वानशे) प-
हुँचा है, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छड़ावो २॥

भाषार्थ—जगत् व्यापी वायु और सूर्य के प्रभाव से जल, पृथिवी से
आकाश पर और आकाश से पृथिवी पर आता है, और उन को मनुष्य जितना
जितना खोजते हैं, उतना उतना ही अधिक उनका विषय जानते जाते हैं, उन वायु
और सूर्य से यथावत् उपकार लेकर हम लाभ उठावें ॥२॥

तव ब्रूते नि विशन्ते जनासस्त्वयुदिते प्रेरिते चित्रभानो ।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तीनो मुञ्चत-
मंहसः ॥ ३ ॥

तव । ब्रूते । नि । विशन्ते । जनासः । त्वयि । उत्-इते । प्र ।
ईरते । चित्र-भानो इति चित्र-भानो । युवम् । वायो इति ।
सविता । च । भुवनानि । रक्षथः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥३॥

भाषार्थ—[हे वायु] (तव) तेरे (ब्रूते) वरणीय नियम में (जनासः)
सब जने (निविशन्ते) प्रवृत्त होते हैं, और (चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश
वाले सूर्य ! (त्वयि उदिते) तेरे उदय होने पर [कामों में] (प्रेरिते) लगते
हैं । (वायो) हे वायु ! (च) और (सविता) हे सूर्य ! (युवम्) तुम दोनों
(भुवनानि) सब प्राणियों को (रक्षथः) बचाते हो, (तौ) तुम दोनों (नः)
हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छड़ावो ॥ ३ ॥

विमोहितम् । ताडनैर्मेघमण्डले धृतम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (प्रायम्) परच-
पा० ३ । ३ । ५६ । इति प्र + ण् गतौ-अच् । प्रकृष्टगमनम् (न) निषेधे
(अन्वानशे) अशू व्याप्तौ-लिट् । अनुप्राप । अनुगन्तुं समर्थो बभूव (कश्चन)
कोऽपि जीवः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—[हे वायो] (तव) त्वदीये (ब्रूते) अ० २ । ३० । २ । वरणीये
कर्मणि । नियमे (निविशन्ते) नेर्विशः । पा० १ । ३ । १७ । इति आत्मनेपदम् ।
नितरां वर्तन्ते (जनासः) जनाः । प्राणिनः (त्वयि) सवित्रि (उदिते) उदयं
प्राप्ते सति (प्रेरिते) ईर गतौ । प्रवर्तन्ते (चित्रमानो) हे विचित्रदीप्ते सवितः

भावार्थ—वायुविद्या और सूर्यविद्या से उपकार लेकर मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ उठावे ॥ ३ ॥

अपे॒तो वा॒यो सवि॒ता च॑ दुष्कृतमप॒ रक्षांसि॑ शि॒मिदां॑
च से॒धतम् । सं ह्यु॒र्जया॑ सृजथः॒ सं बले॑न॒ तौ नो॑
मुञ्ज॒तमंह॑सः ॥ ४ ॥

अप॑ । इतः । वा॒यो इति॑ । सवि॒ता । च॑ । दुः-कृतम् । अप॑ ।
रक्षांसि॑ । शि॒मिदाम् । च॑ । से॒धतम् । सम् । हि । ऊ॒र्जया॑ ।
सृजथः॑ । सम् । बले॑न । तौ । नः । मुञ्च॒तम् । अंह॑सः ॥४॥

भाषार्थ—(वायो) हे वायु (च) और (सविता) हे सूर्य ! तुम् दोनों (इतः) यहां से (दुष्कृतम्) मलिन काम को (अप=अप सेधतम्) हटा दो, (रक्षांसि) निवारणीय रोगों (च) और (शिमिदाम्) कर्म छेदन करने हारी पीड़ा को (अप सेधतम्) निकाल दो । (हि) क्योंकि ऊर्जया आत्मिक पुष्टि के साथ (सं सृजथः) तुम दोनों मिलाते हो और (बलेन) शारीरिक बलके साथ (सम्=सं सृजथः) तुम संयुक्त करते हो, (तौ) सो तुम् दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पवन और सूर्य के यथावत् सेवन और उपयोग से

(युवम्) युवाम् (वायो) (सविता) हे सवितः, त्वम् (च) (भुवनानि) भूतजातानि (रक्षथः) पालयथः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अप)=अप सेधतम् (इतः) अस्मात्स्थानात् (वायो) (सविता) हे सवितः ! (च) समुच्चये (दुष्कृतम्) दुष्टं कर्म (अप सेधतम्) विध गत्याम्, अन्तर्गतो विजर्थः । अपगमयतम् (रक्षांसि) रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । उपद्रवकाण्डिणो रोगान् (शिमिदाम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शम उपशमे-इन्, आकारस्य इकारः । शिमी कर्मनाम—निघ० २ । १ । दाप् लवने-ड । टाप् । कर्मछेदिकां पीडाम् (च) (हि) अवश्यम् (ऊर्जया) ऊर्ज बलप्राणनयोः-पचाद्यच्, टाप् । पुष्ट्या । मानसिकपराक्रमेण

दोषों और मलीनता को दूर करके स्वस्थ रहें और आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ४ ॥

रयिं मे पोषं सविता वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम् ।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतुमहंसः ॥ ५ ॥

रयिम् । मे । पोषम् । सविता । उत । वायुः । तनू इति ।
दक्षम् । आ । सुवताम् । सु-शेवम् । अयक्ष्म-तातिम् । महः ।
इह । धत्तम् । तौ । नः । मुञ्चतुम् । अहंसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सविता) सूर्य (उत) और (वायुः) पवन (मे) मेरे लिये (तनू=तन्वाम्) अपने शरीर में वर्तमान (सुशेवम्) अति सुखदायक (रयिम्) धन, (पोषम्) पुष्टि और (दक्षम्) बल को (आ सुवताम्) भेजें । (इह) यहां पर (अयक्ष्मतातिम्) नीरोगता और (महः) तेज (धत्तम्) तुम दोनों दान करो, (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अहंसः) कष्टसे (मुञ्चतुम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भवार्थ—मनुष्य वायु और सूर्य के विज्ञान से ऋद्धि, सिद्धि, बल और स्वस्थता प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

(संसृजथः) संयोजयथः (सम्) संसृजथः (बलेन) शारीकसामर्थ्येन । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(रयिम्) धनम् (मे) मह्यम् (पोषम्) पुष्टिं समृद्धिम् (सविता) सूर्यः (उत) अपि च (वायुः) पवनः (तनू) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति । सप्तम्या लुक् । ईदूनौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १६ । इति प्रगृह्यम् । तन्वाम् । स्वशरीरे वर्तमानम् (दक्षम्) बलम्—निघ० २ । ६ । (आसुवताम्) षू प्रेरणे । समन्तात् प्रेरयताम् । प्रयच्छताम् (सुशेवम्) इण-शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति शीङ् स्वप्ने-वन् । शेवं सुखम्—निघ० ३ । ६ । अतिशयेन सुखकरम् (अयक्ष्मतातिम्) भावे च । पा० । ४ । ४ । १४४ । इति बाहुलकात् भावे तातिल् । अयक्ष्मताम् । यक्ष्माद् राहित्यम् । आरोग्यम् (महः) तेजः (इह) अस्मिन् शरीरे (धत्तम्) दत्तम् । अन्पत् पूर्ववत् ॥

प्र सु॑म॒तिं स॑वि॒तर्वा॑य ऊ॒तये॒ मह॑स्वन्तं मत्स॒रं मा॑दयाथः ।
 अ॒र्वाग् वा॑मस्य॑ प्र॒वतो॑ नि य॑च्छतुं तौ नो॑ मुञ्चतुम॑हंसः ॥६॥
 प्र । सु॑-म॒तिम् । स॒वि॒तः । वा॒यो इति॑ । ऊ॒तये॑ । मह॑स्वन्तम् ।
 मत्स॒रम् । मा॑दयाथः । अ॒र्वाक् । वा॑मस्य॑ । प्र॒वतः॑ । नि ।
 य॒च्छतु॑म् । तौ । नः । मुञ्च॑तुम् । अ॒हंसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे वायु ! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (सुमतिम्) सुमति और (महस्वन्तम्) तेजवाले (मत्सरम्) हर्ष को (प्र) अच्छे प्रकार (मादयाथः) तुम दोनों परिपूर्ण करो । (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (प्रवतः) बढ़ाई वाले (वामस्य) धन का (नि) नियमपूर्वक (यच्छतुम्) तुम दोनों दान करो । (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अहंसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु के गुणों का यथावत् प्रयोग करके बुद्धि, प्रताप और धन बढ़ा कर आनन्द भोगे ॥६॥

उ॒प॒ श्रे॒ष्ठा न आ॒शिषो॑ दे॒वयो॑र्धाम॑न्नस्थिरन् ।
 स्तौ॑मि दे॒वं स॑वि॒तारं॑ च वा॒युं तौ नो॑ मुञ्चतुम॑हंसः ॥७॥
 उ॒प॑ । श्रे॒ष्ठाः । नः । आ॒-शिषः॑ । दे॒वयोः॑ । धाम॑न् । अ॒स्थि॒रन् ।

६—(प्र) प्रकर्षेण (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे पवन ! (ऊतये) रक्षणाय (महस्वन्तम्) तेजोवन्तम् (मत्सरम्) कृधूमदिभ्यः कित् । उ० ३ । ७३ । इति मदी हर्षे-सरन् । मत्सरः सोमो मन्दते-स्तृप्तिकर्मणो मत्सर इति लोभनामाभिमत पनेन धनं भवति—निरु० २ । ५ । हर्षम् । सोमम् । आनन्दरसम् (मादयाथः) मद तृप्तियोगे-चुरादिः । शिच्-लेट् । युवां तर्पयतं पूरयतम् (अर्वाक्) सन्मुखम् (वामस्य) धनस्य (प्रवतः) अ० ३ । १ । ४ । प्रकर्षवतः (नि) नियमेन (यच्छतम्) दाण् दाने । पाप्मा ध्मा० । पा० ७ । ६ । ८८ । इति यच्छ आदेशः । दानं कुरुतम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

स्तौमि । दे॒वम् । स॒वितार॑म् । च । वा॒युम् । तौ । नः । मुञ्च॑-
तुम् । अ॒हंसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवयोः) उन दोनों देवों की [=के लिये] (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (आशिषः) कामनायें (नः) हमारे (धामन्) देह में (उप अस्थिरन्) उपस्थित हुई हैं । (देवम्) दिव्य (सवितारम्) सूर्य (च) और (वायुम्) वायु की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूं । (तौ) से। तुम दोनों (नः) हमें (अहंसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु से गुण ग्रहण करने के लिये पूरी इच्छा अपने हृदय में स्थित करके प्रयत्न पूर्वक लाभ उठावें और सदा सुखी रहें ॥७॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-७ ॥ द्यावापृथिव्यौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप् ।

शेषाः पादाः-१ स्वराट् पद्यावृहती, २-५ त्रिष्टुप्, ६, ७ वृहती ॥

द्यावापृथिव्योर्गुणोपदेशः—सूर्य और पृथिवी के गुणों का उपदेश ॥

मुन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचैतसौ ये अप्रथे-

७—(उप) उपसर्गः (श्रेष्ठाः) अतिशयेन प्रशस्ताः (नः) अस्माकम् (आशिषः) आङ्पूर्वः शासु इच्छायाम्-किप् । आशासः क्वाबुपधाया इत्वम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वम् । कामनाः (देवयोः) दानादिगुणयुक्तयोः । वायुसन्निधौः (धामन्) धामनि । स्थाने । देहे (उप अस्थिरन्) तिष्ठतेर्लुङि । अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिता अभवन् (स्तौमि) प्रशंसामि (देवम्) दिव्यम् (सवितारम्) सूर्यम् (च) (वायुम्) पवनम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

धाममिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवत् वसूनां ते नो
मुञ्चत् मंहसः ॥ १ ॥

मन्वे । वाम् । द्यावापृथिवी इति । सु-भोजसौ । स-चेतसौ ।
ये इति । अप्रथेयाम् । अमिता । योजनानि । प्रतिस्थे इति
प्रति-स्थे । हि । अभवत् । वसूनाम् । ते इति । नः । मुञ्चत् ।
अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुभोजसौ) हे उत्तम भोग देने वाली वा पालन करने
वाली (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी !
(वाम्) तुम दोनों का (मन्व) मैं मनन करता हूँ, (ये) जिन तुम दोनों ने
(अमिता) अगणित (योजनानि) संयोग कर्मों को (अप्रथेयाम्) प्रसिद्ध
किया है और (हि) अवश्य ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार
(अभवत्) हुई हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से
(मुञ्चत्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से अन्न, धन और
अनेक संयोग वियोग क्रियायें प्रकट होती हैं । मनुष्य उनके गुणों का यथावत्
उपयोग करके आनन्दभोगें ॥ १ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (द्यावापृथिवी) हे द्यावा-
पृथिव्यौ ! हे सूर्यभूलोकौ ! (सुभोजसौ) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ ।
इति भुज पालनाभ्यवहारयोः—असुन् । शोभनपालयिष्यौ । सुष्ठु भोजयिष्यौ
(सचेतसौ) अ० १ । ३० । २ । समानचेतयिष्यौ (ये) द्यावापृथिव्यौ
(अप्रथेयाम्) प्रथ प्रख्याने-लङ् । प्रख्यातवत्यौ । प्रसिद्धीकृतवत्यौ (अमिता
माङ् माने शब्देच-क्त । अमितानि । अपरिमितानि बहूनि (योजनानि) युजिस्-
योगे-ल्युट् । संयोजनानि । संयोगकर्माणि (प्रतिष्ठे) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ ।
३ । १०६ । इति प्रति+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणेऽङ् । आधारभूते (हि)
अवश्यम् (अभवत्) (वसूनाम्) निवासहेतूनां धनानाम्-निघ० २ । १० ।
(ते) तथाभूते युवाम्- (नः) अस्मान् (मुञ्चत्) मोचयत् (अंहसः)
कष्टात् ॥

प्रतिष्ठे ह्यभवत् वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
 द्यावापृथिवी भवत् मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥
 प्रतिस्थे । इति प्रति-स्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । प्रवृद्धे
 इति प्र-वृद्धे । देवी इति । सुभगे इति सु-भगे । उरूची इति ।
 द्यावापृथिवी इति । भवत् । मे । स्योने इति । ते इति ।
 नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रवृद्धे) हे बड़ी वृद्धिवाली, (देवी) दिव्य स्वरूप (सुभगे)
 बड़े ऐश्वर्य वाली, (उरूची) बहुत पदार्थ प्राप्त कराने वाली तुम दोनों (हि)
 ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवतम्) हुई हो । (द्यावा-
 पृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती
 (भवतम्) होओ । (ते) वे तुमदोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से
 (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और पृथिवी के विज्ञान से अनेक ऐश्वर्य प्राप्त
 करके सुखी रहें ॥ २ ॥

असंतापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
 द्यावापृथिवी भवत् मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥
 असंतापे इत्यसं-तापे । सु-तपसौ । हुवे । अहम् । उर्वी
 इति । गम्भीरे इति । कवि-भिः । नमस्ये ३ इति । द्यावा-

२—(प्रतिष्ठे) म० १ । आधारभूते (हि) अवश्यम् (अभवतम्)
 (वसूनाम्) धनानाम् (प्रवृद्धे) हे प्रकर्षण वृद्धियुक्ते (देवी) हे देव्यौ दिव्यस्व-
 रूपे (सुभगे) हे शोभनैश्वर्ये (उरूची) अ० ३ । ३ । १ । उरवो बहवः पदार्था
 अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां सकाशात् ते उरूच्यौ । बहुपदार्थप्रापिके
 (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ ! (भवतम् (मे) मह्यम् (स्योने) अ० १ ।
 ३३ । १ । सुखवत्यौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

पृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः ।
मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुतपसौ) सुन्दर ताप रखने वाली, (असंतापे) संताप न देने वाली, (उर्वी) चौड़ी, (गम्भीरे) गहरी [शान्त स्वभाव वाली] (कविभिः) विद्वानों से (नमस्ये) नमस्कार योग्य तुम दोनों को (अहम्) मैं (हुवे) पुकारता हूँ । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लियेम० २ ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य के पिण्ड में ताप है जिससे पृथिवी तापयुक्त होती है । इस प्रकार दोनों के ताप से सब जगत् के पदार्थ रक्षित रहते हैं । उन दोनों के यथावत् ज्ञानसे मनुष्य बुद्धिमान् होकर आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्तोत्या बिभृथो ये मनु-
ष्यान् । द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चत-
मंहसः ॥ ४ ॥

ये इति । अमृतम् । बिभृथः । ये इति । हवींषि । ये इति ।
स्तोत्याः । बिभृथः । ये इति । मनुष्यान् । द्यावापृथिवी इति
भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (अमृतम्) मृत्यु से बचने के साधन और (ये) जो तुम (हवींषि) देने और ग्रहण करने योग्य अन्न आदि पदार्थों को (बिभृथः) धारण करती हो, (ये) जो तुम दोनों (स्तोत्याः) जल वा

३—(असंतापे) नास्ति संतापो याभ्याम् । असंतापकव्यौ (सुतपसौ) सुन्दरतापयुक्ते । शोभनैश्वर्ययुक्ते (हुवे) आह्वयामि (अहम्) जीवः (उर्वी) उर्वी । विस्तीर्णौ (गम्भीरे) गभीरगम्भीरौ । उ० ४ । ३५ । इति गम्ल गतौ-ईरन्, मस्य भः, नुम् च । गमनीये प्रापणीये । शान्तस्वभावे । महाशये (कविभिः) मेधाविभिः (नमस्ये) वन्दनीये । अन्यत् पूर्ववत् म०-२ ।

४—(ये) द्यावापृथिव्यो युवाम् (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत् । मरणा दूरक्षणसाधनम् । अन्नादिकम् (बिभृथः) धारयथः (हवींषि)

नदियों को और (ये) जो तुम दोनों (मनुष्यान्) मनुष्यों को (बिभृथः) धारण करती हो । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये... म० २ ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से वृष्टि होकर अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, जिन से मनुष्य आदि प्राणियों को अमृत अर्थात् अन्न आदि पदार्थ मिलते हैं ॥ ४ ॥

ये उस्त्रियां बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वा विश्वा भुवना-
न्युन्तः । द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंह'सः५
ये इति । उस्त्रियाः । बिभृथः । ये इति । वनस्पतीन् । ययोः ।
वाम् । विश्वा । भुवनानि । अन्तः । द्यावापृथिवी इति ।
भवतम् । मे स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंह'सः॥५॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (उस्त्रियाः) गौओं को और (ये) जो तुम दोनों (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (बिभृथः) धारण करती हो, (ययोः वाम्) जिन तुम दोनों के (अन्तः) भीतर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक हैं । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये..... म० २ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से किरण द्वारा वृष्टि

अर्चिशुचिहु० । उ० २ । १० ८ । इति हुदनादानादनतर्पणेषु-इति । देयग्राह्यद्र-
व्याणि धान्यादीनि (स्त्रोत्याः) स्त्रोतसां विभाषा ङ्यङ्ङ्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ ।
इति स्त्रोतस्-ङ्य । स्त्रोतसि भवाः । अपो जलानि । स्त्रोत्याः, नदी नाम-निघ० १ ।
१३ (मनुष्यान्) मननशीलान् नरान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

५—(ये) युयाम् (उस्त्रियाः) स्फायितश्चिबिचि० । उ० २ । १३ । इति वस
निवासे-रक्, सम्प्रसारणं च । वसति क्षीरादिहविरस्याम्-इति उस्त्रा । ततः-
पृषोदरादित्वात्स्वार्थे घ । उस्त्रियेति गोनामोस्त्राविणोऽस्यां भोगाः । उस्त्रेति च,
निरु० ४ । १६ । गाः (बिभृथः) धारयथः (वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ ।
वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् (ययोः) (वाम्) युवयोः (विश्वा)

होकर गौ आदि सब पशु और सब वृक्ष पुष्ट होते हैं और सब लोक उन के ही प्रभाव में ठहरे हैं ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं च न शक्नुवन्ति । द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतु-
मंहसः ॥ ६ ॥

ये इति । कीलालेन । तर्पयथः । ये इति । घृतेन । याभ्याम् ।
ऋते । न । किम् । च न । शक्नुवन्ति । द्यावापृथिवी इति । भव-
तम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतुम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (कीलालेन) जाठराग्नि के निवारण करने वाले अन्न से, और (ये) जो तुम दोनों (घृतेन) जल से (तर्पयथः) तृप्त करती हो, (याभ्याम् ऋते) जिन तुम दोनों के बिना [सब प्राणी] (किम् च न) कुछ भी (न) नहीं (शक्नुवन्ति) शक्ति रखते हैं । (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) हा । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावा ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के प्रभाव से अन्न और जल आदि पदार्थ उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं । उनके विज्ञान से सब मनुष्य सुखी रहें ॥ ६ ॥

विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) अ० २ । १ । ३ । लोकान् । (अन्तः) मध्ये ।
अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

६—(ये) युवाम् (कीलालेन) कील—अलेन । कील बन्धने खण्डने च घञ् क वा । अल निवारणे—अण् । कीलं जाठराग्नेर्ज्वालामलति वारयतीति ।
कीलालम् अन्नम्—निघ० २ । ७ । अन्नेन (तर्पयथः) (घृतेन) उदकेन—निघ० १ । १२ । (याभ्याम्) अन्यारादितरर्ते० । पा० २ । ३ । २६ । इति पञ्चमी (ऋते) बिना (न) निषेधे (किञ्चन) यथातथा । किमपि (शक्नुवन्ति) शक्ता भवन्ति सर्वे जनाः । अन्यत् पूर्ववत् । म० २ ॥

यन्मे'दम'भि'शोच'ति येन'येन वा कृतं पौरु'षेया'न्
दैवात् । स्तौमि द्यावा'पृथि'वी नाथितो जोहवीमि'ते
नो मुञ्चतु'म'हसः ॥ ७ ॥

यत् । मा । इदम् । अभि-शोचति । येन-येन । वा । कृतम् ।
पौरुषेयात् । न । दैवात् । स्तौमि । द्यावापृथिवी इति ।
नाथितः । जोहवीमि । ते इति । नः । मुञ्चतुम् । अंहसः ॥७॥

भाषार्थ—(येनयेन) जिस किसी कारण से (पौरुषेयात्) पुरुष [इस
शरीर] से किया हुआ (वा) अथवा (दैवात्) देव [प्रारब्ध, पूर्वजन्म] के
फल से प्राप्त हुआ (यत्) जो (इदम्) यह (कृतम्) कर्म (न) इस समय
(मा) मुझ का (अभिशोचति) शोक में डालता है । [इस लिये] (नाथितः)
मैं अधीन होकर (द्यावपृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (स्तौमि) सराहता हूँ
और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूँ । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें
(अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतुम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुकर्म करके इस जन्म वा प्रारब्ध
से प्राप्त हुए दुःख का नाश करके सूर्य पृथिवी आदि लोकों के उपयोग से सुख
मोगें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—७ ॥ मरुतो देवताः ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, शेषाः
पादाः-१-४, ६, ७, त्रिष्टुप्, ५ बृहती छन्दः ॥

मरुतां गुणोपदेशः—पवन के गुणों का उपदेश ॥

७—(यत्) (मा) माम् (इदम्) इण् गतौ-दमुक् । पुरोवर्त्ति (अभि-
शोचति) अभिनः सर्वतो वहति (येनयेन) येनकेन कारणेन (वा) अथवा
(कृतम्) कर्म (पौरुषेयात्) पुरुषाद्व्यधिकारममूढतेनकृतेषु । वा०पा० ५ ।
१ । १० । इति पुरुष-द्वयम् । पुरुषकृतेः कर्मणः (न) सम्प्रत्यर्थे-निरु० ७ । ३१ ।
(दैवात्) अ० ४ । १६ । ८ । पूर्वजन्मार्जितात् कर्मणः (स्तौमि) प्रशंसामि द्याव
पृथिव्यौ (नाथितः) अ० ४ । २३ । ७ । नाथवान् । अधीनः (जोहवीमि) पुनः
पुनराह्वयामि । अन्यत् पूर्व ३त् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

मरुताम् । मन्वे । अधि । मे । ब्रुवन्तु । प्र । इमम् । वाजम् ।
वाज-साते । अवन्तु । आशून्-इव । सु-यमान् । अह्ने ।
ऊतये । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुताम्) दोष नाशक वायुओं का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ । (मे) मेरे लिये (अधि) अनुग्रह से (ब्रुवन्तु) बोलें और (इमम्) इस (वाजम्) बलको (वाजसाते) अन्न के सुख वा दान के निमित्त (प्र) अरुद्धे प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें । (आशून् इव) शीघ्रगामी घोड़ों के समान (सुयमान्) उन सुन्दर नियम वालों को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्ने) मैंने पुकारा है । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान व्यानरूप वायुओं के शोधन, सेवन, और प्राणायाम से बल और अन्न प्राप्त करके अपनी रक्षा करें ॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोष-
धीषु । पुरोदधे मरुतः पृश्निमातृस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः २

१—(मरुताम्) ६० १ । २० । १ । मारयन्ति दोषान् मरुतः । दोषनाश-
कानां प्राणायानरूपानरूपाणं वायूनाम् (मन्वे) मननं करोमि (मे) मह्यम्
(अधि ब्रुवन्तु) अधिकमनुग्रहेण वदन्तु (इमम्) (वाजम्) बलम्-निघ०
२ । ६ (वाजसाते) वाजः, अन्नम्—निघ० २ । ७ । अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द० ।
पा० ३ । १ । १३८ । इति सूत्रे पठितः सातिः सौत्रो धातुः । सात सुखे-अच् ।
यद्वा पणु दाने-क्त । जनसनखनाम् । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । वाजस्य
अन्नस्य साते सुखे दाने वा निमित्तभूते सति (प्र अवन्तु) प्रकर्षेण तर्पयन्तु
(आशून्) अ० २ । १४ । ६ । शीघ्रगामिनोऽश्वान् (इव) तथा (सुयमान्)
शोभननियमयुक्तान् तान् मरुतः (अह्ने) ह्यङ्ग्राह्याने—लुङ् । लिपिसिचिह्नश्च ।
पा० ३ । १ । ४३ । इति क्लेः अङ् आदेशः । आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षायै (ते)
मरुतः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

उत्सुम् । अक्षितम् । वि-अचन्ति । ये । सदा । ये । आ-सिञ्च-
न्ति । रसम् । ओषधीषु । पुरः । दधे । मरुतः । पृश्नि-
मातृन् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत देवता] (सदा) सदा (अक्षितम्) अक्षय
(उत्सुम्) सींचने वाले जल को (व्यचन्ति) विविध प्रकार से पहुंचाते हैं, और
(ये) जो (रसम्) रस को (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (आसि-
ञ्चन्ति) सींच देते हैं । (पृश्निमातृन्) छूने योग्य पदार्थों को वा आकाश के
नापने वाले (मरुतः) उन वायु देवताओं को (पुरो दधे) मैं सन्मुख रखता
रखता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य वायु के गुणों में विज्ञान प्राप्त करके सदा आनन्दित
रहें ॥ २ ॥

पयो धेनुनां रसमेषधीनां जुधमर्वतां कवयो य इवथ ।
शुग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ३ ॥
पयः । धेनुनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । जुधम् । अर्विताम् ।
कवयः । ये । इवथ । शुग्माः । भवन्तु । मरुतः । नः ।
स्योनाः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ३ ॥

२—(उत्सुम्) अ० १।१५ । ३ । सेचनसाधनं जलं वा (अक्षितम्) अक्षयम्
(व्यचन्ति) अंचु अंचु गतौ याचने च, अन्तर्गतो एवार्थः । विविधं गमयन्ति
(ये) मरुतः (सदा) पर्वदा (आसिञ्चन्ति) समन्तात् क्षारयन्ति वर्षयन्ति
(रसम्) सारम् (ओषधीषु) ओषधिव्याघासु तरुगुल्मादिषु च (पुरो दधे)
पुरस्ताद् धारयामि । भजामि । पूजयामि (मरुतः) दोषनाशकान् वायून् (पृश्नि-
मातृन्) घृणिपृश्निपार्ष्ण० । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश संस्पर्शे—नि । धातोः पृश्
भावः । पृश्निः.....द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च—निरु० २ । १४ ।
सबुल्लुचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति माङ् माने-तृच् । पृश्नीनां स्पर्शनीयानां
पदार्थानाम् । अथवा । पृश्ने दिव आकाशस्य मानारो मानकर्तारः परिच्छेत्तारो
ये तान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (कवयः) चलने फिरने वाले अथवा सुखाने वाले [मरुत् देवता] (धेनूनाम्) गौओं का (पयः) दूध, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों का (रसम्) रस और (अर्वनाम्) घोड़ों का (जवम्) वेग (इन्वथ) भरदेंते हो । (शग्माः) शक्ति वाले (मरुतः) वे आप दोषनाशक वायु गण (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुख दायक (भवन्तु) होंगे । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्राण अपान आदि द्वारा सब पदार्थों में शक्ति पहुँचती है । उन वायु प्रवाहों का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सदा प्रसन्न रहें ॥ ३ ॥

अपः समुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमुभि ये सृजन्ति । ये अद्विरीशाना मरुत्श्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

अपः । समुद्रात् । दिवम् । उत् । वहन्ति । दिवः । पृथिवीम् । अभि । ये । सृजन्ति । ये । सृत्-भिः । ईशानाः । मरुतः । चरन्ति । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [वायुगण] (अपः) जलको (समुद्रात्) पार्थिव समुद्र से (दिवम्) आकाश में (उद् वहन्ति) उठाकर पहुँचाने हैं और (दिवः)

३—(पयः) दुग्धम् (धेनूनाम्) अ० २ । ५ । ६ । दुग्धं पाययित्रीणां गवाम् (रसम्) सारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (जवम्) ऋदोरप् । पा० । ३ । ३ । ५७ । इति जु वेगे-अप् । वेगम् (अर्वनाम्) अ० । ४ । ६ । २ । अश्वानाम् (कवयः) कुङ् गतिशोषणयोः-इन् । कवते, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । गन्तारः । शोषयितारः (ये) यूयं मरुतः (इन्वथ) इवि व्याप्नौ । इदित्वा-ङ्गम् । व्यापयथ । स्थापयथ (शग्माः) अर्तिस्तुसुहु० । उ० । १ । १४० । इति शल्क-मन् । शकारः । समर्थाः (भवन्तु) (मरुतः) वायवः (नः) अस्मभ्यम् (स्योताः) सुखकराः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अपः) जलानि (समुद्रात्) पार्थिवसागरात् (दिवम्) अन्तरिक्षम् (उत्) ऊर्ध्वम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (दिवः) अन्तरिक्षात् (पृथिवीम्)

आकाश से (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (सृजन्ति) छोड़ देते हैं । और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल के साथ (चरन्ति) चलने रहते हैं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरनों से मिलकर वायु गण जल आकाश में ले जाते और पृथिवी पर बरसाते हैं । उनके उपकारों को समझ कर मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा
संसृजन्ति । ये अद्विगीशाना मरुतों वर्षयन्ति ते नः
मुञ्चन्त्वहंसः ॥ ५ ॥

ये । कीलालेन । तर्पयन्ति । ये । घृतेन । ये । वा । वयः ।
मेदसा । सम्-सृजन्ति । ये । अत्-भिः । ईशानाः । मरुतः ।
वर्षयन्ति । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत्गण] (वयः) जीवन को (कीलालेन) अन्न से और (ये) जो (घृतेन) जलसे (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं, (वा) और (ये) जो (मेदसा) मेदा अर्थात् चर्बी से (संसृजन्ति) संयुक्त करते हैं । और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल से [प्राणियों को] (वर्षयन्ति) सींचते हैं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भूमिम् (अभि) अभिलक्ष्य (ये) मरुतः (सृजन्ति) त्यजन्ति (अद्भिः) जलैः (ईशानाः) ईश्वराः समर्थाः (मरुतः) दीपनाशका वायवः (चरन्ति) गच्छन्ति । अन्यद् गतम् ॥

५—(ये) मरुतः (कीलालेन) अ० ४ । २६ । ६ । अन्नेन (तर्पयन्ति) पोषयन्ति (घृतेन) उदकेन (वा) चार्धं (वयः) अ० २ । १० । ३ । वी गतौ-असुन् । अन्नम्-निघ० २ । ७ । आयुः । जीवनम् (मेदसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् ङ० ४ । १८५ । इति त्रिभिदा स्नेहने-असुन् । मांसप्रभवधातुविशेषेण ।

भावाय—वायु वेग द्वारा अन्न, जल मिलकर शरीर रक्षा के लिये रक्त अस्थि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन वायु गणों के गुणों से हम सदा स्वस्थ और पुष्ट रहें ॥ ५ ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येन दृगारं ।

युयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृते स्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ६
यदि । इत् । इदम् । मरुतः । मारुतेन । यदि । देवाः । दैव्येन
ईदृक् । आर । युयम् । ईशिध्वे । वसवः । तस्य । निः-
कृतेः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयशील (मरुतः) दोषनाशक वायुगण !
(यदि) यत्नशील (इदम्) चलता हुआ जगत् (इत्) निश्चय करके [तुम्हारे]
(मारुतेन) दोषनाशक धर्म से और (दैव्येन) दिव्यपन से (ईदृक्) ऐसा (यदि)
यत्नशील (आर) प्राप्त हुआ है । (वसवः) हे निवास कराने वाले ! (युयम्)
तुम (तस्य) उस जगत् के (निष्कृतेः) उद्धारके (ईशिध्वे) समर्थ होते हो ।
(ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ६ ॥

भावाय—यह सब जगत् वायु के कारण चेष्टा करता हुआ उद्योगी रहता है, उस वायु के गुणों को जान कर सब मनुष्य प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

वाय तुरीयवातुता (संसृजन्ति) संयोजयन्ति (वर्षयन्ति) सिञ्चन्ति
प्राणिनः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

ई—(यदि) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति यती प्रयत्ने—इन्
तस्य दः । यत्नशीलम् (इत्) अवधारणे (इदम्) इण् गतौ दमुक् । एति गच्छ-
तीति इदं जगत् (मरुतः) हे दोषनाशका वायवः (मारुतेन) तस्येदम् । पा० ४ । ३ ।
१२० । इति मरुत्—भावेऽण् । मरुत्वेन मरुतो दोषनाशकधर्मेण (यदि) यत्नशी-
लम् (देवाः) हे विजिगीषवः (दैव्येन) दिवि भवं दिव्यम् । ततो भावे अण् ।
दिव्यगुणेन (ईदृक्) त्वदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च । पा० ३ । २ । ६० । इति
दृशेः क्तिन् । इदं किमोरीशकी । पा० ६ । ३ । ६० । इति इदम् ईशादेशः । एवंरूपं
जगद् यथा दृश्यते (आर) ऋ गतौ लिट् । प्राप्तं बभूव (युयम्) (ईशिध्वे)
ईश्वराः समर्था भवथ (वसवः) हे वारुणितारः । प्रशस्ताः (तस्य) दृश्य-
मानस्य जगतः (निष्कृतेः) निस्तारस्य उद्धारक्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतना-
सुग्रम् । स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मु-
ञ्चन्त्वंहंसः ॥ ७ ॥

तिग्मम् । अनीकम् । विदितम् । सहस्वत् । मारुतम् । शर्धः ।
पृतनासु । उग्रम् । स्तौमि । मरुतः । नाथितः । जोह-
वीमि । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहंसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(मारुतम्) दोष नाशक वायु गणों का (अनीकम्) सेना-
दल और (शर्धः) बल (पृतनासु) संग्रामों में (तिग्मम्) तीक्ष्ण, (सहस्वत्)
बड़ा साहसी और (उग्रम्) बड़ा प्रचण्ड (विदितम्) विदित है (नाथितः)
अधीन में (मरुतः) वायु गणों को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि)
बारंबार पुकारता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहंसः) कंष्ट से (मुञ्चन्तु)
छुड़ावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो साहसी शूरवीर संग्रामों में अपने श्वास प्रवास को
सावधान रखके वायु का यथावत् प्रयोग करते हैं, वे विजयी होकर आनन्द
भोगते हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ भवाशर्वी देवते ॥ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

७—(तिग्मम्) युजिरुजितिजां कुश्च । ७०१ । १४६ । इति तिज निशाने-
मक्, कुत्वं च । तीक्ष्णम् (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । ७०४ । १७ । इति अन्न
प्राणने-ईकन् । सैन्यम् (विदितम्) प्रख्यातम् (सहस्वत्) बलवत् (मारुतम्)
मरुतां सम्बन्धि (शर्धः) शर्दनिरुत्साहार्थः—असुन् । इति देवराजयज्वा निघ-
एदुटीकायाम् । बलम् निघ० २ । ६ (पृतनासु) अ० ३ । २१ । ३ । संग्रामेषु
(उग्रम्) प्रचण्डम् । अन्वत् पूर्ववत् ॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि
यद् विरोचते । यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ
नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भवाशर्वौ । मन्वे । वाम् । तस्य । वित्तम् । ययोः । वाम् । इदम् ।
प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । यौ । अस्य । ईशाथे इति ।
द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) हे सुख उत्पन्न करने हारं और शत्रु नाशक
[परमेश्वर के गुणो !] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं ।
(तस्य) उस [जगत्] का (वित्तम्) वे तुम दोनों ज्ञान रखते हो, (ययोः-
वाम्) जिन तुमदोनोंके (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह (यत्) जो कुछ जगत्
(विरोचते) प्रकाशमान है । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः)
दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के
(ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्)
छुड़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वजनक सर्वशासक और सर्वज्ञ है, उसकी
उपासना करके सब मनुष्य सुखी रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी अर्थात् ईश्वर का ग्रहण है ॥

१—(भवाशर्वौ) भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः । सुखोप्तादको
गुणः । कृशद्भ्यो वः । उ०१ । १५५ । इति शृ हिंसायाम् । शत्रुनाशको गुणः ।
भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ परमेश्वरस्य गुणौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ ।
इति आनङ् । अस्मिन् सूक्ते गुणग्रहणेन गुणिग्रणम् । (मन्वे) मननं करोमि
(वाम्) युवयोः (तस्य) जगतः (वित्तम्) लब्धे लोटे । वित्तः । वेदनं ज्ञानं
कुरुषुः (ययोः) (वाम्) युवयोः (इदम्) दृश्यमानं गमनशीलं वा जगत्
(प्रदिशि) प्रदेशे प्रशासने (यत्) यत्किञ्चित् (विरोचते) दृक् दीप्तौ ।
प्रकाशते (यौ) (अस्य) वर्तमानस्य (ईशाथे) ईश्वरौ भवथः (द्विपदः)
पादद्वयोपेतस्य प्राणिमात्रस्य (चतुष्पदः) पादचतुष्टयोपेतस्य गवादेः (तौ)
भवाशर्वौ (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषभृताम-
सिष्ठौ । यावस्येशाथे द्वि पदं । यौ चतु'प्पदस्तौ नो मुञ्चत-
मंहंसः ॥ २ ॥

ययोः । अभि-अध्वे । उत । यत् । दूरे । चित् । यौ । विदितौ ।
इषु-भृताम् । असिष्ठौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः ।
यौ । चतु'-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहंसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों का [वह सब है] (यत् चित्) जो
कुछ (अभ्यध्वे) समीप में (उत) और (दूरे) दूर देश में है । (यौ) जो
तुम दोनों (इषुभृताम्) हिंसा कारियों के (असिष्ठौ) अत्यन्त गिराने वाले
(विदितौ) विदित हो । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो
पायेम० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व अन्तर्यामी और शत्रुनाशक है हम उसकी
उपासना से सदा पुरुषार्थी रहें ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्वि पदं यौ चतु'प्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहंसः ॥३॥
सहस्र-अक्षौ । वृत्र-हना । हुवे । अहम् । दूरे-गव्यूती इति ।
दूरे-गव्यूती । स्तुवन् । एभि । उग्रौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति ।
द्वि-पदः । यौ । चतु'-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहंसः ॥३॥

२—(ययोः) भवाशर्वयोः (अभ्यध्वे) अभि अध्वन अभ्यध्वः । उपसर्गा-
दध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति अच् समासान्तः । समीपदेशे (उत) अपि
(यत् चित्) यत्किञ्चित् (दूरे) दूरदेशे (यौ) भवाशर्वौ (विदितौ) प्रज्ञातौ
(इषुभृताम्) ईष हिंसायाम्-कु, हस्वश्च । इषुभृज् धारणापोषणयोः-किप्-तुक्
च । हिंसाधारकाणाम् (असिष्ठौ) तुरङ्गन्दसि । पा० ५ । ३ । ५६ । इति
असित्-इष्टन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति वृक्षोपः । असित्तमौ ।
क्षेप्तृतमौ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (स्तुवन्) स्तुति करता हुआ (उग्रौ) उग्र स्वभाव वाले, (सहस्राक्षौ) सहस्रों व्यवहारों में व्यापक रहने वाले वा दृष्टि रखने वाले, (वृत्रहणा=०-णौ) शत्रुओं वा अन्धकारके नाश करने वाले, (दूरेगव्यूती) दूर तक प्रकाश का संयोग रखने वाले, दोनोंको (हुवे) मैं पुकारता हूं और (एमि) प्राप्त होता हूं । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) होपाये.....म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व व्यापक, सर्वदर्शक, शत्रु वा अज्ञान नाशक और सूर्य आदि लोकों का प्रकाशक है, उसकी स्तुति उपासना करके हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

यावरेभाथे बहु साकमग्रे प्रचेदस्त्राष्ट्रमभिभां जनेषु ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ ने मुञ्चतुमंहसः ॥४॥
यौ । आरेभाथे इत्या-रेभाथे । बहु । साकम् । अग्रे । प्र ।
च । इत् । अस्त्राष्ट्रम् । अभि-भाम् । जनेषु । यौ । अस्य ।
ईशाथे इति । द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्च-
तुम् । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जिन तुम दोनों ने (बहु) बहुत सा जगत् (साकम्)

३—(सहस्राक्षौ) अ० ४। २०। ४। बहुव्यवहारव्यापकौ। यद्वा। सर्वतोदत्त-
दृष्टौ स्थूलसूक्ष्मविषयेष्वपि प्राप्तदर्शनौ। (वृत्रहणा) अ० १। २१। १। शत्रु-
नाशकौ। अन्धकारनिवारकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) मनुष्यः (दूरेगव्यूती)
दूरे + गो + यूती। दुरीणो लोपश्च। उ० २। २०। इति दूर् + इण् गतौ-रक् धातु-
लोपश्च। इति दूरं विप्रकृष्टम्। गमेडौ। उ० २। ६७। इति गभृत् गतौ—डो
प्रत्ययः। ऊतियूतिजूति०। पा० ३। ३। ६७। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्तिन्।
निपातनान् साधुः। गोयूती लुन्दसि। बा० पा० ६। १। ७६। इति अच्
आदेशः। रश्मयो गाव उच्यन्ते—निरु० २। ६। दूरे दूरदेशे गवां रश्मीनां प्रका-
शानां यूतिः संयोगो ययोस्तौ। सर्वलोकप्रकाशकौ—इत्यर्थः (स्तुवन्) प्रशंसन्
सन् (एमि) प्राप्नोमि (उग्रौ) तीक्ष्णस्वभावौ। अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ १ ॥

४—(यौ) भवाशर्वौ (आरेभाथे) रभ रामस्ये=उपक्रमे-लुङ् । आरब्ध-

एक साथ (अग्रे) पूर्वकाल में (आरम्भाथे) आरम्भ किया (च) और जिन तुम दोनों ने (इत्) ही (जनेषु) प्राणियों में (अभिभाम्) प्रतिभा अर्थात् बुद्धि को (प्र अस्त्राष्टम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न किया । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये.....म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न करके प्राणियों में इष्ट अनिष्ट और सुख दुःख जानने के लिये बुद्धि दी है, उसकी ही भक्ति से हम सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

ययोर्विधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषु मानुषेषु ।
यावत्स्येशाथे द्विपदा यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥
ययोः । विधात् । न । अप-पद्यते । कः । चन । अन्तः । देवेषु
उत । मानुषेषु । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः ।
यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतुम् । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन तुम दोनों के (विधात्) हनन सामर्थ्य से (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषेषु अन्तः) मनुष्यों के बीच (कश्चन) कोई भी (न) नहीं (अपपद्यते) छुटकर जाता है । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये.....म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्व नियन्ता जगदीश्वर की आज्ञा पालन करके सब मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

वन्तौ (बहु) प्रभूतं जगत् (साकम्) सह (अग्र) आदौ (प्र) प्रकर्षण (च) (इत्) एव (अस्त्राष्टम्) सृज विसर्गे छाद्दसं लुडि रूपम् । अस्त्राष्टम् । सृष्ट-वन्तौ । उत्पादितवन्तौ (अभिभाम्) भा क्वप् । प्रतिभां बुद्धिं । (जनेषु) उत्पन्नेषु प्राणिषु । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

५—(ययोः) भवाशर्वयोः (विधात्) अ० १ । २० । २ । हननसामर्थ्यात् (न) निषेधे (अपपद्यते) अपेत्य गच्छति (कश्चन) कोऽपि (अन्तः) मध्ये (देवेषु) प्रकाशमानेषु सूर्यादिलोकेषु (उत) अपि च (मानुषेषु) अ० ४ । १४ ५ । मनुष-अण् । मनुष्येषु । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

यः कृत्याकृन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्र-
मुग्रौ । यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मु-
ञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

यः । कृत्या-कृत् । मूल-कृत् । यातु-धानः । नि । तस्मिन् ।
धत्तम् । वज्रम् । उग्रौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः ।
यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (कृत्याकृत्) हिंसा कारी, (मूलकृत्) मूल कत-
रने वाला और (यातुधानः) पीड़ा देने वाला पुरुष है, (तस्मिन्) उसपर
(उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (वज्रम्) वज्र (निधत्तम्) गिरावो
(यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ)
जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे
तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुष्ट नाशक और शिष्ट रक्षक है, उसकी ही उपा-
सना से मनुष्य बलवान् होवें ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ संवज्रेण सृजतं यः किमीदी ।
स्तौमि भवाशुर्वी नाथितो जौहवीमि तौ नो मुञ्चत-
मंहसः ॥ ७ ॥

अधि । नः । ब्रूतम् । पृतनासु । उग्रौ । सम् । वज्रेण । सृज-
तम् । यः । किमीदी । स्तौमि । भवाशुर्वी । नाथितः ।
जोहवीमि । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ७ ॥

६—(यः) शत्रुः (कृत्याकृत्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारकः (मूल-
कृत्) मूल + कृती छेदने—किप् । मूलकर्तकः । प्रतिष्ठाछेदकः (यातुधानः)
अ० १ । ७ । १ । यातनाकरः । पीड़ाकारकः (तस्मिन्) यातुधाने (निधत्तम्)
निक्षिपतम् (वज्रम्) अ० १ । ७ । ७ । दण्डरूपम् कुठारम् (उग्रौ) प्रचण्डस्वभावौ ।
अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (नः) हम से (पृतनासु) संग्रामों में (अधि) अनुग्रह से (ब्रूतम्) बोलो और [उसको] (वज्रैण) वज्र के साथ (सम्सृजतम्) संयुक्त करो (यः) जो (किमीदी) अब क्या हो रहा है, यह क्या होगा है, ऐसा खोजने वाला लुनरा पुरुष है । (नाथितः) मैं अधीन होकर (भवाश्रयौ) सुख उत्पन्न करने वाले और शत्रु नाश करने वाले तुम दोनों को (स्तौमि) सराहता हूँ और (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूँ । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्टसे (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदाचारी और सत्यवादी होकर शत्रुओं को संग्राम में जीते और परमेश्वर की उपासना करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्,
५-७ जगती ॥

पुरुषार्थकरणायोदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

मन्वे वा मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुहणौ यौ
नुदेथे । प्र सत्यावानुमवथो भरैषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१
मन्वे । वाम् । मित्रावरुणौ । ऋतु-वृधौ । स-चेतसौ । द्रुहणः ।
यौ । नुदेथे इति । प्र । सत्य-वानम् । अवयः । भरैषु । तौ ।
नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ १ ॥

७—(अधिब्रूतम्) अधिकमनुग्रहेण वदतम् (नः) अस्मभ्यम् (पृत-
नासु) संग्रामेषु (वज्रैण) (संसृजतम्) संयोजतम् (यः) पुरुषः (किमीदी) अ० १। ७ ।
१ । किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते—इत्येवमन्वेष्टणं कुर्वाणः । पिशुनः (स्तौमि)
प्रशंसामि (भवाश्रयौ) सुखजनकशत्रुनाशकौ परमेश्वरगुणौ (नाथितः)
अ० ४ । २३ । ७ । नाथवान् । अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि । अन्यत्
पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ऋतावृधौ) हे सत्य के बढ़ाने वाले (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने हारे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण [प्राण और अपान अथवा दिन और रात] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूँ, (यौ) जो तुम दोनों (द्रुहणः) द्रोहकारियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवयः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्राणायाम करके श्वास श्वास पर दिन रात शुभ चिन्तन करते हैं, वे सत्यवादी सत्यसंकल्पी पुरुष आत्म दोषों को त्याग कर संसार में विजय पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुहणी यौ नुदेथे प्र सत्यावानुमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नुचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२॥
स-चेतसौ । द्रुहणः । यौ । नुदेथे इति । प्र । सत्य-वानम् ।
अवयः । भरेषु । यौ । गच्छथः । नु-चक्षसौ । बभ्रुणा । सुतम् ।
तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (मित्रावरुणौ) अ० १ । २० ।
२ । मिनोति प्रेरयति जगत् कार्यं स मित्रः । वृणोति आच्छादयति स्वाकरोति वा स वरुणः । प्राणापानौ, द्यानन्दभाष्ये-य० २ । ३ । अहोरात्राभिनानिनौ-इतिसायणः, म० २ । अहोरात्रौ । (ऋतावृधौ) छान्दसो दीर्घः । ऋतस्य सत्यस्य वर्धयितारौ (सचेतसौ) अ० ४ । २६ । १ । समानचेतयितारौ (द्रुहणः) अन्यभ्याऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति द्रुह जिघांसायाम् वनिप् । द्रोघ्न् । उप-द्रविणः (यौ) मित्रावरुणौ (नुदेथे) एतद् प्रेरणे । दूरे प्रेरयथः । स्थानात् प्र-च्यावयथः (प्र) प्रकर्षेण (सत्यावानम्) छन्दसीवनिपौ । वा० पा० ५ । २ । १०६ । इति मत्वर्थीयो वनिप् । छान्दसो दीर्घः । सत्यवन्तं सत्यप्रतिज्ञं पुरुषम् (अवयः) रक्षथः (भरेषु) भृ भर्त्सनं कृयादिः—पचाद्यच् । संग्रामेषु-निरु० २ । १७ । (तौ) तादृशौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टान् ॥

भाषार्थ—(सचेतसौ) हे समान ज्ञान करानेवाले ! (यौ) जो तुम दोनों (द्रुहणः) उपद्रवियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्य-वान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो । (नृबल्लसौ) मनुष्यों के देखने वाले (यौ) जो तुम दोनों (बभ्रुणा) पोषण के साथ (सुतम्) उत्पन्न जगत् वा पराक्रमी वा पुत्र समान सेवक पुरुष को (गच्छथः) प्राप्त होते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाये ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य श्वास श्वास और पल पल पर दृष्टि रख कर वैदिक कर्म करते रहते हैं, वे सत्य प्रतिज्ञ पुरुष बल पराक्रम प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ २ ॥

यावद्भिरसुमवथो यावृगस्ति मित्रावरुणा जुमदग्निम-
त्रिम् । यौ कुश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चत-
मंहसः ॥ ३ ॥

यौ । अङ्गिरसम् । अवथः । यौ । अगस्तिम् । मित्रावरुणा ।
जुमत्-अग्निम् । अत्रिम् । यौ । कुश्यपम् । अवथः । यौ ।
वसिष्ठम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (अङ्गिरसम्) उद्योगी वा ज्ञानी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (अगस्तिम्)

२—पूर्वाद्धौ व्याख्यातः—म० १ (यौ) मित्रावरुणौ (गच्छथः) प्राप्नुथः (नृबल्लसौ) अ० १।७।५। हे नृणां चष्टारौ द्रष्टारौ सर्वस्यापि मानुषव्या-
पारस्य साक्षिणौ (बभ्रुणा) कुम्भश्च । उ० १।२२। इति डुभृज् धारणपोष-
णयोः—कु, द्विवच । भरणेन पोषणेन (सुतम्) पु प्रसवैश्वर्ययोः—क्तः । उत्पन्नं
जगत् ऐश्वर्यवन्तम् । पराक्रमिणम् । पुत्रवत्सेवकं वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(यौ) युवाम् (अङ्गिरसम्) अ० २।१२।४। गन्तारम् । उद्योगिनं
ज्ञानिनं वा (अवथः) रक्षथः (अगस्तिम्) अ० २।३२।३। अग वक्रगतौ-
अच् । वसेस्तिः । उ० ४।१८०। इति अग + अस्तु क्षेपणे कर्त्तरि-ति प्रत्ययः, पृषो-

ब्रह्मगति पाप के गिरा देने वाले, (जमदग्निम्) [यज्ञ वा शिल्प सिद्धि में] प्रकाशमान अग्नि वाले और (अत्रिम्) दांप के नाश करने वाले, यज्ञा निरन्तर गतिशील, यज्ञा कायिक वाचिक और मानसिक तीन दोष रहित महात्मा को (अवथः) बचाते हो । (यौ) जो तुम दोनों (कश्यपम्) सोमरस पीने वाले वा सूक्ष्मदर्शी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (वसिष्ठम्) बड़े धनी और बड़े श्रेष्ठ जन को (अवथः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य (मित्रावरुणा) दिन रात अर्थात् समय, और प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों के यथावत् प्रयोग से ज्ञानी, शुद्ध चित्त, और सूक्ष्म दर्शी होकर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्युश्च मित्रावरुणा पुरुमीढम-
त्रिम् । यौ विमदमवथः सुप्तवध्निं ती नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥
यौ । श्याव-अश्वम् । अवथः । वध्नि-अश्वम् । मित्रावरुणा ।
पुरु-मीढम् । अत्रिम् । यौ । वि-मदम् । अवथः । सुप्त-वध्निम् ।
तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (श्या-
वाश्वम्) ज्ञान में व्याप्ति रखने वाले को, (वध्युश्चम्) मित भोजन करने वाले
द्वारादित्वाद् दीर्घाभावः । अगंकुटिलगतिं पापम् अस्यति उत्पाटयतीति अगस्तिः ।
तथाभूतं पापनाशकं महर्षिम् (मित्रावरुणा) म० १ । हे अहोरात्रौ प्राणापानौ
वा (जमदग्निम्) अ० २ । ३२ । ३ । जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा
यस्य तं महर्षिम् (अत्रिम्) अ० २ । ३२ । ३ । दोषभक्षकं निरन्तरगतिशीलं वा
मुनिम् यज्ञा । अत्रिर्न ज्ञायः—निरु० ३ । १७ । इति कायिकवाचिकमानसिकत्रि-
दोषरहितं पुरुषम् (कश्यपम्) अ० २ । ३३ । ७ । सोमरसपानशीलम् । यज्ञा
पश्यकं सूक्ष्मदर्शिनम् (वसिष्ठम्) वसुमत्-इष्टनू । विन्मतोर्लुक् । पा० । ५ । ३
६५ । इति मतुपो लुक् । वसुमत्तमम् । अतिशयेन धनवन्तम् । यज्ञा वसु-इष्टन् ।
सर्वश्रेष्ठम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(यौ) युवां मित्रावरुणौ (श्यावाश्वम्) कर्दूरहृदभ्यो वः । उ० १ ।
१५५ । इति स्यैङ् गतौ-व । इति श्यावः । अश्वमपिलिङि० । १ । १५१ । इति

को, (पुरुषोदम्) बड़े धनी को और (अत्रिम्) नित्य उद्योगी को (अवयः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (विमदम्) मदरहित वा अदीन पुरुष को और (सप्तबध्निम्) [पंच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन] सात को संयम में रखने वाले पुरुष को (अवयः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुच्यन्तम्) छुड़ावो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य समय और प्राण के संयम से ज्ञान पूर्वक, शुद्ध आहार, विहार करके निरभिमानी और अदीन अर्थात् उत्साही, स्वस्थ और धनी होके सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ४ ॥

यौ भरद्वाजमवयथौ यौ गृविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र
कुत्सम् । यौ कक्षीवन्तमवयथः प्रोत कण्वं तौ नो
मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

यौ । भरत्-वाजम् । अवयः । यौ । गृविष्ठिरम् । विश्वामित्रम् ।
वरुण । मित्र । कुत्सम् । यौ । कक्षीवन्तम् । अवयः । प्र ।
उत । कण्वम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्र वरुण) मित्र और वरुण तुम दोनों

अशू व्याप्तौ, अश भोजने वा-कवन् । इति अश्वः । श्यावे ज्ञाने अरयो व्याप्ति-
यस्य तं ज्ञानव्याप्तिकम् (अवयः) रक्षयः (वध्यारवम्) अदिशदिभूशुभिभ्यः
क्रिन् । उ० ४ । ६५ । इति बध बन्धने भ्वा०, वा बध संयमने चुरा०-क्रिन् ।
बधौ संयमने अश्वोऽशनं भोजनं यस्य तं मितभोजिनम् (मित्रावरुणा) म०
१ । अहोरात्री । प्राणापानौ (पुरुषोदम्) मिह सेचने-क्त । मीढं धननाम-निघ०
२ । १२ । बहुधनयुक्तम् (अत्रिम्) म० ३ । निरन्तरगतिशीलम् (विमदम्)
मदी हर्षलेपनयोः, गर्वे च-अच् । ग्लेपनं दैन्यम् । विगतो मदोऽहङ्कारो दैन्यं वा
यस्य तम् । निरहङ्कारम् । अदीनम् (सप्तबध्निम्) बध संयमने-क्रिन् पूर्ववत् ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च सप्त बधौ संयमने यस्य तम् । अतिजितेन्द्रि-
यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(यौ) मित्रावरुणौ युवाम् (भरद्वाजम्) अ० २ । १२ । २ । अन्नस्य
बलस्य विज्ञानस्य वा भर्तारं धारकं पुरुषम् (अवयः) रक्षयः (गृविष्ठिरम्)

(भद्राजम्) अन्न वा बल, वा ज्ञान के धारण करने वाले को, (यौ) जो तुम (गविष्ठिरम्) वेद वाणी में स्थिर को, (विश्वामित्रम्) सब के मित्र को, वा सब हैं मित्र जिसके उसको, और (कुत्सम्) संगतिशील वा दोषों के कतरने वाले को (अवथः) बचाते हो, (यौ) जो तुम दोनों (कक्षीवन्तम्) उद्योगी वा शासन शील (उत) और (कण्वम्) स्तुति करने वाले मेधावी पुरुष को (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो । (नौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, वेदों की आज्ञा पालन करने वाले सर्वहितकारक आदिक पुरुषों के लिये समय और आत्मबल सदा अनुकूल रहते हैं ॥ ५ ॥

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनीं
क्राव्यं यौ । यौ गोतमुमवथः प्रोत मुद्गलं तौ नौ
मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इत्यलुक् । गवियुधिभ्यां स्थिरः । पा० ८ । ३ । ५५ । इति षत्वम् । गवि वाचि वेदात्मिकायां स्थिरं दृढम् (विश्वामित्रम्) मित्रे चर्षी । पा० ६ । ३ । १३० । इति दीर्घः । विश्वामित्रः सर्वमित्रः, सर्व संसृतम्-निरु० २ । २४ । सर्वस्यैव मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रम् । तं सर्व-हितम् (वरुण मित्र) हे मित्रावरुणौ (कुत्सम्) । स्तुत्रश्चिकृष्टृषिभ्यः कित् । उ० ३ । ६६ । इति-कुत्स संश्लेषणे-स । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तः । सद्भिः संगतिशीलम् । यद्वा कृनी छेदने सप्रत्ययः । ऋकारस्य उत्त्वम् । दोषाणां कर्तकं छेत्तारम् । यद्वा कुत्स अवक्षेपणे चुग०—घञ् । कुत्सयति दोषान् यः तम् । कुत्सो वज्रः-निघ० २ । २० कुत्स इत्येतत्कृन्तते । ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौषमन्यवः । अत्राप्यस्य वधश्चर्मैव भवति तदस्य इन्द्रःशष्पं जघानेति-निरु० ३ । ११ । (कक्षीवन्तम्) अशोर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति कश्च गतिशासनयोः-क्विस । तनो मनुप् । मस्य वः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । कक्षीर्गतिः शासनं वा विद्यते यस्मिन् स कक्षीवान् तं गतिशीलं शासनशीलं वा कक्षीवान् कक्ष्यावान्... अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्-निरु० ६ । १० । (प्र) प्रकर्षेण (उत) अपि च (कण्वम्) अ० २ । २५ । ३ । अशुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे निमीलने वा—कवन् । कणति स्तौति यद्वा निमीलयति दोषान् स्वज्ञानेन, तम् मेधाविनम्-निघ० ३ । १५ । अन्यत्पूर्ववत् ॥

यौ । मेध-अतिथिम् । अवयः । यौ । त्रि-शोकम् । मित्रावरु-
णौ । उशनाम् । काव्यम् । यौ । यौ । गोतमम् । अवयः ।
प्र । उत । मुद्गलम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण और अपान
तुम दोनों ! (मेधातिथिम्) धारणावती बुद्धि के नित्य प्राप्त करने वाले को और
(यौ) जो तुम दोनों (त्रिशोकम्) कायिक, वाचिक, और मानसिक तीन
दोषों पर शोक करने वाले को, और (यौ) जो तुम दोनों (उशनाम्) कामना
योग्य नीति को और (काव्यम्) बुद्धिमानों के कर्म को (अवयः) बचाते हो ।
(यौ) जो तुम दोनों (गोतमम्) अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की
कामना करने वाले को (उत) और (मुद्गलम्) मोद अर्थात् हर्ष देने वाले
को (प्र) अच्छे प्रकार (अवयः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें
(अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य तपश्चर्या करके अपने समय और शारीरिक
मानसिक शक्तियों का यथावत् उपयोग करते हैं वे उत्तम नीति और कर्म प्राप्त
करके आनन्दित होते हैं ॥ ६ ॥

६—(यौ) युवाम् (मेधातिथिम्) विभिदादिभ्योऽङ् । पा० । ३ । ३ ।
१०४ । इति मेधु वधहिंसासङ्गमेषु—अङ् । टाप् । धांधारणावती मेधा—इत्य-
मरः । ५ । २ । ऋतन्यजिवन्यज्जपिमद्यत्यङ्गि० । उ० ४ । २ । इति अन सातत्यग-
मने—इथिन् । अततीति अतिथिः । मेधां धारणावतीं बुद्धिं अतति निरन्तरं प्राप्नोति
यः, तम् । (अवयः) (त्रिशोकम्) त्रिषु कायिकवाचिकमानसिकदोषेषु शोकः
खेदो यस्य तम् (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (उशनाम्) रज्जतेः
क्युन् । उ० २ । ७६ । इति वश कान्तौ—क्युन् । टाप् । सम्प्रसारणं च । कमनीयां
नीतिम् (काव्यम्) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च पा० ५ । १ । १२४ । इति
कवि-प्यञ् । कवीनां मेधाविनां कर्म (गोतमम्) गो-तमप् । गौः स्तोता—निरु० ३।
१६ । अतिशयेन स्तोतारम् । यद्वा, गौः, वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । तमुक्ताङ्नायाम्
पचाद्यच् । गां वाचं विद्यां ताम्यति काङ्क्षति यस्तं विद्याकामम् (प्र उत)
(मुद्गलम्) मुदिमोगंगौ । उ० १ । १२८ । इति मुद हर्षे—गक् । ला दानादनयोः
क । मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गिलो वा मदनङ्गिततीति वा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो
वा निरु० ६ । २४ । मोदस्य हर्षस्य दातारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ययो रथः सत्यवर्त्मं जु रश्मि मिथुया चरन्तमभियाति
दूषयन् । स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ
नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

ययोः । रथः । सत्य-वर्त्मा । ऋ जु-रश्मिः । मिथुया । चरन्तम् ।
अभि-याति । दूषयन् । स्तौमि । मित्रावरुणौ । नाथितः ।
जोहवीमि । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ—(ययोः) जिन दोनों का (सत्यवर्त्मा) सत्यमार्ग वाला,
(ऋ जु-रश्मिः) सरल व्याप्ति वा डारी वाला (रथः) रथ (मिथुया) हिंसा के
साथ (चरन्तम्) चलते हुये पुरुष को (दूषयन्) सताता हुआ (अभियाति)
चढ़ाई करता है । (नाथितः) मैं अधीन होकर (मित्रावरुणौ) दिन रात वा
प्राण अपान को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता
हूं । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्)
छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य समय और आत्मिक शक्तियों का कुप्रयोग करते
हैं, वेही कर्म उन दुराचारियों का नाश कर देते हैं । इस लिये मनुष्य अपने काल
और सामर्थ्य को उत्तम कामों में लगाकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

७—(ययोः) मित्रावरुणयोः (रथः) अ० ४ । १२ । ६ । वेगवान् । स्व-
न्दनः (सत्यवर्त्मा) अचित्तमार्गयुक्तः (ऋ जु-रश्मिः) अर्जिदशिकम्यमि० ।
उ० १ । २७ । इति अर्जं अर्जने-कु । इति ऋ जु । अश्वोत्तरश्च । उ० ४ । ४६ ।
इति अशू व्याप्तौ-मि । रश् इत्यादेशो धातोः । ऋजवः सरला अनुकूला रश्मयो
व्याप्तयः प्रग्रहा वा यस्य सः (मिथुया) मिथ वधे-कु । सुपां सुलुक् । पा० ७ ।
१ । ३६ । इति विभक्त्योर्वाच् । मिथुना हिंसनेन (चरन्तम्) गच्छन्तम् (अभियाति)
अभिमुखं गच्छति (दूषयन्) दुष्टं वैकृत्ये गयन्तात्-शतृ । दोषो शौ । पा० ६ ।
४ । ६० । इति ऊत्वम् (स्तौमि) प्रशंसामि (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणपानौ
वा (नाथितः) नाथवान् । अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि । अन्यत्
पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-८ ॥ राष्ट्री देवता । १-५, ७, ८ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहमित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्वि-
नोभा ॥ १ ॥

अहम् । रुद्रेभिः । वसु'-भिः । चरा'मि । अहम् । आदित्यैः ।
उत । विश्व-देवैः । अहम् । मि'त्रावरु'णा । उभा । बिभ'र्मि ।
अहम् । इन्द्रा'ग्नी इति । अहम् । अश्वि'ना । उभा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [परमेश्वर] (रुद्रेभिः) ज्ञान दाताओं वा दुःख नाशकों (वसुभिः) निवास कराने वाले पुरुषों के साथ (उत) और (अहम्) मैं ही (विश्वदेवैः) सर्व दिव्य गुण वाले (आदित्यैः) प्रकाशमान, अथवा अर्द्धन प्रकृति से उत्पन्न हुये सूर्य आदि लोकों के साथ (चरामि) चलता हूँ । (अहम्) मैं (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) दिन और रात को, (अहम्) मैं (इन्द्राग्नी) पवन और अग्नि को, (अहम्) मैं ही (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी को (बिभर्मि) धारण करता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक और सर्वपोषक है, उसकी उपासना से सब मनुष्य नित्य उन्नति करें ॥ ? ॥

१—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्रेभिः) अ० २ । २७ । ६ । रुत्+र । रुद्रैः । ज्ञानदातृभिः । दुःखनाशकैः (वसुभिः) अ० २ । १२ । ४ । वासयितृभिः । धनैः (चरामि) गच्छामि (आदित्यैः) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमानैः । अदितेरदी-
नायाः, देवमातुः प्रकृतेः सकाशादुत्पन्नैः सूर्यादिलोकैः (उत) अपि च (विश्व-
देवैः) सर्वदिव्यगुणयुक्तैः (मित्रावरुणा) अहोरात्रौ । (उभा) उभौ (बिभर्मि) धारयामि (इन्द्राग्नी) अ० १ । ३५ । ४ । वायव्यग्नी (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । द्यावापृथिव्यौ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—मण्डल १० सूक्त १२५ । वहां सूक्त की वागाम्भृणी ऋषि और वागाम्भृणी ही देवता है ॥

अहं राष्ट्री । संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञि-
यानाम् । तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां
भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

अहम् । राष्ट्री । सुम्-गमनी । वसूनाम् । चिकितुषी ।
प्रथमा । यज्ञियानाम् । ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः ।
पुरुत्रा । भूरि-स्थात्राम् । भूरि । आ-वेशयन्तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) में (वसूनाम्) धनों की (संगमनी) पहुंचाने वाली और (यज्ञियानाम्) संगति योग्य पूजनीय विषयों की (चिकितुषी) जानने वाली (प्रथमा) पहिली (राष्ट्री) नियम करने वाली शक्ति हूं । (देवाः) विद्वानों ने (पुरुत्रा) बहुत प्रकारों से (भूरिस्थात्राम्) अनेक पदार्थों में ठहरी हुई (ताम् मा) उस मुझ को (भूरि) अनेक विध से (आवेशयन्तः) [अपने आत्मा में] प्रवेश कराके (व्यदधुः) विविध प्रकार धारण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—अनादि, अतन्त, सर्वज्ञ, सर्वपोषक, सर्वनियन्ता परमेश्वर सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में विद्यमान है । विद्वान् लोग ही उसकी अपार महिमा का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (राष्ट्री) अ० ४ । १ । ६ । राज्ञी । नियन्त्री शक्तिः (संगमनी) सन्+गम्ल-ल्युट् । ऊ० ५ । संगमयित्री प्रापयित्री (चिकितुषी) कित ज्ञाने-कसु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ऊ० ५ । ज्ञातवती । प्राप्तज्ञाना (प्रथमा) प्रख्याता मुख्या (यज्ञियानाम्) अ० २ । १२ । २ । यज्ञा-र्हाणां संगमनीयानां देवानाम् (ताम्) तथाविधाम् (मा) माम् । परमेश्वरम् (देवाः) विद्वान्सः (व्यदधुः) धात्रो लङि रूपम् । विविधं स्थापितवन्तः (पुरुत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः । पा० ५ । ४ । ५६ । इति सप्तम्यर्थे-त्रा । बहुषु प्रकारेषु (भूरिस्थात्राम्) अदिशदिभू० । उ० ४ । ६ । इति भू-क्रिन् । भूरि बहु-निघ० ३ । १ । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति ष्ठा-अन् । बहुपदार्थेषु कृतावस्थानाम् (भूरि) अनेकधा (आवेशयन्तः) विश, शिच्-शतृ । प्रवेशयन्तः स्वात्मानं प्रति ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषा-
णाम् । यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृ-
षिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अहम् । एव । स्वयम् । वृदम् । वदामि । जुष्टम् । देवा-
नाम् । उत । मानुषाणाम् । यम् । कामये । तम्-तम् । उग्रम्
कृणोमि । तम् । ब्रह्माणम् । तम् । ऋषिम् । तम् । सु-
मेधाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (स्वयम्) आप (देवानाम्)
सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषाणाम्) मननशील मनुष्यों का (जुष्टम्)
प्रिय (वृदम्) यह बचन (वदामि) कहता हूँ । [अर्थात्] (यम्) जिस किस
को (कामये) मैं चाहता हूँ (तम्-तम्) उस उसको ही [कर्मानुसार] (उग्रम्)
तेजस्वी, (तम्) उस को ही (ब्रह्माणम्) वृद्धिशील ब्रह्मा, (तम्) उसी को
(ऋषिम्) सन्मार्गदर्शक ऋषि, (तम्) उसीको (सुमेधाम्=०-धम्) उत्तम
बुद्धि वाला (कृणोमि) बनाता हूँ ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा सब लोकों और प्राणियों को शरण में रखकर
उपदेश करता है कि मैं अपने आज्ञाकारियों को प्रीति पूर्वक उत्तम गति देता
हूँ ॥ ३ ॥

३—(अहम्) परमेश्वरः (एव) अवधारणे । नान्योऽस्ति ममोपदे-
ष्टेति यावत् (स्वयम्) आत्मना (वृदम्) अनुभूयमानं ब्रह्मात्मकं वाक्यम्
(वदामि) उपदिशामि । प्रकटयामि (जुष्टम्) प्रियं हितम् । सेवितम् (देवा-
नाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानुषाणाम्) मननशीलानां
मनुष्याणाम् (यम्) उपासकम् (कामये) वाञ्छामि (तम्-तम्) प्रत्येकं
वीक्षितं पुरुषम् (उग्रम्) दुष्प्रध्वं तेजस्विनम् (कृणोमि) करोमि
(ब्रह्माणम्) बृंह्नेर्नाऽरुच । उ०४। १४६। इति बृहि बृद्धौ-मनिन् । नस्य अकारः ।
बृंहति वर्धते बृहयति वर्धयति वेदज्ञानेन स ब्रह्मा । विधातारं ब्रह्माणम् (ऋ-
षिम्) अ० २।६। १। ऋषिर्दर्शनात्-निरु० २।१ आप्तं सन्मार्गदर्शकम्
(सुमेधाम्) दीघश्छान्दसः । सुमेधम् । सुमेधसम् । शोभनप्रज्ञम् ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शुणो-
त्युक्तम् । अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत
श्रुद्देयं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया । सः । अन्नम् । अत्ति । यः । वि-पश्यति । यः । प्राणति ।
यः । ईम् । शुणोति । उक्तम् । अमन्तवः । माम् । ते ।
उप । क्षियन्ति । श्रुधि । श्रुत । अत्-धेयम् । ते । वदामि ॥४॥

भाषार्थ—(मया) मेरे द्वारा ही (सः) वह (अन्नम्) (अत्ति) खाता
है (यः) जो कोई (विपश्यति) विशेष करके देखता है, (यः) जो (प्राणति)
श्वास लेता है और (यः) जो (ईम्) यह (उक्तम्) बचन (शृणोति) सुनता
है । (माम्) मुझे (अमन्तवः) न जानने वाले (ते) वे पुरुष (उप) हीन
होकर (क्षियन्ति) नष्ट हो जाते हैं । (श्रुत) हे सुनने में समर्थ जीव ! (श्रुधि)
तू सुन, (ते) तुझसे (अद्देयम्) आदर योग्य सत्य (वदामि) बताता हूँ ॥४॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष परमात्मा को जानकर आनन्द, और अज्ञानी
नास्तिक उससे विमुख होकर दुःख भोगते हैं । यह परमेश्वर का उपदेश है ॥४॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तुवा उ ।

अहं जनाय सुमदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥५॥

४—(मया) मम द्वारा (सः) पुरुषार्थी (अन्नम्) अदनीयम् । जीवन-
साधनं वा (अत्ति) भक्षयति (यः) (वि पश्यति) विशेषेणावलोकयति
(प्राणति) शपःप्रयोगश्छान्दसः । प्राणिति प्रश्वसिति (ईम्) इदम् (शृणोति)
श्रोत्रेण गृह्णाति (उक्तम्) वचनम् (अमन्तवः) कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ ।
इति नञ्+मनु अथबोधने-तु । अजानन्तः (माम्) परमेश्वरम् । न लोकाव्यय० ।
पा० २ । ३ । ६७ । इति द्वितीया (ते) प्रसिद्धा मूर्खाः (उप) हीने (क्षियन्ति)
क्षि क्षये । नश्यन्ति (श्रुधि) शृणु (श्रुत) श्रुतं श्रवणं यस्यास्तीति श्रुतः । श्रुत-
अर्श आद्यच् । हे श्रवणसमर्थ (अद्देयम्) श्रुत, सत्यम्-निघ० ३ । १० । अचो
यत् । पा० ३ । १ । ६७ । इति श्रुत्+धाञो यत् । ईद्यति । या० ६ । ४ । ६५ । इति
ईकारः । श्रद्धातयम् । आदरणीयं सत्यम् (ते) तुभ्यम् (वदामि) उपदिशामि ॥

अ॒हम् । रु॒द्राय॑ । धनुः॑ । आ । त॒नोमि॑ । ब्र॒ह्म-द्विषे॑ । शर॑वे ।
हन्त॒वै । जं॑ इति । अ॒हम् । जना॑य । स॒-मद॑म् । कु॒णोमि॑ ।
अ॒हम् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । आ । वि॒वेश ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (रुद्राय) दुःखनाशक शूर के लिये (ब्रह्मद्विषे)
ब्राह्मणों के द्वेषी (शरवे) हिंसक के (हन्तवै) मारने को (उ) ही (धनुः)
धनुस् (आ तनोमि) सब ओर से तानता हूं । (अहम्) मैं (जनाय) भक्त जन
के लिये (समदम्) आनन्दयुक्त [जगत्] (कुणोमि) करता हूं । (अहम्)
मैं ने (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक में (आ) सब ओर में (विवेश)
प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर शिष्टों की रक्षा के लिये दुष्टों का नाश
करता है और अपने भक्तों को सब स्थानों में आनन्द देता है ॥ ५ ॥

अ॒हं सोम॑माहु॒नसं॑ वि॒भर्म्य॑ हं त्वष्टा॑रमु॒त पू॒षणं॑ भ॒गम् ।
अ॒हं द॑यामि द्र॒विणा॑ ह॒विष्म॑ते सु॒प्र॒व्या ३॑ यज॑मा॒
नाय॑ सु॒न्वते ॥ ६ ॥

अ॒हम् । सोम॑म् । आ॒हुन॑सम् । वि॒भर्मि॑ । अ॒हम् । त्वष्टा॑रम् ।
उ॒त । पू॒षण॑म् । भ॒गम् । अ॒हम् । दु॒धामि॑ । द्र॒विणा॑ । ह॒विष्म॑ते ।
सु॒प्र-अ॒व्या । यज॑मानाय । सु॒न्वते ॥ ६ ॥

५—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्राय) म० । १ । ज्ञानदात्रे । दुःखनाशकाय ।
तस्य हितायेत्यर्थः (धनुः) अ० ४ । ६ । ६ । चापम् (आ तनोमि) विस्ता-
रयामि । सज्यं करोमि (ब्रह्मद्विषे) द्विष अप्रीतो—किप् । ब्राह्मणानां द्वेष्टे (शरवे)
शस्त्रस्निहि० । उ० १ । १० । इति शू हिंसायाम्—उ । कर्मणि चतुर्थी । हिंस-
कम् । कुष्टम् (हन्तवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति हन हिंसागत्योः
—तवै । हन्तुं हिंसितुम् (उ) अयधारणे (जनाय) भक्तजनार्थम् (समदम्)
मदोऽनुपसर्गं । पा० ३ । ३ । ६८ । इति मदी हर्षे—अप् । मदेन हर्षेण सहितम्
(कुणोमि) करोमि (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आविवेश) प्रविष्टवान् ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (आहनसम्) प्राप्तियोग्य (सोमम्) ऐश्वर्य को (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) रसों के छिन्न भिन्न करने हारे सूर्य को (उत) और (पूषणम्) पोषण करने हारी पृथिवी को और (भगम्) सेवनीय चन्द्रमा को (बिभर्मि) धारण करता हूँ । (अहम्) मैं (हविष्मते) भक्ति रखनेवाले, (सुन्वते) विद्या रस का निचोड़ करने हारे (यजमानाय) देवताओं की पूजा वासंगति करनेहारे पुरुष को (सु प्राव्या=०—णि) सुन्दर सुन्दर रक्षा योग्य (द्रविणा) अनेक धन (दधामि) देता हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अनेक प्रकार के ऐश्वर्य और सूर्य आदि बड़े उपकारी पदार्थ रचे हैं । विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा उनसे लाभ प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

ॐ हं सुवे पितरंमस्य मुर्धन्मम योनिरुप्स्व१न्तःसमुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामू द्यां वृष्मणोप
स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहम् । सुवे । पितरंम् । अस्य । मुर्धन् । मम । योनिः । अप-सु ।
अन्तः । समुद्रे । ततः । वि । तिष्ठे । भुवनानि । विश्वो ।
उत । असूम् । द्याम् । वृष्मणा । उप । स्पृशामि ॥ ७ ॥

६—(अहम्) परमेश्वरः (सोमम्) अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यम् (आहन-सम्) आङ् + हन हिंसागत्योः—असुन् । सम्यक् प्रापणीयम् (बिभर्मि) धारयामि (त्वष्टारम्) अ० २ । ५ । ६ । रसानां तनूकर्तारं सूर्यम् (उत) अपि च (पूषणम्) अ० १ । ६ । १ । पूषा पृथिवीनाम् । निघ० १ । १ । पोष-यित्री पृथिवीम् (भगम्) अ० १ । १४ । १ । भगो भजतेः—निघ० १ । ७ । से-यनीयं चन्द्रम् (दधामि) ददामि प्रयच्छामि (द्रविणा) द्रविणानि । धनानि (हविष्मते) हविः—अ० १ । ४ । ३ । दानयुक्ताय । भक्तिविशिष्टाय (सुप्राव्या) अहलोपर्यन्त । पा० ३ । ३ । १२४ । इति सु + प्र + अव रक्षणे—एषत् । संज्ञापूर्व-को विधिरनित्यः—इति वृद्धेरभावः । सुष्ठु प्रकर्षेण अवनीयानि । रक्षणीयानि । (यजमानाय) देवपूजकाय (सुन्वते) पुञ् अमिषवे शतृ । विद्यारसस्यामिषवं मधनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन्) नियम के निमित्त (पितरम्) पालन करनेवाले गुण को (सुवे) उत्पन्न करता हूँ । (मम) मेरा (योनिः) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में वर्तमान (अप्सुअन्तः) व्यापनशील रचनाओं के भीतर है । (ततः) इसी से (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (वितिष्ठे) व्यापकर वर्तमान हूँ (उत) और (अमूम्याम्) उस प्रकाशमान सूर्य को (वर्ष्मणा) अपने ऐश्वर्य से (उपस्पृशामि) छूता रहता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर सब में व्यापक रहकर सब का पालन कर्ता, और नियन्ता और उपास्य है ॥ ७ ॥

अहमेव वात इव प्रवाभ्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पुर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना संयभूवत् ॥
अहम् । एव । वातः—इव । प्र । वामि । आ-रभमारणा । भुव-
नानि । विश्वा । पुरः । दिवा । पुरः । एना । पृथिव्या ।
एतावती । महिम्ना । सम् । बभूव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों को (आरभमाणा=आलभमाना) छूती हुई शक्ति (वातः) पवन के समान

७—(अहम्) परमेश्वरः (सुवे) पूङ् प्राणिगर्भविमोचने । जनयामि (पितरम्) पालकं गुणं (अस्य) दृश्यमानस्य । जगतः (मूर्धन्) अ० ३ । ६ । ६ । मुखं बन्धने—कनिन् । मूर्धनि । बन्धने । नियमे निमित्ते (मम) (योनिः) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (अप्सु) व्यापनशीलासु प्रकृतिरचनासु (अन्तः) मध्ये (समुद्रे) अ० १ । ३ । ८ । समुद्रवन्त्यस्माद् भूतानि । अन्तरिक्षे—निघ० १ । ३ (ततः) तस्मात्कारणात् (वितिष्ठे) समवप्रविभ्यः स्थः । पा० १ । ३ । २२ । इति आत्मने पदम् । विविधं व्याप्य तिष्ठामि (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (अमूम्) विप्रकृष्टाम् (याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (वर्ष्मणा) अ० ३ । ४ । २ । वृषु प्रजननैश्वयोः—मनिन् । स्वैश्वर्येण (उपस्पृशामि) व्याप्नोमि—इत्यर्थः ॥

८—(अहम्) परमेश्वरः (एव) निश्चयेन (वातः) पवनः (इव) यथा (प्रवामि) प्रवर्ते (आरभमाणा) आङ् पूर्वको लभ स्पर्श—शानच् । लस्य २ः ।

(प्र वामि) चलती रहती हैं । (दिवा) सूर्य लोक से (परः) परे और (एना पृथिव्या) इस पृथिवी से (परः) परे [वर्तमान होकर] (एतावती) इतनी बड़ी शक्ति (महिम्ना) अपनी महिमा से (संबभूव) हो गई हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब सांसारिक पदार्थों को अबलम्बन कर्ता है उसी प्रकार परमात्मा वायु का भी आश्रय दाता है और वह इन्द्रियों के विषय, सूर्य पृथिवी आदि पदार्थों से अलग है । उस की महिमा को जान कर सब मनुष्य पुरुषार्थों होकर आनन्दित रहें ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-७ ॥ मन्युर्देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्, ४-७ जगती ॥

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

त्वया मन्यो सुरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरु-
त्वन् । त्रिगेषव आयुधा संशिशाना उप प्रयन्तु नरो
अग्निरूपाः ॥ १ ॥

त्वया । मन्यो इति । सु-रथम् । आ-रुजन्तः । हर्षमाणाः ।
हृषितासः । मरुत्वन् । त्रिग-इषवः । आयुधा । सुम्-शिश-
नाः । उप । प्र । यन्तु । नरः । अग्नि-रूपाः ॥ १ ॥

आलम्बमाना । स्पृशन्ती । आलम्बमाना शक्तिः (भुवनानि) भूतजातानि लो-
कान् वा (विश्वा) सर्वाणि (परः) परस्तात् । दूरं (दिवा) सूर्येण (एना)
सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति आच् । एनया । अनया (पृथिव्या)
भूम्या (एतावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाले० । पा० ५ । २ । ३६ । इति एतद्-
वतुप् । आसर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ५१ । इति आत्वम् । एतत्परिमाणा मदती
(महिम्ना) माहात्म्येन (सं बभूव) समर्था बभूव ॥

भाषार्थ—(मरुत्वन्) हे शूरवीरो वाले (मन्यो) क्रोध ! (त्वया) तेरे साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़ कर [शत्रुओं को] (आरुजन्तः) तोड़ते फोड़ते हुये, (हर्षमाणाः) हर्ष मानते हुये, (हृषितासः) संतुष्ट मन, (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण वाणों वाले, (आयुधा) शस्त्रों को (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते हुये, (अग्निरूपाः) अग्निरूप [अग्नि तुल्य प्रचण्ड कर्म्मों वाले, अथवा सन्नद्ध कवच पहिने हुये] (नरः) हमारे नर [मुखिया लोग] (उप प्र यन्तु) व्यापकर चढ़ाई करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर दुष्टों पर क्रोध करके चढ़ाई करते हैं, वे विजयी होते हैं ॥ १ ॥

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीनः सहुरे
हूत एधि । हत्वायु शत्रून् वि भजस्व वेद ओजो
मिमानी वि मृधो नुदस्व ॥ २ ॥

अग्निः-इ'व । मन्यो-इति । त्विषितः । सहस्व । सेना-नीः ।
नः । सहुरे । हूतः । एधि । हत्वायु । शत्रून् । वि । भजस्व ।
वेदः । ओजः । मिमानः । वि । मृधः । नुदस्व ॥ २ ॥

१—(त्वया) मन्युना (मन्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० । ३।२० इति मन ज्ञाने गर्वेच—युच्, अनादेशाभावः । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो बध-कर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः—निरु० १० । २६ । हे क्रोध—निघ० २ । १३ । (सरथम्) समानं रथमारुह्य । सरथमारुह्य—निरु० १० । ३० (आरुजन्तः) आभञ्जन्तः पीडयन्तः शत्रून् (हर्षमाणाः) हृष तुष्टौ—शानच् । हर्ष कुर्वाणाः (हृषितासः) संतुष्टाः सन्तः (मरुत्वन्) अ० १ । २० । १ । मरुद्भिः शूरैर्युक्त (तिग्मेषवः) तीक्ष्णशराः (आयुधा) आयुधानि खड्गादीनि शस्त्राणि (संशिशानाः) शो तनूकरणे—कानच् । संश्यन्तः । तीक्ष्णीकुर्वन्तः (उप) व्याप्तौ (प्र यन्तु) प्रकर्षण गच्छन्तु (नरः) । नयतेडिङ् । उ० २ । १०० । इति णीञ् प्रापणे—ऋ । नेतारः (अग्निरूपाः) अग्निवत्तीक्ष्णदाहादिकर्मणः । यद्वा सन्नद्धाः कवचिनः । अग्निरूपा अग्निकर्मणः सन्नद्धाः कवचिन इतिवा—निरु० १० । ३० ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अग्निः इव) अग्नि के समान (त्विषितः) प्रज्वलित होकर (सहस्व) समर्थ हो, (सहुरे) हे प्रबल ! (हृतः) आवाहन किया हुआ तू (नः) हमारा (सेनानीः) सेनापति (पधि हो । (शत्रून्) शत्रुओं को (हत्वाय) मारकर (वेदः) उनका धन (विभजस्व) बांट दे, और (ओजः) बल (मिमानः) दिखाता हुआ तू (मृधः) हिंसक लोगों को (विनुदस्व) इधर उधर फेंक दे ॥२॥

भाषार्थ—सेनानी लोग क्रोध के साथ शत्रुओं को मारकर उन का धन बांट लें और उन्हें इतर बितर कर दें ॥२॥

सह'स्व मन्यो अ॒भिमा॑तिमु॒स्मै रु॒जन् मु॒णन् प्र॑मु॒णन्
प्रे॒ति शत्रू॑न् । उ॒ग्रं ते॒ पाजो॑ न॒न्वा र॑रु॒ध्रे व॒शी व॒शं
नया॑सा एक॒जु त्वम् ॥ ३ ॥

सह'स्व । म॒न्यो इति॑ । अ॒भि-मा॑तिम् । अ॒स्मै । रु॒जन् ॥
मु॒णन् । प्र-मु॒णन् । प्र । इ॒हि । शत्रू॑न् । उ॒ग्रम् । ते । पाजो॑ः
ननु॑ । आ । रु॒ध्रे । व॒शी । व॒शम् । नया॑सै । एक॒-जु । त्वम् ॥३॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) दबा दे, और (शत्रून्) वैरियों को (रुजन्)

२—(अग्निरिव) (मन्यो हे क्रोध ! (त्विषितः) प्रदीप्तः सन् (सहस्व) वह मर्षणे शक्तौ च । शक्तो भव (सेनानीः) सेनाया नेता सेनाधिपतिः (नः) अस्माकम् (सहुरे) जसिसहोरिन् । उ० २ । ७३ । इति वह-उरिन् । हे शक्ति-मन् (हृतः) आहृतः (पधि) अस भुवि-लोट् । भव (हत्वाय) छान्दसः क्त्वा-ल्यपेः प्रयोगः । हत्वा (शत्रून्) वैरिणः (विभजस्व) विभज्य देहि (वेदः) विद्वल् लाभे-असुन् । धनम्-निघ० २ । १० । (ओजः) बलम् (मिमानः) माकु माने-कानच् । आविष्कुर्वन् (मृधः) अ० १ । २१ । २ । हिंसकान् शत्रून् (विनुदस्व) विविधं प्रेरय ॥

३—(सहस्व) अभिभव (मन्यो) म० १ । हे क्रोध ! (अभिमातिम्) अ० २ । ६ । ३ । अभिमन्तारं शत्रुम् (अस्मै) अस्य जनस्य हितार्थम् (रुजन्) भञ्जन् (मृणन्) हिंसन् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण नाशयन् (प्रेति) प्रगच्छ (शत्रून्)

तोड़ता हुआ, (मृणन्) मारता हुआ, (प्रमृणन्) कुचिलता हुआ (प्रेहि) चढ़ाई कर । (ते) तेरे (उग्रम्) उग्र (पाजः) बल को (ननु) कभी नहीं (आरुध्रे) वे रोक सके । (एकज) हे एक [परमात्मा] से उत्पन्न हुये (वशी) बलवान् (त्वम्) तू [उनको] (वशम्) वश में (नयासै) लेआ ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध करके अभिमान आदि शत्रुओं को जीतकर अपनी इन्द्रियों को वश में रखे ॥ ३ ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं
शिशधि । अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं
विजयाय कृणमसि ॥ ४ ॥

एकः । बहूनाम् । अस्मि । मन्यो इति । ईडिता । विशम्-
विशम् । युद्धाय । सम् । शिशधि । अकृत्तरुक् । त्वया । युजा ।
वयम् । द्यु-मन्तम् । घोषम् । वि-जयाय । कृणमस्मि ॥४॥

भावार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (एकः) अकेला ही तू (बहूनाम्) बहुत से शत्रुओं का (ईडिता) सत्कार करने वाला (अस्मि) है । (विशंविशम्) प्रत्येक प्रजा वा मनुष्य को (युद्धाय) युद्ध के लिये (सम्) यथावत् (शिशधि) शिक्षा दे वा तीक्ष्ण कर । (अकृत्तरुक्) हे पूर्ण कान्ति वाले ! (त्वया युजा)

शातयित्वन् वैरिणः (उग्रम्) प्रचण्डम् (ते) त्वदीयम् (पाजः) पातेर्बले जुद्ध च । उ० ४ । २०३ । इति पा रक्षणे-असुन, जुद्ध च । बलम्-निघ० २ । ६ । (ननु) न नुदति, प्रेरयतीति । हरिमितयोर्द्वयः । उ० १ । ३४ । इति न+गुप् प्रेरणे-कु, स च डित् । प्रश्नेनैव (आ) समन्तात् (रुध्रं) रुधिर आवरणे लिटि छान्दसं रूपम् । रुधरे । रुद्धवन्तः । आधुनवन्तः केचित्शत्रवः (वशी) वशयिता स्वतन्त्राः (वशम्) अधीनत्वम् (नयासै) लेटि रूपम् । नय । प्रायश्च शत्रून् (एकज) एकस्मात्परमेश्वराज्जात ! (त्वम्) ॥

४—(एकः) एकएव (बहूनाम्) अनेकानां शूणाम् (अस्मि) भवसि (मन्यो) हे क्रोध (ईडिता) ईड-तृच् । ईडिर्ध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा-निरु० ७ । १५ । याचकः । पूजकः सत्कारकः (विशंविशम्) प्रत्येकप्रजाम् । मनुष्यंवा-निघ० २ । ३ । (युद्धाय) संग्रामाय (सम्) सम्यक् (शिशधि) शास्त्र अनु-

तुभ मित्र के साथ (वयम्) हम लोग (द्युमन्तम्) हर्षयुक्त (घोषम्) ध्वनि [सिंहनाद वा मारु गीत] (विजयाय) विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध पूर्वक शत्रुओं पर धावा करके स्तुति, विजय और कीर्ति पाते हैं ॥ ४ ॥

विजे षकृदिन्द्र इवानवब्रवो अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह । प्रियं ते नामं सहुरे गृणीमसि विद्म तमुत्सं यत आयभूय ॥ ५ ॥

विजे ष-कृत् । इन्द्रः-इव । अनव-ब्रवः । अस्माकम् । मन्यो । इति । अधि-पाः । भव । इह । प्रियम् । ते । नाम । सहुरे । गृणीमसि । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आ-वभूय ॥५॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अनवब्रवः) नीच वचन न बोलने वाला, (विजेषकृत्) विजय करने वाला तू (इन्द्रः इव) बड़े प्रतापी पुरुष के समान (इह) यहां पर (अस्माकम्) हमारा (अधिपाः) बड़ा स्वामी (भव) हो । (सहुरे) हे शक्तिमान् (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय (नाम) नाम (गृणी-

शिष्टौ । यद्वा शो तनू करणे । लोटि छान्दसं रूपम् । विकरणस्य श्लौ द्वित्वमभ्यासस्येत्वम् । हेर्धित्वम् । शाधि शिक्षय । श्य तीक्ष्णो कुरु (अकृत्तरुक्) हे अछि-न्नदीप्ते । संपूर्णप्रकाश ! (त्वया) (युजा) मित्रेण (वयम्) (द्युमन्तम्) दिबु मेदे-क्विप् । हर्षवन्तम् (घोषम्) सिंहनादात्मकं ध्वनिम् (विजयाय) विजयार्थम् (कृण्मसि) कृण्मः कुर्मः ॥

५—(विजेषकृत्) वृत्षदि० । उ० । ३ । ६२ । इति जि जये-स । विजेषस्य विजयस्य कर्ता (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अनवब्रवः) अन् + अब्र + अन् व्यक्तायां वाचि-पचाद्यच् । निपातनात्साधुः । अनवनतवचनः । उन्नतवचनः (अस्माकम्) (मन्यो) हे क्रोध (अधिपाः) पा रक्षणे-विच् । अधिकंपालकः (भव) (इह) अत्र संग्रामे (प्रियम्) प्रीतिकरम् (ते) तव (नाम) (सहुरे) म० २ । हे शक्तिमान् (गृणीमसि) गृह शब्दे । गृणीमः स्तुमः (विद्म) जानीमः

मसि) हम सराहते हैं । (तम्) उस (उत्सम्) छोटा [परमेश्वर को] (विश्व) हम जानते हैं (यतः) जिससे (आबभूथ) तू आकार प्रकट हुआ है ॥५॥

भाषार्थ—जो मनुष्य अदीन बचन बोलते हैं वेही विजयी होकर कीर्ति पाते हैं ॥५॥

अभूत्या सहजा वज्र सायक सहो विभर्षि सहभूत
उत्तरम् । क्रत्वा नो मन्यो सह मेदधि महाधनस्य
पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

आ-भूत्या । सह-जाः । वज्र । सायक । सहः । विभर्षि । सह-
भूते । उत्-तरम् । क्रत्वा । नः । मन्यो इति । सह । मे-दी ।
एधि । महा-धनस्य । पुरु-हुत । सम्-सृजि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वज्र) बज्र रूप ! (सायक) हे शत्रुओं के अन्त करने वाले ! (सहभूते) हे सम्पत्ति के साथ वर्तमान ! (आभूत्या सहजाः) विभूति के साथ साथ उत्पन्न होने वाला तू (उत्तरम्) अधिक उत्तम (सहः) बल (विभर्षि) धारण करता है, (पुरुहूत) बहुतों से आवाहन किये हुए (मन्यो) क्रोध ! (महाधनस्य) बड़े धन प्राप्त कराने हारे संग्राम के (संसृजि) भिड़-

(तम्) (उत्सम्) अ० ३ । २४ । ४ । निर्भरं । कूपम् । परमेश्वरमित्यर्थः (यतः) यस्मात्स्थानात् (आ बभूथ) आगत्य प्रादुर्बभूविथ ॥

६—(आभूत्या) विभूत्या (सहजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति जनो-विट् । विड्वन्नोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । सहजायते प्रादुर्भवतीति सहजाः (वज्र) अ० १ । ७ । ७ । (सायक) यो अन्त-कर्मणि-एवुल्, युक् च । हे अन्तकर (सहः) बलम् (विभर्षि) धारयसि (सह-भूते) आत्मना सह भूतिः सम्पत्तिर्यस्य तत्संबुद्धौ (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (क्रत्वा) कृञः कतुः । उ० १ । ७६ । क्रतुना कर्मणा-निघ० २ । १ । प्रक्षया-निघ० ३ । ६ । (नः) अस्माकम् (मन्यो) (सह) सार्धम् (मेदी) मेद-इनि । स्नेही (एधि) भव (महाधनस्य) महान्ति धनानि प्राप्यन्ते यस्मिन् तस्य महाधनस्य

जाने पर (क्रथा सह) बुद्धि के साथ (नः) हमारा (मेदी) स्नेही (पथि) हो ॥६॥

भाषार्थ—मनुष्य संग्राम में बुद्धि पूर्वक क्रोध करके विजयी होते हैं ॥६॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणाश्च
मन्युः । भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप
नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

वस-सृष्टम् । धनम् । उभयम् । सम्-आकृतम् । अस्मभ्यम् ।
धत्ताम् । वरुणः । च । मन्युः । भियः । दधानाः । हृदयेषु ।
शत्रवः । परा-जितासः । अप । नि । लयन्ताम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) श्रेष्ठ शूर (च) और (मन्युः) क्रोध (संसृष्टम्)
संग्रह किया हुआ और (समाकृतम्) उगाही किया हुआ (उभयम्) दो प्रकार
का [आत्मिक और समाजिक] (धनम्) धन (अस्मभ्यम्) हमें (धत्ताम्)
देवे । (पराजितासः) हारे हुए, और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) अनेक
भय (दधानाः) रखते हुए (शत्रवः) शत्रु लोग (अप = अपक्रम्य) भागकर
(नि लयन्ताम्) खिसक जावे ॥७॥

भाषार्थ—शूर पुरुष यथानीति क्रोध धारण करके शत्रुओं को हराते
और बहुत धन प्राप्त करके अपनी और समाज की उन्नति करते हैं ॥७॥

संग्रामस्य-निघ० २ । १७ । (पुरुहूत) हे बहुभिराहृत ! (संसृजि) सृज-क्विप् ।
संसर्गे संयोजने सति ॥६॥

७—(संसृष्टम्) सृज विसर्गे-क्त । संगृहीतम् (धनम्) वित्तम् (उभ-
यम्) संख्याया अवयवे तयप् । पा० ५ । २ । ४२ । इति उभ-तयप् । उमादुवात्तो
नित्यम् । पा० ५ । २ । ४३ । इति तयपोऽयजादेशः । उभयविधम् । आत्मिकं
समाजिकं चेत्यर्थः (समाकृतम्) समानीतम् (अस्मभ्यम्) (धत्ताम्) प्रयच्छ-
ताम् । दत्ताम् (वरुणः) वरणीयः स्वीकरणीयः शूरः (च) समुच्चये (मन्युः)
म० १ । क्रोधः (भियः) जिभी भये-संपदादिन्वात् क्विप् । भयानि (दधानाः)
धाग्यन्तः (हृदयेषु) मनुःसु (शत्रवः) अरयः (पराजितासः) पराजिताः ।
अभिभूताः (अप) अपक्रम्य (नि) नितराम् । नीचैः (लयन्ताम्) लीङ् श्ले-
षणे-लङ् । लयं प्रलयं विनाशं प्राप्नुवन्तु । प्रच्छन्नं वर्तन्ताम् ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-७ ॥ मन्व्युर्देवता ॥ १ जगती, २-७ त्रिष्टुप् ।

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

यस्तै मन्व्योऽविधत् वज्र सायकसह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् । सहायाम् दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥ १ ॥

यः । ते । मन्व्योऽइति । अविधत् । वज्र । सायक । सहः । ओजः । पुष्यति । विश्वम् । आनुषक् । सहयाम् । दासम् । आर्यम् । त्वया । युजा । वयम् । सहः—कृतेन । सहसा । सहस्वता ॥ १ ॥

भाषार्थ - (वज्र) हे वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (मन्व्यो) दीप्तिमान् क्रोध ! (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरी (अविधत्) सेवा की है, वह (विश्वम्) सब (सहः) शरीर बल और (ओजः) समाज बल (आनुषक्) लगानार (पुष्यति) पुष्ट करता है । (सहस्कृतेन) बल से उत्पन्न हुए, (सहस्वता) बलवान्, (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (सहसा) बल से (वयम्) हम लोग (दासम्) दास, काम बिगाड़ देने वाले मूर्ख और (आर्यम्) आर्य अर्थात् विद्वान् का (सहायाम्) निर्णय करें ॥ १ ॥

१—(यः) पुरुषः (ते) तव (मन्व्यो) अ० ४ । ३१ । १ । हे दीप्तिमान् क्रोध ! (अविधत्) विध्व विधाने—लङ् । विधेम परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचरणं शुश्रूषणं कृतवान् (वज्र) हे व्यापनशील वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (सहः) शारीरिक बलम् (ओजः) सामाजिक बलम् (पुष्यति) वर्धयति (विश्वम्) सर्वम् (आनुषक्) अनुपूर्वात् वज्र सङ्के—क्विप् । अनिविधिताम् । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अनोरकारस्थ दीर्घश्छान्दसः । अनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति । निरु० ६ । १४ । अनुषक्तमुपर्परितग्नम् । निरन्तरम् (सहायाम्) वेत्तौपः । वि + षह निर्णये । विषह्याम निर्णयाम् (दासम्) उदसिरे

भाषार्थ—जो मनुष्य बुद्धि पूर्वक क्रोध का आराधन करते हैं वे भीतरी और बाहिरी बल बढ़ा कर मूर्खों का निरादर और विद्वानों का आदर करके कीर्त्ति पाते हैं ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है । म० १० । सू० ८३ । वहां सूक्त के ऋषि मन्यु तापस और देवता मन्यु हैं ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जात-
वेदाः । मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो-
तपसा सुजोषाः ॥ २ ॥

मन्युः । इन्द्रः । मन्युः । एव । आस । देवः । मन्युः । होता ।
वरुणः । जात-वेदाः । मन्युः । विशः । ईडते । मानुषीः ।
याः । पाहि । नः । मन्यो इति । तपसा । सु-जोषाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मन्युः) प्रकाशमान क्रोध (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (मन्युः) क्रोध (एव) ही (देवः) दिव्यगुण वाला, (मन्युः) क्रोध (होता) दाता वा ग्रहीता, (वरुणः) वरणीय अङ्गीकारयोग्य, और (जातवेदाः) धन प्राप्त कराने वाला (आस) हुआ है । (मन्युः=मन्युम्) क्रोध को (याः) उद्योग करने वाली (मानुषीः=मनुष्यः) मनुष्य जातीय (विशः) प्रजायें (ईडते) सरा-हती हैं । (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) ऐश्वर्य से (सजोषाः) प्रीति करता हुआ तू (नः) हमें (पाहि) बचा ॥२॥

उत्क्षेपे-घञ् । दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि-निरु० २ । १७ । उत्क्षेपयि-
तारम् । दस्युं चोरम् (आर्यम्) अ० ४ । २० । ४ । श्रेष्ठं । विद्वान्मन् । (विद्या)
मन्युना (युजा) सहायेन (वयम्) पुरुषार्थिनः पुरुषाः (सहस्कृतेन) सहसा
बलेनोत्पादितेन (सहसा) बलेन (सहस्वता) बलघता ॥

२—(मन्युः) दीप्यमानः क्रोधः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (एव) निश्चयेन
(आस) अस्तेर्लिटि छान्दसो भूभावाभावः । बभूव (देवः) दिव्यगुणयुक्तः ।
प्रकाशमानः (होता) दाता ग्रहीता वा (वरुणः) श्रेष्ठः । (जातवेदाः) अ० १ ।
७ । २ । जातधनः (मन्युः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति

भाषार्थ—यथावत् प्रयुक्त क्रोध के मुख पहिले से बिदिन हैं नीतिज्ञ पुरुष विधिपूर्वक क्रोध से ऐश्वर्य बढ़ा कर रक्षा करते हैं ॥२॥

(मन्युर्विशः) के स्थान में सायण भाष्य और ऋग्वेद में [मन्युं विशः] पद हैं ॥

अभीहि मन्यो त्वसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि
शत्रून् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्वा
भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

अभि । इहि । मन्यो इति । त्वसः । तवीयान् । तपसा । युजा ।
वि । जहि । शत्रून् । अमित्र-हा । वृत्र-हा । दस्यु-हा । च ।
विश्वा । वसूनि । आ । भर । त्वम् । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे प्रकाशमान क्रोध (त्वसः) महान् से भी (तवीयान्) अति महान् तू (अभीहि) इधर आ, (तपसा युजा) अपने ऐश्वर्य, मित्र के साथ (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) मिटा दे । (च) और (अमित्रहा) पोड़ा देने वालों का मारनेवाला, (वृत्रहा) अन्धकार नाश करने वाला, (दस्युहा) डाकुओं का मारनेवाला (त्वम्) तू (विश्वा) सब (वसूनि) धनों को (नः) हमारे लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ३

द्वितीयार्ये प्रथमा । मन्युं क्रोधम् (विशः) प्रजाः (ईडते) स्तुवन्ति (मानुषीः) मनोजार्तावज्यतौ पुक्च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-अञ् पुक् च टिड्ढाण० । पा० ४ । १ । १५ । इति-डीप् यङ् । जनेरुसिः । उ० २ । ११५ । इति मनु अवबोधने-उसि । मनुष्-अण्, डीप् । मानुष्यः । मनुष्यजातीयाः (याः) या गतौ-ङ, टाप् । उद्योगशीलाः (पाडि) रक्ष (नः) अस्मान् (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) तप संतापैश्वर्ययोः-असुन् । प्रतापेन । ऐश्वर्येण (सजोषाः) जूषी-असुन् । समानप्रतिः ॥

३—(अभीहि) अभिमुखं गच्छ (मन्यो) हे क्रोध (त्वसः) तू सौत्रो धातुर्गतिवृद्धिर्हिसासु-असुन् । त्वस इति महतो नामधेयम्—निरु० ५ । ६ त्वः, इति बलनाम-निघ० २ । ६ । महतः प्रवृद्धादपि (तवीयान्) तोतृ-ईयसुन् तृलोपः । प्रवृद्धतरः (तपसा) सामर्थ्येन (युजा) सहायेन (वि जहि) विनाशय

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य नीति पूर्वक क्रोध से धन प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमा-
तिषाहः । विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः
पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

त्वम् । हि । मन्यो इति । अभिभूति-ओजाः । स्वयम्-भूः ।
भामः । अभिमाति-सहः । विश्व-चर्षणिः । सहुरिः । सहीयान् ।
अस्मासु । ओजः । पृतनासु । धेहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध (त्वम् हि) तू ही (अभि भूत्योजाः) शत्रु
पराजय का सामर्थ्यवाला, (स्वयंभूः) अपने आप उत्पन्न होनेवाला, (भामः)
प्रकाशमान और (अभिमातिषाहः) अभिमानीयों का हरा देनेवाला है । (विश्व-
चर्षणिः) सब देखनेवाला, (सहुरिः) शक्तिमान्, (सहीयान्) अधिक बलवान्
तू (पृतनासु) संग्रामों के बीच (अस्मासु) हम में (ओजः) पराक्रम
(धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति कुशल और कर्म कुशल होकर दुष्टों पर
क्रोध करते हैं, वे ही संग्रामों में विजयी होते हैं ॥ ४ ॥

(शत्रून्) अरीन् (अभिभ्रहा) (अ० १ । १६ । २ । पीडकनाशकः (वृत्रहा)
शत्रुहन्ता (दस्युहा) चोरादीनां घातकः (च) (विश्वा) सर्वाणि (वसूनि)
धनानि (आ) समन्तात् (मर) धारय (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् ॥

४—(त्वम्) (हि) (मन्यो) हे दीप्यमान क्रोध (अभिभूत्योजाः) अभि-
भूतये शत्रुपराजयाय ओजो बलं यस्य स तथाभूतः (स्वयंभूः) स्वयमेव
आत्मन्युत्पद्यमानः (भामः) अतिशुभसुखः । उ१ । १४० । इति भा दीप्तौ-मन् ।
प्रदीप्यमानः (अभिमातिषाहः) वह शत्रौ अभिमवे च—पञ्चाद्यच् । छान्दसो
दीर्घः । अभिमातीनामभिमानिनां पराजेता (विश्वचर्षणिः) विश्वचर्षणिः—
पश्यतिकर्मा-निघ० ३ । ११ । विश्वस्य सर्वस्य द्रष्टा (सहुरिः) सू० ३१ । १ ।
शक्तिमान् (सहीयान्) सेदृतरः । बलवत्तरः (अस्मासु) (ओजः) पराक्रमम्
(पृतनासु) संग्रामेषु (धेहि) धारय ॥

अ॒भा॒गः सन्नप॒ परै॒तो अस्मि॒ तव॒ क्रत्वा॑ तविषस्य॑
प्रचेतः । तं त्वा॑ मन्यो॑ अक्र॒तुर्जिही॑डाहं स्वा॑ त॒नूर्बल॑-
दावा॑ न एहि॑ ॥ ५ ॥

अ॒भा॒गः । सन् । अप॑ । परै॒तः । अस्मि॒ । तव॑ । क्रत्वा॑ ।
तविषस्य॑ । प्र-चै॒तः । तम् । त्वा॑ । मन्यो॑ इति॑ । अक्र॒तुः । जिही॑ड ।
अ॒हम् । स्वा॑ । त॒नूः । बल॑-दावा॑ । नः । आ॑ । इहि॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतः) हे उत्तमज्ञानवाले ! मैं (अभागः सन्) अभागा
होकर (तव तविषस्य) तुझ बलवान् के (क्रत्वा) कर्म वा बुद्धि से (अप=
अपेत्य) हटकर (परेतः) दूर पड़ा हुआ (अस्मि) हूँ । (मन्यो) हे क्रोध
(अक्रतुः) बुद्धि हीन वा कर्म हीन (अहम्) मैं ने (तम् त्वा) उस तुझ को
को (जिहीड) क्रुद्ध करदिया है, (बलदावा) बलदाता तू (स्वा तनूः) अपने
स्वरूप से (नः) हमको (आ इहि) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनीतिज्ञ पुरुष यथावत् क्रोध न करके दरिद्र और बुद्धिहीन
होजाते हैं, इससे मनुष्यों को यथावत् वर्तना चाहिये ॥ ५ ॥

५—(अभागः) भगानामैश्वर्याणां समूहः-इति भग-अण् । ऐश्वर्यसमूह-
रहितः । सर्वथा निर्धनः (सन्) वर्तमानः सन् (अप) अपेत्य (परेतः) परा-
गतः (अस्मि) वर्ते (तव) (क्रत्वा) अ० ४ । ३१ । ६ । कर्मणा प्रज्ञया वा
(तविषस्य) अ० ४ । १५ । २ । महतः पूजनीयस्य (प्रचेतः) हे प्रकृष्ट-
ज्ञान (तम्) (त्वा) त्वाम् (अक्रतुः) अप्रज्ञः, बुद्धिहीनः कर्महीनो वा (जिहीड)
हेड्ड अनादरे क्रोधे च । लिटि छान्दसं रूपम् । हेड्डते, क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २ ।
१२ । जिहीडे क्रुद्धं कृतवानस्मि (स्वा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेः सुः ।
स्वया आत्मीयया (तनूः) उक्तसूत्रेण विभक्तेः सुः । तन्वा । स्वरूपेण (बलदावा)
आतो मनिन्स्वनि० । पा० ३ । २ । ७४ । इति बल + डुदाञ् दाने—वनिप् ।
बलस्यदाता (नः) अस्मान् (आ इहि) आगच्छ ॥

अ॒र्थं ते॒ अ॒स्म्युप॑ न॒ एहा॒र्वाङ् प्र॑तीचीनः स॒हुरे वि॒-
श्व॑दावुन् । म॒न्यो वज्रि॑न्नाभि न॒ आ व॑वृत्स्व ह॒नाव
द॒स्यू॑रुत बो॒ध्यापेः ॥ ६ ॥

अ॒यम् । ते॒ । अ॒स्मि॑ । उप॑ । नः । आ । इ॒हि । अ॒र्वाङ् । प्र॑-
तीचीनः । स॒हुरे । वि॒श्व-दा॑वुन् । म॒न्यो इति॑ । वज्रि॑न् । अ॒भि ।
नः । आ । व॒वृत्स्व । ह॒नाव । द॒स्यू॑न् । उ॒त । बो॒धि । आ॒पेः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह मैं (ते) तेरा (अस्मि) हूँ । (सहुरे) हे
समर्थ ! (विश्वदावन्) हे सर्वदाता ! (प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलता हुआ तू (नः)
हमारे (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (उप एहि) समीप आ (वज्रिन्) हे वज्र-
धारी (मन्यो) क्रोध ! (नः अभि) हमारी ओर (आ ववृत्स्व) वर्तमान होजा,
(उत) और (आपेः) अपने बन्धु का (बोधि) बोधकर, [जिससे हम दोनों]
(दस्यून्) दुष्टों को (हनाव) मारें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब प्रकार विचार करके दुष्टों पर क्रोध करते
हैं वे विजयी होते हैं ॥ ६ ॥

अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिणतो भ॒वा नोऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जह्नु॒नाव
भूरि॑ । जुहोमि॑ ते ध॒रुणं॑ म॒ध्वे अ॒ग्रमु॑भावु॒पांशु
प्र॑ध॒मा पि॒त्राव ॥ ७ ॥

६—(अयम्) पुरुषार्थी (ते) तव (अस्मि) (उप) समीपे (नः) अस्मा-
कम् (आ इहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (प्रतीचीनः) विभाषाश्चेद्विक्-
स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति प्रत्यच्—स्वार्थे ल । अल्लोपो दीर्घश्च ॥ प्रत्यञ्चन् ।
प्रत्यक्षं गच्छन् (सहुरे) हे शक्तिमन् (विश्वदावन्) विश्व + ङुदाञ्—वनिप् ।
हे सर्वस्य दाता । (मन्यो) हे क्रोध (वज्रिन्) हे वज्रोपेत (अभि)
अपेक्षित्य (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (ववृत्स्व) छान्दसः शपः श्लुः ।
वर्तस्व (हनाव) आवां हिनसाव (दस्यून्) उपक्षपयितुं दुष्टान् (उत)
अपि च (बोधि) बुध अवगमने लोटि छान्दसं रूपम् । बुध्यस्व । बोधं कुरु (आपेः)
इत्यादिभ्यः । वा० पा० ३ । ३ । १०८ इति आप्लु इयात्तौ—इण् । बन्धोः ॥

अभि । प्र । इहि । दक्षिणतः । भव । नः । अध । वृत्राणि ।
जङ्घनाव । भूरि । जुहोमि । ते । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् ।
उभौ । उप-अंशु । प्रथमा । पिबाव ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अभि प्र इहि) आगे आ, और (नः) हमारी (दक्षिणतः)
दहिनी ओर (भव) वर्त्तमान हो, (अध) तब (भूरि) बहुत से (वृत्राणि)
अन्धकारों को (जङ्घनाव) हम दोनों मिटा देवें । (मध्वः) मधुर रस का
(अग्रम्) श्रेष्ठ (धरुणम्) धारण करने योग्य [स्तुतिरूप] रस (ते) तुम्हें
(जुहोमि) भेंट करता हूँ । (प्रथमा = ०-मौ) पहिले वर्त्तमान (उभौ) हम दोनों
(उपांशु) एकान्त में (पिबाव) [रसपान] करें ॥७॥

भाषार्थ—महात्मा पुरुष आत्मदोषों पर क्रोध करके अनेक अन्धकारों
को मिटाते हैं और वे ही इस मन्वुस्तुति को एकान्त में सूक्ष्म रूप से विचारकर
अधिक आनन्द भोगते हैं ॥७॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

सर्वरक्षणोपदेशः—सब प्रकार की रक्षा का उपदेश ॥

अर्प नः शोशु'चदुघमग्नै शुशुग्ध्या रयिम् ।

अर्प नः शोशु'चदुघम् ॥ १ ॥

७—(अभि) (प्र) (इहि) गच्छ (दक्षिणतः) दक्षिणोत्तराभ्या-
मतसुच् । पा० ५ । ३ । २८ । इति अतसुच् । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन
(भव) (नः) अस्माकम् (अध) अथ । अनन्तरम् (वृत्राणि) तमोसि
(जङ्घनाव) हन्ते र्यङ् लुगन्ताल् लोटि । आहुत्तमस्य पिब्व । पा० ३ । ४ । ५२ ।
इति आडागमः । आवामतिशयेन हनाव (भूरि) भूरीणि बहूनि (जुहोमि)
ददामि (ते) तुभ्यम् (धरुणम्) अ० ३ । १२ । ३ । धर्तव्यम् । स्तुतिरूपं रसम्
(मध्वः) मधोः । मधुररसस्य (अग्रम्) श्रेष्ठं सादभूतम् (उभौ) अहं च
मन्वुश्च (उपांशु) निर्जने देशे (प्रथमा) प्रथमैः । अत्र भयः पूर्वभाषिनी सन्तौ
(पिबाव) आर्वां पानं करवा ॥

अपं । नः । शोशु'चत् । अघम् । अग्ने । शुशुग्धि । आ ।
रयिम् । अपं । नः । शोशु'चत् ॥ अघम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ।
(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (रयिम्) धनको (आ) अच्छे प्रकार
(शुशुग्धि) सींच । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ १ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचारते हुए दुष्कर्म के त्याग
और सुकर्म के ग्रहण से विद्या रूप और सुवर्ण आदि रूप धन प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ सू० ६७ ॥

सुक्षे त्रिया सु'गातुया वसुया च यजामहे ।

अपं नः शोशु'चदघम् ॥ २ ॥

सु-क्षे त्रिया । सु-गातुया । वसु-या । च । यजामहे ।

अपं । नः । शोशु'चत् । अघम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुक्षेत्रिया) उत्तम खेत के लिये, (सुगातुया) उत्तम भूमि
के लिये (च) और (वसुया) धनके लिये (यजामहे) हम [परमेश्वर को]
पूजते हैं । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ २ ॥

१—(अप) दूरीभूय (नः) अस्माकम् (शोशुचत्) शुचिर् शौचे क्लेदे च,
यङ् लुगन्तात् लोटि अडागमः । अत्यन्तं शुच्यात् विनश्येदित्यर्थः (अघम्) पापम्
(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (शुशुग्धि) शुचिर् क्लेदे—लोट् । अन्तर्बल-
त्यर्थः । श्यनः श्लुः । हुक्लभ्यो हेयिः । पा० ६ । ४ । १०१ । इति धिः । चोः कुः ।
पा० ८ । २ । ३० । इति कुत्वम् । क्लेदय । सिंच (आ) समन्तात् (रयिम्)
धनम् । अन्यद् गतम् । आदरार्थं पुनः प्रयोगः ॥

२—(सुक्षेत्रिया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० वा० ७ । १ । ३६ ।
इति ऊँ ईयाजादेशः । विश्वावन्तोदासः शोभनाय क्षेत्राय (सुगातुया) । सुपर्ण
सुलुक० । पा० ७ । १ । ३६ । इति ऊँर्याच् । गातुः—पृथिवीनाम-निघ० १ । १ ।

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर अनिष्टों को मिटाकर पुरुषार्थ से अपनी प्रभुता बढ़ावे ॥ २ ॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकांसश्च सुरयः ।

अप नः शोशुचदघम् ३ ॥

प्र । यत् । भन्दिष्ठः । एषाम् । प्र । अस्माकांसः । च ।

सुरयः । अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस प्रकार से (एषाम्) इन प्राणियों के मध्य (भन्दिष्ठः) अत्यन्त सुखी होकर (प्र) प्रकृष्ट [होजाऊँ] (च) और (अस्माकांसः) हमारे (सुरयः) विद्वान् लोग (प्र) प्रकृष्ट [होवें] [उसी प्रकार से] (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुलजावे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर दरिद्रता आदि दुःखों को मिटावे ॥ ३ ॥

प्र यत् ते अग्ने सुरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।

अप नः शोशुचदघम् ४ ॥

प्र । यत् । ते । अग्ने । सुरयः । जायेमहि । प्र । ते । वयम् ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ४ ॥

शौभनभूमिप्राप्तये (वसुया) पूर्वसूत्रेण्डोर्याच् । वसुने धनाय (च) समुच्चये (यजामहे) परमेश्वरं पूजयामः । अन्यत्पूर्ववत् ॥ २ ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण भवानि (यत्) यथा (भन्दिष्ठः) भवि कल्याणे सुखे स्तुतौ च—तृच्, इष्टन् । तुरिष्ठेमेयः सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृ लोपः । भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५ । २ । स्तोतृतमः सुखितमः (एषाम्) मनुष्यादिप्राणिनां मध्ये (प्र) प्रकर्षेण भवन्तु (अस्माकांसः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद्—अण् । तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । पा० ४ । ३ । इति अस्माकादेशः । अणि वृद्धप्रभावश्छान्दसः । असुनागमश्च । आस्माकः । अस्मदीयाः (च) (सुरयः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वांसः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमात्मन् (सूरयः) विद्वान् लोग (यत् ते) जिस तेरे (प्र=प्रजायन्ते) प्रजा हैं, (ते) उस तेरे ही (वयम्) हम लोग (प्र जायेमहि) प्रजा होवे । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के समान परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर सदा सुखी रहें ॥ ४ ॥

प्र यदुग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ५ ॥

प्र । यत् । अग्नेः । सहस्वतः । विश्वतः । यन्ति । भानवः ।

अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (सहस्वतः) बलवान् (अग्नेः) परमात्मा के (भानवः) अनेक प्रकाश (विश्वतः) सब ओर (प्र) भली भाँति (यन्ति) चलते रहते हैं । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनेक सूक्ष्म और स्थूल रचनाओं को देखकर अपने विघ्नों को मिटावे ॥ ५ ॥

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

४—(प्र) इत्यस्य, जायेमहि, इति क्रियया सह सम्बन्धः । प्रजायन्ते प्रजाः सन्ति (यत्) यस्य (ते) तव (अग्ने) परमात्मन् (सूरयः) विद्वान्सः (प्र जायेमहि) प्रजा भवेम (ते) तस्य तव (वयम्) उपासकाः । अन्यद्गतम् ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (यत्) यस्मात् (अग्नेः) परमात्मनः (सहस्वतः) बलवतः (विश्वतः) सर्वतः (यन्ति) गच्छन्ति (भानवः) प्रकाशाः । अन्यत् पूर्वघत् ॥

त्वम् । हि । विश्वतः-मुख । विश्वतः । परि-भूः । असि ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(हि) जिस कारण से (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (त्वम्) तू (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः) बस में रखने वाला (असि) है । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समान (विश्वतोमुख) होकर सदा चैतन्य रहे और अनिष्टों को मिटा कर अपनी वृद्धि करें ॥ ६ ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारथ ।

अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥

द्विषः । नः । विश्वतः-मुख । अति । नावा-इव । पारय ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान, सर्वोपदेशक सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (द्विषः) द्वेषियों को (अति=अतीत्य) लांघ कर (नः) हमें (पारय) पार लगा, (नावा इव) जैसे नाव से [समुद्र को पार करते हैं] । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे पोत द्वारा समुद्र पार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से सब दोषों को हटा कर सुखी रहे ॥ ७ ॥

६—(त्वम्) (हि) (विश्वतोमुख) हे मुखधत् सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम परमात्मन् (विश्वतः) सर्वतः (परिभूः) अ० ३ । २१ । ४ । ग्रहीता व्यापकः (असि) अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(द्विषः) द्वेष्टन् शत्रून् (नः) अस्मान् (विश्वतोमुख) म० ६ (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (नावा इव) यथा नौकया (पारय) पारं गमय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

स नः सिन्धु'मिव ना'वति पर्षा स्वस्तये ।

अप नः शोशु'चदुघम् ॥ ८ ॥

सः । नः । सिन्धु'म्-इव । ना'वा । अति । पर्ष । स्वस्तये ।

अप । नः । शोशु'चत् । अघम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) सो तू (नः) हमें (स्वस्तये) आनन्द के लिये (पर्ष) पार लगा, (इव) जैसे (नावा) नावसे (सिन्धुम्) समुद्र को (अति=अतीत्य) लांघ कर [पार करते] हैं । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में निष्ठा करके पुरुषार्थ पूर्वक दुःख सागर से पार होकर सुखी होंवें जैसे नाव के आश्रय से जलयात्री समुद्र पार करके प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-८ ॥ ओदनो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५ एष यज्ञानामिति त्रिष्टुप्, एतात्स्त्वेति द्विपदा जगती, ६, ७ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदे'व्यमुदरमे'दुनस्य ।
छान्दांसि पृक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टा'री जातस्तपसो-
ऽधि युज्ञः ॥ १ ॥

८—(सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (सिन्धुम् इव) यथा समुद्रं तथा (नावा) नौकया (अति) अतीत्य (पर्ष) पृ पातनपूरणयोः, लेटि अडागमः । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति-सिप् । पारं प्रापय । (स्वस्तये) आनन्दाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ब्रह्म । अस्य । शीर्षम् । बृहत् । अस्य । पृष्ठम् । वाम-देव्यम् ।
उदरम् । ओदनस्य । छन्दांसि । पक्षौ । मुखम् । अस्य ।
सत्यम् । विष्टारी । जातः । तपसः । अधि । यज्ञः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (ओदनस्य) सेवनसमर्थ वा अन्नरूप परमे-
श्वर का (शीर्षम्) शिर (ब्रह्म) वेद है, (अस्य) इसकी (पृष्ठम्) पीठ
(बृहत्) प्रवृद्ध जगत् और (उदरम्) उदर (वामदेव्यम्) मनोहर परमात्मा
से जताया गया [भूतपञ्चक] है । (अस्य) इसके (पक्षौ) दोनों पार्श्व
(छन्दांसि) आनन्दप्रद वा पूजनीय कर्म और (मुखम्) मुख (सत्यम्) सत्य
है । (विष्टारी) वह विस्तार वात्सा (यज्ञः) पूजनीय परमात्मा (तपसः) अपने
ऐश्वर्य से (अधि) सब से ऊपर (जातः) प्रकट हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी
है, उसकी उपासना सब मनुष्य नित्य करें ॥ १ ॥

अनुस्थाः पुताः पवनेन शुद्धाः शुच्यः शुचिमपि यन्ति
लोकम् । नैषां शिशनं प्र देहति जातवेदाः स्वर्गं लोके
बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥

१—(ब्रह्म) वेदः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (शीर्षम्) शिरः (बृहत्) प्रवृद्धं
जगत् (पृष्ठम्) पृष्ठभागः (वामदेव्यम्) वामदेवाङ्कं ऽथ ऽङ्गौ । पा० ४ । २
६ । इति वामदेव-ङ्ग । वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा—इति दयानन्दभाष्ये
यजु० १२ । ४ । वामो बलगुरेव देवः, वामदेवः परमेश्वरः, तेन विज्ञापितं भूत-
पञ्चकम् (उदरम्) उदरस्थानीयम् (ओदनस्य) अ० ४ । १४ । ७ । सेवन-
शीलस्य प्रवर्धकस्य अन्नरूपस्य वा परमात्मानः (छन्दांसि) चन्देरादेश्च छुः ।
उ० ४ । २१६ । इति चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छुः । छन्दति, अर्चति कर्मा-
निघ० ३ । १४ । छन्दांसि ह्लादनात्—निरु० ७ । १२ । आह्लादकर्माणि । अर्चनीय-
कर्माणि (पक्षौ) पक्ष परिग्रहे—अच् । पार्श्वौ (मुखम्) (सत्यम्) याथा-
र्थम् (विष्टारी) अत इति ठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति विस्तार—इति । वि-
स्तारवान् (जातः) प्रादुर्भूतः (तपसः) स्वैश्वर्यात् (अधि) उपरि (यज्ञः)
यजनीयः । ओदनः । परमेश्वरः ॥

अनुस्थाः । पूताः । पवनेन । शुद्धाः । शुचयः । शुचिम् । अपि ।
यन्ति । लोकम् । न । एषाम् । शिशनम् । प्र । दहति ।
जात-वेदाः । स्वुः-गे । लोके । बहु । स्वैणम् । एषाम् ॥२॥

भाषार्थ—(अनुस्थाः) न गिराने योग्य (पवनेन) शुद्ध आचरण से
(पूताः) शुद्ध किये गये, (शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव, (शुचयः) प्रकाशमान
महारमा लोग (अपि) ही (शुचिम्) ज्योतिः स्वरूप (लोकम्) लोक [पर-
मात्मा] को (यन्ति) पाते हैं । (जातवेदाः) प्राणियों का जाननेवाला परमेश्वर
(एषाम्) इनकी (शिशनम्) गति वा सामर्थ्य को (न) नहीं (दहति)
जलाता है । [इस लिये कि] (एषाम्) इन [महात्माओं] का (स्वैणम्)
सृष्टि का हितकर्म (स्वर्गे) अच्छे प्रकार पाने योग्य सुख दायक (लोके)
लोक [परमात्मा] में (बहु) बहुत है ॥ २ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय शुद्ध स्वभाव योगी जन ही परमात्मा को पाते हैं,
और उस जगदीश्वर के सहारे में रह कर संसार का हित करते हुए सर्वत्रगति
होते हैं ॥ २ ॥

२—(अनुस्थाः) असिस्त्रिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु
क्षेपणे—क्थिन् । इति अस्थि क्षेपणम् । छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । इति
अस्थि शब्दस्य अनङ् आदेशः । अनसनीयाः । अक्षेपणीयाः । अनिवारणीयाः,
इत्यर्थः (पूताः) पवित्रीकृताः (पवनेन) शोधनकर्मणा (शुद्धाः) निर्मलाः
(शुचयः) दीप्यमानाः परमयोगिनः (शुचिम्) दीप्यमानं ज्योतिर्मयम् (अपि)
अवधारणे (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (लोकम्) परब्रह्मधाम (न) निषेधे (एषाम्)
योगिनाम् (शिशनम्) इण्सञ्जि० । उ० ३ । २ । इति शश प्लुगत्तौ-नक् ।
शिशनं शनथते—निरु० । ४ । १६ । गतिम् । बलम् (प्र) (दहति) भस्मी-
करोति (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । जातानां वेदिता परमेश्वरः ((स्वर्गे)
सु+अर्ज-वञ् । सुष्ठु अर्जनीये । सुखप्रदे (लोके) स्थाने (बहु) विपुलम्
(स्वैणम्) स्त्यायतेर्ङ् । उ० । ४ । १६६ । इति स्त्यै शब्दसंघातयोः—ङ् । लोपो
व्यावृत्तिः । पा० ६ । १ । ६६ । इति यलोपः । टित्वात् ङीप् । इति स्त्री संहतिः ।
स्त्रीपुंसाभ्यां न जस्नञौ भवनात् । पा० ४ । १ । ८७ । तस्मै हितम् । पा० ५ ।
१ । ५ । इति हितार्थे नञ् । स्त्रीभ्यः संहतिभ्यः सृष्टिभ्यो हितम् (एषाम्) ॥

विष्टारिणमोदुनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा
चन । आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते
सोम्येभिः ॥ ३ ॥

विष्टारिणम् । ओदुनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । अवर्तिः ।
सचते । कदा । चन । आस्ते । यमे । उप । याति । देवान् ।
सम् । गन्धर्वैः । मदते । सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा लोग (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओद-
नम्) सेचन-समर्थ वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय-में] (पचन्ति) परिपक्व
करते हैं, (एनान्) इन लोगों को (अवर्तिः) दरिद्रता (कदा चन) कभी भी
(न) नहीं (सचते) मिलती है । [जो पुरुष] (यमे) नियम वा न्यायकारी
परमात्मा में (आस्ते) रहता है, [वह] (देवान्) उत्तम गुणों को (उप)
अधिक-अधिक (याति) पाता है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी आदि लोकों वा
वेद वाणियों को धारण करने वाले (सोम्येभिः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य योग्य
महात्माओं से (सम्) मिल कर (मदते) आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—योगी जन परमात्मा में श्रद्धा रखकर सदा उदारचित्त
रहते हैं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष ही विद्वानों के सत्सङ्ग से उत्तम उत्तम गुण
पाकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

३—(विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (ओदनम्) म० १ । सेचन-
शीलम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (ये) महात्मानो योगिनः (पचन्ति) पक्वं
श्रद्धया दृढं कुर्वन्ति (न) निषेधे (एनान्) एतान् योगिनः (अवर्तिः)
हृषिषिरुहिवृतिः । उ० ४ । ११६ । इति कृतु वर्तने-इन् । वर्ति वृत्तिः, जीविका ।
तदभावः अवर्तिः । दासिद्रथम् (सचते) समवैति यः (कदा चन) कदाचिदपि
(आस्ते) तिष्ठति (यमे) नियमे न्यायकारिणि परमात्मनि वा (उप) अधिकम्
(याति) प्राप्नोति सः (देवान्) दिव्यशुणान् (सम्) सह भूत्वा (गन्धर्वैः)
अ० २ । १ । २ । गवां पृथिव्यादिलोकानां वेदवाणीनां वा धारकैः (मदते)
हृष्यति (सोम्यैः) सोमाह्वैः, ऐश्वर्ययोग्यैः ॥

विष्टारिणामोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति
रेतः । रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति
दिवः समेति ॥ ४ ॥

विष्टारिणम् । ओदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । यमः ।
परि । मुष्णाति । रेतः । रथी । ह । भूत्वा । रथ-याने । ईयते ।
पक्षी । ह । भूत्वा । अति । दिवः । सम् । एति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्)
सेचनशील वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) पका करते हैं,
(एनान्) इन से (यमः) नियम (रेतः) सामर्थ्य को (न) नहीं (परि
मुष्णाति) मुस लेता है । वह पुरुष (रथयाने) शरीर से चलने योग्य संसार
में (ह) निश्चय करके (रथी) क्रीडाशील (भूत्वा) होकर (ईयते) विचरता
है और (ह) अवश्य (पक्षी) सबका पक्ष करने वाला (भूत्वा) होकर (अति)
अत्यन्त (दिवः) प्रकाशमान लोकों को (सम्) यथावत् (एति) पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा में पूर्ण श्रद्धालु शूरवीर महात्मा सदा बलवान्
होकर संसार को सहारा देते हुये सूर्य समान प्रकाशित रहते और आनन्द
भोगते हैं ॥ ४ ॥

एष यज्ञानां विततो बहिष्ठो विष्टारिणं पृक्त्वा दिवमा
विवेश । आण्डीकं कुमुदं संतनोति विसं शालूकं शफको
मुलाली । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे

४—पचन्तीत्यन्तं व्याख्यातम् म० ३ (न) निषेधे (एनान्) एतान् ।
अपादाने द्वितीया (यमः) नियमः (परि) वर्जने (मुष्णाति) द्विकर्मकः ।
अपहरति (रेतः) बलं सामर्थ्यम् (रथी) रथ-इति । रथवान् (ह)
अवधारणे (भूत्वा) (रथयाने) रथेन शरीरेण यातव्ये लोके (ईयते)
ईङ् गतौ । संचरति (पक्षी) पक्ष परिग्रहे-अच, तत-इति । पक्षवान् परिग्रही ।
(अति) अत्यन्तम् (दिवः) प्रकाशमानान् लोकान् (समेति) सम्यक् प्राप्नोति

लोके मधु'मत् पिन्व'माना उप' त्वा तिष्ठन्तु पुष्क-
रिणीः समन्ताः ॥ ५ ॥

एषः । यज्ञानाम् । वि-ततः । बहिष्ठः । विष्टारिणम् । पक्त्वा ।
दिवम् । आ । विवेश । आण्डीकम् । कुमुदम् । सम् ।
तनोति । बिसम् । शालूकम् । शफकः । मुलाली ॥ एताः ।
त्वा । धाराः । उप' । यन्तु । सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधु'-
मत् । पिन्व'मानाः । उप' । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः ।
सम्-अन्ताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह (यज्ञानाम्) उत्तम कर्मों के बीच (विततः)
फैला हुआ (बहिष्ठः) अत्यन्त बहुत शुभ गुणों वाला पुरुष (विष्टारिणम्)
बड़े विस्तार वाले परमात्मा को [हृदय में] (पक्त्वा) पका, दढ़, करके (दिवम्)
प्रकाशस्वरूप परमात्मा में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है ।

५—(एषः) दृश्यमानः पुरुषः (यज्ञानाम्) यज्ञनीयानां कर्मणां मध्ये
(विततः) विस्तृतः (बहिष्ठः) अतिशयने तमबिष्टनौ । पा० ५ । ३ । ५५ ।
इति बहु-इष्टन् । टेः । पा० ६ । ४ । १५५ । इति टिलोपः । अतिशयेन बहुशुभ-
गुणोपेतः (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (पक्त्वा) परिपक्वं हृदये
दढ़ं कृत्वा (दिवम्) प्रकाशमानं परमात्मानम् (आ विवेश) प्रविष्टवान्
(आण्डीकम्) अमन्ताङ् डः । उ० १ । ११४ । इति अम गतौ-ड । ईकञ् छन्दसि ।
वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति अण्ड-ईकञ् बाहुलकात् । प्राप्तियोग्यम्, (कुमुदम्)
इगुपध० । पा० ३ । १ । १३५ । इति कु+मुद हर्षे-क । कौ भूमौ मोदते । पृथिव्यां
मोदकरं वस्तु (सम्) सम्यक् (तनोति) विस्तारयति (बिसम्) बिस
प्रेरणे, दिवा०-क । प्रेरकम् । बलकरं वस्तु (शालूकम्) शलिमण्डभ्याम्-
कण् । उ० ४ । ४२ । इति शल गतौ-ऊकण् । वेगकरं वस्तु (शफकः) शम्
उपशमे-अच्, मस्य फः । इति शब्दस्तोममहानिधिः । कमु कान्तौ-ड । शफं
शान्तिं निवृत्तिं कामयते स शफकः । शान्तिकामः (मुलाली) मुल रोपणे-क ।
सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति मुल+अल भूषणपर्याप्ति-

(शफकः) शान्ति की कामना करने वाला, (मुलाली) कर्म फल के रोपण, उत्पत्ति को सुधारने वाला पुरुष (आण्डीकम्) प्राप्तियोग्य (कुमुदम्) पृथिवी में आनन्द करने वाली वस्तु को, (बिसम्) बल दायक गुण को (शालूकम्) वेगशील कर्म को (सम्) यथावत् (तनोति) फैलाता है ।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०-गयः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की महिमा में लवलीन होकर मधुमती नाम प्रजा की प्राप्ति से संसार का पूरा उपकार कर्ता है ॥ ५ ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पुर्णा उदुकेन
दधना । एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गलोके मधु-
मत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ६ ॥
घृत-ह्रदाः । मधु-कूलाः । सुरा-उदकाः । क्षीरेण । पुर्णाः ।
उदुकेन । दधना । एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु ।
सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधु-मत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा
तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ६ ॥

वारणेषु-णिनि । मुलं रोपणं कर्मफलजननम् अलति भूषयतीति मुलाली ।
सत्पुरुषः (एताः) (त्वा) त्वां पुरुषम् (धाराः) धारणशक्तयः । (उप)
सगीषे (यन्तु) गच्छन्तु (सर्वाः) सकलाः (स्वर्गे) म० २ । सुष्ठु अर्जनीये
पुराणे (लोके) दर्शनीये स्थाने (मधुमत्) फलिपाटिनमिमनि० । उ० १ । १३ ।
इति मनु ज्ञाने-उ, नस्य धः । यथा तथा मधुमत्तया ज्ञानवत्तया (पिन्वमानाः)
पिवि-सेचने-शानच् । सिंचन्त्यः (उप तिष्ठन्तु) उपस्थिताः संगता भवन्तु
(पुष्करिणीः) पुषः कित् । उ० ४ । ४ । इति पुष पुष्टौ-करप् । अत इनिठनौ ।
पा० ५ । २ । ११५ । इति पुष्कर-इनि । पुष्कराणि फेक्षणानि सन्ति यत्र पुष्करिण्यः
पोषणवत्यः शक्तयः (समन्ताः) सम्पूर्णाः ॥

भाषार्थ—(घृतहृदाः) प्रकाश की ध्वनि वाली, (मधुकूलाः) मधु अर्थात् ज्ञान के रक्षा साधन वाली, (सुरोदकाः) सुरा अर्थात् ऐश्वर्य वा तत्त्व मथन का सेवन करने वाली, (क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेवन वा वृद्धि साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णाः) परिपूर्ण,

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई, (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणी=०-गयः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होंगे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य योग साधन से अपनी अनेक शक्तियां बढ़ाकर संसार का उपकार करके आनन्द भोगता है ॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना ।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्
पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥७॥

६—(घृतहृदाः) अश्विघृसिभ्यः क्तः । ७० ३ । ८६ । इति घृ क्षरणदीप्त्योः—क्त । घृतं प्रकाशः । हाद अव्यक्ते शब्दे—अच्, निपातः । प्रकाशयुक्त—ध्वनयः (मधुकूलाः) कूल आवरणे—अच् । मधु ज्ञानं कूलम् आवरणं रक्षा साधनं यासां ताः (सुरोदकाः) सुसूधाङ्गृधिभ्यः कन् । ७० २ । २४ । पु प्रसवैश्वर्ययोः, यद्वा पुञ् अभिषवे—कन् । यद्वा, पुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—क, टाप् । सुरा=उदकम्—निघ० १ । १५ । सुरा सुनोते—निघ० १ । ११ । सुराणां पत्नी शक्तिः सुरा । उदकं च । ७० २ । ३६ । इति उन्दी क्लेदने—क्युन् । सुरा, ऐश्वर्य तत्त्वमथनं वा, उदकं सेवनं यासां ताः (क्षीरेण) घसेः किञ्च । ७० ४ । ३४ । इति घस्त् अदने—ईरन् । घा क्षर संचलने—डीरन् । क्षीरम्—उदकम्—निघ० १ । १२ । क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वीरो नामकरण उशीरमिति यथा—निघ० २ । ५ । भोजनसाधनेन (पूर्णाः) पूरिताः (उदकेन) सेवनसाधनेन (दध्ना) अ० ३ । १२ । ७ । दधि धारणं पोषणं तेन । अन्यत्—पूर्ववत् म० ५ ॥

चतुरः । कुम्भान् । चतुः-धा । ददामि । क्षीरेण । पुणान् ।
उदकेन । दध्ना । एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु ।
सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधुमत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा ।
तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि-
साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पुणान्) परिपूर्ण
(कुम्भान्) भूमि को पूर्ण करने वाले (चतुरः) चार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम,
मोक्ष को (चतुर्धा) चार प्रकार से अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास
आश्रम वा चारों वेद द्वारा (ददामि) दान करता हूँ ।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग
लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः)
सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (सम्-अन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्क-
रिणीः=०—एयः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उप
स्थित हों ॥ ७ ॥

भाषार्थ—परमेश्वर ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम द्वारा और चारों वेद
द्वारा धर्म अर्थ आदि चार पदार्थ देता है । इसलिये मनुष्य चारों आश्रम और
चारों वेदों के यथावत् सेवन से चारों पदार्थप्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥७॥

इममोदुनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं
स्वर्गम् । स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्व-
रूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु ॥ ८ ॥

७—(चतुरः) चतुः संख्याकान् धर्मार्थकाममोक्षान् (कुम्भान्) अ० ३ ।
१२ । ७ । कुं भूमिम् उद्भतिं पूरयतीति कुम्भः । भूमिपूरकान् (चतुर्धा) चतुष्प्र-
कारेण ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमरूपेण यद्वा वेदचतुष्टयेन (ददामि)
प्रयच्छामि (क्षीरेण) म० ६ भोजनसाधनेन (पुणान्) पूरितान् (उदकेन)
सेचनसाधनेन (दध्ना) म० ६ । धारणेन पोषणेन वा । अन्यत् पूर्ववत् म० ५ ॥

इमम् । ओदनम् । नि । दधे । ब्राह्मणेषु । विष्टारिणम् । लोक-
जितम् । स्वः-गम् । सः । मे । मा । क्षेष्ट । स्वधया । पिन्व-
मानः । विश्व-रूपा । धेनुः । काम-दुघा । मे । अस्तु ॥८॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों के बीच (विष्टारिणम्) विस्तार वाले (लोकजितम्) सब लोक के जीतनेवाले (स्वर्गम्) सुख स्वरूप (इमम्) इस (ओदनम्) सींचने वा बढ़ानेवाले वा अन्नरूप परमात्माको (नि) निम्नतर (दधे) धरता हूँ । (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पिन्वमानः) बढ़ता हुआ (सः) वह ईश्वर (मे) मेरे लिये (मा क्षेष्ट) कभी न घटे । (विश्वरूपाः) सब अन्नों से सिद्ध (धेनुः) यह तृप्त करनेवाली वेदवाणी (मे) मेरे लिये (कामदुघा) उत्तम कामनाओं की पूर्ण करनेवाली (अस्तु) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग परमात्मा की महिमा को साक्षात् करके सुखी होते हैं, सब मनुष्य परमकल्याणी वेदवाणी को प्राप्त कर उस अगदीश्वर के ज्ञान से सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-७ ॥ ओदनो देवता । १, २, ५-७ विष्टुप् ३, ४ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्म-
णोऽपचत् । यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनोदने-
नार्ति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

८—(इमम्) निर्दिष्टम् (ओदनम्) सेचनशीलं प्रवर्धकम् अन्नरूप वा पर-
मात्मानं (नि) नितराम् (दधे) धरामि (ब्राह्मणेषु) अ० ४ । ६ । १ । वेदवे-
त्तृषु पण्डितेषु (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (लोकजितम्) सर्वलोक-
जेतारम् (स्वर्गम्) सुख अर्जनीयं सुखस्वरूपम् (सः) ओदनः (मे) मह्यम्
(मा क्षेष्ट) क्षि क्षये, माहि लुङ् । त्वयं मा प्राप्नोतु (स्वधया) स्वधारणशक्त्या ।
(पिन्वमानः) वर्धमानः (विश्वरूपा) सर्वाङ्गसिद्धा (धेनुः) अ० ३ । १० ।
१ । वाङ् नाम—निघ० १ । १२ । तर्पयित्री वेदवाणी (कामदुघा) दुहः कश्चरच्च ।
पा० ३ । २ । ७० । इति काम + दुह प्रपूरणे—कप् हस्य घः । उत्तमकामानां दोग्ध्री
प्रपूरयित्री । अभीष्टसम्पादयित्री (मे) मह्यम् (अस्तु) ॥

यम् । ओदनम् । प्रथम-जाः । ऋतस्य । प्रजा-पतिः । तपसा ।
ब्रह्मणे । अपचत् । यः । लोकानाम् । वि-धृतिः । न । अभि-
रेषात् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य के (यम्) जिस (ओदनम्) वृद्धि करने
वाले परमात्मा को (प्रथमजाः) प्रख्यात पुरुषों में उत्पन्न हुए, (प्रजापतिः)
प्रजापालक योगी जन ने (तपसा) अपने तप, सामर्थ्य से (ब्रह्मणे) ब्रह्म की
प्राप्ति के लिये (अपचत्) परिपक्व अर्थात् हृदय में दृढ़ किया है । (यः) जो
परमात्मा (लोकानाम्) सब लोकों का (विधृतिः) विधाता (न) कभी नहीं
(अभिरेषात्) घटता है, (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप
परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मृत्यु के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को
(अति = अतीत्य) लांघकर (तराणि) मैं तर जाऊँ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्मा लोग साक्षात् करते
चले आये हैं, उसी के गुणों को हम जानकर पुरुषार्थ के साथ अपने जीवन को
सुधारें ॥ १ ॥

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्धविन्दन् तपसा श्रमेण ।
यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि
मृत्युम् ॥ २ ॥

१—(यम्) (ओदनम्) सू० ३४ । म० १ । सेचकं प्रवर्धकं वा
परमात्मानम् (प्रथमजाः) प्रथमेषु श्रेष्ठपुरुषेषु जातः (ऋतस्य) सत्यस्य पर-
ब्रह्मरूपस्य (प्रजापतिः) प्रजानां पालको योगिजनः (तपसा) स्वसामर्थ्येन
(ब्रह्मणे) ब्रह्मप्राप्तये (अपचत्) पक्वं हृदये दृढ़ं कृतवान् (यः) ओदनः
(लोकानाम्) ब्रह्माण्डानाम् (विधृतिः) विधारयिता (न) निषेधे (अभिरेषात्)
रिष हिंसायाम्—लडखे लेट्, कर्मण्यर्थे । रेष्यते । नश्यति (तेन) (ओदनेन)
सेचकेन प्रवर्धकेन अन्नरूपेण वा परमात्मना (अति) अतीत्य (तराणि)
पारं गच्छानि प्राप्नवानि (मृत्युम्) मरणकारणं निरुत्साहम् ॥

येन । अतरन् । भूत-कृतः । अति । मृत्युम् । यम् । अनु-अवि-
न्दन् । तपसा । अमेण । यम् । पपाच । ब्रह्मणे । ब्रह्म । पूर्वम् ।
तेन । ओदनेन । अति । तुराणि । मृत्युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस परमात्मा के साथ (भूतकृतः) प्राणियों को [उत्तम] बनाने वाले पुरुष (मृत्युम्) मृत्यु के कारण निरुत्साह आदि को (अति=अतीत्य) लांघकर (अतरन्) तरगये हैं, और (यम्) जिसको (तपसा) ब्रह्मचर्य आदि तप और (अमेण) परिश्रम से (अन्वविन्दन्) उन्होंने ने अनुक्रम से पाया है । और (यम्) जिसको (ब्रह्मणे) ब्रह्मा, [वेदज्ञानी] के लिये (ब्रह्म) वेद नें (पूर्वम्) पहिले ही (पपाच) परिपक्व वा दृढ किया था । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥२॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को पाकर महाउपकारी जनों ने तप और परिश्रम से अनेक विघ्नों को हटाकर सुख प्राप्त किया है और जिसका प्रतिपादन वेदों ने किया है, उसी के ज्ञान से सब मनुष्य अपने क्लेश टालकर आनन्द पावें ॥ २ ॥

यो द्वाधारं पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृ-
णाद् रसेन । यो अस्तम्नाद् दिवमुर्ध्वो महिम्ना तेनो'-
दनेनातितराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यः । द्वाधारं । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । यः । अन्तरिक्षम् ।
आ-अपृणात् । रसेन । यः । अस्तम्नात् । दिवम् । ऊर्ध्वः ।
महिम्ना । तेन । ओदनेन । अति । तुराणि । मृत्युम् ॥ ३ ॥

२—(येन) ओदनेन (अतरन्) पारं प्राप्नुवन् (भूतकृतः) भूतानां प्राणिनां कर्तार उपकर्तारः पुरुषाः (अति) अतीत्य (मृत्युम्) मरणहेतुं निरु-
त्साहादिकम् (यम्) (अन्वविन्दन्) अनुक्रमेण प्राप्नुवन् (तपसा) ब्रह्मचर्येण
(अमेण) अमु तपसि क्षेत्र-धम् । परिश्रमेण । ब्रह्माभ्यासेन (यम्) (पपाच) पक्वं दृढं चकार (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानिने (ब्रह्म) वेदः (पूर्वम्) प्रथमम् ।
अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस परमेश्वर ने (विश्वभोजसम्) सब का पालन करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (यः) जिस ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रसेन) रस अर्थात् अन्न वा जल से (आ-अपृणात्) भर दिया है। (यः) जिसने (महिम्ना) अपनी महिमा से (ऊर्ध्वः) ऊँचा होकर (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य को (अस्तभ्नात्) ठहराया है। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पृथिवी आदि लोकों और सब चराचर जगत् को रचकर धारण किया है और जो सब से ऊपर विराजमान है, उसकी महिमा को विचार कर हम अपनी उन्नति करें ॥३॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सुरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः । अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनोदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात् । मासाः । निः-मिताः । त्रिंशत्-अराः । सुम्-वत्सुरः । यस्मात् । निः-मितः । द्वादश-अरः । अहोरात्राः । यम् । परि-यन्तः । न । आपुः । तेन । ओदुनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्म त्) जिस [परमात्मा] से (त्रिंशदराः) तीस अरों

३—(यः) ओदनः (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (विश्वभोजसम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—असुन् । सर्वस्य पालयित्रीम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आ-अपृणात्) पृ पालनपू रणयोः—लङ् । सम्यक् पूगितवान् (रसेन) अन्नेन—निघ० २ । ७ । उक्तेन—निघ० १ । १२ । (अस्तभ्नात्) स्तम्भु रोधने—लङ् । अवरुद्धवान् । रुद्धकृतवान् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (ऊर्ध्वः) उपरि वर्तमानः सन् (महिम्ना) महत्त्वेन । प्रभाषेण । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

४—(यस्मात्) ओदनात्परमेश्वरात् (मासाः) मस परिमाणे—अङ् ।

वाले (मासाः) महीने (निर्मिताः) बने हैं. (यस्मात्) जिस से (द्वादशारः) बारह अरों [के समान महीनों] वाला (संवत्सरः) संवत् (निर्मितः) बना है । (यम्) जिस को (परियन्तः) घूमते हुए (अहोरात्राः) दिनरात (न) नहीं (आपुः) पकड़सके हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अग्निरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—परमात्मा ने दिनरात आदि काल चक्र बनाया है परन्तु वह अनादि अनन्त होने से काल के अधिकार से बाहिर है । उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ४ ॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः
क्षरन्ति । ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तोनौदुने-
नाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यः । प्राणदः । प्राणद-वान् । बभूव । यस्मै । लोकाः । घृत-
वन्तः । क्षरन्ति । ज्योतिष्मतीः । प्र-दिशः । यस्य । सर्वाः ।
तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (प्राणदः) प्राणदेने वाला और (प्राणदवान्) प्राणदाताओं [सूर्यपृथिवीवायु आदि] का रखने वाला (बभूव)

मर्यते परिमीयते कालोऽनेन स मासः । शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकाः कालाः
(निर्मिताः) रचिताः (त्रिंशदराः) रथचक्रावयवाः कीलका अराः । चक्रवदा-
वर्तमानत्वान्मासास्तथा रूप्यन्ते । त्रिंशःसंख्याकानि दिनानि अरा इव येषां ते
तथोक्ताः (संवत्सरः) अ० १ । ३५ । ४ । द्वादशमासात्मकः कालः (यस्मात्)
(निर्मितः) (द्वादशारः) द्वादशमासा अराइव चक्रे स्थिता यस्मिन् स तथाभूतः
(अहोरात्राः) अहानि च रात्रयश्च (यम्) परमात्मानम् (परियन्तः) परिग-
च्छन्तः । परिवर्त्तमानाः (न) निषेधे (आपुः) प्राप्तवन्तः । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

५—(यः) ओदनः । परमात्मा (प्राणदः) प्राणदाता (प्राणदवान्)
प्राणदैः प्राणप्रदैः सूर्यपृथिवीवाय्वादिभिर्युक्तः (बभूव) (यस्मै) परमेश्वराय

हुआ, और (यस्मै) जिसके लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान वा सारवान् (लोकाः) सब लोक (क्षरन्ति) बहते हैं । और (यस्य) जिसकी ही (सर्वाः) सब (ज्योतिष्मतीः=०-त्यः) तेजोमय (प्रदिशः) बड़ी दिशाये हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ.....म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और सब पदार्थ परमेश्वर के वशवर्ती हैं । उसकी आज्ञा पालन से हम सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

यस्मात् पुक्वाद्मृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्व-
भूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदुनेनाति
तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

यस्मात् । पुक्वात् । अमृतम् । सम्-बभूव । यः । गायत्र्याः ।
अधि-पतिः । बभूव । यस्मिन् । वेदाः । नि-हिताः । विश्व-
रूपाः । तेन । ओदुनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मात् पुक्वात्) जिस परिपक्व परमात्मा से (अमृतम्) मोक्ष (संबभूव) उत्पन्न हुआ, (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री [स्तुति वा वेद वाणी] का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (यस्मिन्) जिसमें (विश्वरूपाः) सब से कीर्तन योग्य अथवा सब का निरूपण करने वाले (वेदाः)

(लोकाः) दृश्यमानानि भुवनानि (घृतवन्तः) दीप्तिमन्तः । सारवन्तः (क्षरन्ति) क्षवन्ति (ज्योतिष्मतीः) प्रशस्ततेजस्काः । प्रकाशवत्यः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (यस्य) ओदनस्य सम्बन्धिन्यः सन्ति (सर्वाः) समस्ताः । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

६—(यस्मात्) परमात्मनः (पुक्वात्) दृढस्वभावात् (अमृतम्) अमरणहेतुः । मोक्षः (संबभूव) उत्पन्न बभूव (यः) (गायत्र्याः) अ० ३ । ३ । २ । अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति गौ शब्दे—अत्रन्, स च णित, ङीप् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । गायत्रीयायाः स्तुतेः । वेदवाण्याः । (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) (यस्मिन्) (वेदाः) विद् जाने, विद् सत्तायम्,

वेद (निहिताः) निधिरूप से स्थित हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मरण के कारण [निस्तसाह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लांघ कर (तराणि) मैं तरजारूँ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने कल्याणमयी वेदवाणी देकर मनुष्यों को मोक्ष का अधिकारी किया है । उसके गुण कर्म स्वभाव को पहिचान कर हम सदा पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥

अ'व बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽपु ते भवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शुण्वन्तु मे श्रुद्-
धानस्य देवाः ॥ ७ ॥

अव' । बाधे । द्विषन्तम् । देव-पीयुम् । स-पत्नाः । ये । मे ।
अप' । ते । भवन्त । ब्रह्म-ओदनम् । विश्व-जितम् । पचामि ।
शुण्वन्तु' । मे । श्रुत्-दधानस्य । देवाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले (देवपीयुम्) देवताओं के हिंसक को (अव बाधे) मैं हटाता हूँ । (ये) जो (मे) मेरे (सपत्नाः) प्रति-योगी हैं, (ते) वे (अप भवन्तु) हट जावें । (विश्वजितम्) संसार के जीतने वाले (ब्रह्मौदनम्) सब से बड़े सींचने वाले वा अन्नरूप परमात्मा को

विद्वां लाभे विद विचारणे-घञ् । धर्मब्रह्मप्रतिपादकानि ऋग्यजुःसामाथर्वा-
त्मकानि अपौरुषेयाणि शास्त्राणि (निहिताः) निधिरूपेण स्थापिताः (विश्वरूपाः)
स्वप्नशिल्पशष्पवाष्परूपपर्यंतलपाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च ।
यद्वा रूप रूपक्रियायाम् अच्, रूप्यते रूप्यते वा रूपम् । सर्वै रूपमाणाः कीर्त्य-
मानाः । सर्वेषां पदार्थानां रूपका निरूपकाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(अव बाधे) अपवारयामि (द्विषन्तम्) हिंसन्तम् (देवपीयुम्)
पीयति हिंसकर्म—निरु० ४।२५ खरुशङ्कुपीयु० । उ० १ । ३६ । इति पीयते—कु ।
देवानां हिंसकम् (सपत्नाः) अ० १ । ६ । २ । शत्रवः (ये) (मे) मम (अप
भवन्तु) दूरे गच्छन्तु (ते) शत्रवः (ब्रह्मौदनम्) ओदन इति व्याख्यातम्—सू०
३४ म० १ । प्रवृद्धं सेचकं प्रवर्धकम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (विश्वजितम्)

(पश्यामि) पक्का [हृदय में दृढ़] करता हूँ । (देवाः) व्यवहार कुशल विद्वान् लोग (अद्भ्यन्तस्य) अद्भ्यन्त रखने वाले (मे) मेरी [वार्ता] (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर में पूरी भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगे ॥ ७ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३६ ॥

१-१० । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

तान्तसुत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानुरो वृषा ।

यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चार्थो यो नो अरातियात् ॥१॥

तान् । सुत्य-औजाः । प्र । दहतु । अग्निः । वैश्वानुरः । वृषा ।

यः । नुः । दुरस्यात् । दिप्सात् । नु । अथो इति । यः । नुः ।

अराति-यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुत्यौजाः) सत्य बल वाला, (वैश्वानुरः) सब नरों का हित करनेवाला, (वृषा) सुख वर्णने वाला वा पेश्वर्यवान् (अग्निः) सर्व-व्यापक परमेश्वर (तान्) उन सब को (प्र दहतु) भस्म कर डाले । (यः) सर्वस्य जेतारम् (पश्यामि) परिपक्व' दृढ़' करोमि (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (मे) मम वाक्यम् (अद्भ्यन्तस्य) अद्भ्यन्तधारकस्य (देवाः) व्यवहारिणो विद्वान्सः ॥

१—(तान्) निर्दिष्टान् (सुत्यौजाः) अवितथबलः (प्र) प्रकर्षेण (दहतु) भस्मीकरोतु (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (वैश्वानुरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (वृषा) अ० १ । १२ । १ । सुखवर्षकः । पेश्वर्यवान् (यः) शत्रुः

जो (नः) हमें (दुरस्यात्) दुष्ट माने, (च) और जो (दिप्तात्) मारना चाहे, (अथो) और भी (यः) जो (नः) हम से (अरातियात्) बैरी सा बर्ताव करे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके धर्म के विघ्न-कारियों को नष्ट करें ॥ १ ॥

यो नो दिप्सद्दिप्सते_ दिप्सते_ यश्च दिप्सति ।

वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोऽग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

यः । नः । दिप्सत् । अदिप्सतः । दिप्सतः । यः । च । दिप्सति ।

वैश्वानरस्य । दंष्ट्रयोः । अग्नेः । अपि । दधामि । तम् ॥२॥

भावार्थ—(यः) जो पुरुष (अदिप्सतः) न सताने वाले (नः) हम को (दिप्सत्) सताना चाहे, (च) और (यः) जो (दिप्सतः) सताने वाले [हम] को (दिप्सति) सताना चाहता है, (तम्) उसको (वैश्वानरस्य) सव नरों के हितकारक (अग्नेः) ज्ञानीपुरुष के (दंष्ट्रयोः) दोनों ढाढ़ों के बीच जैसे (अपि) अवश्य (दधामि) धरता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मात्माओं को बिना कारण सतावे, और जो दुष्ट धर्मात्माओं को उनके दण्ड देने पर भी दुष्ट आचरण करे, उन शत्रुओं को

(नः) अस्मान् (दुरस्यात्) उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । इति दुष्ट—व्यञ् । दुरस्युर्द्रविणस्युर् । पा ७ । ४ । ३६ । इति व्यञ्चि दुष्टस्य दुरस् भावः । तदन्ताल्लेष्टि आडागमः । दुष्टनिषाचरेत् (दिप्तात्) दम्भुदम्भे—सन् । दम्भ इच्छ पा० । ७ । ४ । ५६ । इति इत्वम् । अत्र लोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इति अभ्यासलोपः । भूभावाभावश्छान्दसः । धिप्सेत् । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (च) (अथो) अपि च (अरातियात्) पूर्ववत् क्यञि लेट् । अरातिषदाचरेत् । शत्रुवदनुतिष्ठेत् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (दिप्सत्) लेटि अडागमः । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (अदिप्सतः) दम्भितुं हिंसितुमनिच्छतः (दिप्सतः) हिंसितुमिच्छतः (यः च) (दिप्सति) दम्भितुमिच्छति । जिहिंसिषति (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य (दंष्ट्रयोः) सर्वधातुभ्यः ष्टृन् । ३० ४ । १५६ । इति दंश दशने—ष्टृन्, अजा-

राजा परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से ऐसे कुचिल डाले जैसे डाढ़ों के बीच अन्न को ॥ २ ॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये ।

क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वास्तान्सहसा सहे ॥३॥

ये । आ-गरे । मृगयन्ते । प्रति-क्रोशे । अमा-वास्ये । क्रव्य-
अदः । अन्यान् । दिप्सतः । सर्वान् । तान् । सहसा । सहे ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो दुष्ट (आगरे) घर में (प्रतिक्रोशे) गूँजते हुये
(अमावास्ये) अमावस के अन्धकार में (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं । (अन्यान्)
दूसरों को (दिप्सतः) सतानेवाले (तान् सर्वान्) उन सब (क्रव्यादः) मांस
भक्षी सिंह आदिकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—रात्री के अन्धकार में जो सिंह आदि हिंसक पशु वा मनुष्य
सतावें, राजा उनका यथावत् प्रबन्ध करे ॥ ३ ॥

सहे पिशाचान्सहसैषां द्रविणं ददे ।

सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकू'तिऋ'ध्यताम् ॥४॥

सहे । पिशाचान् । सहसा । एषाम् । द्रविणम् । ददे । सर्वान्
दुरस्यतः । हन्मि । सम् । मे । आ-कू'तिः । ऋ'ध्यताम् ॥४॥

दित्वात्—टाप् । खादनसाधनयोर्दन्तवशेषयोर्मध्ये यथा (अग्नेः) ज्ञानिनः पुरुषस्य
(अपि) अवधारणे (दधामि) धरामि (तम्) शत्रुम् ॥

३—(ये) शत्रवः (आगरे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ७७ । इति गृ निगरणे-
अप् । आगरे । गृहे (मृगयन्ते) मृग अन्वेषणे । अन्विच्छन्ति (प्रतिक्रोशे)
प्रतिध्वनियुक्ते (अमावास्ये) अमा सह वसतश्चन्द्राकौ यस्याम्, अमा + वस
निवासे—ययत्, टाप् । इति अमावास्या कृष्णपक्षान्ततिथिः । अ च । पा० ४ । ३ ।
३१ । इति अमावास्या—अप्रत्ययः, जात इत्यर्थे । अमावास्यायां जाते कृष्णकाले
(क्रव्यादः) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षकान् सिंहादीन् (अन्यान्) इतरान्
पुरुषान् (दिप्सतः) हिंसतुमिच्छन् । (सर्वान्) (तान्) (सहसा) बलेन
(सहे) अभिभवामि ॥

भाषार्थ—(पिशाचान्) मांसभक्षकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूँ, और (एषाम्) इनका (द्रविणम्) धन [सुपात्रों को] (ददे) मैं देता हूँ । (दुरस्यतः) सताने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारता हूँ । (मे) मेरा (आकूतिः) शुभ संकल्प (सम् ऋध्यताम्) यथावत् सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का हनन करके उनका धन सेनापति आदि योग्य पुरुषों को पारितोषिक देवे और प्रयत्न पूर्वक अपना शुभ संकल्प सिद्ध करे ॥४॥

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम् ।

नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

ये । देवाः । तेन । हासन्ते । सूर्येण । मिमते । जवम् ।

नदीषु । पर्वतेषु । ये । सम् । तैः । पशुभिः । विदे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) विजयी शूर (तेन) पुण्य के साथ (हासन्ते) चलना चाहते हैं, और (ये) जो (नदीषु पर्वतेषु) नदियों और पर्वतों पर (सूर्येण) सूर्य के साथ (जवम्) अपना वेग (मिमते) करते हैं (तैः) उन (पशुभिः) दृष्टि वाले देवताओं से (सम् विदे) मैं मिलता हूँ ॥५॥

भावार्थ—जो महात्मा लोग सूर्य के समान शीघ्रगामी होकर बड़े बड़े कठिन कामों को सिद्ध करते हैं । उन से मिलकर सब मनुष्य उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

४—(सहे) अभिमवामि (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । पिशिताशिनो राक्षसान् (सहसा) बलेन (एषाम्) (द्रविणम्) अ० २ । २६ । ३ । धनम् (ददे) ददामि पात्रेभ्यः (सर्वान्) (दुरस्यतः) हन्तुमिच्छून् (हन्मि) नाशयामि (मे) मम (आकूतिः) अ० ३ । २ । ३ । शुभसंकल्पः (सम् ऋध्यताम्) सम्यक् सिध्यतु ॥

५—(ये) (देवाः) विजिगीषवः शूराः (तेन) तृ तरणे-ड । पुण्येन-इति शब्दकल्पद्रुमः (हासन्ते) ओ हाङ् गतौ-सनि छान्दसं रूपम् । जिहासन्ते । गन्तुमिच्छन्ति (सूर्येण) आदित्येन (मिमते) माङ् माने-लट् । उपमया साह-श्रयेण कुर्वन्ति (जवम्) स्ववेगम् (नदीषु) (पर्वतेषु) गिरिषु (ये) (तैः) (पशुभिः) अ० २ । २६ । १ । द्रष्टुमिदं वैः (सम् विदे) संजाने । संगच्छे ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां^१ व्याघ्रो गोमतामिव ।

श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दन्ते न्यञ्जनम् ॥ ६ ॥

तपनः । अस्मि । पिशाचानाम् । व्याघ्रः । गोमताम्-इव ।

श्वानः । सिंहम्-इव । दृष्ट्वा । ते । न । विन्दन्ते । नि-अञ्जनम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—मैं (पिशाचानाम्) मांसाहारियों का (तपनः) संताप देने वाला (अस्मि) हूँ, (इव) जैसे (व्याघ्रः) बाघ (गोमताम्) गौ वालों का होता है । (ते) वे लोग (न्यञ्जनम्) छिपने का स्थान (न) नहीं (विन्दन्ते) पाते हैं, (इव) जैसे (श्वानः) कुत्ते (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देखकर [घबड़ा जाते हैं]

भावार्थ—दण्डवान् प्रतापी पुरुष के सन्मुख हिंसक जीव नहीं ठहरते हैं ॥ ६ ॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्ते नैर्न वनगुभिः । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमुहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

न । पिशाचैः । सम् । शक्नोमि । न । स्ते नैः । न । वनगु-भिः ।

पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । यम् । अहम् । ग्रामम् ।

आ-विशे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (पिशाचैः) पिशाचों के साथ, (न) न

ई—(तपनः) तप-ल्यु । संतापकः (अस्मि) (पिशाचानाम्) मांस-भक्षकाणाम् (व्याघ्रः) हिंसकजन्तुविशेषः (गोमताम्) गोस्वामिनाम् (इव) यथा (श्वानः) अ० ४।५। २ । श्वानऽऽशुयायी श्वतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसिते वा-निरु० ३ । १८ । कुक्षुराः (सिंहम्) अ० ४।८। ७ (इव) (दृष्ट्वा) अवलोक्य (ते) पिशाचाः (न) निषेधे (विन्दन्ते) लभन्ते (न्यञ्जनम्) निम्नगमनं रक्षणस्थानम् ॥

७—(न) निषेधे (पिशाचैः पिशिताशिमिः (सम्) संवस्तुम् (शक्नोमि)

(स्तेनैः) चोरों के साथ, और (न) न (वनगुभिः) वनचर डाकुओं के साथ (सम् शक्नोमि) रह सकता हूँ । (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम में (अहम्) मैं (आविशे) धसता हूँ, (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ॥७॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि वस्तियों में हिंसक चोर आदि लूट लूट न करें ॥ ७ ॥

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम ।

पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति न पापमुप जानते ॥ ८ ॥

यम् । ग्रामम् । आ-विशते । इदम् । उग्रम् । सहः । मम ।

पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । न । पापम् । उप । जानते ॥८॥

भाषार्थ—(यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (इदम्) यह (उग्रम्) उग्र (मम) मेरा (सहः) बल (आ विशते) प्रवेश करता है । (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं और (पापम्) पाप को (न) नहीं (उप जानते) जानते हैं ॥८॥

भावार्थ—प्रतापी नीति निपुण राजा के शासन में दुष्ट लोग उपद्रव नहीं मचाते हैं ॥८॥

शक्तो भवामि (स्तेनैः) चौरैः (वनगुभिः) मृगयवाहयश्च । उ० १ । ३७ । इति घन + गम्लृ गतौ-डु रुडागम् । स्तेननाम-निघ० ३ । २४ । वनगू वनगामिनौ- निरु० ३ । १४ । वनचरैः । दस्युभिः (पिशाचाः) पिशिताशनाः (तस्मात्) ग्रामात् (नश्यन्ति) अदृष्टा भवन्ति पलायन्ते (यम्) (अहम्) (ग्रामम्) अ० ४ । ७ । ५ । वसतिम् (आविशे) प्रविशामि ॥

८—(यम्) (ग्रामम्) वसतिम् (आविशते) प्रविशति (इदम्) (उग्रम्) तीक्ष्णम् (सहः) बलम् (मम) मदीयम् (पिशाचाः, तस्मात्, नश्यन्ति) म० ७ । (न) निषेधे (पापम्) पाति यस्मात् तत् । अनिष्टम् (उप जानते) अवबुध्यन्ते ॥

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।

तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

ये । मा । क्रोधयन्ति । लपिताः । हस्तिनम् । मशकाः-इव ।

तान् । अहम् । मन्ये । दुः-हितान् । जने । अल्पशयून-इव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (लपिताः) बकवादी लोग (मा) मुझे (क्रोधयन्ति) क्रोध करते हैं, (मशकाः इव) जैसे मच्छड़ (हस्तिनम्) हाथी को । (तान्) उन (दुर्हितान्) दुष्कर्मियों को (जने) मनुष्यों के बीच (अल्पशयून इव) थोड़े सोने वाले कीट पतंगों के समान (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—बतबने दुराचारियों को दण्ड देकर राजा सदा दुर्बल रखे ॥ ९ ॥

अभि तं निऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वमभिधान्या ।

मृत्वा यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥ १० ॥

अभि । तम् । निः-ऋतिः । धत्ताम् । अश्वम्-इव । अश्व-
अभिधान्या । मृत्वः । यः । मह्यम् । क्रुध्यति । सः । ज-
हति । पाशात् । न । मुच्यते ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तम्) उस को (निऋतिः) अलक्ष्मी (अभि धत्ताम्) बांध लेवे (अश्वम् इव) जैसे घोड़े को (अश्वमिधान्या) घोड़ा बांधने की

८—(ये) दुष्टाः (मा) माम् (क्रोधयन्ति) कोपयन्ति (लपिताः) लप कथने-क्त । लपितं कथनमस्यास्तीति, अर्श आद्यच् । वहुवचनयुक्ताः । वा-
चालाः (हस्तिनम्) गजम् (मशकाः) कृजादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० । ५ ।
३५ । इति मश ध्वनौ-वुन् । दंशकाः (इव) यथा (तान्) अहम् (मन्ये) जा-
नामि (दुर्हितान्) दुष्कर्मिणः (जने) जनसमूहे (अल्पशयून्) भृमृशीङ्० ।
उ० । १ । ७ । इति अल्प+शीङ् स्वप्ने-उ । अल्पशयनस्वभावान् लुद्रजन्तून् ॥

१०—(अभि धत्ताम्) बध्नातु (तम्) दुष्टम् (निऋतिः) अ० ३ । ११ ।
२ । कृच्छापत्तिः-नि० २ । ७ । अलक्ष्मीः (अश्वम् इव) यथा तुरङ्गम् (अ-

रसरी से । (यः मल्वः) जो मलिन पुरुष (मह्यम्) मुझ पर (क्रुध्यति) क्रोध करता है , (सः) वह (पाशात्) फांसी से (उ न) कभी नहीं (मुच्यते) छुटता है ॥१०॥

भावार्थ—राजा कुकर्मी दुष्टों को यथावत् दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करे ॥ १० ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१-१२ ॥ १, २, ६, १० ओषधिः, ३, ४, ५ अप्सरसः, ८, ९, इन्द्रः, ११ गन्धर्वः, ७, १२ गन्धर्वाप्सरसो देवताः ॥ १-४, ६, ८-१५ अनुष्टुप्, ५ पद्या पङ्क्तिः, ७ उष्णिक् ॥

गन्धर्वाप्सरसां गुणोपदेशः—गन्धर्व और अप्सराओं के गुणों का उपदेश ॥

त्वयापूर्वमथर्वाणो जुघ्नू रक्षीस्योषधे ।

त्वया जघान कुश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया । पूर्वम् । अथर्वाणः । जुघ्नूः । रक्षीसि । ओषधे ।

त्वया । जुघ्नान् । कुश्यपः । त्वया । कण्वः । अगस्त्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (त्वया) तेरे सहारेसे (पूर्वम्) पहिले (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले अथवा मंगल के लिये व्यापक महात्माओं ने (रक्षीसि) राक्षसों को (जुघ्नूः) मारा था । (त्वया)

श्वामिधान्या) अश्वमभिधाति बध्नात्यनया सा अश्वामिधानी । करणे-त्युट् टित्वाद् डीप् । अश्वबन्धनरज्ज्वा (मल्वः) कृ गृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । इति मल धारणे—व । मलिनः । क्रूरः (यः) (मह्यम्) क्रुधद्रुहेभ्यां० । पा० १ । ४ । ३७ । इति चतुर्थी (क्रुध्यति) कुप्यति (सः) (उ) एव (पाशात्) बन्धनात् (न) (मुच्यते) विद्युज्यते ॥

१—(त्वया) (पूर्वम्) अग्रे (अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । निश्चलस्व-भावाः । मङ्गलाय व्यापका महात्मानः (जुघ्नूः) हतवन्तः (रक्षीसि) राक्षसान् (ओषधे) अ० १ । २३ । १ । हे तापनाशक परमेश्वर (जघान) हतवान्

तेरे साथ ही (कश्यपः) तत्त्वदर्शी पुरुष ने, और (त्वया) तेरे साथ ही (कण्वः) मेधावी, तथा (अगस्त्यः) कुटिलगति, पाप के फँकने में समर्थ जीव ने (जघान) मारा था ॥ १ ॥

भाषार्थ—जैसे पूर्वज ऐतिहासिक जितेन्द्रिय पुरुषों ने जगत् का उपकार किया है, वैसे ही सब मनुष्य ज्ञान पूर्वक दाँवों का नाश करके परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे ।

अजं शृङ्गयजु रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥ २ ॥

त्वया । वयम् । अप्सरसः । गन्धर्वान् । चातयामहे । अजं-शृङ्गि । अजं । रक्षः । सर्वान् । गन्धेन । नाशय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अजशृङ्गि) हे जीवात्मा के दुःखनाशक शक्ति परमेश्वर ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों को और (गन्धर्वान्) विद्या वा पृथिवी धारण करने वाले गुणों को (चातयामहे) मांगते हैं । (गन्धेन) अपनी व्याप्ति से (सर्वान्) सब (रक्षः) राक्षसों को (अज) हटा दे और (नाशय) नाश कर दे ॥ २ ॥

भाषार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके पुरुषार्थ करते हैं वे ही संसार को सुख देते हैं । [अजशृङ्गी एक औषध भी है] ॥ २ ॥

इन मन्त्रों के साथ अ० का० २ सू० २ का मिलान करो ॥

(कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः, तत्त्वदर्शकः पुरुषः (कण्वः) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी-निघ० ३ । १५ । (अगस्त्यः) अ० २ । ३२ । ३ । अगस्त्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थः पुरुषः ॥

२—(त्वया) (वयम्) (अप्सरसः) अ० २ । २ । ३ । सरतेरप्वादसिः । उ० ४ । २३७ । इति अप्+सृगतौ-असि । अप्सु आकाशे, जले प्राणेषु प्रजासु च सरणशीलाः शक्तीः (गन्धर्वान्) अ० २ । १ । २ । विद्याधारकान् पृथिवी-धारकान् वा गुणान् (चातयामहे) चते याचने, भ्वा० । अत्र चुरादिः । याचामहे (अजशृङ्गि) अजो जीवात्मा-अ० ४ । १४ । १ । शृङ्गम्-अ० २ । ३२ । ६ । शृङ्गं हिंसायाम्-गन्, स च कित् नुद् च । डोप् । अजस्य जीवात्मनः शृङ्गं दुःखनाशनं यस्याः सा शक्तिः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ अजशृङ्गीति औषधिविशेषोऽप्यस्ति (अज) प्रक्षिप (रक्षः) रक्षपालने-अपादाने क्तिप् । राक्षसान् (सर्वान्) (गन्धेन) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-अच् । स्वयासया (नाशय) ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम् । गुल्गुलूः पीला
नलदीक्षगन्धिः प्रमन्दनी । तत्परंताप्सरसः प्रति-
बुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

नदीम् । यन्तु । अप्सरसः । अपाम् । तारम् । अव-श्वसम् ।
गुल्गुलूः । पीला । नलदी । औक्ष-गन्धिः । प्र-मन्दनी । तत् ।
परा । इत । अप्सरसः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण, और प्रजाओं में व्यापक
शक्तियां (अपाम्) जलके (तारम्) नटको (अवश्वसम्) भरती हुई (नदीम्)
नदी [नदी के समान पूर्णता] को (यन्तु) प्राप्त हों ॥

[जो प्रत्येक] (गुल्गुलूः) रक्षा साधन से रक्षित, (पीला) सब को घेरने
वाली, (नलदी) बन्धन काटने वाली, (औक्षगन्धिः) बड़ों के योग्य गतिवाली,
और (प्रमन्दनी) आनन्द देने वाली शक्ति है ।

(तत्) इसलिये (अप्सरसः) हे आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में
व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः)
प्रत्यक्ष जानी हुयी (अभूतन) होचुकी हो ॥ ३ ॥

३—(नदीम्) अ० १ । ८ । १ नदीत्वम् । नदीयत्पूर्णताम् (यन्तु) प्राप्नु-
वन्तु (अप्सरसः) म० २ । अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः शक्त्यः
(अपाम्) व्याप्तिमतां जलानाम् (तारम्) तृप्तवनतरणयोः—घञ् । तरणस्था-
नम्, तीर्थम्, नदीकूलम् (अवश्वसम्) श्वस प्राणने—क्विप्, अन्तर्भावितव्यर्थः ।
अवश्वसायन्तीम् । सर्वतः पूरयन्तीम् (गुल्गुलूः) अ० २ । ३६ । ७ । गुड रक्षा-
याम्—क्विप् + गुड-कु, स्त्रियाम् ऊङ् । डलयोरैक्यम् । गुडा रक्षासाधनेन गुडिता
रक्षिता शक्तिः (पीला) पील रोधने—अच्, टाप् । रोधनशीला नियामिका
(नलदी) जल बन्धने—अच् + दोअवखण्डने—क, ङोष् । बन्धनच्छेदिका (औक्ष-
गन्धिः) औक्षः, अ० २ । ३६ । ७ । उक्षाः, महन्नाम—निघ० ३ । ३ । ततः, अण ।
सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु—इन् । महतां
योग्या गतिर्यस्यः सा (प्रमन्दनी) मदिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—ल्युट्,

भावाय—परमेश्वर की अनन्त गुणवाली शक्तियां संसार में व्याप्त हैं।
मनुष्य विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेकर आनन्द पावे ॥ ३ ॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।

तत् परैताप्सरसुः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र । अश्वत्थाः । न्यग्रोधाः । महा-वृक्षाः । शिखण्डिनः ।

तत् । परा । इत् । अप्सरसुः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन ॥ ४ ॥

भाषाय—(यत्र) जहाँपर (अश्वत्थाः) वीरों में खड़ेहोने वाले,
(न्यग्रोधाः) शत्रुओं को रोक देने वाले, (महावृक्षाः) अत्यन्त स्वीकार करने
योग्य, और (शिखण्डिनः) अत्यन्त उद्यमो पुरुष हों ।

(तत्) वहाँ (अप्सरसुः) हे आकाश आदि में व्यापक शक्तियो ! (परा)
पराक्रम से (इत्) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन)
हो चुकी हो ॥ ४ ॥

भावाय—मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर महापुरुषार्थी
होवे ॥ ४ ॥

यत्र वः प्रेङ्क्षा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कयैः
संवदन्ति । तत् परैताप्सरसुः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

ङीप् । प्रमादयित्री, हर्षयित्री (तत्) तस्मात् (परा) पराक्रमेण (इत्) गच्छत
प्राप्नुत (अप्सरसुः) हे अप्सरसः । आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः
शक्तयः । (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्षज्ञानाः (अभूतन) भू सत्तायाम् लुङ् । तप्तनप्तन-
थनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति तकारस्य तन । अभूत । अवर्तिद्वम् ॥

४—(यत्र) यस्मिन् स्थाने (अश्वत्थाः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु
स्थितिशीलाः । अश्वत्थामानः । अतिवीरपुरुषाः (न्यग्रोधाः) न्यक्+रुधिर
आवरणे—अन् । शत्रूणां नीचं रोधकाः (महावृक्षाः) वृक्ष वरणे—क । महावर-
णीयाः । अतिश्रेष्ठाः (शिखण्डिनः) अण्डन् कसृभृवृजः । उ० १ । १२६ । इति
शिखगतौ—अण्डन्, स च कित् । तत इति । गतिवन्तः । उद्योगिनः । अन्यत् पूर्व-
वत् म० ३ ॥

यत्र । वः । प्र-ईङ्गाः । हरिताः । अर्जुनाः । उत । यत्र ।
आघाटाः । कर्कर्यः । सम्-वदन्ति । तत् । परा । इत् ।
अप्सरसः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (प्रेङ्खाः) उत्तम गतिवाली, (हरिताः) स्वी-
कार करने योग्य, (अर्जुनाः) उपार्जन करने वाली, (उत) और (यत्र) जहां
(आघाटाः) चेष्टा करती हुई (कर्कर्यः) उत्तमकर्म ग्रहण करने वाली प्रजायें
(वः) तुम्हारा (संवदन्ति) सम्वाद करती हैं ।

(तत्) वहां (अप्सरसः) हे आकाशादि में व्यापक शक्तियों ! (परा) परा-
क्रम से (इत्) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन्) हो
चुकी हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वर की महिमा साक्षात् करके
आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

एयमगुन्तोषधीनां वीरुध्वा वीर्यावती ।

अजशुङ्गयराट्की तीक्ष्णशुङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

आ । इयम् । अगन् । ओषधीनाम् । वीरुधाम् । वीर्य-वती ।

अज-शुङ्गी । अराट्की । तीक्ष्ण-शुङ्गी । वि । ऋषतु ॥६॥

भाषार्थ—(ओषधीनाम्) ताप नाशक (वीरुधाम्) विविध प्रकार से
उगने वाली प्रजाओं के बीच (वीर्यावती) बड़ी सामर्थ्य वाली (इयम्) यह

५—(यत्र) (वः) युष्माकम् (प्रेङ्खाः) प्र + ईङि गतौ-घञ्, टाप् । प्रक-
ष्टगतयः (हरिताः) दृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । इति दृष्ट् हरणे=स्वीकारे-
इतन्, टाप् । हरणीयाः स्वीकरणीयाः (अर्जुनाः) अर्ज अर्जने प्रतियत्ने च
उनन्, टाप् । अर्जनशीलाः । प्रयत्नस्वभावाः (उत) अपि च (आघाटाः)
आङ्+घट चेष्टायाम्-भञ् । चेष्टायमानाः (कर्कर्यः) कृदाघा० । उ० ३ । ४० ।
इति दुक्कृञ् करणे-क, रा दानग्रहणयोः-क, डीप् । कर्क रातोति कर्करी । कर्मग्र-
हीडयः प्रजाः (सम्बदन्ति) सम्वादं कुर्वन्ति । अन्यत् पूर्ववत् म० ३ ॥

६—(इयम्) समीपे वर्तमाना (आ अगन्) गमेर्लुङि छान्दसं रूपम् ।

शक्ति (आ अगन्) प्राप्त हुई है । वहाँ (अजशृङ्गी) जीवात्मा का दुःख काटने वाली, (अराटकी) शीघ्र प्राप्त होने वाली, (तीक्ष्णशृङ्गी) बड़े तेज वाली शक्ति परमेश्वर (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमपिता परमेश्वर की शक्ति सब पदार्थों में व्यापक है, उसके ज्ञान से हम लोग अपनी उन्नति करें ॥ ६ ॥

अनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापुतेः ।

भिनद्धि मुष्कावपि यामि शेषः ॥ ७ ॥

आ-नृत्यतः । शिखण्डिनः । गन्धर्वस्य । अप्सरा-पुतेः ।

भिनद्धिम् । मुष्कौ । अपि । यामि । शेषः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अनृत्यतः) सब ओर चेष्टा करने वाले, (शिखण्डिनः) महा उद्योगी (गन्धर्वस्य) वेदवाणी और पृथिवी आदि को धारण करने वाले (अप्सरापुतेः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों के रक्षक परमेश्वर का (शेषः) सामर्थ्य (यामि) मैं मांगता हूँ, [जिस से] (मुष्कौ) [कामक्रोधरूप] दो चोरों को (अपि) अवश्य (भिनद्धिम्) छिन्न भिन्न करूँ ॥ ७ ॥

आगमत् । आगता (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणां मध्ये (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (वीर्यावती) छान्दसो दीर्घः । अतिशयेन सामर्थ्य-युक्ता (अजशृङ्गी) म० २ । अजस्य जीवात्मनो दुःखनाशनी शक्तिः (अराटकी) कृत्रादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० । ५ । ३५ । इति अर + अट गतौ—वुन् । ङीष् । अरं शीघ्रम् अटति सा । शीघ्रगामिनी (तीक्ष्णशृङ्गी) म० २ । उशृङ्गाणि वलतो नाम-निघ० १ । १७ । तीव्रतेजाः (वि ऋषतु) ऋषी गतौ । व्याप्नोतु ॥

७—(अनृत्यतः) नृनो गात्रविक्षेपे—शतृ । सम्यक् चेष्टावमानस्य (शिखण्डिनः) म० ४ । उद्योगिनः (गन्धर्वस्य) म० २ । पृथिव्यादिधारकस्य (अप्सरापुतेः) अ० २ । २ । ३ । अप्सराणाम् आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलानां शक्तानां पालकस्य परमेश्वरस्य (भिनद्धि) विदारयामि (मुष्कौ) स्वृष्टिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति मुष स्तेये—कक् । कामक्रोधरूपौ तत्करौ (अपि) एव (यामि) याज्ञाकर्म—निघ० ३ । १६ । अहं याचे (शेषः) पानीविषिभ्यः पः ।

भावार्थ—सर्वव्यापक सर्वनियामक परमेश्वर के विचार से मनुष्य जितेन्द्रिय होकर कुकाम कुक्रोध आदि दोषों को मिटावे ॥ ७ ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः ।

याभिर्ह विरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ८ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । अयस्मयीः ।
ताभिः । हविः-अदान् । गन्धर्वान् । अवका-अदान् । वि ।
ऋषतु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (अयस्मयीः) लोह की बनी हुई (ऋष्टीः) खड्गों के समान (भीमाः) भयानक हैं । (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुराचारियों को अनेक प्रकार से दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करता है ॥ ८ ॥

उ० ३ । २३ । इति शीङ् शयने-प । शेषो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेषः शपतेः
ऋषतिकर्मणः-निरु० ३ । २१ । सामर्थ्यम् ॥

८—(भीमाः) अ० ३ । २५ । १ । भयंकराः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य
(हेतयः) अ० १ । १३ । ३ । हननशक्तयः (शतम्) बहु-निघ० ३ । १ ।
(ऋष्टीः) ऋषी गतौ—किच् क्तिन् वा । ऋष्टयः । खड्गा यथा (अयस्मयीः)
सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति इण् गतौ—असुन् । अयस्मय्यः लौहे
निर्मिताः (ताभिः) (हविरदान्) हविः + अद् भक्षणे पचाद्यच् । ग्राह्यान्नभोक्तृन्
(गन्धर्वान्) म० २ । वेदवासांयादिधारकान् (अवकादान्) कृत्वादिभ्यः उ० ५ ।
३५ । इति अव रक्षणगतिहिंसादिषु—बुन् । टाप् + अद्-अच् । हिंसानां भक्षकान्
नाशकान् (वि ऋषतु) व्याप्तोतु ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः ।

ताभिर्हविरुदान् गन्धर्वानवकादान् व्युषतु ॥ ९ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । हिरण्ययीः ।

ताभिः । हविः-अदान् । गन्धर्वान् । अवका-अदान् । वि ।

व्युषतु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (हिरण्ययीः) तेजोमयी (ऋष्टीः) तरवारों के समान (भीमाः) भयानक हैं । (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरुदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले (गन्धर्वान् वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि व्युषतु) व्याप्त हावे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—म० ८ के समान ॥ ९ ॥

अवकादान्भिश्चोचान्पु ज्योतय मामकान् ।

पिशाचान् सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥

अवका-अदान् । अभि-शोचान् । अप-पु । ज्योतय । माम-

कान् । पिशाचान् । सर्वान् । ओषधे । प्र । मृणीहि ।

सहस्व । च ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (अभिशोचान्) सब ओर प्रकाशमान (मामकान्) मेरे पुरुषों को (अप्सु) व्याप्यमान प्रजाओं

९—(हिरण्ययीः) हिरण्यः=हिरण्यमयः=निघ० १० । २३। हिरण्यमय्यः । तेजोमय्यः । अन्यत् पूर्ववत्-म० ८ ॥

१०—(अवकादान्) म० ८ । हिंसार्ता भक्षकान् नाशकान् (अभिशोचान्) अभितः शोचमानान् दीप्यमानान् (अप्सु) व्याप्यमानासु प्रजासु (ज्योतय) ज्योततेजर्वैलतिकर्मा—निघ० । १ ॥ १६ । णिचि रूपम् । ज्योतय प्रकाशय (मामकान्) मत्सम्बन्धिनः पुत्रान् (पिशाचान्) मांसभक्षकान् रोगादीन्

के बीच (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (ओषधे) हे औषध समान ताप नाशक परमेश्वर (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस भक्षक रोग वा जीवों को (प्र मृणीहि) मार डाल (च) और (सहस्व) हरा दे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक धर्मात्मा पुरुष दुष्ट स्वभावों, रोग और दुष्ट जीवों का नाश करें ॥ १० ॥

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशुकः ।

प्रियो दृश इव भुत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो
नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

श्व-इव । एकः । कपिः-इव । एकः । कुमारः । सर्व-के-शुकः ।
प्रियः । दृशे-इव । भुत्वा । गन्धर्वः । सचते । स्त्रियः । तम् ।
इतः । नाशयामसि । ब्रह्मणा । वीर्यावता ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एकः इव) एक ही परमेश्वर (श्व) गतिशील वा वृद्धिशील है, (एकः इव) एक ही (कपिः) कपाने वाला वा क्रोधशील, (कुमारः) कामना योग्य, (सर्वकेशुकः) सर्व प्रकाशक है । (प्रियः इव) प्रिय ही परमेश्वर (गन्धर्वः) वेदवाणी वा पृथिवी का धारण करने वाला (भूवा) होकर (दृशे) सबके देखने के लिये (स्त्रियः) आपस में संगति रखने वाले समूहों में (सचते) मिला रहना है । (वीर्यावता) उस सामर्थ्य वाले (ब्रह्मणा) परब्रह्म के साथ (तम्) चोट करने वाले चोर को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

(सर्वान्) (ओषधे) हे औषधिवत् तापनाशक परमेश्वर (प्र) (मृणीहि) मृण । नाशय (सहस्व) अभिभव (च) समुच्चये ॥

११—(श्व) श्वनुज्ञन्० । उ० १ । १५६ । इति दुग्धो रिव गति वृद्धयोः कनिन् । श्वाऽऽश्रयायो श्वते वास्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा—निरु० । ३ । १८ । गतिशीलः । वृद्धिशीलः (इव) अवधारणे (एकः) अद्वितीयः (कपिः) कुण्ठकम्येर्नलोपश्च । ४ । १४४ । इति कपि चलने—इ । कम्पते क्रुध्यतिकर्मा—निघ० । २ । १२ । कम्पयिता । क्रोधशीलः (कुमारः) क्रमेः किदुच्चावचायाः । ३० । ३ ।

भावार्थ—परमात्मा को सर्वद्रष्टा आदि गुण विशिष्ट जानकर मनुष्य ज्ञान पूर्वक अपने दुष्कर्मों का नाश करे ॥ ११ ॥

जाया इत् वो अप्सुरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।

अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

जायाः । इत् । वः । अप्सुरसः । गन्धर्वाः । पतयः । यूयम् ।

अप । धावतु । अमर्त्याः । मर्त्यान् । मा । सचध्वम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाः) हे वेद वाणी वा पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषो ! (अप्सुरसः) आकाश आदि में व्यापक शक्तियां (वः) तुम्हारे लिये (इत्) ही (जायाः) सुख उत्पन्न करने वाली हैं (यूयम्) तुम [उनके] (पतयः) रक्षक [बनो] । (अप) आनन्द से (धावत) धावो और (अमर्त्याः) हे अमर [नित्य उत्साही] पुरुषो ! (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले पुरुषों को (मा=मया) लक्ष्मी के साथ (सचध्वम्) सदा मिले ॥ १२ ॥

१३८ । इति कमु कान्तौ—आरन् । कमनीयः (सर्वकेशकः) काशृ दोस्तौ—बुन् । अकारस्य एकारः । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा, निरु० १२ । २५ । सर्वप्रकाशकः (प्रियः) प्रीतिकरः (दृशे) अ० १ । ६ । ३ । द्रष्टुम् । सर्वदर्शनाय (भूत्वा) (गन्धर्वः) पृथिव्यादिधारकः परमेश्वरः (स्त्रियः) अ० १ । ८ । १ । स्यै संघाते डूट्, डीप् । सर्वाः संहतीः । समूहान् (तम्) तन आघाते-ड । तानयतीति तः । आहन्तारं चोरम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) नाशयामः (ब्रह्मणा) परमेश्वरेण सह (वीर्यावता) अतिशयसामर्थ्ययुक्तेन ॥

१२—(जायाः) जनैर्यक् । उ० ४ । १११ । इति जन जनने—यक्, टाप् । ये विभाषा । पा० । ६ । ४ । ४३ । इति आत्वम् । सुखस्य जनयिष्यः (इत्) एव (वः) शुष्मभ्यम् (अप्सुरसः) म० २ । आकाशादिषु सरणशीलाः शक्तयः (गन्धर्वाः) म० २ । हे विद्यायाः पृथिव्या वा धारकाः पुरुषाः (पतयः) रक्षकाः (यूयम्) (अप) आनन्देन । यथा—अपचितिः पूजा (धावत) शीघ्रं गच्छत (अमर्त्याः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मृड् प्राणत्यागे—यक् तुक् च,

भावार्थ—परमेश्वर की अनन्त अद्भुत शक्तियां संसार में उपस्थित हैं, उत्साही पुरुष उनसे उपकार लेकर सदा परस्पर उन्नति करें ॥ १२ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-७ ॥ अप्सरा देवता ॥ १-४ अनुष्टुप्, ५, ७ जगती, ६ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणापदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।

ग्लहे' कृतानि कृष्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

उत्-भिन्दतीम् । सम्-जयन्तीम् । अप्सरास् । साधु-देविनीम् ।

ग्लहे । कृतानि । कृष्वानाम् । अप्सरास् । ताम् । इह । हुवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उद्भिन्दतीम्) [शत्रुओं को] उखाड़ने वाली, (सञ्जयन्तीम्) यथावत् जीतने वाली, (अप्सराम्) अद्भुतरूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे=ग्रहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (कृष्वानाम्) करती हुई (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक [परमेश्वर] शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) में बुलाता हूं ॥ १ ॥

निपातनात्साधुः । अमराः । नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) हसिमृगिणः ० । उ० ३ । ८६ । इति मृड् प्राणत्यागे—तन् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति मर्त-यत् । मर्तभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् पुरुषान् (मा) माङ् माने—क्विप् । सुपां सुलुक् ० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तैर्लुक् । मया लक्ष्म्या । इन्दिरा लोकमाता मा—इत्यमरः । १ । २६ । (सचष्वम्) समवेत ॥

१—(उद्भिन्दतीम्) भिदिर् विदारणे—शतृ, डीप् । उत्कर्षेण शत्रून् विदारयन्तीम् (संजयन्तीम्) सम्यग् जयं कुर्वतीम् (अप्सराम्) अ० २ । २ । ३ । अद्भुतरूपवतीम् । (साधुदेविनीम्) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति साधु+दिवु क्रीडाव्यवहारस्तुत्यादिषु—णिनि । उचितव्यवहार-

भाषार्थ—परमेश्वर की अद्भुत शक्तियां सब व्यवहारों में व्याप्त हैं।
मनुष्य इनका खोज लगा कर सदा सुखी रहे ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सू० २ और पिछले सूक्त से करो ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सुरां साधुदे विनीम् ।

ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सुरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

वि-चिन्वतीम् । आ-किरन्तीम् । अप्सुराम् । साधु-दे-विनीम् ।

ग्लहे । कृतानि । गृह्णानाम् । अप्सुराम् । ताम् । इह । हुवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विचिन्वतीम्) [पदार्थों को] समेटने वाली, (आकिरन्तीम्) फैलानेवाली, (अप्सुराम्) अद्भुत रूपवाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहारवाली, (ग्लहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (गृह्णानाम्) ग्रहण करती हुयी (ताम्) उस (अप्सुराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्तियों से अपने कार्य सिद्ध करके आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात् ।

सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नेतु मायया ।

सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

शीलाम् (ग्लहे) अक्षेणु ग्लहः । पा० ३। ३ । ७० । इति ग्लहग्रहणे—अप् । अनुग्रहे (कृतानि) कर्माणि (कृतवानाम्) कुर्वाणाम् (अप्सुराम्) अ० २ । २ । ३ । अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलां परमेश्वरशक्तिम् (ताम्) प्रसिद्धाम् (इह) अस्मिन् वर्त्तमानकर्मणि (हुवे) आह्वयामि ॥

२—(विचिन्वतीम्) विञ् चयने—शतृ । संघोर्बुर्वतीम् (आकिरन्तीम्) कृ विक्षेपे—शतृ । विक्षिपन्तीम् (गृह्णानाम्) ग्रह उपादाने—शानच् । आदकानाम् । अन्यत् पूर्ववत् म० २ ॥

या । अयैः । परि-नृत्यन्ति । आ-ददाना । कुतम् । ग्लहात् ।
 सा । नः । कृतानि । सीषती । प्र-हाम् । आप्नोतु । मायया ।
 सा । नः । पयस्वती । आ । एतु । मा । नः । जैषुः । इदम् ।
 धनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो शक्ति (अयैः) मङ्गल अनुष्ठानों के साथ (ग्लहात्)
 [अपने] अनुग्रह से (कृतम्) कर्म (आददाना) स्वीकार करती हुयी (परि-
 नृत्यन्ति) सब ओर चेष्टा करती है । (सा) वही (नः) हमारे (कृतानि)
 कर्मों को (मायया) बुद्धि के साथ (सीषती) नियम बद्ध चाहती हुयी
 (प्रहाम्) उत्तम गति (आप्नोतु) प्राप्त करे [अर्थात् प्रसन्न हो] (सा) वही
 (नः) हमारे लिये (पयस्वती) अन्न वाली होकर (ऐतु) आवे । (नः)
 हमारे (इदम्) इस (धनम्) धन को [शत्रु लोग] (मा जैषुः) न
 जीते ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों को जानकर पुष्कल अन्न आदि
 पदार्थ प्राप्त करके बलवान् हों ॥ ३ ॥

या प्रक्षेपु' प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च विभ्र'ती ।
 आनुन्दिनी' प्रमोदिनीमप्सुरां तामिह हु'वे ॥ ४ ॥

३—(या) (अयैः) एति सुखमनेन, इण् गतौ—अच् । अयः शुभावहेः
 विधिः—इत्यमरः । ४ । २७ । शुभावहैर्विधिभिः । मङ्गलानुष्ठानैः (परिनृत्यन्ति)
 सर्वत्र चेष्टते (आददाना) स्वीकुर्वाणा (कृतम्) कर्म (ग्लहात्) स्वानुग्रहात्
 (सा) (नः) अस्माकम् (कृतानि) कर्माणि (सीषती) विष् बन्धने—सनि,
 शतरि छान्दसं रूपम् । सिषीषन्ती । बन्धुं नियन्तुम् इच्छन्ती (प्रहाम्) प्र+
 ओहाङ् गतौ—क, टाप् । प्रकृष्टां गतिम् (आप्नोतु) आप्नोतु (मायया) प्रज्ञया-
 निघ० ३ । ६ । (नः) अस्मभ्यम् (पयस्वती) पयः=अन्नम्—निघ० २ । ७ ।
 अन्नवती (ऐतु) आगच्छतु (नः) अस्माकम् (मा जैषुः) जि जये माङ्गि
 लुङि रूपम् । न जयन्तु । माप हावुः शत्रवः (इदम्) (धनम्) वित्तम् ॥

याः । अक्षेपु' । प्र-मोदन्ते । शुचम् । क्रोधम् । च । बिभ्रती ।
आ-नृन्दिनीम् । प्र-मो दिनीम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥ ४

भाषार्थ—(याः = या) जो शक्ति (शुचम्) शुद्धि (च) और (क्रोधम्)
क्रोध (बिभ्रती) धारण करती हुई (अक्षेपु) सब व्यवहारों में (प्रमोदन्ते = ०—
दते) हर्ष पाती है । (आनन्दिनीम्) आनन्द दायिनी, (प्रमोदिनीम्) हर्ष कारिणी
(ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर
(हुवे) मैं तुलाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्यायस्वरूप परमात्मा की महिमा जानकर मनुष्य सब व्य-
वहारों में आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पण्डित सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (बिभ्रती) के स्थान पर
(बिभ्रति) पद है ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनु-
संचरन्ति । यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्सद्यः सर्वान्
लोकान् पुर्येति रक्षन् । स न एतु होममिमं जुषाणो-
न्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

सूर्यस्य । रश्मीन् । अनु' । याः । सम्-चरन्ति । मरीचीः ।
वा । याः । अनु-संचरन्ति । यासाम् । ऋषभः । दूरतः ।
वाजिनी-वान् । सद्यः । सर्वान् । लोकान् । पुरि-रति । रक्षन् ।
सः । नः । आ । एतु । होमम् । इमम् । जुषाणः । अन्तरि-
क्षेण । सह । वाजिनी-वान् ॥ ५ ॥

४—(याः) एकवचने बहुवचनम् । या । अप्सरा (अक्षेपु) अक्ष व्याप्तौ
संघाते च-अच्, घञ् वा । यद्वा । अशेर्देवने । उ०३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ-स ।
व्यवहारेषु (प्रमोदन्ते) प्रमोदते । इहृष्यति (शुचम्) शुचिर् शौचे—क्विप् ।
शुद्धिम् (क्रोधम्) कोपम् (च) (बिभ्रती) धारयन्ती (आनन्दिनीम्) सुखव-
तीम् (प्रमोदिनीम्) प्रदपयित्रीम् । अन्यद् यथा म० ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो [शक्तियाँ] (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन् अनु) व्यापक किरनों के साथ साथ (संचरन्ति) चलती रहती हैं, (वा) और (याः) जो (मरीचीः) सब प्रकाशों के (अनुसंचरन्ति) साथ साथ फिरती हैं ।

(यासाम्=तासाम्) उनका (ऋषभः) दशक परमेश्वर (वाजिनीवान्) अगवती क्रिया धारण करता हुआ (दूरतः) दूर से (सद्यः) तुरन्त ही (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (रक्षन्) पालता हुआ (पर्यैति) घेरकर आता है ।

(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवान्) बलवती क्रिया वाला (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे (इमम्) इस (होमम्) आत्मदान को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (पेतु) आवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी शक्ति से सब दूर और निकट के पदार्थों में व्यापक होकर रक्षा करता है । मनुष्य उसमें पूर्ण श्रद्धा करके पुरुषार्थ पूर्वक अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (पर्यैति) के स्थान पर [पर्येति] और पद पाठ में [परि—एति] पद है ॥

**अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् कर्की वृत्सामिह रक्ष
वाजिन् । इमे ते स्तोका बहूला एह्यर्वाङ्मियं ते कर्कीह
ने मनोऽस्तु ॥ ६ ॥**

५—(सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मीन्) अ० २ । ३२ । १ । व्यापकान् किरणान् (अनु) अनुसृत्य (याः) अप्सराः । ईश्वरशक्तयः (संचरन्ति) सम्यग् गच्छन्ति (मरीचीः) भ्रियन्ते तमांसि यया । मृकणिभ्यामीचिः । उ० । ४ । ७० । इति मृड—ईचि । दीप्तोः । प्रकाशान् (वा) वेति विचारार्थं...अथापि समुच्चयार्थं भवति-निरु० ? । ४ । (अनुसंचरन्ति) अनुलक्ष्य व्याप्नुवन्ति (यासाम्)=तासाम् अप्सराणाम् (ऋषभः) अ० ३ । ६ । ४ । द्रष्टा सर्वश्रेष्ठः परमेश्वरः (दूरतः) दूरदेशात् । अगम्यस्थानात् (वाजिनीवान्) अगवतीक्रियावान् (सद्यः) अ० २ । १ । ४ । तत्क्षणम् (सर्वान्) (लोकान्) दृश्यमानानि भुवनानि (पर्यैति) परितः आगच्छति (रक्षन्) पालयन् (सः) (नः) अस्माकम् (पेतु) आगच्छतु (होमम्) अस्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति हु दानादानादनेषु—मन् । आत्मदानम् (इमम्) (जुषाणः) सेवमानः (अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीनाम्) बलवतीक्रियायुक्तः ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह ।
रक्ष । वाजिन् । इमे । ते । स्तोकाः । बहुलाः । आ । इहि ।
अर्वाङ् । इयम् । ते । कर्की । इह । ते । मनः । अस्तु ॥६॥

भाषाय—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवन्) हे अजवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन्) हे बलवान् परमेश्वर ! (इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर । (इमे) यह सब (ते) तेरे (स्तोकाः) अनुग्रह (बहुलाः) बहुत पदार्थ देने वाले हैं । (अर्वाङ्) सन्मुख (एहि) तू आ । (इयम्) यह (ते) तेरी (कर्की) रचना शक्ति है । (इहि) इसमें (ते) तेरा (मनः) मनन (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी व्यापकता और कृपा से सब संसार हमारे लिये रचा है । हम उसका मनन करके सदा सुखी रहें ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष
वाजिन् । अयं घ्रासो अयं ब्रज इह वत्सां निबन्धीमः ।
यथानाम व ईशमहे स्वाहा ॥ ७ ॥

६—(अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीवन्) वाजिनी अजवती बलवती वा क्रिया तथा तद्वन् (कर्कीम्) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । इति डुकृञ्—क, ऊोप् । कर्त्तुं शक्तिम् (वत्साम्) वृत्तवदिचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे—स । निवासयित्रीम् (इह) अस्मिन् शरीरे (रक्ष) पालय (वाजिन्) हे बलवन् (इमे) दृश्यमानाः (ते) तव (स्तोकाः) ष्टुच् प्रसादे—वञ् । प्रसादाः । अनुग्रहाः । यद्वा । आद्यन्तविपर्ययो भक्ति, स्तोकाः—निरु० २ । १ । इति श्चुतिर् क्षरणे—वञ् । विन्दवः (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धिशिलाः । बहुदातारः (एहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (इयम्) (ते) (कर्की) कर्त्री शक्तिः (इह) (ते) (मनः) मननम् । विज्ञानम् (अस्तु) भवतु ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वृत्साम् । इह ।
रक्ष । वाजिन् । अयम् । घासः । अयम् । व्रजः । इह । वृत्साम् ।
नि । बध्नी-मः । यथा-नाम । वः । ईशमहे । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वा-
जिनीवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन्) हे बलवान परमेश्वर
(इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वृत्साम्) निवास देने
वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षाकर । (अयम्) यह (घासः) भोजन है, (अयम्)
यह (व्रजः) आने जाने का स्थान है, (इह) यहां पर [हृदय में] (वृत्साम्) तेरी
निवास देने वाली शक्ति को (नि) निरन्तर (बध्नीमः) हम बांधते हैं ।

(वः) तुम्हारा (यथानाम) जैसा नाम है, [वैसे ही] (ईशमहे) हम ऐश्वर्य
वान् होवें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से अन्न, शरीर, घर आदि
पदार्थ हमें दिये हैं, हम उनका यथावत् उपयोग करके सदा ऐश्वर्यवान्
होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-१० ॥ १, २, ८, १० अग्निः, ३, ४ वायुः; ५, ६ आदित्यः;
७, ८ चन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ७ त्रिपदजगती; २, ४, ६, ८
संस्तारपङ्क्तिः, ८, १० त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ।

७—(अन्तरिक्षं खेत्यादि) पूर्वोऽर्धर्चः पूर्ववद् योज्यः (अयम्) उपस्थितः (घासः)
घञपोश्च । पा० २ । ४ । ३८ । इति अदो घस्तु आदेशो घञि । अदनीयः पदार्थः
(अयम्) (व्रजः) गोचर संचर वहव्रज० । पा० ३ । ३ । ११६ । इति व्रज गतौ
घ । गमनप्रदेशः (इह) अस्मिन् विषये (वृत्साम्) म० ६ । निवासयित्री
शक्तिम् (नि) नितराम् (बध्नीमः) हृदये धारयामः (यथानाम) यादृशगुणवि-
शिष्टं नामास्ति तथैव । (वः) आदरे बहुवचनम् । तव (ईशमहे) ऐश्वर्यवन्तो
भवामः (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्तस आध्रीत् । यथा पृथिव्या-
मग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

पृथिव्याम् । अग्नये । सम् । अ नमन् । सः । आ ध्रीत् । यथा ।
पृथिव्याम् । अग्नये । सम् । अनमन् । एव । मह्यम् । सम्-
नमः । सम् । नमन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) भौतिक अग्निके लिये वे [ऋषि
लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आध्रीम्) बढ़ा-
या है । (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) अग्निके लिये वे (सम्
अनमन्) यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मेरे लिये (संनमः) सब
सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्व ऋषियों ने शिल्प आदि में भौतिक अग्नि के प्रयोग
सेयज्ञ सिद्ध करके अनेक सम्पत्तियां प्राप्त की हैं, वैसे ही हम भी प्राप्त करें ॥ १ ॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।

सा मेऽग्निना वृत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रुयिं स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवी । धेनुः । तस्याः । अग्निः । वृत्सः । सा । मे । अ-
ग्निना । वृत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् । आयुः ।
प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रुयिम् । स्वाहा ॥ २ ॥ ।

१—(पृथिव्याम्) भूलोक (अग्नये) भौतिकाग्नये (सम्) सम्यक् । यथा-
विधि (अनमन्) एव प्रहृत्वे शब्दे च-लङ् । नता अभवन् ते ऋषयः (सः)
अग्निः (आध्रीत्) ऋषु वृद्धौ-लङ्, अन्तर्गतण्यर्थः । अवर्धयत् (यथा) येन प्रका-
रेण (एव) एवम् (मह्यम्) पुरुषार्थिने पुरुषाय (संनमः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते
पा० ३ । २ । ७५ । इति सम् + एम-विच् । सर्वाः सन्नतयः सम्पत्तयः (नमन्तु)
प्रहीभवन्तु । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(पृथिवी) पृथिवी (धेनुः) दुधैल गौ के समान है । (तस्याः) उस [धेनु] के (वत्सः) बच्चा सदृश (अग्निः) है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चे रूप (अग्निना) अग्नि के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बछड़े द्वारा गौ से दूध लेते हैं इसी प्रकार अग्नि विद्या द्वारा पृथिवी के पदार्थों से अनेक कला कौशल सिद्ध करके मनुष्य समृद्ध होवें ॥ २ ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्तु आर्ध्रोत् । यथान्तरिक्षे
वायवे समनमन्तु वा महयं सं नमः सं नमन्तु ॥३॥

अन्तरिक्षे । वायवे । सम् । अनुमन् । सः । आर्ध्रोत् । यथा ।
अन्तरिक्षे । वायवे । सम्-अनमन् । एव । महयम् । सम्-
नमः । सम् । नमन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमते हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्रोत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को (सम्

२—(पृथिवी) भूमिः (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । दोग्धी गौर्यथा (तस्याः) धेन्वाः (अग्निः) भौतिकाग्निः (वत्सः) अ० ३ । १२ । ३ । गोशिशुर्यथा (सा) धेनुः (मे) मह्यम् (अग्निना) (वत्सेन) शिशुना च (इषम्) अ० ३ । १० । ७ । अन्नम् (ऊर्जम्) अ० ३ । १० । ७ । पराक्रमम् (कामम्) सुमनोरथम् (दुहाम्) तलोपः । दुग्धम् । प्रपूरयतु (आयुः) जीवनम् (प्रथमम्) प्रख्यातं प्रधानम् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपां संततिम् (पोषम्) पोषणम् (रयिम्) धनम् (स्वाहा) आशीर्वादोऽस्तु ॥

३—(अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वायवे) पवनाय । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

अन्य ज्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझको (सज्जमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—मनुष्य पूर्वज ऋषियों के समान सब में वर्तमान वायु से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः ।

सा मे वायुना वत्सेनेष्टमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रुयिं स्वाहा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षम् । धेनुः । तस्याः । वायुः । वत्सः । सा । मे । वायुना । वत्सेन । इष्टम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् । आयुः । प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रुयिम् । स्वाहा ॥४॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है । (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (वायुः) वायु है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (वायुना) वायु के साथ (इष्टम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रुयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भाषार्थ—वायु से अनेक प्रकार उपकार लेकर मनुष्य सुखी हों ॥ ४ ॥

दिव्यादित्याय समनमन्तस आर्ध्नीत् । यथा दिव्या-

दित्याय समनमन्तुवा मह्यं सुनमः सं नमन्तु ॥५॥

दिवि । आदित्याय । सम् । अनुमन् । सः । आर्ध्नीत् ।

यथा । दिवि । आदित्याय । सम्-अनमन् । एव । मह्यम् ।

सम्-नमः । सम् । नमन्तु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दिवि) आकाशमें वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमो हैं, (सः) उस ने [उन्हें] (आध्नीत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (दिवि) आकाशमें वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमो हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमो ॥ ५ ॥

भावार्थ—पहिले ऋषि महात्माओं के समान सूर्य के प्रकाश आदि से उपकार लेकर आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्वौर्ध्वे नुस्तस्या आदित्यो वत्सः ।

सा म' आदित्येन वत्सेनेषमूर्ज' काम' दुहाम् ।

आयुः प्रथम' प्रजां पोष' रयिं स्वाहा ॥६॥

द्यौः । धेनुः । तस्याः । आदित्यः । वत्सः । सा । मे ।

आदित्येन । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् ।

आयुः । प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥६॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है, (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (आदित्यः) सूर्य है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (आदित्येन) सूर्य के साथ (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण, और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य-सूर्यलोक और सूर्य का पृथिवी से संबन्ध जानकर अनेक लाभ उठाकर सुखी होवे ॥ ६ ॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्तस आध्नीत् । यथा दिक्षु

चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं सन्नमः सं नमन्तु ॥७॥

५—(दिवि) आकाशे वर्तमानाय (आदित्याय) अ० १ । ६ । १ ।
आकाशमानाय सूर्याय । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

६—सर्व पूर्ववत्-म० २, ५ ।

दिक्षु । चन्द्राय । सम् । अनमन् । सः । आध्नोत् । यथा ।
 दिक्षु । चन्द्राय । सम्-अनमन् । एव । महथम् । सम्-नमः ।
 सम् । नमन्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को वे [ऋषि
 लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमते हैं । (सः) उसने [उन्हें]
 (आध्नोत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय)
 चन्द्रमा को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमते हैं, (एव) वैसे हो (महथम्)
 मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य चन्द्रमा के पुष्टिकारक गुणों से उपकार लेकर
 आनन्दित हो ॥ ७ ॥

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वृत्सः ।

ता मे चन्द्रेण वृत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रुयिं स्वाहा ॥ ८ ॥

दिशः । धेनवः । तासाम् । चन्द्रः । वृत्सः । ताः । मे ।
 चन्द्रेण । वृत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् । आयुः ।
 प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रुयिम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(दिशः) सब दिशाये (धेनवः) दुधैल गौआ के समान
 हैं । (तासाम्) उन [गौरूपों] का (वृत्सः) वृत्त्वा रूप (चन्द्रः) चन्द्रमा है ।
 (ताः) वे [गौरूप] (मे) मुझे (वृत्सेन) वृत्त्वा रूप (चन्द्रेण) चन्द्रमा के
 साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ (प्रथमम्
 आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रुयिम्) धन
 (दुहाम् = दुहताम्) परिपूर्ण करें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ८ ॥

७—(दिक्षु) प्राच्यादिषु (चन्द्राय) आह्लादकाय चन्द्रमसे । अन्यत्
 पूर्ववत् । म० १ ॥

८—(दुहाम्) दुहताम् प्रपूरयन्तु । अन्यत् पूर्ववत् । म० २, ७ ॥

भावाय—मनुष्य चन्द्रमा के गुणों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध जान कर अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करके अन्न भोगें ॥ ८ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म
भागम् ॥९॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्र-विष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः ।
अभिश्स्ति-पाः । ऊं इति । नमः-कारेण । नमसा । ते ।
जुहोमि । मा । देवानाम् । मिथुया । कर्म । भागम् ॥९॥

भाषार्थ—(ऋषीणाम्) धर्म साक्षात् करनेवाले मुनियों वा विषय देखने वाली इन्द्रियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला, (अभिश्स्तिपाः) हिंसा के भयसे बचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उ) निश्चय करके (अग्नौ) सूर्य, अग्नि आदि तेज में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुए (चरति) चलता है । (ते) [उस] तुम्हको (नमस्कारेण) नमस्कार और (नमसा) आदर के साथ (जुहोमि) मैं आत्मदान करता हूँ । (देवानाम्) महात्माओं के (भागम्) ऐश्वर्य वा सेवनीय कर्म को (मिथुया = मिथुना) दुष्टता से (मा कर्म) हम नष्ट न करें ॥ ९ ॥

भावाय—सब मनुष्य परब्रह्म जगदीश्वर को पूर्ण भक्ति से सर्वत्र व्यापक जानकर महात्माओं के समान शुभ कर्म करके सदा ऐश्वर्यवान् हों ॥ ९ ॥

९—(अग्नौ) सूर्यादितेजसि (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (चरति) व्याप्नोति (प्रविष्टः) अन्तर्गतः (ऋषीणाम्) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृत-धर्मणां मुनीनाम्, विषयद्रष्टृणामिन्द्रियाणां वा (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः । पविता शोधकः (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । हिंसा-भयाद्वरक्षकः (उ) निश्चयेन (नमस्कारेण) सत्कारेण (नमसा) नमनेन, आदरेण (ते) तथाविधाय तुभ्यम् (जुहोमि) आत्मदानं करोमि (देवानाम्) महात्मनां (मिथुया) अ० ४ । २६ । ७ । मिथुना हिंसेन दुष्कर्मणा (मा कर्म) कृञ् हिंसायाम्-माङि लुङि । मन्त्रे घसह्व० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्छेर्लुक् । मा कर्म मा हिंसेष्व (भागम्) भग-अण् । ऐश्वर्याणां समूहम् । यद्वा, भज-अञ् । भजनीयं कर्म ॥

हृदा पुतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि
विद्वान् । सप्तस्यानि तव जातवेदुस्तेभ्यो जुहोमि स
जुषस्व हव्यम् ॥१०॥

हृदा । पुतम् मनसा । जात-वेदुः । विश्वानि । देव ।
वयुनानि । विद्वान् । सप्त । आस्यानि । तव । जात-वेदुः ।
तेभ्यः । जुहोमि । सः । जुषस्व । हव्यम् ॥१०॥

भाषार्य—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् ! (देव) हे प्रकाशमान परमेश्वर !
तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) ज्ञानों को (विद्वान्) जानने वाला है । (जात-
वेदः) हे बड़े धन वाले ! [मेरी] (सप्त) सात (आस्यानि) [मस्तक की]
गोलकें (तव) तेरी [तेरे तत्पर हों] । (तेभ्यः) उनके हित के लिये (हृदा)
हृदय और (मनसा) मन से (पुतम्) शोधे हुये कर्म को (जुहोमि) समर्पण
करता हूँ । (सः) सो तू [मेरे] (हव्यम्) आवाहन को (जुषस्व) स्वीकार
कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को उस सर्वशक्तिमान् की
आज्ञा में लगा कर सदा आनन्द भोगें । मस्तक की सात इन्द्रियों के जीतने में
ही सब प्राणी आनन्द पाते हैं जैसा (कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि.....)
अ० १० । २ । ६ में वर्णन है ॥ (सप्त आस्यानि) पद की व्याख्या में (सप्त
ऋषयः) पद अ० ४ । ११ । ६ । में देखो ॥ १० ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद (विश्वानि देव... विद्वान्) य० ४० । १६ में है ॥

१०—(हृदा) हृदयेन (पुतम्) शोधितं कर्म (मनसा) अन्तः करणेन
(जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (विश्वानि) सर्वाणि
(देव) हे प्रकाशमान (वयुनानि) अ० २ । २८ । २ । ज्ञानानि (विद्वान्)
जानन् सन् वर्त्तसे (सप्त) सप्तसंख्याकानि (आस्यानि) ऋहृल्लोर्ण्यत् ।
पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे, वद्धा आस उपवेशने-ण्यत् । अस्यन्तं
क्षिप्यन्ते, यद्धा, आसते तिष्ठन्ति विषया यत्र तानि । शीर्षण्यानि खानि इन्द्रियाणि
मम प्राणिनः (तव) तव परमेश्वरस्य, तत्पराणि भवन्तु-इत्यर्थः (जातवेदः)
हे जातधन (तेभ्यः) तादर्थ्यं चतुर्थी । तेषामास्यानां द्वितीय (जुहोमि) समर्पयामि
(सः) सत्वम् (जुषस्व) सेवस्व । स्वीकुरु (हव्यम्) हवे-यत् । आह्वानम् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-८ ॥ जातवेदा देवता ॥ १-७ त्रिष्टुप्, ८ ये दिशामे-
त्यस्य जगती छन्दः । ब्रह्मेत्यस्य त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशनायोपदेशः—शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

ये पुरस्ताज्जुह्व'ति जातवेदुः प्राच्या दिशोऽभिदा-
सन्त्यस्मान् । अग्निमुत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्य-
गेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

ये । पुरस्तात् । जुह्व'ति । जात-वेदुः । प्राच्याः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । अग्निम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग
(पुरस्तात्) सन्मुख होकर (प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख (दिशः) दिशा से
(अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं ।
(ते) वे (अग्निम्) [तुम्हें] सर्व व्यापक को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ
देते हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें । (एनान्) इन को (प्रतिसरेण) [तुम्हें]
अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उल्टा (हन्मि) मैं मारता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने आत्मिक
और शारीरिक शत्रुओं का नाश करें । ऐसा ही भाव अन्य मन्त्रों का समझो ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अथर्व० ३ । २६ तथा २७ से करो ॥

१—(ये) शत्रवः (पुरस्तात्) अग्रतः (जुह्वति) हु दानादनयोः । अदन्ति ।
नाशयन्ति (जातवेदः) आ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (प्राच्याः)
अ० ३ । २६ । १ । स्वास्थानात् पूर्वायाः स्वानिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः
सकाशात् (अभिदासन्ति) अभितो घ्नन्ति (अस्मान्) (धार्मिकान्) (अग्निम्)
सर्वव्यापिनं त्वां जातवेदसम् (ऋत्वा) गत्वा, प्राप्य (ते) शत्रवः (पराञ्चः)
पराङ्मुखाः कुण्ठितशक्तयः सन्तः (व्यथन्ताम्) व्यथ भयचलनयोः । व्यथिनाः
संतप्ता भवन्तु (प्रत्यक्) प्रतिमुखम् (एनान्) दुष्टान् शत्रून् (प्रतिसरेण) अ० २ ।
११ । २ । अग्रगामिना त्वया सह (हन्मि) नाशयामि ॥

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि-
दासन्त्यस्मान् । यमभृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगै-
नान् प्रतिसुरेण हन्मि ॥२॥

ये । दक्षिणतः । जुह्वति । जात-वेदः । दक्षिणायाः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । यमम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेण । हन्मि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दक्षिणतः)
दाहिनी ओर में (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से
(अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं ।
(ते) वे (यमम्) [तुभ्] धर्मराज न्यायकारी को (ऋत्वा) पाकर.....
म० १ ॥ २ ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्य-
स्मान् । वरुणभृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्
प्रतिसुरेण हन्मि ॥ ३ ॥

ये । पश्चात् । जुह्वति । जात-वेदः । प्रतीच्याः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । वरुणम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेण । हन्मि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग
(पश्चात्) पीछे की ओर में (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः)

२—(दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणहस्तदिशि (दक्षिणायाः) अ० ३ ।
२६ । २ । दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तवर्तमानायाः (यमम्) यमयति नियमयति
जीवान् स यमः, यम—अच् । धर्मराजं न्यायिनं जातवेदसम् । अन्यद् यथा
म० १ ॥

३—(पश्चात्) पश्चात् । पौ० ५ । ३ । ३२ । इति अपर—आति, पश्चभावः

दिशा से (अस्मान्) हमको (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (वरुणम् [तुभ] सर्वश्रेष्ठ को (ऋत्वा) पाकर म०...१ ॥३॥
य उत्तरतो जुह'ति जातवेदु उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्य-
स्मान् । सोममुत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्
प्रतिसुरेणं हन्मि ॥ ४ ॥

ये । उत्तरतः । जुह'ति । जात-वेदुः । उदीच्याः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । सोमम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेणं । हन्मि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उत्तर-
तः) बायीं ओर में (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (अस्मान्)
हम को (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (सोमम्)
[तुभ] पेश्वर्य वाले को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥ ४ ॥

ये ३ धस्ताज्जुह'ति जातवेदो ध्रुवायां दिशोऽभिदा-
सन्त्यस्मान् । भूमिमुत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगे-
नान् प्रतिसुरेणं हन्मि ॥ ५ ॥

ये । अधस्तात् । जुह'ति । जात-वेदुः । ध्रुवायाः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । भूमिम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेणं । हन्मि ॥ ५ ॥

पश्चाद् देशे (प्रतीच्याः) अ० ३ । २६ । ३ । पश्चिमायाः । पश्चाद्भागे स्थितायाः
(वरुणम्) वरणीयं श्रेष्ठं त्वाम् ॥

४—(उत्तरतः) उत्तर-अतस्तुच् । वामहस्तदिशि (उदीच्याः) अ० ३ ।
२६ । ४ । उत्तरस्याः । वामभागवर्त्तमानायाः (सोमम्) पेश्वर्यवन्तं त्वाम् ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अध-
स्तात्) नीचे की ओर में (ध्रुवायाः) स्थिर (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम
को (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (भूमिम्)
[तुभ्] सर्वाधार को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥ ५ ॥

ये अन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभि-
दासन्त्यस्मान् । वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्य-
गेनान् प्रतिसुरेण हन्मि ॥ ६ ॥

ये । अन्तरिक्षात् । जुह्वति । जात-वेदः । वि-अध्वायाः ।
दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । वायुम् । ऋत्वा । ते । परा-
ञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेण । हन्मि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अन्त-
रिक्षात्) अन्तरिक्ष वा आकाश से (व्यध्वायाः) विविध मार्ग वाली (दिशः)
दिशा से (अस्मान्) हमको (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते
हैं । (ते) वे (वायुम्) [तुभ्] बलवानों में महाबलवान् को (ऋत्वा)
पाकर.....म० १ ॥ ६ ॥

य उपरिष्ठाज्जुह्वति जातवेदो ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदा-
सन्त्यस्मान् । सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्
प्रतिसुरेण हन्मि ॥ ७ ॥

५—(अधस्तात्) दिक् शब्देभ्यः० । पा० ५ । ३ । २७ । इति अधर-अस्ताति ।
अस्ताति च । पा० ५ । ३ । ४० । इति अध् इत्यादेशः । अधोभागे (ध्रुवायाः)
अ० ३ । २६ । ५ । स्थिरायाः (भूमिम्) अ० १ । ११ । २ । भवन्ति भूतानि यस्यां
सा भूमिः, ईश्वरनाम—सत्यार्थप्रकाशे, समुल्लासे १ । सर्वाधारं त्वाम् ॥

६—(अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३१ । आकाशात् (व्यध्वायाः) उपसर्गा-
दध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि + अध्वन्—अच् समासान्तः । विविध-
मार्गायाः (वायुम्) अ० २ । २० । १ । बलिनां बलिष्ठं त्वामीश्वरम् ॥

ये । उपरिष्ठात् । जुहति । जात-वेदुः । ऊर्ध्वायाः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । सूर्यम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेण । हन्मि ॥१॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उप-
रिष्ठात्) ऊँचे स्थान में (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्)
हमको (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (सूर्यम्)
[तुभ] सर्वव्यापक वा सर्व प्रेरक को (ऋत्वा) पाकर.....म० १ ॥ ७ ॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुहति जातवेदुः सर्वाभ्यो
दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् । ब्रह्म त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां
प्रत्यगेनान् प्रतिसुरेण हन्मि ॥ ८ ॥

ये । दिशाम् । अन्तः-देशेभ्यः । जुहति । जात-वेदुः । सर्वाभ्यः ।
दिक्-भ्यः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । ब्रह्म । ऋत्वा । ते ।
पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सुरेण ।
हन्मि । ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दि-
शाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्य देशों से (सर्वाभ्यः) सब (दिग्भ्यः)
दिशाओं से (अस्मान्) हमको (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई
करते हैं । (ते) वे (ब्रह्म) [तुभ] ब्रह्म को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ
देते हुये (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें । (एनान्) इनको (प्रतिसुरेण) [तुभ]
अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उल्टा (हन्मि) मैं मारता हूँ ॥ ७ ॥

७—(उपरिष्ठात्) उपर्युपरिष्ठात् । पा० ५ । ३ । ३१ । इति ऊर्ध्व-रिष्ठानिल्,
ऊर्ध्वस्य उपभावः । ऊर्ध्वभागे (ऊर्ध्वायाः) अ० ३ । २६ । ६ । उपरि वर्तमानायाः
(सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सर्वव्यापकं सर्वप्रेरकं वा त्वां परमात्मानम् । अन्यत्
पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य उस सर्वनियन्ता परब्रह्म का आश्रय लेकर विचार पूर्वक अपने सब विघ्नों का नाश करके आनन्द भोगें । ८ ॥

इति अष्टमो ऽनुवाकः ॥

इति चतुर्थं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायकवाडा-
धिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामार्थर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन श्री परिडन क्षेमकरण दास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये चतुर्थकाण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे फाल्गुनमासे शिवचतुर्दश्याम् [कृष्णचतुर्दश्याम्]

१६७१ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिं प्रतापिमहायशास्त्रि

श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आषाढकृष्णैकादश्यां संवत् १६७२ ता० ७ जुलाई १६१५ ॥

८—(दिशाम्) दिशानाम् (अन्तर्देशेभ्यः) अन्तरालेभ्यः (सर्वाभ्यः) सक-
लाभ्यः (दिग्भ्यः) दिशाभ्यः (ब्रह्म) अ० १ । ८ । ४ । सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म ।
तं त्वां परमेश्वरम् । अन्यत् पर्ववत् ॥

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये]

अथर्ववे भाष्यम्—ब्रह्मा जी लै लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि और

योगी जिन वेदों का महत्त्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् जिनकी महिम्मा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अर्थ तक संस्कृत में होने के कारण बड़े बड़िन समझ जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ कर सर्वसाधारण उसका अर्थ नहीं समझ सकते थे, अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है । और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है । परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक आगरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयत्न निम्नलिखित पं० लोमकरणदास त्रिवेदी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणदि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं ।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों का कोष्ठ में देकर साम्बन्ध भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी। पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अनि सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुँचता है । वेद में भीमान् राजे महाराजे, सेठ, साहू-कार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारि-तोषिकों के लिये भाष्य मंगावे, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोग और धर्मात्मा पुरुषार्थी हो कर कीर्ति पावे । छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है ।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जनों को २०) बैकड़ा छूट देकर पुस्तक बी०पी० वा नगद दोम पर दिये जाते हैं ।

काण्ड १—भूमिका सहित पृष्ठ २०२, ११); काण्ड २—पृष्ठ २१२ ११)

काण्ड ३—पृष्ठ २५० ११); काण्ड ४—पृष्ठ ३०२ ३)

काण्ड ५—श्राव्य प्रकाशित होगा ।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संशुद्धित मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान—सरल भाषा में अर्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ॥॥

ब्रह्माध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्व्य उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निकपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेजी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ॥०)

ब्रह्माध्यायः—सूक्त मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य ॥॥

० जुलाई १९१५ ।

पता—पं० लोमकरणाचार्य त्रिवेदी,

५२ लुकरनग्न प्रयाग (Allahabad)

अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां ।

खिड़ी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४ । कार्यालय भामती आर्यप्रति-
निधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला । इस
रूपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को
समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और रूपा के
लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षा सूत्र धारी को आभारी होना
चाहिये । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उत्तम महत्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और
समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थों प्रकाशन को आप
सदैव जारी रखें यह प्रार्थना है ।

भवदीय

मदनमोहन सेठ,

(एम० ए० एल, एल, बी०)

मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त
प्रान्त, सामवेदभाष्यकार, सम्पादक वेद प्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

अथर्ववेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और
भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद
के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० लोकरत्नदास जी प्रयाग निवासी ने
इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि
इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों
वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन
मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त । आर्यमित्र आगरा २४
जनवरी १९१३ ।

श्री पं० लोकरत्नदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद
सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, ...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम]
कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार
भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतय प्रकट करने वाला है कि ग्रन्थ के किस शब्द के
स्थान में भाषाका कौनसा शब्द आया, फिर नोटोंमें व्याकरण तथा निरुक्तके प्रमाण,
आरम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई
है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाजका पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक
आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रखे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी को पूर्ण करने का
उद्योग किया है । ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता
प्रदान करें निर्बलता के साथ यह काम कार्य पूरा हो... कृपाई और कायदा भी
अच्छा है ।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीरामजी जिह्वासु-मुन्धाधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी
हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से
के लगभग देल चुका है आपका परिश्रम सराहनीय है ।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यनीर्य-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार,
वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि
सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १९१३ ।

अथर्ववेदभाष्य । श्री पं० लोमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशं-
सनीय है ।...आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से
पेंशन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने
वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़े-बड़े राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उन
में उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप परिश्रमी और अनुभवी बुद्ध पुरुष हैं । आपका
अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है ।

श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता,
वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व, इटावा फरवरी
१९१३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित लोमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित
किया है । इसका कम ये ना रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ
में.....अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है... भाष्यकर्ता के मानसिक
विचारों का झुकाव आर्यसमाजिक सिद्धान्तों की तरफ है, अतएव भाष्य भी
आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के
भाष्य से अच्छा है । और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है ॥

श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती
प्रयाग, फरवरी १९१३ ॥

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत लोमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और
श्रम का यह फल है । आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और कम-कम से
प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर
रहे हैं । स्वर सहित सूक्त मन्त्र, पदपाठ, हिन्दी में साम्बय अर्थ, भावार्थ, वाक्य-
न्तर, द्विपक्षी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी

राय है कि 'वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है'। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वद भाष्य के ढंग का है ॥

श्रीयुग पंडित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदृशाप्रवर्तक
फतेहगढ़ ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलना है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ उपगन्त भाषार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भा व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सिलिकमचेंट कमनगढ़ा, बनारस सिटी,
पत्रसंख्या ५८६ ता० २५-२-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का श्री० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छोड़कर इसी की तरफ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिखलाजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना ॥

श्रीयुग महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा,—मु० एकडला
पोस्ट किशुनपुर, जिला फतेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आशय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करे ॥

श्रीयुग विख्यात पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी
साहित्य सम्मेलन लखनौ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता,
सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटारियट, पो० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र
ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर बिना अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह परिश्रम-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत दिनकारिणी होगी आप का व्याकरण परममनोरम तथा प्राञ्जल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है ॥

*The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State,
Letter No 624 dated 6th February 1913*

.....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled *अथर्व वेद*. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them also add on the address label "For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan,

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914

I very much admire your labour of love and hope ..the venture will not fail for want of pecuniary support.

The Magistrate of Allahabad,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of *Atharva Veda Bhashya* to this office for transmission to the India Office, London,

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in *Arya Bha-ha*. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadiksha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works.....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true *Arya*, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this *Veda* are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.....

N. B. The printing and paper are good, the price is moderate.

हवनमन्त्राः—सम्मातेया ।

परिणत शिवशङ्कर शर्मा काव्यसीर्थ—छान्दोग्योपनिषद्, साप्त्तिकार, पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, लखनौ सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फरवरी १९१३ ।.....आर्य पुरुष हवन काल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी १७ फाल्गुण सं० १९६८ ..आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२.....इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश मेरठ, —मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय खुशीराम जी, गवर्नमेन्ट पेंशनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेजी अनुवाद सहित बी० पी० द्वारा भेज दें।

मिलने का पता—पं० क्षेमकरणादास त्रिवेदी

७ जुलाई १९१५ । }

५२ खुशीराम, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ काजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०

Acc. No.....

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस
कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped
below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GLSANS294.59215
TRI



125362
LBSNAA

Sam

294.59215

त्रिवेदी

पुथम काण्ड

वर्ग सं.

Class No.....

लेखक

Author.....

शीर्षक

Title.....

अवधि सं०

ACC. No.....

पुस्तक सं.

Book No.....

त्रिवेदी, हेमकरणादात

अथर्ववेद भाष्यम् ।

निर्गम दिनांक
Date of Issue

उधारकर्ता की सं.
Borrower's No.

हस्ताक्षर
Signature

Sans

294.59215

त्रिवेदी

LIBRARY

LAL BHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

MUSSOORIE

Accession No. 125362

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving